# सांख्यसिद्धान्त

उदयवीर शास्त्री



ानन्द वैदिक संस्थान
गाज़ियाबाद

लाध्य :

हैं। ५ ८ट

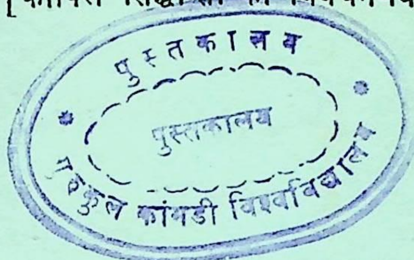
सिद्धान्त का

ओ३म्



# सांख्यसिद्धान्त

[कापिल सिद्धान्तों का विवेचन-विश्लेषणात्मक मौलिक ग्रन्थ]







विद्याभास्कर, वेदरत्न,

उदयवीर शास्त्री,

न्यायतीर्थ, सांख्य-योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति

प्रकाशक—

श्री स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती,
अध्यक्ष-विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद [उ० प्र०]

प्राक्कथन—

श्री डॉ० दौलतसिंह कोठारी,
अध्यक्ष-विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली,

द्वितीयावृत्तिः

[illegible]) रुपया मूल्य



जैय्यद प्रेस, दिल्ली में मुख्य पुस्तक मुद्रित।
मुद्रक—भारत मुद्रणालय, शाहदरा, दिल्ली पृष्ठ १-४८

# FOREWORD

Shri Udaya vira-Shastri has requested me to write a foreword for his book on Sankhya Siddhanta. While I have no special qualification or competency for this task, I have no hesitation in expressing my admiration and regard for the auther's scholarship, devotion and perseverence in understanding and expounding the difficult subject treated in the book. One may not agree with many of the views expressed by the auther, but, all the same, the book is of value in provoking thought and drawing attention to a problem of basic importance the relationship of the action and interaction between natural sceince and philosophy.

It is apparent that the dominating characteristic of our times is the intense and large-scale cultivation of science, both pure and applied, and to control nature through understanding it. What is the value and ultimate purpose of science has always been a question, difficult to answer but of real significance, and it is all the more so in the context of our times. Erwin Schroedinger, one of the greatest of the contemporary physicists and a great natural Philosopher, has observed in one of his well known books, that the ultimate value and worthwhileness of science has to be measured essentially by the contribution, however infinitesimal, that it makes and will make, to elucidation of the deepest of all questions ; What are we and how are we here ? These observations serve to underscore that, howsoever important may be the applications of science, of no less significance is the impact of science on philosophic thought, spiritual concepts and ideas and values.

Deriving strength from the ancient tradition of passionate devotion to learning and truth, we must move forward with zest and dedication in the accelerating task of cultivation of knowledge and search of new frontiers in our understanding and control of nature, and the deep underlying relationship between matter, life and mind.

**—D. S. Kothari**

# प्राक्कथन

श्री पं० उदयवीर शास्त्री का अनुरोध है, कि मैं उनके ग्रन्थ 'सांख्यसिद्धान्त' का प्राक्कथन लिखूं। इस कार्य के लिये मैं अपने आप में कोई उत्कृष्ट योग्यता अथवा अर्हता नहीं पाता; हां, श्री पण्डितजी के प्रकाण्ड पाण्डित्य, उन द्वारा इस पुस्तक में व्याख्यात दुरूह विषयवस्तु को समझने और ऊहापोहपूर्वक प्रतिपादित करने में प्रदर्शित की गई कर्मनिष्ठा एवं अध्यवसाय की निस्संकोच सराहना किये विना नहीं रहसकता।

ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये बहुत से विचारों से मतभेद होसकता है, परन्तु "प्रकृति-विज्ञान और दार्शनिक विचारों की एक दूसरे के प्रति क्रिया एवं प्रतिक्रिया का क्या पारस्परिक संबन्ध हो" इस सारगर्भित मौलिक विषय की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने का यहां जो उपादेय प्रयत्न किया गया है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यह तो सर्वविदित है कि शुद्ध तथा क्रियान्वित-विज्ञान के गम्भीरतापूर्वक, बहुत बड़े पैमाने पर प्रसार द्वारा प्राप्त किये गये अनुभव से प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का प्रयास आज के युग की मुख्य विशेषता है। वैसे तो विज्ञान के मूल्यांकन का क्लिष्ट प्रश्न अर्थात् "विज्ञान का अन्तिम ध्येय क्या है?" यह जानने की उत्सुकता, सर्वदा ही संसार में बनी रही है, परन्तु वर्तमान युग में यह जिज्ञासा और भी तीव्र हो गई है। श्री अर्विन श्रोजर, जो वर्तमान युग के कतिपय उच्चतम भौतिक विज्ञानवेत्ताओं और नैतिक-दार्शनिकों में से एक हैं, ने अपने एक सुविख्यात ग्रन्थ में इस विषय में लिखा है: "अन्तिम रूपेण विज्ञान का मूल्यांकन करने और इसकी उपादेयता को मापने की अनिवार्य कसौटी वह अंशदान है—चाहे वह कितनी ही अत्यल्प मात्रा में क्यों न हो—जो कि यह (विज्ञान) इस अतिगहन प्रश्न कि 'हम क्या हैं और यहां (संसार में) कैसे आये हैं?'...को हल करने की दिशा में प्रदान करता है और करता रहेगा।" यह कथन इस बात को सिद्ध करता है कि विज्ञान को कार्यान्वित करना चाहे कितना भी महत्त्वपूर्ण कार्य क्यों न हो वह 'विज्ञान का दार्शनिकवादों, आध्यात्मिक सिद्धान्तों, विचारों और मान्यताओं पर कितना प्रभाव पड़ता है' इस विषय की महत्ता को किसीप्रकार कम नहीं कर सकता।

ज्ञान और सत्य के प्रति भावनापूर्णनिष्ठा रखने की प्राचीन परम्परा से अनुप्राणित होकर हमें प्रकृति पर विजय पाने के निमित्त तथा पदार्थ (-वस्तु), जीवन और अन्तःकरण (चित्त) के अन्योन्याश्रित मूलभूत सम्बन्ध को अन्वेषण करने के लिये की-जाने वाली गवेषणा को अत्यधिक विस्तृत बनाने के वास्ते, ज्ञानवृद्धि की दिशा में, उत्साह और निष्ठापूर्वक आगे बढ़ना चाहिये।

—दौलतसिंह कोठारी

# कतिपय सम्मति

संमाननीय श्री डॉ० बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर,
अध्यक्ष 'नेशनल बुक्-ट्रस्ट' इण्डिया,
नई दिल्ली।

श्री उदयवीर शास्त्री ने 'सांख्यसिद्धान्त' नाम की पुस्तक सांख्यदर्शन पर लिखी है, और मुझे दो शब्द लिखने के लिये कहा है। मैं दर्शन का विद्वान् नहीं हूं, और सांख्य-दर्शन का मेरा ज्ञान नहीं के बराबर है, परन्तु शास्त्रीजी के कथनानुसार उसका परिचय करा रहा हूं।

पुस्तक बड़ी सरल और प्रभावी भावों में लिखी है, और विषय का विवरण अच्छे ढंग से किया है, आशा है कि दर्शन के विद्यार्थी और अध्यात्म के प्रेमी उससे लाभ उठावेंगे।

३१-८-६२

बा० वि० केसकर
(बालकृष्ण केसकर)

संमाननीय श्री पं० कुबेरदत्त शर्मा, शास्त्री,
प्रधानाचार्य, श्री राधाकृष्ण संस्कृत कॉलिज,
खुरजा।

अद्य विद्याभास्कर-सांख्य-योग-न्यायतीर्थ-वेदान्ताचार्य-श्रीमदुदयवीरशास्त्रिप्रणीतं सांख्यसिद्धान्ताभिधं ग्रन्थरत्नं सुचिरं निभाल्य प्रणेतृमहोदयेन तत्प्रतिपादितविषयेषु विचारविमर्शं भूयांसञ्च विधाय कामं प्रसीदति ममान्तरङ्गम्।

यद्यपि सांख्यसिद्धान्ताः सर्वतः प्राचीना इति को नाम नालम्वेद दर्शनशास्त्राव-गाहनशीलः, तथापि नूनमस्मिन् ग्रन्थरत्ने निगूढरहस्योद्भावनं तथाकृतमुपलभ्यते यथा नव्यां भव्याञ्च द्युतिं दर्शयतां विज्ञानतलावगाहनक्षमतामात्मनि मन्यमानानामाधुनि-कानां नयनोन्मीलनं विधाय तदीयां भ्रान्तां धारणाञ्च अपाकरोतीति निर्विवादम्।

प्रत्यध्यायमेकैकस्य विषयस्य विवेचनं गभीरया दृशा तथाकृतमास्ते येन ग्रन्थस्य मौलिकत्वे न कस्यापि विवेचकस्य सन्देहलवोऽपि मनसि चकास्ति।

इदन्त्ववधेयम्, प्राञ्जलया सुगमया भाषया शास्त्रीयसारोद्भावने ग्रन्थकर्तृ-महोदयेन बहुतरं प्रयतितम्, परं नैकशास्त्रपारङ्गतस्य तत्र गतिर्भवति। निखिलनिग-मागमपारदृश्वनो लेखकस्य भावोन्मथनं तथाभूतस्यैव विदुषो मतिरुन्मिषतीति निर-

वद्यम् । अत एव ग्रन्थकर्त्तुर्वैदुषीवैभवं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रत्वञ्च सुरक्षितमस्तीति सुखमवगन्तुं शक्यम् । इदञ्चापि न विस्मर्त्तव्यं यत् सांख्यशास्त्रसिद्धान्तोन्मथने ग्रन्थकृता नातिन्यूनं प्रयसितम्, परमद्वैतवेदान्तराद्धान्तरसिकतापि यदा कदा निसर्गजत्वात् ग्रन्थकारस्यापह्लोतुं बहुतरं प्रयस्यतोऽपि दुरवपह्लवतामुपयातीति नोपहासविजल्पितम् ।

यत्तु आधुनिका वैदेशिका वैज्ञानिकम्मन्या व्यक्तानामेव पदार्थानामन्वेषणे प्रसक्ताः कथयन्ति यन्न किञ्चित् चेतनात्मकं वस्तु मन्तुं युक्तम् । व्यक्तानामेव जडानामपि सतां तादृशी दशा कदाचिद् भवितुमर्हति यां 'जीव' इति भ्रान्ता मन्यन्ते इति । तदनवबोधविजृम्भितं नभश्चित्रणनिभम्, आणविकचाकचिक्यप्रदर्शनेन मूर्खजनचक्षुषामन्धीकृत्य संमोहनमात्रं प्रलपितम् । मुधामस्तकाघाताद्यनुभूय अन्ते अव्यक्तस्य चेतनस्य च तत्त्वस्य तैरेवानायत्या स्वीकरिष्यमाणत्वात् ।

अयं ग्रन्थ एतादृशभ्रान्तधारणापाकरणप्रमुखं दर्शनशास्त्रप्रणयिनां विदुषां महते मोदाय कल्प्येतेति साधु सन्ध्येयम् ।

कुबेरदत्त शर्मा
५-९-६२

संमाननीय श्री प्रा० रत्नसिंह, एम० ए०,
अध्यक्ष-दर्शन व मनोविज्ञान विभाग,
महानन्द मिशन कॉलिज, गाज़ियाबाद ।

भारतीय दार्शनिक जगत् में सांख्यदर्शन का स्थान बहुत ऊंचा है, निश्चयपूर्वक कहा जासकता है, कि यह दर्शन काल की दृष्टि से अतिप्राचीन है । सांख्यप्रतिपादित सिद्धान्तों की व्याख्या के सम्बन्ध में दीर्घकाल से विचारकों में मतभेद चला आरहा है । कतिपय मध्यकालीन विद्वानों तथा उनकी विचारधारा से प्रभावित आधुनिक विद्वानों की यह एक धारणा रही है, कि सांख्य निरीश्वरवादी है । खेद का विषय है, कि हमारे देश के विश्वविद्यालयों तथा कॉलिजों में भारतीय दर्शन के अन्तर्गत निर्धारित पाठ्यक्रम में अधिकांश पुस्तकों में सांख्य को नास्तिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है । सांख्य को निरीश्वरवादी सिद्ध करने के लिये प्रायः इसप्रकार की युक्तियां दी जाती हैं—

(१) ईश्वर को नित्य और अपरिणामी कहा जाता है, जो स्वयं अपरिणामी है, वह जगत् का कारण नहीं हो सकता। (२) जगत् की रचना करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है? ऐसा उसने स्वार्थभावना से किया है, अथवा परार्थभावना से? दोनों विकल्प ईश्वरसत्ता को सिद्ध करने में असमर्थ हैं । (३) 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र के साथ भी बड़ी खींचातानी की गई है।

चिरकाल से यह अनुभव किया जाता रहा है, कि सांख्यसिद्धान्तों के

सम्बन्ध में एक निष्पक्ष एवं प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा जाना चाहिये । इस विषय में यह लिखते हुए मुझे अतिहर्ष होता है, कि दर्शनशास्त्र के उद्‌भट विद्वान्, गम्भीर विचारक, माननीय श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री ने अनेक वर्षों के गहन अनुशीलन व शोध के पश्चात् 'सांख्यसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ लिखकर इस अभाव को दूर किया है । लेखक को मैंने अतिनिकट से देखा है, और इसी आधार पर मैं निस्संकोच कह सकता हूं, उनके समान गम्भीर विचारक, अध्यवसायी दार्शनिक विद्वान् अभी तक देखने व सुनने में दूसरा नहीं आया । सांख्यदर्शन पर प्रस्तुत ग्रन्थकार को कितना अधिकार है, इसका सहज अनुमान उनके द्वारा लिखित तथा 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' आदि अनेक पुरस्कारप्राप्त प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सांख्यदर्शन का इतिहास' से लगाया जासकता है । लेखक की मान्यता है, कि कापिल सांख्य निरीश्वरवादी नहीं है। 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र का भाव यह नहीं है, कि ईश्वर की सत्ता असिद्ध है, प्रत्युत यह हैं, कि उपादानरूप ईश्वर असिद्ध है; अर्थात् ईश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं है ।

सांख्यसिद्धान्तों के विषय में आजतक जितने भी आक्षेप किये गये हैं, उन सब का लेखक ने सप्रमाण समाधान किया है । सांख्यसिद्धान्तों का और अधिक सुन्दर व सर्वांगपूर्ण विवेचन हो सकता है, इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता । अपने ग्रन्थ में पश्चिमी वैज्ञानिकों व दार्शनिकों का तुलनात्मक विवेचन समाविष्ट कर श्री शास्त्रीजी ने इस ग्रन्थ को वर्तमान कॉलिजों के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिये और अधिक उपयोगी बना दिया है । मेरी हार्दिक इच्छा है, कि भारत के शिक्षा-अधिकारी इस ग्रन्थ को विश्वविद्यालयों की एम० ए०, डिग्री के पाठ्यक्रम में अवश्य स्थान देंगे । मुझे पूर्ण विश्वास है, कि हिन्दी दार्शनिक क्षेत्र उत्साहसे इस ग्रन्थरत्न का स्वागत करेगा ।

**रत्नसिंह, एम० ए०**
८-९-६२

# प्रकाशकीय

"यजुर्वेद की काण्वशाखा में आया है" हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये" ॥४०।१५॥

इस मन्त्र का अर्थ है—"संसार में सत्य [वास्तविक सचाई] का मुख सुनहरी ढकने से ढका हुआ है, हे पूषन्! [उन्नति पुष्टि-देने वाले प्रभो!] उस [सुनहरी ढकने] को आप परे हटा दीजियें, ताकि सत्य [सत्य धर्म] का दर्शन किया जासके।"

२. यहां पर इन्द्रियों के विषयों की प्रसह्य प्रमाथिता और बलवद् दृढ़ता की ओर संकेत करते हुए उसे सुनहरी ढकने [परदे] का नाम दिया गया है, जो मनुष्य और सच्चाई के बीच आ खड़ा होता है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में प्रार्थना की गई है, कि "हे प्रभो! आप इस परदे को हटा दीजिये, ताकि हम सच्चाई को देख सकें।" 'दृष्टये' पद यहां बड़े महत्त्व का है। यह 'दृशिर् (दर्शने)' धातु से निष्पन्न हुआ है। यही वह धातु है, जिससे 'दर्शन' शब्द—जिसका अर्थ 'फ़लसफ़ा' 'ऊहापोह' 'मन्तक' 'तर्क' आदि हैं—निकला है। 'दृशिर् (दर्शने)' धातु के परे करणाधिकरणयोश्च' [अष्टाध्यायी ३।३।११७] सूत्र से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय होकर 'दर्शन' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—'दृश्यते ज्ञायते सत्यधर्मोऽनेनेति दर्शनम्' अर्थात् जिससे सत्यधर्म जाना जासके, उस ऊहापोहरूपी संनियत विचारशृङ्खला को 'दर्शन' कहते हैं।

३. प्रश्न उठता है, किसका देखना, जानना या ज्ञान प्राप्त करना? कण्वपरम्परा वाले लोग इसका उत्तर देते हैं—'सत्यधर्म का।' उपरिनिर्दिष्ट मन्त्र का पूर्वार्द्ध कहता है, हिरण्यमय [सुनहरी—चमकीले] ढकने ने संसार में सत्य का मुख ढांप रक्खा है। इस पर शंका उठती है, संसार में सबसे अधिक चमकीला सूर्य [आदित्य] है, कहीं उसने ही तो सत्य को न छिपा रक्खा हो? वेद में तत्स्थानीय मन्त्र के उत्तरार्द्ध 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्, ओं खं ब्रह्म' ने इसका समीचीन उत्तर इसप्रकार दिया है—"हां [यह ठीक है] आदित्य [सूर्य—प्राकृतिक करश्मे] में [के पीछे] जो पुरुष [चेतन-तत्त्व] है, वह मैं ही हूं, मेरा निजी नाम 'ओम्' है, और मैं 'ख' [आकाश की भांति सर्वव्यापक] हूं, तथा सबसे बड़ा होने के कारण 'ब्रह्म' हूं।"

४. इसी ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करने और उसका वास्तविक ज्ञान प्राप्त कराने के लिए महर्षि बादरायण ने 'वेदान्तदर्शन' की रचना की। इस नाम का कारण—वेद [ज्ञान] का अन्त [पर्यवसान—उद्देश्य] उस ब्रह्म की प्राप्ति ही है, जैसा कि 'तत्तु सम-

न्वयात्' सूत्र में महर्षि बादरायण ने स्वयं प्रतिपादित किया है।[1] इस दर्शन का 'जन्माद्यस्य यतः [१।२] सूत्र मानो 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' [यजु० ३१।२] का भाषान्तरमात्र है।

मानव का स्वाभाविक ज्ञान बहुत सीमित और अल्प है। अब हम अपने जीवन व्यवहार की बहुत सी बातें अपने माता-पिता आदि एवं सहवासियों से सीखलेते है। आदिकाल के मानव ने यह व्यवहार किस से सीखा होगा? उत्तर मिलता है, परमपिता परमात्मा से।[2] वह ब्रह्मप्रदत्त ऋग्यजुः सामाथर्वात्मक ज्ञान ब्रह्म का होने से 'ब्रह्म'[3] ही कहाता है। विभेद के लिये एक को 'परब्रह्म' और दूसरे को 'शब्दब्रह्म' कहा जाता है। 'शब्दब्रह्म' के व्याख्यानरूप ऐतरेय आदि चार ग्रन्थ 'ब्राह्मण' नाम से प्रख्यात हैं। इस 'शब्दब्रह्म' का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध करने के लिये महर्षि जैमिनि ने मीमांसादर्शन का प्रणयन किया। इसमें मुख्यतया वैदिक विधिवाक्यों के अनुष्ठान [कार्यान्वयन] से अनिर्दिष्टात्मक संस्कारजन्य धर्म उपार्जन का वर्णन है। इसप्रकार यहां जीवों द्वारा किये गये कर्मों की प्रधानता मानी गई है, और उनको संसारचक्र [उत्पत्ति स्थिति प्रलय] का मूलकारण कहा गया है। इस दर्शन का आरम्भ 'अथातो धर्मजिज्ञासा' से होता है; अगला सूत्र है–'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' मानो लेखक को यहां प्रेरणा 'सत्यधर्माय दृष्टये' से ही मिली है।

६. महर्षि कणाद ने अपने दर्शन का आरम्भ 'सत्यधर्माय दृष्टये' से चेतना लेकर ही किया है। इस दर्शन का पहला सूत्र है–'अथातो धर्म व्याख्यास्यामः' यहां 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' [१।१।२] में धर्म के दो प्रकार बताये हैं। एक अभ्युदयसाधक और दूसरा निःश्रेयससाधक। यहां भी 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' [१।१।३] में वेद के प्रामाण्य को स्वीकार किया गया है। महर्षि कणाद ने दृष्ट-अदृष्ट जगत् की पहेली को सुलझाने के लिये एक विशद व्याख्यान द्वारा सब सांसारिक तत्त्वों का यथार्थज्ञान [तत्त्वज्ञान] कराया है। मुख्यतया कालकृत व्यवच्छेदात्मक ज्ञान वैशेषिकदर्शन मे हमें मिलता है। कारणपंक्ति में 'काल' को बैठाते हुए वह जगत्रूप कार्य के अन्य कारणों को दृष्टि से ओझल नहीं करता, प्रत्युत 'काल' कारण को उभारता मात्र है।

---

१—कठोपनिषद् में 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' कहकर इसी ओर संकेत किया गया है। महर्षि दयानन्द ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदविषयविचारविषय में सीलिये लिखा है–'अतः पररूोऽर्थो वेदानां ब्रह्म वास्ति।"

२—'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' [योगदर्शन १।२६] इसी ओर संकेत करता है।

३—'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म' इत्यमरः [३, नानार्थवर्ग, ११४], यद्ब्रह्म [कुमारसंभव, ६।१६], ब्रह्महिताय० उत्तररामचरित, १।१५]

७—'संसार में चेतन और अचेतन का समावेश है। दोनों की स्वतन्त्र सत्ता न केवल भासती है, अपितु निश्चित है। इनके परस्पर सहयोग से ही सर्ग आदि जगत्कार्य का निर्वाह होता है।' इस विचार को तर्कद्वारा सिद्धकर सर्वमान्य बनाने का श्रेय महर्षि कपिल को प्राप्त है। यजुर्वेद वाजसनेयिशाखा [४०।१८] और काण्वशाखा [४०।१.६] में आये 'पुरुष' [चेतनतत्त्व] का जिस भांति अचेतनतत्त्व प्रकृति और उसके परिणाम [विकारों] से विभेदकर कपिल ने जगत् पहेली को सुलझाने का सफल प्रयत्न किया है, वह उसीका अंग है।

सांख्यदर्शन का पहला सूत्र है—'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।' यहां 'पुरुष' [जीवचेतन] का अर्थ [उद्देश्य–लक्ष्य] त्रिविध [आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक]–'दुःखात्यन्तनिवृत्ति' बताया गया है, पर जगत् पहेली के विविध तत्त्वों के वास्तविक ज्ञान विना ऐसा होना संभव नहीं, इसलिये पुरुष [चेतनतत्त्व], अदितिनामा सत्त्वरजस्तमोगुणमयी अव्यक्त प्रकृति [अचेतनतत्त्व] तथा उसके बुद्ध्यादि तेईस विकारों—इन पच्चीस तत्त्वों–का जगदुत्पत्ति अनुक्रम से निर्देश कर ऊहापोहपूर्वक उनके वर्णन-द्वारा संसारचक्र को समझाने का सफल प्रयास है।

८. 'परमपुरुष' और 'जीवपुरुष' दोनों अनादि अनन्त हैं, चेतन हैं, प्रकृति भी अनादि अनन्त है, पर जड़ है। 'परमपुरुष' आनन्दमय है। 'जीवपुरुष' उसे प्राप्त करने के लिये नाना प्रयत्न करता है, पर वे सब इन्द्रियकार्यों तक ही सीमित रहते हैं, और प्राकृतिक इन्द्रियां स्वभावतः प्राकृततत्त्वों की ओर आकृष्ट रहती हैं। इन्द्रियव्यापारों का उद्वेल्लक है मन, जब तक उसे वश में न किया जाय, 'जीवपुरुष' का 'परमपुरुष' से योग [मिलाप] जो–वास्तविक आनन्दप्राप्ति का साधन है–नहीं होसकता। पतञ्जलिऋषि ने योगदर्शन में इसी विषय का विस्तार से वर्णन किया है। योगदर्शन अष्टांगयोगरूप पुरुषार्थ पद्धति के अनुष्ठान पर अधिक बल देता है, और उसी का समस्त दर्शन में सांगोपांग वर्णन है। यही पुरुषार्थ जगत् में जीवों के कर्मों के साथ ओतप्रोत होकर संसारचक्र को चला रहा है।

९. यथार्थ तर्क [मन्तक] का, उद्घाटन वैदिक दार्शनिकों में वस्तुतः महर्षि गौतम ने 'न्यायदर्शन' द्वारा किया। नास्तिक सम्प्रदायों के साथ नैयायिकों के सफल संघर्ष की कहानी लम्बी है, पर यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि वेदानुयायी नैयायिकों के सूक्ष्मतत्त्वान्वेषणरूप परिष्कृत तीरों की बौछार के सामने चारवाक आदि नास्तिक सम्प्रदाय अधिक देर न ठहर सके। महर्षि गौतम के 'न्यायशास्त्र' का उद्देश्य 'तत्त्वज्ञान' है, जो विस्तृत अर्थों में 'सत्यधर्म' का रूपान्तरमात्र है। यह शास्त्र लोकव्यवहार में उतना ही उपयोगी है जितना धर्मक्षेत्र में। संसार की प्रत्येक वार्त्ता में यह अपेक्षित है, इसकी गति सर्वत्र अक्षुण्ण है। गौतम मुनि ने 'तत्त्वज्ञान' द्वारा 'निःश्रेयसाधिगम' के लिये ही इस दर्शन का प्रणयन किया है।

१०. गौतम मुनि कार्य जगत् को पृथिवी जल तेज वायु के मूलभूत परमसूक्ष्म निरवयव इन्द्रियागोचर कणों से बना हुआ मानते हैं। गौतम मुनि ने यहा भौतिक सृष्टि का वर्णन किया है; वैशेषिकाचार्य भी ऐसा ही मानते हैं। ये दोनों उस आध्यात्मिक सृष्टि के वर्णन से सरोकार नहीं रखते, जो भौतिक सृष्टि के पूर्व उपजती है और जिसका वर्णन सांख्य में किया गया है। इन दर्शनों का सर्गरचना के विषय में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

११. इस तरह छहों दर्शनों का मूल वैदिक प्रतीक 'सत्यधर्माय दृष्टये' है। दर्शनों का रास्ता चाहे अपना कोई हो, पर उनका मुख्य लक्ष्य इसी 'सत्यधर्म' का साक्षात्कार कराना है। इसका स्पष्टीकरण पिछली पंक्तियों में कर दिया गया है। इसप्रकार ये छह वैदिक ऊहापोह की पद्धतियां 'सत्यधर्म' की दृष्टि [यथार्थज्ञान] के साधकतम उपकरण होने के कारण 'दर्शन' कहलाती हैं। 'सत्यधर्म' में 'परमब्रह्म, शब्दब्रह्म, पुरुष [चेतन-तत्त्व=जीवचेतन], प्रकृति और उसके समस्त विकारों का समावेश है। इन्हीं सब तत्त्वों का यथायथ विस्तृत वर्णन इन दर्शनों में पाया जाता है।

१२. सांख्यदर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल बहुत प्राचीन दार्शनिक [दर्शनकार] हैं। दीर्घ समय की गति ने आपकी आभापूर्ण कृति को निस्तेजप्राय कर दिया था। कुछ एक पाश्चात्य गवेषक और उनके अनुयायी यह भी कहने लगे थे, कि "महर्षि कपिल की उपज्ञा सांख्यदर्शन एक जाली ग्रन्थ है, जो शुंगकाल के आसपास ईश्वरकृष्ण द्वारा लिखी गई सांख्यकारिकाओं के पर्याप्त पश्चात् किसी मध्यकालीन विद्वान् द्वारा उन कारिकाओं का अनुसरण करते हुए सूत्रबद्ध रचना में निर्मित किया गया, और अपनी कृति को अधिक मान्य बनाने के लिये अज्ञातभूत में हुए कहे जाने वाले, कपोलकल्पित महर्षि कपिल के नाम से प्रख्यात किया गया है।" परन्तु कलि के इस घोर काल में—जबकि सब संसार यन्त्रवत् भावनाहीन होकर येन केन प्रकारेण सिसकता हुआ चल रहा है, श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री ने आस्थापूर्वक सारा जीवन सांख्यतत्त्वों की साधना [आम्रेडन, मनन निदिध्यासन और निश्चय] में लगाकर न केवल अपने आपको, अपितु सारे आस्तिक जगत् को युगपुरुष लोककर्त्ता महर्षि कपिल के ऋण से उऋण कर दिया है।

श्री पण्डितजी ने अपने लोकप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सांख्यदर्शन का इतिहास' में महर्षि कपिल और सांख्यदर्शन पर लगाये गये इन मिथ्यारोपों का युक्ति प्रमाण, विवेचन और व्याख्याद्वारा मुंहतोड़ जवाब दिया है। आप इस कार्य में कितने सफल हुए हैं, यह अनुमान इस बात से लगाया जासकता है, कि पिछले बारह वर्षों में विभिन्न संस्थाओं की ओर से निम्नलिखित पुरस्कार श्री पण्डितजी को 'सांख्यदर्शन का इतिहास' लिखकर उनद्वारा की गई साहित्यसेवा के निमित्त प्रदान किये गये हैं—

१२००) रु० 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१२००) रु० उत्तरप्रदेश राज्य सरकार

१०००) रु० 'विहार राष्ट्रभाषा परिषद्' पटना

१०००) रु० 'सेठ हरजीमल डालमिया ट्रस्ट' नई दिल्ली

१३. महर्षि कपिल के बाद सांख्य का सिक्का चिरकाल तक जमा रहा। एक के बाद दूसरा सांख्याचार्य अपनी तर्कभा से संसार को मुग्ध करता रहा। इसी गुरु-शिष्य-परम्परा में अनेकों शृंखला गुथ गई। कालान्तर में वार्षगण्य आदि कतिपय ऐसे दिग्गज सांख्यशास्त्रियों का बोलबाला हुआ, जो मूल में कापिलसिद्धान्त को मानते थे, पर विस्तार में कतिपय मतभेद रखते थे। वह और उसके शिष्य प्रकृति की प्रवृत्ति में चेतन-प्रेरणा की अपेक्षा स्वीकार नहीं करते थे। इसी कारण बाद में सांख्य को अनीश्वरवादी कहा जाने लगा, जो वस्तुतः कापिलसिद्धान्तविरुद्ध है। ऐसे अतथ्यविचाररूपी धूली से धूसरित 'सांख्यदर्शन' का उद्धार श्री पण्डित उदयवीरजी शास्त्री ने अपना 'विद्योदय-भाष्य' लिखकर कर दिया है। उक्त भाष्य में केवल कपिलद्वारा निर्मित सूत्रों पर भाष्य प्रकाशित किया गया है, शेष प्रक्षिप्त सूत्रों को मूल पुस्तक से सम्पुष्ट आन्तरिक साक्षियों के आधार पर सफलतापूर्वक निकाल दिया गया है। ऐसा करने से जो कपोलकल्पित दोष इस दर्शन पर लगाये जाते थे, अब वे नहीं लगाये जासकेंगे।

१४. श्री पण्डित उदयवीरजी शास्त्री का वर्तमान ग्रन्थ 'सांख्यसिद्धान्त' एक विश्लेषणात्मक रचना है। इसमें सांख्यसिद्धान्तों की तथ्यता को अद्यतनीन विज्ञान के आलोक में अध्ययन करने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है। पुरुष, प्रकृति, विकार इन तीन अध्यायों में जगत्पहेली की जो चीर-फाड़ की गई है, उसे पाठक पढ़कर स्वयं उसकी सार्थकता, सत्यता, उत्कृष्टता, और अचूकता का अनुभव करलेंगे। इतना विशद वर्णन, विस्तारप्राचुर्य, गहनान्वेषण तथा सरल और विश्वासोत्पादक उपसंहरण आप शायद ही कहीं पासकें। हमें पूर्ण आशा है, विद्वन्मण्डली श्री पण्डितजी के इस ग्रन्थ का भी पूर्ववत् पूर्ण आदर करेगी, और इस ग्रन्थ की भी राष्ट्रभाषा साहित्यवर्द्धक कृति में गणना होगी।

१५. अन्त में हम श्री पण्डितजी को बधाई देते हैं, जिन्होंने लगनपूर्वक इतने वर्षों के लगातार परिश्रम से सांख्यशास्त्र का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर ये तीन ग्रन्थ लिखे और संसार के ज्ञानभण्डार में वृद्धि की, इनके प्रकाशन से हमारा मन हर्षोल्लास से उत्फुल्लित हो अत्यन्त आनन्द का अनुभव कर रहा है। कपिल ऋषि का आर्ष शास्त्र एक दृढ़ भित्ति पर आधारित कर दिया गया है, जिसे भविष्य में शतियों तक विरोधी झंझावात कम्पित करने में समर्थ न होसकेगा। ओम् शम्।

दयानन्द-सन्यास आश्रम,
गाज़ियाबाद, मेरठ
२०१९ विक्रमी

विदुषामनुचर:
स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती
अध्यक्ष
विरजानन्द वैदिक संस्थान

# ग्रन्थकार का निवेदन

आज से लगभग बारह वर्ष पूर्व मेरी एक रचना 'सांख्यदर्शन का इतिहास' प्रकाशित हुआ, इस ग्रन्थ में सांख्यविषयक बहिरंग परीक्षाओं का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सांख्य के आदिप्रवक्ता परमर्षि कपिल, उनकी ग्रन्थ-रचना, काल स्थान आदि, तथा अन्य अनेक सांख्याचार्य और उनकी रचनाओं का यथोपलब्ध विवरण उक्त इतिहास ग्रन्थ में सन्निविष्ट है। उस ग्रन्थ के लेखनकाल में सांख्यविषयक साहित्य के अवगाहन के फलस्वरूप यह भावना जागृत हुई, कि सांख्यसिद्धान्तविषयक उन विचारों के विवेचन को प्रस्तुत किया जाना चाहिये जो इस साहित्य के गम्भीर अध्ययन से अवगत होसके हैं; तथा उनमें से कतिपय विचार आज इतने परिवर्तितरूप में समझे जाने लगे हैं, जो एक समस्या बन गये हैं। कापिल सिद्धान्तों में उनका मूल आधार कहीं उपलब्ध नहीं होता। इस स्थिति ने सांख्यसिद्धान्तों की विवेचना के लिये एक उत्कट भावना को जागृत कर दिया। उसी भावना के फलस्वरूप 'सांख्यसिद्धान्त' नामक यह ग्रन्थ आज दर्शनप्रिय पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

पूर्वोक्त इतिहासग्रन्थ के प्रकाशित होने तक 'सांख्यसिद्धान्त' का पर्याप्त भाग लिपिबद्ध किया जाचुका था। ये सब प्रकाशन 'विरजानन्द वैदिक संस्थान' द्वारा किये गये हैं, जो केन्द्रीय सरकार से पञ्जीकृत एक संस्था है। इतिहासग्रन्थ के प्रकाशन के समय इस संस्था का कार्यालय ज्वालापुर वानप्रस्थ आश्रम में था, संस्था के संस्थापक व संचालक श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थजी उन दिनों उक्त आश्रम के अध्यक्ष थे। कुछ काल तक संस्था का कार्य वहां संचालित रहा। उसके अनन्तर श्री स्वामीजी रुग्ण होने तथा अन्य कतिपय अनिवार्य कारणों से आश्रम त्यागकर दिल्ली आगये, संस्थान का कार्य कुछ समय के लिये शिथिल सा होगया। पर उस समय तक 'सांख्यसिद्धान्त' की समस्त पाण्डुलिपि प्रायः तयार होचुकी थी, और इसके साथ सांख्यषडध्यायी सूत्रों का भाष्य भी लिखा जाचुका था।

श्री स्वामीजी के दिल्ली चले आने पर संस्थान में कार्यमूलक मेरा सम्बन्ध उनसे छूटगया। कुछ काल के अनन्तर मुझे एक शिक्षा संस्था में कार्य के लिये बीकानेर बुला लिया गया। इन ग्रन्थों की समस्त पाण्डुलिपि श्री स्वामीजी की सेवा में प्रस्तुत कर दी। यथावकाश उन्होंने इन रचनाओं को देखा। विचार था, कि अवसर आने पर सांख्यसूत्र-भाष्य के साथ भूमिकारूप में सांख्यसिद्धान्त को मुद्रित कराया जाय; परन्तु रचनाओं को

देखने के अनन्तर श्री स्वामीजी ने मुझे बीकानेर लिखा, कि सांख्यसूत्रभाष्य में सूत्रों के प्रत्येक पद का अर्थ पृथक्रूप में और होना चाहिये, तथा 'सांख्यसिद्धान्त' से पृथक् और पहले ही इसका मुद्रण होना आवश्यक है। इसके साथ ही उन्होंने भाष्य की पाण्डुलिपि बीकानेर मेरे पास भिजवादी, जिससे मैं सूत्र के प्रत्येक पद का अर्थमात्र पृथक्रूप में वहां सन्निविष्ट कर दूं, और पाण्डुलिपि को पूर्णकर मुद्रण के लिये उनकी सेवा में वापस भेज दूं।

दैववश इसी बीच श्री स्वामीजी महाराज का अचानक हृदयगति रुद्ध हो जाने से देवलोकवास होगया। इस आकस्मिक घटना से संस्थान का कार्य एक निराशाजनक स्थिति में आगया। अभी तक संस्थान का केन्द्र दिल्ली से बारह मील दूर दिल्ली प्रान्त में ही 'खेड़ा खुर्द' नामक ग्राम के समीप यमुना की नहर के किनारे स्थापित था। यहीं पर श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थजी महाराज निवास करते थे। उनके दिवंगत होजाने पर संस्थान के कार्यकर्त्ता गहरी चिन्ता में निमग्न रहे, कि अब इस पुण्यकार्य को किस प्रकार संचालित रक्खा जाय। संस्थान के कर्मठ मन्त्री श्री पं० सत्यानन्दजी शास्त्री एम० ए०, श्री स्वामीजी के परमभक्त शिष्यों में से अन्यतम हैं, आपकी प्रार्थना और संस्थान की कार्यकारिणी समिति के पूर्ण सहयोग से संस्थान के अध्यक्ष का कार्यभार श्री स्वामी विज्ञानानन्दजी सरस्वती ने संभाल लिया। श्री स्वामीजी ने गाज़ियाबाद नगर में एक 'संन्यास आश्रम' स्थापित किया हुआ है। सुविधा की भावना से संस्थान का कार्यालय 'खेड़ा खुर्द' से उठाकर संन्यास आश्रम, गाज़ियाबाद में ले आया गया। इस प्रकार लगभग पांच वर्ष से 'विरजानन्द वैदिक संस्थान' का कार्यालय यहां स्थापित है, और आश्रम के भवन का पर्याप्त भाग इसके निमित्त प्रदान किया हुआ है।

श्री स्वामी विज्ञानानन्दजी सरस्वती यद्यपि लगभग अस्सी वर्ष की आयु के वृद्धजन हैं, पर आपकी कर्मठता एवं अनिश परिश्रमपरायणता युवकों को चुनौती देने वाली है। जैसी कि श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थजी महाराज की अन्तिम अभिलाषा थी, कि सांख्यसूत्रभाष्य पृथक्रूप में पहले छपजाना चाहिये; उसका आदर करते हुए, संस्थान के वर्तमान अध्यक्ष श्री स्वामीजी के अथक परिश्रम और पूर्ण सहयोग से सांख्य-दर्शन का विद्योदयभाष्य पिछले दिनों संस्थान से प्रकाशित होचुका है। उसके अनन्तर अब यह 'सांख्यसिद्धान्त' ग्रन्थ मुद्रित होकर विद्वज्जनों के सम्मुख है।

## ग्रन्थ का कलेवर

यह ग्रन्थ पांच अध्यायों में पूर्ण हुआ है, पहले तीन अध्यायों में यथाक्रम पुरुष, प्रकृति और विकार शीर्षक के नीचे उन-उन तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उनका अतिसंक्षिप्त सारांश इसप्रकार है—

पुरुष—कापिलसांख्य के विषय में यह प्रवाद प्रचलित है, कि यह निरी-

श्वरवादी दर्शन है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में इस प्रवाद का प्रारम्भ बौद्धकाल से हुआ, ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं। वस्तुस्थिति यह है, कि कापिल सांख्य के विषय में यह प्रवाद सर्वथा निराधार है। सांख्य में दो प्रकार के मूल-तत्त्वों का विवेचन है, एक पुरुष और दूसरा प्रकृति। 'पुरुष' पद चेतनमात्र तत्त्व का बोधक है। सांख्य में चेतनतत्त्व दो रूप में प्रस्तुत किया गया है, एक ईश्वर अथवा ब्रह्म और दूसरा जीवात्मा। ईश्वर व्यक्तिरूप से एक है, सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् जगत् का अधिष्ठाता व नियन्ता है। जीवात्मा परिच्छिन्न अल्पज्ञ अल्पशक्ति और संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के 'पुरुष' नामक प्रकरण में इन सबका विस्तार-पूर्वक सप्रमाण निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट किया गया है, कि चेतनतत्त्व को स्वीकार किये विना जगत् की तथ्यपूर्ण व्याख्या किया जाना अशक्य है।

सांख्य में जो ईश्वर की असिद्धि का वर्णन [१,५७॥५,२-११] उपलब्ध होता है, वह जगत् के उपादानभूत [Material Cause] ईश्वर की असिद्धि का वर्णन है। सांख्य जड़ जगत् के उपादानरूप में सत्त्वरजस्तमोमय त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति को स्वीकार करता और प्रमाणपूर्वक उसका प्रतिपादन करता है, इसीलिये उसने चेतन तत्त्व को जगत का उपादान नहीं माना और इसप्रकार के कल्पित ईश्वर की असिद्धि का उपपादन किया है। प्रकृति के अधिष्ठाता व नियन्तारूप में वह ईश्वर अथवा ब्रह्म को स्वीकार करता है [सांख्यसूत्र, १,६१॥३,५६-५७॥५,७६]। इसप्रकार प्रथम अध्याय में चेतनतत्त्व [ईश्वर तथा जीवात्मा] का सांख्यशास्त्रानुसार सप्रमाण प्रतिपादन किया गया है।

प्रकृति—जड़ जगत् का मूल उपादानतत्त्व त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति है। जिन आचार्यों ने जड़ जगत् का उपादान चेतनतत्त्व को माना है, वे अपनी मान्यता को निर्भ्रान्तरूप से निरूपण करने में असमर्थ रहे हैं। उन्हें यथाकथञ्चित् जगत् की व्याख्या के लिये तथाकथित एकमात्र चेतनतत्त्व से अतिरिक्त 'अनिर्वचनीय माया' नामक तत्त्व को स्वीकार करना पड़ा है, और वहां अनादि पदार्थों की संख्या तो छह तक पहुंच गई है, जो सर्वथा काल्पनिक एवं निराधार है। समस्त जड़ जगत् के मूल उपादानतत्त्व, सत्त्व-रजस-तमस् हैं। मूल तत्त्वों की यह तीन विधा हैं। इनका स्वरूप और इनकी स्थिति क्या है? परस्पर इनका क्या संम्बन्ध है? ये ही तत्त्व मूलकारण क्यों होसकते हैं? इन सबका यथाज्ञात वर्णन ग्रन्थ के 'प्रकृति' नामक द्वितीय अध्याय में किया गया है।

कपिल का मूल उपादानतत्त्वविषयक यह सिद्धान्त आधुनिक आधिभौतिक विज्ञान के आधार पर पुष्ट होता है। वर्त्तमानकाल के अतिविस्तृत एवं व्याख्यात रसायनशास्त्र ने जिन शताधिक पदार्थों को ऐलीमेंट [Element] अथवा मूलतत्त्व माना

है, वस्तुतः वे मूलतत्त्व नहीं हैं। क्यों नहीं हैं ? इसका भी प्रसंगवश प्रस्तुत अध्याय में संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

**विकार**—तृतीय अध्याय में प्रकृति से परिणत हुए तत्त्वों का वर्णन है। प्रकृति के समस्त विकार दो भागों में विभक्त हैं—अध्यात्म और अधिभूत। अध्यात्म में बुद्धि से लेकर इन्द्रियपर्यन्त समस्त तेरह करणों का समावेश है। अधिभूत में तन्मात्र और उनके विकार स्थूलभूत एवं भौतिक पदार्थों का समावेश है। प्रकृति से बुद्धि आदि के परिणाम का स्वरूप क्या है ? तथा इनकी कैसी स्थिति रहती है ? इत्यादि करणविषयक वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

अधिभूत जगत् के प्रथम व्यवहार्य तत्त्व तन्मात्र किसप्रकार मूलतत्त्वों से परिणत होते हैं, इनका क्या स्वरूप है ? संभवतः आधुनिक रसायनशास्त्रप्रतिपादित मूलतत्त्व [Element], सांख्यनिरूपित तत्त्वों में तन्मात्रस्थानीय माने जासकते हैं; इत्यादि विवेचन भी इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। भारतीय दर्शन में पञ्चभूतों का विवेचन किस स्तर पर किया है, एवं उसकी प्रामाणिकता किन आधारों पर है, यह सब वर्णन तथा प्राणिजगत् के प्रादुर्भाव का संक्षिप्त वर्णन भी इस अध्याय में पाठकों को मिलेगा।

आधुनिक रसायनशास्त्रीय तत्त्वों की कुछ आवश्यक जानकारी के लिये मैं इस विषय के एक विशेषज्ञ विद्वान् से मिला, वे एक उच्च शिक्षा केन्द्र में रसायन विभाग के अध्यक्ष हैं। पञ्चभूतविषयक विचार के अवसर पर उन्होंने कहा, कि पञ्चभूत का सिद्धान्त आज मरचुका है, सृष्टिविज्ञान के सम्बन्ध में जो गवेषणा और जानकारी आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत की गई हैं, उनकी प्रतिद्वन्द्विता कीजानी कठिन है। पञ्चभूत के सिद्धान्त की जड को इस जानकारी ने उखाड़ फेंका है। मैंने निवेदन किया, क्या पञ्चभूत भी आज मर चुके हैं ? या वे जीवित हैं ? मेरी इस जिज्ञासा से उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ, और उन्होंने कुछ संकोच के साथ कहा, कि नहीं, पञ्चभूत तो नहीं मरे हैं, पर पञ्चभूत जगत् के मूलतत्त्व नहीं हैं। मैंने पुनः निवेदन किया, यदि पञ्चभूत नहीं मरे हैं; तो पञ्चभूत का सिद्धान्त भी मरा नहीं समझना चाहिये। जिन आचार्यों नेमूलतत्त्वरूप में इनका वर्णन किया है, गंभीरतापूर्वक विवेचन के साथ उनके वास्तविक आशयको समझलेने की अपेक्षा है। संभव है, उस स्थिति में हम पञ्चभूतसिद्धान्त को मरा हुआ कहने का साहस न कर सकें।

वास्तविकता यह है, कि मूलतत्त्वों ने सर्गरचना के लिये जहां से यात्रा प्रारम्भ की, और जहां पर वह यात्रा पूरी हुई; इस यात्रा में उनके अनेक पडाव हैं। अन्तिम पड़ाव पञ्चभूत हैं। प्राणिमात्र के जीवन का सीधा सम्बन्ध पञ्चभूतों से है। पञ्चभूतों के अस्तित्व के विना प्राणी का जीवन असंभव है। प्राणिमात्र के जीवन के आधारभूत आहार पञ्चभूतों से प्राप्य हैं। इसी एक मुख्य भावना और जिज्ञासु अधिकारी की परिस्थिति से

प्रेरित होकर कतिपय आचार्यों ने पञ्चभूतों को मूलतत्त्वरूप में वर्णन किया है। इस वर्णन के आधार पर यह कहना कठिन होगा, कि वे इतनी ही जानकारी रखते थे, अथवा उस काल में इतनी जानकारी भी उनके लिये प्रशंसा की द्योतक है, और वे वास्तविक सृष्टि-विज्ञान से अनभिज्ञ थे। सच्चा वैज्ञानिक इसप्रकार की अहंमन्यतापूर्ण भावनाओं को अपने मस्तिष्क में उभरने का अवसर नहीं देसकता।

वस्तुत: सर्गरचना के लिये मूलतत्त्वों की यात्रा में जैसे भारतीय दर्शन ने अन्तिम पड़ाव के पञ्चभूतों का वर्णन किया है, वैसे ही वर्तमान रसायनशास्त्र उस यात्रा के कतिपय उन पड़ावों का वर्णन करता है, जिनकी स्थिति पञ्चभूतों के उभरने से पहले आजाती है, उससे भी पहली स्थिति का वर्णन आधुनिक भौतिकीशास्त्र प्रस्तुत करता है। कपिल ने अपने दर्शन में इन तत्त्वों की समस्तयात्रा का वर्णन किया है। मूलतत्त्व की अव्यक्त अवस्था से स्थूलभूतपर्यन्त समस्त विवेचन सांख्यदर्शन में उपलब्ध होता है। अभिप्राय यह है; कि अनेकानेक जिन किन्हीं भी आचार्यों ने सृष्टिविज्ञान के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, गंभीरता से विवेचन करने पर यह स्पष्ट होजाता है, कि वे एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, प्रत्युत पूरक हैं, किसीने इन तत्त्वों की लम्बी यात्रा के किसी अंश का वर्णन किया है, अन्य ने अन्य किसी अंश का। इस भावना से यदि हम दर्शनशास्त्र का अवगाहन करते हैं, तो यह सचाई के अधिकाधिक समीप पहुंचने का प्रयत्न होगा, यह स्पष्ट है। तृतीय अध्याय में तत्त्वविकारों का विवेचन इसी भावना से प्रस्तुत किया गया है।

**चतुर्थ-पञ्चम अध्याय**—मध्यकाल के कतिपय आचार्यों ने कापिल सांख्य को वेदविरुद्ध कहा है। विशेषरूप से वेदान्त की शांकर विचारधारा के अनुयायी इस पर अधिक बल देते रहे हैं। स्वयं आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र [२।१।१] के भाष्य में कापिल तन्त्र को वेदविरुद्ध बताया है, और उसका आधार यह माना है, कि सांख्य में जगत् के उपादान प्रकृति को ब्रह्म अथवा चेतन से अतिरिक्त तत्त्व स्वीकार किया है, जो वेद के अनुकूल नहीं है। आचार्य शंकर के ग्रन्थों का पर्यालोचन करने से यह स्पष्ट होता है, कि इस सिद्धान्त [ब्रह्म-और जगत् के मूल उपादान प्रकृति-की एकता] की पुष्टि के लिये आचार्य का वेद प्रायः उपनिषदों तक सीमित है। वेदान्त की इस विचारधारा को मानने-वाले विद्वानों ने उन सबको अवैदिक मानलिया है, जिन्होंने चेतनतत्त्व को जगत् का उपादानकारण अङ्गीकार नहीं किया। यद्यपि स्पष्टरूप से चेतन-उपादानवाद न उप-निषदों के आधारपर सिद्ध होता है, और न अन्य प्रमाण एवं युक्तियों के आधार पर। वेद संहिताओं में तो स्पष्टरूप से जगत् के मूल उपादान तत्त्व को चेतनतत्त्व से अतिरिक्त स्वीकार किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम-द्वितीय अध्यायों में चेतनतत्त्व तथा जगत् के मूल उपा-दानकारण की पृथक्ता पर पर्याप्त विवेचन किया गया है, उसके अतिरिक्त चर्यंतु

अध्याय में वेद के अनेक प्रमाणों के आधार पर दोनों तत्त्वों की पृथक्ता और आत्म-भेद [जीवात्म-परमात्मभेद] का विशद निरूपण है। संभवतः वेद के ऐसे ही वर्णनों के आधार पर आदिविद्वान् परमर्षि कपिल ने सृष्टिविज्ञान की उस प्रक्रिया को प्रस्तुत किया, जो सांख्यदर्शन के रूप में हमारे सन्मुख है। इस दर्शन को अवैदिक कहना चिन्तनीय है। इस विषय के शांकरविचारों की वैदिकता प्रौढिवादमात्र है, उसमें तथ्य अंश का पाया जाना कठिन है। इस सब विवेचना के साथ चतुर्थ अध्याय में सांख्यदर्शन की वेद-मूलकता को स्पष्ट किया गया है। चेतन और अचेतन की एकता सारहीन है।

पञ्चम अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है, कि अतिविशाल भारतीय साहित्य पर सांख्यसिद्धान्त किसप्रकार छाये रहे हैं, और समस्त साहित्य कहांतक उनसे प्रभावित रहा है। भारतीय साहित्य का कोई अंश ऐसा प्रतीत नहीं होता, जिसने अपने विवेचन में सांख्यसिद्धान्तों की उपेक्षा की हो। वैदिक साहित्य तथा पुराण, इतिहास, आयुर्वेद, राजनाति, कामशास्त्र, समाजशास्त्र, ज्योतिर्विद्या आदि कोई साहित्य का अंग ऐसा नहीं, जो इसके प्रभाव से अछूता रहा हो। यह सब कापिल विचारधारा के प्रति परिनिष्ठा एवं आस्था का द्यातक है।

## कृतज्ञता प्रकाशन

प्रस्तुत ग्रन्थ के अधिक भाग की पाण्डुलिपि लगभग दश वर्ष पूर्व तैयार की जा चुकी थी। जहां-तहां अपेक्षित अंशों का समावेश ग्रन्थ के मुद्रण काल तक होता रहा है; इनमें अधिक भाग आधुनिक आधिभौतिक विज्ञानविषयक अंशों का है। इस विषय की साधारण जानकारी मैंने एतद्विषयक हिन्दी साहित्य के आधार पर प्राप्त की है। मुझे यह बराबर अनुभव होता रहा है, कि किसी विषय पर विवेचना करने के लिए इतनी जानकारी सर्वथा अपंग है। इस कमी को यथासंभव पूरा करने के लिये मेरे सामने एक ही उपाय रहा है, कि यथाकाल व यथास्थान उस विषय के विशेषज्ञ विद्वानों के साथ संपर्क स्थापित कर अपनी जिज्ञासाओं का उपयुक्त समाधान प्राप्त करूं। इस दिशा में अनेक विद्वानों ने बड़े स्नेह और अनुग्रह के साथ मुझे अपना बहुमूल्य समय दिया है।

परमाणुतत्त्व एवं सृष्टिविज्ञान के विशेषज्ञों में मूर्द्धन्य विद्वान् संमाननीय श्री० डॉ० दौलतसिंह कोठारी का नाम सबसे प्रथम मेरे सन्मुख आता है। लगभग दस-ग्यारह वर्ष पूर्व–जब इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार की जा रही थी–अणु-रचनाविषयक जानकारी में महत्त्वपूर्ण प्रेरणा डॉक्टर साहब से प्राप्त करता रहा हूँ, उनके अनुसार अनेक सांख्यसिद्धान्तों की वास्तविकता समझने में मुझे अनुपम सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ मुद्रित होजाने पर मेरी प्रार्थना के अनन्तर डॉक्टर साहब ने उदारतापूर्वक इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखने की जो महती कृपा की है, उसके लिये उनकी सहृदयता, सदाशयता और महत्ता को शब्दराशि द्वारा प्रकट करना उसे सीमित करना होगा, जो केवल साहस

कहा जा सकता है। मेरे हृदय में उनके प्रति जो आदरभाव है, उसे प्रकट करने में अक्षम हूं। कृतज्ञता प्रकाशन के लिये शब्दों की कृपणता मुझे स्पष्ट दीख रही है।

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी [हरद्वार] के बायोलॉजी विभाग के अध्यक्ष, प्राध्यापक श्री चम्पतस्वरूप गुप्त, एम० एस-सी० अपने आकर्षक सरल स्वभाव और वैदुष्य के कारण सदा मेरे आदर एवं स्नेह के स्थान रहे हैं। प्राणिविषयक जानकारी के लिये अनेक बार मैं गुप्तजी को कष्ट देता रहा हूं, आपने सदा ही मेरी इच्छानुसार उन समस्याओं को समझाने के लिये अपना बहुमूल्य अधिकाधिक समय देकर तथा अपनी प्रयोगशाला में जीव की सूक्ष्म दैहिक क्रियाओं को देखने व समझने का अवसर देकर मुझे अनुगृहीत किया है, श्री गुप्तजी के प्रति मेरे हृदय में एक विलक्षण स्नेह एवं आकर्षण की भावना है। उनके इस अनुपम सहयोग के लिये मैं हृदय से उनका आभारी हूं।

श्रीयुत प्राध्यापक बलवीरसिंह त्यागी, एम० एस-सी०, अध्यक्ष रसायन शास्त्र विभाग तथा श्री प्राध्यापक महेशस्वरूप भटनागर, एम० एस-सी० अध्यक्ष भूगोल विभाग, महानन्दमिशन कॉलिज, गाज़ियाबाद ने इस ग्रन्थ के मुद्रण के अवसर पर आधुनिक आधिभौतिक विज्ञानविषयक अनेक समस्याओं को मेरी जिज्ञासा पर सुलझाने व समझाने में तथा तत्सम्बन्धी आधुनिक-तम साहित्य प्रस्तुत करने में स्नेहपूर्वक मुझे पूर्ण सहयोग दिया है। यह निश्चित है, कि इस सहयोग के अभाव में अनेक अपेक्षित अंश ग्रन्थ में आने से रह जाते, और संभवतः कुछ अंश अन्यथा लिखे जाते। इन विद्वानों के इस महत्त्वपूर्ण सहयोग के लिये जितना भी कृतज्ञता प्रकाशन करूं, वह अल्प ही है।

श्री० डॉ० बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर, अध्यक्ष-नेशनल बुकट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली; श्री पं० कुबेरदत्त शर्मा, शास्त्री, प्रधानाचार्य श्री राधाकृष्ण संस्कृत कॉलिज, खुरजा, तथा श्री प्राध्यापक रत्नसिंह एम० ए०, अध्यक्ष-दर्शन व मनोविज्ञान विभाग, महानन्दमिशन कॉलिज, गाज़ियाबाद ने इस रचना के विषय में अपनी बहुमूल्य सम्मति प्रकट कर इसके महत्त्व को वढ़ाने में हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। इस आत्मीयता के लिये मैं इन विद्वान् महानुभावों का अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

## ग्रन्थ-प्रकाशन में सहयोग

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का यह सुअवसर प्राप्त हुआ है, इसे अचिंत्यशक्ति भगवान् का अनुग्रह ही समझना चाहिये, जबकि लगभग दस वर्ष पूर्व लिखा जाकर यह ग्रन्थ अपने प्रकाशन की प्रतीक्षा में अभी तक निष्पन्द पड़ा था। जैसे ग्रन्थ के लेखन में 'विरजानन्द वैदिक संस्थान' के संस्थापक दिवंगत श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ का हार्दिक एवं आर्थिक आदि सब प्रकार का सहयोग प्राप्त हुआ, वैसे ही इसके प्रकाशन में संस्थान के वर्तमान संचालक अध्यक्ष श्री स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती तथा मन्त्री श्री पं० सत्यानन्द शास्त्री, एम० ए० ने सब प्रकार का सहयोग देकर इस पुण्य कार्य को सम्पन्न किया है।

इन महानुभावों तथा संस्थान के अन्य समस्त सहयोगी सज्जनों का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं, जिन्होंने मेरी रचना 'सांख्यदर्शन का इतिहास' तथा 'सांख्यदर्शन-विद्योदयभाष्य' के प्रकाशन के अनन्तर इस 'सांख्यसिद्धान्त' नामक रचना के प्रकाशन को महती सद्भावना के साथ सम्पन्न कराया है।

बड़ी होली, गाज़ियाबाद
भाद्र शुक्ल १२, मंगल २०१६ वि०

विनीत—
उदयवीर शास्त्री

## ग्रन्थ-संकेत

ऋ०—ऋग्वेद
अथर्व०—अथर्ववेद
ब्र० शां०—ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य
म० भा०—महाभारत
म० भा०, सभा०—महाभारत, सभापर्व
छा०—छान्दोग्य उपनिषद्
पात० योग०—पातञ्जल योगसूत्र
अ०—अध्याय
सू०—सूत्र
श्वेता०—श्वेताश्वतर उपनिषद्
तै०—तैत्तिरीय उपनिषद्
ऐत०—ऐतरेय उपनिषद्
मुण्ड०—मुण्डक उपनिषद्
बृ०—बृहदारण्यक उपनिषद्
मैत्रा०—मैत्रायणी उपनिषद्
सां० सू०—सांख्यसूत्र
सांख्य०—सांख्यदर्शन
छान्दो०—छान्दोग्य उपनिषद्
स्कन्द०, प्रभास०—स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड
यु० दी०—युक्तिदीपिका
मनु०—मनुस्मृति
याज्ञ०—याज्ञवल्क्य स्मृति
कौट० अर्थ०—कौटलीय अर्थशास्त्र
पृ०—पृष्ठ
पं०—पंक्ति
यजु०—यजुर्वेद
ऐत० आर०—ऐतरेय आरण्यक
कौषी० ब्रा०—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
तै० ब्रा०—तैत्तिरीय ब्राह्मण
ताण्ड्य०—ताण्ड्यमहाब्राह्मण
ऐ० ब्रा०—ऐतरेय ब्राह्मण
ऐ० आ०—ऐतरेय आरण्यक
श० ब्रा०—शतपथ ब्राह्मण
तै० सं०—तैत्तिरीय संहिता
शां० आ०—शांखायन आरण्यक
कौषी०—कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्
वायु पु०—वायुपुराण
विष्णु पु०—विष्णुपुराण
मैत्र्यु०—मैत्र्युपनिषद्
सां० का०—सांख्यकारिका
वि० पु०—विष्णुपुराण
कूर्म पु०—कूर्मपुराण

# सांख्यसिद्धान्त—द्वितीय संस्करण

## प्रकाशक का निवेदन

'सांख्यसिद्धान्त' का प्रथम संस्करण विक्रमी संवत् २०१६ [तदनुसार, १९६२ ई० सन्] में प्रकाशित हुआ था। लगभग आठ वर्ष की अल्पावधि में इसका हाथों-हाथ बिक जाना ग्रन्थ की लोकप्रियता का परिचायक है।

साधारण जनता में ही नहीं, अपितु विद्वानों में भी यह धारणा घर कर चुकी है, कि सांख्यानुयायी अनीश्वरवादी होते हैं। यद्यपि यह धारणा है सर्वथा अशुद्ध। अन्यथा सांख्य साहित्य में विशेष रूप से षडध्यायात्मक सांख्यदर्शन में "अधिष्ठाता"[1] 'सर्वकर्त्ता'[2] "सर्वज्ञ"[3] "सर्वान्तिर्यामी"[4] "सर्वव्यापक"[5] "ईश्वर"[6] आदि पदों से परमात्मा का उल्लेख किया जाना सर्वथा असंगत होता।

वस्तुस्थिति यह है, कि सांख्यपरम्परा में एक दिग्गज आचार्य हुए हैं— वार्षगण्य। आचार्य वार्षगण्य मूल में तो कापिल सिद्धान्त को मानते थे; किन्तु अवान्तर रूप से सर्ग-रचना की विचारधारा में उनका एक सुझाव था। उसके अनुसार सर्वप्रथम प्रकृति की प्रवृत्ति में उसने चेतननिरपेक्षता की कल्पना की।[7]



---

१—देखें 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' [सां० द० १।९६॥ यह सूत्रसंख्या हमारे सम्पादित सांख्यदर्शन की है, इसमें ३५ जोड़कर अन्य संस्करणों में देखें]। सांख्यसप्तति १७ आर्या पर माठर एवं गौडपाद ने लिखा है—"अपि चोक्तं षष्टि-तन्त्रे—'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते' इति।" यह पञ्चशिख-सन्दर्भ है। एक सन्दर्भ और है—'महदादिविशेषान्तः ········ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नः।'

२—'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता' [सां० द० ३।५६]।

३-५-'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता' सूत्र का 'सर्ववित्' पद 'सर्व' उपपदपूर्वक 'विद्' धातु से बनता है। धातुपाठ में इसके चार अर्थ निर्दिष्ट हैं—ज्ञान, सत्ता, लाभ, विचारण। यह पद परमात्मा के—'सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक' आदि स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। पञ्चशिख का सन्दर्भ है—'महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धि-पूर्वकत्वात्।'

६—द्रष्टव्य, सांख्यदर्शन, ३।५७॥५।२,४॥१।५७॥ [अन्तिम सूत्रसंख्या में ३५ जोड़कर अन्य संस्करणों में देखें]।

७—तथा च वार्षगणाः पठन्ति 'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणा आदिसर्गे वर्त्तते' युक्तिदीपिका, पृ० १०२। पं० २४-२५। कलकत्ता संस्करण।

कालान्तर में वार्षगण्य के शिष्य-प्रशिष्यों का दौर-दौरा हुआ। तदनन्तर जोर पकड़ती हुई बौद्ध-परम्परा ने वार्षगण्य द्वारा की गई **चेतन-निरपेक्षता** की कल्पना का आश्रय ले सम्पूर्ण सांख्य-विचारधारा को अनीश्वरवादी उद्घोषित कर दिया।

श्री प० उदयवीर शास्त्री जी ने सांख्य-संबन्धी अपने ग्रन्थों में ईश्वर की सत्ता को सांख्य-विचारधारा में यथोचित और यथास्थान पुनः स्थापन करने का श्रेयस् प्रयत्न किया है। यही नहीं, अपितु आप इस प्रयत्न में पर्याप्त सफल हुए हैं। आपके ग्रन्थों की लोकप्रियता इस सफलता की सूचक है। प्रभु से हमारी प्रार्थना है, श्री पण्डित जी की लेखनी का बल और बढ़े, तथा वह अनीश्वरवाद के झञ्झावात से धूसरित सांख्य-परम्परा को लोक में पुनः निर्मल, उज्ज्वल एवं सशक्त बनाने में कृतकार्य व सफलीभूत हों।

**पुरस्कार** —

ग्रन्थ के महत्त्व से प्रभावित होकर 'श्री हरजीमल डालमिया ट्रस्ट, नई दिल्ली' ने इस वर्ष [सं० २०२८ वि०] ग्रन्थकार को प्रस्तुत ग्रन्थ पर **सात सौ रुपया** पुरस्कार प्रदान किया है।

सांख्य-सिद्धान्त के इस द्वितीय संस्करण को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें हर्षोद्रेक की अनुभूति हो रही है। प्रभु आर्य जाति में पठन-पाठन और मनन-चिन्तन की परिपाटी को और अधिक अग्रसर करें।

दिनांक—कार्तिक अमावस्या,
[दीपमालिका] सं० २०२८, विक्रमी
१८ अक्टूबर, १९७१ ई० सन्
स्थान : शम्भुदयाल दयानन्द
वैदिक संन्यास आश्रम,
गाजियाबाद।

विदुषामनुचरः
स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती,
अध्यक्ष—विरजानन्द वैदिक संस्थान,
गाजियाबाद।

# सांख्यसिद्धान्त-विषयानुक्रम

[अध्याय-क्रमानुसार]

## प्रथम अध्याय

### [पुरुष]

## द्वितीय अध्याय

### [प्रकृति]

## तृतीय अध्याय

### [विकार]

## चतुर्थ अध्याय

### [सांख्यसिद्धान्त वेदमूलक]



## पञ्चम अध्याय

### [प्राचीन साहित्य पर सांख्य का प्रभाव]

# विषयवस्तुसूची

ओ३म्

# सांख्य-सिद्धान्त

## प्रथम अध्याय

## पुरुष

**सत्यान्वेषण की आर्यभावना**—आदिकाल से आर्य सत्यान्वेषण के प्रति बराबर जागरूक रहे हैं। देश-काल की प्रतिकूल स्थितियों में भी आर्य विद्वज्जनों ने इस भावना का परित्याग नहीं किया। यही एक ऐसा अविच्छिन्न आधार बना रहा है, जिस पर भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पूर्ण रूप से आधारित है। आदि सृष्टि के वेद-ज्ञान, अनन्तर काल में उसके प्रसार तथा कालान्तर में ह्रास एवं प्रत्येक प्रकार के उत्थान पतन आदि की अवस्थाओं में वैदिक आध्यात्मिक विचारधारा का अस्तित्व निरन्तर अक्षुण्ण बना रहा है। आज संसार के उपलब्ध साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि आर्य परम्परा में—वेद उपनिषद् और दर्शनों में—वह धारा अपना मूर्त्तरूप लेकर सर्वात्मना ओतप्रोत है। भारतीय साहित्य की यह एक ऐसी विशेषता है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। वेद में इनका मूलस्रोत होने पर भी इनके विवेचनात्मक विस्तार का क्षेत्र दर्शनशास्त्र ही रहे है, जो अतिप्राचीन ऋषियों की आश्चर्यकारी मौलिक प्रतिभा के ज्वलन्त प्रमाण हैं। जगत् के मूल तत्त्वों का गंभीर एव सूक्ष्म विवेचन कर जो परिणाम उन ऋषियों ने प्रस्तुत किये, आज वे एक आश्चर्य का विषय हैं, जब कि सहस्रों सदियों पूर्व वे इसप्रकार प्रकाश में लाये गए।

**आदिकालिक जिज्ञासा**—आदि सृष्टि में सर्वप्रथम जब मानव ने चक्षु उन्मीलन किया, उसने अपने चारों ओर विविध सृष्टिका विस्तार अंगड़ाइयां लेता पाया। प्रकृति-नटी अपनी भूमिका को बड़ी सजधज के साथ प्रारम्भ कर चुकी थी, ऊपर अनन्त नक्षत्र राशि का वितान, सूर्य और चन्द्र का व्यवस्थित आवागमन, उनके उदय तथा अस्त की अद्भुत छटा से घिरी हुई रंग-बिरंगी संध्याएं, भूतल पर चारों ओर बिछी हुई हरिततृणराशि, विविध तरु-लताओं से परिपूर्ण वनराजि, स्वच्छ बहती हुई मुक्ताभ जलधारा, इन सभी प्रकृति-नर्त्तकी के संभारों ने मानव-मस्तिष्क को चौंधिया दिया। तब एक अज्ञात प्रेरणा उसके मस्तिष्क में जागृत हुई, वह उद्बुद्ध हो गया, और अपने चारों ओर अनन्त आकाश में फैली हुई प्रकृति-विभूतियों की वास्तविकता को

जानने के लिए आकृष्ट हुआ। उस अनादिकाल से जागृत वह ज्ञानतृष्णा का आकर्षण आज भी मानव-मस्तिष्क को मथित कर रहा है, और कदाचित् अनन्त काल तक यही गति बनी रहने की संभावना है।

**दर्शन का आदि प्रवक्ता कपिल**—इस ज्ञान-पिपासा की पूर्ति के लिए आज तक जिन महान आत्माओं ने अनुकरणीय व प्रशंसनीय प्रयास किये हैं, उनमें महर्षि कपिल का नाम मूर्द्धन्य व्यक्तियों की श्रेणी में लिया जा सकता है। कपिल को आज दार्शनिक जगत् का यदि आदि मानव कहा जाय, तो इसमें कुछ अत्युक्ति न होगी। अध्यात्म और अधिभूत के सम्बन्ध में जो विवेचन इस क्रान्तदर्शी ऋषि ने आदिकाल में प्रस्तुत किया, आज भी उसका उत्तर वह स्वयं है। विविध साधनसामग्री-सज्जित आधुनिक आधिभौतिक विज्ञान आज के मानव को जिस सीमा पर लाकर खड़ा कर देता है, अन्तिम कोर तक उसकी तुलना में कापिल विचार-धारा को उपस्थित करने के लिए किसी संकोच का अनुभव नहीं होता, उसके भी आगे अधिभूत के साथ अध्यात्म का समन्वय कापिलदर्शन की अपनी विशेषता है। उसी विचार-धारा का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने के लिए यह प्रयत्न है।

**दर्शन की तीन मूलभूत विचारधाराएं**—दर्शनशास्त्र के नाम पर जितनी विचार-धाराएं आज तक संसार में प्रवाहित हैं, स्थूलरूप से उनको तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के तत्त्वों का अस्तित्व वास्तविक है। दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व होने पर भी परस्पर सहयोग से ही सर्ग आदि जगत् कार्य का निर्वाह सम्भव है।

(२) वस्तुतः अचेतन एकमात्र मूल तत्त्व है, वही कभी अवस्थाविशेष में आकर अपने वास्तविक रूप से इतना भिन्न प्रतीत होने लगता है, कि उसे हम अचेतन न कहकर चेतन कहते हैं। चेतन नाम की पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता रखने वाली कोई वस्तु नहीं है।

(३) मूल में चेतन एक वास्तविक तत्त्व है, चेतन से अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व अपना अस्तित्व नहीं रखता। यह जो जड़ जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, इसका अपना वास्तविक स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, मूल चेतनतत्त्व केवल लीलावश इस रूप में भासता है।

पहली विचारधारा वैदिक है। इस प्रकार के मन्तव्यों का निर्देश एवं संकेत वेद के अनेकों सूक्तों[1] मन्त्रों में उपलब्ध होता है। इन विचारों को दर्शन के रूप में उपस्थित करने वाला सर्वप्रथम व्यक्ति महर्षि कपिल है। इसी दृष्टि से आज इन विचारों को कापिल विचार कहा जाता है।

मानव में मति-वैचित्र्य स्वाभाविक है। जब आदिकाल में वैदिक आदेशों व आदर्शों

१. ऋ०१।१५४।४॥, ऋ० १।१६४।२०॥,१।१६४।३८॥ ऋ० १०।१२९।२॥, ऋ० ५।३४।१॥; ऋ० १०।७२।१—९॥; अथर्व० १०।८।४३॥

के अनुसार आर्य मानव अपने जीवन-अनुष्ठानों के पालन में तत्पर रहता था, जगत् के निर्माता-नियन्ता परमात्मा के अस्तित्व में आस्था रखता था, परब्रह्म की उपासना एवं उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता था, उन्हीं दिनों उस आर्य मानव-समुदाय के एक उदीयमान नवयुवक ने यह घोषणा कर दी, कि यह उपासना आदि सब ढकोसला है। किसी ऐसे परमात्मा या ब्रह्म नाम के तत्त्व में विश्वास रखना पागलपन है, जिसके सम्बन्ध में प्रत्यक्षरूप से हम कुछ नहीं जान सकते। जो जगत् हमारे चारों ओर बिछा पड़ा है, बस वही है, और उतना ही। हम सब उसी की विभूति हैं। यह घोषणा करने वाला आर्य युवक बृहस्पति था। इन पंक्तियों में एक शब्द के द्वारा यह कह देना कठिन है, कि यह भारतीय साहित्य में वर्णित देवों का पुरोधा बृहस्पति था अथवा अन्य। पर यह अधिक संभव है, कि आर्यों के प्रतिष्ठित परिवारों में से यह एक का नेता था, और इसकी घोषणा प्रभाव रखती थी, वह समय रहते रंग लाई, सम्पूर्ण समाज में तहलका मच गया, अन्त में इसने अपना निश्चित स्थान बना लिया, और इसी आधार पर तत्कालीन समाज दो संघों में विभक्त हो गया, जिनका 'देव' और 'असुर' नामों से भारतीय साहित्य में उल्लेख हुआ है। देव अधिभूत की उपेक्षा न करते हुए अध्यात्म में निष्ठा रखने वाले थे, और असुर केवल अधिभूत में। यहां उनका अन्य इतिहास लिखना अनावश्यक है, पर बृहस्पति की विचारधारा का दर्शन पर अत्यधिक प्रभाव है। यह कहना अत्युक्ति न होगा, कि आज संसार में दार्शनिक क्षेत्र पर बृहस्पति के विचारों का पूर्ण आधिपत्य है, उसीका सर्वत्र बोलबाला है।

यह दूसरी विचारधारा है, जिसकी परम्परा भारतीय दर्शन में उसके संस्थापक के नाम से तथा उसके एक प्रधान विवेचक एवं प्रचारक चार्वाक के नाम से आज तक अपना स्थान रखती है। प्राचीन यूनानी दर्शन को छोड़कर, जिस पर भारतीय वैदिक दर्शनों का अधिक प्रभाव था, पश्चिम का सम्पूर्ण दर्शन, जो आज आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के रूप में विकसित हुआ है, जिसको हेगेल और कार्लमार्क्स जैसे आधिभौतिक तत्त्वज्ञों ने पल्लवित व पुष्पित किया है, इसी विचारधारा का पोषक है। आज पश्चिम में दुनिया के दूसरे पर्दे तक इसका इतना प्रभाव है, कि ईश्वर एवं उसकी उपासना आदि का वैसा अस्तित्व केवल पोपों व पुरोहितों तक सीमित रह गया है। यह कहा जा सकता है, कि चार्वाक तथा वर्तमान पाश्चात्य दर्शन को सर्वथा समान कहना उतना प्रामाणिक न होगा, पर जहां तक इनके मूल सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, इनकी समानता से नकार नहीं किया-जा सकता। इस प्रकार इनको दूसरी विचारधारा के अन्तर्गत समझा जा सकता है। यथावसर इन मन्तव्यों के आधार की समानता को इसी ग्रन्थ में आगे स्पष्ट किया जायगा।

**सांख्यविचारधारा पर बार्हस्पत्य प्रभाव**—प्राचीन काल में कुछ अंश तक सांख्य विचारधारा पर बार्हस्पत्य (चार्वाक) मन्तव्यों का प्रभाव पड़े बिना न रह सका। अन्यतम सांख्याचार्य वार्षगण्य ने सर्ग-रचना में से ईश्वर के अस्तित्व को निकाल फेंका, और

कालान्तर में सांख्य की इसी शाखा का अनुगमन बौद्धों ने किया। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्वाभिमत विचारों को सांख्य के नाम पर प्रसारित कर उनको पुनः स्वीकार किया। वार्षगण्य ने जिन अनेक विचारों का सांख्यपरम्परा में उद्भावन किया है, वे कापिल मन्तव्यों से विपरीत हैं। इस प्रकार के अनेक मन्तव्य वार्षगण्य के नाम से सांख्य ग्रन्थों में उल्लिखित उपलब्ध होते हैं। परन्तु अनेक विचार ऐसे भी हैं, जो मूल सांख्यपरम्परा में इस प्रकार घुलमिल गये, कि कालान्तर में उनके सम्बन्ध में यह बात सर्वथा भुला दी गई, कि यह विचार कपिल का है, या अन्य किसी आचार्य का। साधारण रूप से उस मन्तव्य को सांख्य के अन्तर्गत होने से कपिल का समझा जाने लगा, तथा इसी प्रकार की भ्रान्त धारणाओं के आधार पर खण्डन-मण्डनरूप में अनेक लम्बे-चौड़े ग्रन्थ लिखे गये। उस काल में चार्वाक तथा सांख्यान्तर्गत कुछ विचारों से प्रभावित होकर बौद्ध मन्तव्यों को दर्शन का रूप दिया गया, और उसमें किसी जगन्नियन्ता परमात्मा का सर्वथा बहिष्कार किया गया। यद्यपि भगवान् बुद्ध ने अपने मन्तव्यों का उद्भावन वैदिक मर्यादाओं एवं परम्परा के नाम पर भ्रष्टाचार के प्राबल्य की प्रतिक्रिया के रूप में किया, उनमें ईश्वरनिषेधपरक कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलते, फिर भी उनके शिष्यों ने उन उपदेशों का जो अभिप्राय समझा, उसे चार्वाक तथा वार्षगण्य आदि प्राचीन आचार्यों के विचारों की धुंगार देकर सुवासित करने का प्रयत्न किया गया।

**एकमात्र चेतनसत्ता की घोषणा**—जब यह विचारधारा अति को पार कर गई, तो इसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। संसार में यह क्रम तो अनादि काल से चला आ रहा है, मानव अपने स्वभाव की दुर्बलता के कारण नवीनता की ओर दौड़ता है, और ठोकर खाता है। इसमें सत्यान्वेषण अथवा वास्तविकता की ओर पग बढ़ाने के प्रयत्न की इतनी भावना नहीं होती, न उसकी अपेक्षा समझी जाती, यह केवल समय का प्रवाह है, जिसमें स्वभाव-दुर्बल मानव अनायास बह जाता है। फिर उसी प्रवाह में टिकने का सहारा ढूंढने लगता है, चाहे वह तिनके का ही हो। फलतः जब बौद्ध मत प्रबलता पाने लगा, और जगन्नियन्ता परमात्मा की ओर से विमुख हो जनता के पथभ्रष्ट होने का भय उपस्थित हुआ, तो इसकी प्रतिक्रिया हुई, और कुछ विद्वानों ने यह घोषणा की, कि यह कहना सर्वथा असंगत है, कि परमात्मा अथवा चेतन ब्रह्म का कोई अस्तित्व नहीं। वस्तुतः अस्तित्व एक चेतन सत्ता का ही है, और उसीको परमात्मा या ब्रह्म कहा जाता है, शेष सब अज्ञान वा भ्रम है। इन विद्वानों ने बौद्ध-दर्शन की बाह्य प्रक्रिया को उसी रूप में स्वीकार कर वहां ब्रह्म को और ला बैठाया। इससे प्रारम्भ में उनके प्रति विरोध की भावना में अवश्य न्यूनता आई, और उन्होंने इन विचारों के बीच अपना स्थान बना लिया। अन्त में इस विचारधारा को जगद्गुरु शंकराचार्य ने सुपुष्ट किया। कुछ प्राचीन ग्रन्थों को इसका आधार बनाया गया, और इसीके अनुसार उनकी व्याख्या की गई। इनमें व्यास के वेदान्त-सूत्र, ग्यारह उपनिषद् और गीता का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह

तीसरी विचारधारा है।

**एकमात्र सत्ता की मान्यता का विवेचन**—विश्व की समस्या को सुलझाने के लिये जितने दर्शन आज तक प्रकाश में आये हैं, और उनकी जितनी शाखा-प्रशाखा हैं, उन सबका अन्तर्भाव इन तीन श्रेणियों में हो जाता है, जिनका आधार चेतन और अचेतन के अस्तित्व पर जगत् का विश्लेषण है। अन्तिम दो मतों में पहला कहता है, कि विश्व का मूल एवं वास्तविक तत्त्व अचेतन है। वही मूल तत्त्व एक विशेष अवस्था तक विकसित होकर ऐसा रूप धारण करता है, कि उसे वही पुराना नाम नहीं दिया जा सकता, और तब उसे जड़ न कहकर चेतन कहा जाता है, पर कालान्तर में वह फिर अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत दूसरा बताता है, कि विश्व का मूल और वास्तविक तत्त्व चेतन है, वही चेतन लीलावश किसी अवस्था में एक ऐसे विलक्षण रूप में भासित होता है, कि उसे उस अवस्था में चेतन कहने का साहस नहीं हो सकता, तब उसे जड़ अथवा अचेतन कहा जाता है। ये दोनों मत आपाततः परस्पर इतने भिन्न प्रतीत होते हैं, जैसे अन्धकार और प्रकाश। परन्तु गंभीरता से विचारने पर यह तथ्य सन्मुख आता है, कि ये दोनों मत मूलरूप में वस्तुतः एक ही स्तर पर विराजमान हैं। इनमें केवल शब्द का भेद है, अर्थ का कुछ नहीं। ध्यान दीजिये।

दृश्यमान जगत् में हम चेतन और अचेतन दोनों प्रकार की सत्ताओं का अनुभव करते हैं। उपर्युक्त दूसरी और तीसरी विचारधाराओं के अनुसार इन दोनों सत्ताओं का मूल एकमात्र तत्त्व है। यदि हम उसका नाम चेतन रख देते हैं, और वही किसी एक अवस्था में अचेतनरूप होकर भासता है, तो अचेतन को भी किसी अवस्था में चेतनरूप में भासमान होने से कैसे रोका जा सकता है। अभिप्राय यह है, कि जब चेतन का अचेतनरूप में भासना माना जा सकता है, तब अचेतन का भी चेतनरूप में भासना क्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता। फलतः जब इन दोनों सत्ताओं का मूल एक है, तब उसे चेतन या अचेतन या और कोई कुछ भी नाम दिया जाय, केवल नाम अन्य रख देने से उस वस्तु के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आ सकता। इस प्रकार ये दोनों मत एक ही स्तर पर खड़े हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः विश्वतुला के ये दो पलड़े हैं, एक ने एक को पकड़ा, दूसरे ने दूसरे को। जिधर को झुकाव हो गया, उधर का पलड़ा भारी प्रतीत होने लगता है। तब यह सन्तुलन कैसे हो, विश्व-पहेली पहेली ही बनी रहती है। ऐसी अवस्था में दोनों तत्त्वों के अस्तित्व को मूल तथा स्वतन्त्ररूप में स्वीकृत करना अधिक युक्ति-युक्त एवं प्रामाणिक प्रतीत होता है।

**आचार्य शंकर का दृष्टिकोण**—इस प्रसंग में कदाचित् यह कहा जा सकता है, कि आचार्य शंकर के मत को यहां ठीक रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया। वह इस बात को स्वीकार नहीं करता, कि चेतन ब्रह्म किसी विशेष अवस्था में स्वयं दृश्यमान

जगत् के रूप में भासित होता है। प्रत्युत वह कहता है, कि यह जगत् परिणाम तो माया का है, परन्तु ये सब परिणाम ब्रह्म के आश्रित होते हैं, क्योंकि ब्रह्म के अस्तित्व के विना इन परिणामों का होना संभव नहीं, इसलिए इनका मूल कारण ब्रह्म कहना चाहिये। चेतन ब्रह्म की सत्ता ही वास्तविक सत्ता है। माया की सत्ता ऐसी वास्तविक नहीं है, जैसी ब्रह्म की सत्ता। पर इतने से माया को सर्वथा असत्, तुच्छ या अलीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह प्रतीत होती है। इसलिये शंकर ने माया के अस्तित्व को अनिर्वचनीय शब्द से प्रकट किया है। अभिप्राय यह है, कि उसको सत् अथवा असत् रूप में प्रकट नहीं किया जा सकता। जैसे मार्ग में चलते हुए किसी व्यक्ति को कुछ अंधेरा होने पर सामने सांप दीखता है, वह घबड़ाकर उससे बचकर निकल जाता है। घर जाकर वह इस घटना को सुनाता है, और रातभर उसे सर्प का त्रास बेचैन रखता है। जब प्रातःकाल वह उधर से फिर सावधानतापूर्वक निकलता है, तब प्रकाश हो जाने के कारण ठीक उसी जगह उसी रूप में एक रस्सी पड़ी हुई पाता है। वह समझ जाता है, कि रात अंधेरे के कारण मैंने इस रस्सी को सांप जान लिया था। इस दृष्टान्त में हम देखते हैं, कि उस स्थल पर वस्तुतः सांप का अस्तित्व नहीं है, इस कारण उसे सत् नहीं कहा जा सकता। पर उसे सर्वथा असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसीके कारण रातभर विचारा पथिक बेचैन रहा है, और इस व्यवहार में अन्य व्यवहारों से कोई अन्तर नहीं देखा गया। ऐसी स्थिति में आचार्यों ने निर्णय किया है, कि जब तक वहां सर्प के अस्तित्व का ज्ञान है, तब तक वह अस्तित्व व्यावहारिक माना जाना चाहिये। पर जब प्रातःकाल उस अस्तित्व की कलई खुल जाती है, तब उसे केवल प्रातिभासिक कहा जायगा।

ठीक इसी प्रकार इस जगत् का अस्तित्व है, जब तक यहां सब प्रकार के व्यवहार होते हैं, तब तक इस सबका व्यावहारिक अस्तित्व है। परन्तु आत्मा का साक्षात् दर्शन होने पर अस्तित्व की पोल खुल जाती है, और उस ज्ञानी के लिये इस सबका अस्तित्व केवल प्रातिभासिक रह जाता है। इस पद का अर्थ है—जो वस्तु नहीं है, उसकी प्रतीति हो जाना। इस प्रकार शंकर ने तीन प्रकार की सत्ता स्वीकार की है—१. परमार्थ सत्ता—केवल चेतन की। २. व्यावहारिक सत्ता—आत्मज्ञान होने से पूर्व सम्पूर्ण जगत् की। ३. प्रातिभासिक सत्ता—आत्मज्ञान होने के अनन्तर सम्पूर्ण जगत् की। अन्तिम दो सत्ताओं को 'अनिर्वचनीय सत्ता' का नाम दिया गया है। जब दृश्यमान जगत् की इसप्रकार की सत्ता अनुभव में आती है, तब उसका मूल उपादान कारण वैसा ही होना चाहिए, इसलिए जगत् के मूल उपादान माया को अनिर्वचनीय बताया गया है।

**जगत् का उपादान चेतन तत्त्व नहीं**—परन्तु इस अवस्था में चेतन को जगत् का उपादान नहीं कहा जा सकता। उपादान तो वही मूलतत्त्व हो सकता है, जिसका सीधा परिणाम अथवा विकार यह जगत् है, और वह मूलतत्त्व माया बताया गया।

इसके लिये शंकर के शिष्यों ने दो पारिभाषिक पदों का संकेत किया है, और उनके द्वारा अपने मनोगत भावों को प्रकट करने का यत्न किया है। वे पद हैं—१. परिणाम और २. विवर्त्त। वेदान्त के आचार्यों ने बताया है, कि कारण के सदृश जो विकार हो वह 'परिणाम' और विसदृश जो विकार हो वह 'विवर्त्त' कहा जाता है। इसप्रकार यह जगत् माया का तो परिणाम है, और चेतन का है विवर्त्त। इसको और स्पष्ट करने के लिये इसकी एक व्याख्या यूं की जाती है। माया जगत् के रूप में परिणत होती है, परन्तु उस परिणाम का आधार चेतन तत्त्व है। चेतन ब्रह्म के आश्रय के विना माया का परिणाम सम्भव नहीं। जैसे उपर्युक्त दृष्टान्त में सर्प का अस्तित्व अज्ञान का परिणाम है, परन्तु वह रज्जु आश्रय के विना सम्भव नहीं, यदि रज्जु वहां न रहती, तो सर्प का अस्तित्व उभर न पाता। रज्जु न होती, उस ढंग का कोई डंडा होता, या किसी वस्तु की टेढ़ी-मेढ़ी काली रेखा-सी होती। अभिप्राय यह, कि सर्प की सत्ता का भास होने के लिये वहां किसी वैसे आश्रय का होना आवश्यक है। इसीप्रकार जगत् का अस्तित्व, परिणाम तो माया का है, पर वह चेतन आश्रय के विना सम्भव नहीं हो सकता, इसप्रकार यह चेतन का भी विकार है, पर विसदृश। इसलिये वह विसदृश विकार उस आश्रयभूत तत्त्व का विवर्त्त कहलायेगा, फलतः यह जगत् माया का परिणाम और चेतन का विवर्त्त है।

शंकर के शिष्यों ने इस परिभाषा के द्वारा चेतन तत्त्व को स्वतः परिणत होने से बचाने का यत्न किया है, और जगत् का मूल कारण स्वीकार करने के अपने मन्तव्य का निर्वाह किया है। पर वस्तुस्थिति यह है, कि इतने पर भी इस प्रक्रिया के अनुसार परमात्मा अथवा ब्रह्म को परिणामी होने से बचाया नहीं जा सकता, मुंह से कहने को चाहे कुछ कहा जाता रहे। ब्रह्मसूत्रों के भाष्य [२।१।१४] में शंकर ने स्वयं लिखा है—'यदि मृदादि से घट के समान ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानी जाती है, तो जिस प्रकार मृत्तिका आदि परिणामी हैं, इसीप्रकार ब्रह्म को भी परिणामी मानना पड़ेगा।' इसका उत्तर शंकर देता है—'ब्रह्म परिणामी नहीं हो सकता, क्योंकि वह कूटस्थ है, कूटस्थ ब्रह्म अनेक विरुद्ध धर्मों का आश्रय नहीं हो सकता। वह कूटस्थ हो और परिणामी भी, यह असम्भव है। कूटस्थ नित्य ब्रह्म प्रत्येक प्रकार के विकार से रहित है, इस बात का बार-बार प्रतिपादन किया जा चुका है[1]।' इससे तो यही स्पष्ट होता है, कि शंकर परमात्मा को परिणामी नहीं मानता। पर वह शंकर की कौन-सी प्रक्रिया है, जहां कूटस्थ अपरिणामी ब्रह्म जगदाकार में परिणत भी हो जाता है। एक ही सांस में शंकर दो बात कह गया है। ब्रह्म कूटस्थ और अपरिणामी है, तथा जगत् रूप में परिणत भी हो जाता

१. ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात् परिणामवद् ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते। परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति। नेत्युच्यते।···ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात्।···नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः···अनेकधर्माश्रयत्वं संभवति। कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम [ब्र० शां० २।१।१४]

है। अनेक[1] स्थलों में शंकर ने इस बात को स्पष्ट लिखा है, कि यह जगत् ब्रह्म का परिणाम है।

इस प्रसंग में शंकर ने पर्याप्त प्रकाश डाला है, कि यदि जगत् ब्रह्म का परिणाम है, तो उसमें इतनी अधिक विलक्षणता क्यों आ गई है ? वह कहता है कि कार्यकारण में कुछ विलक्षणता तो अवश्य रहती है, पर कुछ समानता भी रहती है, समानता के सम्बन्ध में बतलाया है, कि ब्रह्म का सत्ता-धर्म जगत् में भी है[2]। परमात्मा का स्वरूप वेदान्तों में सत्-चित्-आनन्द बताया गया है। उसका सद्रूप धर्म जगत् में है। यह आवश्यक नहीं, कि कारण के सभी धर्म कार्य में आ जायें, कुछ आ जाते हैं, कुछ नहीं। यहां भी सत्ता-धर्म कार्यरूप जगत् में आ गया है, अन्य धर्म नहीं। परन्तु शंकर का यह कथन उसीके विचार के प्रतिकूल है। अभी ऊपर निर्देश किया जा चुका है, कि शंकर, ब्रह्म में परमार्थ सत्ता स्वीकार करता है, परन्तु उसके विचार के अनुसार जगत् में व्यावहारिक सत्ता है, परामर्थ सत्ता नहीं, तब यह कैसे कहा जा सकता है, कि कार्य जगत् में कारण ब्रह्म की सत्ता उतर आई है। क्योंकि शंकर के विचार से वे दोनों सत्ता परस्पर विलक्षण हैं। यदि ब्रह्म की सत्ता जगत् में आती, तो जगत् ब्रह्म के समान परमार्थ सत् माना जाना चाहिये। एक स्थल पर तो शंकर ने यह लिख दिया है, कि ब्रह्म का चैतन्य भी जगत् में विद्यमान है, पर उसकी प्रतीति नहीं होती[3]। एक ढेला भी ब्रह्म के समान चेतन है, पर अन्तर केवल इतना है, कि यहां वह [चैतन्य] अविभावित है, अप्रकाशित है, चैतन्य की प्रतीति नहीं होती। शंकर के इस लेख का ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की पहली पंक्ति के साथ विरोध स्पष्ट है, जहां युष्मत्-अस्मत् ज्ञान के विषय जड़ तथा चेतन तत्त्व को तमस् और प्रकाश के समान विरुद्धस्वभाव बताकर एक-दूसरे के रूप में अपरिवर्तित होने वाला कहा है।

**चेतन-उपादानविषयक विवेचना**—जगत् और ब्रह्म के कार्यकारणभाव को लेकर जितने असामञ्जस्य उद्भावित किये जा सकते हैं, उन सबका समाधान शंकर ने एक शब्द में कर दिया है, और वह है—ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता। संसार में यह देखा जाता है, कि कोई शिल्पी किसी वस्तु का निर्माण बाह्य-साधन की सहायता के विना नहीं कर सकता। कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है और सुनार सोने से कुण्डल। कितना

---

१. **ब्रह्मणः···जगदाकारपरिणामित्वं···[ब्र० शां० २।१।२४] एकस्यापि ब्रह्मणः···विचित्रपरिणाम उपपद्यते [ब्र० शां० २।१।२४] चेतनमेकं ब्रह्म स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम् [ब्र० शां० २।१।२६]**

२. **ब्र० शां० २।१।६॥**

३. **योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनैव समस्तस्य जगतश्चेतनतामुत्प्रेक्षते, तस्यापि······चेतनाचेतनविभागश्रवणं विभावनाविभावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम्। [ब्र० शां० २।१।६]**

भी चतुर शिल्पी अपने स्वरूप से किसी अतिरिक्त वस्तु का निर्माण करते नहीं देखा जाता। योग्य से योग्य जादूगर जब कोई ऐसा नव्य निर्माण का खेल दिखाता है, वह अपने स्वरूप से उस वस्तु का निर्माण नहीं कर पाता, बाह्य साधनों की अपेक्षा वहां आवश्यक है। परन्तु ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति में यह व्यवस्था लागू नहीं होती। वह बाह्य साधन की सहायता के बिना केवल अपने चेतनस्वरूप से इस विचित्र जगत् की रचना कर देता है। इसमें केवल उसकी विचित्र शक्ति का होना, शंकर ने कारण बताया है। इसको समझाने के लिए कुछ लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। यह देखा जाता है, कि संसार में देव, पितर अथवा ऋषि जिनको विशेष ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाती है, वे बाह्य साधन की सहायता के बिना केवल संकल्प से विविध शरीरों का निर्माण कर देते हैं, प्रासाद और रथ आदि का भी निर्माण कर देते हैं। इस प्रकार की घटनाएं इतिहास-पुराण आदि से प्रमाणित होती हैं। इनके अतिरिक्त मकड़ी स्वतः तन्तुओं की रचना कर लेती है। बलाका बिना शुक्र के गर्भ धारण कर लेती है, और पद्मिनी किसी गमन-साधन के बिना एक तालाब से दूसरे तालाब में पहुंच जाती है। इन सब उदाहरणों से शंकर ने यह स्पष्ट करना चाहा है, कि अपनी शक्ति के अनुसार बाह्य साधन की सहायता के बिना भी लोक में कार्य-निर्माण देखा जाता है। ब्रह्म तो अनन्तशक्ति है, उसकी शक्ति के वैविध्य का किसने पार पाया है। इस प्रकार वह अपने चेतनस्वरूप से ही इस विचित्र संसार की रचना कर देता है। यह आवश्यक नहीं, कि जो सामर्थ्य एक जगह देखा जाता है, वह अन्यत्र भी अवश्य हो, तब ईश्वर के समान कुम्भकार भी अपने चेतनस्वरूप से ही घड़ा बना दे, ऐसा क्यों माना जाय ?[1] उसे तो बाह्य साधन की अपेक्षा होगी ही।

आगे चलने से पूर्व इस सामञ्जस्य का विवेचनात्मक परीक्षण कर लेना उचित होगा। पहला उदाहरण देव-पितर और ऋषियों का दिया गया है, तथा ऐसी घटनाओं का वर्णन मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास एवं पुराणों में बताया गया है। पर इसप्रकार के कथानकों में कुछ अतिरंजन की मात्रा अधिक और तथ्य अंश न्यून रहता है। विशेष व्यक्तियों के सम्बन्ध में साधारण जनता एक असाधारण अतिशय की कल्पना कर लेती है, और उसी आधार पर कुछ चमत्कारपूर्ण प्रवाद चालू हो जाते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं, कि कुछ विशेष लोकातिशायी व्यक्तियों में अतिशय सामर्थ्य हो नहीं सकता। प्रत्युत विचारणीय यह है, कि उस सामर्थ्य का नव्य निर्माण में कहां तक उपयोग अथवा सहयोग माना जा सकता है। चाहे ऐसा सामर्थ्य किसी में सहज हो, या योग-समाधि के अभ्यास द्वारा प्राप्त हो, जहां इस प्रकार की विभूतियों का और उनके चमत्कारपूर्ण कार्यों का शास्त्रों[2] में उल्लेख पाया जाता है, वहां बाह्य सामग्री की सहायता

१. ब्र० शां० २।१।२४-२५॥
२. पातञ्जल योगदर्शन, कैवल्य पाद १-४॥

को आवश्यक बताया गया है। किसी वस्तु का संकल्पमात्र से उत्पन्न होने का यह अभिप्राय नहीं समझा जा सकता, कि केवल संकल्प उस वस्तु का उपादान है। यदि इसी बात को यथार्थ माना जाता है, और केवल संकल्प को किसी भी भौतिक निर्माण का उपादान मान लिया जाता है, तो वेदान्त प्रक्रिया की पुष्टि के लिये इससे बढ़कर कोई अन्य उदाहरण नहीं मिल सकता। जैसे संमोहिनी विद्या में सुनिपुण कोई व्यक्ति अनेक चमत्कारपूर्ण कार्यों का प्रदर्शन करता है, उसके उन प्रदर्शनों का उपादान केवल संकल्प-सामर्थ्य होता है; इसी प्रकार सर्वशक्ति-सम्पन्न चेतन अपने संकल्प-मात्र से इस विचित्र जगत् का प्रदर्शन करता है, वह संकल्प चेतन का अपना रूप है, इसलिए यह सब चेतन का परिणाम कहा जा सकता है।

उदाहरण की दृष्टि से यह कथन बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है, पर जब इसके विश्लेषण में उतरा जाय, तो इसकी असारता का भान होने लगता है। चेतन के इस संकल्प का कोई कारण नहीं, केवल इतना कहा जाता है, कि वह लीलावश यह सब कुछ कर गुजरता है। पर यह समाधान सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता। यह तो ऐसे कोने से कन्नी काटकर निकल जाना है, जहां से बचा जाना अभीष्ट हो। यदि सचमुच यह सब लीलावश है, तो यह जप-तप दान-दया-ब्रह्मचर्य-ब्रह्मजिज्ञासा मुमुक्षा आदि व्यर्थ हैं। यह लीला चेतन का स्वभाव है, वह रहना ही है, फिर इन सबका क्या प्रयोजन? इसके अतिरिक्त विश्व में एक व्यवस्था देखी जाती है, वह इतनी नियमित है, कि उसकी तुलना में लीला शिथिल जंचती है। इस लीला में चेतन ब्रह्म स्वयं सब कुछ है, फिर यह व्यवस्था कैसी है और किस लिये? फलतः शुद्ध चेतन केवल चेतन से जगत् का निर्माण सम्भव नहीं, इसीलिये बाध्य होकर उक्त प्रक्रिया के प्रवक्ताओं ने एक अनादि अज्ञान अथवा अविद्या को स्वीकार किया, और शुद्ध चेतन ब्रह्म पर उसकी सवारी गांठ दी गई। यह कैसी विडम्बना है, कि अनादि अविद्या मान लेने पर भी शुद्ध चेतन के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व नहीं, इसका भी उद्घोषण किया जाता है। जब जगत् के उत्पादन में अविद्या शुद्ध चेतन का साहाय्य करती है, तब यह नहीं कहा जा सकता, कि चेतन बाह्य सहायता के विना केवल अपने चेतनरूप से जगत् के निर्माण में समर्थ हो जाता है। यदि वह चेतन ही अविद्या का रूप धारण कर लेता है, ऐसा माना जाय, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि शंकर की प्रक्रिया चार्वाक की प्रक्रिया से कुछ विभेद नहीं रखती, दोनों का एक ही स्तर निश्चित हो जाता है। क्योंकि जब चेतन, अविद्या [अचेतन] का रूप धारण कर सकता है, तो चार्वाक के अनुसार अचेतन भी क्यों न चेतन का रूप धारण कर सके? यदि अविद्या चेतन का स्वरूप न माना जाय, चाहे उसे अनिर्वचनीय ही कहा जाय, फिर भी ब्रह्म से अतिरिक्त उसके अस्तित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। ब्रह्म अनिर्वचनीय नहीं है, अविद्या अनिर्वचनीय है; इस प्रकार दोनों का परस्पर विभिन्न अस्तित्व स्थिर हो जाता है।

**शंकरवर्णित दृष्टान्तों का विश्लेषण**—जो वर्णन देव-पितर-ऋषि अथवा अन्य सामर्थ्यवान् व्यक्तियों के इतिहास पुराण आदि में उपलब्ध होते हैं, वह अर्थ को प्रकाश में लाने का एक ढंग कहा जा सकता है। महाभारत की एक घटना लीजिये, जब भरी सभा में दुःशासन द्रौपदी का वस्त्र उतारने लगता है, उसे अपमानित करने के लिये नग्न करना चाहता है, तब कृष्ण ने अपने सामर्थ्य से उस वस्त्र को इतना लम्बा कर दिया, कि दुःशासन उसे उतारते उतारते स्वयं लज्जित हो जाता है, पर वह वस्त्र समाप्त-होकर द्रोपदी के शरीर से अलग न हुआ। यहां पर द्रौपदी की पांच या सात गज की साड़ी कृष्ण के सामर्थ्य से वस्तुतः सैकड़ों गज लम्बी हो गई, इस वर्णन में आकर्षण व चमत्कार तो अवश्य है, पर इस घटना का तथ्य अंश इतना ही हो सकता है, कि दुःशासन भरी सभा में द्रौपदी का जो अपमान करना चाहता था, वह न कर सका, और इसका कारण था कृष्ण। चाहे कृष्ण ने उसे समझाया या भर्त्सना-तर्जना की, या उसकी कुलीनता को चुनौती दी हो, तथ्य इतना ही है, कि कृष्ण ने बीच में पड़कर द्रौपदी की प्रतिष्ठा को बचाया, और दुःशासन लज्जित होकर अपनी कुचेष्टा से निवृत्त हुआ। इस घटना को कवि ने उपर्युक्त रूप में वर्णन कर दिया। वैसे कृष्ण महायोगी था, वह संमोहिनी विद्या के प्रभाव से भरी सभा को उस पांच-सात गज़ की साड़ी को ही सैकड़ों गज़ लम्बी दिखला सकता था, पर साड़ी उस समय भी उतनी ही रहती, जितनी वह वस्तुतः थी, कृष्ण तो केवल देखने वालों की मनोवृत्ति को परिवर्तित कर सकता था, दोनों अवस्थाओं में कृष्ण का कार्य वस्तुतः मनोवृत्ति को परिवर्तित करना था, चाहे उसने दुःशासन की मनोवृत्ति को बदला, चाहे शेष सभा की, पर कवि ने उस स्थिति का वर्णन उपर्युक्त रूप में किया है।

इसी प्रकार महाभारत में मय के द्वारा युधिष्ठिर की राजसभा के निर्माण का वर्णन आता है। इस वर्णन में अनेक चमत्कारपूर्ण बातों का उल्लेख है। खाण्डवदाह के समय कृष्ण तथा अर्जुन से मय दानव का परिचय हुआ। बातचीत के प्रसंग में उसने प्रकट किया, कि मैं मय के रूप में विश्वकर्मा हूं, खाण्डवदाह के अवसर पर मय को सुरक्षित बचा लेने के कारण उसने अर्जुन आदि की कुछ सेवा के लिए आग्रह किया। युधिष्ठिर की अनुमति से उनके लिये एक राजसभा के निर्माण का कार्य मय को सौंपा गया मय ने कहा, सभा के निर्माण की समस्त सामग्री स्फटिक-पाषाण [बिलौरी पत्थर] आदि कैलाश मानससरोवर के प्रदेश से आयेगी, जो वृषपर्वा के आधिपत्य में है। आप सब आज्ञा दें, तो मैं उस समस्त सामग्री को लाने का प्रबन्ध करूं, और वहां से मैं एक गदा भीमसेन के लिये तथा देवदत्त नामक शंख अर्जुन के लिये भी ला सकूंगा[1]। इस प्रकार

---

१. **तत्र गत्वा स जग्राह गदां शंखं च भारत।**
**स्फटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद् वृषपर्वणः॥**
**[म० भा०, सभा०, ३।१८]**

महाभारत के वर्णन के अनुसार मय दानव कैलाश मानससरोवर के प्रदेश में जाता है, और वहां से राजसभानिर्माण की समस्त सामग्री लाने का प्रबन्ध करता है। सामग्री ले आने पर उसने अद्वितीय राजसभा का निर्माण किया, जिसकी आबालवृद्ध में प्रशंसा होने लगी। उस सभा के निर्माण में चौदह मास का समय लगा[१]।

इस वर्णन में कुछ बातें ऐसी हैं, जो वर्णन को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिये उस रूप में प्रस्तुत कर दी गई हैं, परन्तु उनमें वास्तविकता अथवा तथ्य अंश का रूप कुछ दूसरा ही सम्भावना किया जा सकता है। राजसभानिर्माण की सामग्री का हस्तिनापुर अथवा इन्द्रप्रस्थ में कैलाश मानससरोवर के प्रदेश से लाना एक चमत्कारपूर्ण वर्णन है। कदाचित् यहां तथ्य अंश इतना ही प्रतीत होता है, कि कैलाश-मानस में वृषपर्वा की सभा का निर्माण जिस सामग्री से किया गया था, उसी प्रकार की सामग्री का उपयोग युधिष्ठिर की राजसभा में किया गया। यह अधिक सम्भव है, कि इस सभा का आकार-प्रकार वैसा ही रक्खा गया हो। इस वस्तुस्थिति को लेखक ने इस रूप में प्रस्तुत कर दिया है, कि कैलाश मानस में वृषपर्वा की राजसभा की समस्त सामग्री को मय ने यहां उठा ला रक्खा है। कवि के वर्णन करने का यह एक ढंग कहा जा सकता है। इस प्रकार के प्रयोग आये दिन साधारण व्यवहार में बराबर होते रहते हैं। पीछे के निर्माणों को पहले के समान देखकर यह कह दिया जाता है, कि शिल्पी ने अमुक निर्माण को ही मानो यहां उठाकर ला रक्खा है।

**मकड़ी आदि के दृष्टान्त**––जो मकड़ी आदि के लौकिक दृष्टान्त दिये गये हैं, वे चेतन से जड़ जगत् के निर्माण प्रसंग में पूरे नहीं उतरते। मकड़ी अपने भौतिक शरीर से तन्तु का निर्माण करती है, जो उसके चेतनस्वरूप से अतिरिक्त वस्तु है। इससे आचार्य शकंर भी नकार नहीं कर सकता, कि मकड़ी अपने चेतनरूप से तन्तु का निर्माण नहीं करती। यदि यहां उस सबको चेतन का स्वरूप समझा जाये, जो अहं बुद्धि का विषय होता है, तो इसमें देह का भी समावेश हो जायगा, और इस प्रकार तन्तुरचना में देह की सहायता होने पर भी उसे बाह्य सहायता नहीं माना जायगा। फिर यह दृष्टान्त की स्थिति ब्रह्मप्रसंग में समन्वित की जानी चाहिये। बहुत से उपनिषद् वाक्यों के आधार पर यह दुहाई दी जाती है, कि चेतन ब्रह्म को जगत् का उपादान मानना चाहिये। वहां पर भी चेतन का अभिप्राय होगा—देहसहित चेतन। ब्रह्म का देह कौन है? उसका देह प्रकृति है, आचार्य शंकर उसका नाम अविद्या बताता है। तब प्रकृति अथवा अविद्या की

१. तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम्।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयां शुभाम्॥
ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन् न्यवेदयत्॥
[म० भा०, सभा०, ३।२०, ३८]

जगत् निर्माण में सहायता लेने पर अपने बहलाने के लिये भले ही यह माना जा सकता है, कि उसने बाह्य सहायता नहीं ली, क्योंकि प्रकृति अथवा अविद्या तो उसका अपना देह है, जैसे मकड़ी में चेतन आत्मा का अपना भौतिक देह है। पर इस रूप में मकड़ी का दृष्टान्त, इतना ही नहीं कि आचार्य शंकर की प्रक्रिया को पुष्ट न करता हो, प्रत्युत उससे विपरीत सिद्धान्त को अधिक सिद्ध करता है।

बलाका विना शुक्र के गर्भ धारण करती है, इसका अभी तक आधुनिक रीति पर परीक्षण नहीं किया गया, परन्तु पद्मिनी का दृष्टान्त विषम है। यह देखा गया है, जब वर्षा ऋतु में तालाब जल से उपप्लुत हो जाते हैं, और एक तालाब का जल दूसरे में जाने लगता है, उसी जल के द्वारा एक तालाब से पद्मिनी की जड़ें दूसरे तालाबों में चली जाती हैं, और वहां जम जाती है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता, कि पद्मिनी विना बाह्य सहायता के एक तालाब से दूसरे तालाब में चली जाती है। इस प्रकार की अनेक घटनाएं हमने स्वयं देखी हैं। वर्तमान हिमाचल प्रदेश के नाहन मण्डल में यमुना तट पर हमारे सम्बन्धियों का एक गांव गंगूवाला है। संवत् १९८० की गंगा-यमुना की बाढ़ में यमुना का जल बढ़कर गंगूवाले की निचली भूमि में फैल गया, जल तो तीन-चार दिन के अनन्तर उतर गया, पर लगभग उस डेढ़सौ बीघे के भूभाग में, पांच-छह महीने बाद वसन्त ऋतु आने पर सहस्रों शीशम के पौधे उग आये। बाढ़ का पानी आने से पूर्व वहां एक भी शीशम का पेड़ नहीं था। पानी के साथ वह बीज न मालूम कहां ऊपर से बहकर वहां आ गए और समय पाकर जम गए। उस भूभाग में पिछले दिनों लगभग बीस-पच्चीस सहस्र शीशम के वृक्ष थे। इसी प्रकार हमारी जन्मभूमि बनैल [जि० बुलन्दशहर] में एक बार एक तालाब का पानी सुखाने के विचार से उसमें समुद्रशोष की जड़ कहीं से लाकर डाल दी गई, वह एक वर्ष में ही सम्पूर्ण तालाब में फैल गई, और अगली वर्षा ऋतु आने पर उस तालाब का जल बाहर बह कर जिस अन्य तालाब तथा पोखर में गया, सब में वह बेल फैल गई। फलतः पद्मिनी का दृष्टान्त प्रस्तुत प्रसंग में संगत नहीं कहा जा सकता।

**शंकर और चार्वाक एक स्तर पर**—इसका यह परिणाम निकलता है, कि जगत् निर्माण में स्वयं चेतन जगत् रूप में नहीं आता, प्रत्युत बाह्य साधन से वह जगत् का निर्माण करता है। परन्तु शंकर, जैसा कि अभी पीछे प्रकट किया गया है, जगत् को चेतन का परिणाम बताता है। ऐसी स्थिति में वह चार्वाक प्रक्रिया के समकक्ष आ जाता है। क्योंकि मूल में जब एक ही वस्तु को माना जाय और जगत् में अनुभूयमान चेतन और अचेतन दोनों को उसी का विकार माना जाय, तो वह मूलतत्त्व चाहे चेतन हो अथवा अचेतन, उसमें कोई अन्तर नहीं आता। इस प्रकार संसार का सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र उक्त तीन श्रेणियों में अन्तर्गत हो जाता है। जिन अन्तिम दो श्रेणियों में विश्व ब्रह्माण्ड का मूल भिन्न-भिन्न नामों से एक ही तत्त्व माना गया है, वहां विश्वनिर्माण की प्रक्रिया में अनेक असामञ्जस्य हैं, जिनका उल्लेख यथावसर किया जायगा। इसमें सबसे पहली और मुख्य

बात चेतन और अचेतन का विभाजन है। यह वस्तुतः एक ही तत्त्व का दूसरा रूप है, अथवा इन दोनों का स्वतन्त्र पृथक् अस्तित्व है, यह विचारणीय है। यदि इनमें पहली बात ठीक है, तो दर्शन के तीन श्रेणी-विभागों में पहला विभाग असत्य एवं व्यर्थ है। यदि दूसरी बात युक्तियुक्त है, तो अगले दो विभागों का सामञ्जस्य उसके अनुसार बिठाया जा सकता है।

**चेतना-विषयक आधुनिक परीक्षण**—आधुनिक आधिभौतिक वैज्ञानिकों ने परीक्षण करके यह स्पष्ट किया है, कि चेतन अचेतन के रूप में अथवा अचेतन चेतन के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। यदि ये परीक्षण ठीक हैं, तो कहना होगा, कि मूल में एक ही तत्त्व का रूपान्तर दूसरा है। मूल तत्त्व को जो चाहें सो नाम दीजिये—चेतन अथवा अचेतन या और कुछ, ये दोनों एक ही तत्त्व की केवल भिन्न अवस्थाओं को प्रकट करते हैं। तब चार्वाक और शंकर की विचारधाराओं में मौलिक भेद कुछ नहीं रहता, अनन्तर प्रक्रिया में कोई अवान्तर भेद भले ही हुआ करें। परन्तु इन विचारों की यथार्थता आधुनिक वैज्ञानिक परीक्षणों पर आधारित है। ये परीक्षण कहां तक ठीक कहे जा सकते हैं, यह एक आवश्यक विचारणीय बात है। इन परीक्षणों में सन्देह के बहुत स्थान हैं, और उनके रहते, इनको पूर्ण कहना कठिन है। इस विषय में एक विचार प्रस्तुत किया जाता है।

**'प्रोटोप्लॉज्म' अथवा जीवनमूल**—जीव-अजीव अथवा चेतन-अचेतन के विभाजन का जब हम विवेचन करने लगते हैं, तो सबसे प्रथम मूलरूप में हमारे सन्मुख चेतनवर्ग का जो रूप आता है, वह 'प्रोटोप्लाज्म' है; इसको अपने शब्दों में 'सत्त्वमूल' अथवा 'जीवनमूल' कहा जाता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार यह एक मिश्रित रासायनिक द्रव्य है। वैसे तो जो कुछ देखा जाता है, वह प्रायः सब मिश्रित द्रव्य ही है, पर सत्त्वमूल में एक विशेषता है, और वह है, उसमें 'चेतना' का पाया जाना। जहां सत्त्वमूल है, वहां चेतना है; जहां चेतना है, वहां सत्त्वमूल है। अभिप्राय यह है, कि यह एक ऐसा रासायनिक मिश्र द्रव्य है, कि इसमें चेतना की अभिव्यक्ति हो जाती है, जब वे द्रव्य एक निश्चित मात्रा में मिश्रित होते हैं, तब उसमें चेतना आविर्भूत हो जाती है। सत्त्वमूल की रचना में कौन द्रव्य कितना है, इसका पूर्ण परीक्षण किया जा सका है। आधुनिक आधिभौतिक विज्ञान के अनुसार सत्त्वमूल के प्रत्येक सौ भाग में जो तत्त्व पाये जाते हैं, उनकी मात्रा इस प्रकार है—

कार्बन ५५ भाग
ओषजन [ऑक्सिजन] २३ भाग
नोषजन [नाईट्रोजन] १४ भाग
उद्जन [हाईड्रोजन] ७ भाग
स्फुर गन्धक तथा अन्य पदार्थ १ भाग

अन्य पदार्थों में लोहा, पोटाशियम और सोडियम हैं, इनकी मात्रा बहुत कम होती है। उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है, कि समस्त जीवन का आधार-सत्त्वमूल कुछ साधारण

और निर्जीव तत्त्वों के रासायनिक मिश्रण से बना है। पर इन तत्त्वों की इस यौगिक अवस्था में चेतना का आविर्भाव निश्चित है। सत्त्वमूल के सम्बन्ध में यह भी एक ध्यान रखने की बात है, कि यह एक ही रासायनिक यौगिक नहीं है, इसमें प्रत्यामिना चर्बी और अन्य यौगिक होते हैं, जिनमें से कुछ तो अधिक जटिलता के मार्ग पर और कुछ नाश अथवा टूट-फूट होने की स्थिति में रहते हैं। छोटे से छोटे प्राणी का शरीर भी, जिसे यन्त्रों के द्वारा देखा जाना भी अशक्य है, सत्त्वमूल का एक बहुत छोटा बिन्दु है, पर उसमें भी चेतना का अस्तित्त्व अवश्य है। इस प्रकार सत्त्वमूल के साथ चेतना का व्यवस्थित सम्पर्क निर्धारित होता है।

**'प्रोटोप्लाज्म' का विश्लेषण**—इन परीक्षणों में एक सन्देहास्पद बात यह है, कि क्या सत्त्वमूल के उपादान तत्त्वों में कारणरूप से चेतना का अंश रहता है, और वह इस यौगिक अवस्था में आविर्भूत हो जाता है? अथवा चेतना का आपात इस सत्त्वमूल में कहीं बाहर से होता है? इन दोनों विकल्पों में पहली बात इस कारण ठीक नहीं कही जा सकती, कि सत्त्वमूल के कारण द्रव्यों का पूर्ण विश्लेषण और परिचय प्राप्त हो जाने पर भी हम उन तत्त्वों का उसी मात्रा में मिश्रण कर सजीव सत्त्वमूल का निर्माण नहीं कर सकते। समस्त प्रयत्नों के होते हुए भी रासायनिक विद्वान् आज तक कोई ऐसा यौगिक तैयार करने में सर्वथा असमर्थ रहे है, जिसमें सजीव सत्त्वमूल के लक्षण मिल सकें। हमारा तो यह कहना है, कि रसायनज्ञ इस दिशा में अनन्त काल तक भी निराशा का ही आलिङ्गन करेंगे। अभी तक के परिणाम इसकी पुष्टि करते हैं, और हमें इसी निश्चय की ओर भुकाते हैं। कारण यह है, कि जब सत्त्वमूल के उपादान द्रव्यों का हमें पूर्ण बोध है, और उसका ठीक-ठीक विश्लेषण किया जा सका है, फिर वह यौगिक तैयार करने में कोई अपू-र्णता नहीं रहनी चाहिये। अपूर्णता रहने का यह अभिप्राय नहीं है, कि विज्ञान द्वारा सत्त्वमूल के उपादान द्रव्यों का विश्लेषण करने में कोई न्यूनता रह गई है। तब इसका परिणाम यही निकलता है, कि सत्त्वमूल के उपादान द्रव्यों में चेतना का अंश अविद्यमान रहता है, और इस प्रकार चेतना के वास्तविक अस्तित्व एवं स्वरूप को समझने में आधु-निक विज्ञान असफल रहा है। फलतः दूसरा विकल्प हमारे सन्मुख आता है, और यह स्वीकार किया जाना चाहिए. कि सत्त्वमूल में कहीं बाहर से चेतना का आपात होता है।

प्रकृति जब सत्त्वमूल का उत्पादन करने के लिये सतत गतिशील रहती है, तब अन्य भी किसी ऐसी शक्ति का अस्तित्त्व माना जाना चाहिये, जो प्रकृति की समस्त गतिविघि का पूर्ण निरीक्षण एवं नियमन कर रही है। जैसे ही सत्त्वमूल अपनी भौतिक रचना को पूर्ण करता है, वह शक्ति यहां एक चेतना को ला बैठाती है, और सत्त्वमूल सजीव हो उठता है। प्रकृति और उस शक्ति का परस्पर इतना समन्वय तथा सामंजस्य है, कि इस व्यवस्था में कभी कोई अपवाद नहीं आता। आधुनिक विज्ञान का क्षेत्र शुद्ध भौतिक है। उसके द्वारा भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण सर्वथा युक्त हुआ है। वह अपना सम्बन्ध अभी

तक अभौतिक-अध्यात्म जगत् के साथ स्थापित नहीं कर सका, तथा भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण करके उसने समझ लिया, कि इसके आगे और कुछ है नहीं। इसी कारण विश्व पहेली का यह पहलू आज तक उसकी पहुंच से अछूता रहा है।

इस दिशा में थोड़ा प्रकाश मृत्यु की समस्या पर विवेचन करने से प्राप्त होगा। जीवन की अवस्था में विविध चेष्टाओं एवं सक्रियताओं का वातावरण सदा हमारे चारों ओर फैला रहता है। एक अवस्था ऐसी आती है, जब इसका सर्वथा अभाव देखा जाता है। इसका नाम मृत्यु अथवा मरण है। विचारना यह है, कि हमारी जीवन अवस्था में क्या न्यूनता आ जाती है, जिससे इस दशा का प्राप्त होना अनिवार्य हो जाता है ? आयुर्वेद इसका समाधान करता है, कि यह धातुवैषम्य का परिणाम है। यद्यपि जीवन-काल में अनेक बार इस वैषम्य का साम्मुख्य करने के अवसर आ जाते हैं, और चिकित्सा उनको उचित एवं उपयोगी सम अवस्था में ले आती है; पर मृत्यु की चिकित्सा का आज तक व्यवस्थापन नहीं हुआ। स्वस्थ जीवन, सुपुष्ट शरीर, अचानक हृदयगति शिथिल होने लगती है, और यह सब यहीं धरा रह जाता है। मृत्यु क्या है ? उसका स्वरूप पहचानने का यत्न करना चाहिये। आहार-व्यवहार आदि की अव्यवस्था एवं अनियमितताओं से उत्पन्न धातुवैषम्य अन्ततः करता क्या है ? शरीर-यन्त्र को विकृत कर उसका अवसान कर देता है। उसकी समस्त गतिविधि रुद्ध हो जाती है, यही न मृत्यु का स्वरूप है ? पर देखा जाता है, अनेक वार धातुवैषम्य के अभाव की अवस्था में भी दिल अपनी धड़कन छोड़ बैठता है, हृदय की गति अचानक करवट ले लेती है। मानव का गर्वीला ज्ञान तब असीम एवं अचिन्त्य की पुकार में शर्मीला हो उठता है। क्या यह अनुभव में नहीं आता, कि जन्म, कैशोर, यौवन-जरा अवस्थाओं का क्रम कभी अखण्डित चलता रहता है, कभी चाहे जहां खंडित हो जाता है। किसी भी अवस्था में आकर मौत दबा लेती है, यहां तक कि गर्भा-वस्था से लेकर अत्यन्त जरा-जीर्ण अवस्था तक, चाहे जब। वस्तुतः लक्षित अथवा अलक्षित धातुवैषम्य शरीर को अनुपयोगी एवं अयोग्य बना देता है—आत्मा के निवास के लिये। कभी यह अवस्था उसके अभाव में भी किन्हीं अज्ञात कारणों से आ उपस्थित होती है। शरीर की अयोग्यता के कोई भी कारण हों, पर आत्मा का इसे छोड़कर चले जाना अथवा छोड़ देना ही मृत्यु का स्वरूप[1] है। इससे परिणाम निकलता है, कि यह शरीर—चाहे वह एक सेल् [डिम्ब-प्रकोष्ठ] का हो अथवा अनेक का—स्वयं जीव अथवा चेतना नहीं है, यह केवल उसका निवास है, भोग का आश्रय। जब भोग की व्यवस्था या क्रम यहां संभव नहीं रहता, तब वह इसे छोड़ जाता है [भ०गी० २।२२]।

कतिपय आधिभौतिक वैज्ञानिकों के समक्ष जब यह समस्या प्रस्तुत की गई, कि जीवित सत्त्वमूल का निर्माण आधुनिक विज्ञान क्यों नहीं कर पा रहा, तो उन विद्वानों से प्रायः एक समान ऐसा उत्तर मिला, कि प्रकृति द्वारा सत्त्वमूल की रचना में ठीक

१. छा० ६।११।१–३॥

अंश तक ऊष्मा [Heat] अपेक्षित होती है, विज्ञान संभवतः अभी तक उसका पता नहीं लगा सका, जिस दिन यह ज्ञात हो जाएगा, जीवित सत्त्वमूल का उत्पादन किया जा सकेगा।

यह कथन सन्तोषजनक नहीं, जो विज्ञान एटमबम, हाइड्रोजन बम, मैगाटन शक्ति के बम बनाने में सफल हो सका है, लोकान्तरों में मानव को भेजने के लिए प्रयत्नशील है, यहां और अन्तरिक्षस्थित सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों, उनकी क्रिया एवं प्रतिक्रियाओं के यथार्थ परिशीलन में समर्थ हुआ है; उसके लिये जीवित सत्त्वमूल की रचना में अपेक्षित ऊष्मा की जानकारी चुनौती देने की स्थिति में है, इसको कौन विचारशील व्यक्ति स्वीकार करेगा? हमारा इसके लिये कोई आग्रह नहीं है, कि विज्ञान ने यह जानकारी क्यों नहीं प्राप्त की, सफलता-असफलता पर दृष्टिपात न करते हुए प्रयत्न प्रशंसनीय है। पर वस्तुस्थिति का स्पष्ट करना कोई बुरी बात नहीं। जीवित सत्त्वमूल-निर्माण में अपेक्षित ऊष्मा की जानकारी के लिए भले ही प्रतीक्षा करते रहिये; वह समय कब आयेगा, यह कहना कठिन है पर यह स्थिति चेतना-निर्माण के विषय में विज्ञान का गर्व चूर करने के लिए पर्याप्त है।

अब यह मानना होगा, कि सत्त्वमूल स्वतः अजीव है। कोई पदार्थ, जब तक सजीव अथवा चेतना तत्त्व से प्रभावित नहीं होता, निर्जीव रहता है। चेतना से सम्पर्क होना ही उसका सजीव होना है। यह एक निश्चित सत्य है, कि प्रायः समस्त जीवधारियों का जीवन जिन पदार्थों पर आश्रित है, वे ऐसे रासायनिक हैं, जो मुख्यतया अकार्बनिक [अजीव] जगत् से प्राप्त किये जाते हैं, सम्पूर्ण मनुष्य पशु पक्षी और पौधे भी अपने शरीर को निर्जीव पदार्थों से बने हुए भोजन तथा जल आदि से भरते हैं। सत्त्वमूल भी निर्जीव तत्त्वों का एक रासायनिक मिश्रण है। इससे स्पष्ट है, कि यह शरीर अपने निर्वाह अथवा स्थिति के लिए सजातीय पदार्थ की आवश्यकता रखता है। सजातीय तत्त्वों के सहयोग से जब तक यह ठीक रहता है, चेंतना इसमें निवास करती है। इसप्रकार सत्त्वमूल चेतना के निवास योग्य एक शरीरमात्र है। शरीर भौतिक अजीव अचेतन है, चेतना अथवा जीव उससे अतिरिक्त तत्त्व है, उसी को अध्यात्म- शास्त्र में 'आत्मा' कहा जाता है। यह जीव और अजीव का विभाजन है।

**आधुनिक विज्ञान की सीमा**—आधुनिक विज्ञान प्राकृतिक तत्त्वों के विश्लेषण तक सीमित है, और वह विश्व-समस्याओं की समस्त मूल भावनाओं को इतने में पूर्ण देखना चाहता है। संसार में अनुभूयमान सजीव और निर्जीव की परिभाषाओं को वह इसी सीमा में समाप्त कर लेता है। वस्तुतः अध्यात्म जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करने का आज तक उसने कोई यत्न नहीं किया। कदाचित् इसके पुरस्कर्त्ता उसकी आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। अध्यात्म जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित कर लेने या उसके लिये प्रयत्न करने का यह अभिप्राय नहीं है, कि उस स्थिति में जाकर कोई व्यक्ति सत्त्वमूल की सजीव स्थिति का निर्माण कर सकेगा; पर इतना अवश्य है, कि उस समय मानव विश्व-समस्या को समझने के अधिकाधिक समीप होगा। सजीव सत्त्वमूल का निर्माण तो प्रकृति

और उसकी नियामक शक्ति का अपना कार्य है। क्योंकि उस नियामक शक्ति का अचेतन के समान चेतन जगत् पर भी पूर्ण नियन्त्रण है, जो किसी प्रकार के आधिभौतिक विज्ञान की पहुंच से सदा परे है। इस कारण वर्तमान विज्ञान की यह स्थापना—कि चेतन अचेतन में तथा अचेतन चेतन में परिवर्तित किया जा सकता है—एक भ्रान्त धारणा है। इस सीमा तक विचार करने में वर्तमान विज्ञान की यह एक मूलगत भूल रही है, कि उसने अध्यात्म को अधिभूत से पृथक् नहीं समझा, इसीलिये इस समस्या का उनका उत्तर अशुद्ध रहा है। भारतीय दर्शन की यह एक विशेषता है, कि उसने अधिभूत के साथ सम्पर्क बनाये रखने में अध्यात्म की उपेक्षा कभी नहीं की। इस बात का यथावसर आवश्यक विवेचन किया जायगा, पर इतना यहां कह देना अपेक्षित है, कि आदिदार्शनिक कपिल ने प्रकृति में चेतन की प्रेरणा के विना स्वतन्त्र रूप से किसी प्रकार की प्रवृत्ति का होना नहीं माना। इसप्रकार प्राकृतिक जगत् में जितने रासायनिक मिश्रण अनुकूल ताप-मान-वायुचाप आदि के प्रभाव से बन गये बताये जाते हैं, उन सब के पीछे एक पूर्ण नियामक शक्ति का विस्तृत हाथ है। सजीव सत्त्वमूल का प्रादुर्भाव भी ठीक इसी प्रकार होता है, उसे प्रकृति का आकस्मिक कार्य नहीं कहा जा सकता।

**विश्व-समस्या का समाधान**—संसार का समस्त दर्शन मूलरूप से जिन तीन धाराओं में प्रविभक्त हुआ बताया गया है, उनका आधार चेतन और अचेतन के पृथक् अथवा एकरूप में अस्तित्त्व को स्वीकार करना है। चाहे जिस एकरूप में इनके अस्तित्त्व को स्वीकार कर विश्व-समस्या को सुलझाने का जो मार्ग पकड़ा गया है, वह प्रत्येक दिशा में अधिक कण्टकाकीर्ण बन गया है, उसके एक पार्श्व की सर्वथा उपेक्षा कर दी गई है, अथवा सुलझाने की विधि बताये जाने पर उलझनें और अधिक गुंथ गई हैं। इसप्रकार केवल चेतन अथवा केवल अचेतन को मूल तत्त्व मानकर विश्व-समस्या, समस्या ही रह जाती है। इसके समझने का प्रशस्त और निष्कण्टक मार्ग इन दोनों के पृथक् एवं वास्तविक अस्तित्त्व को स्वीकार करना है। आदि दार्शनिक कपिल ने सर्वप्रथम आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् के प्रत्येक पहलू को परख कर इसी मार्ग का प्रदर्शन किया है। इस ग्रन्थ में उसी विचारधारा को विवेचन पूर्वक प्रस्तुत किया जा रहा है।

### 'सांख्य' अथवा 'षष्टितन्त्र' नाम का आधार

आर्यजाति सदा से दर्शनप्रिय रही है। दर्शन पद का अर्थ है—विचार विवेचन, अथवा ज्ञान का साधन। किसका ज्ञान ? वस्तु के सत्य एवं तात्त्विक स्वरूप का। हम कौन हैं ? कहां से इस जगत् में आये ? जगत् का वास्तविक स्वरूप क्या है ? यह कहां से उत्पन्न हुआ ? इसका उत्पादक कौन है ? वह चेतन है अथवा अचतन ? या इसका उत्पादक कोई है ही नहीं ? हमारा परम लक्ष्य क्या है ? उसकी प्राप्ति के साधन क्या हैं ? क्या हमारे लिये उपादेय और क्या हेय है ? इत्यादि शंकाओं का समुचित समाधान दर्शन का प्रधान ध्येय है। इसकी पूर्ति के लिये अति प्राचीन काल में ब्रह्मावर्त्त की पवित्र भूमि

पर लोककर्त्ता महापुरुष कपिल ने दार्शनिक जगत् के सर्व-प्रथम दर्शनग्रन्थ—सांख्य का निर्माण किया। इस विचार को निर्विवाद स्वीकार किया जाता है कि सांख्य-सिद्धान्त, दार्शनिक-संसार की सबसे पहली वस्तु है। यह कथन वर्तमान परिस्थिति के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है, अज्ञात के सम्बन्ध में कुछ भी कल्पना करना निराधार होगा। सांख्यदर्शन के बहिरंग परीक्षात्मक ऐतिहासिक पहलू का विस्तारपूर्वक विवेचन 'सांख्य-दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में किया जा चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य विषय केवल सांख्य-सिद्धान्तों का विवेचन है।

प्रत्येक प्राणी का परम लक्ष्य दुःख से अत्यन्त निवृत्ति का होना बताया गया है। यह स्थिति, पुरुष [चेतन] और प्रकृति [अचेतन–जड़] के वास्तविक भेद का साक्षात्कार होने पर संभव हो सकती है[1]। सांख्य परम्परा में इसको 'सत्वपुरुषान्यताख्याति' अथवा 'प्रकृति-पुरुषविवेकख्याति' कहा जाता है। इनका अर्थ है—प्रकृति और पुरुष के भेद का साक्षात् ज्ञान। इस 'ज्ञानार्थक' 'ख्याति' पद में 'ख्या' धातु का प्रयोग हुआ है। इसी धातु के साथ 'सम्' उपसर्ग लगाकर, दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के साधनभूत-जड़ चेतन के भेद ज्ञान—का निरूपण करने वाले शास्त्र का नाम 'सांख्य, रक्खा गया। इस शास्त्र में संख्या-तत्व-ज्ञान को मोक्ष का साधन मानकर मूलभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है, और इसी आधार पर तत्वों का विवेचन किया गया है। इसी कारण इस दर्शन का नाम 'सांख्य' हुआ।[2]

कतिपय विद्वानों ने 'संख्या' पद को गिनती के अर्थ में मानकर और इस शास्त्र में परिगणित तत्त्वों का विवेचन होने से इसी पद के द्वारा 'सांख्य' नाम का निर्वचन किया है। उनका विचार है, कि सांख्य में २४ जड़ [एक मूल प्रकृति और तेईस प्रकृति के

१. सांख्यसूत्र, ३।२३।। पात० योगसूत्र २।२६, २८।। ३।४९, ५०।। महाभारत १२।२९१।४४।। १२।२७५।५०।।

२. अब्रवीत् परमं मोक्षं यतः सांख्यं विधीयते, [महाभारत १२।२२०।२१] विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचनभाष्य के प्रारम्भ में 'भारत' के नाम से इसी आशय का एक श्लोक इसप्रकार उद्धृत किया है—

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन साँख्याः प्रकीर्त्तिताः।।

[तुलना करें—महाभारत १२।३११। ४२, ४३] यहां प्रकृति के साथ २४ तत्त्वों का विवेचन होने से, यह शास्त्र 'संख्या' अर्थात् तत्वज्ञान को कराता है, इसीलिए इसका नाम सांख्य, तथा उन अर्थों का प्रवचन करने वाले आचार्यों को भी इसी नाम से कहा गया है। किसी वस्तु के दोष व गुणों का विवेचनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना 'संख्या' कहाता है। 'दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः। कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्।।' प्रस्तुत शास्त्र का मूल आधार यही है। इसलिये इस शास्त्र का 'सांख्य' नाम सर्वथा समञ्जस और सार्थक है।

विकार] और पच्चीसवें चेतन पुरुष का वर्णन होने से, इस नियत 'संख्या' [गणना] के आधार पर दर्शन का नाम 'सांख्य' रक्खा गया है।

यह विचार अधिक युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अन्य दर्शनों में भी पदार्थों की नियत गणना करके उनका विवेचन किया है। न्याय में सोलह और वैशेषिक में छह पदार्थ गिनाकर उनका विवेचन है। इसलिए गणना वाची 'संख्या' पद से सांख्य का निर्वचन करना ऐसा ही है, जैसा किसी ने 'महाभारत' पद का 'महत्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते' निर्वचन किया है। वस्तुतः 'भारत' पद का भार अर्थात् बोझ से कोई सम्बन्ध नहीं है, वहां केवल भरत नामक राजा के वंशजों के युद्ध का वर्णन होने से उसका 'भारत' नाम है। इसी प्रकार 'सांख्य' पद का मूल, ज्ञानार्थक 'संख्या' पद है, गणनावाचक नहीं। यदि ऐसा मान लिया जाय, तो इस शास्त्र के द्वारा मोक्ष के साधनभूत ज्ञान के प्रतिपादन की मुख्य भावना का महत्व कुछ नहीं रहता। फिर सांख्य में पदार्थों की गणना, की भी नहीं गई है, इसका स्पष्टीकरण अगले ग्रन्थ से हो जायेगा।

इस शास्त्र का दूसरा नाम 'षष्टितन्त्र' है। यह नामकरण सिद्धान्त विवेचन के एक विशेष प्रकार के आधार पर किया गया है। इस शास्त्र में पदार्थों के विवेचन के लिये दो मार्ग सन्मुख रक्खे गए हैं, एक आधिभौतिक दृष्टि-प्रधान है, दूसरा आध्यात्मिक-दृष्टि-प्रधान। आधिभौतिक दृष्टि से पच्चीस तत्त्वों का विवेचन है। वस्तुतः ये पच्चीस मौलिक तत्त्व नहीं हैं, प्रत्युत चेतन अचेतन वर्ग का विश्लेषण इस रूप में उपपादित किया गया है। इन पच्चीस में एक मूल प्रकृति और तेईस उसके विकार हैं। कार्यकारणभाव अथवा उपादानोपादेयभाव के आधार पर आधिभौतिक रचना का यह विशदीकरण है। इसमें पच्चीसवां चेतनवर्ग है। दूसरी ओर इस शास्त्र में आध्यात्मिक दृष्टि से साठ पदार्थों का विवेचन किया गया है।[1] साठ पदार्थों में दस मौलिक या मूलिक अर्थ हैं, जिन में आधिभौतिक दृष्टि से विवेचित पच्चीस तत्त्व समाविष्ट हैं, और पचास[2] बुद्धिसर्ग या प्रत्ययसर्ग हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन करने में अथवा अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होने पर इन्हीं साठ तत्वों के रूप में विवेचन की प्रधानता के कारण इस शास्त्र का 'षष्टितन्त्र' ना रक्खा गया।

कतिपय आधुनिक विद्वानों का विचार है, कि साठ अध्याय अथवा साठ खण्डों में विभक्त होने के कारण इस दर्शन के मूलग्रन्थ का नाम 'षष्टितन्त्र' था। अन्य विद्वान् साठ सहस्र श्लोकों में लिखा जाना, इसके षष्ठितन्त्र नाम का मूल बताते हैं। वस्तुतः कापिल दर्शन के, पञ्चशिख आदि आचार्यों के द्वारा लिखे गये व्याख्याग्रन्थों के कल्पित कलेवर के आधार पर षष्टितन्त्र नाम के उक्त निर्वचन की उद्भावना कीजाती है। पर इस नाम-

१. इस विचार को 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के तृतीय प्रकरण में विस्तारपूर्वक लिखा गया है।

२. विपर्य्यय ५, अशक्ति २८, तुष्टि ९, सिद्धि ८।

करण का मुख्य आधार वही है, जिसका ऊपर निर्देश कर दिया गया है[1]।

इस शास्त्र के इन दोनों नामों में पदार्थों की गणना करने की कोई भावना अन्तर्निहित नहीं है। वस्तुस्थिति से देखा जाय, तो सांख्य में केवस दो तत्त्वों का विवेचन है-- एक चेतन और दूसरा अचेतन। चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति है। मूलतः तत्त्व दो हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं, कि ये व्यक्तिरूप में दो हैं। अर्थात् ऐसा नहीं है, कि एक व्यक्तिरूप प्रकृति है, तथा दूसरा व्यक्तिरूप पुरुष, और इसप्रकार ये दो है। प्रत्युत चेतन और अचेतनरूप में इनको 'दो' कहा जा सकता है। अभिप्राय यह है, कि परस्पर विभिन्न तत्त्वों के ये दो वर्ग हैं, एक चेतन वर्ग दूसरा अचेतन वर्ग। चेतन वर्ग में चेतन पुरुष—परमात्मा [व्यवितरूप में एक], तथा [जीव-] आत्मा [अनन्त] हैं। अचेतन वर्ग में प्रकृति भी अनन्त अचेतन ब्रह्माण्ड के कारणरूपों में अनन्त है। इसका स्पष्टीकरण अगले पृष्ठों में हो जायगा। यहां केवल इतना कहना है, कि इस शास्त्र के प्रसिद्ध नामों का आधार, तत्त्रों का विवेचनात्मक ज्ञान है, गणना की भावना नहीं।

**पुरुष क्या है**—सांख्यदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय चेतन और अचेतन का विवेक कराना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सांख्य में दोनों प्रकार के तत्त्वों का जो स्वरूप निरूपण किया गया है, विवेचनापूर्वक उसको प्रस्तुत किया जाता है। दोनों प्रकार के तत्त्वों का यथाक्रम वर्णन 'पुरुष', 'प्रकृति' तथा 'विकार' इन तीन प्रकरणों में किया जायगा।

साँख्य में 'पुरुष' पद चेतन का प्रतीक है। संसार में अनुभूयमान त्रिगुणात्मक अचेतन तत्त्व प्रकृति का अंश है, इससे सर्वथा विलक्षण एक और तत्त्व है, जो चेतन है, जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति स्वतः अपने रूप में करता है। वह चाहे स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध, पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि किसी रूप में है, साँख्य का 'पुरुष' पद सर्वत्र चेतनमात्र का बोध कराता है। इसका एक और नाम 'आत्मा' है।

**यह शुद्ध स्वभाव[2] है**—शुद्ध का अभिप्राय है—आत्मा में किसी प्रकार के विकार का न होना। प्रकृति अशुद्ध है, क्योंकि वह परिणामिनी है। यद्यपि आत्मा प्रकृति से प्रभावित होता है, सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है, राग द्वेष काम विचिकित्सा आदि के कारण व्याकुल होता है, क्षुधा तृष्णा आदि इसको बराबर बेचैन करती हैं, यहां तक कि प्रकृति के प्रभाव में चेतन होता हुआ भी यह अज्ञानी कहलाता है। फिर भी इन सब प्रकार की अवस्थाओं में आत्मा के वास्तविक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। एक व्यक्ति जो तीव्र दुःख का अनुभव कर रहा है, रोता है, पछाड़ खाता है, इन क्रियाओं के शरीर में होने पर भी आत्मा इनसे प्रभावित होता है, अन्यथा इन क्रियाओं की संभावना ही नहीं हो सकती थी, फिर भी आत्मा के वास्तविक स्वरूप में इनसे कोई अन्तर या विकार नहीं

---

१. इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के तृतीय प्रकरण के अन्तिम पृष्ठों में किया गया है।

२. सांख्यसूत्र १।१९ के आधार पर।

आता। सुखी और दुःखी, कामी और निष्काम कहे जाने वाले व्यक्तियों की आत्मा सदा एक समान रहती है। आत्मा में किसी प्रकार का विकार न आना ही आत्मा की शुद्धता है, और यह स्वरूप उसका सदा एक समान बना रहता है, इसलिये उसे शुद्धस्वभाव माना गया है।

**वह बुद्धस्वभाव है** – बुद्ध पद का अर्थ है चेतन अथवा ज्ञानस्वरूप। आत्मा चेतन है, उसका यह स्वरूप कभी रूपान्तर [अचैतन्य] में परिवर्तित नहीं होता, इसलिये इसके साथ स्वभाव पद लगाया है। यह सदा एक चेतनरूप में अवस्थित रहता है। सांख्य का यह परम सिद्धान्त है, कि चेतन अचेतनरूप में अथवा अचेतन चेतनरूप में कभी परिवर्त्तित नहीं होते। केवल आधिभौतिकवाद अथवा केवल आत्मवाद में ऐसी स्थिति नहीं है। वहां अचेतन चेतन के और चेतन अचेतन के रूप में परिवर्तित माना जाता है। प्राचीन आधिभौतिकवादी बृहस्पति और चार्वाक का कहना है, कि जिसप्रकार दधि+गोमय के मिश्र का परिणाम बिच्छू अथवा तत्सदृश कोई कृमि है, उसी प्रकार पृथिव्यादि भूतों के विशेष मिश्र का परिणाम चैतन्य है। पृथक् भूतों में चैतन्यरूप का अस्तित्व नहीं है, पर उनका मिश्र चैतन्यरूप में परिणत हो जाता है, आधुनिक आधिभौतिकवादी विद्वान् भी चैतन्य के आधार सत्त्वमूल [जीवनमूल-प्रोटोप्लॉज्म] के उपादानभूत पृथक् तत्त्वों [कार्बन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, स्फुर गन्धक, लोहा, पोटाशियम, सोडियम आदि] में चैतन्य को न मानकर उनके मिश्र में स्वीकार करते हैं। वर्तमान विज्ञान ने परीक्षण द्वारा यह प्रदर्शित किया है, कि तत्त्वों के ये दोनों रूप एक-दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं। इसीप्रकार केवल आत्मवाद का पोषक शंकर, सम्पूर्ण जगत् को चेतन ब्रह्म का परिणाम होने के कारण चेतन मानकर उसमें अविभावित [अप्रकट] चैतन्य की कल्पना करता है। पर कपिल इसप्रकार के परिवर्तनों को स्वीकार नहीं करता। वह चेतन को नित्य चेतन मानता है, और अचेतन को सदा अचेतन।

**आधुनिक वैज्ञानिकों के अणुसम्बन्धी विचार**—लगभग पैंसठ वर्ष पूर्व पाश्चात्य विज्ञान परम्परा में अणु की आन्तरिक रचना की ओर किसी वैज्ञानिक का विशेष ध्यान नहीं गया था, उस समय मैडम क्यूरी और अध्यापक बेकरल ने रेडियो एक्टिविटी के अन्वेषण के अनन्तर यह खोज की, कि अणु अपने आप में कोई ठोस पदार्थ नहीं है। सन् १८९२ ईसवी में पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अणु-रचना के सम्बन्ध में पता लगाया, कि इसका अधिक भाग रिक्त स्थान [आकाश तत्त्व] से बना है, और उसकी परिधि की कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती, प्रत्युत कुछ विद्युत्कण [एलेक्ट्रोन] के पुंजों से वह परिधि बनी होती है। ये पुंज अणु की परिधि में ऐसे ही घूमते रहते हैं, जैसे सौरमंडल के ग्रह सूर्य की परिधि में घूमा करते हैं। तब तक पदार्थ के अणु तत्त्व को अविभाज्य माना जाता था। १८९२ में मैडम क्यूरी ने रेडियम नाम के एक ऐसे अणु तत्त्व का पता लगाया, जो बाह्य शक्ति के प्रयोग के बिना ताप और प्रकाश की किरणों का प्रक्षेप कर सकता था। इस

अन्वेषण से तात्कालिक वैज्ञानिक चौंक उठे। तब अणु-रचना सम्बन्धी अन्वेषण में तत्पर होकर वे इस परिणाम पर पहुंचे, कि अणु अविभाज्य तत्त्व नहीं है। उसका विभाजन हो सकता है, और यह भी संभव है, कि अणु पदार्थ तत्त्व न होकर केवल शक्ति-पुंज हो। 'पदार्थ' से अभिप्राय जड़ और 'शक्ति' से चेतन का है।

आज के वयोवृद्ध प्रसिद्ध वैज्ञानिक एल्बर्ट[1] आइन्स्टीन ने अबसे लगभग पचपन वर्षपूर्व इस आशय की स्थापना की थी, कि पदार्थ (जड़) को शक्ति (चेतन) में परिवर्त्तित किया जा सकता है। वर्षों तक आइन्स्टीन की इस स्थापना को कोरी कल्पना माना गया। परन्तु १९१० में लॉर्ड रदरफोर्ड ने अपने परीक्षणों के परिणामस्वरूप यह निश्चय किया, कि अणु का अधिक भाग केवल रिक्त स्थान से बना होता है,। उसकी परिधि में कुछ गतिशील विद्युत्कण रहते हैं, इनके क्षेत्र को 'न्यूक्लिअस्' कहा जाता है। अणु की परिधि में लगभग यह उतने ही भाग को घेरता है, जितना एक मील की परिधि में एक छोटा सा बादाम। 'न्यूक्लिअस्' का अर्थ है—क्रिया का केन्द्र, अथवा उत्पादन या प्रजनन का केन्द्र। यह क्रिया का केन्द्र अणु में, तथा उत्पादन या प्रजनन का केन्द्र सैल् में होने पर कहा जाता है। सैल् की रचना अनेकानेक अणुओं से मिलकर होती है। स्वतः अणु का गठन भी एक रहस्य है। इसके छोटे से कलेवर में एक छोटा-सा संसार बसा हुआ है। इसकी रचना इलेक्ट्रान्, प्रोटोन् और न्यट्रॉन् नामक विद्युन्मय कणों से होती है। प्रत्येक तत्त्व या वस्तु का भेद इन कणों की संख्या पर निर्भर करता है। पहले दोनों प्रकार के विद्युत्कण क्रमशः ऋणात्मक और धनात्मक कहे जाते हैं, और इनमें पहला दूसरे के चारों ओर तीव्र गति से भ्रमण किया करता है। तीसरे में इन दोनों विशेषताओं का अभाव रहता है।

किसी सैल् में अणु के गतिशील विद्युत्कणों को, जिनका नाम 'न्यूक्लिअस्' बताया गया है, पाश्चात्य दर्शन के साथ प्राच्यदर्शन की समानता को प्रकट करने का प्रयत्न करने वाले कतिपय भारतीय विद्वानों ने 'तेज' नाम दिया है। अभिप्राय यह है, कि इस गतिशील विद्युत्कण-अवस्था का नाम 'तेज' है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है, कि तत्त्व (पदार्थ—जड़) और तेज (चेतन) में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही वास्तविकता के दो रूप हैं। इस 'न्यूक्लिअस्' में ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत्कणों का विस्फोट होता रहता है। उससे ही आगे विद्युत्तरंग बनती रहती हैं।

**आधुनिक विज्ञान और चेतन तत्त्व**—डॉक्टर एल्बर्ट आइन्स्टीन ने अणु [जड़ अंश] और तेज तत्त्व (चेतन अंशों) के सम्बन्ध में अपने अन्वेषणों के परिणामस्वरूप बतलाया

१. आज २०-४-५५ ई० सन् के समाचारपत्र में पढ़कर अत्यन्त खेद हुआ, कि इस जगत्-प्रसिद्ध अद्वितीय वैज्ञानिक का परसों १८-४-५५ के १ बजकर १५ मिनट पर रक्तवहा धमनी के फट जाने से देहावसान हो गया है। उनकी इच्छा के अनुसार उनका मस्तिष्क एवं अन्य विशिष्ट अंग वैज्ञानिक [डाक्टरी] अनुसंधान तथा अध्ययन के लिये अलग सुरक्षित कर लिये गये और शेष शव का दाह संस्कार किया गया।

है, कि गुरुत्वाकर्षण [ Gravitation ] और चुम्बकीय विद्युत्कण [ Electro-magnetion ] परस्पर सम्बद्ध और एक दूसरे में रूपान्तरित होने वाली शक्तियां हैं। गत शताब्दी के वैज्ञानिक चुम्बक और विद्युत् के परस्पर सम्बन्धों का अन्वेषण करते रहे हैं। आइन्स्टीन ने अब प्रमाणित किया है, कि विद्युत् रूप में प्रकाश और चुम्बक धाराएँ एक ही तेज तत्त्व के दो रूप हैं। दोनों एक ही रीति और गति से शून्य के चारों ओर प्रसारित होती हैं। उसने यह भी बताया है, कि प्रकाश धाराओं की तरह आकर्षणधारा भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने में समय लेती है, और एक समान समय लेती है। इस प्रकार आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है, कि पदार्थ के अणु किसी शक्ति प्रवाह से प्रभावित होकर स्वयं चेतन तेज में परिणत हो जाते हैं। पदार्थ [जड़] और शक्ति [चेतन] मूलतः **एक ही शक्ति की सत्ता के दो रूप हैं**। प्रत्येक पदार्थ शक्ति के रूप में परिणत हो सकता है, और शक्ति पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों के लेखों से प्रकट होता है, कि संसार में जो तत्त्व पाये जाते हैं, उनके दो रूप हैं—चेतन और अचेतन। आइन्स्टीन तथा उस विचारधारा को पुष्ट करने वाले अन्य वैज्ञानिकों के कथन का निष्कर्ष इतना है, कि जिस तत्त्व में आज हम जीवन के लक्षण पाते हैं, और इसी कारण जिसे चेतन कहते हैं, कालान्तर में वे लक्षण उसमें नहीं पाये जाते। तथा जिन तत्त्वों को हम जीवन-लक्षणों से रहित पाते हैं, कालान्तर में उनमें जीवन के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। इसप्रकार जीवन [चेतन] और अजीवन [जड़] एक ही मूल वस्तु के दो रूप हैं। पर इन दोनों में से मूल वस्तु का वास्तविक रूप क्या है, यह बात आदि काल से आज तक विवादग्रस्त है। इस पर विवाद करने वाले दोनों पक्षों में से कोई भी असंदिग्ध रूप में यह निर्णय नहीं दे सका, कि उसके द्वारा स्वीकृत मूल-तत्त्व के स्वरूप को ही क्यों सत्य माना जाय, और दूसरे को क्यों न माना जाय।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के चेतन और अचेतन के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करने वाले इन विचारों में असंदिग्ध रूप से कोई बात स्पष्ट नहीं हो पाई है। कारण यह है, कि अणु की रचना के सम्बन्ध में अभी तक विज्ञान किसी अन्तिम सत्य को प्रकट नहीं कर सका। इसका अभिप्राय यह नहीं, कि यह कभी प्रकट नहीं हो पायेगा। इसकी अन्तिम वास्तविक अवस्था को प्राचीन भारतीय ऋषियों ने पहचाना था, और आधुनिक विज्ञान उस ओर बराबर अग्रसर हो रहा है। प्राचीन ऋषियों ने जगत् के मूल कारण की वास्तविक अन्तिम स्थिति को किन साधनों के द्वारा जान पाया था, इस विषय में तो आज हम अपने आपको अन्धकार में पाते हैं, परन्तु जो परिणाम उन्होंने प्रस्तुत किये हैं, उसकी केवल इस कारण उपेक्षा नहीं की जा सकती, कि आधुनिक विज्ञान के खोज-उपायों के साथ उसका ताल-मेल नहीं खाता। वस्तु की यथार्थता पर ध्यान देना आवश्यकता है, न कि उसके बाह्याडम्बरों और प्रसाधनाओं पर।

**परमाणु अविभाज्य**—भारतीय ऋषियों ने चेतन तत्त्व को स्वतन्त्र मानकर जगत् के उपादान जड़तत्त्व को उससे पृथक् एवं चेतनाशक्ति के नियन्त्रण में विविध क्रियाओं एवं गतियों का आधार माना है। उन्होंने मूल उपादान को सर्वथा अविभाज्य बताया है। हम उसके लिये 'परमाणु' पद का प्रयोग कर सकते हैं। आधुनिक विज्ञान ने परमाणु या अणु के नाम पर जिन तत्त्वों के विभाजन का पर्यवेक्षण यान्त्रिक अनुसन्धानों द्वारा प्रस्तुत किया है, वह वास्तविक रूप में परमाणु अथवा मूल तत्त्व नहीं है। वह तत्त्वों की सर्गारम्भ के अनन्तर की अवस्था है, जो वास्तविक मूल तत्त्वों के मिथुन हो जाने से निर्मित या परिणत हो चुके हैं। उनका विभाजन होना शक्य है। दृश्यमान स्थूल जगत् की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म होने तथा सर्ग की आद्य स्थिति होने के कारण साधारण व्यवहार में हम उन अमूल एवं कार्यभूत तत्त्वों के लिये–मूल तत्त्व के लिये प्रयुक्त–'परमाणु' जैसे पद का प्रयोग करते रहते हैं, और फिर यह कहने लगते हैं, कि परमाणु अविभाज्य नहीं है। जहाँ तक तत्त्वों के विभाग का पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया जा सकता है, वहाँ हम मूल उपादान तक पहुंचे कहां हैं ? 'मूल उपादान' और 'अविभाज्य' इनको अलग नहीं किया जा सकता। उसी स्थिति का नाम 'परमाणु' है। प्राचीन भारतीय ऋषियों के मूल उपादान-सम्बन्धी वर्णनों का इतना ही सार है। यदि किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने विभाज्य तत्त्वों को 'परमाणु' रूप में वर्णन किया है, तो उसे वर्तमान वैज्ञानिक विचार-धारा की सीमा में समझना चाहिये।

प्राचीन ऋषि और आधुनिक विज्ञान की टक्कर यहीं पर हो जाती है, जब आधुनिक विज्ञान चेतन की स्वतन्त्र एवं पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करता। चेतन और जड़ दोनों एक ही मूल वस्तु के दो रूप हैं, इतना कहकर चुप हो जाता है। पर यह तो निर्णय होना चाहिये, कि उस मूल वस्तु का स्वरूप क्या है ? जड़ या चेतन, अथवा पदार्थ या शक्ति ? जब इन दोनों का एक दूसरे के रूप में हम परिवर्तित होना मान लेते हैं, तो यह निर्णय करना अशक्य है, कि इनमें मूल कौन-सा है ? अथवा मूल का स्वरूप क्या इन दोनों से विलक्षण होना चाहिये ? और तब वह क्या होगा ?

**मूल उपादान का स्वरूप**--यदि मूल में दोनों रूपों की सत्यता मानी जाती है, तो यह कहना निराधार हो जाता है, कि वे दोनों एक ही मूल वस्तु के दो रूप हैं। यदि मूल-वस्तु को इन दोनों [जड़-चेतन] से विलक्षण माना जाता है, तो यह प्रत्यक्ष और विज्ञान का सर्वथा अपलाप है, क्योंकि आज तक किसी तरह ऐसे तीसरे तत्त्व की प्रतीति नहीं हो सकी है, जो चेतन और अचेतन दोनों का मूल हो, तथा इन दोनों से विलक्षण हो, अर्थात् न चेतन हो न अचेतन। फिर यदि किसी ऐसे तत्त्व की कल्पना कर ली जाती है, तो इस कथन की सत्यता प्रमाणित करना दुःशक होगा, कि मूलतत्त्व एकरूप है। क्योंकि उसके वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में हम सर्वथा अन्धकार में रहते हैं, जबकि संसार में चेतन और अचेतन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का अस्तित्व नहीं पाते। इस कथन में

यह स्वारस्य है, कि कार्य के अनुसार ही कारण अर्थात् मूल उपादान की कल्पना की जा सकेगी। बौद्धों ने जगत् को शून्य कहा, तो कारण भी शून्य माना। शंकर ने जगत् को अनिर्वचनीय बताया, तो उसका उपादान भी अनिर्वचनीय कल्पना किया, गौतम कणाद ने इसे चातुर्भौतिक बताया, तो मूल भी वैसा ही माना। कपिल ने जगत् को विलक्षण अर्थात् त्रिगुणात्मक माना है, तो उसका मूल कारण भी वैसा ही स्वीकार किया। पर यह कल्पना अशक्य है, कि जगत् को चेतन-अचेतन उभयरूप मानकर उसका मूल उपादान एकरूप माना जाये। क्योंकि ये दोनों सत्ताएं परस्पर इतनी विरुद्ध हैं, कि इन रूपों में किसी भी एक वस्तु का होना अशक्य है। इसलिये मूल में चेतन और अचेतन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य है, वे ही स्वरूप अपनी स्थिति में अब उपलब्ध होते हैं।

परमाणु अथवा मूल उपादान की जो कुछ भी रचना व स्थिति है, वह सर्वात्मना जड़ तत्त्व है। अपनी इस स्वाभाविक स्थिति से वह परिवर्त्तित नहीं किया जा सकता। जो शक्ति अथवा शक्ति-प्रवाह उसे परिवर्त्तित करने के लिये प्रेरित करता है, उसका अस्तित्त्व परमाणु से निश्चित पृथक् है। वही चेतन तत्त्व है। पर वह किसी अवस्था में अचेतन को चेतन रूप में परिवर्त्तित नहीं करता। गुरुत्वाकर्षण अथवा चुम्बकीय विद्युत्कण यह सब अचेतन का स्वरूप है। भारतीय ऋषियों ने जिस स्थिति में पहुंचकर चेतना का अनुभव किया है, वर्तमान विज्ञान उस दिशा में अभी अग्रसर नहीं हो रहा है, वह अचेतन की स्थिति में ही चेतन की खोज करना चाहता है। अथवा चेतन के अस्तित्त्व का सर्वथा अपलाप न कर सकने के कारण वह अपने आपको इस रूप में अचेतन के साथ ही बहला लेना चाहता है, जो सर्वथा अन्धेरे में लाठी चलाने के समान है।

**अचेतन परिणाम का अन्य पहलू**—मूल वस्तु की इस विवादग्रस्त वास्तविकता को उपेक्षित न करते हुए भी अचेतन के चेतन रूप परिणाम को एक दूसरे पहलू से विचारना आवश्यक होगा। इस दृष्टि में मूलतत्त्व अचेतन है, उसके अतिरिक्त मूल में अन्य कोई तत्त्व नहीं। अचेतन मूल तत्त्व ही एक विशेष अवस्था में चेतन रूप में परिणत हो जाता है। भारतीय दर्शनशास्त्र में पर्याप्त प्राचीन काल से यह विचारधारा प्रचलित है। इसका उपज्ञ आचार्य बृहस्पति था, और चार्वाक इसका विशेष प्रचारक था। छान्दोग्य उपनिषद् [८।७-८] की इन्द्रविरोचन की कथा में विरोचन इस विचार का प्रतिनिधि है। आधुनिक काल में विशेष रूप से इस विचारधारा को कॉर्लमॉर्क्स व ऐन्जल्स् आदि आधिभौतिकवादी पाश्चात्य विद्वानों ने प्रस्तुत किया है। यद्यपि इस रूप से तत्त्वविचार में इन विद्वानों ने मुख्यतया आर्थिक दृष्टि को आधार बनाया है। आचार्य बृहस्पति के दृष्टिकोण का आधार क्या था, यह आज सैंकड़ों सदियों के अनन्तर उसकी किसी सीधी रचना के अभाव में कहना दुःशक है, पर तत्त्वविचार में परिणाम दोनों जगह एक जैसे हैं। यह अवश्य संभव है, कि आज की तरह उस काल की सामाजिक अवस्था ने आचार्य बृहस्पति को उक्त

विचार जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए बाध्य कर दिया हो। आचार्य ऐन्जल्स् की विचारधारा को पुष्ट करने की दिशा में 'श्रीमती ओल्गा वेरिसोव्ना लपेशिन्स्काया' नामक एक रूसी[1] महिला के अनुसंधान एवं परीक्षण विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

**रूसी महिला के चेतना सम्बन्धी परीक्षण**—"यह एक शताब्दी पुरानी समस्या है, जब सन् १८५८ ईसवी में रूडाल्फ़ विर्चो ने एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम है—सैलुलर पैथालजी। वहां उसने यह सिद्धान्त स्थापित किया है, कि जैसे एक दीवार ईंटों से मिलकर बनती है; अथवा दीवार की रचना में ईंट एक प्रकार की इकाई है, ऐसे ही जन्तु या वनस्पति के शरीर की रचना में एक विशेष प्रकार की इकाईयां भाग लेती हैं। ऐसी प्रत्येक इकाई को 'सैल्' कहते हैं। उसका यह भी कहना है, कि एक सैल् की उत्पत्ति किसी पहले विद्यमान सैल से ही होती है। सैल पद यहां चेतना को प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम जिस छोटे से छोटे देह में चेतना के लक्षण प्रकट होते हैं, उसका नाम सैल है। ऐसे सैल् में वह द्रव्य—जिसके कारण जीवन के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं—प्रोटोप्लाज्म है। विर्चो का यह विचार है, कि चेतन सैल् अचेतन का परिणाम नहीं, जब वह एक मूल सैल् से अन्य सैल् की उत्पत्ति वताता है।

ऐन्जिल्स् ने विर्चो के उपर्युक्त मत पर आक्रमण किया है। उसने दो पुस्तकें इस विषय पर लिखी हैं—'डॉयलैक्टिक्स ऑफ नेचर' और एँन्टी ड्हूरिंग।' इसने वताया है, कि सैल् का उद्भव भौतिक द्रव्य से हो सकता है। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए उसने लिखा है, कि सैल् एक आकृतिहीन प्रोटीन द्रव्य से बन सकते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में जीवन अर्थात् सैल्ज् का उद्भव इसी प्रकार हुआ। ऐन्जिल्स् अपने जीवन में इस मत को आधारपूर्वक स्पष्ट नहीं कर सका। इस अपूर्णता को अब श्रीमती ओल्गा वैरिसोव्ना लपेशिन्स्काया ने पूरा किया है।

लपेशिन्स्काया एक आधिभौतिक वैज्ञानिक है, जिसने विर्चो के सिद्धान्त को

---

१. 'सोवियत वोमिन' नामक रूसी द्विमासिक पत्र के, सन् १९५० ईसवी के ५वें अंक में ५५ पृष्ठ पर 'जीवन का उद्भव [At the sources of life] नामक एक लेख प्रकाशित हुआ है। इसका लेखक है–मार्क पोपोव्स्की। लेखक ने इस पुस्तक में उपर्युक्त रूसी महिला के अनुसंधान कार्यों का उल्लेख किया है। उसीके आधार पर हमारा यह लेख है। इस समय यह महिला लगभग अस्सी वर्ष आयु की है। इसका प्राथमिक जीवन जारशाही के समय क्रान्तिकारी संघर्ष में व्यतीत हुआ। अनेक वर्ष सायबेरिया में कारावास भुगता। बीस वर्ष तक भूमिगत रही। क्रान्ति सफल होने पर ४४ वर्ष की आयु में एक मेडिकल संस्था से डाक्टर की परीक्षा पास की। ५४ वर्ष की आयु में पहला अनुसन्धान निबन्ध प्रकाशित किया। यह प्राणिशास्त्र की विशेषज्ञ तथा आचार्य है। इसके २२० निबन्ध अभी तक प्रकाशित हुए हैं। जिनमें २४ निबन्ध केवल सैल् के उद्भव के सम्बन्ध में हैं।

असंगत सिद्ध किया है। उसका कहना है, कि सैल् जैसी जटिल रचना एकाएक नहीं बन सकती थी। उसने विचार किया, कि सैल् बनने से पूर्व जीवन का कोई अधिक सरल रूप था। वह अधिक सरल रूप जीवित प्रोटीन या प्रोटोप्लाज्म हो सकता है, जिसमें जीवन की विघातक एवं विधायक क्रियाएं विद्यमान थीं। उसका विश्वास है, कि इसप्रकार का जीवित द्रव्य अब भी उपस्थित है। यह द्रव्य किसी प्राणी के शरीर के सैल्ज् के अन्तराल स्थानों में पाया जा सकता है। उसके मन में प्रश्न उत्पन्न हुआ, कि प्रोटोप्लाज्म और सैल् का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? और क्या सैल्ज् अब भी उस आकृतिहीन जीवित द्रव्य से उत्पन्न हो सकते हैं ? लपेशिन्स्काया से पूर्व किसी तत्त्वानुचिन्तक के मस्तिष्क में ये प्रश्न उत्पन्न नहीं हुए थे।

जीवित प्रोटोप्लाज्म–जो कि सैल् नहीं है–यदि वह वास्तव में जीवित है, तो उसमें वृद्धि होनी चाहिए, और उससे ऊँची श्रेणी के द्रव्य तथा सैल्ज् भी उत्पन्न होने चाहियें। क्या यह बात मानी जा सकती थी, कि सैल्ज् सहस्रों की संख्या में विना जनयिताओं के प्रति घंटे और प्रति मिनट उत्पन्न होते रहते हैं ? संभवतः अब तक यह इस वैज्ञानिक के मन में एक कोरा विचार ही विचार कहा जा सकता था। किन्तु इसको सिद्ध करने के लिए परीक्षण आवश्यक थे। लपेशिन्स्काया ने बड़े साहस के साथ यह कार्य आरम्भ किया।

प्रकृति ने स्वयं एक वस्तु उसको निरीक्षण के लिए सुझाई, और वह वस्तु थी— मुर्गी का अण्डा। अण्डे में लपेशिन्स्काया को उसकी वाञ्छित वस्तु मिल गई, अर्थात् योक' [अण्डे का पीत भाग] के रूप में जीवित द्रव्य का एक संग्रह। विर्चो के अनुयायी इस योक को पोषक द्रव्य का एक भण्डार मानते हैं। उसके अनुसार भ्रूण के बनने में इस योक का पोषण के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य नहीं है। लपेशिन्स्काया ने अपने मन में विचारा, कि क्या यह सिद्धान्त वास्तव में ठीक है।

माईक्रस्कोप [सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र] से उसने योक की साधारण रचना को देखा, उसको प्रतीत हुआ, कि उसके अन्दर एक सूक्ष्म बुद्बुदों का संग्रह है, और इनमें रचनारहित अर्द्धतरल पदार्थ भरा हुआ है। योक के शिखर पर एक बिन्दु विना माईक्रस्कोप के भी दिखाई पड़ सकता है। यह बिन्दु 'साइकेट्रिक्ल' या 'भ्रूणपट्टिका' (ऐम्ब्रियोनिक-डिस्क) है। विर्चो के अनुयायी कहते हैं, कि यही पट्टिका भविष्य में पैदा होने वाले प्राणी को बनाती है। अण्डे को आवश्यक तापमान पर रक्खे जाने के अनन्तर यह पट्टिका दो, चार और फिर आठ भागों में विभाजित हो जाती है, और अन्त में इस नए सैल्ज् से एक जटिल मुर्गी का बच्चा उनकी वृद्धि और विभाजन के परिणामस्वरूप बनता है। लपेशिन्स्काया ने इस बात को ठीक नहीं माना। उसका ध्यान उस एक पदार्थ की ओर आकृष्ट हुआ, जो योक के अन्दर बिखरा हुआ रहता है। अर्थात् वास्तविक सैल्ज् में न्यूक्लियस्-वाला पदार्थ। यह न्यूक्लियस् का उपादानभूत पदार्थ सैल् की जीवित क्रियाओं का नियंत्रण

करता है। योक के अन्दर न्यूक्लियस् के उपादान-भूत पदार्थ की उपस्थिति से लपेशिन्स्काया ने यह प्रमाणित किया, कि योक का कार्य पोषण के अतिरिक्त कोई अन्य महत्त्वपूर्ण भी है।

लपेशिन्स्काया ने यह भी देखा, कि प्रोटीन के रचनारहित उन योक-बुद्बुदों में–जिनको उष्ण न किया गया हो–कुछ पृथक् पूर्णरूप से बने हुए सैल् दिखलाई पड़ते हैं। प्रश्न उठता है, कि ये सैल् कहां से आये ? लपेशिन्स्काया के विरोधियों का कहना है, कि ये सेल् भ्रूण-पट्टिका से टूटकर आये हैं। लपेशिन्स्काया ने सोचा कि हम यह क्यों न मानें, कि सैल् स्वयं योक के बुद्बुदों से ही बने हैं। इस धारणा की पुष्टि के लिये परीक्षण आवश्यक थे। यदि एक अण्डे में से 'साईकेट्रिक्ल्' को निकाल दिया जाय, और फिर उसको आवश्यक तापमान में रक्खा जाय, तो विर्चो के अनुसार उसमें नये सैल्ज़् की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। किन्तु लपेशिन्स्काया ने कितने ही परीक्षणों द्वारा यह स्पष्ट किया, कि विर्चो की यह धारणा ठीक नहीं है। उसने यह प्रमाणित किया है, कि नये सैल् केवल पहले सैल्ज़् से ही नहीं बनते, प्रत्युत सीधे ही प्राणी के जीवित द्रव्य से भी बन सकते हैं।

**अदृश्य संसार में एक खिड़की** [Window into an invisible world]—लपेशिन्स्काया ने हमको बहुत से फ़ोटोग्राफ़ दिये हैं। मुस्कराते हुए वह कहती हैं, ये मेरे युद्ध-रत वीर हैं, ये आकार में बहुत छोटे हैं, इनका आकार कुछ ही 'माइक्रोन' है। ये फ़ोटोग्राफ़ परीक्षणों के समय लिये गये थे। इनमें चित्रित घटनाएँ मुर्गी के अण्डे के योक में होती हैं। इन चित्रों से उन जटिल क्रियाओं का स्पष्टीकरण होता है, जो एक सैल् के जन्म और वृद्धि में हुआ करती हैं। पहला परीक्षण यह है—

एक शीशे की प्लेट पर कुछ उष्ण किया हुआ योक फैला दिया जाता है। अण्डे सेए जाने का तापमान इस योक पर स्थिर रक्खा जाता है। प्रश्न यह है, कि योक के बुद्बुदे [Globules] अब किस प्रकार क्रिया करेंगे ? क्या वे एक अकर्मण्य पोषण-द्रव्य का ही काम करेंगे ?

माईक्रस्कोप के ऊपर एक केमरा लगाकर प्लेट पर प्रत्येक परिवर्तन का चित्र लिया जा सकता है। उसने एक फोटोग्राफ़ में ग्लोब्यूल्ज़् [बुद्बुदों] की वृद्धि से समय से लेकर आगे दो घण्टे तक के चित्र दिये हैं। देखने वाला देख सकता है, कि किस प्रकार एक आकृतिहीन वस्तु से एक दानेदार या कण-युक्त वस्तु बनती है। आगे के कुछ फ़ोटोग्राफ़ लेकर नये बनने वाले सैल् के अन्दर हम जीवन के प्रथम चिन्ह देख सकते हैं। सैल् गति करना आरम्भ करता है। देखने वाला देख सकता है, कितनी हिचक के साथ मानों छोटे-छोटे मिथ्यापाद [Pseudo Pad—स्यूडो पॉड] केन्द्र की ओर से विभिन्न दिशाओं में बढ़ते हुए प्रतीत होते हैं। न्यूक्लियस् जो एक मुख्यतम अवयव है, नये सैल् में बनता हुआ प्रतीत होता है। कुछ अन्य परिवर्तन भी होते हैं। इस परीक्षण को यदि तीस

घण्टे तक लगातार देखा जाय, तो नवजात सैल् विभाजन द्वारा अपनी संख्यावृद्धि करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

कुछ नये फ़ोटोग्राफ हमें एक और अद्भुत रूपान्तरण का ज्ञान कराते हैं। इस बार परीक्षक ने जीवित अण्डे पर निरीक्षण किये हैं। इसमें देखा जा सकता है, कि किस प्रकार पीले योक के ग्लोब्यूल्ज़् रक्तवाहिनियों में परिवर्तित हो जाते हैं, और किस प्रकार अन्य ग्लोब्यूल्ज़् अपना रंग तथा आकृति बदलकर रक्त के सैल्ज़् बनते हैं, और उन वाहिनियों में भर जाते हैं।

एक परीक्षण और देखिये। इस बार आपको यह दिखलाया जायेगा, कि एक जीवित सैल् से निकाला हुआ प्रोटोप्लाज़्म अपने व्यवहार में क्या-क्या विशेषताएँ प्रकट करता है। अब साधारण केमरा के स्थान पर एक मूवी [चल] केमरा प्रयोग में लाया जायगा। परीक्षण के लिये इस बार 'हाइड्रा' लेते हैं। यह अलवण [असामुद्रिक] जल में रहनेवाला एक क्षुद्र प्राणी है। इसका आकार लगभग एक सेण्टीमीटर होता होगा। कुछ हाइड्रा लेकर उनको खरल में पीस लिया गया। प्रोटोप्लाज़्म को छान कर एक परीक्षण नली में इकट्ठा कर लिया। इस प्रोटोप्लाज़्म के अन्दर होने वाले परिवर्तनों का मूवी केमरे से लिया हुआ दृश्य स्पष्ट दिखायेगा, कि किस प्रकार एक स्वच्छ तरल पदार्थ में बिन्दु बनने प्रारम्भ होते हैं। ये भविष्य के सैल्ज़् हैं। फिर उसके अन्दर न्यूक्लिआई [न्यूक्लियस् का बहुवचन है] बनते हैं। सैल्ज़् बनने के अनन्तर गति करते है, अन्त में विभाजित होकर संख्या वृद्धि करते हैं। यदि ये जनयितारहित [Parentless] सैल्ज़् पोषक माध्यम में तीन या चार महीने के लिए छोड़ दिये जायें, तो वे धातुओं का एक पूरा स्तर बना सकते है, तथा अनुकूल अवस्थाओं में इसी विधि से एक पूरा जन्तु हाइड्रा बनकर तयार हो सकता है।

इसप्रकार के अनेकों परीक्षणों द्वारा लपेशिन्स्काया को सन्तोष हो गया, कि विर्चो का सिद्धान्त—जो एक शताब्दी से ठीक माना जाता था—असंगत है। सैल् ही जीवित रहने योग्य अन्तिम तत्त्व नहीं है, केवलमात्र सैल् जीवन का एक किनारा नहीं है, जैसा कि विर्चो का मत था। उसका यह विचार उतना ही अशुद्ध है, जितना यह कहना, कि सैल् की उत्पत्ति सैल् से ही होती है।"

लपेशिन्स्काया के जीवनोद्भवसम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करने वाले मार्क पोपोव्स्की के लेख का यहां अविकल भाव देने का यत्न किया गया है। जहां तक विर्चो के मत को दोषयुक्त प्रमाणित करने का प्रश्न है, उक्त महिला द्वारा प्रस्तुत किये गये परीक्षण तथा उनका परिणाम अति प्रबल है। वस्तुतः विर्चो की इस मान्यता को असंगत सिद्ध करने में लपेशिन्स्काया सफल हुई है, कि कोई जीवित सैल् किसी अन्य जीवित सैल् से ही उत्पन्न हो सकता है। कदाचित् विर्चो यह स्वीकार करता प्रतीत होता है, कि संसार में जितने जीवित सैल् सम्भव हैं, उनकी रचना सर्ग के आदि काल में हो चुकी थी। अनन्तर

प्राणी-जगत् के सजातीयोत्पादन की व्यवस्था के अनुसार एक सैल् ही वृद्धि और विभाजन की प्रक्रियाओं से अन्य सैल् का जनक माना जा सकता है। इसके विपरीत लपेशिन्स्काया ने अनेक परीक्षणों से यह सिद्ध किया, कि आकृतिहीन द्रव्यों से इस समय भी जीवित सैल् की उत्पत्ति देखी जा सकती है। विर्चो के विचार से यदि सृष्टि के आरम्भ में आकृतिहीन द्रव्य से जीवित सैल् की उत्पत्ति सम्भव है, तो निश्चित ही वह इस समय भी और प्रत्येक समय सम्भव हो सकती है, क्योंकि उस प्रकार के द्रव्यों का अस्तित्व सदा रह सकता है। यदि विर्चो का यह विचार हो, कि जीवित सैल् की रचना नहीं होती, वह अनादि काल से ऐसा ही बना हुआ है, तो यह कथन भी असंगत होगा। क्योंकि सैल् की रचना प्रत्यक्षतः होती हुई देखी जाती है।

**सैल् में चेतना कहाँ से ?**—मुख्य समस्या चेतना के उद्भव अथवा अस्तित्व की है। यह चेतना कहाँ से आ जाती है ? लपेशिन्स्काया ने जो परीक्षण किये, और चित्रों द्वारा सैल् बनने की प्रक्रिया का जो प्रदर्शन किया, उसमें केवल इतनी सफलता प्रमाणित होती है, कि जो द्रव्य सैल् नहीं है, उनसे सैल् की रचना होती देखी जा सकती है। प्रश्न यह है, कि सैल् में चेतना कैसे तथा कहाँ से आई ? लेख में यह प्रकट किया गया है, कि जिन द्रव्यों से सैल् की रचना होती है, उनमें भी जीवन अथवा चेतना के लक्षण देखे जाते हैं, लेख के उपसंहार में भी यह कहा गया है, कि विर्चो का यह कहना अशुद्ध है, कि सैल् जीवन का एक किनारा है। इसका परिणाम यह निकलता है, कि सैल् के उपादान द्रव्यों में भी जीवन अथवा चेतना का अस्तित्व है। लपेन्शिस्काया के परीक्षण चाहे यह सिद्ध करने में सफल हुए हैं, कि एक सैल् की उत्पत्ति अन्य सैल् से नहीं होती, पर यह स्थिति तो फिर भी बनी रहती है, कि जीवित उपादान द्रव्यों से ही जीवित सैल् की उत्पत्ति होती है। लेख में इस बात को कहीं विस्मृत नहीं किया गया, कि सैल् के उपादान द्रव्य जीवित हैं। उनके साथ 'जीवित' (Living) विशेषण सर्वत्र दिया गया है। लेख के उपक्रम एवं उपसंहार भी इसको स्पष्ट करते हैं। इसप्रकार यदि सैल् के उपादान द्रव्यों में जीवन अथवा चेतना का अस्तित्व उपलब्ध है, तो अजीवन अथवा अचेतन उपादान से जीवित सैल् की उत्पत्ति होती है, यह कथन सिद्ध नहीं होता है। चाहे सैल् से सैल् उत्पन्न न हो, पर जीवनयुक्त उपादानों से जीवनयुक्त सैल् उत्पन्न होता है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

जीवन या चेतना को समझने के लिये और आगे विचारिये। प्रश्न यह है कि सैल् के उपादान द्रव्यों में भी चेतना कहां से आई ? चेतना के अस्तित्व को प्रकट करने वाले विधायक या विघातक क्रियारूप—लक्षण पहले पहल जहां दिखाई देते हैं, वहाँ चेतना का अस्तित्व जान लिया जाता है। पर वे उपादान द्रव्य अथवा उनसे उत्पन्न सैल् स्वयं चेतना नहीं हैं। यदि उपादान द्रव्यों के और पहले के उपादान द्रव्यों के साथ चेतना बैठी रहती है, पर साधनों के अभाव में अभी वहां विघातक या विधायक क्रियाओं का उद्भव नहीं हो पाया; जब उपादान द्रव्य इस अवस्था में आ जाते हैं, कि वहाँ उक्त क्रियाओं का

उद्भव होने लगे, तो उस चेतना का अनुमान कर लिया जाता है। ऐसा स्वीकार करने पर यह प्रमाणित हो जाता है, कि अचेतन मूल उपादान द्रव्यों के साथ—पर उनसे सर्वथा पृथक् रूप में—चेतना बनी रहती है। अचेतन उपादान द्रव्य केवल उसके रहने के स्थान हैं, जब उपादान द्रव्य इस अवस्था में आते हैं, कि वहां क्रिया हो सके, तब क्रिया होने लगती है। इसप्रकार अचेतन से अतिरिक्त चेतना का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रमाणित होता है।

यदि ऐसा नहीं स्वीकार किया जाता, तो सैल के उपादान द्रव्यों में चेतना कहां से आ जाती है? यह स्पष्ट करना आवश्यक है। यह निश्चित है, कि उपादान द्रव्य स्वयं चेतना नहीं है। 'हाइड्रा' एक चेतन प्राणी है। जब वह कुचल पीस दिया जाता है, तब उसकी पूर्व चेतन अवस्था प्रतीत नहीं होती। किसी भी प्राणी की नहीं होती। लपेशिन्स्काया ने परीक्षण किया, कि बहुत से 'हाइड्रा' लेकर पीस लिये गये, और उनका स्वच्छ तरल छानकर एक परीक्षण नली में भर दिया। उसको आवश्यक तापमान में रखने पर देखा जा सका, कि वहां कुछ ऐसी क्रियाओं का उद्भव हो रहा है, जिनसे वहां चेतना का अस्तित्व परिलक्षित होता है। कालान्तर में वहां एक जीवित पूरा 'हाइड्रा' बन सकता है। क्या इस परीक्षण से यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि उस तरल का कोई अंश चेतनारूप में परिणत हो गया ? जीवित 'हाइड्रा' क्या है ? एक भौतिक देह, और दूसरी उसमें बैठने वाली चेतना। यदि वह चेतना किसी भौतिक उपादान का रूपान्तर माना जाता है, तो इस मान्यता में अनेक बाधायें हैं।

**रूसी महिला के परीक्षणों की विवेचना**—प्रथम कोई ऐसा उपादान द्रव्य प्रस्तुत नहीं किया गया, जिसका रूपान्तर चेतना हो। जितने उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, वे केवल देह की रचना को स्पष्ट करते हैं। दूसरे यह, कि एक चेतना के लक्षण न रहने पर भी शरीर के किसी सैल् की आधुनिक रीति से जब परीक्षा की जाती है, तो उसका परिणाम यही आता है, कि यह सैल् जीवित है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है, कि भारतीय ऋषियों ने चेतना तत्त्व का जिस रूप में विवेचन किया है, और जिस स्थिति में उसे पहचाना है, वह आधुनिक परीक्षा सीमा में नहीं आता। वह उससे परे की वस्तु है। आधुनिक विज्ञान को इसका समाधान करना चाहिये, कि यदि मृत देह के सैल्ज् उसी तरह जीवित हैं, तो उनमें पहले के समान क्रिया क्यों नहीं होती ? यदि कहा जाये, कि वहां कुछ ऐसे सैल्ज् बिगड़ गये या नष्ट हो गये हैं, जिन पर पहले जैसी क्रियाओं का होना आधारित था, तो निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है, कि उन सैल्ज् का—यदि वास्तव रूप में वे कोई सैल्ज् ही हैं—समझना या पकड़ा जाना आधुनिक विज्ञान की सीमा एवं शक्ति से बाहर है। क्योंकि देह की उस स्थिति को उसी रूप में लौटाया जाना अशक्य है। इससे दूसरी ओर यह कहना ठीक होगा, कि चेतना का रूप भौतिक नहीं है। भारतीय ऋषियों ने उसका साक्षात्कार इसी रूप में किया है।

इसके अतिरिक्त 'हाइड्रा' के परीक्षण को एक और पहलू से विचारिये। उसका तरल आवश्यक तापमान और अनुकूल पोषण की स्थितियों में एक नवीन 'हाइड्रा' को प्रस्तुत कर सकता है। क्या यह परिस्थिति किसी अन्य प्राणी अथवा चाहे जिस प्राणी के तरल में संभव है? हमें देखना यह चाहिये, कि उक्त परीक्षण किस उद्देश्य से किया गया है। किसी भी जन्तु-देह के कुचल-पीस देने पर उसके पूर्व सैल्ज़ अपनी ठीक अवस्था में नहीं रह सकते, वे बुरी तरह टूट-फूट जाते हैं। पर उन सैल्ज़ के उपादान द्रव्य किसी न किसी अवस्था में तो विद्यमान रहते ही हैं। वे आवश्यक तापमान तथा अन्य पोषक साधन प्राप्त कर पुनः सैल की रचना में समर्थ हो जाते हैं। क्योंकि वहां ऐसे ही उपादान द्रव्य का संग्रह है, जिनसे 'हाइड्रा' का देह आरम्भ होता है, इसलिये यह अधिक संभव है, कि वहां वह देह उत्पन्न हो सके। पर यह प्रत्येक प्राणी की अवस्था में संभव नहीं। हां! यह संभव है, कि प्रत्येक प्राणी-देह के इस प्रकार के तरल में कोई प्राणी-देह उत्पन्न हो सके। यह एक साधारण बात है, कि कोई ऐसा तरल जो देह-धातुओं का संग्रह है, आवश्यक तापमान और अनुकूल पोषण की स्थितियों में किसी देहान्तर का उपादान बन सकता है। इसी तरह अन्य अनेक प्रकार के तरल भी।

उदाहरण के लिये किसी वन्य पशु, साधारण पशु अथवा मानव का ही एक जीवित मांसपिण्ड लीजिये, उसको अच्छी तरह कुचल-पीस कर उसका तरल निकाल लेने पर परीक्षण नली में रख उसे आवश्यक तापमान देने से उसमें कोई भी सूक्ष्म कृमि-देह उत्पन्न हो सकते हैं। देह की रचना जितनी अधिक जटिल होगी, इस रूप में उसका उत्पन्न किया जाना उतना ही अधिक अशक्य है। पशु अथवा मानव की देहरचना अत्यधिक जटिल है, जब कि सूक्ष्म कृमि आदि की देहरचना उसकी अपेक्षा कुछ कम जटिल कही जा सकती है। यद्यपि हमारे ज्ञान और सामर्थ्य को देखते हुए उसकी जटिलता भी महान है। इसप्रकार 'हाइड्रा' के परीक्षण के आधार पर यह कदापि नहीं कहा जा सकता, कि प्रत्येक प्राणी का इस प्रकार पुनरुज्जीवन किया जा सकता है। फलतः परीक्षण के उतने अंश को देखना है, जिस उद्देश्य से वह किया गया है। उससे विर्चो के मत की असंगति तो स्पष्ट हो जाती है, पर अजीवन से जीवन के उद्भव को बताने में वे असफल ही रहे हैं।

यह बात कही जा चुकी है, कि सैल् स्वयं चेतना या जीवन नहीं है। यह चेतना का निवासस्थान कहा जा सकता है। जब हम यह कहते हैं, कि सैल् से ही सैल् न बन-कर आकृतिहीन द्रव्यों से भी सैल् बन जाता है, और उसका यह अर्थ समझते हैं, कि अजीवन से जीवन के उद्भव का हमने कथन किया है, तब हम सैल् को ही चेतना मान लेते हैं। लपेशिन्स्काया के परीक्षण तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों के एतत्सम्बन्धी समस्त वर्णन इसी आधार पर किये गये हैं। यदि सैल् ही चेतना है, तो कोई भी सैल् अजीवित न होना चाहिये। पर ऐसा नहीं है। जैसे कुछ सैल् जीवित हैं, ऐसे ही अधिक सैल्

अजीवित भी हैं। तब चेतना को सैल् से अतिरिक्त मानना अनिवार्य होगा, जबकि हम प्रत्येक सैल् के उपादान द्रव्य को मूल में एक समान ही पाते हैं। इसप्रकार जिन मूल उपादान द्रव्यों के साथ चेतना आ बैठती है, उनसे चेतना के अनुकूल देह का आरम्भ हो जाता है, वे जीवित सैल् कहे जा सकते हैं। शेष रचना अजीवित रह जाती है। इस विवेचन के आधार पर भूत भौतिक अथवा समस्त अचेतन तत्त्व से अतिरिक्त चेतन तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार करना अधिक प्रामाणिक एवं संगत है। फलतः सांख्य का यह सिद्धान्त कि आत्मा बुद्धस्वभाव है—स्पष्ट होता है।

**आत्मा मुक्तस्वभाव है**—मुक्त पद का अर्थ है–छुटा हुआ। किससे छुटा हुआ? दुःखों से। दुःखों का मूल कारण क्या है? प्रकृति। तब दुःखों से छुटे हुए का अभिप्राय हुआ—प्रकृति से छुटाहुआ। परआत्मादुःखीऔर प्रकृति से प्रभावित बराबर देखा जाता है, फिर उसे मुक्तस्वभाव कैसे कहा जा सकता है? यह ठीक है, कि आत्मा प्रकृति से प्रभावित होता है, और वह अपने आपको दुःखी अनुभव करता है, परन्तु उस अवस्था में भी आत्मा प्रकृति का रूप नहीं होता। वह उस समय भी प्रकृति से सर्वथा भिन्न है, और उसकी यह अवस्था सदा रहती है। इसीलिये वह मुक्तस्वभाव है। प्रकृति से प्रभावित होने पर यदि वह प्रकृति बन जाता, तो मुक्तस्वभाव नहीं कहा जा सकता था। प्रकृति से प्रभावित होने की उसकी अवस्था को औपचारिक रूप में अथवा पारिभाषिक रूप में 'बन्ध' कहा गया है। उसी को दूर करने का उपाय शास्त्र है। प्रकृति से प्रभावित अवस्था में, अप्रभावित अवस्था के समान आत्मा प्रकृति से सर्वथा भिन्न रहता है। इसी कारण वह मुक्तस्वभाव [सदा प्रकृति से छुटा हुआ—भिन्न] कहा गया है।

**आत्मा का स्वरूप**—आत्मा के स्वरूप को समझने के लिये इन तीन विशेषताओं का जान लेना आवश्यक है—(१) वह शुद्धस्वभाव अर्थात् अविकारी एवं अपरिणामी है, इसी कारण वह (२) बुद्धस्वभाव है। जब उसमें कोई परिणाम नहीं, तब यह निश्चित है, कि उसका अपना स्वरूप-चेतन सदा बना रहता है। फलतः वह (३) मुक्तस्वभाव है, क्योंकि प्रकृति परिणामिनी है, और चेतन-स्वरूप आत्मा ऐसा नहीं है, तब आत्मा सर्वथा उससे पृथक्–भिन्न अथवा मुक्त है। आत्मा की बन्ध [प्रकृति से प्रभावित] अवस्था से उसके इस स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। परिणाम अथवा कोई विकार सदा अचेतन प्रकृति में हो सकता है, इसलिये अपरिणामी चेतन आत्मा शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है।

**आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व में हेतु**—अचेतन से अतिरिक्त चेतन के अस्तित्व को स्पष्ट करने के लिये महर्षि कपिल ने अपने सूत्रों में पांच हेतुओं का निर्देश किया है। सबसे

१. सांख्यषडध्यायी, अ० १, सू० १०४-१०९ ॥ ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका [१७] में इन्हीं हेतुओं का संकलन किया गया है।

[ प्रथम अध्याय के सूत्रों की उक्त संख्या हमारे सम्पादित ग्रन्थ में उपलब्ध होगी। इसमें ३५ जोड़कर अन्य किसी संस्करण में सूत्र संख्या देखी जा सकती है ]।

पहला हेतु है—(१) 'संहतपरार्थत्वात्' लोक में जो कुछ संघात-समुदाय देखा जाता है, वह सब परार्थ—अन्य किसी के प्रयोजन के लिए होता है। प्रकृति-निर्मित यावज्जगत् संघात है। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि प्रकृति का जो परिणाम होता है, वह सब समुदायरूप होता है। कोई कार्य अनेक सत्त्व-रजस्-तमस् के संघात के विना हो नहीं सकता। प्रकृति का सबसे पहला कार्य महत् अर्थात् बुद्धि है। उसके अनन्तर अहंकार, मन और इन्द्रियां हैं। फिर सम्पूर्ण भूत और शरीरादि की उत्पत्ति होती है। ये सब संघातरूप पदार्थ परार्थ हैं, अर्थात् ये अन्य किसी के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये हैं। यह लोक में प्रमाणसिद्ध बात है, कि एक संघात दूसरे किसी संघात के प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता। जब यह एक प्रमाणित नियम है, कि संघात 'परार्थ' होता है, और वह 'पर' एक संघात-मात्र हो, तो वह संघात ['पर' रूप संघात] भी किसी अन्य के लिये होगा। यदि वह अन्य भी संघात है, तो उसे किसी दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये मानना होगा, इसप्रकार 'पर' को संघात मानने पर अनवस्था हो जाती है। अतः उक्त नियम को व्यवस्थित बनाने के लिये यह स्वीकार करना पड़ता है, कि वह 'पर' असंहत होना चाहिये। फलतः प्रकृति से विलक्षण एक अन्य तत्त्व का अस्तित्त्व हमारे सन्मुख आता है, क्योंकि प्रकृति अचेतन एवं परिणामिनी है, इसलिये उससे विलक्षण एक असंहत अवि-कारी चेतन का अस्तित्त्व स्वीकार किया जाता है। इसप्रकार प्रकृति के बुद्धि, अहंकार, मन इन्द्रियां, शरीर आदि संघात, एक चेतन तत्त्व के प्रयोजन को पूरा करते हैं। प्रकृति के इस अनन्त निर्माण की सार्थकता उसी समय है, जब इसका उपयोग करने वाले एक चेतन तत्त्व को अंगीकार कर लिया जाता है।

बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियां, सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर के अतिरिक्त जितना बाह्य जगत् है, वह सब बुद्धि आदि साधनों के द्वारा चेतन के प्रयोजन को पूरा करता है, शयन आसन, रथ, गृह आदि का उपयोग चेतन करता है। यद्यपि क्षेत्र, उदक, सूर्य, वायु आदि शस्य आदि के उपकारक हैं, परन्तु शस्य आदि का उपयोग चेतन के ही लिये होता है। फिर क्षेत्र, उदक, सूर्य, वायु आदि पदार्थ अन्यथा भी चेतन के उपकारक हैं। संस्कृत के एक कवि ने इस भावना को संक्षेप से सुन्दर शब्दों में इसप्रकार बांधा है—

'पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नोदकं फलानि खादन्ति स्वयं न वृक्षाः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतवे परोपकाराय सतां विभूतयः ॥

नदियां अपने जल को स्वयं नहीं पी जातीं, वृक्ष भी अपने फलों को स्वयं नहीं खाते, मेघों की अजस्र जल वर्षा उनके किसी अपने कल्याण के लिये नहीं होती, वस्तुतः संसार की ये सब विभूतियां दूसरे का भला करती हैं। निश्चित है, कि इस सब प्राकृतिक ऐश्वर्य का उपयोग चेतन के द्वारा किया जाता है। इसलिये समस्त प्रकृति एवं प्राकृत जगत् से विलक्षण चेतन तत्त्व का अस्तित्त्व सिद्ध होता है।

**आत्मा के अस्तित्त्व में दूसरा हेतु**—(२) इसी प्रसंग में दूसरा हेतु उपस्थित किया

गया है—'त्रिगुणादिविपर्ययात्'। त्रिगुण हैं—सत्त्व-रजस्-तमस्; आदि पद उनके परिणाम अन्योन्यमिथुनवृत्तिता, उनकी जड़ता, अविवेकिता आदि धर्मों का बोधक है। सत्त्व आदि जगत् के मूल उपादान तथा उनके परिणाम आदि धर्मों से सर्वथा विपरीत एक अन्य तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। यह हेतु एक अंश में पहले हेतु का पूरक होते हुए एक अतिरिक्त अर्थ का संकेत करता है। पहली बात इसलिये है, कि कोई संघात केवल पर-प्रयोजन को सिद्ध करता है, और प्रत्येक संघात त्रिगुणात्मक है, तो संघात के अतिरिक्त वह 'पर'--जिसके लिये यह संघात है--अवश्य त्रिगुणात्मक नहीं होगा। इसलिये त्रिगुणादि से विपरीत एक अस्तित्व सिद्ध होता है, और वह त्रिगुणातीत चेतन का अस्तित्व है, जिसके प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये यह जगत् है, उस चेतन को आत्मा अथवा जीवात्मा कहा गया है। परन्तु इससे अतिरिक्त एक और चेतन है, जिसका कोई अपना प्रयोजन इस संसार से पूरा नहीं होता, वह स्वयं पूर्णकाम है। जब जगत् से उसका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, तब प्रथम हेतु के क्षेत्र से वह बाहर रह जाता है, पर है वह त्रिगुणातीत, अतः उसके अस्तित्व को स्पष्ट करने के लिये इस द्वितीय हेतु को प्रस्तुत किया गया है। त्रिगुणादि–विपर्यय से जीवात्मा के समान उससे अतिरिक्त एक ऐसे चेतन का अस्तित्व सिद्ध होता है, जो त्रिगुणातीत अर्थात् प्रकृति से सर्वथा भिन्न तो है, पर प्रकृति के द्वारा कोई प्रयोजन उसका पूरा नहीं किया जाता। तीसरा हेतु इन्हीं भावों की पुष्टि करता है।

**आत्मा के अस्तित्व में तीसरा हेतु**—(३) तीसरा हेतु है—'अधिष्ठानाच्चेति'। जितना अचेतन जगत् है, सब त्रिगुणात्मक है, और प्रत्येक त्रिगुणात्मक वस्तु का कोई अन्य अधिष्ठाता रहता है, जो अचेतन में प्रवृत्ति का कारण होता है। जैसे रथ आदि अचेतन की प्रवृत्ति का हेतु एक यन्ता अधिष्ठाता है, इसी प्रकार बुद्धि से लेकर स्थूलभूतनिर्मित शरीर तक जितना यह संघात है, इसमें प्रवृत्ति का हेतु कोई चेतन अधिष्ठाता होना चाहिये। उसका नाम आत्मा है। जैसे इस शरीर का नियन्ता कोई एक चेतन है, वैसे ही अखिल अचेतन प्रकृति का कोई एक चेतन नियन्ता अधिष्ठाता होना चाहिये। क्योंकि इस शरीर का अधिष्ठाता आत्मा अल्पज्ञ व अल्पशक्ति होने के कारण अखिल प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं हो सकता, इसलिये इस समस्त जगत् का एक अधिष्ठाता, आत्मा से अतिरिक्त परमात्मा है। द्वितीय हेतु के समान यह हेतु जीवात्मा और परमात्मा-रूप उभय चेतन के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किया गया है। त्रिगुणात्मक प्रकृति से भिन्न चेतन के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये महर्षि कपिल ने जिन पांच हेतुओं का यहां निर्देश किया है, उनमें से द्वितीय और तृतीय हेतु, जीवात्मा के अतिरिक्त परमात्मा के अस्तित्व को भी सिद्ध करते हैं। इस विशेषता का संकेत करने के लिये सूत्रकार ने इस सूत्र में 'च' और 'इति' इन दो पदों का अधिक निर्देश किया है। प्रथम पद परमात्मा की सिद्धि में द्वितीय हेतु का संग्रह करता है, और दूसरा 'इति' इन दो हेतुओं के द्वारा उक्त अर्थ की सिद्धि की समाप्ति का द्योतक है। अभिप्राय यह है, कि इन हेतुओं में सर्वप्रथम हेतु केवल

जीवात्म-चेतन के अस्तित्व को स्पष्ट करने के लिये है, जब कि अगले दोनों हेतु जीवात्मपरमात्मरूप उभय चेतन को सिद्ध करते हैं, और यह स्थिति इसी हेतु पर समाप्त हो जाती है। इसके आगे अन्तिम दोनों हेतु केवल जीवात्म-चेतन के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

**परमात्मा के अस्तित्त्व में हेतु**—इन हेतुओं के जो व्याख्यान सांख्यसप्तति के व्याख्याकारों ने किये हैं, उनसे उक्त अर्थ के संकेत स्पष्ट रूप में मिलते हैं। सबसे प्राचीन व्याख्याकार आचार्य माठर ने लिखा है—[1] "कोई वस्तु अधिष्ठाता के विना सम्भव नहीं, लोक में जिस प्रकार रथ, सारथि से अधिष्ठित हुआ प्रवृत्त होता है, अनधिष्ठित नहीं। यदि चेतन अधिष्ठाता न रहे, तो शरीर का नाश हो जाय। षष्टितन्त्र में कहा है–'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते', अर्थात् पुरुष से अधिष्ठित प्रधान प्रवृत्त होता है। इस कारण हम समझते हैं, कि वह परमात्मा चेतन है, जिससे अधिष्ठित हुआ प्रधान महत् अहंकार आदि कार्यों को उत्पन्न करता है, अतः चेतन का अस्तित्व सिद्ध होता है।"

माठर के लेख से स्पष्ट है, कि वह इस हेतु के द्वारा प्रकृति के अधिष्ठाता परमात्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। माठरवृत्ति से अर्वाचीन और सांख्यसप्तति की शेष सब व्याख्याओं से प्राचीन युक्तिदीपिका में इस हेतु की व्याख्या करते हुए लिखा है– "यदि[2] प्रधान में प्रवृत्ति, विना किसी कारण के आकस्मिक मान ली जाय, तो उन-उन प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिये वस्तुओं के विशेष आकार-प्रकार और उनकी रचना तथा अवयव-सन्निवेश आदि की जो व्यवस्था देखी जाती है, वह सब नहीं रहेगी। देव मनुष्य तथा पशु-पक्षियों में हित के उत्पादन तथा अहित के निवारण के लिये श्रोत्र आदि इन्द्रियों तथा पृथिव्यादि भूतों एवं उनके विकारों का एक व्यवस्थित अवयव-सन्निवेश है। इससे निश्चित होता है, कि प्रधान से अतिरिक्त कोई ऐसा तत्त्व अवश्य है, जिससे अधिष्ठित हुए गुण विविध सृष्टि के रूप में परिणत होने के लिये समर्थ होते हैं। ...इसलिये चेतन से नियन्त्रित होने के कारण गुण चेतन से अधिष्ठित हैं, यह सिद्ध होता है।"

यह निश्चित है, कि समस्त प्रकृति का नियामक या अधिष्ठाता कोई एक जीवात्म–

---

१– न ह्यन्तरेण अधिष्ठातारं भवति वस्तुजातम्। तद्यथेह लोके रथः सारथिनाधिष्ठितः प्रवर्त्तते। अथ सारथिनानधिष्ठितः प्रवर्त्तते शरीरनाशः स्यात्। अपि चोक्तं षष्टितन्त्रे– –पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते। ततः पश्यामोऽसौ परमात्मा अस्ति पुरुषः येनाधिष्ठितं प्रधानं महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतान्युत्पादयति। तस्मादस्ति पुरुष इति। [माठरवृत्ति, १७]

२– इहाकस्मिक्यां प्रधानप्रवृत्तावर्थवशः सन्निवेशविशेषनियमो न स्यात्। श्रोत्रादि–पृथिव्यादीनां देव-मानुष-तिर्यक्षु हितयोगार्थश्चाहितप्रतिषेधार्थश्च सः। तस्मादस्ति तद्व्यतिरिक्तो यदधिष्ठितानां गुणानामयं चित्ररूपो विपरिणामः।— इत्यतस्तत्पारतन्त्र्यादेषामधिष्ठितत्वमुपपद्यते। [युक्तिदीपिका, १७]

चेतन नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम तो वह अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति है, दूसरे यह व्यवस्था नहीं की जा सकती, कि अनन्त जीवात्म-चेतनों में से कौनसा एक प्रकृति का नियामक होगा। एक साथ अनेकों के नियन्ता माने जाने पर बुद्धि-भेद होने से रचना एवं व्यवस्था में एकसूत्रता असम्भव है। यदि मुक्त जीव को नियामक माना जाय, तो भी ये दोष बराबर उपस्थित होते हैं। मुक्त जीव भी अनेक, हैं, उनमें से कौन एक नियामक होगा, इत्यादि। इसलिये जीवात्मचेतन के अतिरिक्त कोई एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी चेतन का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है, जो समस्त विश्व का नियमन करता है।

यह एक सर्वथा अशुद्ध धारणा है, कि कपिल ईश्वर को नहीं मानता, अथवा चेतन की अपेक्षा के विना प्रकृति में प्रवृत्ति को स्वीकार करता है। इसका प्रतिपादन अभी आगे ईश्वर प्रसंग में किया जायगा। वस्तुस्थिति यह है, कि सांख्य-परम्परा में ऐसा सर्वप्रथम आचार्य वार्षगण्य है, जिसने प्रकृति की प्रवृत्ति में चेतन-निरपेक्षता की कल्पना का प्रसव किया। अनन्तरकाल में बौद्ध-परम्परा ने इसी का आश्रय पाकर सम्पूर्ण सांख्य तथा कपलि को भी इसी में अन्तर्भुक्त करने का प्रयत्न किया है। इन सब अर्थों का विवेचन अभी ईश्वर प्रसंग में होगा। फलतः कापिल सांख्य में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, कि प्रकृति का अधिष्ठाता एक चेतन परमात्मा है।

**आत्मा की सत्ता में चौथा हेतु**—(४) प्रकृति से अतिरिक्त चेतन के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये चौथा हेतु महर्षि कपिल ने 'भोक्तृभावात्''[१] प्रस्तुत किया है। समस्त प्राकृत त्रिगुणात्मक जगत् भोग्य है। यदि यह कहा जाय, कि अचेतन मात्र भोग्य हैं तो कोई दोष नहीं। किसी भोग्य की उपयुक्तता या सफलता उसी समय मानी जा सकती है, जब उसका कोई भोक्ता हो। इसप्रकार, भोग्य जगत् का कोई भोक्ता चेतन मानना पड़ता है। स्वयं भोग्य, भोक्ता नहीं हो सकता, इसलिये अचेतन प्रकृति से अतिरिक्त चेतन भोक्ता आत्मा को सांख्य में स्वीकार किया गया है।

इस हेतु-पद की व्याख्या करते हुए कुछ व्याख्याकारों ने इस त्रिगुणात्मक भोग्य जगत् के सर्ग-प्रलय को भोजन का रूप दिया है, तथा सर्ग-प्रलय का नियमन करने वाले परमात्मा को भी इस रूप में भोक्ता ठहराया है। जगत् का सर्ग, भोजन का निर्माण है, और प्रलय उसको खा जाना अथवा भोगना है। यह निश्चित है कि इसप्रकार का भोक्तृत्व सर्वथा गौण है, और वर्णनात्मक कल्पना पर आधारित है। क्योंकि प्रकृतिरूप वृक्ष पर वास्तविक रूप में उसके फलों को भोगने वाला केवल आत्मा है, परमात्मा तो न भोगता हुआ [अनश्नन्] ही सदा एकरस प्रकाशित रहता है।[२] फलतः भोग्य जगत्,

१. **सांख्यषडध्यायी, १।१०८॥**

२. **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥**
**[ऋ० १।१६४।२०]**

भोक्ता आत्मा और नियन्ता एवं प्रेरिता परमात्मा,[1] इनके इस प्रकार के अस्तित्व को स्पष्ट करने वाली, अखिल विश्व को उसके वास्तविक रूप में समझने की यह प्रक्रिया सर्वाधिक सामञ्जस्यपूर्ण है, जो सांख्य में प्रतिपादित है।

**आत्मा की सत्ता में पांचवां हेतु**—(५) इस प्रसंग में पांचवां हेतु है—'कैवल्यार्थं प्रवृतेः[2]' कैवल्य मोक्ष का नाम है, इसीको सांख्य में 'अत्यन्तपुरुषार्थ' कहा है। प्रत्येक मानव कष्ट व दुःखों से बचना चाहता है। यह निश्चित है, कि ये दुःख आदि द्वन्द्व प्रकृति के साथ सम्पर्क होने पर प्राप्त होते हैं। इस स्थिति से बच जाना कैवल्य है, प्रकृति के साक्षात् सम्पर्क से रहित केवल आत्मा की स्थिति। चेतन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने पर ही प्रकृति के साथ उसके सम्पर्क की कल्पना की जा सकती है। इसप्रकार जिसके कैवल्य के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति है, ऐसे चेतन के अस्तित्व को स्वीकार किया जाना चाहिये। दूसरे रूप में दुःखों से बचने के लिये जो प्रवृत्त होता है, अवश्य ही दुःखाद्यात्मक प्रकृति से अतिरिक्त उसका अस्तित्व होगा, और वही चेतन आत्मा है। इन सब आधारों पर त्रिगुणात्मक अचेतन प्रकृति से भिन्न चेतन तत्त्व के अस्तित्व को सांख्य में स्वीकार किया गया है।

**चेतन के दो वर्ग—**

निर्दिष्ट हेतुओं के आधार पर चेतन के अस्तित्व को स्पष्ट करते हुए महर्षि कपिल ने यह संकेत किया है, कि चेतन का वर्णन दो वर्गों में किया जाना चाहिये, एक **परमात्मा** तथा अन्य **जीवात्मा**। यद्यपि इनके चैतन्य रूप में कोई अन्तर नहीं है, पर इनका अस्तित्व एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। आगे वर्णित इनकी स्थिति से यह भेद स्पष्ट हो जायगा।

**परमात्मा**—इनमें परमात्मा व्यक्तिरूप से एक है, जब कि जीवात्मा संख्या में अनन्त हैं। जीवात्म-सम्बन्धी विशेषताओं का वर्णन प्रसंगानुसार आगे किया जायगा। परमात्मा का जो स्वरूप वेदादि सत्य शास्त्रों में वर्णन किया गया है, सांख्य का उससे कोई विरोध नहीं, प्रत्युत अधिष्ठाता, सर्वकर्त्ता, सर्वान्तिर्यामी, सर्वज्ञ, ईश्वर आदि पदों से सांख्य में उसका उल्लेख किया गया है। यह एक सर्वथा अशुद्ध धारणा है, कि कापिल सांख्य निरीश्वरवादी है। सांख्य के सम्बन्ध में सेश्वर-निरीश्वरवाद की कल्पना करके मध्ययुगीन विद्वानों ने जो कापिल सांख्य को निरीश्वर और पातंजल योग को सेश्वर कह कर वर्णन किया है, वह इसी प्रकार का है। क्योंकि सांख्य को निरीश्वरवादी जिस आधार पर बताया जाता है, वह यह है, कि प्रकृति को जगत् के निर्माण में वह स्वतन्त्र

---

१, **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।** [श्वेता० १।१२]

**तथा, [ऋ० १०।१२९।२]**

२. **सांख्यषडध्यायी १।१०९।। इन पाँचों हेतुओं का निर्देश, षडध्यायी सूत्रों के आधार पर साँख्यसप्तति [१७] में इसी रूप में किया गया है।**

अर्थात् सर्वथा चेतननिरपेक्ष मानता है। यद्यपि यह कथन सर्वथा अशुद्ध है, पर शंकर आदि विद्वानों ने इसी आधार पर सांख्य का प्रत्याख्यान किया है, और यह आधार पातंजल योग में भी ठीक वैसा ही है। पातंजल योग में प्रकृति को जगत् का कारण उसी रूप में माना गया है, जिस रूप में सांख्य में। योग में जो ईश्वर का वर्णन है, वह प्रकृति के नियामक व प्रेरक रूप में नहीं है, प्रत्युत समाधिभावना के लिये उसके वाचक 'प्रणव' आदि के जप का वहां निर्देश किया गया है, और ईश्वर का प्रणिधान साक्षात् समाधिलाभ का उपाय बताया है।[1] वह निरतिशय सर्वज्ञ है, और भाष्यकार ने उसके अस्तित्व को ज्ञान धर्म के उपदेश द्वारा संसारी पुरुषों के उद्धार एवं अनुग्रह के लिये माना है। इसप्रकार जगत् के निर्माण में जब योगदर्शन ईश्वर के उपयोग का कोई उल्लेख नहीं करता, और जगत् के प्रति प्रकृति की स्थिति को वह सांख्य के समान स्वीकार करता है, तब केवल जपादि उपयोग के लिये ईश्वर का उल्लेख कर देने से वह सेश्वर और सांख्य निरीश्वर कैसे ? जब कि इसके विपरीत योग की अपेक्षा सांख्य में ईश्वर का वर्णन अधिक है, और जगत्-निर्माण में उसकी वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करता है। सांख्य के उन प्रसंगों को यहां स्पष्ट कर देना सर्वथा उपयुक्त होगा।

**साँख्य में ईश्वर का प्रसंग—**

सर्वप्रथम सांख्यषडध्यायी के प्रथम अध्याय में एक ऐसा प्रकरण है, जिसके आधार पर यह कहा जाता है, कि सांख्य में ईश्वर का निराकरण किया गया है। यह प्रसंग ५७ सूत्र से प्रारम्भ होकर ६१ सूत्र पर समाप्त होता है। इसको अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिये इससे पहले दो सूत्रों के भाव को जान लेना अत्यावश्यक है। ५४वें सूत्र में 'प्रत्यक्ष' का लक्षण किया गया है।[2] इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध होता है और इन्द्रियद्वारा बुद्धि विषयाकार हो जाती है, तब बुद्धिसम्पर्क से आत्मा उस विषय को जान लेता है, यह ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। इस लक्षण में एक दोष उपस्थित किया गया, कि योगी के प्रत्यक्ष में यह लक्षण संगत नहीं होता, क्योंकि योगी को योगज धर्म अथवा योगज शक्ति के आधार पर जो किसी विषय का प्रत्यक्ष होता है, उसमें उस विषय [पदार्थ] की उपस्थिति अथवा उसके साथ सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं माना जाता। वह अतीत-अनागत वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर सकता है। इसलिये उक्त प्रत्यक्ष लक्षण—जिसमें विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध आवश्यक बताया गया है—योगी के प्रत्यक्ष में संगत नहीं रहता। इस आशंका के दो उत्तर अगले दो सूत्रों से यथाक्रम दिये गये हैं।

---

१. देखें—पातऽजल योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र २३ से २८ तक।

२. यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्। इस प्रसंग में साँख्य सूत्रों की जो क्रमसंख्या दी गई है, वह हमारे सम्पादित व व्याख्यात साँख्यदर्शन के अनुसार है। इसमें ३५ जोड़कर अन्य किसी संस्करण में उस सूत्र को देखा जा सकता है।

पहला[1] उत्तर ५५ सूत्र में इस प्रकार है— ५४वें सूत्र में प्रत्यक्ष का लक्षण, बाह्य प्रत्यक्ष अथवा लौकिक प्रत्यक्ष की दृष्टि से किया गया है, जो विषय के साथ इन्द्रियसम्बन्ध के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता; परन्तु योगी का प्रत्यक्ष तो अलौकिक है, अथवा आन्तरिक प्रत्यक्ष है, बाह्य नहीं। इसमें बाह्य इन्द्रियों का कोई उपयोग नहीं होता। इसलिये उक्त प्रत्यक्षलक्षण की सीमा में योगी का प्रत्यक्ष आता ही नहीं। यह उस प्रत्यक्ष का लक्षण है, जो प्रत्येक साधारण जन को होता है। इसप्रकार उक्त प्रत्यक्षलक्षण में योगी के प्रत्यक्ष को लेकर दोष की उद्भावना नहीं की जा सकती।

उक्त आशंका का दूसरा उत्तर ५६वें सूत्र[2] से दिया गया है। उसका आशय यह है, कि सांख्यसिद्धान्त के अनुसार किसी कार्य का सर्वथा नाश नहीं होता। प्रत्येक कार्य कारणरूप से सदा अपने मूल उपादान में विद्यमान रहता है। इसप्रकार यह सम्पूर्ण दृश्य अदृश्य कार्य जगत् अपने मूल उपादान त्रिगुणात्मक प्रधान में कारणरूप से बना रहता है। योगी को योगज शक्ति के द्वारा इतना अतिशय प्राप्त हो जाता है, कि वह मूल प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, और कारण रूप में विद्यमान अपेक्षित कार्यमात्र [अभिलषित समग्र विषय] का साक्षात् कर लेता है। इसप्रकार योगी का विषय के साथ सम्बन्ध बन जाता है। पहले उत्तर में प्रत्यक्षलक्षण की सीमा से योगी के प्रत्यक्ष को बाहर कर दिया है, और दूसरे उत्तर में योगी के प्रत्यक्ष को भी प्रत्यक्ष लक्षण में अन्तर्भुक्त कर लिया है।

## उपादान ईश्वर अमान्य —

कार्यरूप में अवर्त्तमान भी विषय के साथ योगी का सम्बन्ध स्थापन करने के लिये कार्यमात्र के त्रिगुणात्मक मूल उपादान प्रधान के साथ उसके सम्बन्ध का जो निर्देश किया गया है, इसमें त्रिगुणात्मक मूल उपादान की सत्ता को सहन न करता हुआ वादी चुनौती देता है, और कहता है, कि श्रुति के आधार पर अखिल ब्रह्माण्ड का मूल उपादान ईश्वर है। जगत्सर्ग के प्रसंग में उपनिषद् ब्रह्म नाम से उसी का उल्लेख करती हैं। तुम त्रिगुणात्मक प्रधान को जगत् का मूल उपादान श्रुति के विरुद्ध कैसे कहते हो? कपिल इस आक्षेप का उत्तर अगले ५७वें सूत्र से देता है। वह सूत्र है—'ईश्वरासिद्धेः'। यह कहना सर्वथा असंगत है, कि ईश्वर जगत् का मूल उपादान है, क्योंकि जगत् के मूल उपादानभूत ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता। अर्थात् ऐसे ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता, जो जगत् का मूल उपादान हो। क्योंकि किसी भी चेतन के अस्तित्त्व की दो अवस्थाएं मानी जा सकती हैं— मुक्त अथवा बद्ध। यदि ईश्वर मुक्त है, तब जगत् उसका परिणाम कैसे होगा? उस अवस्था में ईश्वर परिणामी हो जायगा, वह मुक्त नहीं

---

१. योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः।
२. लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धद्वाऽदोषः।५६।
३. मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः।५६।

रह सकता। यदि बद्ध माना जाय, तो धर्म-अधर्म आदि के साथ सम्बन्ध होने से वह ईश्वर कैसे रहेगा? इसप्रकार किसी भी अवस्था में जगत् का उपादानभूत ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त एक बात और है, ईश्वर को चाहे बद्ध मानिये या मुक्त, उसमें कोई आपत्ति न हो, पर दोनों[1] अवस्थाओं में उसे चेतन तो मानना पड़ेगा। यह स्पष्ट सिद्ध है, कि दृश्य-अदृश्य सम्पूर्ण जगत् अचेतन है। तब चेतन ईश्वर का जगद्रूप अचेतन परिणाम कैसे सम्भव हो सकता है? यदि चेतन ईश्वर का अचेतन परिणाम वस्तुभूत माना जाता है, तो उस ईश्वर को परिणामी-विकारी होने से कोई बचा नहीं सकता। ऐसा ईश्वर कहीं शास्त्रों अथवा श्रुतियों में स्वीकार नहीं किया गया। इसलिये जगत् का उपादान ईश्वर असिद्ध है।

**उपनिषदों में ईश्वर की उपादानता—**

यदि ऐसा है, तो उपनिषद् आदि में ईश्वर का इस रूप में वर्णन क्यों किया गया है? वहां के अनेक वर्णन इस बात को प्रकट करते हैं, कि चेतन ईश्वर जगत् का उपादान है।[2] "उसने देखा, मैं बहुत हो जाऊं, उत्पन्न होऊं। उसने कामना की मैं बहुत हो जाऊं, उत्पन्न होऊं। उसने इस सब को सृजा, जो कुछ यह है। यह (जगत्) आत्मा है, जो पहले अकेला ही था, और कोई उस समय जीवित न था, उसने देखा, मैं लोकों की रचना करूं। उसने इन लोकों को रच दिया। उसने स्वयं अपने-आपको बनाया। वह आदेश [नियन्ता-तत्त्व] क्या है, जिस एक के जान लेने से अज्ञात जान लिया जाता है। जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड के जान लेने से सम्पूर्ण मृद्विकार जाना जाता है, जैसे एक स्वर्ण पिंड के

---

३. उभयथाप्यसत्करत्वम्।५६। यहां सूत्रों की जो क्रमसंख्या दी गई है, वह हमारे संपादित व व्याख्यात सांख्यदर्शन के अनुसार है। इसमें ३५ जोड़कर अन्य किसी भी संस्करण में उस सूत्र को देखा जा सकता है।

२. तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय [छा० ६।२।३] सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय [ तै०२।६ ] इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च [ तै० २।६ ] आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत [ऐत० १।१।१] तदात्मानं स्वयमकुरुत [ तै० २।७ ] उत तमादेशमप्राक्ष्यः। येन...... अविज्ञातं विज्ञातं...भवतीति। यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्।... यथा एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्...सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति [छा० ६।१।२—५॥६।२।२—३ ] कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।... तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्। [मुण्डक० १।१।३,६,७]

ज्ञान से समस्त स्वर्णविकार जाना जाता है?……वह 'सत्' है, जो मूल में एकमात्र है, उसीने इस सबकी रचना की। किसके जान लेने पर यह सब जाना जाता है,……वह अव्यय भूतयोनि परमात्मा है। जैसे मकड़ी जाला बुनती और समेट लेती है, जैसे पृथिवी में ओषधि उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित पुरुष से केश तथा लोम; इसी प्रकार सर्ग अवस्था में अक्षर से यह विश्व सम्भूत होता है।" इत्यादि अनेक वर्णन उपनिषदों में ऐसे पाये जाते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है, कि चेतन परमात्मा जगत् का उपादान है। तब सांख्य का यह कहना कैसे संगत हो सकता है, कि जगत् का उपादानभूत ईश्वर असिद्ध है।

उपनिषदों में उपर्युक्त भावना के प्रतिपादक कहे जाने वाले अनेक लम्बे-लम्बे प्रकरण हैं, पर यहां थोड़े से वाक्यों का दिग्दर्शनमात्र के लिये संग्रह किया है, फिर भी उन समस्त प्रकरणों की तथाकथित मूल भावना का पूर्ण प्रतिनिधित्व इन वाक्यों के द्वारा प्रस्तुत हो जाता है। इनमें मुख्यतया तीन प्रकार के वर्णन हैं, जिनमें इसप्रकार के प्रायः सब विचारों का समावेश हो गया है। कुछ वाक्य ऐसे हैं, जो साधारण रूप से ईश्वर को जगत् का कारण बताते हैं, उनमें ईश्वर की उपादानता का गन्ध भी नहीं है। अनेक संदर्भ ऐसे हैं जो अलंकारपूर्ण भाषा में प्रस्तुत किये गये हैं, और उनके वास्तविक अर्थों को उस सीमा तक नहीं ले जाना चाहिये, जिस सीमा तक आपाततः प्रतीत होते हैं। थोड़े सन्दर्भ ऐसे हैं, जिनकी व्याख्या ईश्वर की उपादानता को प्रकट करने के लिये सरलता से झुकाई जा सकती है, यद्यपि उनका मूल अभिप्राय ऐसा नहीं रहता। इसप्रकार की विचारधारा को केवल इसलिये अवकाश दिया जाता है, कि इनको स्वीकार करने वाले विद्वानों ने एक चेतन ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व के वास्तविक अस्तित्व को नहीं माना। उन्होंने कहा—परमार्थ सत् एक ही चेतन वस्तु है। शेष सब माया मात्र है।

परन्तु यह विचारधारा उतनी तर्कपूर्ण व प्रामाणिक प्रतीत नहीं होती। क्योंकि जब यह कहा जाता है, कि परमार्थ सत् एक ही चेतन है, शेष सब मायामात्र है, तब उनमें एक चेतन से अतिरिक्त परमार्थ सत्ता को स्वीकार कर ही लिया जाता है। कारण यह है, कि परमार्थ सत् का स्वरूप क्या है? जो वस्तु या तत्त्व सदा एकरस रहे, जिसका अपने मूलरूप से कोई अन्य रूपान्तर न हो सके, अथवा जो त्रिकालाबाध्य हो, तीनों कालों में जिसका अस्तित्व बराबर बना रहे। अब प्रश्न यह है, कि एक चेतन है, शेष माया है, यह माया क्या है? क्या यह चेतन का ही स्वरूप है? नहीं। तो क्या यह चेतन का स्वरूप नहीं है? नहीं। इसे चेतन का स्वरूप नहीं कहा जा सकता, और न यह कहा जा सकता, कि चेतनस्वरूप नहीं है। तब क्या कहा जा सकता है? इसको चेतन स्वरूप से भिन्न, अभिन्न अथवा उभयरूप न होने के कारण अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। ठीक है। क्या चेतन ईश्वर भी अनिर्वचनीय है? नहीं, वह सच्चिदानन्द स्वरूप है, और उसका इसी रूप में निर्वचन अर्थात् वर्णन किया जाता है। क्या माया भी कभी इस रूप में निर्वचनीय

हो सकती है ? कभी नहीं । तब इसका परिणाम यह निकला, कि आप भले ही आग्रह से इस बात को न कहें या मानें, पर माया आपके ही कथनानुसार चेतन से सर्वथा भिन्न ठहरती है । क्योंकि चेतन निर्वचनीय और माया अनिर्वचनीय है । तथा ये दोनों अपने स्वरूप का कभी परित्याग नहीं करते, इसलिये ये कभी एक नहीं हो सकते । जैसे चेतन का अस्तित्व तीनों कालों में बराबर एकरूप बना रहता है, वैसे ही माया का अपना अस्तित्व सदा बना रहता है । इसलिये वह परमार्थ सत्ता वाली क्यों नहीं कही जा सकती ।

इस प्रसंग में बताया जाता है, कि रज्जु में सर्प का भ्रम माया का कार्य है, इसका अस्तित्व उसी समय तक है, जब तक रज्जु को रज्जु नहीं समझ लिया जाता । समझ लेने पर मायाकार्य का अस्तित्व नहीं रहता । इसी प्रकार चेतन ब्रह्म अथवा परमेश्वर में यह जगत् मायावश भास रहा है, चेतन को अपना साक्षात् होने पर माया का अस्तित्व नहीं रहता, फिर उसे परमार्थ सती कैसे कहा जायगा ? सुनिये, क्या चेतन ब्रह्म की कोई ऐसी अवस्था है, जब उसे अपना साक्षात् ज्ञान नहीं रहता ? यदि है, तो उसे अल्पज्ञ, अज्ञानी, अल्पशक्ति मानना पड़ेगा, जबकि कोई ब्रह्मवादी न ऐसा मानता है, न मान सकता है । क्योंकि उस अवस्था में ब्रह्म अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है, यदि उसे सदा अपना साक्षात् ज्ञान है, तब यह जगत् को भासने के लिये उस पर माया का वश कैसे ? पर जगत् तो भास रहा है, तब माया के अस्तित्व से नकार कैसे किया जा सकता है ? वस्तु-स्थिति यह है, कि चेतन ब्रह्म अथवा परमेश्वर के अपने साक्षात् ज्ञान काल में भी माया का अस्तित्व है ही, माया के अस्तित्व के साथ ब्रह्म-साक्षात्कार का कोई विरोध नहीं है । यह अनादि काल से अपने रूप में चली आ रही है, और इसी प्रकार अनन्त काल तक चलती रहेगी । इसलिये उसके परमार्थ अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता । ऐसी अवस्था में केवल एक चेतन के अस्तित्व को परमार्थ मानने का आधार नष्ट हो जाता है । फिर जगत् के उपादानरूप में माया का अस्तित्व रहने पर चेतन परमेश्वर में जगत् के उपादान होने की कल्पना केवल कल्पना है, मिथ्या और निराधार ।

**उपनिषदों में ईश्वर की उपादानता वर्णित नहीं**—फलतः जिन औपनिषद वाक्यों के आधार पर जगत् का मूल उपादान परमात्मा को कल्पना किया जाता है, उनके अर्थ-गत वास्तविक स्वारस्य को विचारना होगा । ऐतरेय उपनिषद् का प्रारम्भिक सन्दर्भ परमेश्वर को जगत् का कारणमात्र बताता है, इसमें परमेश्वर की उपादानता की गन्ध तक नहीं है । वहां लिखा है—'यह समस्त सांसारिक विभूति उस चेतन परमेश्वर का चमत्कार है । सर्ग रचना से पूर्व वही एक था, उससे अतिरिक्त जो कुछ था, वह जीवित न था, अर्थात् प्रलय अवस्था में था, उसने देखा कि अब सर्ग होना चाहिये, मैं लोक-लोकान्तरों को बनाऊं, उसने इन लोक-लोकान्तरों को बनाया ।' जो आस्तिक जगत् की सर्ग-प्रलय अवस्था को जानते एवं मानते हैं, उन्होंने यह स्वीकार किया है, कि प्रलय अवस्था में जीव-चेतन सुप्तवत् रहते हैं, और यह जगत् वर्तमान सर्ग की अवस्था में न

रहकर अपने कारण में लीन रहता है, अर्थात् मूल उपादानरूप में अवस्थित रहता है। उस समय न सूर्य है न चन्द्र, न रात और न दिन का कोई चिह्न, न समुद्र है न अन्तरिक्ष और न लहलहाते हरे-भरे जंगल। उस समय केवल एक परमात्मा स्वधा के साथ रह जाता है । 'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ।' [ऋ० १०।१२९।२] स्वधा मूल प्रकृति का नाम है, जो इस जगत् का उपादान है। इसी वैदिक भावना को ऐतरेय उपनिषद् के प्रारम्भिक सन्दर्भ में निबद्ध किया गया है, कि 'सर्गरचना से पूर्व वही [परमेश्वर] एक था, उससे अतिरिक्त जो कुछ था, वह जीवित न था, अर्थात् प्रलय अवस्था में था ।' क्योंकि सर्ग-रचना करने वाला परमेश्वर है, स्वधा [प्रकृति] स्वयं कुछ कर नहीं सकती, वह चेतन की प्रेरणा से परिणाम की ओर प्रवृत्त होती है, इसलिये प्रलय अवस्था में परमेश्वर के अस्तित्व को मुख्य बताया गया है—'एक एवाग्र आसीत्' । ऋचा में भी 'आनीत्······स्वधया तदेकं' लिखा है। स्वधा का तृतीयान्त प्रयोग उसकी अमुख्यता का द्योतक है, और यह अमुख्यता इतने ही में निहित है, कि प्रकृति चेतन की प्रेरणा के विना स्वयं कुछ कर नहीं सकती, वह सदा चेतन से नियन्त्रित एवं अधिष्ठित है। इसप्रकार उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ में परमेश्वर की उपादानता के कोई चिह्न दिखाई नहीं देते।

छान्दोग्य तथा तैत्तिरीय उपनिषदों के वाक्य कुछ अलंकारपूर्ण भाषा में प्रस्तुत किये गये हैं—'उसने देखा व कामना की, कि मैं बहुत होजाऊं, मैं उत्पन्न होऊं' यदि इन पदों का ठीक इसी रूप में अर्थ समझ लिया जाता है, तो निश्चित रूप से यह मानना होगा, कि ईक्षण अथवा कामना करने वाला परमात्मा स्वयं बहुत रूप हो गया, और स्वयं वह उत्पन्न हुआ। यहां अनिर्वचनीय माया का किसी प्रकार का सम्पर्क प्रकट नहीं किया गया, और न यह कहा गया है, कि उस चेतन परमत्मा में यह जगत् मिथ्या भास रहा है, ऐसी स्थिति में चेतन परमेश्वर को विकारी होने से कोई बचा नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि उपनिषदों के अन्य वाक्यों का इसके साथ समन्वय करने पर यह भाव स्पष्ट हो जाता है, कि यह जगत् केवल मायिक है, तथा चेतन परमात्मारूप आधार में मिथ्या भास रहा है। वस्तुतः इसप्रकार के वाक्य भी बड़े रहस्य से भरे रहते हैं, इनका कोई एक निश्चित स्पष्ट अर्थ नहीं रहता। यदि जगत् केवल मायिक है, तो इसका यही अर्थ किया जा सकता है, कि वह केवल माया का विकार है। माया वैसे प्रकृति का ही नाम है, और उसका अपना वास्तविक अस्तित्व है, पर माया का चाहे जो रूप माना जाय, जगत् का उपादान तो वही होगा। परमात्मा को जगत् का आधार कहने से भी यह अभिप्राय नहीं निकलता, कि परमात्मा जगत् का उपादान मान लिया जाय। फिर परमात्मा को आधार मानने पर भी माया की उपादानता से उसका कोई विरोध नहीं है, जो परमात्मा को जगत् का आधार मानकर माया की उपादानता न रह सके। विश्व का आधार तो परमात्मा को इसी कारण कहा जाता है, कि वही इसके सर्ग-

प्रलय का नियन्ता व अधिष्ठाता है। आधार होने के नाते उसे स्वयं विकारी मानकर तो उसकी दुर्दशा ही करना है। उस स्थिति में उसे अपने स्वरूप से च्युत होना पड़ेगा। जब वह परमात्मा के आसन से उतर गया, तो परमात्मा कैसा? इसप्रकार उपनिषद् के अन्य वाक्यों के साथ प्रस्तुत वाक्यों का समन्वय किये जाने पर भी परमात्मा की जगत् के प्रति उपादानता स्पष्ट नहीं होती।

**वेद, उपनिषद् में ईश्वर की निमित्तकारणता**—इसके विपरीत इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है, कि अन्य उपनिषद् वाक्यों[1] तथा ऋचाओं[2] का प्रस्तुत[3] सन्दर्भों के साथ समन्वय करके यह क्यों नहीं स्पष्ट किया जा सकता, कि चेतन परमात्मा जगत् का केवल नियन्ता एवं अधिष्ठाता है, और उपादान है माया अर्थात् प्रकृति। जब कि चेतन को जगत् का उपादान मानने पर अनेक दोषों की उद्‌भावना हो जाती है, और परमेश्वर का जो स्वरूप शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है, उसमें क्षति आ जाती है। इसलिये 'ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय, अथवा 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादि औपनिषद वाक्यों का स्वारस्य इतने ही में है, कि प्रलय काल में वही एक सत्ता [परमेश्वररूप] ऐसी रहती है, जो अन्य सत्ताओं को प्रेरणा दे सकती है। सर्ग काल में फिर जीव-चेतन तथा प्रकृति के कार्य भी प्रेरणा देने—और विविध रूपान्तरों—में परिणत होते रहते हैं, यही परमेश्वर का बहुत-रूप होना है, क्योंकि इस सब रचना में मूल प्रेरणा उसी से प्राप्त होती है, एवं इस समस्त विश्व का नियन्ता एवं अधिष्ठाता वह सदा है। परन्तु उसका नियन्ता तथा अधिष्ठाता अन्य कोई नहीं है, यही उसका अपने आप को स्वयं करना है। अभिप्राय यह है, कि एक वास्तविक अर्थ को ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों के रचयिता ऋषि-मुनियों ने उक्त रीति पर प्रस्तुत किया है। एक रहस्यमय एवं लोकातीत अर्थ को इसप्रकार की अलंकारपूर्ण भाषा में प्रस्तुत करना कुछ असामंजस्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

तीसरे प्रकार के कुछ वाक्य उपनिषदों में ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनमें ईश्वर की उपादानता का सीधा आभास मिलता है। ऐसे वाक्यों में मुख्य वे हैं, जहां उपादानभूत तत्त्वों का उदाहरण देकर चेतनपरमात्मा को प्रस्तुत किया गया है। इसके लिये छान्दोग्य का छठा अध्याय विशेष उल्लेखनीय है। वह प्रसंग इस प्रकार प्रारम्भ होता है—आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु जब गुरुकुल से वेदादि शास्त्र पढ़कर घर वापस आता है, तब पिता को उसके व्यवहार से ऐसा प्रतीत होता है, कि पुत्र कुछ अभिमानी एवं गर्वीला हो रहा है, उसकी इस मिथ्या भावना को दूर करना होगा। पिता ने प्रश्न किया-सौम्य श्वेतकेतु! तुम विद्याध्ययन समाप्त कर आये हो, क्या तुमने वह 'आदेश' जाना है, जिसके जान लेने से अविज्ञात विज्ञात हो जाता है, अमत मत तथा अश्रुत श्रुत हो जाता है? श्वेतकेतु बोला—वह 'आदेश'

१—श्वेता० १।१२॥४।५॥
२—ऋ० १।१६४।२०॥
३—तै० २।६॥ ऐत० १।१।१॥ इत्यादि

कैसा होता है भगवन्! कुछ बताइये तो सही। आरुणि ने उत्तर दिया—जैसे एक मृत्पिण्ड के जान लेने पर सभी मृद्विकार जान लिये जाते हैं, इसमें विकार तो केवल कथन अथवा व्यवहार के लिये है, मृत्तिका ही सत्य है, सर्वत्र उसका अस्तित्व है। जैसे एक सुवर्णपिण्ड के समझ लेने पर जितने कटक कुण्डल रुचक आदि सुवर्णविकार हैं, सब जाने जाते हैं, इनमें विकार केवल वाग्व्यवहार के लिये है, सुवर्ण समानरूप से विद्यमान है, सोम्य श्वेतकेतु! इसी प्रकार वह 'आदेश' है। श्वेतकेतु बोला—ऐसे 'आदेश' को मैंने नहीं पढ़ा, गुरु जी इस तत्त्व को स्वयं जानते न होंगे, उन्होंने नहीं पढ़ाया, यदि वे जानते होते, तो अवश्य पढ़ाते। कृपया आप ही इसका उपदेश दीजिये। आरुणि ने कहा–अच्छा सोम्य! सुनो।

"यह सब पहले सत् ही था, केवल अकेला सत्। किन्हीं विद्वानों का ऐसा विचार है, कि सर्गकाल से पूर्व केवल असत् था, उस असत् से ही सत् उत्पन्न हो गया। पर प्रिय पुत्र! यह कैसे हो? असत् से सत् कैसे हो सकता है? इसलिये सर्गकाल से पूर्व सत् ही था, यही स्वीकार करना चाहिये। उस सत् ने ईक्षण किया अथवा संकल्प किया–मैं बहुत हो जाऊं, मैं उत्पन्न होऊं। उसने तेज की सृष्टि की। तेज ने ईक्षण किया—मैं बहुत हो जाऊं, उसने जलों की सृष्टि की। जलों ने ईक्षण किया—हम बहुत हो जायें, उन्होंने अन्न की रचना की,···इत्यादि।"

इस प्रसंग से यह परिणाम निकाला जाता है, कि जैसे मृद्विकारों का मूल मृत्तिका है, और सुवर्णविकारों का सुवर्ण; इसी प्रकार 'सत्' रूप आदेश है, जो अखिल विश्व का मूल है, समस्त संसार उसी का विकार है। परन्तु इस प्रसंग को अधिक वास्तविकरूप में समझने के लिये थोड़ा गहराई में उतरना होगा, यदि केवल ऊपरी शब्दों पर ही हम उतराते रहे, तो कदाचित् अर्थ की उतनी सचाई तक न पहुंच सकें। आरुणि और श्वेतकेतु का उपाख्यान चाहे केवल उपाख्यान हो, या सच्ची घटना, इससे हमें कुछ लेना-देना नहीं, परन्तु इस उपाख्यान के द्वारा उपनिषत्कार क्या समझाना चाहता है, यह देखना है। श्वेतकेतु जब गुरुकुल से अपना अध्ययन समाप्त कर घर वापस आता है, तो आत्मज्ञानी पिता आरुणि पुत्र के रंग ढंग को देखकर भांप जाता है, कि वेदादि शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी पुत्र, आत्मा की वास्तविकता को नहीं समझ पाया। उपनिषत्कार ने इस प्रसंग में श्वेतकेतु के लिये जो विशेषण दिये हैं—महामना, अनूचानमानी और स्तब्ध, इनसे उक्त भावना स्पष्ट होती है। साधारण जन की अपेक्षा अपने आप को ऊंचा और कुछ विलक्षण समझकर असाधारण मानने लगे, वह 'महामना' कहा जाता है। जो अपनी बराबर किसी को विद्वान् न समझे वह 'अनूचानमानी' और मिथ्याभिमान से युक्त पुरुष 'स्तब्ध' कहा जाता है। श्वेतकेतु के व्यवहार से आरुणि ने समझा, कि इसने अक्षर वर्ण मात्रा आदि के ज्ञान में ही चातुर्य प्राप्त किया है। मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य आत्मज्ञान की ओर इसकी दृष्टि नहीं जा पाई है। यह अभीतक आधिभौतिक जगत् को अपना परम ध्येय समझे बैठा है, तभी तो इसे अपने शरीर अपने ऐश्वर्य अपने शास्त्रज्ञान पर

इतना घमण्ड है। पिता ने आवश्यक समझा, कि पुत्र को सन्मार्ग पर लाने का यत्न करना चाहिये, ऐसा न हो, कि इस आत्म-ज्ञानी परिवार में यह अज्ञानी रह जाय। ऐसी स्थिति में आरुणि ने श्वेतकेतु से उक्त प्रश्न किया है। जो उत्तर आगे सम्पूर्ण छठे अध्याय में दिया गया है, उसका सार यही है, कि श्वेतकेतु समझ सके, कि इस भौतिक जगत् से चेतन तत्त्व परे है, और वैसा ही चेतनस्वरूप आत्मा श्वेतकेतु नामक देह में विराजमान है। केवल इतना ही श्वेतकेतु नहीं है, जो स्थूल देह हमारे सामने दृष्टिगोचर हो रहा है। इसप्रकार श्वेतकेतु ने आधिभौतिक जगत् से परे आत्मा को समझा, और उसके वहाने से इस मार्ग पर जाने वाले प्रत्येक जिज्ञासु ने।

इस रहस्य को समझाने के लिये जो उदाहरण प्रारम्भ में दिये गये हैं, उनका विवेचन आवश्यक है। वस्तुस्थिति यह है, कि इन उदाहरणों में कार्यकारणभाव को प्रकट करने की इतनी गहरी भावना नहीं है, जितनी कि सामान्य अथवा साजात्य को प्रकट करने की। किसी वर्ग की एक वस्तु या व्यक्ति को जानकर वर्ग के शेष भाग को विना किसी के बताये जान लिया जाता है। वर्गीय वस्तुओं का परस्पर कार्यकारणभाव आवश्यक नहीं। एक गौ या अश्व के जान लेने पर गोमात्र तथा अश्वमात्र का ज्ञान हो जाता है, एक शीशम या आम के पेड़ को पहचान लेने पर अज्ञात भी शीशम या आम ज्ञात हो जाते हैं; पर इनमें कार्यकारणभाव नहीं है। एक गौ या एक अश्व गोमात्र या अश्व-मात्र का कारण नहीं है। इसी प्रकार एक शीशम या आम को शेष शीशमों या आमों का कारण नहीं कहा जा सकता। ठीक ऐसे ही एक सुवर्णपिण्ड को जान लेने पर शेष सुवर्ण खण्डों को इसीलिये जाना जा सकता है, कि वह सुवर्ण खण्ड है। यह आवश्यक नहीं कि जाने हुए सुवर्ण पिण्ड का वह विकार होना चाहिये। पर सवर्ग होना आवश्यक है। यद्यपि उपनिषद् के प्रकृत वाक्यों में 'विकार' पद के निर्देश से कार्यकारणभाव ही नहीं प्रत्युत उपादानोपादेयभाव भी अभिप्रेत है, ऐसा ध्वनित होता है; परन्तु उदाहरणों के परस्पर सन्तुलन से उनमें वर्गभेद की भावना अधिक स्पष्ट है, मृत्पिण्ड सुवर्ण नहीं, और सुवर्णपिण्ड मृत्तिका नहीं। मृत् के जानने से सुवर्णपिण्ड अथवा सुवर्ण के जानने से मृत्पिण्ड का बोध नहीं होता। मूल में भी चेतन और अचेतन दो वर्ग हैं। अचेतन जगत् का मूल उपादान है, और चेतन मूल प्रेरक, इसी दृष्टि से चेतन को अनेकत्र 'आदि मूल' कहा जाता है। क्योंकि अचेतन, उपादान होता हुआ भी चेतन की प्रेरणा के विना कुछ कर नहीं सकता। इसी कारण उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण में आगे 'तेज' और 'अप्' में ईक्षण का निर्देश होने पर भी शंकर आदि व्याख्याकारों तक ने 'तेज' तथा 'अप्' में मुख्य ईक्षण नहीं माना; और उसमें 'सत्' को ही मुख्य ईक्षिता बताया है। इससे स्पष्ट होता है, कि शंकर आदि भी वास्तविकरूप में 'तेज' 'अप्' आदि को ईक्षिता का विकार नहीं मानते। फिर जहां

**१. तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय...। छा० ६।२।३॥ ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहि...। छा० ६।२।४॥**

सत्' के बहुत रूप होने का उल्लेख है, वहां भी यह नहीं है, कि सत्' ईक्षिता स्वयं तेज तथा अप् होगया, प्रत्युत वहां यही लेख है, कि ईक्षिता ने 'तेज' का सृजन[2] किया। इससे यही अर्थ स्पष्ट होता है, कि ईक्षिता चेतन ने तेज आदिको उनके अपने मूल उपादानों से उत्पन्न किया। इसी प्रकार आगे भी तेज से अप् और अप् से अन्न का उत्पादन करने वाला वही चेतन ईक्षिता है। ऐसी स्थिति में चेतन तत्त्व को उपादान कहना, उपनिषद् के आधार पर नहीं माना जाना चाहिये।

**न्दोग्य आदि में 'त्रिगुण' उपादान**——यह [illegible]हा जासकता है, कि यहां उस मूल उपादान का निर्देश क्यों नहीं किया गया ? वस्तुतः मूल [illegible]पादान के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये ही उपनिषद् का यह प्रकरण है। छठे अध्याय के [illegible] तीन चार खण्डों में उसी का वर्णन है। तेज-अप्-अन्नरूप में रजस् सत्त्व और तमस् का वर्णन किया गया है। इस प्रसंग के आधार पर शंकराचार्य ने जो भूतों के पञ्चीकरण का सिद्धान्त प्रस्फुटित किया है, वह सर्वथा अवैज्ञानिक और अशुद्ध है। इसका विस्तृत विवेचन 'विकार' नामक प्रकरण के भूतों की उत्पत्ति के प्रसंग में किया जायगा। फलतः जब ईक्षिता ने त्रिगुणात्मक मूल उपादान को सर्गोन्मुख कर जगत् को प्रकाश में ला दिया, तब इसको भोगने के लिये इसमें जीवात्मा का प्रवेश कराया। इस अर्थ का निर्देश तृतीय खण्ड के प्रारम्भ में किया गया है। यदि वह सब जगत् ईक्षिता चेतन का अपना विकार होता, तो इसमें जीवात्मा के प्रवेश का प्रश्न ही नहीं उठता। उपनिषद् के इस प्रसंग से स्पष्ट होता है, कि भोग्य जड़ जगत् का भोक्ता चेतन जीवात्मा अतिरिक्त है, और इन सबका नियन्त्रण करने वाली एक अन्य चेतन सत्ता है, जिसे परमेश्वर अथवा ब्रह्म कहा जाता है।

इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये प्रकृत में उपनिषत्कार ने जिस भाषा तथा रीति का अवलम्बन किया है, उसको साधारणरूप में वैसा ही समझने और भाषा तथा वर्णन की अलङ्कारपूर्णता की ओर ध्यान न देने से निश्चित ही अर्थगत भ्रान्ति के लिये अवकाश मिल सकता है, और मध्यकालीन अनेक विद्वान् इस प्रकार की भ्रान्तियों में ग्रस्त हुए हैं। मूल उपनिषद् में इस प्रसंग के शब्द हैं—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इसका अर्थ किया जाता है, कि उस देवता ने ईक्षण [ संकल्प ] किया कि मैं इन तीन तेज-अप्-अन्नरूप देवता में जीवात्मरूप से प्रविष्ट होकर नामरूपात्मक जगत् का विस्तार करूं। इससे यह अभिप्राय निकाला जाता है, कि ईक्षण करने वाली देवता स्वयं जीवात्मरूप से तेज आदि में प्रविष्ट होकर नामरूपात्मक जगत् का विस्तार करती है। ऐसी स्थिति में जैसे नामरूपात्मक जगत् का उपादान वह चेतन महती देवता है, वैसे ही जीवात्मा का भी। फलतः अखिल चेतनाचेतन विश्व का मूल उपादान वही देवता है, जिसको परमेश्वर या ब्रह्म कहा जाता है।

परन्तु जब सन्दर्भ के पदों पर गंभीरता से ध्यान दिया जाता है, तब इसके अर्थ

२. **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत।** छा० ६।२।३॥

का स्पष्ट भान हो जाता है। इस सन्दर्भ में 'देवता' पद दो स्थानों पर है। पहला पद समस्त विश्व के नियन्ता परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है, और दूसरा पद मूल उपादान के लिये, जिसका वर्णन तेज-अप्-अन्नरूप में किया गया है। यह त्रिगुणात्मक प्रकृति से अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। आगे सन्दर्भ में 'अनेन' और 'अनुप्रविश्य' पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं। यदि ईक्षिता परमात्मा स्वयं जीवरूप है, तो 'अनेन' पद का प्रयोग सर्वथा व्यर्थ एवं असंगत है। अभिप्राय यह है, कि इस सन्दर्भ का लेखक उपनिषत्कार यह समझता है, कि ईक्षिता चेतन से जीवात्मा चेतन सर्वथा भिन्न है, तभी उसके [ईक्षिता के] द्वारा कहलाये गये वाक्य में 'जीवात्मा' के साथ 'अनेन' पद का प्रयोग संगत कहा जा सकता है। इस पद के द्वारा ईक्षिता अपने से भिन्न जीवात्मा का निर्देश कर रहा है। आगे 'अनुप्रविश्य' पद में 'अनु' उपसर्ग इस बात को स्पष्ट करता है, कि त्रिगुणात्मक जगत् में ईक्षिता परमात्मा तो नियन्ता होकर पहले प्रविष्ट हुआ बैठा है, सर्ग रचना हो जाने पर जीवात्मा का भोक्तारूप से इस त्रिगुणात्मक जगत् में अनुप्रवेश होता है। यदि स्वयं परमात्मा जीवात्मा है, तो अनुप्रवेश का अवकाश ही नहीं आता। इन पदों के स्वारस्य को देखकर मध्यकालीन विद्वानों के किये उक्त अर्थ की निस्सारता स्पष्ट दीखती है। इस वाक्य की रचना अवश्य इस ढंग की है, जैसे कोई कहे, कि राजा अपने चरों अथवा अधिकारियों द्वारा प्रजाजन में उपस्थित रहता है; अथवा अपर राज्यों में दूतों द्वारा प्रविष्ट होता है। राजा के मुख से यदि इस अर्थ को कहलाया जाय, तो इसका ठीक वही रूप होगा, जो उपनिषद् के उक्त वाक्य का है—सोऽयं नृप ऐक्षत हन्ताहमिमाः प्रजा एभिश्चरैरधिकारिभिर्वा अनुप्रविश्य व्यवस्थापयामि। राजा का सम्पूर्ण प्रजा पर अधिकार स्वतः रहता है, अनन्तर नियुक्त अधिकारियों के रूप से वह प्रजाजन में अनुप्रविष्ट हो उनकी व्यवस्था करता है। यद्यपि राजा स्वयं अधिकारीरूप नहीं है। वर्णन का यही ढंग उपनिषत्कार ने अपनाया है।

इस प्रसंग से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि मूल में उपनिषत्कार ने दो प्रकार के तत्त्वों का अस्तित्व माना है, एक चेतन और दूसरा अचेतन। चेतन में परमात्मा और जीवात्मा दोनों का समावेश है, तथा शेष अशेष विश्व अचेतन है। अगले प्रकरणों में इसी आधार पर श्वेतकेतु के सन्मुख यह स्पष्ट किया गया है, कि तुम्हारा अस्तित्व अचेतनरूप न होकर चेतन है, इस त्रिगुणात्मक विश्व के नियन्ता का जो स्वरूप है, वैसे चेतनरूप तुम हो। जैसे एक सुवर्णपिण्ड के जान लेने पर शेष समस्त सुवर्ण स्वयं जान लिया जाता है, इसी प्रकार एक चेतनस्वरूप का साक्षात्कार हो जाने पर चेतनमात्र का साक्षात्कार हो जाता है। प्रथम आग बनाने में कठिनता होती है। आग बन जाने पर सरलता से प्रदीप प्रज्वलित हो जाता है। जब एक प्रदीप प्रज्वलित हो गया, तब अन्य प्रदीप अनायास प्रज्वलित हो जाते हैं—'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्' [श्वेता० २।१५]। अन्त में परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर सब कुछ अज्ञात भी जान लिया

जाता है, इसका इतना ही अभिप्राय है, कि उसके जान लेने पर अन्य किसी के जानने की आवश्यकता नहीं रहती। मानव जीवन का यह परमलक्ष्य है। जब उसको प्राप्त कर लिया, तब शेष कुछ नहीं रह जाता। इसप्रकार की भाषा का प्रयोग हम लोक में सदा देखते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने अनुकूल अभिलषित को यहां प्राप्त कर लेता है, तब वह यही कहता है, कि इसके पा लेने पर मैंने सब कुछ पालिया। जब साधारण अनुकूल प्राप्ति पर हम ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं, तब अपने जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर ऐसा कथन सर्वथा उपयुक्त है। जिसके जान लेने पर और कुछ जानना शेष नहीं रहता वह अन्तिम ध्येय परमात्मा है।

छान्दोग्य में प्रतिपादित इस अर्थ को मुण्डकोपनिषद के सन्दर्भ भी पुष्ट करते हैं—"शौनक ने अङ्गिरा के समीप जाकर विधिपूर्वक प्रश्न किया, भगवन् ! वह कौन सा तत्त्व है, जिसके जान लेने से यह सब जान लिया जाता है। अङ्गिरा ने उत्तर दिया··· वह अव्यय समस्त भूतों का नियन्ता परमेश्वर है, जिसे धीर तपस्वी देख पाते हैं। जैसे मकडी जाला बुनती और समेट लेती है, जैसे पृथिवी में ओषधियां उद्भूत होती हैं, जैसे जीवित पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षर तत्त्व से इस विश्व का उद्भव होता है।"[1] अक्षर तत्त्व से जगत् की उत्पत्ति को समझाने के लिये जो उदाहरण यहां दिये गये हैं, उनसे स्पष्ट हो जाता है, कि अक्षर तत्त्व स्वयं जगत् का उपादान नहीं है। जाला मकड़ी के शरीर से बनता और उसी में सिमटता है, चेतन आत्मा वहां अधिष्ठाता है, उपादान शरीर है। पृथिवी में जो ओषधि वनस्पति आदि उत्पन्न होते हैं, उनका मूल उपादान उनके बीज होते हैं, उनमें चेतन अधिष्टाता है, पृथिवी आधार होने से निमित्त-मात्र है। जीवित पुरुष के केश लोम आदि शरीर से उत्पन्न होते हैं, वही उनका उपादान है, चेतन केवल अधिष्ठाता है। ठीक इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से जगत् का प्रादुर्भाव है। जगत् का मूल उपादान त्रिगुणात्मक प्रकृति है, परमात्मा उसका अधिष्ठाता व नियन्ता है।

उपनिषदों के आधार पर यह निश्चित होने पर कि चेतन परमात्मा जगत् का उपादान नहीं है, फिर भी किन्हीं वाक्यों में यदि ऐसा आभास मिलता है, तो वह परमात्मा का प्रशंसापरक समझना चाहिये, जब किसी के अतिशय का द्योतन करना अभीष्ट होता है, तो ऐसा वर्णन कर दिया जाता है। लोक में हम प्रतिपद ऐसा वर्णन करते व सुनते हैं। आज देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए हम कह सकते हैं, कि इस समय पं० नेहरु और पटेल देश के आधार हैं। इस वाक्य में कोई असांगत्य नहीं है। पर इसके शब्दों पर ही हम जायें, तो क्या इसका यह अर्थ समझा जा सकता है, कि नेहरु और पटेल के कन्धों

१. शौनको ह वै···अङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। तस्मै स होवाच ·······तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥ मुण्ड०, प्रथम खण्ड।

पर देश रक्खा हुआ है, और वे शामियाने में बल्ली के समान देश के नीचे लगे हुए हैं? वस्तुतः वाक्य का इतना ही अर्थ है, कि वे देश की वर्तमान स्थिति का संचालन एवं नियन्त्रण करते हैं। साधारण व्यवहार में एक वाक्य हम और बोलते हैं—ये नेता ही देश के वास्तविक निर्माता हैं। तो क्या इसका यह अभिप्राय निकाला जा सकता है, कि ये नेता स्वयं देशरूप हो गये हैं? वस्तुतः देश के अभ्युदय के लिये जो स्थितियां आवश्यक होती हैं, उनके निर्माण में नेताओं का हाथ रहता है, इतना ही इसका अभिप्राय है।

संवत् १९८३ विक्रमी की बात है, जब हम लाहौर रहते थे,। हमारे साथी श्री पं० विश्वबन्धु शास्त्री के पास एक व्यक्ति उनका जीवन-बीमा कराने के लिये उनके पास आया। कुछ वर्ष पहले से पण्डित जी की देखरेख में एक वैदिक अनुसन्धान की संस्था स्थापित की गई थी, पण्डित जी ने उस व्यक्ति को उत्तर दिया—मेरा तो जीवन यह संस्था है, और मैं इसी में अपना बीमा करा चुका हूं। इस वाक्य में रचनासौन्दर्य तथा अर्थगाम्भीर्य दोनों हैं। फिर भी इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है, कि उनका अस्तित्व संस्था रूप में परिणत हो गया। वास्तविक स्थिति यही है, कि वे उस संस्था का सर्वात्मना संचालन एवं नियन्त्रण करते हैं, उन्होंने अपनी समस्त सक्रियता इसी में पर्यवसित कर देनी चाही है। ठीक इसी ढंग की भाषा में उपनिषत्कारों ने परमात्मा की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यह सब जगत् का आधार है, सबका आदिमूल है, उसके अस्तित्व में सबका अस्तित्व पर्यवसित हो जाता है, उसके जान लेने पर और कुछ जानना शेष नहीं रहता, इत्यादि वर्णन परमात्मा की प्रशंसा के द्योतक हैं।

इसी आधार पर महर्षि कपिल ने इसप्रकार की आशंका का उद्भावन कर समाधान किया है—

नित्यमुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा। [१।९०]

नित्यमुक्त आत्मा परमात्मा है। औपनिषदिक प्रसंगों में उसकी प्रशंसा के वर्णन विविधरूप में किये गये हैं। यही आधार उसकी उपादानता के वर्णनों का है। एक और बात है, प्रत्येक भगवद्भक्त जब उसकी उपासना में सक्रिय होता है, तब भगवान् के प्रति उसकी भावना अति महान और विलक्षण होती हैं। उस समय उपासना की दृष्टि से वह केवल उसी के अस्तित्व को अपने सन्मुख देखना चाहता है। ऐसी भावनाओं में भगवान् को जगत् का सब कुछ कल्पना कर लिया जाता है, माता पिता बन्धु सखा विद्या धन और सर्वस्व तक। तब उसे जगत् का मूल उपादान कह देना भी आश्चर्य नहीं। अभिप्राय यह है, कि उपासना के अवसरों में परमात्मा के इस स्वरूप का निश्चय कल्पना के आधार पर कर लिया जाता है, तथा उपनिषद् आदि में जहां तहां भगवान् के ऐसे स्वरूप का वर्णन किया गया है, उसका उपयोग केवल उपासना में है, अर्थ की वास्तविकता में नहीं। इस भाव को महर्षि कपिल ने द्वितीय समाधान के रूप में सूत्र के उत्तर अंश से प्रकट

किया है[1]। इसप्रकार परमात्मा को जगत् का उपादान न मानने पर उपनिषदादि के साथ कोई विरोध नहीं।

**सांख्य में अधिष्ठाता ईश्वर मान्य**—यदि सांख्य में ईश्वर को जगत् का उपादान नहीं माना गया, तो उसकी स्थिति का क्या स्वरूप माना गया है ? इस आशंका का समाधान अगले ६१ सूत्र में इसप्रकार किया गया है—'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्।' चेतन के सन्निधान से प्रकृति में प्रवृत्ति संभव हो सकती है, इस कारण चेतन परमात्मा का अधिष्ठातृत्व रूप सांख्य में स्वीकार किया जाता है। अगले तीन सूत्रों [६२-६४] में जीवात्मा के अधिष्ठातृत्व का वर्णन है। सांख्य मत के अनुसार प्रकृति की प्रेरणा अथवा नियन्त्रण के लिये परमात्मा का अधिष्ठातृत्व स्वीकृत है, जीवात्मा का नहीं। ऐहिक विशेष कार्यों में जीवात्मा का अधिष्ठातृत्व स्वीकार किया जाता है, इसका विवेचन अभी जीवात्मप्रसंग में किया जायगा।

यहां तक सांख्यषडध्यायी के प्रथम अध्याय के उस प्रकरण का विवेचन किया गया है, और सूत्रों का प्रकरणसंगत सयुक्तिक विस्तृत व्याख्यान दिया गया है, जिनके आधार पर यह कहा जाता है, कि सांख्य ईश्वर का प्रतिषेध करता है। वस्तुतः सांख्य जगत् के उपादानभूत ईश्वर का निषेध करता है, जैसा कि उक्त प्रकरण से सिद्ध है। वह ईश्वर के अधिष्ठातृत्व का प्रतिपादन करता है। सांख्यषडध्यायी के तृतीय अध्याय में तीन सूत्र [ ५५-५७ ] और हैं, जिनमें ईश्वरसम्बन्धी वर्णन उपलब्ध होता है। उसको अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिये ५४वें सूत्र का अर्थ जान लेना आवश्यक है। वह सूत्र है—

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्।

यहां 'कारण' पद का अर्थ उपादान कारण है, शास्त्रों में यह स्वीकार किया गया है, कि प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना तथा उनके साक्षात्कार से विशेष फल की प्राप्ति होती है, पर वह शान्तिलाभ का अथवा दुःखत्रय की अत्यन्त निवृत्ति का अन्तिम उपाय

---

१. **उपासासिद्धस्य वा। उपासायां उपासनायां यः सिद्धो निश्चितोऽर्थः स उपासासिद्धस्तस्य। उपासनावसरेषु कल्पनाप्रसूतो यः परमेश्वररूपोऽर्थो निश्चीयते, तस्यैव यत्र तत्रोपनिषत्सु वर्णनमुपलभ्यत इति भावः। उपासना के अवसरों में केवल कल्पना के आधार पर जो परमेश्वर का रूप मान लिया जाता है, परमात्मा के ऐसे स्वरूप का जहां तहां उपनिषदों में वर्णन उपलब्ध होता है। अथवा- 'उपासा' और 'सिद्धस्य' ये दोनों पृथक् पद हैं। 'सिद्ध' पद परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् आदि के कतिपय स्थलों में जो स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से परमात्मा को जगत् का उपादान बताने के उल्लेख कहे जाते हैं, वे केवल परमात्मा की उपासना की दृष्टि से लिखे गये हैं। अभिप्राय यह है, कि इस प्रकार के समस्त उल्लेख परमात्मा की प्रशंसा अथवा उपासना की दृष्टि से हैं, वस्तुस्थिति को बतलाने की भावना से नहीं।**

नहीं है। प्रकृति अथवा प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना एवं उनके साक्षात्कार का स्वरूप ऐसा ही हो सकता है, जैसा आज योरुप तथा अमेरिका आदि पश्चिमी देशों ने आधि-भौतिक तत्त्वों के सम्बन्ध में प्राप्त किया है। साधारण शिल्पयन्त्रों से लगाकर जागतिक किरण और परमाणु-अस्त्रों तक जो आधिभौतिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया गया है, यह उनकी उपासना का परिणाम है। प्राचीन काल में इसका क्या रूप रहा होगा, नहीं कहा जा सकता। पर यह निश्चित है, कि यह शान्ति का अन्तिम उपाय नहीं है, इस वास्तविकता को प्राचीन आर्यों ने अच्छी तरह समझा हुआ था। फलतः सूत्र का अर्थ होता है—जगत् के उपादान कारण प्रकृति की उपासना अथवा उसके साक्षात्कार से प्रकृति में लीन हो जाना अर्थात् सर्वतोभावेन अपने आपको प्रकृति के अर्पण कर देने से मानव कृतकृत्य नहीं हो जाता, प्रत्युत उसकी स्थिति ऐसी होती है, जैसे कोई व्यक्ति शीतल जल में डुबकी लगाता है, जब तक अन्दर रहता है, शीतलता का अनुभव करता है, पर शीघ्र जब जल से बाहर होता है, बाह्य ताप उसे संतप्त करने लगता है। ऐसे ही प्रकृति के साक्षात्कर्त्ता अल्पकाल तक कृत्रिम शान्ति का आभासमात्र पाते हैं।

शिष्य आशंका करता है, यदि उपादान कारण में लय हो जाने से कृतकृत्यता नहीं होती, तो परमात्मा में लीन हो जाने पर अर्थात् मोक्ष अवस्था प्राप्त हो जाने पर भी कृतकृत्यता न होनी चाहिये, क्योंकि कुछ विचारक ऐसा मानते हैं, जगत् का उपादान परमात्मा है। इसका समाधान अगले सूत्र से महर्षि कपिल प्रस्तुत करता है—

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्।

यद्यपि जगत् परमात्मा का कार्य अर्थात् परिणाम नहीं है, इसलिये उक्त नियम परमात्मा में लागू नहीं होता, और उसके आनन्द में लीन होना मानव की कृतकृत्यता का प्रयोजक [हो सकता है; तथापि परमात्मा का प्रकृति के साथ अधिष्ठातृत्वरूप सम्बन्ध [तद्योगः] है ही। क्योंकि प्रकृति सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है, परवश है, वह परमात्मा के नियन्त्रण में अपने परिणामों के लिये प्रवृत्त हो पाती है। 'सोऽन्तरो यमयति' वह परमात्मा प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों में अन्तर्यामी होकर बैठा है, और इसप्रकार समस्त विश्व का नियमन करता है। फलतः जगत् के उपादानभूत प्रधान में लीन होना कृतकृत्यता का आपादक नहीं, परन्तु परमात्मा में लीन हो जाने पर मानव कृतकृत्य हो जाता है, क्योंकि परमात्मा जगत् का उपादान नहीं है। वह चेतन, स्वतः प्रकाश तथा जड़जगत् का नियन्ता है। इसीलिये उपासक मुमुक्षु जीवात्मा का वह सच्चा लक्ष्य है। वहां इस आत्मा को वास्तविक शान्ति का लाभ होता है; इसी आनन्दप्राप्ति का नाम उसमें लीन होना है।

शिष्य आशंका करता है, यदि परमात्मा जगत् का उपादान नहीं, प्रत्युत अधि-ष्ठाता है; उस अधिष्ठाता परमेश्वर का प्रकृति के साथ क्यों सम्बन्ध होता है? महर्षि कपिल इसका समाधान करता है—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।

क्योंकि वह परमात्मा सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी तथा समस्त विश्व का रचयिता है। इस सूत्र का 'सर्ववित्' पद ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से नहीं प्रत्युत सत्तार्थक 'विद्' धातु से बना है। इस धातु से निष्पन्न 'सर्ववित्' पद का पर्याप्त प्रयोग देखा जाता है[1]। जो सर्वत्र विद्यमान है, वही 'सर्ववित्' है। अतः प्रस्तुत सूत्र में इस पद का अर्थ सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी है। सर्वान्तर्यामी होने पर परमात्मा सकल लोकों का नियन्त्रण एवं रचना कर सकता है, इसी कारण उसका प्रकृति के साथ सम्बन्ध है। अन्यथा असम्बद्ध रहता हुआ वह जगद्रचना में कैसे समर्थ होगा ? प्रकृति के साथ परमात्मा के इस सम्बन्ध को अधिष्ठातृत्वरूप सम्बन्ध कहा जाता है। इसप्रकार सांख्य में जगत् के उपादानभूत ईश्वर को स्वीकार न कर अधिष्ठातृभूत ईश्वर को स्वीकार किया है। प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार करते हुए महर्षि कपिल ने अगले सूत्र में इसी अर्थ को निर्दिष्ट किया है—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा।

जगत् के अधिष्ठातृभूत ईश्वर की सिद्धि निश्चित है, जो सर्वान्तर्यामी होता हुआ सकल जगत् की रचना करता है। प्रकृति का प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण उस चेतन सत्ता से व्याप्त है। इस स्थिति में वह सकल जगत् के नियन्त्रण में समर्थ होता है।

सांख्यषडध्यायी में ईश्वर के सम्बन्ध का तीसरा प्रकरण पंचम अध्याय के प्रारम्भ में आता है। प्रथम अध्याय [५७-६१] तथा तृतीत अध्याय [५५-५७] के प्रसंगों से यह स्पष्ट है, कि परमात्मा को जगत् का उपादान न मानकर अधिष्ठाता माना गया है। पंचम अध्याय के प्रारम्भ में ईश्वरसम्बन्धी इस सांख्यसिद्धान्त को स्वीकार करके प्रकारान्तर से पूर्वपक्ष की स्थापना की गई है, जिससे स्थूणानिखनन[2] न्याय के अनुसार सिद्धान्त पक्ष की अधिक पुष्टि हो सके। यह प्रकरण निम्नलिखित सूत्र से प्रारम्भ होता है—

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः।

वादी आशंका करता है—ईश्वर को जगत् का अधिष्ठाता मानने पर यह कहा जाता है, कि कर्मफलों का देने वाला वही है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर कर्मों की उपेक्षा करके अपने सामर्थ्य से फल नहीं दे सकता। जब फलसिद्धि में कर्मों की

---

१. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। [ मुण्डक० १।१।९ ] स सर्वज्ञः सर्ववित् [ आथर्वणीया संन्यासोपनिषद् ३ ] यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि। मुण्डक० २।२।७॥ स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः ········· गुणी सर्वविद् यः। श्वेता० ६।१६॥ यहां 'विश्ववित्' के साथ 'सर्ववित्' का प्रयोग है। पहला सर्वज्ञ और दूसरा सर्वव्यापी तथा सर्वान्तर्यामी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदों में प्रायः सत्तार्थक 'विद्' धातु से निष्पन्न 'सर्ववित्' पद प्रयुक्त हुआ है। ज्ञानरूप अर्थ को प्रकट करने के लिये प्रायः 'ज्ञा' धातु का प्रयोग हुआ है, विद्' का नहीं।

२. खूंटे को गाड़ते समय उसे हिला हिलाकर गाड़ा जाता है, जिससे वह अधिक दृढ़ रूप में गड़ सके।

अपेक्षा आवश्यक है, तब ईश्वर को अन्तर्गडु [दाल भात में मूसलचन्द] मानना निरर्थक है। कर्म से फलों की सिद्धि हो जायगी। कारण यह है, कि फलप्रदान में ईश्वर की प्रवृत्ति स्वार्थ भावना से होगी, अथवा परार्थ भावना से ? लोक में प्रत्येक चेतन-प्रवृत्ति के ये दो कारण देखे जाते हैं। यदि ईश्वर की प्रवृत्ति में पहला कारण हो, तो वह रागी समझा जायगा, और राग के साथ फिर उसमें द्वेष के अस्तित्व की संभावना आवश्यक है, क्योंकि स्वार्थभावना से प्रवृत्त हुआ व्यक्ति, राग द्वेष के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। फिर ईश्वर के स्वरूप का जो वर्णन किया जाता है, कि वह पूर्णकाम और आनन्दघन है, सब मिट्टी में मिल जायगा। यदि ईश्वर की प्रवृत्ति में दूसरा कारण माना जाता है, और यह कहा जाता है, कि वह भगवान् बड़ा करुणामय है, अपनी उस दैवी करुणा के कारण जीवों के उद्धार के लिये इस सृष्टि की रचना करता है, तो स्वभावतः यह आशंका उठ खड़ी होती है, कि यदि सचमुच वह इतनी करुणा से प्रेरित होकर सृष्टि की रचना करता है, तो उसने सृष्टि को दुःखमय क्यों बनाया ? कोई लूला लंगड़ा है, कोई अन्धा बहरा है, कोई दुर्बल, अपाहज है, किसी को कोई दुःख है, किसी को कुछ; सारांश यह कि सारे संसार में आपाधापी और दुःख के कारण त्राहि-त्राहि मची हुई है। यह रचना करुणामय भगवान् की परार्थ की भावना से कैसे कही जा सकती है ? फलतः जगद्रचना अथवा कर्मफलों की सिद्धि के लिये ईश्वर को स्वीकार करने का कोई आधार बनता नहीं।

इन्हीं विकल्पों को अगले सूत्रों से सूत्रकार ने स्वयं स्पष्ट किया है। संसार की स्थिति को देखते हुए यह कहना कठिन है, कि यह रचना करुणामूलक है, अथवा पर-उपकार के लिये की गई है, इसलिये जगत् की रचना या कर्मफलों की सिद्धि में ईश्वर को अधिष्ठाता मानने पर उसका अपना कुछ उपकार होना सम्भव माना जा सकता है, क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है, कि पर उपकार की भावना से प्रवृत्त हुए व्यक्तियों में कुछ न कुछ अपने उपकार की भावना अन्तर्निहित रहती है, यदि ईश्वर की ऐसी स्थिति मानी जाती है, तो अन्य सब प्रकार की भावनाओं का उसमें अस्तित्व ऐसे ही मानना पड़ेगा, जैसे एक लौकिक ईश्वर अर्थात् शक्तिशाली व्यक्ति राजा आदि में रहता है। तब ईश्वर एक असाधारण मानव के समान होगा, जिसमें राग द्वेष ईर्ष्या-घृणा काम क्रोध मोह आदि सब भावनाओं का अस्तित्व पाया जाता है। ऐसी स्थिति में ईश्वर को आप्तकाम आनन्दस्वरूप आदि बताना सर्वथा असंगत होगा। इस अर्थ को सूत्रकार ने निम्नलिखित दो सूत्रों से स्पष्ट किया है—

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्।
लौकिकेश्वरवदितरथा।

यदि उपर्युक्त दोनों स्थितियों में से ईश्वर की कोई स्थिति सम्भव नहीं हो सकती, और उसके अस्तित्व को अन्य किसी रूप में स्वीकार किया जाता है, तो वह केवल एक पारिभाषिक तत्त्व होगा, ऐसा तत्त्व जिसे केवल ईश्वरवादियों ने घड़ लिया है, एक सम्बल-

मात्र, जिसकी कोई निश्चित स्थिति अथवा रूप कल्पना नहीं किये जा सकते। सूत्रकार ने इस अर्थ को कहा है—'पारिभाषिको वा'। जब ईश्वर की प्रवृत्ति स्वार्थमूलक नहीं, परार्थमूलक भी नहीं, और अन्य कोई ऐसी स्थिति नहीं, जिसके निश्चित रूप की कल्पना की जा सके, तो वह एक परिभाषामात्र रह जाता है, केवल ईश्वरवादियों की एक ऐसी कल्पना का विषय, जो उन्होंने अपने शिष्यों के मनस्तोष के लिये खड़ा कर लिया है। इस प्रकार इन चार सूत्रों के द्वारा सांख्याभिमत अधिष्ठातृभूत ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह प्रकट किया गया है। इस पूर्वपक्ष का अगले सूत्र में सूत्रकार उत्तर देता है—

न, रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात्।

पूर्वपक्षरूप से ईश्वर के अस्तित्व में जो सन्देह प्रकट किया गया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि राग के विना ईश्वर की सिद्धि होती है, अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व को उस रूप में स्वीकार किया जाता है, जहां राग आदि की कल्पना नहीं की जा सकती। हेतु यह है, कि प्रत्येक मूलतत्त्व की नियतकारणता है। जो जगत् के मूल कारण हैं, उन सबकी कारणता अपने-अपने रूप में व्यवस्थित है। यह एक ऐसा निश्चित क्रम अथवा ऐसी व्यवस्था है, जिसमें किसी उलट-फेर की आशंका नहीं की जा सकती। जगत् का मूल उपादान प्रकृति है, परन्तु वह अचेतन होने से स्वयं प्रवृत्त होने में असमर्थ रहती है। अतः अपनी प्रवृत्ति के लिये उसे एक चेतन की प्रेरणा आवश्यक है। प्रकृति का प्रेरक वही चेतन तत्त्व ईश्वर है। उसकी प्रेरकता में किसी तरह के राग या द्वेष आदि की सम्भावना नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रकृति को जगद्रूप में परिणत होने के लिये प्रेरणा देना उसका स्वभाव है। यह एक ऐसी निश्चित व्यवस्था है, जिसमें कभी किसी परिवर्त्तन की आशंका नहीं की जा सकती। ईश्वर की करुणा और न्याय इसी में सन्निहित हैं, कि उसकी प्रेरणा से अनुगृहीत जगत् सृष्टि में समस्त जीव अपने कर्मों का अनुष्ठान करें, और उसके अनुसार अपने कर्म-फलों का उपभोग करें।

संसार में जो लूले, लंगड़े, अंधे, बहरे और अन्य प्रकार से अपंग या अपाहज दुःखी व्यक्ति देखे जाते हैं, यह सीधी ईश्वर की रचना नहीं है। इसप्रकार की रचना में प्रकृति के साथ जीव के कर्मों का सहयोग बराबर रहता है, उसी के अनुसार यह रचना हुआ करती है। जब वादी ईश्वर को हटाकर केवल कर्म के आधार पर दुःख सुख आदि की प्राप्ति और उसके साधनभूत जगत् की रचना को स्वीकार करता है, तब ईश्वर के मानने पर वह कर्म को क्यों भूल जाता है। वस्तुतः कर्म—क्रियाजन्य संस्कार अथवा धर्म अधर्म जो भी है, सब अचेतनरूप है, वह स्वयं जगत् के इस रूप में व्यवस्थित नहीं हो सकता। उसका आधार आत्मा, चेतन होने पर भी अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति होने के कारण कर्मों का फलों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये इस अनन्त विस्तार से सम्पन्न संसार में असमर्थ रहता है। इसीलिये यह सब व्यवस्था अचिन्त्यशक्ति ईश्वर के सामर्थ्य में हो पाती है। समस्त प्रकृति और जीव-जगत् पर व्यवस्था एवं कर्मफलसिद्धि की दृष्टि से उसका

पूर्ण नियन्त्रण है। इसप्रकार विश्वसृष्टि के मूल तत्त्वों की कारणता अपने अपने रूप में व्यवस्थित है। प्रकृति इस विश्व का मूल उपादान है, उसके अचेतन होने के कारण चेतन ईश्वर उसका प्रेरक है। यह सत्ता अपरिणामी, अक्षर, नियन्ता एवं सदा एकरूप रहने वाली स्वीकार की जाती है। जीव-चेतन इस प्रकृति के साथ लिप्त रहता, कर्मों को करता और भोगता है। इसप्रकार एक चेतन अभोक्ता एवं नियन्तामात्र है, अन्य चेतन इस प्रकृति के भोक्ता हैं, और अचेतन प्रकृति परिणामिनी एवं भोग्य है। इस रूप में ये तत्त्व अपनी-अपनी सीमा में कार्य करते हुए विश्वसृष्टि की समस्या को पूर्ण करते हैं। फलतः समस्त विश्व पर ईश्वर का अधिष्ठातृत्व निर्धारित होता है। उसकी प्रेरणा के मूल में किसी प्रकार के राग द्वेष आदि की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि उसका यह अपना स्वभाव है। यदि वहा यह न हो, तो उसका अस्तित्व ही आपद्ग्रस्त हो जायगा, फिर सृष्टिरचना की समस्या का कोई निर्दोष समाधान मिलना अशक्य होगा।

शिष्य आशंका करता है, ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता होने पर प्रकृति के सम्पर्क में अवश्य आयेगा, तब उसे नित्य शुद्ध, आनन्द अथवा नित्यमुक्तस्वभाव कैसे कहा जा सकता है? ऋषि सूत्रकार इसका उत्तर देते हैं—

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः।

इस सूत्र में पहले सूत्र से एक 'न' की अनुवृत्ति और आती है। अधिष्ठाता एवं नियन्ता ईश्वर का प्रकृति के साथ योग होने पर वह नित्यमुक्त नहीं रहता, यह बात नहीं है। अभिप्राय यह है, कि प्रकृति के साथ ईश्वर का सम्पर्क केवल उसका नियन्त्रण करने के लिये है, इस रूप में प्रकृति के साथ सम्पर्क होने पर भी ईश्वर के नित्यमुक्त, शुद्ध, आनन्द आदि स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता, इसका कारण प्रथम सूत्र के हेतु-पद में अन्तर्निहित है। जहां प्रत्येक मूल तत्त्व की कारणता के अपने विशिष्ट रूप की ओर संकेत किया गया है। प्रकृति के साथ उसी सम्पर्क में मुक्तता की हानि और बन्धन अवस्था की प्राप्ति होती है, जहां प्रकृति को भोग्यरूप में पकड़ा जाता है। ईश्वर के द्वारा प्रकृति के नियन्त्रण में यह स्थिति नहीं है।

शिष्य आशंका करता है, जगत् का मूल उपादान प्रकृति है, और ईश्वर उसमें प्रेरणात्मक सहयोग देता है, तब उस प्रकृतिरूप प्रधान शक्ति के सहयोग से ईश्वर में कुछ उपादानता का अंश स्वीकार किया जाना चाहिये। अभिप्राय यह है, कि जब ये दोनों मिलकर जगत् को बनाते हैं, तब प्रकृति के समान ईश्वर में क्यों न उपादानता स्वीकार की जाय। दोनों उपादान माने जाने चाहियें। ऋषि अगले सूत्र से इसका उत्तर देता है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः।

यदि यह कहा जाय, कि प्रकृति के सहयोग में ईश्वर भी जगत् का उपादान है, तो ईश्वर में 'सङ्ग' की आपत्ति अर्थात् दोष उपस्थित होता है। ईश्वर एक ऐसी शक्ति

स्वीकार किया जाता है, जो अपना कार्य करने में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। यदि ईश्वर को जगत् का उपादान माना जाता है, और उसमें प्रकृति को उसका सहयोगी या सहायक स्वीकार किया जाता है, तो ईश्वर की स्थिति ऐसी हो जाती हैं, कि उसको अपने कार्य में किसी साथी-संगी की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में उसके पूर्णशक्ति रूप की हानि होकर उसमें संग-साहाय्यरूप दोष की प्राप्ति होती है। वस्तुस्थिति यह है, कि ईश्वर का कार्य केवल प्रकृति का नियन्त्रण है, और उस कार्य को सम्पन्न करने में वह सर्वथा अन्य निरपेक्ष है, उसके लिये उसे किसी साहाय्य की आवश्यता नहीं होती।

परन्तु शिष्य इस स्थिति को जानकर, कि ईश्वर की उपादानता में प्रकृति का साहाय्य स्वीकार करने पर उसमें 'सङ्ग' दोष की प्राप्ति होती है, कह उठता है, फिर प्रकृति का साहाय्य उसमें माना ही क्यों जाय? केवल ईश्वर अपनी सत्ता से समस्त जगत् को उत्पन्न कर देता है, अर्थात् पूर्णरूप से केवल ईश्वर समस्त जगत् का मूल उपादान है, यही क्यों न मान लिया जाय? ऋषि इसका उत्तर देता है—

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम्।

यदि ईश्वर अपनी सत्ता से—अपने स्वरूप से इस समस्त जगत् को उत्पन्न कर देता है, तो मूल उपादान के समान यह समस्त संसार भी पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त होना चाहिये। 'ऐश्वर्ययुक्त' का अभिप्राय है, कि ईश्वर का जो स्वरूप है, वैसा समस्त जगत् का होना चाहिये। वेद तथा उपनिषद् आदि में ईश्वर के जिस स्वरूप का वर्णन किया गया है, वह ईश्वर को—सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टि का नियन्ता आदि अवस्था-परिपूर्ण बताता है। पर दृश्यमान जगत् के स्वरूप में इन अवस्थाओं का सर्वथा अभाव है। इसलिये ईश्वर को किसी भी स्थिति में जगत् का उपादान नहीं माना जासकता।

इसके अतिरिक्त यह भी है, कि ईश्वर को चाहे किसी रूप में जगत् का उपादान माना जाय, उसे फिर परिणामी तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। परिणामी मानने पर वह विकारी होगा, और नित्य एकरस न कहकर फिर उसे परिवर्तनशील मानना होगा। यह स्वरूप चेतन का कदापि नहीं कहा जा सकता। जब चेतना यहाँ से हटी, तो यह जड़ प्रकृति का स्वरूप रह गया। यह कभी नहीं देखा जाता, कि चेतन का परिणाम होता हो, और वह भी अचेतन रूप में। सांख्य में चेतन और अचेतन के स्वरूप को स्पष्ट करने का यह एक मुख्य आधार माना गया है, चेतन अपरिणामी होता है और अचेतन परिणामी। फलतः ऐसा चेतन, जो अचेतनरूप में परिणत हो रहा हो, कहीं नहीं देखा गया[1]।

---

१—आधुनिक आधिभौतिक विज्ञाने ने इस सिद्धान्त को निश्चित किया है, कि चेतन जड़ और जड़ चेतन में परिणत हो जाते हैं। मैटर इन्टैलिजेन्स् और इन्टैलिजेन्स् मैटर बन जाता है। अथवा पदार्थ शक्ति में और शक्ति पदार्थ के रूप में परिणत हो

वस्तुतः चेतन में किसी परिणाम की सम्भावना नहीं की जा सकती। इसी अर्थ को सूत्र-कार ने कहा है—

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः।

कहीं भी ऐसा न देखे जाने से अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव से ऐसे चेतन की सिद्धि नहीं हो सकती, जो अचेतनरूप में परिणत हो जाता हो। इसप्रकार जड़ जगत् के उपादानभूत चेतन ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। जब प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, तब इस प्रतीति के लिये अनुमान प्रमाण का अवकाश नहीं रहता, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षमूलक होने से उस आधार पर ही कल्पना किया जा सकता है। सूत्रकार ने इस अर्थ को कहा है—

सम्बन्धाभावान्नानुमानम्।

उक्त अर्थ की सिद्धि में जब प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, तब व्याप्य-व्यापक के सम्बन्ध का ग्रहण न होने से अनुमान भी उस अर्थ को सिद्ध करने में असमर्थ होगा। इसके विपरीत ये दोनों प्रमाण अचेतन जगत् के अचेतन उपादान को सिद्ध करते हैं। तीसरा शब्द प्रमाण भी इस अर्थ का पोषक है, कि त्रिगुणात्मक जड़ जगत् का मूल उपादान त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति है। सूत्रकार ने इस अर्थ को स्पष्ट किया है—

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य।

श्रुति भी इसी अर्थ को सिद्ध करती है, कि यह समस्त जड़ जगत् प्रधान [त्रिगुणात्मिका प्रकृति] का कार्य है। 'अजामेकां' [श्वेता० ४।५।।४।७] 'द्वा सुपर्णा सयुजा' [ऋ० १।१६४।२०] 'दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते' [ऋ० १०।६४।५] 'देवानां नु वयं जाना' [ऋ० १०।७२] इत्यादि सम्पूर्ण सूक्त, 'अपाङ् प्राङेति स्वधया' [ऋ० १।१६४।३८] आदि अनेक श्रुतियों में प्रकृति की उपादानकारणता का स्पष्ट और विशद वर्णन उपलब्ध है। इसप्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा वेद और अन्य वैदिक साहित्य के आधार पर परमात्म-सम्बन्धी इस लम्बे प्रसंग से यह निर्धारित करने का यत्न किया गया है, कि परमात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं, केवल निमित्त कारण है। महर्षि कपिल ने अपने दर्शन में उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध बताया है, जगत् के नियन्ता व अधिष्ठाता ईश्वर को स्वीकार किया है। सांख्य में ईश्वर की अमान्यता का प्रवाद जिस प्रकार आरोपित हुआ है, उसका अब संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

**सांख्य में वार्षगण्य की अनीश्वरवादी परम्परा—**

सांख्य के ईश्वर सम्बन्धी इन विस्तृत प्रसंगों में यह स्पष्ट किया गया, कि जगत्

---

जाती है। वस्तुतः आधुनिक आधिभौतिक वैज्ञानिक ने जिस तत्त्व को इन्टॅलिजेन्स् या शक्ति समझा है, वह चेतना नहीं है। अथवा यों कहना चाहिये, कि आधुनिक वैज्ञानिक का इन्टॅलिजेन्स या शक्ति भारतीय दर्शन में प्रतिपादित चेतना नहीं है। इसका विशद विवेचन इसी प्रकरण के प्रारम्भिक पृष्ठों में किया गया है।

का उपादानभूत ईश्वर यहां स्वीकार्य नहीं। कपिल और कपिल की परम्परा का यह निश्चित सिद्धान्त है। सांख्य के अन्तर्गत एक अन्य विचारधारा है, जिसका उपज्ञ आचार्य वार्षगण्य है। इसकी कोई रचना आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु सांख्य के कतिपय व्याख्या ग्रन्थों तथा तत्सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में इसके कुछ सन्दर्भ उद्धृत मिलते हैं। इसप्रकार के जितने सन्दर्भ हमें उपलब्ध हो सके हैं, उन सबका संग्रह 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में कर दिया गया है। इन सन्दर्भों के आधार पर सांख्यान्तर्गत वार्षगण्य की एक विशेष विचारधारा का प्रामाणिक एवं सुपुष्ट आभास मिल जाता है। यदि वार्षगण्य की कोई पूर्ण रचना आज उपलब्ध होती, तो कपिल और वार्षगण्य की विचारधाराओं का तुलनात्मक विवेचन तथा उनकी पारस्परिक विशेषताओं का यथासाध्य पूर्ण अध्ययन व परीक्षण किया जा सकता था; पर अब जो कुछ है, उसी पर सन्तोष करना होगा, और इसे भी सौभाग्य ही समझना चाहिये। उन पारखी विद्वानों के हम अत्यन्त अनुगृहीत हैं, जिनकी अपार कृपा से आज ये थोड़े से सन्दर्भ उपलब्ध हो सके हैं।

वार्षगण्य के इन सन्दर्भों में कुछ ऐसे स्पष्ट संकेत मिलते हैं, जिनसे निश्चित होता है, कि यह आचार्य प्रकृति की प्रेरणा के लिये परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह प्रकृति को सर्वथा स्वतन्त्र मानता है। उसका एक संदर्भ निम्नप्रकार है—

प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणाऽपरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्त्तते।

आदि सर्ग में प्रधान की प्रवृत्ति अप्रत्यय[1] अर्थात् चेतननिरपेक्ष होती है। प्रधान को अपनी प्रवृत्ति के लिये पुरुष के अनुग्रह की कोई अपेक्षा नहीं रहती, इसलिये प्रधान आदिसर्ग से ही अपनी प्रवृत्ति में सर्वथा स्वतन्त्र है। जबकि वार्षगण्य के इस मत के विपरीत पञ्चशिख और महर्षि कपिल का कथन है, कि चेतन अधिष्ठाता के विना प्रधान में प्रवृत्ति नहीं होती। कपिल के विचार सांख्यसूत्रों के आधार पर विस्तारपूर्वक अभी प्रकट किये जा चुके हैं। पञ्चशिख की कोई पूर्ण रचना आज उपलब्ध नहीं है; परन्तु कतिपय सांख्य ग्रन्थों तथा तत्सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में पञ्चशिख के कुछ सन्दर्भ उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं। ऐसे सन्दर्भों का संग्रह 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में कर दिया है, उनमें से जो सन्दर्भ प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालते हैं, निम्नप्रकार हैं—

३—पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते।

१४—महादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात्.............. । एवं तस्माद्

---

१—प्रत्ययं ज्ञानं चेतनमिति वा नापेक्षत इति-अप्रत्यया। अतएव पुरुषेणाऽपरिगृह्यमाणा पुरुषेण चेतनेन अपरिगृह्यमाणा अस्वीकार्या अनुपादेया अननुग्राह्या वा, चेतनानुग्रहनिरपेक्षा इति भावः।

ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नः.......

यह अङ्क-निर्देश संगृहीत सन्दर्भों के अनुक्रम के अनुसार दिया गया है। चेतन से अधिष्ठित प्रधान प्रवृत्त होता है। महत् से लेकर विशेष अर्थात् स्थूलभूत पर्यन्त सम्पूर्ण सर्ग बुद्धिपूर्वक होने से आकस्मिक अथवा चेतननिरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार उस ब्रह्म के अभिध्यान-संकल्प अथवा प्रेरणा से यह उत्पन्न हुआ है। पञ्चशिख के ये सन्दर्भ इस विचार को पुष्ट करते हैं, कि वह कपिल के समान प्रकृति में चेतन-निरपेक्ष प्रवृत्ति को स्वीकार नहीं करता।

इन आधारों पर निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है, कि सांख्य-परम्परा में सर्व-प्रथम ऐसा आचार्य वार्षगण्य है, जिसने प्रकृति में चेतननिरपेक्ष प्रवृत्ति मानकर सर्ग-रचना की प्रक्रिया में से परमात्मा को बाहर निकाल दिया है। वार्षगण्य के इन विचारों की पुष्टि के लिये उपर्युक्त सन्दर्भ के अतिरिक्त उसका एक और सन्दर्भ है, जो इस पर प्रकाश डालता है। वह है—

यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः।

जैसे स्त्री और पुरुष के अचेतन शरीरों की एक दूसरे को लक्ष्य करके प्रवृत्ति होती है, ऐसे ही [अचेतन] प्रधान की प्रवृत्ति होती है। इससे यह भावना ध्वनित होती है, कि वार्षगण्य स्वतन्त्र अचेतन प्रधान में प्रवृत्ति को स्वीकार करता है। ऐसे दृष्टान्त का उल्लेख महाभारत में आया है, परन्तु वहां वार्षगण्य की भावना से विपरीत भावना ध्वनित होती है। महाभारत का लेख है—

अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध उच्यते।
स्त्रीपुंसोश्चापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते ॥ [शान्ति० ३१०।१२]

अक्षर और क्षर दोनों का ऐसा सम्बन्ध कहा जाता है, जैसा कि लोक में स्त्री और पुमान् का है। यहां अक्षर-परमात्मा को पुमान् और क्षर-प्रकृति को स्त्री रूप में कल्पना किया गया है। महाभारत के प्रसङ्ग में इस अर्थ की प्रतीति नहीं है, कि अचेतन क्षर में स्वतन्त्र प्रवृत्ति हो जाती है। इसी ढंग के वर्णन उपनिषदों में भी पाये जाते हैं। 'पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायां वह्वीः प्रजाः पुरुषात् संप्रसूताः' [मुण्ड० २।१।५]। वार्ष-गण्य ने इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अपने सन्दर्भ में 'शरीर' पद के विशेषणरूप से 'अचेतन' पद का साक्षात् निर्देश किया है, जो उसके मत से अचेतन प्रधान की स्वतन्त्र अर्थात् चेतननिरपेक्ष प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। परन्तु यह दृष्टान्त वार्षगण्य के विचार की कहां तक पुष्टि करता है, इसके विवेचन की आवश्यकता नहीं; फिर भी इतना जान लेना अनुपयुक्त न होगा, कि स्त्रीपुंशरीर एक दूसरे के उद्देश्य से उसी समय प्रवृत्त होते देखे जाते हैं, जब वे चेतन से अधिष्ठित हों। एक दूसरे के प्रति आकर्षण की स्थिति

किन्हीं विशेष भावनाओं पर आधारित होती है, जो चेतनाधिष्ठित शरीर में ही अवकाश पाती हैं।

इन सब उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि जगत् की रचना में वार्षगण्य परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। यद्यपि और भी ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनमें कपिल के साथ वार्षगण्य का मतभेद है, परन्तु प्रकृतोपयोगी मतभेद का यहां उल्लेख किया है, शेष मतों का यथावसर उल्लेख कर दिया जायगा। इसप्रकार कुछ विचारों के अतिरिक्त, शेष समग्र सिद्धान्तों को वार्षगण्य सांख्य के अनुसार स्वीकार करता है, अतएव सांख्याचार्यों की परम्परा में उसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी इस विशेष विचार-धारा ने उसकी स्थिति को और दृढ़ बनाया।

**वैदिक मर्यादाओं का अवरकाल**—ग्रन्थ के आरम्भ में इसका संकेत किया जा चुका है, कि सहस्रों शताब्दियों में शनैः शनैः विकृत होकर वैदिक मर्यादाओं तथा अन्य कर्मकलापों में असह्य भ्रष्टाचार फैल गया, तथा उसी रूप में उनका सम्बन्ध वेदों के साथ जोड़ने का दृढ़ता से यत्न किया गया, तब उसकी घोर प्रतिक्रिया के रूप में बौद्ध भावनाओं का उदय हुआ। वेद और वेदप्रतिपादित—तथा आर्यदर्शन के मूल आधार-चेतन [परमात्मा] के अस्तित्व को गम्भीर उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया। वैदिक कर्म-काण्ड जो केवल आडम्बर रह गया था, हिंसा का क्षेत्र बन चुका था। पवित्रागारों में धर्माचार के स्थान पर अनाचार का बोलबाला था। प्रमाद, आलस्य तथा स्वार्थ की भावनाओं से समाज का श्रेष्ठ अंग पंगु बन चुका था। यज्ञों में बलि का प्राबल्य था। धर्म के नाम पर प्रजा अत्याचारों की चक्की में पीसी जा रही थी, नाम वेद का और काम अपने मन के भेद का, अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग। समाज का उद्वेग पराकाष्ठा को पहुंच चुका था। उस समय बुद्ध के करुणापूर्ण हृदय में तीव्र प्रतिक्रिया का उन्मेष हुआ, उसने अपने आपको तयार किया, अपनी शक्ति को तोला, और धर्म के मूल आधार अहिंसा के आदर्श की घोषणा की, समाज को एक सूत्र में बांधने का बीड़ा उठाया। 'धम्मं सरणं गच्छामि' और 'संघं सरणं गच्छामि' के मूल मन्त्र का जनता के हृदय में उद्बोधन करने के लिये अपना जीवन लगा दिया। समाज ने कठोर मिथ्याडम्बरपरिपूर्ण, धर्म के नाम पर फैले भ्रष्टाचार को अपने हृदय-क्षेत्रों से कूड़े-करकट के समान निकाल फेंका, नवीन रूप में सच्चे प्राचीन धर्म—बीज का आशान्वित होकर स्वागत किया, और तब धर्मभीरु भारतीय जनता के विशाल उर्वर हृदयक्षेत्र में आरोपित होकर वह लहलहाने लगा। इसके पुष्प और फलों की सुगन्ध समुद्र पार तक पहुंची।

**बुद्ध-विचारों का मोड़**—बुद्ध के प्रवचन और उपदेश चाहे जैसे रहे हों, पर उसने सत्यान्वेषण में अपना पूरा बल लगाया, और प्रत्येक विचार को निष्पक्ष होकर ग्रहण किया। वैदिक कर्मकलाप को बुद्ध ने गहराई से जानना चाहा। ज्ञात हुआ, कि वह हिंसा अनाचार और स्वार्थ-पूर्ण लोलुपता का आगार बना हुआ है। उसने स्पष्ट कहा, मैं ऐसे

यज्ञ व कर्मकलाप को स्वीकार नहीं कर सकता। तब कहा गया, कि क्यों ? यह तो सब वेद में प्रतिपादित है। बुद्ध स्वयं वेद न पढ़ा था, न उसे सच्चा वेदाभ्यासी विद्वान् मिल सका। उसने कहा, मैं ऐसे वेद को भी नहीं मानता। तब अन्तिम तुरप फेंक दी गई, उससे कहा गया, यह कैसे ? तुम वेद को क्यों नहीं मानते, वह तो ईश्वर का ज्ञान है। बुद्ध ने सच्चे हृदय से कहा, यदि ऐसे ही वेद ईश्वर के ज्ञान हैं, जैसा तुम बताते हो, तो मैं ऐसे ईश्वर को भी मानने के लिये तयार नहीं हूं। बात समाप्त थी, बांध टूट चुका था, विचार की अनन्त जलराशि को चहुं ओर अपनी शीतलता क्षितिजपर्यन्त पहुंचाने के लिये अबाध मार्ग था, उसे नास्तिक का चोला पहना दिया गया था। पर बुद्ध ने कभी अपने-आपको संयम से बाहर नहीं होने दिया। उसने सदा सरल, सुबोध, संयत सदाचार का सदुपदेश दिया, उनके प्रवचन आदरणीय हैं।

शीघ्र ही जब उन विचारों को दर्शन का रूप दिया जाने लगा, तब इस का अनुभव हुआ, कि मूल रूप में ईश्वर के अस्तित्व की अनावश्यकता का कोई प्राचीन आधार होना चाहिये। यद्यपि बुद्ध के प्रादुर्भाव से बहुत पहले अति प्राचीन काल में एक व्यक्ति ने इसी तरह के-धर्म के नाम पर सामाजिक-भ्रष्टाचार के विरुद्ध प्रबल उद्घोषणा की थी, उस वीर मेधावी पुरुष का नाम बृहस्पति था। उसके विचारों के प्रचारक चार्वाक के नाम पर आज भी वह चमत्कारपूर्ण मत पंगु-प्रतीक के रूप में विद्यमान है। पर बौद्धदर्शन के उदय काल से पूर्व ही उसका अभ्युदय अप्रतिष्ठा की आग में भस्म हो चुका था। बौद्ध विचारों को दर्शन का रूप देने वाले विद्वानों ने अपने लिये उस आधार को उपयुक्त न समझा। विचार और प्रतिष्ठा की दृष्टि से सांख्यदर्शन का स्थान विद्वत्समाज में सदा मूर्द्धन्य रहा है, और उस समय तो वह अपने पूर्ण प्रकाश में विद्यमान था। बौद्ध विद्वानों का ध्यान उस ओर जाना स्वाभाविक था। उन्होंने विचारों की दृष्टि से सांख्य के अन्तर्गत वार्षगण्य के सिद्धान्तों को अपने बहुत समीप देखा। उन्होंने इसी को अपने दर्शन का प्रथम आधार बना कर, जगत्सर्ग की प्रक्रिया में ईश्वर के अस्तित्व को अनावश्यक बताकर उसे अलग निकाल फेंका, तथा वार्षगण्य के एतत्सम्बन्धी सिद्धान्तों को सांख्य के नाम पर प्रबल प्रयत्न के साथ प्रचारित किया। शताब्दियों के इस प्रचार का यह परिणाम हुआ, कि सांख्य पर निरीश्वर-वादिता दृढ़रूप में आरोपित कर दी गई। सांख्य की प्रतिष्ठा के कारण उसकी इस मान्यता से बौद्ध दर्शन के विचारों को बल मिला, और भारतीय जनता बौद्ध दार्शनिक विचारों को स्वीकार करने में अपनी प्राथमिक प्रतिकूलता को खो बैठी क्योंकि वह सांख्य विचारों से पूर्ण प्रभावित थी, और उसके नाम पर किये गये प्रचार से जनता के मस्तिष्क को इस दिशा में अनुकूल बनाने का पूरा प्रयत्न हुआ था।

**निरीश्वरवाद का सांख्य पर आरोप**—सांख्य के साथ कपिल का नाम पूर्ववत् जुड़ा रहा। वह आज भी जुड़ा है, और वह ठीक है, क्योंकि महर्षि कपिल सांख्य का उपज्ञ है, सांख्य के साथ उसका नाम रहना ही चाहिये। इसका परिणाम यह हुआ, कि कापिल

सांख्य निरीश्वरवादी मान लिया गया। इस विचार को प्रचार और खण्डन मण्डन के द्वारा इतनी स्थिरता दे दी गई, कि इसमें किसी को सन्देह करने का अवकाश ही नहीं रहा। इसका अगला परिणाम यह हुआ, कि आस्तिकता की ओर रुचि रखने वाली भारतीय जनता का ध्यान धीरे धीरे सांख्य की ओर से हटता गया, और कालान्तर में साधारण पठन-पाठन प्रणालीमें से सांख्य का स्थान नष्टप्राय हो गया। समय समय पर जिन सांख्याचार्य विद्वानों ने इस विषय के बौद्ध प्रचार और विपर्यासित सांख्यसिद्धान्तों के विरोध में घोषणा की, उनको बौद्धों की सामूहिक पूर्ण प्रबलता के द्वारा दबाने का यत्न किया गया। उन्हें 'सांख्यनाशक' कहकर उनकी निन्दा की गई। इतिहास के कुछ संकेतों पर इसप्रकार के एक विद्वान् का पता लगता है। उसका नाम सांख्याचार्य माधव था। इसका थोड़ा सा विवरण हमने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ के अन्त में दिया है। ऐसे समय में सांख्य के प्रचार की दृष्टि से कापिल सांख्यदर्शन के आधार पर ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्य-सप्तति' की रचना की। बहत्तर आर्याओं के इस ग्रन्थ में संक्षेप से सांख्यप्रतिपाद्य अर्थों का सुन्दर रीति से निरूपण किया गया है। इसके आधार पर पठन-पाठन प्रणाली में थोड़ा बहुत अस्तित्व सांख्य का बना रहा। तात्कालिक दार्शनिक साहित्य में सांख्य-सूत्र और सांख्य-सप्तति दोनों ग्रन्थों के उद्धरण न्यूनाधिक उपलब्ध होते हैं। विक्रम की दसवीं ग्यारहवीं शती में सांख्यसूत्रों की ओर विद्वानों का ध्यान पुनः आकृष्ट हुआ। ग्यारहवीं शती में अनिरुद्ध ने सांख्यसूत्रों पर एक वृत्ति लिखी, फिर महादेव वेदान्ती ने एक वृत्ति लिखी। चतुर्दश शतक में विज्ञानभिक्षु ने एक भाष्य लिखा, और उसने इस बात पर प्रकाश डाला, कि कापिलसांख्य में निरीश्वरवादिता का मुख्यरूप से प्रतिपादन नहीं है। वस्तुतः विज्ञानभिक्षु को कापिलसांख्य के मूलभूत सिद्धान्तों तक पहुंचने में पूर्ण सफलता प्राप्त न होसकी। क्योंकि पूरी बीस शताब्दी का विशाल साहित्य उन सिद्धान्तों को अन्यथा रूप में उपस्थित कर एक प्रबल भित्ति के समान सामने अड़ा खड़ा था। उसको भेद कर भिक्षु की दृष्टि पार न जासकी।

**सांख्य निरीश्वरवादी नहीं**—किसी कार्य का जो समय है, वह उसी समय होता है! विज्ञानभिक्षु से पांच शती अनन्तर एक क्रान्तदर्शी महान आत्मा का प्रादुर्भाव हुआ। उसकी पैनी दृष्टि असत् साहित्य की प्रबल भित्ति को भेद कर प्राचीन ऋषियों के सत्यान्वेषी पथ पर जा अटकी। उसने वेद एवं ऋषियों की सच्ची परम्परा को वास्तविक रूप में समझा, और वह दृष्टिकोण वर्तमान जनता के सन्मुख उपस्थित कर दिया। वह आदरणीय महान पुरुष, महर्षि दयानन्द सरस्वती था। उसी के आधार पर सांख्य को समझने का यह यत्न किया गया है। अब हमारे सन्मुख यह विचार दृढ़ आधारों पर स्पष्ट है, कि कापिल सांख्य निरीश्वरवादी नहीं है। निरीश्वरवाद की जो घटा अनेक शताब्दियों तक इस पर छाई रही, वह केवल बौद्ध-पुरोवात का परिणाम थी। अब वे घटा फीकी पड़ चुकी हैं। वायु की गति अनुकूलता की ओर बदल रही है, प्रावरण हट चुका है, काई फट गई

है, सुन्दर स्वच्छ निर्दोष विचार-जलराशि हमारे सन्मुख है, हमें अपने आन्तर को उसके द्वारा शान्त शीतल बनाने में कोई बाधा नहीं।

**सांख्य पर निरीश्वरवाद के आरोप का परिणाम**—फलतः कापिल सांख्यसिद्धान्त के अनुसार ईश्वर प्रकृति का प्रेरयिता नियन्ता एवं अधिष्ठाता है। स्वतः प्रकृति में प्रवृत्ति नहीं होती, अतः प्रकृति स्वतन्त्र नहीं, प्रत्युत परवश हैं। आचार्य शंकर ने वेदान्त सूत्रों के भाष्य में जितना अधिक बल सांख्य के प्रत्याख्यान में लगाया है, उतना अन्य किसी सिद्धान्त के नहीं। इसको अपने विरोधियों में शंकर ने प्रधान मल्ल बताया है। परन्तु उस सम्पूर्ण प्रत्याख्यान का मूल आधार है—सांख्य के अनुसार प्रकृति में स्वतन्त्र प्रवृत्ति का होना। यह स्पष्ट किया जा चुका है, कि प्रकृति की ऐसी स्थिति वार्षगण्य मानता है, कपिल नहीं। यह भी स्पष्ट किया जाचुका है, कि किसप्रकार वार्षगण्य के इस विचार को सांख्य नाम पर प्रचार के द्वारा कपिल के ऊपर आरोपित कियागया। शंकराचार्यने उसी अन्यथा प्रचारित सांख्य-विचार को आधार बनाकर उसका प्रत्याख्यान किया है। परन्तु अब वास्तविकता के स्पष्ट हो जाने पर निश्चित रूप में यह कहा जा सकता है, कि उक्त आधार पर शंकराचार्य का सांख्यसम्बन्धी सम्पूर्ण प्रत्याख्यान असंगत है उसके इस प्रत्याख्यान की दिशा के आधार पर अब यह कहना युक्तिपूर्ण न माना जायगा, कि शंकर के ऐसा कहने से कापिल सांख्य को निरीश्वरवादी स्वीकार किया जाना चाहिये। अन्य भी जिन किन्हीं विद्वानों ने सांख्य को ऐसा माना है, उन्हें भी इसी कोटि में समझा जा सकता है। सबका नाम लेकर विवेचन करना अनावश्यक है, सांख्यसिद्धान्त हमारे सन्मुख हैं, उन्हीं के आधार पर विवेचन करना उपयुक्त है। शंकर के लिये सांख्य प्रधानमल्ल इस कारण है, कि वह जगत् के मूल उपादान प्रकृति को प्रकृति के प्रेरयिता चेतन से पृथक् मानता है, अर्थात् जगत् का मूल उपादान अचेतन और उसका प्रेरयिता चेतन, इन दोनों का पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व है, तथा जगत्सर्ग में इनका अपना-अपना कार्य है, और परस्पर सहयोग परम आवश्यक है।

## परमात्मा एक है—

सांख्य ने चेतन और अचेतनरूप दो मूलभूत तत्त्वों के अस्तित्व को स्वतन्त्र एवं वास्तविक माना है। चेतन का दो वर्गों में वर्णन किया गया हैं—परमात्मा तथा जीवात्मा। सांख्य के परमात्मविषयक विचारों को प्रस्तुत कर दिया गया है। उसके सम्बन्ध में यह एक और विचारणीय बात है, कि इसको एक माना जाना चाहिये अथवा अनेक। सांख्य में जीवात्म-चेतन अनेक माने गये हैं। क्या उनकी तरह परमात्म-चेतन को भी अनेक मानना चाहिये? इसके अतिरिक्त वेदादि शास्त्रों में अनेक नामों से उस अचिन्त्यशक्ति का वर्णन किया गया है, तब उस आधार पर भी उसे अनेक क्यों न माना जाय?

इस आशंका का समाधान सांख्य ने परमात्म-चेतन को प्रकृति का अधिष्ठाता एवं नियन्ता बताकर कर दिया है। इस आधार पर परमात्मा को एक माना जा सकता है। क्योंकि प्रकृति के अनेक नियन्ता एवं प्रेरयिता मानने पर परमात्मा के अस्तित्व को

स्वीकार करने का अवकाश ही नहीं रहता। तब अनेक जीवात्मा ही इस कार्य को क्यों न करें। जीवात्मा अनन्त हैं, वे चेतन भी हैं, वे ही प्रकृति के नियन्ता मान लिये जायें, ईश्वर की आवश्यकता नहीं। परन्तु ऐसा मानना दोषपूर्ण होगा। शास्त्रों में जीवात्मा का स्वरूप अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति माना गया है। वह निरवधिक सृष्टि की रचना करने में असमर्थ रहेगा। यदि कपोतपंजरन्याय से ऐसा माना जाय, जैसे एक कबूतर जाल को उड़ाकर नहीं ले जासकता, पर बहुत से कबूतर मिलकर समान प्रवृत्ति रखने पर जाल को उड़ा लेजासकते हैं, इसी प्रकार अनेक जीव मिलकर प्रकृति का नियन्त्रण कर सकेंगे। यह कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि अल्पशक्ति का जोड़ कभी पूर्ण शक्ति नहीं हो सकता। कितने भी जीवात्मा इकट्ठे होजायें, वे अल्पशक्ति ही रहेंगे। इसी तरह अल्पज्ञ का जोड़ सर्वज्ञ नहीं होसकता।

मुक्तात्मा भी इस कार्य के लिये समर्थ नहीं होसकता, क्योंकि मुक्त होकर वह अपने अल्पशक्ति एवं अल्पज्ञस्वरूप का परित्याग नहीं कर देता, प्रत्युत वह तो उस अवस्था में अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है। बद्ध जीव की अपेक्षा मुक्त जीव में कुछ विशेषता अवश्य मानी गई हैं; पर उसका भी सामर्थ्य सीमित रहता है। किसी जीवात्मवादी ने आज तक जगद्रचना का सामर्थ्य एक अथवा अनेक जीवात्मा में नहीं माना। यह केवल मानने न मानने की बात नहीं है, जीवात्मा का स्वरूप ही ऐसा है, कि उसके लिये जगद्र-चना अशक्य है। जगद्रचना तो दूर की बात है, वह एक बीज या पेड़ का पत्ता तक नहीं बना सकता। संसार के समस्त वैज्ञानिक मिल कर भी यह कार्य करने में असमर्थ हैं। आज तक किसी आधिभौतिक प्रयोगशाला ने ऐसा निर्माण नहीं किया, जो जागतिक रचना की कोटि का हो, न भविष्यत् में ऐसा होना संभव है।

इसके अतिरिक्त यह बात है, कि अनेक नियन्ता मानने पर समान प्रवृत्ति का होना अशक्य है। चेतन का यह स्वभाव है, कि समानसाधन होने पर भी उसमें प्रवृत्ति-वैचित्र्य देखा जाता है, किसी अवस्था में हो, चेतन का प्रवृत्ति-वैचित्र्य अवश्यम्भावी है। तब जगत् के अनेक नियन्ता मानने पर जगत् की व्यवस्था रह नहीं सकती। एक जगत् की रचना चाहेगा, तो अन्य प्रलय। कुछ मिलकर एक कार्य करेंगे, तो दूसरे और कुछ करना चाहेंगे। कार्य का बांटा जाना भी अशक्य है, बंटवारे में भी प्रतिक्षण संघर्ष चलता रह सकता है। इसलिये विश्व ब्रह्माण्ड की यह सामञ्जस्यपूर्ण समान व्यवस्था किसी एक नियन्त्रणसूत्र का चमत्कार कल्पना की जासकती है। इसके साथ यह भी बात है, कि जीवात्मा जगत् के भोक्ता हैं। जो भोक्ता हैं, वे ही नियन्ता नहीं होसकते, इसीलिये समस्त विश्व के नियन्ता को पूर्णकाम कल्पना किया गया है, जहां कामना एवं भोगलिप्सा है, वहां नियन्त्रण निर्दोष नहीं रहता। इस स्थिति को हम आये दिन देश की नियन्त्रण-व्यवस्था में देखते हैं। परन्तु विश्व का नियन्त्रण ऐसा नहीं है, इसलिये वह भोक्ता जीवात्माओं का कार्य नहीं कहा जासकता। फलतः समस्त विश्व का नियन्ता एक चेतन होना चाहिये, और वह

होगा—पूर्णशक्ति एवं पूर्णकाम। उसी चेतन का नाम परमात्मा है।

विश्व का नियन्त्रण करने के लिये एक से अधिक चेतन की आवश्यकता नहीं। जब एक से अधिक की ओर चलेंगे, तो यह गाड़ी दो चार दस बीस पचास सौ दो सौ पर रुक नहीं सकती। यह तब अनन्तता पर ही जाकर अटकेगी। कारण यह है, कि किसी नियत संख्या के लिये कोई प्रमाण या युक्ति उपस्थित नहीं किये जा सकते। इसलिये या तो विश्व का नियन्ता एक मानना होगा, या फिर अनन्त। दूसरे विकल्प में पूर्वोक्त सब दोष उसी तरह उपस्थित होंगे। फिर नियन्ता चेतन को पूर्णशक्ति एवं पूर्णकाम तथा सर्वज्ञ आदि मानकर विश्व का समग्र कार्यकलाप उसके नियन्त्रण की सीमा में रहता है, उससे अतिरिक्त शेष कुछ बचता नहीं, फिर अन्य नियन्ता चेतन की कल्पना अनावश्यक होगी। फलतः परमात्मा को विश्व का नियन्ता एवं अधिष्ठाता मानना उसके एकत्व का प्रबल प्रमाण है। वेदादि शास्त्रों में उस एक चेतन का अनेक नामों से वर्णन किया गया है[1]। अतः विश्व का नियन्ता चेतन एक ही है।

## जीवात्मा—

सांख्यदृष्टि से चेतन के दो वर्गों में से एक परमात्मा का निरूपण कर दिया गया, अब जीवात्मा का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। परमात्मा और जीवात्मा के चैतन्य रूप में कोई भेद नहीं है। पर अन्य अनेक प्रकार के भेद हैं; जिनका यथावसर निरूपण किया जायगा। इनका मूलभूत भेद है—परमात्मा का भोक्ता न होना, और जीवात्मा का भोक्ता होना। परमात्मा की प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्सर्ग जीवात्मा के भोग के लिये होता है। यदि इन तीनों का इसी विशेषता के आधार पर वर्णन किया जाय, तो कहना होगा, कि परमात्मा अभोक्ता है, जीवात्मा भोक्ता और प्रकृति भोग्य है।

**जीवात्मा भोक्ता है**—ऋग्वेद की एक ऋचा में इस अर्थ को बहुत स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट किया है। ऋचा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ [ऋ० १।१६४।२०]

दो चेतन, परस्पर संबन्ध रखने वाले, पारस्परिक सहयोगपूर्वक रहते हुए, कार्यमात्र के मूलकारणभूत एक प्रकृति के साथ सम्पर्क रखते हैं। ये दो चेतन, जीवात्मा और परमात्मा हैं। इन दोनों का परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध है। अपनी स्थिति में दोनों प्रेरक, साक्षी, द्रष्टा एवं कर्त्ता हैं। परमात्मा प्रकृति का केवल नियन्ता और जीवात्मा भोक्ता है, इसलिये उन दोनों में से एक स्वादु फल का भोग करता है, यह चेतन जीवात्मा

---

**१. माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। [ निरुक्त ७।४ ] उस महती देवता के महा ऐश्वर्यशाली होने के कारण उस एक ही आत्मा की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है। [ एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, ऋ० १।१६४।४६ ]**

है। तथा अन्य चेतन न भोगता हुआ सदा प्रकाशित रहता है, यह परमात्मा है। इसी के अनुसार श्वेताश्वतर उपनिषद् [१।१२] में अतिस्पष्ट लिखा है—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्त्वा सर्वं प्रोक्त त्रिविधं ब्रह्ममेतत्[1] ।।

भोक्ता भोग्य और प्रेरिता को यथावत् समझकर अखिल विश्व इन्हीं तीन प्रकारों में कह दिया गया है, ये अनादि शक्ति हैं। अभिप्राय यह कि वेदादि शास्त्रों में जीवात्मा का भोक्ता रूप में वर्णन किया गया है। कठ [१।३।४] उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है— 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण' : इन्द्रिय और मन आदि उपकरणों के सहित, आत्मा को ऋषियों ने भोक्ता कहा है। सांख्य में आत्मा की इस विशेषता का विस्तारपूर्वक विवेचन है। सूत्रकार कपिल के अतिरिक्त कुछ अन्य प्राचीन आचार्यों के विशेष उल्लेख इस सम्बन्ध में उपलब्ध होते हैं, कि आत्मा के भोग का स्वरूप क्या होना चाहिये। यद्यपि कोई व्यक्ति जब सुख-दुःख आदि का अनुकूल-प्रतिकूल भावना के रूप में अनुभव, करता है, यही भोग का स्वरूप है। यह लोक में सर्वजनानुभवविदित है। परन्तु साधारण लोक-व्यवहार की अपेक्षा शास्त्रीय चर्चा में कुछ विशेषता अवश्य हुआ करती है। शास्त्र उस अनुभव की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने का यत्न करता है।

**आसुरिमत से जीवात्मा का भोग**—कपिल के शिष्य आसुरि के नाम से इस विषय का एक श्लोक अनेक[2] ग्रन्थों में उद्धृत हुआ मिलता है, श्लोक है—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ।।

विविक्त अर्थात् पुरुष के असंग रहते हुए, बुद्धि के दृक् [द्रष्टा] रूप में परिणत हो जाने पर जो स्थिति बनती है, वही पुरुष का भोग कहा जाता है। अभिप्राय यह है, कि अपने सब धर्मों को लेकर बुद्धि, असंग पुरुष में प्रतिबिम्बत हो जाती है, इसी को बुद्धि का दृक्परिणाम कहा जाता है, जैसे स्वच्छ जल में चन्द्र अपने धर्मों को लेकर प्रतिबिम्बित हो जाता है। इसप्रकार पुरुष में प्रतिबिम्बित बुद्धि पुरुष का भोग है। बुद्धि के सब धर्म बुद्धि में होते रहते हैं, पुरुष का भोग केवल इतना है, कि बुद्धि अपने धर्मों को लेकर उसमें प्रति-बिम्बित होरही है। इसी अर्थ को दूसरे शब्दों में इसप्रकार कहा जासकता है, कि श्रोत्र चक्षु आदि सम्पूर्ण करण अपने-अपने अर्थों को बुद्धि में समर्पित करते हैं, और बुद्धि उन सब को लेकर पुरुष के सान्निध्य से दृक् रूप में परिणत हो उन्हें पुरुष में समर्पित करती है, अर्थात् पुरुष के भोग को सिद्ध करती है।

---

**१. 'ब्रह्म' पद का प्रयोग चेतन के अतिरिक्त अचेतन–प्रधान [प्रकृति] के लिये भी होता है। देखें—माठरवृत्ति, आर्या २२।। तत्त्वसमाससूत्रव्याख्या—तत्त्वयाथार्थ्य-दीपन, सूत्र १।। भगवद्गीता, १४।३,४।।**

**२. देखिये 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ ४७६ पंक्ति १७, तथा उसकी टिप्पण**

इस प्रसंग में यह और अधिक स्पष्ट होना चाहिये, कि बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्बित होने अथवा बुद्धि का दृक्‌रूप परिणाम होने का क्या अभिप्राय है ? क्योंकि न तो बुद्धि निर्दोष चेतन में इसप्रकार प्रतिविम्बित हो सकती है, जैसे स्वच्छ जल में चन्द्रमा प्रतिबिम्बित हो जाता है, ऐसे प्रतिबिम्ब का अस्तित्व रूपी द्रव्यों में संभव हो सकता है; और न बुद्धि का वास्तविक दृक्‌रूप परिणाम संभव है, दृक् चेतन का नाम है, अचेतन बुद्धि चेतनरूप में परिणत नहीं हो सकती। इसलिये ये पद किस अर्थ को प्रकट करते हैं, यह स्पष्ट होना चाहिये।

वस्तुस्थिति यह है, कि न तो स्वच्छ जल में चन्द्रमा के समान, आत्मा में बुद्धि प्रतिबिम्बित होती है; और न वास्तविक रूप से बुद्धि दृक्‌रूप में परिणत होती है। बात केवल इतनी है, कि चेतत आत्मा के सान्निध्य में सब करण अपना अपना कार्य ठीक रूप में करते हैं। श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषय बुद्धि तक पहुंचते हैं, तब बुद्धि के सहयोग से आत्मा उनका अनुभव करता है। आत्मा को होने वाले बाह्य विषयों के इस अनुभव के लिये बुद्धि मुख्य करण है। आत्मा के सान्निध्य से बुद्धि अपना यह कार्य करने में समर्थ होती है, इसी कारण इस अर्थ को, बुद्धि का दृक्‌रूप में परिणत होना बताया गया है। यद्यपि बुद्धि परिणामिनी है, इन्द्रिय द्वारा जब बाह्य विषय बुद्धि तक पहुंचता है, बुद्धि में प्रतिफलित होता है, तब बुद्धि-संयुक्त आत्मा उसका अनुभव करता है। आत्मा और बुद्धि का संयोग अविवेक के कारण है। सांख्य में इसी को आत्मा के साथ प्रकृति-योग कहकर आत्मा के बन्ध का कारण बताया गया है [सा० सू० १।१९]। जब बाह्य विषय बुद्धि में इन्द्रिय-प्रणाली द्वारा प्रतिफलित होता है, उस समय यह कहा जाता है, कि बुद्धि विषयाकार में परिणत हो गई है। अभिप्राय यह है, कि उस समय बुद्धि विषयरूप में प्रतिभासित होती है। यह एक ऐसी बात है, जैसे एक प्लेट पर सामने आनेवाली वस्तु प्रतिफलित हो जाती है, और उस समय उस प्लेट पर हम उस वस्तु के स्वरूप को देख सकते हैं। इस घटना को हम इन शब्दों में कह सकते हैं, कि प्लेट विषयाकार में परिणत हो गई है। एक प्लेट एक ही विषय को ग्रहण कर सकती है, परन्तु इस बुद्धिरूपी प्लेट में यह एक चमत्कारी विशेषता है, कि इसमें बाह्य वस्तु के प्रतिफलित होने पर जैसे ही आत्मा को उसका अनुभव हो जाता है, यह स्वभावतः विषयान्तर को ग्रहण करने के लिये पुनः पूर्ववत् स्वच्छ हो जाती है, और यह क्रम इसमें बराबर बना रहता है।

इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये दूसरा उदाहरण जपाकुसुम और स्वच्छ स्फटिकमणि का दिया जाता हैं। जपा का फूल लाल रंग का होता हैं, इसे भाषा में गुडहल कहा जाता है। यह अन्तःकरण-स्थानीय है, जैसे फूल अपने अन्दर लाल रंग को लेकर उपस्थित रहता है, इसी तरह बुद्धि इन्द्रिय-प्रणाली द्वारा बाह्य विषयों को लेकर उपस्थित रहती है। जपा का फूल जब स्वच्छ स्फटिकमणि के सम्पर्क में आता है, तब वह जपा के सहयोग से लाल प्रतीत होने लगता है। स्फटिक मणि आत्म-स्थानीय है, इसप्रकार बाह्य

धर्मों को लेकर बुद्धि जब आत्मा के सम्पर्क में आती है, तब आत्मा उन धर्मों का अनुभव करता है। बुद्धि और आत्मा का परस्पर सम्पर्क में आना केवल दृष्टान्त के सामंजस्य की दृष्टि से कहा गया है, अन्यथा उनका सम्पर्क तो बराबर बना रहता है, और जैसे-जैसे बाह्य धर्म अथवा विषय बुद्धि में आते जाते हैं, आत्मा उनका अनुभव करता जाता है। इस अर्थ को प्रकट करने के लिये सांख्य में यह कहा गया है, कि बुद्धि बाह्य धर्मों को लेकर आत्मा में प्रतिबिम्बित हो जाती है, अथवा उसका दृक्रूप में परिणाम हो जाता है। अब हम स्पष्ट रूप में समझ सकते हैं, कि यह केवल उस अर्थ को समझाने का एक ढंग है। बुद्धि में प्रतिफलित बाह्य धर्मों को आत्मा जो बुद्धि के सहयोग से अनुभव करता रहता है, और जो चेतन के सान्निध्य के कारण बुद्धि अपने इस कार्य के करने में समर्थ रहती है, इसी बात को क्रमशः बुद्धि का आत्मा में प्रतिबिम्बित होना तथा बुद्धि का दृक्रूप में परिणत होना कहा गया है। वस्तुतः न तो बुद्धि आत्मा में प्रतिबिम्बित होती है, और परिणामिनी होने पर भी न अचेतन बुद्धि का चेतन रूप में परिणाम होता है।

आत्मा में सुख दुःख आदि का अनुभव माने जाने पर एक यह आशंका उठाई जाती है, कि यदि वास्तविकरूप में साक्षात् आत्मा को सुख दुःख आदि का अनुभव होता है, तो आत्मा विकारी माना जाना चाहिये। आत्मा में सुख दुःख की प्रतीति आत्मा को अपनें शुद्ध स्वरूप से च्युत कर देती है। जब आत्मा को हम दुःखी या सुखी कहते हैं, तो मानो हम यह स्वीकार कर रहे हैं, कि आत्मा में सुख या दुःखरूप विकार का प्रादुर्भाव हो गया है। इसप्रकार आत्मा के स्वरूप का ध्यान रखते हुए साक्षात् आत्मा में सुख दुःख आदि के अनुभव का माना जाना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

सांख्य ने इस आशंका का समाधान किया है, कि आत्मा को सुख दुःख आदि का अनुभव होने पर भी उसके स्वरूप में किसी प्रकार के विकार की आशंका करना व्यर्थ है। आत्मा का अपना वास्तविक शुद्ध स्वरूप चेतन है। चेतन को किसी प्रकार का अनुभव होना, उसको अपने वास्तविकरूप से च्युत नहीं करता, प्रत्युत यह तो चेतन के स्वरूप का अपनी वास्तविक स्थिति में रहना प्रमाणित करता है। कोई भी अनुभव चेतन के अस्तित्व का प्रमाण कहा जा सकता है। या यूं कहिये, कि अनुभव विना चेतन के अस्तित्व के हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में चाहे किसी विषय का अनुभव हो, वह वहां चेतन के अस्तित्व का द्योतक है, उसमें किसी प्रकार के विकार का नहीं। जैसे स्वच्छ स्फटिकमणि जपाकुसुम के संपर्क अथवा सहयोग से लाल प्रतीत होता है, पर उसके अपने वास्तविक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, तथा जैसे स्वच्छ जल में चन्द्र के प्रतिबिम्बित होने पर जल के अपने वास्तविक स्वरूप में किसी प्रकार का विकार नहीं आता, ठीक इसी प्रकार बुद्धि के सम्पर्क अथवा सहयोग से सुख दुःख आदि का साक्षात् अनुभव करने पर आत्मा के अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर या विकार नहीं आता।

बौद्ध विद्वानों ने जब वेदान्तानुयायी विद्वानों के सन्मुख आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में इसी प्रकार की आशंकाओं का उद्भावन किया, तो उन्होंने इनके आधार को युक्तियुक्त समझा। इसलिये उन्होंने अपने समाधान का मार्ग बदल लिया। उन्होंने इस बात को ठीक समझा, कि आत्मा को सुख दुःख आदि का साक्षात् अनुभव होना मानने पर उसमें विकार की आशंका की जा सकती है। इसलिये उन्होंने आत्मा के भोग अथवा सुख दुःख आदि के अनुभव की दूसरे रूप में कल्पना की। उन्होंने कहा, कि सुख दुःख आदि का अनुभव अन्तःकरण में होता है। अन्तःकरण मन अथवा बुद्धि हैं। 'मन' अथवा 'बुद्धि' पद यहां सांख्य के पारिभाषिक नहीं, प्रत्युत अन्तःकरण के नाम हैं। अभिप्राय यह हुआ, कि सुख दुःख आदि का अस्तित्व बुद्धि में है। आत्मा तो केवल अपने चैतन्य से उसे प्रतिभासित करता है, चेतन से प्रतिभासित होने पर बुद्धि सब तरह का अनुभव करती है। चेतन के द्वारा सान्निध्यमात्र से बुद्धि को प्रतिभासित करना ही चेतन का भोग अथवा अनुभव है। इसप्रकार बुद्धि के सहयोग से आत्मा में सुख दुःख आदि का अनुभव न मानकर इन विद्वानों ने आत्मा को विकारी होने से बचा लिया, और सब प्रकार के भोग अथवा अनुभव बुद्धि में मान लिये।

**आत्मा का भोग विन्ध्यवासीमत में**—सांख्य-परम्परा में आचार्य विन्ध्यवासी ने आत्मा का भोग कुछ इसी रूप में माना है। उसके नाम से एक श्लोक, हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या में कलकत्ता संस्करण के १०४ पृष्ठ पर इसप्रकार उद्धृत किया गया है—

विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—
पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥

अविकृतात्मा अर्थात् असंग अथवा अविकारी रहता हुआ ही पुरुष, सान्निध्य के कारण अचेतन मन [—बुद्धि] को स्वनिर्भास अर्थात् चेतन जैसा कर देता है। जैसे उपाधि —लाल कमल, स्फटिक को सान्निध्य से लाल जैसा बना देता है। अभिप्राय यह है, कि सान्निध्य के कारण चैतन्य, बुद्धि में प्रतिफलित अथवा प्रतिभासित हो जाता है। इस प्रकार बुद्धि को चेतन के समान कार्य करने का सामर्थ्य देता है। इस अवस्था में बुद्धि सब प्रकार का अनुभव करती है, वहां प्रतिभासित अथवा प्रतिबिम्बित चेतन अविवेक से यह मान बैठता है, कि मैं यह सब सुख दुःख आदि का अनुभव कर रहा हूं, यही उसका भोग है, वस्तुतः वह स्वयं कुछ भी करता या भोगता नहीं।

विन्ध्यवासी के मत से पुरुष सर्वथा असंग है, भोग भी मुख्यतया बुद्धि में होता है, क्योंकि चेतन अर्थात् पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित है, अथवा बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्बित हुए विना भोगादि हो नहीं सकते, बुद्धि में भोगादि का सामर्थ्य पुरुष के सान्निध्य से होता है, इसलिये पुरुष में भोगादि का उपचार हो जाता है। विन्ध्यवासी के मत से उपाधि,

स्फटिक से सर्वथा असंलग्न है, सान्निध्यमात्र से अपनी विशेषता को दूसरी जगह संक्रान्त कर रही है। रक्तकमल-उपाधि के संसर्ग से, श्वेत स्फटिक रक्त जैसा प्रतीत होता है, फिर भी स्फटिक के काठिन्य आदि गुण रक्त कमल में किसी तरह नहीं आसकते। परन्तु स्फटिक, रक्त उस समय तक हो नहीं सकता, जब तक कि उपाधि का सान्निध्य न हो। इसी प्रकार पुरुष, जब तक अचेतन बुद्धि को सान्निध्य से स्वनिर्भास नहीं करेगा, तब तक बुद्धि में भोगादि की संभावना नहीं। विन्ध्यवासी के मत से यही भोग का स्वरूप है।

**आसुरि-विन्ध्यवासी मतों का वैशिष्टच**—दोनों प्रकार की विचारधाराओं में पुरुष असंग एव अविकृतात्मा है। अपने प्रतिपाद्य अर्थ को स्पष्ट करने के लिये दोनों ने एक ही दृष्टान्त का आश्रय लिया है। पर हम देखते हैं, कि विन्ध्यवासी ने दृष्टान्त की मूल स्थिति को परिवर्त्तित कर दिया है। आसुरि के विचार से उपाधि रक्तकमल बुद्धि-स्थानीय है, और स्फटिक चेतन-स्थानीय। रक्त-कमल जैसे अपने धर्म रक्तिमा को स्फटिक में समर्पित करता है, इसीप्रकार बुद्धि बाह्य विषयों अथवा सुख दुःख आदि को चेतन में समर्पित करती है। परन्तु विन्ध्यवासी के विचार से यही दृष्टान्त विपरीत हो गया है। यहां रक्तकमल-उपाधि, चेतन-स्थानीय है, और स्फटिक बुद्धि-स्थानीय, जिसप्रकार रक्तकमल अपनी रक्तिमा से, स्फटिक को सान्निध्य के कारण रंजित कर देता है, पर स्वयं स्फटिक के काठिन्य आदि गुणों से प्रभावित नहीं होता; ठीक इसी प्रकार उपाधि-स्थानीय चेतन अपने चैतन्य से स्फटिक-स्थानीय बुद्धि को रंजित अथवा प्रभावित कर देता है, पर बुद्धि के सुख दुःख आदि धर्मों का प्रभाव चेतन पर नहीं होगा। प्रत्युत चेतन से प्रभावित बुद्धि ही सुख दुःख आदि का अनुभव करती रहती है। इसप्रकार चेतन को बाह्य विषयों के अनुभव से अछूता ही बचा लिया गया है।

सांख्य के अन्तर्गत विन्ध्यवासी की इस विचारधारा पर निश्चित रूप से वेदान्त का प्रभाव है, और इसका कारण है–बौद्ध विद्वानों द्वारा उद्भावित, आत्मा में सुख दुःख आदि के अनुभव से विकृति की कल्पना। विन्ध्यवासी ने इस अर्थ को पूर्वाचार्यों द्वारा प्रदर्शित दृष्टान्त में विपर्यास करके प्रकट किया है। इस विचार को स्पष्ट किया जा चुका है, कि आसुरि आदि की विचारधारा के अनुसार आत्मा में सुख दुःख आदि का अनुभव होने पर भी उसके चेतन स्वरूप में किसी प्रकार के विकार की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि आत्मा के बाह्यविषयक अनुभव के लिये बुद्धि आदि साधनमात्र हैं। यदि वास्तविक भोग अर्थात् सुखादि का अनुभव बुद्धि को होना माना जाता है, तो क्या यह जगत्सर्ग उसी के लिये हुआ है? इस स्थिति में चेतन की सत्ता सर्वथा आनुषंगिक रह जाती है, बुद्धि को सहायतामात्र पहुंचाना। इसप्रकार चेतन साध्य अथवा उद्देश्य न रहकर साधनमात्र बन जाता है, एवं प्रकृति का स्वरूप जो 'परार्थ' कहा गया है, वह असंगत हो जाता है। जब समस्त भोग मुख्यतया बुद्धि को होना माना जाता है, तो प्रकृति को 'परार्थ' कैसे कहा जायगा, क्योंकि बुद्धि तो प्रकृति का विकार होने से तत्स्वरूप है। ऐसी स्थिति में आत्मा

की सिद्धि के लिये प्रस्तुत किया गया 'परार्थ' हेतु असंगत हो जाता है। वस्तुतः हम आत्मा को विकार से बचाने के धोखे में बुद्धि के स्थान पर ला पटकते हैं, जबकि यह निश्चित है, कि आसुरि के अनुसार भी चेतन में किसी प्रकार के विकार की कल्पना करना वञ्चना है। विन्ध्यवासी के द्वारा दृष्टान्त के विपर्यास से अर्थ का विपर्यय कर दिया गया है, साध्य को साधन तथा साधन को साध्य के स्थान पर बिठा दिया है, जो वास्तविकता की दृष्टि से अवांछनीय है।

आसुरि के विचारों के अनुसार जब बुद्धि-स्थानीय रक्तकमल, आत्म-स्थानीय स्वच्छ स्फटिकमणि को रंजित करता है, तब भी स्फटिक मणि की स्वच्छता अपने रूप में उसी प्रकार बराबर बनी रहती है। यदि वह स्वच्छता अपने स्वरूप का परित्याग कर द, तो उसमें रक्तिमा का अनुभव होना असंभव है। यह रक्तिमा का अनुभव तभी संभव है, जब स्फटिक की स्वच्छता अपने रूप में अबाध बनी हो। इसी प्रकार साधनभूत बुद्धि के द्वारा अर्पित सुख दुःख आदि का अनुभव करने पर भी आत्मा के अपने विशुद्ध चेतन स्वरूप में किसी प्रकार की बाधा या विकृति नहीं आती। प्रत्युत यह अनुभव आत्मा के चेतन स्वरूप के अस्तित्व का द्योतक है।

**आत्मा का आहार्य भोग**—सांख्य के कतिपय विद्वानों ने प्रस्तुत अर्थ का वर्णन इस प्रकार किया है—जब बुद्धि, सुख दुःख आदि को लेकर आत्मा में प्रतिबिम्बित होती है, अथवा उन्हें वहां समर्पित करती है, उस समय सुख दुःख आदि तो बुद्धि में रहते हैं, पर क्योंकि बुद्धि आत्मा में प्रतिबिम्बित है, इसलिये वह आत्मा के चैतन्य से प्रकाशित हो जाती है, अर्थात् वह चैतन्य की तरह आभासित होने लगती है। बुद्धि की इसी स्थिति का नाम उसका 'दृक्परिणाम' कहा जाता है, तब बुद्धि ही वास्तविकरूप में सुख दुःख आदि का अनुभव करती है, पर वह चैतन्य से प्रतिभासित है, अतः चेतन सुख दुःख के अनुभव का अभिमान करता है। यही आत्मा का भोग है। आत्मा के इस भोग को 'आहार्य भोग' नाम दिया जाता हैं। इसका अभिप्राय यह है, कि यह भोग अन्य के द्वारा आहृत है। अन्य है, आत्मा से अतिरिक्त बुद्धि। बुद्धि अपनें अन्दर सुख दुःख आदि को समेटे हुए आत्मा में उपस्थित होती है, तब आत्मा अन्य [ —बुद्धि ] के द्वारा आहृत भोग को अविवेक से अपना समझता है। इस आधार पर इसे 'आहार्य भोग' का नाम दिया गया है। इस वर्णन में आत्मा को सुख दुःख आदि के अनुभव से उसमें विकार की कल्पना की आशंका ठीक मानकर आत्मा को उससे बचाने का यत्न किया गया है। विन्ध्यवासी के अनुसार इसप्रकार के आहार्य भोग की भी आत्मा में संभावना नहीं है। वस्तुतः उस प्रक्रिया ने आत्मा को साध्य के स्थान पर साधनमात्र बना डाला है।

**आत्म-भोग के विषय में कपिल के विचार**—आत्मा के भोग के सम्बन्ध में आसुरि और विन्ध्यवासी के विचार हमारे सन्मुख हैं। सांख्य में आत्मा को भोक्ता बताया गया है। विन्ध्यवासी के विचार से तो यह आत्मा का भोक्तृत्व एक ढकोसला ही

है, पर स्वयं कपिल ने इस विषय में अपने क्या विचार प्रस्तुत किये हैं, देखना चाहिये। सांख्यषडध्यायी के अनेक स्थलों में प्रसंगवश इस विषय का उल्लेख हुआ है। संक्षेप में उन सबको यहां यथाक्रम उपस्थित किया जाता है।

प्रथमाध्याय के ६९ से ७१ तक तीन[1] सूत्रों में इसका वर्णन है। इससे पूर्व प्रकरण में प्रत्यक्ष आदि तीनों प्रमाणों का विवेचन किया गया है। शिष्य प्रश्न करता है, इन प्रमाणों का उपदेश क्यों किया गया? गुरु कपिल उत्तर देता है, दो मूल तत्त्व हैं–चेतन और जड़ अर्थात् पुरुष और प्रकृति, उनका विवेचन करने के लिये प्रमाणों का उपदेश किया गया है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की सत्ता अथवा असत्ता का तथा उनके स्वरूप का निश्चय प्रमाणों के द्वारा किया जा सकता है, और इसप्रकार मूल रूप में चेतन तथा अचेतनरूप दो तत्त्वों का निश्चय होता है।

प्रमाण विवेचन के प्रसंग में समस्त विश्व के अधिष्ठाता ईश्वर के अस्तित्व का निश्चय कर आये हैं, उसका स्मरण कर शिष्य पूछता है, कि इस जड़ जगत् की रचना क्यों की जाती है? कपिल उत्तर देता है—चेतन आत्मा के भोग के लिये। यहां कपिल ने सूत्र कहा है—

चिदवसानो भोगः। चित्-चेतन आत्मा अर्थात् जीवात्मा[2] में जिसका अवसान-समाप्ति है, वह भोग है। संसार में सुख दुःख आदि का अनुभवरूप भोग, जीवात्मा तक पहुँचकर समाप्त होता है, उसके पहले वह और कहीं रुक नहीं जाता। इसप्रकार सम्पूर्ण संसार जीवात्मा का भोग्य है, इसीलिए संसार का सृजन हुआ है। शिष्य पूछता है, संसार की रचना तो और किसी ने की है, जिसे समस्त विश्व का अधिष्ठाता कहा जाता है, पर इस जगत् को भोगता है जीवात्मा, यह स्थिति कुछ समञ्जस प्रतीत नहीं होती; क्योंकि इसमें न करने वाले का फल की प्राप्ति होती है। कपिल ऋषि उत्तर देता है—लोक में ऐसा देखा जाता है, कि एक व्यक्ति रसोई आदि बनाकर तैयार करता है, पर उसको भोगने वाले अन्य अनेक व्यक्ति होते हैं। इसी प्रकार जगद्रचना में जीवात्माओं का हाथ न होने पर भी वे इसके भोगने वाले हो सकते हैं। कपिल ने यहां सूत्र कहा है—

'अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्'। ऋषि ने लौकिक उदाहरण के द्वारा प्रत्यक्ष अर्थ के समान परोक्ष अर्थ को समझाने का यत्न किया है। यह दृष्टान्त केवल इतने अंश

१—सांख्यषडध्यायी के प्रथमाध्याय की यह सूत्रसंख्या केवल हमारे संपादित सांख्यसूत्रों में मिलेगी। इसमें ३५ जोड़कर चाहे जिस सस्करण में देखा जा सकता है।

२—इस सूत्र में 'चित्' पद का अर्थ जीवात्म-चेतन है। यद्यपि चित्, चेतन अथवा पुरुष पदों का प्रयोग सांख्य में चेतनमात्र के लिये हुआ है, जिसमें परमात्मा और जीवात्मा दोनों का समावेश हो जाता है। कहां किसका ग्रहण होना चाहिये, इसका नियामक प्रकरण रहता है। अगले सूत्र की संगति के अनुसार यहां जीवात्मा का ग्रहण होता है, परमात्मा का नहीं।

में लागू है, कि करने वाला अन्य होने पर भी भोगने वाले उससे अतिरिक्त हो सकते हैं।

व्यावहारिक बात कहकर ऋषि अगले सूत्र से निश्चित समाधान करता है—

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः। जीवात्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि की सिद्धि, अविवेक के कारण होती है। वैसे तो वह शुद्ध चेतनस्वरूप है, पर अविवेक उसे एक ऐसी अवस्था [बन्ध अवस्था] में लाकर डाल देता है, जहां कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का अस्तित्व उसमें स्वीकार किया जाता है,[1] और जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का अस्तित्व आत्मा में नहीं रहता। अविवेक क्या है? चेतन और अचेतन के वास्तविक भेद का साक्षात् ज्ञान न होना। जब जीवात्मा इस अवस्था में होता है, तब वह धर्म अधर्म आदि स्वकृत कर्मों के अनुसार जन्म-मरण के सततगामी प्रवाह में बह रहा होता है। सामूहिक रूप से जीवात्माओं के ये कर्म, सृष्टिरचना में सहायभूत होते हैं।[2] क्योंकि आत्माओं के भोगने के लिये इस जगत् की रचना की जाती है, इसलिये यह आवश्यक है, कि वह उनके भोग के अनुकूल होनी चाहिए। इस अनुकूलता के नियमन में जीवात्माओं के कर्म सहायभूत होते हैं। जगत् की उत्पत्ति में अन्य निमित्तों के समान जीवात्माओं का अविवेक भी एक निमित्त है। अतएव फल की प्राप्ति अर्थात् भोग, कर्त्ता को ही हैं, इसमें सन्देह नहीं। बुद्धि आदि अन्तःकरणों से लगाकर जितना विश्व है, वह सब जीवात्माओं के भोग का साधन अथवा विषय है। इस सब की विशेष रचना में जीवात्माओं के कृतकर्म सहायभूत होते हैं, इसलिये जीवात्माओं का फलोपभोग अपने किये कर्मों का परिणाम होने से—कर्त्ता को ही भोग की प्राप्ति होती है—इस कथन में कोई आपत्ति नहीं। इसी अर्थ को महर्षि कपिल ने शास्त्र का उपसंहार करते हुए सांख्य के छठे अध्याय में इसप्रकार कहा है—'चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात्'। चेतन आत्मा के कर्मों से अर्जित होने के कारण, भोग चेतन आत्मा को होता है।

इन सूत्रों के आधार पर यह स्पष्ट होता है, कि कपिल, भोग अर्थात् सुख-दुःख आदि की अनुभूति, आत्मा में होना मानता है। यह प्रकट किया जा चुका है, कि आत्मा में सुख-दुःखानुभव होने पर उसके अपने वास्तविक चेतन स्वरूप में कोई अन्तर या विकार नहीं आता। वह अपने स्वरूप में सदा एकरस बना रहता है।

**आसुरिमत कपिलानुसारी**— इस प्रसंग के अतिरिक्त सांख्यषडध्यायी के द्वितीय अध्याय के ३४, ३५, ३६, सूत्रों में पुनः प्रकरणवश इसका वर्णन किया गया है। वहां पिछले [३३वें] सूत्र में इन्द्रिय-वृत्तियों का वर्णन है। दश वाह्य इन्द्रियों के पांच-पांच के दो

---

१. तुलना कीजिये—तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ।१। २०।।
नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ।३।६८।।
नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ।३।७१।
निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टहानिः ।३।७४।।

२. तुलना कीजिये—कर्मनिमित्तयोगाच्च। सांख्यसूत्र ३। ६७।।

वर्ग हैं, और आन्तर इन्द्रिय मन इन सब के साथ लगा रहता है। ये इन्द्रियां बुद्धि के द्वारा आत्मा की अनुकूल अथवा प्रतिकूल अनुभूतियों के साधन हैं। इन्द्रियां अपने-अपने बाह्य विषय को बुद्धि तक पहुँचाती हैं, और बुद्धि उसे आत्मा में प्रस्तुत करती है। यह सब कार्य-प्रणाली उस समय तक चलती रहती है, जब तक आत्मा अविवेकी है, अर्थात् उसे चेतन अचेतन अथवा आत्मा तथा प्रकृति के भेद का साक्षात् ज्ञान नहीं हो जाता। तत्त्वज्ञान हो जाने पर इन्द्रिय-वृत्तियां रुक जाती हैं, और आत्मा में बुद्धि का उपराग भी शान्त हो जाता है। अभिप्राय यह है, कि उस अवस्था में क्लेश अक्लेशरूप इन्द्रिय-वृत्तियां बुद्धि द्वारा आत्मा पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल पातीं। इस अर्थ को कपिल ने निम्नलिखित शब्दों में कहा है—

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः। आसुरि के श्लोक में जो अर्थ 'प्रतिबिम्ब' पद से कहा गया है, उसी अर्थ को प्रकट करने के लिये कपिल ने 'उपराग' पद का प्रयोग किया है। इसका यह अभिप्राय ध्वनित होता है, कि बुद्धि बाह्य विषय को लेकर आत्मा में उपरक्त हो जाती है, और इसप्रकार आत्मा, उसका अनुभव करता है, अथवा उसे भोगता है। बुद्धि के आत्मा में उपरक्त अथवा प्रतिबिम्बित होने का वास्तविक अर्थ वही है, जिसका पीछे वर्णन किया जा चुका है। चेतन आत्मा के सान्निध्य से उसके ये अचेतन साधन अपने कार्यों को करने में समर्थ होते हैं, और इसप्रकार बाह्य विषयों को आत्मा तक पहुँचाते हैं, वह उनका अनुभव करता अथवा उन्हें भोगता है।

'उपराग' के स्पष्टीकरण के लिये सूत्रकार ने आगे एक लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—'कुसुमवच्च मणिः' जैसे स्वच्छ भी मणि कुसुम के समान प्रतीत होता है, रक्त कुसुम स्वच्छ मणि में प्रतिबिम्बित होकर अपनी रक्तिमा से उसे रक्त जैसा बना देता है, इसी प्रकार बुद्धि स्वगत इन्द्रियवृत्तियों को आत्मा तक पहुँचाकर उसके भोग को सम्पन्न करती है। इन्द्रियवृत्तियां वृत्तिरूप में आत्मा तक नहीं पहुँचतीं, वे बुद्धि में अवस्थित रहती हैं, आत्मा सान्निध्य के कारण उनका अनुभव करता है, इसप्रकार आत्मा में उनका अस्तित्व, अनुभूतिरूप में है। इसी स्थिति को—बुद्धि द्वारा आत्मा में इन्द्रियवृत्तियों को समर्पण कर देना—कहा जाता है। यह सब इसीलिये होता है, कि ये समस्त करण, सूक्ष्म-स्थूल देह और बाह्य जगत् पुरुष के लिये रचना किया गया है—'पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्य-दृष्टोल्लासात्' [सांख्य० २।३६] यह समस्त करण एवं ['अपि'-पदलक्षित] बाह्य जगत् पुरुष के लिये हैं, पुरुष के 'अदृष्ट' अर्थात् धर्म अधर्म का उद्रेक होने से। जब पुरुष के महा-सञ्चित कर्म फलोन्मुख होते हैं, तब पुरुष के लिये इस समस्त सृष्टि की रचना की जाती है। पुरुष के दो प्रयोजन इससे पूरे होते हैं, एक भोग दूसरा अपवर्ग। इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है, कि आत्मा के भोग के सम्बन्ध में पीछे आसुरि का जो मत प्रकट किया है, वह कपिल का अनुसरण करता है।

**आत्मा कर्त्ता-भोक्ता है, बुद्धि नहीं**—सांख्यसूत्र २।४६ के आधार पर इस अर्थ का

स्पष्टीकरण होता है। सूत्र है—'तत्कर्मार्जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत्'। 'तदर्थ' में 'तत्' सर्वनामपद पुरुष के लिये प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि बुद्धि आदि समस्त करणों की प्रवृत्तियां पुरुष के लिये हुआ करती हैं, इस कारण पहले 'तत्' पद का अर्थ भी पुरुष समझा जा सकता है, इसके अनुसार सूत्र का अर्थ होगा—पुरुष के कर्मों से अर्जित होने के कारण बुद्धि आदि करणों की समस्त प्रवृत्तियां पुरुष के लिये होती हैं। जैसे लोक में भृति आदि से अर्जित भृत्य अपने स्वामी के लिये विविध कार्यो में प्रवृत्त होता है, इसी प्रकार पुरुष के कर्मों से अर्जित [प्राप्त अथवा उपलब्ध] समस्त करण पुरुष के लिये प्रवृत्त होते रहते हैं। इस कथन से कपिल की यह भावना ध्वनित होती है, कि वह कर्मों का कर्त्ता आत्मा को मानता है। इसप्रकार वह आत्मा अपने किये कर्मों के फलों को भोगता है। इसलिये जो विद्वान् साँख्य के सम्बन्ध में यह धारणा रखते हैं, कि वह बुद्धि को कर्त्ता मानता है, और पुरुष को केवल भोक्ता, उनकी यह विचारधारा वस्तुतः सांख्य से मेल नहीं खाती। कापिल सांख्य में आत्मा को कर्त्ता, द्रष्टा, भोक्ता, अधिष्ठाता आदि माना गया है। आत्मा में कर्तृत्व को स्वीकार न करना और केवल भोक्तृत्व को मानना, और वह भी ऐसा, जैसा कि विन्ध्यवासी ने बतलाया है, यह निश्चित ही दर्शनान्तरों की विचारधारा को सांख्य पर आरोपित किया गया है। इस सम्बन्ध में विन्ध्यवासी पर तो वेदान्त विचारों का पूरा प्रभाव प्रतीत होता है। वस्तुतः यह कथन अर्धजरतीय न्याय के समान है। या यूं कहिये, कि आधा तीतर आधा बटेर है, जो यह कहा जाता है, कि आत्मा कर्त्ता तो नहीं, पर भोक्ता है। जब हम आत्मा को 'भोक्ता' मान लेते हैं, तब उसे कर्त्ता मानने से कैसे नकार किया जासकता है। भोक्ता मानना भी तो भोग के प्रति उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना है। यदि भोक्तृत्व का स्वरूप ऐसा माना जाय, जैसा बिन्ध्यवासी ने स्वीकार किया है, तो वैसा स्वरूप कर्त्तृत्व का भी मानकर आत्मा को भोक्ता के समान कर्त्ता भी क्यों नहीं कहा जासकता ? अभिप्राय यह है, कि यदि आत्मा को भोक्ता माना जाता है, तो उसे कर्त्ता मानना पड़ेगा, और साँख्य ऐसा मानता है। इसलिये यह कहना निराधार है, कि सांख्य आत्मा को केवल भोक्ता बताता है। इसप्रकार कपिल के विचार से भोग अर्थात् सुख दुःख की अनुभूति आत्मा में होती है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

सांख्यसूत्र ३।५१,५२,५३ भी इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रसंग में पहला सूत्र है—'कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत्' जिसप्रकार एक कर्मकर अपने स्वामी के लिये विविध कार्य करता रहता है, इसी प्रकार प्रधान पुरुष के लिये अनेक रूप में प्रवृत्त होता रहता है। प्रकृति की इस विचित्र सृष्टिरचना में यद्यपि सत्त्व-रजस्-तमस् का वैचित्र्य मुख्य कारण होता है, पर इन गुणों के उस प्रकार के विलक्षण न्यूनाधिक सहयोग में पुरुष का कर्मवैचित्र्य कारण बताया गया है। फलतः सृष्टि की विविध रचना में पुरुष के कर्म निमित्त होते हैं। यहां धर्माधर्म आदि कर्मों का सम्बन्ध पुरुष के साथ बतलाया गया है, ऐसा ध्वनित होता है। कर्मों के अनुसार पुरुष उच्चावच योनियों मे

प्राप्त होता रहता है, और वह पुनः पुनः जन्म-मरण के प्रवाह में बहता रहता है, इसलिये आत्मा इस अवस्था से छुटकारा पाने को प्रयत्नशील रहता है। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा को जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, जरा मरण आदि का दुःख समान रूप से भोगना पड़ता है। इस अर्थ को कपिल ने अग्रिम दो सूत्रों से कहा है—'आवृत्तिस्तत्रापि, उत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः' तथा 'समानं जरामरणादिजं दुःखम्'। इस प्रसंग में भी धर्म अधर्म सुख-दुःख आदि भावों का कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा में स्वीकार किया है।

**आत्मभोगविषयक ईश्वरकृष्णमत**—ईश्वरकृष्ण ने कपिल के अनुसार सांख्यसप्तति में इन्हीं सूत्रों की छाया लेकर उक्त अर्थ को इसप्रकार स्पष्ट किया है—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

इससे पहली आर्या में कहा है, कि ये सम्पूर्ण तेरह करण परस्पर विलक्षण हैं। तथा प्रदीप के समान एक दूसरे के सहयोग से अपना कार्य सम्पादन करते हैं। अपने-अपने अर्थ को प्रकाशित कर बुद्धि में समर्पित कर देते हैं। क्योंकि बुद्धि पुरुष के सम्पूर्ण उपभोग को सिद्ध अर्थात् निष्पन्न करती है, और यह बुद्धि ही चेतन और अचेतन के वास्तविक भेद का ज्ञान होने में मुख्य साधन है। पुरुष के भोग और तत्त्वज्ञानरूप अपवर्ग के सम्पन्न करने में बुद्धि केवल साधन बताई गई है, इन अवस्थाओं का भोक्ता स्वयं चेतन पुरुष है। आगे ५५वीं आर्या में प्रतिपादन किया है—

अत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं समासेन ॥५५॥

संसार में जरा मरण आदि से जनित दुःखों को चेतन पुरुष प्राप्त करता है। परन्तु यह सुख-दुःख आदि की प्राप्तिरूप भोग, उसी समय तक होता है, जब तक बुद्धि आदि करण विद्यमान रहते हैं। इनकी विद्यमानता, आदि सर्ग से लेकर बराबर उस समय तक बनी रहती है, जब तक पुरुष को तत्त्वज्ञान न होजाय, अथवा जब तक अगला प्रलयकाल न आजाय, तत्त्वज्ञान हो जाने पर बुद्धि आदि करणों की निवृत्ति हो जाती है। तब यह मोक्ष अवस्था के कैवल्य का अनुभव करता है। यह अनिन्द्रिय अर्थात् अकरण अनुभव होता है, उस अवस्था में चैतन्यमात्र आत्मा स्वरूप में अवस्थित प्रकाशित रहता है, अपने चैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार ही मोक्ष है। उस समय पुरुष अचेतन प्रकृति के सम्पर्क से परे रहता है, उसी को परमात्मा में लीन होना अथवा परमात्मा के सम्पर्क में पहुंच जाना कहा जाता है। प्रस्तुत आर्या के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि सांसारिक अवस्था में पुरुष स्वयं सुख दुःख आदि का अनुभव करता है, वही उसका भोग है। बुद्धि आदि करण इस भोग के साधनमात्र होते हैं, आधार नहीं है।

**आत्मा का भोग माठर मत से**—सांख्यसप्तति की इस आर्या की व्याख्या करते

हुए, उपलब्ध व्याख्याओं में सबसे प्राचीन माठरवृत्ति के रचयिता आचार्य माठर ने लिखा है—

'···दुःखानि सर्वाणि प्राप्नोति चेतनः पुरुष एव प्रधानादीनामचेतनत्वात् । तस्मात्तस्यैव विज्ञानितया दुःखं न तु जडानां प्रधानादीनाम् ।'

सब प्रकार के दुःखों को चेतन पुरुष ही प्राप्त करता है, क्योंकि प्रधान और उसके कार्य बुद्धि आदि तो सब अचेतन हैं। इसलिये चेतन होने के कारण पुरुष को ही दुःख होता है, जड़ प्रधान आदि को नहीं।

**आत्मभोग में युक्तिदीपिकाकार का मत**—इसी प्रकार माठरवृत्ति से अर्वाचीन और अन्य समस्त उपलब्ध सांख्यसप्तति-व्याख्याओं में प्राचीन युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में लिखा है—

तच्चेदं दुःखं प्रधानमहदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतविशेषलक्षणस्य तत्त्वपर्वणः चैतन्यासम्भवात् पुरुष एव चैतन्यशक्तियोगादुपलभते ।'

पूर्ववर्णित सब प्रकार के दुःख को—प्रधान, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म-भूत, इन्द्रियां और स्थूलभूत ये जितने तत्त्व हैं, इनमें चैतन्य संभव न होने से और पुरुष में चैतन्यशक्ति होने से–पुरुष ही उपलब्ध करता है, प्रधान आदि नहीं। जयमंगला व्याख्या में तथा गौडपाद के भाष्य में इसी अर्थ का उल्लेख किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने, जो उक्त व्याख्याकारों में सबसे अर्वाचीन है, लिखा है, कि सुख दुःख आदि गुण तो बुद्धि के हैं, पर बुद्धि के साथ आत्मा का भेदज्ञान न होने के कारण बुद्धिगुणों का, आत्मा अपने में अध्यास [आरोप] कर लेता है। पर प्रतीत होता है, यहां मिश्र कदाचित् वेदान्त भावना से–अथवा सांख्य की यही परम्परा है इस भावना से–प्रभावित होकर ऐसा लिख गये। पंक्ति लिखकर स्वयं उनको यह बात खटकी, और अगले सांस में 'अथवा' कहकर पूर्ववत् अर्थ ही लिख दिया है। फिर भी इस उल्लेख के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है, कि चाहे सुख दुःख आदि बुद्धि के गुण हों, पर उनकी अनुभूति चेतन आत्मा को हो सकती है, जड़ बुद्धि को नहीं। अनुकूल प्रतिकूल अनुभूति के अतिरिक्त सुख-दुःख का और स्वरूप ही क्या हो सकता है? यदि इस अनुभूति का अस्तित्व बुद्धि में है, तो बुद्धि को जड़ नहीं कहा जा सकेगा। विन्ध्यवासी के कथनानुसार यदि चित्प्रतिबिम्बित बुद्धि में सुख दुःख आदि का अस्तित्व है, तो भी प्रकारान्तर से चेतन में ही उसके अस्तित्व को मान लिया गया है, ऐसा कहना पड़ेगा। क्योंकि चित्प्रतिबिम्ब के विना बुद्धि में इसका उद्भव नहीं माना गया। इसलिये सुख दुःख आदि की अनुभूति आत्मा में होती है, यह सांख्यसिद्धान्त स्थिर होता है। यही आत्मा का भोग है।

## जीवात्मा का कर्तृत्व—

साधारणतया किसी भी क्रिया के करने में स्वतन्त्र अर्थात् अन्यनिरपेक्ष होना कर्तृत्व कहा जाता है, पर सांख्य में जब हम इसका विचार करते हैं, तो दो भावना

सन्मुख आती हैं–एक अधिष्ठातृत्व की और दूसरी उपादान की। अर्थात् सांख्य में अधिष्ठाता भी कर्त्ता है, और उपादान भी। कारण यह है, कि किसी भी अर्थ को अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रकृति से जगत् बनता है, मट्टी से घड़ा बनता है, सुवर्ण से कुण्डल बनता है; इन स्थलों में प्रकृति, मट्टी सुवर्ण का स्पष्ट ही उपादानरूप में वर्णन किया गया है। इसी अर्थ को एक अन्य प्रकार से उपस्थित किया जा सकता है। प्रकृति जगत् बन जाती है, मट्टी घड़ा बन जाती है, सुवर्ण कुण्डल बन जाता है, यहां पर प्रकृति, मट्टी और सुवर्ण, जगत्, घड़ा और कुण्डल के उपादान हैं; पर जिस ढंग से वाक्य में उनका प्रयोग किया गया है, उससे उनकी स्थिति कर्त्तारूप में प्रकट होती है। प्रकृति, मृत् तथा सुवर्ण वाक्य में कर्त्ता होते हुए भी कार्यक्षेत्र में वे जगत् आदि के उपादान हैं। इसका परिणाम यह निकला, कि सांख्य में जहां कहीं प्रकृति को कर्त्ता बताया गया है, वहां उसके कर्तृत्व का यही अभिप्राय है, अर्थात् वह उपादानरूप अर्थ का प्रतिपादक है। इसी भाव को लेकर इसके विपरीत आत्मा को अकर्त्ता बताया गया है, क्योंकि आत्मा किसी कार्य का उपादान नहीं है, उपादान वही तत्त्व हो सकता है, जो परिणामी है, आत्मा ऐसा नहीं। फलतः जब उपादान के अर्थ में 'कर्तृ' पद का प्रयोग होता है, तब प्रकृति कर्त्ता, और आत्मा अकर्त्ता कहे जाते हैं।

इसी आधार पर सांख्यसप्तति की जयमंगला व्याख्या में पुरुष को अकर्त्ता बताते हुए लिखा है—'निर्गुणस्य पुरुषस्याप्रसवधर्मित्वादकर्तृत्वम्।' गुणों से अतिरिक्त पुरुष अप्रसवधर्मी होने से अकर्त्ता कहा जाता है। गुण प्रसवधर्मी हैं, इसलिये कर्त्ता हैं, यहां 'कर्तृ' पद उपादान की भावना से परिणामी अर्थ को कह रहा है। वाचस्पति मिश्र ने भी १९वीं आर्या के 'अकर्तृभावः' पद की यह व्याख्या की है—'अप्रसवधर्मित्त्वाच्चाकर्त्ता'। परन्तु दूसरी ओर कर्तृत्व का प्रयोग अधिष्ठातृत्व की भावना को प्रकट करने के लिये भी किया जाता है। जब हम कहते हैं, कि एक चेतन के सान्निध्य में किसी वस्तु का परिणाम होता है, तो उसका यह अभिप्राय है, कि चेतन के सान्निध्य के विना उस वस्तु में परिणाम हो नहीं सकता, इसलिये अपनी सन्निधि के कारण वह चेतन उस परिणाम का साक्षी है, उसको हम अधिष्ठाता कहते हैं, और उस परिणाम का कर्त्ता भी, परन्तु परिणति क्रिया का वह आधार नहीं है, उस क्रिया का आधार वही अचेतन तत्त्व है, जो परिणत हो रहा है।

**'कर्त्तृ' पद का विशिष्ट अर्थ**—इस अर्थ को उदाहरण के द्वारा ऐसे समझना चाहिये। जब किसी इन्द्रिय का विषय के साथ सम्पर्क होता है, तब इन्द्रिय में विषय की छाया अथवा उसका प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है, और इन्द्रिय विषयाकार हो उठती है, यही इन्द्रिय का विषयाकार परिणाम है, इन्द्रिय के साथ अन्तःकरण-बुद्धि का साक्षात् सम्पर्क है, तब इन्द्रिय प्रणाली से अर्थात् इन्द्रिय मार्ग द्वारा वह विषय बुद्धि तक पहुंचता है, और इन्द्रियों द्वारा बुद्धि का विषयाकार परिणाम होजाता है। यह परिणाम की

परम्परा यहां समाप्त होजाती है, पर यह सब प्रक्रिया चेतन आत्मा की सन्निधि के विना सम्भव नहीं, इसलिये इस सब प्रक्रिया का कर्त्ता अथवा अधिष्ठाता चेतन आत्मा कहा जाता है। बुद्धि उस विषय को आत्मा में समर्पित कर अपना कार्य पूरा कर देती है, आत्मा उस विषय का अनुभव करता है, यही उसका कर्त्तृत्व अथवा भोक्तृत्व है, आत्मा जब उस विषय का अनुभव कर रहा होता है,तब उसका विषयाकार परिणाम नहीं हो जाता,परिणाम-परम्परा अचेतन बुद्धि तक पूरी हो जाती है। अभिप्राय यह है, कि चेतन का कर्त्तृत्व, परिणाम पर आधारित नहीं है, परन्तु अचेतन में कर्त्तृत्व का कथन सर्वथा उसके परिणाम पर आधारित है। इसलिये सांख्य में जहां कहीं चेतन को अकर्त्ता कहा है, वह अचेतन के परिणाम अथवा उपादानरूप कर्त्तृत्व का निषेध है, चेतन के अधिष्ठातृरूप अथवा साक्षि-रूप कर्त्तृत्व का नहीं। इसलिये सांख्य में आत्मा के साथ कहीं अकर्त्ता का प्रयोग होने पर इस भ्रान्ति में न पड़ना चाहिये, कि आत्मा के अधिष्ठातृत्व का यह निषेध किया गया है। इसी प्रकार प्रकृति के साथ कर्त्ता पद का प्रयोग होने पर इस भ्रान्ति में न पड़ना चाहिये, कि प्रकृति में अधिष्ठातृत्व को अंगीकार कर लिया गया है, और इसकी प्रेरणा के लिये अब अन्य किसी चेतन अधिष्ठाता की आवश्यकता नहीं। इसप्रकार सांख्य के विचार से प्रकृति में उपादानमूलक कर्त्तृत्व है, और चेतन आत्मा में अधिष्ठातृमूलक। सांख्यसूत्रों में कपिल ने इस अर्थ का अनेक स्थलों पर वर्णन किया है। संक्षेप से कतिपय स्थलों का यहां निर्देश किया जाता है।

**'कर्त्तृ' पद के विशिष्टार्थ में सूत्र प्रमाण**—द्वितीय अध्याय के इन्द्रियवर्णन-प्रसंग में २९ वां सूत्र है—'द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम्' इससे पूर्व इन्द्रिय-नानात्व, मन की उभयात्मकता, अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति तथा प्रत्येक इन्द्रिय के अपने-अपने कार्य का निर्देश करके इस सूत्र में आत्मा और इन्द्रियों के वैधर्म्य अथवा इनकी अपनी भिन्न स्थिति का वर्णन किया है। द्रष्टृत्व आदि धर्म आत्मा के हैं, और करणत्व इन्द्रियों का। आदि पद से कर्त्तृत्व भोक्तृत्व तथा इसीप्रकार के अन्य धर्मों का समावेश हो जाता है। इससे स्पष्ट है, कि आत्मा द्रष्टा कर्त्ता भोक्ता है, और इन्द्रियाँ करण हैं, अर्थात् आत्मा के दर्शन, क्रिया एवं भोग आदि के साधन। सांख्यप्रक्रिया के अनुसार यद्यपि बुद्धि तथा अहंकार की गणना इन्द्रियों में नहीं है, अथवा यह कहना चाहिये, कि इनको इन्द्रिय नहीं माना जाता, परन्तु इनका समावेश करण में हो जाता है। सांख्य में ग्यारह इन्द्रियां [पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, एक आन्तरिन्द्रिय मन] और तेरह करण [अहंकार, बुद्धि को मिलाकर] प्रसिद्ध हैं। इसलिये बुद्धि आदि की गणना, आत्मा के लिये ज्ञान तथा भोग आदि के साधनों में होती है। आत्मा स्वयं द्रष्टा कर्त्ता एवं भोक्ता है।

सांख्यसूत्रों में कपिल ने जो विचार दिये हैं, उनके अनुसार परमात्मा के अधि-ष्ठातृत्व-स्वरूप का इसी प्रकरण में प्रथम वर्णन कर दिया गया है। जगत् के मूल उपादान अचेतन प्रकृति का प्रेरक होने से परमात्मा इस समस्त विश्व का कर्त्ता रचयिता अथवा

अधिष्ठाता तथा पालक एवं संहारक है, पर वह इसका मूल उपादान नहीं है, यह सांख्य-सूत्रों के उस प्रसंग [१।५६-६२] में स्थिर किया गया है। इसके आगे [१।६२-६४] जीवात्मा के सम्बन्ध में कुछ विवेचन है। जीवात्मसम्बन्धी विवेचन का पहला सूत्र है—'विशेषकार्येष्वपि[1] जीवानाम्' जैसे समस्त विश्व का अधिष्ठाता परमात्मा है, ऐसे एक देह में होने वाले दर्शन श्रवण मनन आदि समस्त कार्यों में जीवचेतन का अधिष्ठातृत्व निश्चित होता है। देह अथवा इन्द्रिय आदि में प्रत्येक प्रकार की प्रवृत्ति, जीवचेतन के सान्निध्य से संभव हो सकती है। इसलिये देह में सब प्रवृत्तियों का नियन्ता एवं प्रेरयिता जीवात्मा है। देह तथा बुद्धि आदि अचेतन तत्त्व स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकते, इनकी सब प्रवृत्तियां चेतन आत्मा के भोग आदि के लिये होती हैं, इसलिये उसी के नियन्त्रण में होने के कारण, वह इसका अधिष्ठाता एवं कर्त्ता कहा जाता है।

**आत्मकर्तृत्व में शब्द प्रमाण**—केवल किसी युक्ति अथवा कथनमात्र से नहीं, प्रत्युत इस अर्थ की पुष्टि शब्द प्रमाण से भी होती है। समस्त वैदिक साहित्य में अपरिणामी जीवचेतन को लक्ष्य करके विविध अनुष्ठानों के कर्त्तारूप में उसका वर्णन किया गया है। 'जुहुयात्' 'यजेत' 'दद्यात्' इसप्रकार के विधिवाक्यों का उपदेश जीवात्मा के कर्तृत्व का निश्चायक है। 'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः [प्रश्नो० ४।९] यह चेतनस्वरूप जीवात्मा द्रष्टा, श्रोता, कर्ता आदि माना जाता है। 'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम् [बृह० ४।३।१२] यह अमरणधर्मा अपरिणामी आत्मा अपने कर्मों के अनुसार जहां तहां बराबर जाता रहता है। 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते [बृह० २।१।१८] यह अपने शरीर में आवश्यकतानुसार संचरण करता है। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च, [तै० २।५।१] चेतन आत्मा यज्ञ तथा अन्य कर्मों का अनुष्ठान करता है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः [बृह०२।४।५] 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' [छा०८।७।१] यहां अखिल ब्रह्माण्ड के नियन्ता सर्वान्तर्यामी परमात्मा का दर्शन श्रवण, मनन, निदिध्यासन, अन्वेषण और उसकी जिज्ञासा करने वाला जीवात्मा ही बताया गया है। 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम् [मुण्ड०२।२।६] में परमात्मा का 'ओम्' इस नाम के आधार पर ध्यान करने वाला जीवचेतन है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, [यजु०४०।१] कुर्वन्नेवेह कर्माणि [यजु०४०।२] इत्यादि वेदवाक्यों में परमात्मा के द्वारा प्रदत्त जगत् को भोगने के लिये जीवात्मा को ही तो उपदेश किया गया है, तथा संसार में कर्म करते हुए जीने की इच्छा का उपदेश भी जीवात्मा को है। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, [ऋ०१।१६४।२०] परमात्मा और जीवात्मा में से एक जीवात्मा संसार में सुख दुःख आदि फलों का भोग करता है, इत्यादि शतशः प्रमाण वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, जिनमें जीवात्मा को लक्ष्य करके उसके कर्तृत्व भोक्तृत्व

---

१. इस सूत्र का 'विशेषकार्येपि' ऐसा एकवचनान्त पाठान्तर कतिपय पुस्तकों में पाया जाता है, पर इससे अर्थ में कोई भेद नहीं आता।

आदि का वर्णन किया गया है।

कपिल ने इस अर्थ को ६३वें सूत्र से इसप्रकार कहा है—'सिद्धरूपबोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः' सिद्धरूप अर्थात् अपरिणामी चेतन आत्मा के बोद्धा होने के कारण उस रूप में वाक्यार्थोपदेश किया गया है। अभिप्राय यह है, कि शास्त्र में आत्मा के लिये विधि वाक्यों अथवा विविध अनुष्ठानों का जो वर्णन है, वह अपरिणामी चेतन आत्मा के बोद्धा माने जाने के कारण किया गया है। सूत्र में बोद्धा पद, द्रष्टा श्रोता कर्त्ता अधिष्ठाता आदि का उपलक्षण समझना चाहिये। इसप्रकार शब्द प्रमाण के आधार पर भी आत्मा का कर्तृत्व स्पष्ट होता है।

शिष्य आशंका करता है, यदि शब्द प्रमाण के आधार पर ऐसा माना जाता है; तो उपनिषदादि में कतिपय ऐसे वाक्य[1] उपलब्ध होते हैं, जिनमें यह प्रकट किया गया है, कि काम, संकल्प, संशय, लज्जा, ज्ञान आदि सब अन्तःकरण में अपना अस्तित्व पाते हैं, तब इनकी अनुभूति अन्तःकरण में क्यों न मानी जाय ?

गुरु समाधान करता है, जैसे एक लोहे के गोले का अग्नि के साथ सम्पर्क होने पर गोले में दाहकता की प्रतीति होती है, परन्तु वहां दाहकता अग्नि की है, लोहे की नहीं, इसीप्रकार चेतन के सम्पर्क अथवा सान्निध्य से बुद्धि में प्रवृत्तियों का उद्भव होता है। यद्यपि उन प्रवृत्तियों का आधार अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि है, पर बुद्धि के अचेतन होने से स्वतः किसी प्रकार की प्रवृत्ति उसमें संभव नहीं, जैसे लोहा स्वयं किसी को जला नहीं सकता। चेतन के सान्निध्य से अन्तःकरण में यह सामर्थ्य रहता है, कि वह अपने कार्यों को पूरा कर सके। फिर भी सुख दुःख आदि की अनुभूति तो केवल आत्मा को होती है।

कपिल ने इस अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये सूत्र लिखा है—'अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्' जड़ अन्तःकरण, चेतन आत्मा के सान्निध्य से उज्ज्वलित होता है, जैसे लोहे का गोला अग्नि के सान्निध्य से। अन्तःकरण के उज्ज्वलित होने का अर्थ यही है, कि वह आत्मा के लिये इन्द्रिय द्वारा विषयों को समर्पित करने में शक्त रहता है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है, कि वह चेतन के समान हो जाता है, अथवा चेतन अपने-आपको उसमें संक्रान्त कर देता है। 'संक्रान्त होना' अथवा 'प्रतिबिम्बित होना' आदि पदों का प्रयोग, अर्थ के स्पष्टरूप में प्रकाशन के लिये एक रीतिमात्र है। चेतन और अचेतन का यह एक विशेष प्रकार का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध कहना चाहिये; जिसका सांख्य में सन्निधि पद से निर्देश किया गया है। जैसे एक साधारण प्रजाजन राजकीय कार्यों के सम्पादन का सामर्थ्य नहीं रखता, पर जब उसी के सिर पर विशेष पगड़ी या टोपी रख दी जाती है, और कमर में पेटी लपेट दी जाती है, तथा राजा के नियम एवं व्यवस्था की सीमा के अन्दर वह स्वस्वामिभाव सम्बन्ध को स्वीकार कर लेता है, तब

१. कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव। बृ० १।५।३॥ मैत्रा० ६।३०॥

उसी को अनेक राजकीय कार्यों के सम्पन्न करने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। राजा के साथ सम्बन्ध का यह अभिप्राय नहीं, कि वह राजा से चिपका रहता है, प्रत्युत इतना ही है, कि उसने राजा में स्वामित्व की भावना को स्वीकार कर लिया है, चाहे उसने एक क्षण के लिये भी राजा को देखा तक न हो। इसी प्रकार चेतन और अचेतन का यह सम्बन्ध है, इसे हमने विशेष प्रकार का इसलिये कहा है, कि यह आदिसर्ग से लगाकर तत्त्वज्ञानपर्यन्त बराबर बना रहता है, बीच में टूटता नहीं, न कोई इनकी स्थिति में विपर्यय आता है।

**आत्मा को विषयग्रहण कैसे**—शास्त्र में अनेक रूप से इस अर्थ का वर्णन किया गया है। प्रकृति परार्थ है, उसकी समस्त प्रवृत्ति दूसरे के लिये हैं। वह दूसरा-चेतन आत्मा है। नर्त्तकी के समान प्रकृति उसके सन्मुख क्रीड़ा करती रहती है, इत्यादि वर्णन सब, चेतन अचेतन के पारस्परिक उक्त सम्बन्ध के आधार पर हैं। कपिल और आसुरि ने कहा है, कि बुद्धि सब विषयों को अपने अन्दर लेकर पुरुष के लिये समर्पित करती है। इस अर्थ को वह इन शब्दों में उपस्थित करता है, कि सब विषयों को लेकर बुद्धि, पुरुष में प्रतिबिम्बित हो जाती है, बुद्धि में जो विषय उस क्षण प्रतिबिम्बित है, वह तद्विषयाकार होरही है, बुद्धि की उसी स्थिति का नाम बुद्धिवृत्ति है। जब ऐसी बुद्धि पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है, तब उस बुद्धिवृत्ति के अनुसार पुरुष को ज्ञान होता है, अर्थात् पुरुष को तद्विषयक अनुभूति होती है। यही पुरुष का भोग है।

विन्ध्यवासी कहता है, कि बुद्धि, आत्मा में प्रतिबिम्बित नहीं होती, क्योंकि ऐसा मानने से चेतन आत्मा विकारी हो जायगा, बुद्धि वहां प्रतिबिम्बित होकर उसे विकृत कर देगी, इसलिये वह कहता है, कि चेतन आत्मा सान्निध्य से अचेतन बुद्धि को अपने समान भासित कर देता है, अर्थात् चेतन आत्मा, बुद्धि में प्रतिफलित होकर उसे चेतन के समान बना देता है, इसप्रकार सब भोग बुद्धि में होते रहते हैं, परन्तु पुरुष के द्वारा बुद्धिके प्रति-भासित होने के कारण पुरुष को भोग का अध्यास हो जाता है, और वस्तुतः विषयों को न भोगते हुए भी वह समझता है, कि मैं भोग रहा हूं। इस मान्यता में क्या दोष हैं, इसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। पर इन दोनों प्रकारों में यह निश्चित बात है, कि जैसे हम लोक में वस्तुओं का प्रतिबिम्ब-प्रतिबिम्बिभाव देखते हैं, वैसा चेतन अचेतन में नहीं है। जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब, स्फटिक में जपाकुसुम की छाया अथवा जल में चन्द्र का उपराग हमें भासित होता है, उसप्रकार कोई प्रतिबिम्ब, छाया या उपराग न चेतन का अचेतन में और न अचेन का चेतन में कभी होता है, प्रत्युत चेतन आत्मा के लिये उसके अचेतन करण-बुद्धि आदि किस प्रकार अपना कार्य सम्पन्न करते हैं, इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये आलंकारिक एवं रुचिकर पदों में उपर्युक्त वर्णन हैं।

**विषयग्रहण में विज्ञानभिक्षु का विचार**—विज्ञानभिक्षु ने इन दोनों प्रकारों को एक जगह मिलाने का यत्न किया है। अनिरुद्ध ने इन सूत्रों [ १।६२–६४] की व्याख्या

में विन्ध्यवासी के मत का अनुसरण किया है। तथा भिक्षु ने अपने भाष्य में उसका विस्तार-पूर्वक प्रत्याख्यान किया है। उसका कहना है, कि सूत्रकार कपिल का अभिप्राय इसी अर्थ के प्रतिपादन में है, कि भोग चेतन को होता है, अन्यथा 'चिदवसानो भोगः' इत्यादि सूत्रों का सामंजस्य सम्भव नहीं होगा। इसप्रकार केवल बुद्धि में चेतन के प्रतिबिम्ब का प्रत्याख्यान कर, वह इन दोनों [ आसुरि और विन्ध्यवासी के ] वर्णनों का सामंजस्य बैठाना चाहता है। इस विषय में उसने विवेचन प्रस्तुत किया है, कि आत्मा के दर्शन के लिये बुद्धि में आत्मा का प्रतिबिम्बित होना माना जाना चाहिये। क्योंकि अन्य भोग के समान यदि आत्मदर्शन अथवा चेतन का साक्षात्कार आत्मा को स्वयं होना मान लिया जाय, तो कर्मकर्तृ विरोध की आपत्ति उपस्थित हो जायगी। अर्थात् आत्मा स्वयं उस साक्षात्कार का कर्त्ता होगा, और आत्मा ही उसका विषय अथवा कर्म होगा। एक ही वस्तु उसी क्रिया में कर्त्ता हो और कर्म भी, ऐसा सम्भव नहीं। पर आत्म-दर्शनरूप क्रिया में आत्मा कर्त्ता और कर्म दोनों हो जाता है। इसलिये अन्य भोग के समान, आत्म-दर्शन आत्मा को सीधा हो जाता है, ऐसा नहीं मानना चाहिये। प्रत्युत आत्मदर्शन के लिये यह विधि ठीक होगी, कि बुद्धि में आत्मा प्रतिबिम्बित होता है, अर्थात् अचेतन बुद्धि को सान्निध्य से वह चेतन-निर्भास बना देता है, तब बुद्धि उसका साक्षात्कार करती है, क्योंकि आत्मा बुद्धि में प्रतिबिम्बित है, इसलिये उसको आत्म-दर्शन का अध्यास होजाता है। इसप्रकार आत्म-दर्शन में बुद्धि कर्त्ता और आत्मा कर्म रहता है, इसलिये कर्मकर्तृ-विरोध की आशंका नहीं रहती। फलतः विज्ञानभिक्षु ने आत्म-दर्शन के लिये विन्ध्य-वासी की प्रक्रिया को अपनाया है, और इस एक स्थल के लिये अथवा अपवर्गसिद्धि के लिये वह इसको स्वीकार करने में अपनी अनुमति प्रकट करता है। शेष जितना बाह्य विषय का भोग है, वह सब आसुरि-प्रदर्शित प्रक्रिया के अनुसार भिक्षु ने माना है।

**विषयग्रहण में भिक्षुविचार की समीक्षा**—भिक्षु इस प्रयत्न में कहां तक सफल हो सका है, इसका विवेचन होना चाहिये। पहली बात यह है, कि विन्ध्यवासी की प्रक्रिया के अनुसार जो कुछ ज्ञान, अनुभूति अथवा भोग होता है, वह सब साक्षात् बुद्धि में हुआ करता है। पर बुद्धि में चेतन के प्रतिबिम्बित होने से चेतन को केवल उसका अध्यास होता है, अर्थात् चेतन ऐसा समझ लेता है, कि मैं यह भोग रहा हूं। पर वस्तुतः वह नहीं भोगता। न भोगते हुए भी 'भोगता हूं' ऐसा समझना अध्यास है। अभिप्राय यह है, कि अध्यास की भित्ति भ्रान्ति पर आधारित रहती है। विन्ध्यवासी आत्मा में वास्तविक भोग न मानकर भोग की भ्रान्ति मानता है। यदि भिक्षु के अनुसार आत्मा के लिये आत्म-दर्शन की यही स्थिति रहेगी, तो कहना होगा, कि आत्मा को वास्तविक आत्म-दर्शन नहीं हुआ है, प्रत्युत यह भ्रान्ति है। भ्रान्तिरूप होते हुए आत्म-दर्शन का लाभ कुछ नहीं, और तब आत्मा कभी बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता, कर्मकर्तृ विरोध के परिमार्जन में प्रवृत्त हुआ भिक्षु इसप्रकार आत्मा के स्वरूप को खो बैठा है। दूसरी बात

यह है, कि इसप्रकार आत्म-दर्शन की ओर सूत्रकार का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। तीसरी बात यह है, कि पातञ्जल योगसूत्रों के व्यासभाष्यान्तर्गत जिस सन्दर्भ के आधार पर भिक्षु ने यह कल्पना की है, वहां भी इसका स्पष्ट आधार दृष्टिगोचर नहीं होता। यह सब उल्लेख भिक्षु ने सांख्यसूत्र [१।६४] के भाष्य में किया है।

व्यासभाष्य के उस सन्दर्भ का विवेचन करना यहां उपयुक्त होगा। यद्यपि भिक्षु ने लिखा है, कि बुद्धि और चेतन का अन्योन्यप्रतिबिम्ब व्यासदेव ने योगभाष्य में सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है, तथा व्यासभाष्य से उस सन्दर्भ को भिक्षु ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। परन्तु वह सन्दर्भ व्यासदेव का अपना नहीं है, उन्होंने अपने प्रतिपाद्य अर्थ की पुष्टि के लिये 'तथा चोक्तम्' कहकर कहीं अन्यत्र से उद्धृत किया है। वाचस्पति के कथनानुसार वह सन्दर्भ कपिल के प्रशिष्य पञ्चशिख का है। यदि पञ्चशिख के आधार पर विज्ञानभिक्षु की उक्त कल्पना परिपुष्ट हो सकती है, तो यह एक महत्त्वपूर्ण बात है, इसलिये यहां इसका विवेचन अति आवश्यक है।

**अर्थग्रहणविषयक भिक्षुविचार में पञ्चशिख-सन्दर्भ का विवेचन**—योगदर्शन के २।२० सूत्र पर यह सन्दर्भ उद्धृत है। सूत्र है—'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' सूत्र का शब्दार्थ है, जब आत्मा द्रष्टा रहता है, उस समय भी वह दृशिमात्र है, अर्थात् उसका चेतनस्वरूप उसी तरह निर्बाध बना रहता है। क्योंकि द्रष्टा-अवस्था में शुद्ध चेतन स्वरूप अथवा अपरिणामी रहता हुआ ही वह बौद्धप्रत्यय [बुद्धि में प्रतिफलित विषय] के अनुसार विषय को देखता एवं उसका अनुभव करता है। इस सूत्र के द्वारा त्रिगुणात्मक परिणामी अचेतन बुद्धि से आत्मा को भिन्न बतलाया गया है, अर्थात् न वह त्रिगुण है, न परिणामी और न अचेतन। पर इतना भेद होने पर भी ऐसा नहीं है, कि उनका परस्पर सहयोग न हो। यद्यपि ये दोनों स्वरूप की दृष्टि से सर्वथा भिन्न हैं, पर कार्यसम्पादन की दृष्टि से इनमें परस्पर सहयोग बराबर रहता है। क्योंकि बुद्धि बाह्य विषयों को अपने अन्दर लेकर पुरुष के लिये उन्हें समर्पित करती है, पर बुद्धि का यह सब कार्य चेतन के सान्निध्य में सम्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं। आत्मा बुद्धि के विना विषयों का ग्रहण नहीं कर सकता, और बुद्धि आत्मा के सान्निध्य के विना इस कार्य को सम्पन्न करने में असमर्थ रहती है, यही इन दोनों का परस्पर सहयोग है। इसी की पुष्टि के लिये व्यासदेव ने इस प्रसंग में पञ्चशिख के सन्दर्भ को उद्धृत किया है, जो इसप्रकार है—

> "अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते ॥

भोक्तृशक्ति अर्थात् चेतन आत्मा अपरिणामी है, और यह कहीं संक्रान्त भी नहीं होता, जैसे सूर्य जल में अथवा अग्नि अयोगोलक में संक्रान्त होजाता है। परन्तु जब परि-णामी बुद्धिरूप अर्थ में प्रतिफलित विषय की यह अनुभूति करता है, तब यह समझ

लिया जाता है, कि मानो यह उसमें संक्रान्त हो गया हो। ऐसा इसलिये मानलिया जाता है, क्योंकि भोक्तृशक्ति को जो ज्ञान होता है, अर्थात् विषय की अनुभूति होती है, वह बुद्धिवृत्ति के समान होती है। कारण यह है, कि भोक्तृशक्ति विषयग्रहण में केवल उसी बुद्धिवृत्ति का अनुसरण करती है, जो उस भोक्तृशक्ति अर्थात् चैतन्य के उपग्रह—उपराग अथवा सान्निध्य को प्राप्त कर चुकी है। चैतन्य के उपग्रह-उपराग या अनुग्रह से बुद्धि अपने उस रूप-अर्थात् कार्यक्षमता—को प्राप्त करती है, और चेतन असमाहित अवस्था में विषयानुभूति का लाभ करता है। बुद्धि और चेतन के सर्वथा भिन्न होने पर भी उनका यह पारस्परिक सहयोग बराबर बना रहता है। यही अर्थ पञ्चशिख के सन्दर्भ में प्रतिपादित किया गया है। यहां अन्योन्यप्रतिबिम्ब का कोई संकेत नहीं है, जिसका उल्लेख इस सन्दर्भ के आधार पर भिक्षु ने किया है। यदि इनके पारस्परिक सहयोग को ही अन्योन्य-प्रतिबिम्ब कहा गया हो, तो केवल उसके नाम-भेद पर हमें कोई आपत्ति नहीं है। पर भिक्षु के उस विवेचन का मूल यहां नाममात्र को भी नहीं है, कि आत्म-दर्शन के लिये तो चेतन, बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है, और आत्मा को विषयानुभूति के लिये बुद्धि, चेतन में प्रतिबिम्बित होती है। प्रत्युत यहां तो प्रत्येक स्थिति में दोनों का समान सहयोग बताया गया है।

**आत्मज्ञान में कर्मकर्तृविरोध व परिहार**—अब प्रश्न यह है, कि आत्मा यदि अन्य विषयों की अनुभूति के समान ही स्व का साक्षात्कार करता है, तो कर्मकर्तृविरोध का क्या परिहार हो सकता है। कापिलमत के अनुसार आत्मा के भोग और अपवर्ग दोनों के लिये बुद्धि को साधन माना गया है। साधारण तथा सामूहिक रूप में प्रधानमात्र की प्रवृत्ति पुरुष के भोगापवर्ग को सिद्ध करती है। कपिल लिखता है—'**विमुक्तविमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य** [२।१]' 'वा' पद इस सूत्र में समुच्चयार्थक है। प्रधानप्रवृत्ति दो कार्यों के लिये होती है, एक विमुक्त—प्रकृति से सर्वथा भिन्न—अत्रिगुणात्मक अपरिणामी चेतन आत्मा के मोक्ष अर्थात् अपवर्ग की सिद्धि के लिये और दूसरे 'स्वार्थ' उसी चेतन आत्मा के भोग की सिद्धि के लिये। ईश्वरकृष्ण ने भी सांख्यसप्तति में लिखा है—'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य [२०]' पुरुष के दर्शन अर्थात् सुख-दुःखानुभूतिरूप ज्ञान के लिये तथा पुरुष के कैवल्य-अपवर्ग के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होती है। पर प्रधान इस कार्य का सम्पादन बुद्धि आदि रूप में परिणत होकर करता है, प्रकृत्यात्मक कारणरूप में रहता हुआ नहीं। तब यह कथन सर्वथा युक्त है, कि पुरुष के लिये इन अर्थों के सम्पादन का मुख्य साधन बुद्धि है। सांख्यसप्तति में स्पष्ट कहा है—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

पुरुष के समस्त उपभोग को बुद्धि सम्पन्न करती है, और चेतन तथा अचेतन के

सूक्ष्म भेद को भी वही स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करती है। अभिप्राय यह है, कि प्रकृति-पुरुष के विवेक अर्थात् तत्त्वज्ञान का साधन बुद्धि है। इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है, कि जैसे बुद्धि भोग के लिये साधनमात्र है, ऐसे ही आत्मज्ञान–तत्त्वज्ञान, कैवल्य अथवा अपवर्ग के लिये साधन है।

शिष्य आशंका करता है, कि बुद्धि को भोग का साधन कहना तो स्पष्ट समझ में आता है, क्योंकि इन्द्रियद्वारा बुद्धि विषयाकार परिणत होकर उस विषय को पुरुष के प्रति प्रस्तुत करने का साधन होती है, पर तत्त्वज्ञान को किस प्रकार प्रस्तुत करती है, यह स्पष्ट नहीं हो रहा है।

गुरु समाधान करता है, प्रत्येक कार्य अथवा ज्ञान के लिये भिन्न-भिन्न उपाय हैं। जब बाह्य विषयों में से किसी एक को हम जानना चाहें, तो उसके लिये एक उपाय उपयोग में आता है, पर दूसरे विषय के लिये अन्य उपाय का आश्रय लेना पड़ता है। रूप का ज्ञान चक्षु के द्वारा किया जा सकता है, और शब्द का श्रोत्र के द्वारा। इसीप्रकार जब तत्त्वज्ञान के लिये भावना जागृत होती है, तो बाह्य इन्द्रियों के द्वार रुद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। आन्तरिन्द्रिय मन पर पूरा नियन्त्रण करने के लिये सतत यत्न होता है, जिससे कि वह बाह्य इन्द्रियों की ओर अभिरुचि में उदासीन रह सके। इस सब के लिये योगविधि का आश्रय लेना पड़ता है। तब समाधिभावना से बुद्धि में सत्त्वोद्रेक होता है। जब यह सत्त्वोद्रेक अतिशय की सीमा तक पहुंच जाता है, और समाधि-भावना अपनी अन्तिम पूर्ण अवधि में आजाती है, तब ऐसी बुद्धि के सहयोग में आत्मा को अपना साक्षात्कार होता है, बाह्य विषय जब जाने जाते हैं, तब वे इन्द्रियद्वारा बुद्धि में प्रतिफलित होते हैं। इसका अभिप्राय यह है, कि बुद्धि तत्तद्विषयाकार में परिणत हो जाती है। यहां हमें यह भूलना न चाहिये, कि यह सब चेतन के सहयोग में सम्पन्न हो रहा होता है, पर स्वयं चेतन का साक्षात्कार होने के लिये चेतन को बुद्धि में प्रतिफलित होने की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि बुद्धि कभी चेतनाकार में परिणत नहीं हो सकती, और साक्षात् चेतन को अपने ज्ञान के लिये अन्य कर्त्ता की अपेक्षा नहीं होती। चेतन होने के कारण वह स्वतः अपना साक्षात्कार करता है, जैसे एक प्रदीप को प्रकाशरूप होने के कारण, अपने-आपको प्रकाशित करने के लिये अन्य प्रदीप की आवश्यकता नहीं होती। अतः बाह्य विषयों के ग्रहण में कर्मकर्तृभाव की अपेक्षित कल्पना का अवकाश आत्मसाक्षात्कार में नहीं है। बुद्धि आत्मज्ञान में उसी समय उपयुक्त साधन है, जब उसमें अतिशय सत्त्वोद्रेक हो जाता है। आत्म-ज्ञान में बुद्धि का यही सहयोग है। अनेक कार्यों के लिये अनेक उपाय हैं, आत्म-ज्ञान का उपाय यही है। ऐसी स्थिति में आत्मा को अपने साक्षात्कार के लिये अन्य किसी कर्त्ता की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह स्वतः चेतन है। बुद्धि के अतिशय सत्त्वोद्रेक की अवस्था में वह अपना साक्षात्कार करता है। इतने में ही बुद्धि की साधनता पर्यवसित हो जाती है।

**बुद्धि आदि में कर्त्तृत्वव्यवहार गौण**—इस वर्णन में यह स्पष्ट करने का यत्न किया गया है, कि अधिष्ठातृत्व पर आधारित मुख्य कर्त्तृत्व चेतन में संभव है, जहां इस प्रकार के कर्त्तृत्व का अचेतन में उल्लेख होता है, वहां चेतन का सहयोग अनिवार्य होने के कारण ऐसा वर्णन कर दिया जाता है। कपिल ने प्रथमाध्याय के अन्त में सूत्र लिखा है— **'उपरागात् कर्त्तृत्वं चित्सान्निध्यात्'**। शिष्य आशंका करता है, यदि चेतन आत्मा ही कर्त्ता संभव है, तो बुद्धि में कर्त्तृत्व का व्यपदेश क्यों होता है। गुरु समाधान करता है, चित्सान्निध्यरूप उपराग के कारण बुद्धि में कर्त्तृत्व का व्यपदेश हुआ करता है। अधिष्ठातृमूलक कर्त्तृत्व चेतन में संभव हो सकता है, अन्यत्र नहीं। यदि अचेतन बुद्धि आदि में कहीं ऐसा व्यपदेश होता है, तो वह चेतन के सान्निध्यरूप अनुग्रह के कारण समझना चाहिये। परन्तु उपादानता के आधार पर अथवा परिणाममूलक कर्त्तृत्व तो अचेतन में वास्तविक रूप से रहता है। जब हम कहते हैं—'विषयाकारेण बुद्धिः परिणमते' बुद्धि विषयाकार परिणत होती है, तब उस परिणाम का कर्त्ता बुद्धि है, क्योंकि परिणति क्रिया का वह आश्रय है। पर प्रत्येक विषय की अनुभूति आत्मा को होती है, क्योंकि वह चेतन है, इसलिये प्रत्येक अनुभूति का कर्त्तृत्व, और इस अनुभूति के लिये बुद्धि आदि की प्रेरकतारूप अधिष्ठातृत्व चेतन आत्मा में स्वीकार किया जा सकता है, अन्यत्र नहीं।

**कर्त्तृत्व के दो रूप**—सांख्यसप्तति के व्याख्याकार आचार्य माठर ने १९वीं आर्या की व्याख्या करते हुए, आर्या के 'अकर्त्तृभावः' पद पर लिखा है—'यद्यकर्त्ता तत्किं परकृतानां प्रयोक्ता ? अत्रोच्यते-कर्त्तृभावश्च द्विविधो हि, प्रयोक्ता कर्त्ता च। अत्रोदासीनस्य पुरुषस्य कर्त्तृत्वं प्रतिषिद्धं गुणलक्षणेन'। शिष्य आशंका करता है, यदि पुरुष अकर्त्ता है, तो वह अन्य-बुद्धि आदि में होनेवाली क्रियाओं का प्रयोक्ता अर्थात् प्रेरक कैसे हो सकता है ? यदि उसे प्रेरक माना जाता है, तो वह अकर्त्ता नहीं रह सकता, क्योंकि यह प्रेरणा का साक्षात् कर्त्ता है। गुरु इस विषय में समाधान करता है, कर्त्तृभाव अर्थात् कर्त्तृत्व दो प्रकार का होता है। अभिप्राय यह है, कि कर्त्तृत्व के आश्रय के दो स्थल हैं, एक को प्रयोक्ता दूसरे को कर्त्ता कहा जाता है। आर्या के 'अकर्त्तृभाव' पद में, उदासीन अर्थात् अपरिणामी पुरुष के उस कर्त्तृत्व का प्रतिषेध किया गया है, जो 'गुणलक्षण' से प्राप्त है। गुण हैं—सत्त्व, रजस्, तमस्। इनके लक्षण अर्थात् स्वरूप या स्थिति से परिणाममूलक कर्त्तृत्व ही प्राप्त होता है, गुण—उनमें होनेवाले परिणाम के आश्रय होने से—परिणतिरूप क्रिया के कर्त्ता हैं। अपरिणामी चेतन में इसप्रकार के कर्त्तृत्व का निषेध किया गया है। दूसरा प्रयोक्तृत्वरूप अथवा अधिष्ठातृमूलक कर्त्तृत्व तो उसमें रहता ही है।

**कर्त्तृपदविषयक भ्रम**—सांख्य में 'कर्त्तृ' पद की पारिभाषिकता को न समझने के कारण इस विषय में बहुत भ्रान्ति होती रही है। जो तत्त्व सांख्य में चेतन माना गया है, वह कदापि परिणामी नहीं है, जो अचेतन तत्त्व है, वह सदा परिणामी है, उसमें परिणति क्रिया के निरन्तर होते रहने के कारण वह सदा उस परिणति क्रिया का आश्रय एवं

कर्त्ता है। इसप्रकार 'कर्त्तृ' पद सांख्य में परिणामी तत्त्व का निर्देश करता है। इससे अतिरिक्त जो चेतन तत्त्व है, वह सर्वथा अपरिणामी है, अतः इस परिभाषा के अनुसार वह अवश्य अकर्त्ता कहा जायगा। 'कर्त्तृ' पद का जो साधारण अर्थ अन्यत्र समझा जाता है, उसको प्रकट करने के लिये सांख्य में 'अधिष्ठातृ' पद का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यहां जो चेतन तत्त्व है, वह अधिष्ठाता अपरिणामी एवं अकर्त्ता है, और जो अचेतन तत्त्व है, वह परिणामी कर्त्ता एवं अधिष्ठित है। सांख्य से अन्यत्र शास्त्र में जो 'कर्त्तृ' पद का अर्थ समझा जाता है, तदर्थक 'कर्त्तृ' पद को जब हम सांख्य के 'कर्त्तृ' पद के साथ जोड़ देना चाहते हैं, तभी भ्रान्ति-गर्त में जा पड़ते हैं। यदि सांख्य में प्रयुक्त 'कर्त्तृ' पद का सांख्यपरिभाषा के अनुसार अर्थ समझा जाय, तो कहीं भ्रान्ति का अवकाश नहीं। उदाहरण के लिये सांख्यसप्तति की २०वीं आर्या लीजिये—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्त्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥

चेतन के संयोग से अचेतन लिङ्ग [बुद्धि] चेतना से युक्त जैसा हो जाता है, अभिप्राय यह है, कि अचेतन तत्त्व चेतन की प्रेरणा के विना किसी क्रिया के करने में असमर्थ रहता है। अचेतन बुद्धि, जो चेतन के समग्र उपकरणों में मुख्य है, चेतन के सान्निध्य से प्रेरणा पाकर अपने कार्य में प्रवृत्त रहती है। चेतन के सान्निध्य और बुद्धि की सतत प्रवृत्ति को देखकर हम कहने लगते हैं—जैसे मानो यह बुद्धि अब चेतन हो उठी है। पर वस्तुतः हमारा तात्पर्य केवल इतने अर्थ को प्रकट करने में रहता है, कि अपने स्वामी [चेतन] के सान्निध्य में उसके कार्यों को पूरा करने के लिये बुद्धि सतत प्रवृत्त है। बुद्धि की प्रवृत्ति क्या है ? इन्द्रिय आदि के द्वारा बुद्धि बाह्य विषय को अपने अन्दर लेती है, अर्थात् जब बाह्य विषय इन्द्रियादिद्वारा बुद्धि तक पहुँचता है, तब बुद्धि विषयाकार में परिणत हो जाती है; इस परिणति क्रिया का आश्रय होने के कारण बुद्धि उसका कर्त्ता है। बुद्धि के विषयाकार परिणत होने पर चेतन आत्मा उस विषय की अनुभूति करता है। चेतन की इस विषयानुभूति के लिये ही तो बुद्धि विषयाकार परिणत होती है, और अपनी इस प्रवृत्ति को निरन्तर चालू रखती है, जब चेतन, विषय की अनुभूति करता होता है, तो हम कह उठते हैं, जैसे मानों चेतन विषयरूप में परिणत हो गया हो। तब हम उसे कर्त्ता जैसा, अर्थात् बुद्धि जैसा परिणामी समझ लेते हैं, यद्यपि वह उदासीन है, परिणाम से सर्वथा रहित। इसी अर्थ को आर्या में कहा है—'गुणकर्त्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः' त्रिगुणात्मक बुद्धि उस विषयाकार परिणति का कर्त्ता होती है, पर उदासीन अर्थात् अपरिणामी चेतन विषयानुभूति के कारण कर्त्ता जैसा [विषयाकार में परिणत हुआ जैसा] समझा जाता है। यहां पर 'कर्त्तृ' पद का प्रयोग परिणामी के अर्थ में हुआ है और इसी प्रकार १९वीं आर्या में 'अकर्त्तृ' पद का अपरिणामी अर्थ में। इसी आधार पर सांख्य में अचेतन को कर्त्ता तथा चेतन को अकर्त्ता कहा जाता है। 'कर्त्तृ' पद के अर्थान्तर की

भावना से यहां गड़बड़घोटाला नहीं किया जाना चाहिये। फलतः यह स्पष्ट होता है, कि अन्यत्र 'कर्त्तृ' पद का प्रयोग जिस अर्थ में है, उस अर्थ को प्रकट करने के लिये सांख्य में 'अधिष्ठातृ' पद का प्रयोग किया गया है, और 'कर्त्तृ' पद का प्रयोग परिणामी के अर्थ में हुआ है। इसप्रकार सांख्य आत्मा के अधिष्ठातृमूलक कर्त्तृत्व का प्रतिपादन करता है।

सांख्य में परिणाममूलक 'कर्त्तृ' पद के प्रयोग का एक और उदाहरण देकर हम इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। पंचशिख का एक संदर्भ है—

'अयं खलु त्रिषु गुणेषु कर्त्तृषु अकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रिया-साक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन् न दर्शनमन्यच्छङ्कते।'

यह सन्दर्भ योगसूत्र [२।१८] के व्यासभाष्य में उद्धृत है। पतञ्जलि के सूत्र में बतलाया गया है, कि प्रकाश, क्रिया और स्थितिशील त्रिगुणात्मक दृश्य—जो सूक्ष्म स्थूलभूत और इन्द्रियों के रूप में उपस्थित है—पुरुष के भोग और अपवर्गरूप दो प्रयोजनों को सिद्ध करता है, इन दो से अतिरिक्त और कोई प्रयोजन दृश्य का नहीं है। इसी अर्थ की पुष्टि में व्यासदेव ने पंचशिख का उक्त सन्दर्भ उद्धृत किया है। इसका अभिप्राय है—कि यह जिज्ञासु अथवा शिष्य, तीन गुणों में—जो कर्त्ता हैं—और गुणों के तुल्यजातीय तथा अतुल्यजातीय चौथे पुरुष में—जो अकर्त्ता हैं, परन्तु गुणों में होने वाली क्रिया का साक्षी है—त्रिगुणात्मक बुद्धि के द्वारा समर्पित किये जाते हुए सब भावों को निष्पन्न देखता हुआ अन्य किसी प्रयोजन की आशंका या सम्भावना नहीं करता। तीन गुणों की अपेक्षा पुरुष को चौथा कहा गया है। पुरुष के साथ गुणों की सूक्ष्मता तथा अहेतुमत्ता आदि तुल्य-जातीयता है। पुरुष भी सूक्ष्म है गुण भी और पुरुष भी किसी कारण से उत्पन्न नहीं होते तथा गुण भी। परन्तु पुरुष चेतन हैं, गुण जड़ हैं; पुरुष अपरिणामी हैं, गुण परिणामी हैं; यह इनकी अतुल्यजातीयता है। तीनों गुण, बुद्धि आदि रूप में सब भावों को पुरुष में समर्पित करते हैं, यह भाव चाहे सुख दुःख आदि की अनुभूतिरूप हों, अथवा तत्त्वज्ञानरूप। आत्मामें इन भावों को समर्पित करना यह स्पष्ट करता है, कि बुद्धि आदि त्रिगुणात्मक दृश्य, आत्मा के भोग अपवर्ग को सिद्ध करते हैं। पुरुष के भोगापवर्ग से अतिरिक्त दृश्य का और कोई प्रयोजन सम्भावना नहीं किया जा सकता।

इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने की बात है, कि पुरुष को अकर्त्ता कहकर गुणों में होने वाली क्रियाओं का साक्षी बताया है, साक्षी का अर्थ है—करणों के साथ आत्मा का सम्बन्ध होना[1]। इसीको सान्निध्य कहा जाता है, कभी इसको स्वस्वामिभावसम्बन्ध कहकर प्रकट किया जाता है। पर प्रत्येक प्रकार के वर्णन में यह भावना अन्तर्निहित है, कि चेतन के सान्निध्य अथवा प्रेरणा से गुणों में क्रिया होसकती है, गुण क्रिया के आधार हैं, इसी

---

**१. अक्षसंबन्धात् साक्षित्वम्। सांख्यसूत्र १।१२६॥ यहां 'अक्ष' पद का अर्थ केवल इन्द्रिय नहीं, प्रत्युत करणमात्र हैं, जिसमें दश बाह्य इन्द्रिय और मन अहंकार बुद्धि इन सबका समावेश हो जाता है।**

लिये वे परिणत होते रहते हैं। पर चेतन उस क्रिया का प्रेरकमात्र होने से क्रिया का साक्षी अथवा अधिष्ठाता है, परिणति क्रिया का आधार नहीं है। यदि आधार होता, तो वह निश्चित परिणामी कहा जाता। इसप्रकार जो क्रिया का आधार है, वह कर्त्ता अर्थात् परिणामी है, और जो साक्षी है, वह अकर्त्ता है, अपरिणामी है। इसलिये यहां 'कर्त्तृ' पद का प्रयोग परिणामी अर्थ में हुआ है, अधिष्ठातृपरक अथवा क्रिया के प्रति स्वातन्त्र्य-रूप अर्थ के प्रकट करने में नहीं। यदि यहां इसी अर्थ में 'कर्त्तृ' पद का प्रयोग हुआ होता, तो क्रिया के साक्षी पुरुष को 'अकर्त्ता' कैसे कहा जाता? यह एक अद्भुत तर्क उपस्थित किया जाता है, कि आत्मा साक्षी, अधिष्ठाता एवं भोक्ता तो है, पर कर्त्ता नहीं। यदि उसे भोक्ता व अधिष्ठाता माना जाता है, चाहे वह किसी रूप में माना जाय, तब उसी रूप में आत्मा के कर्त्तृत्व को कैसे हटाया जा सकता है। अतएव आत्मा के भोक्ता होने पर जो उसे अकर्त्ता कहा जाता है, वह उसी कर्त्तृत्व का निषेध है, जो गुणों में उनके परिणामरूप लक्षण के आधार पर माना गया है। इसप्रकार सांख्य की सैद्धान्तिक साक्षियों के आधार पर आत्मा का अधिष्ठातृमूलक कर्त्तृत्व निर्बाधरूप में निष्पन्न होता है।

**'आत्मपदनिर्वचन' [प्रसंगागत]**—यहां पर, स्मृतिपथ में उतरे एक फुट-कर श्लोक का उल्लेख कर देना प्रसंगानुकूल और उपयुक्त होगा, जिसमें 'आत्मा' पद का निर्वचन किया गया है। श्लोक इसप्रकार है— 

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् पुनः।
यच्चास्य सततं भावः तस्मादात्मेतिसंज्ञितः॥[1]

यहां चार धातुओं के आधार पर 'आत्मा'-पद का निर्वचन प्रदर्शित किया गया है। आप्, आ+दा, अद् और अत्। इनका अर्थ है—प्राप्त करना अथवा व्याप्त होना, ग्रहण करना, भोगना और निरन्तर बने रहना। सब धात्वर्थों को मिलाकर एक श्लोक में आत्मा [जीवात्मा, परमात्मा उभय] का सुन्दर वर्णन आगया है, जो सर्वत्र व्याप रहा है, समस्त विश्व में प्राप्त हुआ है, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण में भी व्याप्त है, वह परमात्मा। इस देह में अपने चैतन्य से व्याप रहा है, अथवा यहां बैठा बाह्य विषयों को प्राप्त कर रहा है, जो सब प्रकार की अनुभूतियों का आदान करता है, जो सब विषयों को भोगता है, वह जीवात्मा है। जो सतत वर्तमान है, नित्य-अपरिणामी है, वह आत्मा [जीवात्मा परमात्मा उभय] नाम से पुकारा जाता है।

आचार्य पाणिनि उणादिकोष में एक 'अत्' [४।१५३] धातु के द्वारा 'आत्मा' पद का निर्वचन करता है। व्याख्याकारों ने उसका अर्थ लिखा है—'अतति निरन्तरं कर्म-फलानि प्राप्नोति व्याप्नोति वा योन्यन्तराणि स आत्मा' जो सदा कर्मफलों को प्राप्त करता अथवा अनेक योनियों–जन्म जन्मान्तरों में अवश्य पहुँचता है, वह आत्मा है। 'अत्' धातु

**१. यह श्लोक मूलरूप में कहां का है, ज्ञात नहीं। पाशुपतसूत्र [५।२] के कौण्डिन्य भाष्य में उद्धृत है।**

'सातत्यगमन' अर्थ में है। 'गमन' का प्राप्ति अर्थ लेकर, उक्त श्लोक में प्रतिपादित अन्य धात्वर्थ भी यहां ध्वनित हो जाते हैं।

**आत्मकर्तृत्व का निगमन**—इस प्रसंग में आत्मा के कर्तृत्व का विवेचन किया गया है। इसके साथ आत्मा का द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा आदि होना स्पष्ट होजाता है। सांख्य की इस दृष्टि का प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न में रोचक वर्णन उपलब्ध होता है। एक बार प्राचीनकाल में ब्रह्म की अन्वेषणा करते हुए छह जिज्ञासु महर्षि पिप्पलाद की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने ब्रह्म सम्बन्धी अनेक प्रश्न कर अपनी जिज्ञासा को शान्त किया। उनमें से एक सौर्यायणी गार्ग्य ने निम्नलिखित पांच प्रश्न एक साथ किये १—भगवन् ! इस देह में कौन ऐसे तत्त्व हैं, जो सो जाते हैं, २—कौन से ऐसे तत्त्व हैं, जो उस समय भी जागते रहते हैं, ३—कौन स्वप्नों को देखता है, ४—कौन सुख का अनुभव करता है, ५—और किस में ये सब संप्रतिष्ठित हो जाते हैं ?

महर्षि पिप्पलाद ने उत्तर दिया १—प्रिय गार्ग्य ! जिस प्रकार सूर्य के अस्त होते हुए उसकी विस्तृत सब रश्मियां उस तेजोमण्डल में एकीभूत होजाती हैं, और फिर प्रतिदिन उदय होते हुए पूर्ववत् विस्तृत होजाती हैं; इसीप्रकार जाग्रत अवस्था में विषयों की ओर फैली हुई इन्द्रियां जब मन में एकीभूत होजाती हैं, उस समय यह पुरुष न सुनता है न देखता है न सूंघता है न चखता है न छूता है न बोलता है न चलता है, 'सोगया है' यह कहा जाता है।

२,३—उस अवस्था में प्राणवृत्तियां जागती रहती हैं। तब यह आत्मा स्वप्न में मन के सम्पर्क से विविध दृश्यों की प्रतीति किया करता है। जाग्रत अवस्था में जो कुछ देखा सुना व अनुभव किया है, स्वप्न में उसी सबको देखता सुनता व अनुभव करता है। कभी स्वप्न में ऐसे दृश्य उपस्थित होते हैं, जो इस जन्म में दृष्ट श्रुत अथवा अनुभूत नहीं होते। कदाचित् जन्मान्तर में उनको देखा सुना होता है, अथवा उनका अनुभव किया होता है।

४, ५—जब सात्त्विक भावनाओं से आत्मा प्रभावित होता है, तो ये स्वप्नगत मनोवृत्तियां शान्त होजाती हैं। वह सुषुप्त अवस्था होती है, और उस समय आत्मा एक विशेष प्रकार के कैवल्य जैसे सुख का अनुभव करता है। उस अवस्था में इन्द्रियां बाह्यविषयों के साथ कोई सम्पर्क न रखकर मन[1] में एकीभूत होजाती हैं, और मन उनको अपने में अन्तर्हित कर स्वयं आत्मा में लीन हो जाता है। अभिप्राय यह है, कि ये सब साधन उस अवस्था में अपने कार्य से विरत होजाते हैं। परन्तु जो सब करणों अर्थात् साधनों का एक

**१. इस प्रसंग में 'मन' पद का प्रयोग बुद्धि के लिये हुआ है। क्योंकि सब विषयों को आत्मा तक पहुंचाने के लिये मुख्य केन्द्र बुद्धि है। सांख्यदर्शन में 'महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः' [१।३६] इस सूत्र से, प्रकृति के आद्य कार्य महत् अर्थात् बुद्धि का अपर नाम 'मन' बताया गया है।**

मिलित कार्य है–प्राणवृत्ति का निरन्तर प्रवृत्त रहना–वह बराबर बना रहता है। यह प्राणवृत्ति, समस्त करणों अर्थात् तेरह करणों [पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन अहंकार और बुद्धि ये तीन अन्तःकरण] की सामान्य वृत्ति है। तेरह करण पञ्चतन्मात्र में आश्रित रहते हैं, इसलिये सूक्ष्मशरीरभूत पांच तन्मात्र, तथा इन सब कार्यों के संपादन का आश्रयभूत पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर यह सब तत्त्वसमुदाय सुषुप्त अवस्था में–जब बाह्य अथवा आन्तर विषयों के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता–अपनी ठीक स्थिति में इसी कारण बना रहता है, कि यहां चेतन आत्मा बराबर बैठा हुआ है। देह में उसके अवस्थित रहने से यह सब संभव होसकता है, इसलिये उपनिषद् में कहा है, कि सब स्थूलसूक्ष्मभूत समस्त करण और उनकी वृत्तियां उस आत्मा में संप्रतिष्ठित हैं।

इससे स्पष्ट है, कि आत्मा [जीवात्मा] द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता ज्ञाता सब कुछ है। आगे अपने ध्येय की ओर प्रयत्नशील रहता है। आत्मज्ञान अर्थात् चेतनाचेतन का साक्षात्कार होजाने पर उस अविनाशी परमात्मा में संप्रतिष्ठित होजाता है, जो अच्छाय अशरीर अलोहित तथा सर्वथा निर्दोष है। परमात्मा की इन विशेषताओं के निर्देश का यही अभिप्राय है, कि वह कभी किसी अवस्था में त्रिगुणात्मक प्रकृति के बन्धन में नहीं आता, प्रत्युत वह इस पर सदा अपना नियन्त्रण रखता है। उसको प्राप्त होकर आत्मा मोक्ष आनन्द का अनुभव किया करता है। उपनिषद् के इस प्रसंग में आत्मा को श्रोता द्रष्टा कर्त्ता आदि स्वीकार किया गया है। यह वर्णन सांख्यदृष्टि के अनुसार है, यह आठवीं कण्डिका के तत्त्ववर्णन से स्पष्ट हो जाता है। जिसमें पांच स्थूलभूत पांच सूक्ष्मभूत तेरह करण तथा उनकी वृत्तियों का उल्लेख किया गया है, जिसका संकेत आत्मा में संप्रतिष्ठित होने के रूप में ऊपर कर दिया है। इससे आत्मा के कर्त्तृत्व की पुष्टि होजाती है।

## जन्म-मरण तथा सूक्ष्मशरीर—

आत्मा के साथ जन्म-मरण का सम्बन्ध अनादि काल से लगा है, और अनन्त काल तक चलता रहेगा। यह जीवात्मा का आद्यन्तरहित महान पथ है। यह जीवात्मा का पथ अवश्य है, पर स्वरूप नहीं। जीवात्मा स्वरूपसे न जन्मता है, न मरता है, यह सदा एकरूप बना रहता है। गीता के आरम्भ में कहा है—

> न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२।२०॥

यह आत्मा न कभी जन्म लेता है, न मरता है, तथा वर्तमान में रहता हुआ आगे न रहेगा, ऐसा नहीं। वह अज है, नित्य है, सदा रहने वाला, अनादि काल से चला आ रहा है, शरीर के नष्ट होजाने पर यह बना रहता है। उपनिषदों में आत्मा को अजर अमर अक्षर नित्य चेतन बताया है। आत्मा के ऐसे स्वरूपवर्णन से उपनिषद् तथा अन्य

वैदिक साहित्य भरा पड़ा है।[1] पर यहां लोक में हम प्रतिदिन मानव व अन्य प्राणियों का मरना जीना देख रहे हैं। तब यह जन्म-मरण क्या है? आत्मा का इससे क्या सम्बन्ध? यह विचारणीय हो जाता है।

**जन्म-मरण का स्वरूप तथा आत्मा से सम्बन्ध**—शास्त्रकारों ने निर्णय किया है, नित्य आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध होना 'जन्म' और देह का परित्याग या देह से वियोग होजाना 'मृत्यु' है। ऐसी स्थितियों में होता हुआ आत्मा बराबर अपने अनन्त पथ पर चलता रहता है, पर उसके स्वरूप में कोई विकार कोई विपर्यय नहीं आता, न वहां कोई क्षति या वृद्धि की संभावना की जासकती है। सांख्य में देह दो प्रकार का माना गया है—सूक्ष्म और स्थूल। जन्म और मृत्यु का अस्तित्व स्थूल देह के आधार पर कल्पना किया गया है। सूक्ष्मदेह का सम्बन्ध तो आत्मा के साथ आदि सर्ग से लगाकर आत्मज्ञानपर्यन्त अथवा आनेवाले प्रलयकाल तक बराबर बना रहता है। आत्मज्ञान होने तक एक सर्ग-काल में एक ही सूक्ष्मशरीर से आत्मा का वियोग होने की संभावना नहीं। इसलिये जन्म और मरण का आधार स्थूलदेह समझा गया है। स्थूलदेह में जीवात्मा का आना जन्म, और इसे छोड़कर चले जाना मृत्यु है। यह कहां से आता है, और कहां चला जाता है, यह एक गंभीर प्रश्न है। पर शास्त्रकारों ने इसका जो सारभूत उत्तर दिया है, वह इतना ही है, कि यह एक शरीर को छोड़कर आता है, और कालान्तर में उसे भी छोड़कर दूसरे किसी शरीर में चला जाता है। जब यह एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे में आता है, तब अकेला नहीं होता, इसके साथ सूक्ष्मशरीर बराबर रहता है। सूक्ष्मशरीर के सम्बन्ध में आगे इसी ग्रन्थ के 'विकार' नामक प्रकरण में विस्तृत विवेचन किया है, पर यहां इतना

---

१. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ कठ, २।१८॥
पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते॥ कठ, ५।१॥
य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥कठ, ५।८॥
अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतम्॥ कठ, ६।१७॥
एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति। प्रश्न, ६।५॥
जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। छा० ६।११।३॥

जान लेना आवश्यक है, कि सम्पूर्ण सर्गकाल में कभी आत्मा का साथ सूक्ष्मशरीर से छूट नहीं सकता।

आत्मा जब एक नवीन स्थूलदेह के साथ सम्बद्ध होने लगता है, तब उस प्रारम्भिक अवस्था में देह का आकार या स्वरूप ऐसा नहीं रहता, जैसा अब हम अपने सामने इसे देख रहे हैं। उस समय अपेक्षाकृत यह अपनी अतिसूक्ष्म अवस्था में रहता है। स्त्री-पुरुष का मिथुन होने पर जब वीर्य के बिन्दु-कण गर्भाशय में पहुंचते हैं, तो वहां की डिम्ब ग्रन्थियां उन वीर्य कणों से मिलने के लिये दौड़ पड़ती हैं। उसका सुन्दर वर्णन आयुर्वेद की भेलसंहिता में निम्नलिखित पदों के द्वारा किया गया है—

'तद्यथाऽऽप आवर्त्तगृहीताः प्रतीपं प्रतिधावन्ति तद्वत् शुक्रशोणितं गर्भाशयेऽस्थिरं क्षरतीव।' [पृष्ठ ६४, कलकत्ता-संस्करण।]

जिस प्रकार पानी में भंवर पड़ जाती है, और उसमें जलीय कण एक दूसरे के पीछे तीव्रता से घूमते हैं, इसी प्रकार गर्भाशय में शुक्रशोणित अस्थिरता के साथ एक दूसरे के पीछे मानो दौड़ पड़ते हैं। यदि वे दोनों स्वस्थ हों, और ठीक समय पर मिल सकें, तो एक वीर्यबिन्दुकण का सहस्रांश मिल जाने पर भी गर्भस्थिति होजाती है, और उसी क्षण से स्थूल शरीर की रचना प्रारम्भ हो जाती है। यदि वीर्य और रज के कणों में से कोई एक रोगी होगा, तो यह शरीररचना प्रारम्भ नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसी स्थिति में उन दोनों का मेल संभव नहीं। यदि दोनों स्वस्थ हों, पर ठीक समय की सीमा के अन्दर उनका मेल न हो पाये, तो भी नियत समय के पश्चात् वे कण नष्ट होजाते हैं, अर्थात् उनकी मृत्यु हो जाती है। कारण यह है, कि उनमें जीवनी शक्ति एक नियत समय तक रह सकती हैं, उतने समय में वे अपनी खुराक की तलाश करते हैं। उनकी खुराक यही है, कि दोनों प्रकार के स्वस्थ कण नियत समय के अन्दर आपस में मिल जायें, और आगे जीवन-रस प्राप्त करते चले जायें। स्वाभाविक तौर पर इन कणों का जीवन कुछ घण्टों से अधिक समय का नहीं रहता, पर आधुनिक विज्ञान ने इसप्रकार की सुरक्षा-नलियां तैयार करली हैं, कि पुरुष के वीर्य कणों को उनमें कई दिन तक सुरक्षित रक्खा जासकता है। पशुओं पर इस विधि का बराबर प्रयोग किया जाता है[1]।

---

१. विक्रमी संवत् १९४७ [१८९० ई० सन्] में अब से लगभग ६५ वर्ष पूर्व पूना में साम्राज्यीय कृमिविज्ञानसम्बन्धी प्रयोगशाला की स्थापना की गई थी। स्थापना के तीन वर्ष के अनन्तर इस संस्था को 'भारतीय पशुचिकित्सा अनुसन्धानशाला' के रूप में हिमालय के कुमाऊं क्षेत्र में अलमोड़ा मण्डल के अन्तर्गत मुक्तेश्वर नामक स्थान पर ले आया गया। यह स्थान समुद्रस्तर से लगभग आठ हजार फ़ीट की ऊंचाई पर स्थित है। इसकी एक शाखा विक्रमी संवत् १९७९ [१९२२ ई० सन्] में बरेली के समीप आईज़ट-नगर में स्थापित की गई। इस शाला में सुरक्षानलियों द्वारा पशु उत्पादन की विधि में सन्तोषजनक सफलता प्राप्त की गई है। इस कार्य के लिये पालित सांड से प्रति सप्ताह

एक बिन्दु में अनेक जीवाणु होते हैं, जीवाणुओं की न्यूनाधिकता बिन्दु के स्वास्थ्य पर निर्भर है। परन्तु मिथुन के अनन्तर इनमें से एक ही जीवाणु का डिम्बग्रन्थि से मेल होता है, वहुत कम अवसर ऐसे होते हैं, जब एक से अधिक जीवाणु का डिम्बग्रन्थि से मेल होता हो। अनेक पशु-पक्षियों व सरीसृपों में अधिक का मेल देखा जाता है। वीर्य-कण में जीवाणु अथवा जीवात्मा की स्थिति एक गंभीर विचारणीय रहस्य है। आधुनिक विज्ञान इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश नहीं डालता, कि उस अनिसूक्ष्म बिन्दु कण में वह चेतना शक्ति कहां से आजाती है। वह केवल इतना प्रतिपादन कर सन्तुष्ट हो जाता है, कि यह उसकी स्वाभाविक स्थिति है। वह इसी को मूल स्थिति मानकर इसके आगे आधि-भौतिक तत्त्वों का विवेचन करता है, पर इस मूल की अन्य वास्तविकताओं के अन्वेषण की वह आवश्यकता नहीं समझता। भारतीय विचारकों ने इस विषय पर जो प्रकाश डाला है, वह उनकी अपनी एक विशेषता है। इसप्रकार का विवेचन संसार के अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

भारतीय ऋषियों ने इस विषय की मूल स्थिति पर विचार करने के लिये जो आधार माना है, वह है—आधिभौतिक तत्त्वों से अतिरिक्त चेतन की सत्ता। अधिभूत से पृथक् चेतन तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर लेने पर बहुत सी उलझी हुई समस्याओं का सरलता से समाधान हो जाता है। चेतन की ऐसी सत्ता केवल कल्पना पर आधारित नहीं है, यह प्रामाणिक और युक्तिपूर्ण है। इसका विवेचन इसी ग्रन्थ के प्रारम्भिक पृष्ठों में संक्षेप से किया गया है। नित्य चेतन आत्मा का स्थूलदेह के साथ सम्बन्ध हो जाने पर 'जन्म' नामक अवस्था की संभावना बताई गई है। रज-वीर्य के अतिसूक्ष्म कणों का पर-स्पर संपर्क जिस क्षण में हो जाता है, उसी क्षण से स्थूलशरीर की रचना प्रारम्भ हो जाती है। यह बात सांख्यशास्त्र के आधार पर ज्ञात होती है, कि स्थूलशरीर के वे अति-सूक्ष्म आद्य कण चेतन आत्मा से अधिष्ठित रहते हैं। यदि उन कणों को आत्मा से अधि-ष्ठित न माना जाय, तो सांख्य[1] कहता है, वे कण नष्ट हो जायेंगे, उनसे गर्भस्थिति नहीं हो सकती, वे दूषित होकर बाहर निकल जाते हैं। ऐसा तो अनेक वार हो सकता है, कि जीव-चेतन से अधिष्ठित भी कण गर्भस्थिति में समर्थ न हो सकें; पर जो कण जीवाणु-

---

नियत दिन शुक्र प्राप्त किया जाता है, और उसकी नीरोगता की सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्र द्वारा परीक्षा की जाती है। तब इसे सुरक्षा नली में सुरक्षित कर दिया जाता है, इसमें दस दिन तक प्रजनन शक्ति रह सकी है। चार पाँच दिन तक तो उत्तम फलप्रद रहता है। आव-श्यकतानुसार गायों को गाभिन करने के लिये यह प्रयोग में लाया जाता है। एक वार प्राप्त किया शुक्र पांच गायों तक को गाभिन करने के लिये पर्याप्त होता है।

१. अनधिष्ठितस्य पूतिभावयोगात्र तत्सिद्धिः। सां० सू० ६।६०॥ चेतन आत्मा से अनधिष्ठित शरीर दूषित हो जाता है, गल सड़ जाता है, इसलिये शरीर के आद्यक्षण से लगाकर अन्त तक ऐसे शरीर की सिद्धि नहीं, जो चेतन आत्मा से अधिष्ठित न हो।

रहित हैं, उनसे गर्भस्थिति की संभावना ही नहीं हो सकती। उस रज-वीर्य के अतिसूक्ष्म कण में जीवात्मा कैसे आता है, कहां से आ जाता है ? इस पहेली को सुलझाने के लिये एक दृष्टि उपनिषदों की ओर डालनी होगी।

**श्वेतकेतु का उपाख्यान, देहात्मसम्बन्धप्रसंग में**—छान्दोग्य उपनिषद् में एक प्रसंग आता है—आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु एक वार पंचाल देश की राजसभा में जा पहुंचा। वहां के राजा प्रवाहण ने उससे कुछ प्रश्न किये, उनका वार्त्तालाप इसप्रकार हुआ—

राजा—हे कुमार ! क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षित किया है ?

श्वेतकेतु—भगवन् ! मैं शिक्षा प्राप्त कर चुका हूं।

राजा—क्या इस बात को जानते हो—यहां से प्रजा प्रतिदिन परलोक के लिये प्रयाण करती हैं ?

श्वेतकेतु—नहीं भगवन् ! यह मैं नहीं जानता।

राजा—क्या यह जानते हो—जिसप्रकार ये प्रजा फिर इस लोक में वापस आजाती हैं ?

श्वेतकेतु—नहीं भगवन् ! मैं यह भी नहीं जानता।

राजा—क्या यह जानते हो—देवयान और पितृयाण ये दोनों मार्ग जिसप्रकार साथ-साथ चलते हैं, और जहां से फिर अलग-अलग हो जाते हैं ?

श्वेतकेतु—भगवन् ! मैं नहीं जानता।

राजा—क्या यह जानते हो,—जिसप्रकार वह लोक [स्वर्गलोक अथवा पितृ-लोक] निरन्तर बहुत अधिक व्यक्तियों के जाने पर भी भर क्यों नहीं जाता ?

श्वेतकेतु—भगवन् ! मैं इसे भी नहीं जानता।

राजा—क्या यह जानते हो—जिसप्रकार पांचवीं आहुति में आपस् [जल], पुरुषसंज्ञक होजाते हैं ?

श्वेतकेतु—नहीं भगवत् ! मैं यह भी नहीं जानता।

राजा—तुम तो कुछ नहीं जानते, और कहते हो, मैं पूरा शिक्षित हो चुका हूं। जो मेरी पूछी हुई इन बातों को नहीं जानता, वह कैसे अपने आपको शिक्षित कह सकता है ?

नवशिक्षित कुमार श्वेतकेतु, राजा प्रवाहण के इस प्रश्नपंचक से बड़ा व्यग्र हो उठा, दुःखी तथा खिन्न होकर उल्टे पांव वहां से वापस हुआ, और सीधा अपने पिता आरुणि के पास पहुंचा। जाते ही बोला, भगवन् ! पूर्ण शिक्षित किये विना श्रीमान् ने मुझे स्नातक बना दिया, और कह दिया—मेरी शिक्षा समाप्त हो चुकी है। मैं पंचाल देश की राजसभा में जा पहुंचा था, वहां राजा ने मुझसे पांच प्रश्न किये, मैं एक का भी

उत्तर न देसका, मुझे बहुत लज्जित होना पड़ा। आरुणि ने कहा, पुत्र ! तुमने यहां आते ही मेरे सन्मुख इन पांच प्रश्नों को प्रस्तुत किया है, मैंने तुमसे ही ये अब सुने हैं, मैं स्वयं इनमें से एक का भी उत्तर नहीं जानता, यदि जानता होता, तो तुम्हें उपदेश क्यों न करता ? तब वह आरुणि गौतम स्वयं पंचाल देश के राजा प्रवाहण के पास पहुंचा, राजा ने उसका यथोचित आदर सत्कार किया, और उसके विश्राम का प्रबन्ध कर दिया। अगले दिन प्रातःकाल राजा के सभा में चले जाने पर यथोचित सत्कृत आरुणि जब वहां पहुंचा, तो राजा ने उससे कहा—

भगवन् गौतम ! मनुष्य के लिये जो आवश्यक धन सम्पत्ति है, भूमि ग्राम आदि, वह आप मुझसे ले सकते हैं। गौतम ने कहा, राजन् ! वह सब धन सम्पत्ति, ग्राम, भूमि जो मनुष्य के लिए आवश्यक है, आप अपने पास ही रहने दीजिये। मैं केवल उस वाणी को सुनने के लिए आया हूं, जो पांच प्रश्नों के रूप में आपने मेरे पुत्र श्वेतकतु के सन्मुख कही है। राजा यह सुनकर कुछ चिन्तित हुआ। वह ब्राह्मण को खाली लौटाना नहीं चाहता था, और किसी विद्या का उपदेश ऐसे चलते फिरते तो दिया नहीं जा सकता। विद्या-प्रदान विधिपूर्वक होना चाहिये। राजा ने आदेश दिया, आप कुछ समय यहां निवास करें। परन्तु राजा ने अपने इस व्यवहार में अंशतः रूक्षता का अनुभव किया, और गौतम को कहा—आपने एक प्रसिद्ध विद्वान् ब्राह्मण होते हुए जो मेरे सामने विद्यासम्बन्धी वाणी को कहने के लिये आवेदन किया है, उस विषय में आपको यह जान लेना चाहिये, कि आपसे पहले आज तक यह विद्या किसी ब्राह्मण को अवगत न थी। इसलिये सर्वत्र जहां तक इस विद्या का सम्बन्ध है, समस्त शिष्य समुदाय में क्षत्रियों का प्रशासन रहा है, अर्थात् आज तक क्षत्रियों की परम्परा में ही यह विद्या चली आ रही है, आज सर्वप्रथम आपके सन्मुख इसका प्रवचन किया जा रहा है, अतएव आप मेरे इस व्यवहार पर ध्यान न देकर विद्या के रहस्य को सुनिये।

उपनिषत्कार ने रुचिकर कथानक का सहारा लेकर जिस रहस्यपूर्ण विद्या का उद्घाटन किया है, उसके विस्तार में न जाकर संक्षेप से यहां उसका निर्देश कर देना उपयुक्त होगा। राजा ने श्वेतकेतु से परीक्षारूप में पाच प्रश्न पूछे, जो इसप्रकार हैं—

१—मृत्यु के अनन्तर प्रजा का परलोक में जाना,

२—वहां से पुनः इस लोक में वापस आना,

३—देवयान पितृयाण मार्गों की व्यवस्था,

४—स्वर्गलोक का पूरित न होना,

५—पांचवीं आहुति में 'आपस्' [जलों] की पुरुष संज्ञा हो जाना,

उपनिषद् में सर्वप्रथम पंचम प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत किया गया है। शेष प्रश्नों के उत्तर इसी में समाविष्ट हैं। जिस विद्या का यहां प्रस्ताव किया है, उसका नाम 'पञ्चाग्नि विद्या' है। इसमें पांच अग्नियों की कल्पना कर उसके आधार पर जीवात्मा की गति-

आगति को स्पष्ट करने का यत्न किया है। जब कोई व्यक्ति यज्ञ अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करता है, वहां आहवनीय आदि अग्नि में द्रव-प्रधान द्रव्यों की आहुति का प्रक्षेप किया जाता है। विविध यज्ञों में घृत, दुग्ध, दधि आदि की आहुतियां दी जाती हैं, इनको द्रव-प्रधान होने के कारण आपस् अर्थात् जलरूप बतलाया गया है। आहवनीय आदि में क्षिप्त यह आहुति अग्नि-द्वारा सूक्ष्म रूपान्तरित होकर, देहपात के अनन्तर यजमान-आत्मा को अन्तरिक्षमार्ग से द्युलोक तक लेजाती है। समस्त यज्ञ आदि कर्म स्वर्ग-प्राप्ति की भावना से अतिश्रद्धापूर्वक अनुष्ठित किये जाते हैं। इस अनुष्ठान से आत्मा में एक अदृष्टविशेष अथवा धर्म का प्रादुर्भाव होता है, जो अनुष्ठाता आत्मा को स्वर्ग अर्थात् उस सुखविशेष की प्राप्ति में प्रधान साधन बनता है। इसी अर्थ को उक्तरूप में प्रकट किया गया है, कि आहुतियां यजमान को द्युलोक तक पहुँचाती हैं। मानो अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक प्रदत्त आहुतियों में लिपटा हुआ यजमान-आत्मा जब द्युलोक में पहुंचता है; यह द्युलोक रूप अग्नि में श्रद्धा की प्रथम आहुति है।

द्युलोक में पहुंचकर वह आत्मा स्वर्गसुख का उपभोग करता है। जिसकी भावना से प्रेरित होकर उसने यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान किया था, और उनसे जनित वासनाओं में आवेष्टित वह यहां तक पहुंचा है. यह अब उसका उपभोग-अवसर है। इसी अर्थ को उपनिषद् में कहा है—द्युलोक अग्नि में प्रदत्त श्रद्धा-रूप आहुति 'सोम' बन जाती है। अभिप्राय यह है, कि वह आत्मा सोम अर्थात् चन्द्रलोक में अपने उन शुभ कर्मों के फलों का भोग करता है, जब तक कि वे वासना समाप्त नहीं हो जातीं। जो द्रवमय आज्य आहुतियां यजमान आत्मा को आवेष्टित कर श्रद्धारूप हो द्युलोक-अग्नि में आहुत की गई थीं, वे अब 'सोम' बन गई हैं। उस समय तक वे सोम बनकर रहीं, जब तक उन कर्मों का भोग पूरा न हुआ। अब वह समय आ पहुंचा, यजमान-आत्मा का स्वर्गसुखभोग समाप्त हुआ, वह द्युलोक से अन्तरिक्ष में आगया। वे आत्मा अपने स्वर्ग सुखों को भोगकर अन्तरिक्ष में पर्जन्यों के साथ मंडराने लगीं। मानो 'सोम' की आहुति पर्जन्यरूप अग्नि में दे दी गई, यह दूसरी आहुति है।

पर्जन्य में आहुत वे सोम, वर्षा बनगये। वह वर्षा पृथिवी पर बरसी। अब वे आत्मा वर्षा के साथ पृथिवी पर आ पहुंचे। यह पृथिवीरूप अग्नि में उन जलों की तीसरी आहुति है, जो यज्ञादि में आहुत आज्य के रूपमें यजमान-आत्मा को आवेष्टित कर स्वर्ग की ओर चले थे। यह वर्षारूप आहुति, अन्न बन गई। अभिप्राय यह है, कि वे यज्ञानुष्ठान करने वाले आत्मा अनुशयी[1] बनकर अन्न में आ विराजे। अन्न को पुरुष ने खाया, मानो अन्न की

१. अनुशयी का अभिप्राय है, कि ओषधि वनस्पति वृक्ष लता आदि में यदि कोई अभिमानी आत्मा है, तो उससे इन आत्माओं का कोई सम्बन्ध नहीं। ये तो सोम वर्षा अन्न आदि को आश्रय बनाकर अपने अनन्त पथ पर चल रहे हैं, इसीलिये इनको अनुशयी नाम दिया गया है। जो आत्मा लता वृक्ष आदि में अपनापन अनुभव करता है, वह उसका अभिमानी आत्मा है, जैसे अपने देह में प्रत्येक मानव व्यक्ति।

आहुति पुरुष में दे दी गई। यह उन जलों की चौथी आहुति है। पुरुष रूप अग्नि में आहुत होकर वह अन्न 'रेतस्' बन गया। तात्पर्य यह, कि वे अनुष्ठान करने वाले आत्मा अब 'रेतस्' में आबैठे हैं। पुरुष-स्त्री का मिथुन हुआ, रेतस् गर्भ में जा पहुंचा। मानो योषा रूप अग्नि में रेतस् की आहुति दे दी गई। यह पंचम आहुति है, जब गर्भाशय में पहुंचकर वे जल 'पुरुष' संज्ञक हो जाते हैं।

इस प्रसंग में जिन पांच अग्नियों तथा आहुतियों की कल्पना की गई है, उनको स्पष्टरूप में इसप्रकार निर्देश किया जा सकता है—

| आहुति | अग्नि |
|---|---|
| श्रद्धा | द्युलोक |
| सोम | पर्जन्य |
| वर्षा | पृथिवी |
| अन्न | पुरुष |
| रेतस् | योषा |

यज्ञ आदि अनुष्ठानों में उपयुक्त द्रवमय आज्य से परिवेष्टित अनुष्ठाता स्वर्गादि सुखों का उपभोग कर किसप्रकार गर्भाशय में आकर पुनः देह आदि का धारण करता है, और इसी चक्कर में अनन्तकाल तक आवर्त्तमान रहता है[1] इसी तत्त्व को यहां स्पष्ट किया गया है। इसमें अन्तर्निहित भावना यह है, कि इसकी वास्तविकता को जानकर इसमें जुगुप्सा के भाव जागृत हों, तथा अध्यात्म की ओर प्रवृत्ति बढ़ सके। इसमें पंचम प्रश्न का उत्तर मुख्यरूप से और साधारणतया प्रथम द्वितीय प्रश्नों के उत्तर आगये हैं। देवयान पितृयाण मार्गों का वर्णन, इस ग्रन्थ के प्रस्तुत विचार में उपयोगी है, इसलिये उनका विवेचन संक्षेप में उपस्थित किया जाता है।

**देवयान-पितृयाण [देहात्मसंबन्धप्रसंग में]**—देवयान अध्यात्ममार्ग है, और पितृयाण अधिभूत। जो व्यक्ति पञ्चाग्निविद्या की वास्तविकता को जान लेते हैं, और इसलिये अनिश आवर्त्तमान उस चक्र से बाहर निकलने के लिये प्रयत्नशील हो अध्यात्म की ओर पग बढ़ाते हैं, सांसारिक वृत्तियों से पृथक् रहते हुए, श्रद्धापूर्वक आत्मज्ञान के लिये भगवान् की उपासना एवं तपस्या में लीन रहते हैं, ऐसे व्यक्तियों की मृत्यु के अनन्तर जो गति होती है, उसी को देवयान मार्ग कहा जाता है। जो व्यक्ति वापी कूप तडाग धर्मशाला आदि सार्वजनिक हित के लिये निर्माण करा धर्म का अर्जन करते हैं, यज्ञ अग्निहोत्र आदि का अनुष्ठान करते हैं; तथा दान आदि करते हैं, ऐसे व्यक्तियों की मृत्यु के अनन्तर जो गति होती है, उसको पितृयाण मार्ग कहा गया है। पञ्चाग्निविद्या में आत्मा की जो गति प्रदर्शित की गई है, वह पितृयाण मार्ग का संकेत करती है।

---

१. **कपिल ने सांख्यसूत्र [४।२२] में इस अर्थ का संकेत किया है, और पञ्चाग्निविद्या में प्रदर्शित यज्ञादि-फलों को अल्पकालिक बताया है।**

यज्ञादि कर्मों के फल भोगकर जब आत्मा पुनः जन्म आदि के पथ पर अग्रसर होता है, उस समय उन आत्माओं के स्वर्गीय देह विलीन होकर आकाश के समान सूक्ष्म अर्थात् दुर्निरीक्ष्य हो जाते हैं। इसके अनन्तर वे आत्मा वायुमण्डल में आजाते हैं, वहां से मेघों में मिलकर मंडराते रहते हैं, और वर्षा के साथ पृथिवी पर आजाते हैं, तब यहां वे सब तरह के अन्नों ओषधि वनस्पतियों लता वृक्षों आदि में अनुशयी होकर आश्रय पाते हैं, कभी जल के रूप में उपयोग कर लिये जाते हैं। मनुष्य पशु पक्षी कीट पतंग आदि किसी के भी द्वारा आहार के रूप में उनका उपयोग किया जासकता है। यह अधिक संभव रहता है, कि उनका उपयोग न हो, तथा जलप्रवाह आदि के साथ जलाशयों अथवा समुद्र में जा पहुंचें, या और कहीं अटक जायें। फिर वहां से सूर्यताप पाकर जलों के वाष्प के साथ पुनः पर्जन्य अथवा मेघमण्डल में जापहुंचें, और वहां से फिर वर्षा के साथ पृथिवी पर आजायें, और वही चक्कर प्रारम्भ हो जाय। अन्न आदि में अनुशयी होकर बैठे हुए आत्मा, यह आवश्यक नहीं कि उस अन्न के साथ मानव के भोज्य आहार बनें, पशु पक्षी आदि के भी आहार बन सकते हैं। मनुष्यों में भी यह नहीं कहा जासकता, कि कैसी भावना रखने वाले मानव के आहार बनें। किसी के आहार बनने पर भी यह आवश्यक नहीं, कि रेतस् में अवस्थित होकर वे पुरुष संज्ञा को प्राप्त कर हा लें। रेतस् भी अनेक वार अपना कार्य पूरा न कर व्यर्थ चला जाता है। इन सब स्थितियों में पुरुष संज्ञा प्राप्त न होने तक, अर्थात् गर्भस्थिति होने से पहले पहले, उसी तरह गिरते पड़ते लुढ़कते-पुढ़कते कभी यहीं, कभी पुनः मेघमण्डल तक जाकर फिर वर्षा के साथ यहीं, यह चक्कर लगा ही रहता है। पञ्चाग्निविद्या की तीसरी चौथी आहुति के चक्र से निकलना अतिकठिन है। यह सब आत्माओं के अपने कर्मों के अनुसार व्यवस्था चलती रहती है। ये हैं देवयान और पितयाण मार्ग।

ऐसे भी प्राणी हैं, जो न अध्यात्ममार्ग का आश्रय लेते हैं, और न यज्ञ याग आदि का अनुष्ठान करते हैं, जो निरन्तर जल्दी जल्दी जन्मते और मरते रहते हैं, इसप्रकार में क्षुद्र प्राणी कीट पतंग आदि की यह अन्य गति है। जो मनुष्य अध्यात्म अथवा अधिभूत की सेवा एवं उपासना में अपना समय नहीं लगाते, केवल स्वोदरपूर्ति के साधनों में तिर्यक् कीट पतंग आदि के समान लगे रहते हैं, उनकी भी यही गति समझनी चाहिये। संसार में सबसे अधिक अनन्तानन्त प्राणी तीसरी गति वाले होते हैं, सबकी अपेक्षा बहुत थोड़े आत्मा मानव देह में रहते हैं, उनमें भी यज्ञ याग अथवा सार्वजनीन हित करने वालों की संख्या बहुत कम रहती है, फिर अध्यात्ममार्ग की ओर रुचि रखने वाले तो विरले ही मानव होते हैं, इसीकारण परलोक कभी पूरित नहीं हो पाता।

**आत्मा का वीर्यादि के साथ गर्भ-प्रवेश**—इस वर्णन में उन सब प्रश्नों के उत्तर पूर्णरूप में आजाते हैं, जो जेबल के पुत्र राजा प्रवाहण ने श्वेतकेतु की परीक्षा के लिये उससे पूछे। इस प्रसंग को यहां प्रस्तुत करने का यह प्रयोजन है, कि आत्मा के जन्म के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जासके। पञ्चाग्निविद्या और पितृयाण मार्ग के पर्यालोचन

से इस सम्बन्ध में भारतीय ऋषियों का यह दृष्टिकोण स्पष्ट होजाता है, कि नित्य चेतन आत्मा एक देह को त्यागकर कालान्तर में जब दूसरे देह का ग्रहण करता है, उस समय पुरुष-योषा का मिथुन होने पर रेतस् के साथ ही साथ वह गर्भ में प्रवेश करता है। योषा की रजःसम्बन्धिनी डिम्बग्रन्थियों के साथ रेतस् के एक सूक्ष्म कण का सम्पर्क होने पर गर्भस्थिति होजाती है, और आत्मा के स्थूल देह की रचना का प्रारम्भ होजाता है। नौ या दस महीने अथवा जितना आवश्यक हो, गर्भ में पूर्ण होकर वह देह योनिमार्ग से बाहर आता है, इसीसमय इसकी जन्म संज्ञा होती है। यद्यपि इस देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध उसी क्षण से बराबर बना हुआ है, जब रजवीर्य कणों का प्रथम सम्पर्क हुआ, तथापि देह पूर्णाङ्ग होने पर जब गर्भ से बाहर आता है, उसी को 'जन्म' नाम दिया गया है। आयुर्वेद शास्त्र[1] से इस अर्थ की पूर्ण पुष्टि होती है। आधुनिक विज्ञान ने भी, जहां तक भौतिक

---

१. चरकसंहिता, शारीरस्थान के तृतीय अध्याय में निम्नलिखित पाठ आते हैं—

(क) '....तं जीव इत्याचक्षते...स गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मानम्'। (ख) 'सतामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक्संयोगाद् गर्भत्वं न भवति, तच्च संयोगाद् भवति।' (ग) 'स्त्रीपुरुषाणामनुपहतशुक्रशोणितगर्भाशयानामृतुकाले संनिपतितानां जीवस्यानवक्रमणाद् गर्भा न प्रादुर्भवन्ति'।

इन सन्दर्भों का अर्थ यथाक्रम इसप्रकार है—(क) उस अन्तरात्मा को जीव कहते हैं, वह गर्भाशय में प्रविष्ट होकर शुक्रशोणित के साथ संयुक्त हो, अपने-आपको गर्भरूप से उत्पन्न कर लेता है। तात्पर्य यह है, कि जीवात्मा नित्य होने के कारण स्वयं उत्पन्न नहीं होता, शुक्रशोणित के साथ जीवात्मा का संयोग होने पर जो गर्भस्थिति होजाती है, और स्थूलशरीर की रचना होने लगती है, उसी को आत्मा की उत्पत्ति अथवा जन्म के नाम से कहा गया है। (ख) शुक्रशोणित और जीव का पृथक् अस्तित्व रहने पर, उनका संयोग होने से पहले गर्भ नहीं हो सकता, इन तीनों की संयुक्त स्थिति में गर्भ का होना संभव है। (ग) स्त्री और पुरुषों के शोणित, गर्भाशय तथा शुक्र जब रोगरहित होते हैं, और ऋतुकाल में इकट्ठे हो जाते हैं, उस समय वहां पर यदि जीव की उपस्थिति नहीं होती, तो गर्भ का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

इसीप्रकार सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान के तृतीयाध्याय में इस आशय को प्रकट करने वाला एक पाठ निम्नलिखित है—'स्त्रीपुंसयोः संयोगे...शरीराद्...शुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्त्तवेन। ततः...संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनु-प्रतिपद्यते। क्षेत्रज्ञः.........गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते।'

(अर्थ)—स्त्री पुरुष का संयोग होने पर शरीर से क्षरित हुआ शुक्र, योनि में प्राप्त होता है, और आर्त्तव (शोणित–डिम्बग्रन्थि) के साथ संसृष्ट होजाता है। तब

विवेचन का सम्बन्ध है, इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, परन्तु चेतन आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न करने के कारण वह झमेले में पड़ गया है, और इस समस्या का अन्तिम उत्तर वह पा नहीं सका।

**जन्म आदि अनादिकाल से**—स्थूल देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने की अवस्था को जैसे 'जन्म' कहा जाता है, ऐसे ही आत्मा के द्वारा उस देह के परित्याग का नाम 'मृत्यु' अथवा 'मरण' है। यह जन्म-मरण का क्रम आत्मा के साथ अनादि काल से लगा है, और अनन्त काल तक चला जायगा। यह अलग बात है, कि बीच में कभी किसी के लिये लम्बा अवकाश मिल जाय, और किसी को न मिले, पर यह क्रम ऐसा ही चलना है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने कहा है, कि जन्म और मरण के अवसर पर आत्मा को महान कष्ट का अनुभव होता है, परन्तु अन्तराल में यह एक ऐसा अभेद्य भित्ति का आवरण आ जाता है, कि पूर्व देह के साथ जन्म-मरणजन्य कष्ट को, देहान्तर के साथ सम्पर्क होने पर, आत्मा सर्वथा विस्मृत कर देता है। यह मृत्युरूपी एक अनिवार्य आवरण है, यदि यह आवरण मध्य में न होता, तो मानव का जीवन दूभर हो जाता। वह कष्टों के विचार से ही सहसा दब जाता। यद्यपि ऋषियों ने ऐसे साधन सुझाये हैं, जिनसे कोई व्यक्ति देहान्तर-सम्पर्क के समय की घटनाओं का स्मरण कर सकता है, पर अधिक भला इसी में है, कि ऐसा अवसर कोई न आने दे।

**मृत्युकाल की भावना**—मरण-त्रास समीपसम्बन्धियों को तो उद्वेलित करता ही है, पर स्वयं जो व्यक्ति मृत्यु-मुख में कवलित होरहा होता है, वह उस त्रास से त्राण पाने की कितनी उत्कट अभिलाषा रख सकता है, यह बात गीता के एक श्लोक के आधार पर अध्यात्ममार्गी अनुभवी व्याख्याकारों ने प्रकट की है। गीता का श्लोक इस प्रकार है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

कृष्ण कहता है, हे अर्जुन! जिस जिस भाव अथवा विचार को स्मरण करता हुआ व्यक्ति अन्त समय में अपने देह का परित्याग करता है, उन भावों से प्रभावित हुआ वह उस उस भाव को ही पा लेता है। मृत्युसमय समीप होने पर जब मानव की बाह्य इन्द्रियां अपने विषयों की ओर से रुद्ध होजाती हैं, मृत्यु के सन्मुख वह अपनी अशक्तता

---

**सर्गोन्मुख गर्भ गर्भाशय में पहुंच जाता है। क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा गर्भाशय में अनुप्रविष्ट होकर अवस्थित रहता है।**

**आयुर्वेद ग्रन्थों के ये प्रामाणिक लेख इस बात को स्पष्ट करते हैं, कि शुक्र के साथ ही जीवात्मा गर्भाशय में पहुंचता है, वहां शोणित के साथ संसृष्ट होकर गर्भ का उत्पादन होता है। जीवात्मा के न रहने पर नीरोग भी शुक्रशोणित गर्भ का आरम्भ नहीं कर सकते।**

और असामर्थ्य का अनुभव करता है। समीप सम्बन्धियों के आर्त्तनाद उस तक पहुंचते हैं पर वह उनका कुछ प्रतीकार नहीं कर सकता। अपने प्रियजनों का अनिच्छित वियोग उसके अन्तस्तल को मथ डालता है। जब इधर से वह इतना विवश होता है, उस समय अपनी भावी योनि उसे दीखने लगती है। उसे यह भान हो जाता है, कि मैं अमुक योनि में जारहा हूं, उसके अनुकूल संस्कार सहसा उद्बुद्ध हो जाते हैं, और उधर वह आकृष्ट होने लगता है। तब उस महान मृत्यु कष्ट से त्राण पाने के लिये भावी योनि के प्रति उसकी उत्कट भावना जागृत होजाती है। वह भगवान् से प्रार्थना करता है—मुझे इस कष्ट से बचाओ, मैं अमुक योनि में जाने के लिये अति प्रसन्न हूं, पर किसी तरह इस मृत्यु कष्ट से मेरा छुटकारा करो। ऐसी तीव्र भावनाओं से प्रभावित हुआ वह इस देह को त्याग, भावी योनि की तयारी में निकल जाता है। वह यह नहीं समझता, कि मैं एक गढ्ढे से निकल कर दूसरी खाई में गिर रहा हूं। इससे मृत्युकष्ट की तीव्रता का अनुमान होता है। पर नवीन आकांक्षा एवं उत्सुकताओं में व्यक्ति इतना रमजाता है, कि पिछले कष्टों को फिर स्मृतिपथ पर उतारने का उसे अवकाश नहीं रहता, और वह सदा इसी क्रम को भुगता करता है।

**आत्मा की अध्यात्म-प्रवृत्ति**—संसार में ऐसे आत्मा हैं, पर अति विरल, जिनकी प्रवृत्ति अध्यात्म की ओर होती है, वे आत्मसम्बन्धी स्वाध्याय, ब्रह्म का ध्यान मनन तथा परमात्मा के मुख्य नाम 'ओम्' की उपासना एवं अन्य उपासनाओं में अपना अधिक समय लगाया करते हैं। ऐसे व्यक्ति एक देह का परित्याग कर शीघ्र देहान्तर को प्राप्त कर लेते हैं। इनको अधिक समय तक वायुमण्डल में मंडराते रहने का भय नहीं होता। ऐसे आत्मा, पवित्र विद्वान् धर्मात्मा योगीजनों के घरों में जन्म लिया करते हैं, वहां के अनुकूल वातावरण में ये अध्यात्ममार्ग पर उत्तरोत्तर बढ़ते चले जाते हैं, जब तक पूर्ण आत्मज्ञान न हो जाय। आत्मसाक्षात्कार होजाने पर ये ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् परान्तकाल-पर्यन्त मोक्ष अवस्था में ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। वह इतना अधिक लम्बा काल होता है, कि उसे अनेक स्थलों पर शाश्वत तथा अनन्त तक कह दिया गया है।

**आत्मा की शुक्ल-कृष्णगति**—इन दोनों मार्गों का उल्लेख गीता में हुआ है। वहां एक का नाम शुक्लगति और दूसरे का कृष्णगति बताया गया है। इनमें से देवयान शुक्लगति और पितृयाण कृष्णगति है। पहली गति इस जन्म-मरण के अनिश आवर्त्तमान चक्र से आत्मा को छुटकारा दिलाती है, जबकि दूसरी गति इसको सत्त्वर जन्म-मरण में निरन्तर आवर्त्तमान[1] रखती है। इन मार्गों के शुक्ल कृष्ण नामों का कारण गीता में बताया गया है, कि अग्नि, प्रकाश, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण काल में गति होने से देवयान का नाम शुक्लगति; तथा धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन में गति होने से पितृयाण

१. शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥८।२६॥

का नाम कृष्णगति है। यद्यपि उपनिषदों में इन मार्गों की गति का आधार प्रायः वही है, जो गीता में कहा है, गीता का कथन उपनिषदों के आधार पर हो सकता है; परन्तु उपनिषदों में इन मार्गों के शुक्ल कृष्ण नामों का उल्लेख नहीं है। गीता में आगे कहा है, जो योगी[1] इन गतियों की वास्तविकता को जान लेता है, वह अज्ञान के मार्ग से बचा रहता है, उसकी प्रवृत्ति अध्यात्म की ओर हो जाती है, और अन्त में वह सद्गति अर्थात् श्रेष्ठ अवस्था मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पालन करते हुए अध्यात्मपथ की ओर प्रवृत्त होने में यत्नशील रहना चाहिये।

कठ उपनिषद् [५।६-७] में यह प्रसंग है, कि मृत्यु के अनन्तर आत्मा किस स्थिति में रहता है। कोई आत्मा अन्य शरीर धारण करने के लिये अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों को प्राप्त होते हैं, तथा अनेक वृक्ष लता वनस्पति आदि दशा में चले जाते हैं।

आत्मा देहत्याग के अनन्तर कहां जाता और कब देहान्तर से सम्बद्ध होजाता है, इसके साधारण संकेत वेद में उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद के उन्तालीसवें अध्याय में एक मन्त्र[2] है, जिसका अभिप्राय यह है, कि देहत्याग के अनन्तर इस जीवात्मा का पहले दिन सूर्यप्रकाश दूसरे दिन अग्नि तीसरे दिन वायु चौथे दिन आदित्य [-मास] पांचवें दिन चन्द्रमा छठे दिन ऋतु सातवें दिन मरुत् आठवें दिन बृहस्पति नौवें दिन मित्र दसवें दिन वरुण ग्यारहवें दिन इन्द्र और बारहवें दिन समस्त देव आश्रय होते हैं, अर्थात् सूर्यप्रकाश आदि पदार्थों को प्राप्त होकर कुछ काल भ्रमण कर अपने कर्मों के अनुकूल गर्भाशय को प्राप्त हो शरीर धारण कर पुनः उत्पन्न होते हैं, और पुण्य पाप कर्म से सुख दुःख रूप फलों को भोगते हैं।

**आत्मा के शुभाशुभ कर्मफल**—इन उल्लेखों के आधार पर यह विचार स्थिर होता है, कि भारत के प्राचीन आर्य ऋषियों ने मानव के प्रतिदिन के शुभ अशुभ अनुष्ठानों का अवलम्ब लेकर देवयान पितृयाण मार्ग अथवा शुक्ल कृष्णगति के रूप में उनके परिणामों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इन अनुष्ठानों और उनके परिणामों के कार्यकारण-भाव का जब दार्शनिकरूप में विवेचन किया जाता है, तब इनकी वास्तविकता प्रत्यक्ष होती है, और मानव उधर से हटने का यत्न करता है, जो स्थितियां बराबर उसको अशान्त और व्यग्र करती हैं। तथा उधर को रुचिपूर्वक आकृष्ट होता है, जहां अशान्त वातावरण का अवसान और व्यग्रता एवं उत्सुकताओं का चिरकाल के लिये विलय होजाता है। इस-

---

१. **नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।**
**तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥८।२७॥**

२. **सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे ॥३९।६॥**

प्रकार जन्म-मरण का यह क्रम, आत्मा के साथ अनादि काल से चल रहा है, और आगे इसीतरह इसके चलते रहने की संभावना है।

### उत्क्रान्ति और सूक्ष्मशरीर—

मृत्यु का अपर नाम उत्क्रान्ति है। इसमें आत्मा का उत्क्रमण होता है। वह एक देह से कूदकर-उछलकर या छलांग लगाकर दूसरे देह में चला जाता है। इस उत्क्रान्ति में क्या आत्मा एकाकी रहता है, या उसके साथ और कोई सहयोगी भी चलते हैं? सांख्य में इसका स्पष्ट विवेचन किया गया है। आदिसर्ग से लगाकर आत्मज्ञानपर्यन्त अथवा भावी प्रलयकालपर्यन्त प्रत्येक आत्मा के साथ एक सूक्ष्मशरीर बराबर बना रहता है। स्थूल देहों में आत्मा की गति-आगति का यह आश्रय है। इस शरीर का सम्बन्ध आत्मा के साथ एक सर्गकाल में सदा बना रहता है, चाहे आत्मा स्थूलशरीर में रह रहा हो, अथवा उससे बाहर। यह अनुपयुक्त न होगा, यदि सूक्ष्मशरीर को आत्मा का एक प्रकार का वाहन समझा जाय। समस्त सर्गकाल में आत्मा इसी में बैठकर अपनी सम्पूर्ण गतिविधियों को पूरा किया करता है। संभवतः इसी कारण अनेक आचार्यों ने इसको 'आतिवाहिक' शरीर कहा है। यह नाम इसके अपने कार्य को पूरे अर्थ में प्रकट करता है। कतिपय आचार्यों ने सूक्ष्मशरीर को 'अन्तराभव देह' कहा है। कदाचित् इस नामकरण का कारण यह प्रतीत होता है, कि आत्मा और स्थूलशरीर के मध्य में यह सदा बना रहता है। आत्मा का स्थूलदेह के साथ सम्बन्ध इसी के द्वारा हुआ करता है। पहले आत्मा सूक्ष्म-शरीर में आवेष्टित है, इसी स्थिति में उसका स्थूलशरीर के अन्दर प्रवेश होता है। इसीलिये स्थूलदेह और आत्मा के मध्य में सदा वर्त्तमान रहने से इसका 'अन्तरा-भव' नाम बहुत सार्थक है। एक स्थूलदेह के त्याग और अन्य स्थूलदेह के प्राप्त होने के अन्तराल में केवल इसी [सूक्ष्म] देह का आत्मा के साथ बराबर बने रहना भी इसके उक्त नामकरण का कारण कहा जासकता है। नाम चाहे कुछ हों और कितने भी हों, पर यह एक निर्विवाद तथ्य है, कि कपिल आदि समस्त सांख्याचार्यों[1] ने स्थूलशरीर के अतिरिक्त एक ऐसे शरीर को स्वीकार किया है, जो आत्मा के साथ सर्ग-काल में बराबर बना रहता है।

**आत्मा की गति-आगति का आश्रय-सूक्ष्मशरीर**—सूक्ष्मशरीर के घटक अवयव कौन हैं, इसकी रचना किस प्रकार मानी गई है, तथा इस सम्बन्ध के अन्य विवेचन 'विकार' नामक प्रकरण के 'सूक्ष्मशरीर' प्रसंग में किये गये हैं। यहां केवल इतना प्रतिपादन करना अभीष्ट है, कि देवयान पितृयाण आदि के वर्णन में आत्मा की गति आदि का जो उल्लेख किया गया है, उसका आश्रय यह सूक्ष्मशरीर समझना चाहिये। तात्पर्य यह है, कि

**१. सांख्याचार्यों में केवल विन्ध्यवासी एक ऐसा आचार्य है, जो सूक्ष्मशरीर अथवा अन्तराभव देह को स्वीकार नहीं करता। इसके आधार क्या हैं? इस सबका विवेचन इसी ग्रन्थ के 'विकार' नामक प्रकरण में सूक्ष्मशरीर के प्रसंग में किया गया है।**

केवल आत्मा गति आगति आदि नहीं करता। उसके ये सब कार्य सूक्ष्मशरीर में आवेष्टित रहने पर संभव हो सकते हैं।

पर ऐसा क्यों है? यह विचारणीय है, इसके दो कारण हो सकते हैं। एक यह, कि आत्मा विभु है अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है, उसमें स्वरूप से गति आगति का प्रश्न नहीं उठता। तब यह सब फलोपभोग और जन्म मरण का क्रम, एक देह का त्याग दूसरे का ग्रहण कैसे संभव हो सकता है? विभु आत्मा में इसी का सामंजस्य बैठानेके लिये उसके साथ एक सूक्ष्मशरीर की कल्पना की गई है। आत्मा कहीं आ जा नहीं सकता, उसका सूक्ष्मशरीर आता जाता है, जिस आत्मा के साथ जिस सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध है, उसकी गति-आगति का आत्मा में उपचार हो जाता है, इसी स्थिति को आत्मा का सूक्ष्मशरीर में आवेष्टित होना समझना चाहिये। अन्यथा विभु आत्मा सूक्ष्मशरीर में क्या आवेष्टित होगा।

यदि आत्मा विभु नहीं है, परिच्छिन्न परिमाण है, तब आत्मा की गति-आगति के लिये सूक्ष्मशरीर के आवेष्टन की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये, तब स्वतः आत्मा में एक देह का त्याग और देहान्तरप्राप्ति की संभावना हो सकती है। ऐसी स्थिति में आत्मा क साथ सूक्ष्मशरीर के आवेष्टन का कोई अन्य कारण होना चाहिये। सांख्यदृष्टि से संसार में आत्मा के उपस्थित होने के दो प्रयोजन निर्धारित किये गये हैं, एक भोग, दूसरा अपवर्ग। केवल शुद्ध आत्मा भोगों को प्राप्त करलेने में असमर्थ रहता है, भोग-सिद्धि को पूर्णरूप में प्राप्त करने के लिये स्थूलदेह और उसके अन्य सहयोगी साधनों की परम आवश्यकता रहती है, इसलिये सूक्ष्मशरीर में आत्मा के आवेष्टित रहने का यह दूसरा कारण है, आत्मा चाहे विभु माना जाय अथवा परिच्छिन्न, इन साधनों के विना वह अपने भोगों को प्राप्त नहीं कर सकता। इन साधनों में स्थूलदेह के अतिरिक्त तेरह करण हैं, जो आत्मा का साथ कभी नहीं छोड़ते। स्थूलदेह छूट जाने पर भी ये आत्मा के साथ बने रहते है। ये करण, आत्मा के दूसरे प्रयोजन अपवर्ग के किनारे तक पहुंचाने में आत्मा के प्रधान साधन हैं। एक देह के त्याग और देहान्तर की प्राप्ति में केवल शुद्ध आत्मा असमर्थ रहता है, इसलिये वहां भी इन करणों का सहयोग आत्मा के साथ आवश्यक है, अन्यथा आगे के भोग आदि में बाधा उपस्थित हो जायेगी। शुद्ध आत्मा केवल एक स्थिति का प्रतीक है, और वह है, अपवर्ग अवस्था में ब्रह्मानन्द का अनुभव। तात्पर्य यह है, कि केवल शुद्ध आत्मा साधनान्तररहित होकर केवल ब्रह्मानन्द का अनुभव कर सकता है, क्योंकि आत्मा शुद्ध चेतनस्वरूप है, एक वार स्वरूप का आभास हो जाने पर फिर उसे चैतन्यानुभव के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। इसीलिये ऊपर लिखा गया है, कि बुद्धि करण आत्मा को अपवर्ग के किनारे पर पहुंचाकर समाप्त होजाते हैं। फलतः आत्मा को अपने प्रयोजन पूर्ण करने के लिये एक ऐसे साधन की अपेक्षा रहती है, जो भोग से लेकर अपवर्ग पर्यन्त बराबर उसका सहयोग देसके, वही साधन

सूक्ष्मशरीर है। यही कारण है, जिससे आत्मा अपवर्ग [आत्मज्ञान] होने तक इस शरीर में बराबर आवेष्टित रहता है। जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक कहीं भी इससे छुटकारा नहीं। आत्मा की गति आगति तथा अन्य समस्त गतिविधि इसी शरीर के आवेष्टन में रहकर सम्पन्न होती हैं।

जीवात्मा का परिमाण—

जीवात्मा के परिमाण के सम्बन्ध में दार्शनिकों का परस्पर पर्याप्त मतभेद है। आजकल हमारे सन्मुख इस विषय में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं, वे चाहे गुरुमुख से अवगत हुए हों, अथवा उन दर्शन एवं सम्प्रदाय के ग्रन्थों के आधार पर, उनके अनुसार वेदान्तानुयायी वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य आत्मा को परिच्छिन्न परिमाण मानते हैं। जैन दार्शनिकों ने आत्मा को मध्यम परिमाण स्वीकार किया है। वेदान्तानुयायी शैव सम्प्रदाय एवं शंकर और शांकर सम्प्रदाय के विद्वानों ने जीवात्मा को अपनी स्थिति में अणु माना है, अर्थात् स्वरूप से वह अणु है, पर उनके विचार के अनुसार वस्तुस्थिति में जीवात्मा, ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्व न होकर उसका ही अपना रूप है, अतएव इस दृष्टि से उसे विभु मान लिया गया है। गौतम और काणाद दर्शन के जितने मध्यकालिक व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उन सबने आत्मा के परिमाणसम्बन्धी विवेचन उसे विभु मानकर प्रस्तुत किये हैं। सांख्य-योग और मीमाँसा के सम्बन्ध में भी यही बात कही जाती है। यहां पर इन सब विचारों के पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्षोंको तथा ऊहापोहपूर्वक उनके विवेचन को प्रस्तुत करना हमारा ध्येय नहीं है। प्रत्युत इस विषय में कपिल अथवा कापिलदर्शन का क्या मत है, यही उपस्थित करना अभीष्ट है।

जब छात्रावस्था में इस दर्शन का अध्ययन किया, तब हमें यही समझाया गया था, कि सांख्य जीवात्मा को विभु मानता है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं, कि हमारे गुरुओं ने उस समय इस विषय को अन्यथा समझाया, प्रत्युत इसका इतना ही सार है, कि आत्मा के परिमाण के विषय में सांख्य का यही मत आजकल माननीय समझा जाता है। परन्तु सांख्य के मूलग्रन्थ और पञ्चशिख के सन्दर्भों का पर्यालोचन करने से हमारी उस छात्रावस्था की धारणा में परिवर्त्तन होगया है। सांख्य के प्राचीन सन्दर्भ और जीव-सम्बन्धी अन्य विवेचनाओं के आधार पर जो कुछ परिणाम अवगत किये जासके हैं, उनके अनुसार कपिल और पञ्चशिख आदि सांख्य के मूलभूत आचार्यों का यह विचार प्रतीत होता है, कि उन्होंने आत्मा को विभु नहीं माना, प्रत्युत परिच्छिन्न अर्थात् अणु माना है। यह निश्चित रूप में नहीं कहा जासकता, कि सांख्य की इस वास्तविक विचारधारा को बाधित कर वर्त्तमान विचारपरम्परा कब से सांख्य में अन्तर्भुक्त होगई, और वे कौन आचार्य होंगे, जिन्होंने इस रूप में यहां इसको अन्तर्निविष्ट किया।

**सांख्य में अन्य मतों का समावेश**—यह असंभव नहीं, कि कोई एक या अनेक ऐसे समय आये हों, जब सांख्यसिद्धान्तों में तात्कालिक विद्वानों की स्वप्रसूत विचारधाराओं का

समावेश होता रहा हो। हमने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठों में इसीप्रकार के एक सांख्याचार्य माधव का उल्लेख किया है, जिसने सांख्यसिद्धान्तों में किये गये परिवर्तनों के प्रति अपने समय प्रबल विरोध की उद्घोषणा की थी। कदाचित् इसीलिये परिवर्त्तन के प्रचारकों ने सांख्यक्षेत्र में माधव को न पनपने देने का भरसक प्रयत्न किया, और उसको 'सांख्यनाशक' तक लिखकर बदनाम किया। आधुनिक काल में इसप्रकार के मिथ्याप्रचार के अनेक उदाहरण दिये जासकते हैं।

अब से एक शती पूर्व तक भारत का प्रत्येक व्यक्ति और आज भी कतिपय आधुनिक पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों के अतिरिक्त सब भारतीय सचाई के साथ यह जानते हैं, कि हम अर्थात् आर्य बाहर से भारत में कभी नहीं आये, प्रत्युत आदिकाल से यहीं बसते चले आरहे है, हमारी परम्परा हमारा साहित्य इस बात के साक्षी हैं। फिर भी पिछले दिनों जब योरुप की शक्तियों ने भारत में अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया, तो किन्हीं राजनैतिक उद्देश्यों को पुष्ट करने के लिये इस बात का खुला प्रचार किया गया, कि आर्य यहां के मूल निवासी नहीं हैं। ये कुछ सदियों पहले कहीं बाहर से आकर यहां बस गये। इस प्रचार पर करोड़ों की सम्पत्ति व्यय की गई, सैकड़ों विद्वानों की शक्ति और समय का इसमें उपयोग हुआ। यदि किसी ने ऐसे विचारों को सहारा देने वाली कोई ऊट-पटांग बात लिख डाली, उसको खूब उठाया गया। तब चलते चलते यहां के आर्यों का आदि निवास उत्तरी ध्रुव तक में जा पहुंचा। अभिप्राय यह, कि इस सर्वथा मिथ्या कल्पना का इतना प्रचार किया गया, कि आज उस वातावरण में शिक्षित व्यक्ति उसके पीछे पागल हैं। गधे ने शेर की खाल ओढ़ली, और शेर का पता नहीं, कहां छिपा पड़ा है।

**प्रचार के परिणाम**—ऐसे एक नहीं, अनेक उदाहरण दिये जासकते हैं, भारत की क्षत्रिय–राजपूत जाति एक न्यायप्रिय और शासक जाति है। भारत के इतिहास में इसकी उज्ज्वल परम्परा आदिकाल से चली आरही हैं, इसकी स्वाभाविक शासनप्रियता को कुचल देने की भावना से इस जातिके इतिहास को इतना दूषित किया गया है, कि इस प्रकार के लेखकों के प्रति, जो केवल तुच्छ स्वार्थ की भावना के पीछे सचाई को छिपा देना चाहते है, यह उद्गार प्रस्फुटित हो पड़ता है, कि इतने मिथ्या, निराधार, सर्वथा निजकल्पनाप्रसूत लेखों से एक जातिमात्र को दूषित, कलंकित कर इन्हें कौन से 'स्वर्ग' का द्वार खटखटाना पड़ेगा।

भारतीय समाज को इसके लिये भी बहुत कलंकित किया गया है, कि इसने जातिविद्वेष एवं वर्णविद्वेष को अधिक प्रोत्साहन दिया है, जिसका यह परिणाम बताया जाता है, कि भारतीय समाज में आज जनता का पर्याप्त भाग ऐसा है, जो अशिक्षित पिछड़ा हुआ, और समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। भारतीय समाज की इस स्थितिको ऐसे रंग में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है, कि मानों सारे कलंकों का आगार यही समाज है, और भारत के अतिरिक्त सारा संसार, विशेषकर योरोप एवं अमेरिका का

वर्त्तमान समाज तो मानो दूध का धुला हुआ है। पर गिरेबां में मुंह डालकर उन जातियों को अपनी ओर देखना चाहिये।

आस्ट्रेलिया में पहले ही दिन से क्या हुआ है ? वहां की पुरानी जातियों का योरोप के सभ्यताभिमानी प्रभुओं ने जंगली जानवरों के समान शिकार किया है। अब भी वहां ब्रिटिश जाति के अतिरिक्त अन्य किसी को बसने का अधिकार नहीं है, क्या यह जातिविद्वेष और वर्णविद्वेष नहीं ?

आज दक्षिण अफ्रीका में क्या हो रहा है ? वहां पर बसे हुए भारतीय, जो किसी समय चाटुकारितापूर्वक ले जाये गये थे, और वहां की मूलनिवासी जातियां, केवल रंग भेद के कारण, सभ्यताभिमानी योरोपनिवासी जातियों के द्वारा घृणित व्यवहार और विविध अत्याचार का पात्र बनी हुई हैं, यह सब जातिविद्वेष और वर्णविद्वेष नहीं ?

अमेरिका में एक नीग्रो जाति का व्यक्ति जो सुपठित सुशिक्षित उसी वेशभूषा में रहने वाला उसी वातावरण में पला हुआ, एक ऐसे होटल में बैठकर खाना नहीं खा सकता, जो वहां की अधिकारी जाति के लिये है, यह जातिविद्वेष नहीं ? वहां के एक मूलनिवासी का वहां की अधिकारी जाति की एक महिला के साथ सम्बन्ध होगया, जो दोनों की अभिरुचि और प्रसन्नता से हुआ, उसका परिणाम यह हुआ कि, वहां की अधिकारी जाति की जनता ने मूलनिवासी व्यक्ति को पेड़ के साथ उलटा टांगकर उसे पत्थरों एवं छुरे भालों से समाप्त कर दिया, यह सब जातिविद्वेष नहीं है ?

दक्षिण अफ्रीका की एक नीग्रो जाति के नेता श्री सेरेत्से खामा ने ब्रिटिश महिला के साथ उसकी इच्छा के अनुसार विवाह किया, खामा अत्यन्त सुशिक्षित, लन्दन के बैरिस्टर हैं, पर उनके साथ क्या हो रहा है ? वे अपनी पत्नी के साथ अपने देश में रह नहीं सकते। यह उदारता के लिये प्रसिद्ध ब्रिटिश जाति का जातिप्रेम एवं वर्णप्रेम है ? कहां तक कहा जाय कथा लम्बी है। यहां केवल इतना प्रकट करना है, कि जो बातें साधारण रूप से प्रत्येक जाति एवं देश में पाई जाती हैं, उनको लेकर किसी एक जाति की निन्दा की भावना से प्रचार करने के क्या परिणाम हो सकते हैं।

पिछले दिनों विदेशी सरकार के प्रभाव में उन मिथ्या धारणाओं के प्रबल प्रचार का परिणाम यह है, कि आज पर्याप्त भारतीय जनता के मस्तिष्कों में वे बद्धमूल हो चुकी हैं। विदेशी सरकार के चले जाने पर उसके प्रभाव की छाया आज भी बनी हुई है। अभी तक उन्हीं मिथ्या धारणाओं के पठन पाठन का क्रम चालू है। यदि आज कोई व्यक्ति उनकी वास्तविकता को प्रकट करता है, तो उसे सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगता है, और उस पर आश्चर्य प्रकट किया जाता है, जो हमारी साधारण सचाई थी, वह मिथ्या के खोल में छिपाई जाने के कारण हमें नवीन सी प्रतीत होती है, और उन्हें उस रूप में जान सुनकर हमारे मुंह आंख फटे रह जाते हैं, पर अब आसन्न भविष्यत् में वह समय आने को है, जब वह जादू के डण्डे का प्रभाव नष्ट होगा, मिथ्या का खोल फट जायगा।

और सचाई सबके सामने स्पष्ट होगी।

**कतिपय सिद्धान्त, जो सांख्य पर आरोपित किये गये**—ऐसी ही कुछ स्थिति कतिपय सांख्यसिद्धान्तों के सम्बन्धमें हुई है। कपिल प्रकृति में चेतननिरपेक्ष प्रवृत्ति को नहीं मानता। यह मत सांख्य के अन्तर्गत वार्षगण्य की विचारधारा में पाया जाता है। पर किसी मध्यकाल में कपिल के नाम पर इसका प्रबल प्रचार किया गया। उसका परिणाम यह हुआ, कि शंकराचार्य का सांख्यसम्बन्धी सम्पूर्ण विवेचन इसी मिथ्या आधार पर अवलम्बित रहा, उसके अनन्तर कापिलसांख्य को आज तक उसी रूप में पढ़ाया जाता रहा है। आज जब उस सत्य को प्रकाश में लाया गया है, तो विद्वानों को उसमें आश्चर्य और नवीनता का भान होता है।

इसीप्रकार कपिल का एक और सिद्धान्त ईश्वर के सम्बन्ध में है। बौद्धप्रभाव से पूर्व जितना कापिलसांख्य का वर्णन उपलब्ध होता है, वहां कपिल मत में ईश्वर का अस्तित्व स्पष्ट वर्णित है। इसका निर्देश प्रथम किया जा चुका है। परन्तु बौद्धकाल के अनन्तर के सांख्यविवेचन में कपिलमत को परिवर्तित कर दिया गया है। वह परिवर्तन आज तक उसी तरह चला आ रहा है। सांख्य के ऐसे सिद्धान्तों में से एक, जीवात्मा के परिमाणविषयक है। इस सम्बन्ध में जो विवेचन प्राचीन सांख्यसन्दर्भों में उपलब्ध होता है, उसको प्रस्तुत करने का अब यह अवसर आ गया है।

(१) ईश्वरप्रसंग में यह वर्णन आचुका है, कि अखिल विश्व का अधिष्ठाता एवं नियन्ता परमात्मा है। सांख्यसूत्रों में जहां इसका प्रतिपादन किया है, ठीक उसके आगे जीवात्मा के विवेचन में कपिल ने तीन सूत्र [१।६२-६४] लिखे हैं। इनमें यह स्पष्ट किया गया है, कि जैसे समस्त विश्व का अधिष्ठाता परमात्मा है, इसीप्रकार देह में अधिष्ठाता एवं नियन्ता जीवात्मा है। जीवात्मा के समस्त विश्व का अधिष्ठाता न हो सकने में ये कारण हैं, कि वह अल्पज्ञ अल्पशक्ति अल्पपरिमाण तथा अनेक है, अर्थात् गणना की दृष्टि से अनन्त है। इस आधार पर कपिल का यह अभिमत ध्वनित होता है, कि वह जीवात्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापक नहीं मानता, जबकि इसके विपरीत वह समस्त विश्व के नियन्ता परमात्मा को एक एवं सर्वव्यापक मानता है।[1]

(२) तृतीय अध्याय के ग्यारहवें सूत्र की अवतरणिका करते हुए **अनिरुद्ध** और महादेव दोनों व्याख्याकारों ने लिखा है—[2]यदि आत्मा देह से अतिरिक्त है, तो देह में 'अहं' बुद्धि का कारण क्या है? इसका उत्तर ग्यारहवें सूत्र से दिया गया है—आत्मा का अधिष्ठान सूक्ष्मशरीर है, और उसका आश्रय है स्थूलदेह। इसका अभिप्राय हुआ, कि

---

१. स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता। सां० सू० ३।५६॥ तथा इसी प्रकरणका प्रारम्भिक ईश्वर-प्रसंग देखिये।

२. यद्यात्मान्यः, कथं देहेऽहमित्यभिमान इत्यत्राह--[ अनिरुद्ध ] देहेऽहमिति वादः कथं, तत्राह [महादेव]--तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात्तद्वादः।

सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित जीवात्मा स्थूलदेह में प्रवेश करता है। इसप्रकार स्थूलदेह में जो अहंबुद्धि है, उसका कारण प्रथम आत्मा में अहंबुद्धि होना है। वस्तुतः 'अहं' का क्षेत्र आत्मा है, पर आत्मा अपने भोग के साधन और आधारभूत देह में अहं भावना कर बैठता है। इस अर्थ को पुष्ट करने के लिये अनिरुद्ध महादेव के अनुसार बारहवें सूत्र में दृष्टान्त उपस्थित किये गये हैं। इस सूत्र[1] का अर्थ है—यदि आत्मा के विना स्वतन्त्र देह में अहं भावना हो सकती हो, तो मृत देह में भी होनी चाहिये, पर वहां नहीं होती। अतः अहं भावना का आश्रय आत्मा है, और वह मृत देह में रहा नहीं, तब आश्रय के विना अहं भावना उत्पन्न नहीं होसकती, जैसे आवरक आश्रय के विना छाया नहीं होती, और भित्तिरूप आश्रय के विना चित्र नहीं बनाया जासकता। यहां यह फलितार्थ ध्वनित होता है, कि यदि आत्मा को विभु माना जाय, तब मृत देह में आत्मा का अस्तित्व बना रहेगा, और यहां कहा गया है, कि मृत देह आत्मा से रहित हो गया है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है, कि देह की मृत अवस्था तभी हो सकती है, जब आत्मा वहां से चला जाय, यह परिच्छिन्न आत्मा में सम्भव हो सकता है।

**भिक्षु का सूत्रार्थ चिन्त्य है**—विज्ञानभिक्षु ने यहां ग्यारहवें सूत्र का अर्थ करने में ठोकर खाई है। वह सूत्र की अवतरणिका इसप्रकार लिखता है—'नन्वेवं भोगायतनतया लिङ्गस्यैव शरीरत्वे स्थूले कथं शरीरव्यवहारस्तत्राह—'। इसका अभिप्राय यह है, कि जब सूक्ष्मशरीर ही आत्मा के सब भोगों का आयतन है, तो वही शरीर कहा जा सकता है, फिर स्थूलशरीर में शरीरव्यवहार होने का क्या कारण है? इसका उत्तर सूत्र से दिया गया है। भिक्षु इस अवतरणिका में यह बात अशुद्ध लिख गया है, कि आत्मा के सब भोगों का आयतन सूक्ष्मशरीर है। वस्तुतः आत्मा के भोग का आयतन स्थूलशरीर माना गया है, सूक्ष्म नहीं, यदि सूक्ष्मशरीर में आत्मा के सब भोगों का सम्पादन किया जासके, तो स्थूलदेह की आवश्यकता नहीं रहती। सूक्ष्मशरीर में तेरह करण आत्मा के भोग के साधनमात्र हैं, आयतन नहीं,। तथा पञ्चतन्मात्र, करणों के आधार हैं। इस कारण वस्तुतः मुख्य सूक्ष्मशरीर पञ्चतन्मात्र है। फलतः स्थूलदेह में आये विना आत्मा का भोग सम्पन्न हो नहीं सकता। सांख्यसप्तति की चालीसवीं आर्या में लिखा है—'संसरति निरुपभोगं' अर्थात् सूक्ष्मशरीर उपभोगरहित ही आत्मा के साथ संसरण करता है। अतएव इस सूत्र की भिक्षुकृत व्याख्या के संगत होने में संदेह है।

यदि इन सूत्रो का यही अर्थ मान लिया जाए, कि स्थूलशरीर में शरीरव्यवहार, सूक्ष्मशरीर का आधार होने के कारण होता है, और क्योंकि त्रयोदश करण विना आश्रय के रह नहीं सकते, जैसे आवरक के विना छाया और भित्ति आदि आधार के विना चित्र, इसीलिये सूक्ष्मशरीर में त्रयोदश करणों के आश्रय अविशेष अर्थात् पञ्च-

---

१. न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च [सांख्य०, ३।१२।।]

तन्मात्र माने गये हैं। तथापि उक्त सूत्रों के आधार पर जो विचार प्रथम प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें कोई विशेष बाधा नहीं आती; क्योंकि सूत्रों का द्वितीय अर्थ, पूर्वोक्त अर्थ का विरोधी नहीं है। इस बात के मान लेने पर भी कि सूक्ष्मशरीर में पञ्चतन्मात्र आश्रय तथा त्रयोदश करण आश्रित हैं, इनसे संघटित होकर सूक्ष्मशरीर कहा जाता है—मुख्य प्रश्न यह है, कि जब आत्मा शरीर में बैठा हुआ है, तो वह मृत कैसे? इसका यह समाधान किया जाता है, कि यद्यपि आत्मा विभु होने से उस देह में विद्यमान है, परन्तु सूक्ष्मशरीर के निकल जाने से स्थूलदेह की यह अवस्था बन जाती है; अर्थात् जन्म और मरण स्थूलदेह में सूक्ष्मदेह के आने जाने से सम्पन्न हो जाते हैं, आत्मा तो सदा वहां बना रहता है।

**आत्मा विभु हो, तो मृत्यु कैसे**—इस विचार के प्रतिकूल एक तर्क इसप्रकार उपस्थित किया जाता है। यदि आत्मा विभु है, और मृत देह में भी व्याप्त है, तो वह देह मृत नहीं कहा जाना चाहिये। स्थूलदेह से सूक्ष्मशरीर निकल जाने पर भी आत्मा के साथ सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध उसी प्रकार बना हुआ है, सूक्ष्मदेह चाहे कहीं पर भी है, पर विभु होने से आत्मा के साथ तो उसका सम्बन्ध निश्चित है, और आत्मा का सम्बन्ध स्थूलदेह के साथ उसीतरह है, जैसे पहले था, तब स्थूलदेह में मृत अवस्था की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। यदि यह कहा जाय, कि आत्मा को सुख दुःख आदि का उपभोग अथवा किसी प्रकार की अनुभूति उसी समय हो सकती है, जब तक स्थूलदेह में सूक्ष्मदेह की विद्यमानता बनी रहे; तब स्थूलदेह से सूक्ष्मदेह के निकल जाने पर इस बात में क्या प्रमाण है, कि आत्मा वहां बैठा ही हुआ है। उस स्थिति में वहां आत्मा के अस्तित्व का कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जासकता।

इसके अतिरिक्त यदि यह माना जाय, कि आत्मा को विभु होने पर अनुभूति उसी प्रदेश में होती है, जहां स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों का सम्पर्क रहता है, तो आत्मा के चैतन्यस्वरूप का अपलाप होगा। क्या आत्मा का वही प्रदेश व अंश चेतन है, जो देहों से संयुक्त है? सांख्य को ऐसा आत्मा मान्य नहीं है। यदि आत्मा चेतनस्वरूप है, और विभु है, तो यह नहीं कहा जासकता, कि दोनों देहों के सहसम्पर्क में ही उनको अनुभूति होगी। फलतः यह निश्चित होता है कि मृतदेह में आत्मा का अस्तित्व नहीं है। परमात्म-चेतन यद्यपि सर्वत्र व्याप्त है, पर देह अथवा अन्य किसी पदार्थ में वह अभिमानीरूप में उपस्थित नहीं है, इसलिये उसका अस्तित्व देह अथवा अन्यत्र कहीं भी इसप्रकार का प्रभाव नहीं डालता, कि मृत अथवा जीवित का व्यवहार उस पर आधारित हो।

**आत्मा की उत्क्रान्ति, परिच्छिन्नता में हेतु**—(३) शास्त्र में उत्क्रान्ति अथवा गति-आगति का आधार जीवात्मा को माना गया है, जो उसकी परिच्छिन्नता का सुपुष्ट प्रमाण कहा जासकता है। सांख्य इस विचार को स्वीकार करता है। धर्म और

अधर्म से अथवा सत्त्व आदि गुणों के प्रभाव से वह आत्मा का विविध योनियों में जाने का उल्लेख करता है। आत्मज्ञान अथवा चेतनाचेतन विवेक के साक्षात्कार से अपवर्ग, और अविवेक से आत्मा का बन्धन में जाना बताता है।[1] एक और सूत्र [३।४६] में कपिल ने सर्गकाल में धर्माधर्म तथा सूक्ष्म-स्थूलशरीरों से अनुबद्ध आत्मा के विविध योनियों में गमनागमन एवं भोग आदि का उल्लेख किया है। इस आधार पर भी सांख्य की दृष्टि से जीवात्मा की परिच्छिन्नता प्रमाणित होती है। अब कुछ ऐसे शास्त्रवचनों का उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा, जिनमें जीवात्मा की उत्क्रान्ति अथवा गति-आगति का वर्णन किया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [३।९।४] में प्रसंग आता है,—'कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति'। शिष्य प्रश्न करता है, वे रुद्र कौन से हैं? गुरु उत्तर देता है, इस शरीर में दश ये प्राण और ग्यारहवां आत्मा, ये सब जब इस विनाशी शरीर से उत्क्रमण करते हैं, तब ये रुलाने वाले होते हैं। इसी कारण इनको रुद्र कहा जाता है। इस सन्दर्भ में 'पुरुष' पद का प्रयोग शरीर अर्थ में हुआ है, तभी आगे शरीर पद के साथ उसका सामञ्जस्य होता है। पांच प्राण-प्राण, अपान, व्यान, समान उदान प्रसिद्ध हैं, अन्य पाच हैं—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय। सांख्य के अनुसार ये सब प्राण, तेरह करणों की सामान्यवृत्तिमात्र हैं। अभिप्राय यह है, कि जब आत्मा त्रयोदश करणों के साथ स्थूलदेह में रहता है, उस समय इन करणों का मिलित साधारण कार्य प्राण हैं। प्रत्येक करण का विशेष कार्य पृथक्-पृथक् होता है, जैसे चक्षु का रूपदर्शन आदि। प्रत्येक करण का अपना विशेष कार्य विशेष-वृत्ति कही जाती है, परन्तु ये प्राण सब करणों की सामान्यवृत्ति है। इस सन्दर्भ में तेरह करणों का उनके सामान्य कार्य-प्राण के रूप में निर्देश किया गया है। इनके साथ ग्यारहवां आत्मा है। यहां इन सबका शरीर से उत्क्रमण करने का स्पष्ट उल्लेख है। करणों के वृत्तिरूप-प्राण यहां तेरह करणों का संकेत करते हैं। वे करण पञ्चतन्मात्र में आश्रित हुए तन्मात्रसहित सूक्ष्मशरीर कहे जाते हैं। इसप्रकार जब आत्मा सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित हुआ, स्थूलदेह का परित्याग कर जाता है, तब यह देह मृत कहलाता यहीं पड़ा रह जाता है।

कौषीतकिब्राह्मण उपनिषद् [१।२] में उल्लेख है—'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते गच्छन्ति' जो आत्मा इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। इस सन्दर्भ में इस लोक से आत्मा का प्रयाण और चन्द्रलोक में उनके पहुंचने का स्पष्ट वर्णन है। इसी उपनिषद् में आगे दो सन्दर्भ और हैं—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः [३।३]' यहां भी 'प्राण' पद से करणों का संकेत किया गया है, और वे करण पञ्चतन्मात्र में अवस्थित सूक्ष्मशरीर

१. सांख्य सूत्र ३।२३-२५॥ सांख्यसप्तति ४४॥

हैं, 'प्रज्ञा' पद का अर्थ चेतन है। इसप्रकार सूक्ष्मशरीर और चेतन आत्मा का आदि सर्ग से परस्पर इतना घनिष्ठ सम्पर्क है, कि इनको यहां औपचारिक रूप में एक दूसरे का स्वरूप कह दिया है। वस्तुतः इनका यह औपचारिक एकतासम्बन्धी वर्णन इनके पारस्परिक दृढ़ सहयोग पर आश्रित है। इसी का संकेत वाक्य के उत्तर अर्द्ध में स्पष्ट किया गया है, कि ये दोनों इस शरीर में साथ ही निवास करते, और साथ ही यहां से उत्क्रमण कर जाते हैं। यहां सूक्ष्मशरीर के साथ चेतन आत्मा के उत्क्रमण का स्पष्ट उल्लेख है। इसी आशय का आगे दूसरा सन्दर्भ है—'स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति [३।४]' वह आत्मा जब शरीर से उत्क्रमण करता है, तब वह इन सब [प्राण अर्थात् करणों] के साथ ही करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् [४।४।५] में एक और प्रसंग आता है, वहां लिखा है—यह आत्मा काम अकाम, क्रोध अक्रोध, धर्म अधर्म आदि भावनाओं से प्रभावित होता रहता है। यह जैसा अनुष्ठान या आचरण करता है—शुभ अथवा अशुभ, उसी के अनुसार यह पुण्यात्मा या पापात्मा कहलाता है। ऋषियों ने कहा है, कि यह पुरुष कामनामय है, जैसी कामना करता है, उसी के अनुसार संकल्प होता है, जैसा सकल्प होता है, वैसे ही कर्म का अनुष्ठान करता है, कर्म के अनुसार फिर फलों को भोगता है। चतुर्थ अध्याय के चौथे ब्राह्मण की पांचवीं कण्डिका तक इतना वर्णन करके उपनिषत्कार अपने कथन की पुष्टि के लिये एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत करता है—

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिंगं मनो यत्र निषक्तमस्य ।।
प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् ।
तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ।।

आसक्त आत्मा अपने शुभाशुभ कर्म के साथ उस लोक को प्राप्त होजाता है, जहां पर कर्मों के साधन मन आदि इसको आकृष्ट कर ले जाते हैं। जो कुछ कर्म आत्मा ने यहां किये होते हैं, उनका जब अन्त होजाता है, अर्थात् आत्मा उनके फलों को भोग लेता है, तब वह कर्म करने के लिये उस लोक से यहां पुनः आजाता है। इस प्रसंग में आत्मा की गति आगति का स्पष्ट उल्लेख है, जो उसकी परिच्छिन्नता को प्रमाणित करता है।

**देह के देशविशेष में आत्मा की स्थिति**—(४) आत्मा की उत्क्रान्ति अथवा गति आगति के अतिरिक्त उपनिषदों में यह भी वर्णन किया गया है कि देह के किस विशेष प्रदेश में आत्मा की स्थिति रहती है। देह में इसके निवास का स्थान हृदयदेश बताया गया है। 'स वा एष आत्मा हृदि [छा० ८।३।३]' 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः [बृ० ४।३।७]' 'हृदि ह्येष आत्मा [प्रश्न ३।६] अभिप्राय यह है, कि आत्मा हृदयदेश में रहता है। इस हृदय का स्थान मस्तिष्क में है। रक्त का प्रक्षेप करने वाला हृदय आत्मा का निवासस्थान नहीं है। रक्तप्रक्षेप की क्रिया

शरीर में आत्मा के अस्तित्व की निश्चायकमात्र है। ज्ञानतन्तुओं का केन्द्र मस्तिष्क में है, वहीं आत्मा का आवास रहता है, वहीं से यह ज्ञानतन्तुओं के द्वारा सम्पूर्ण शरीर पर नियन्त्रण रखता है। एक स्थान पर बैठकर आत्मा समस्त शरीर पर किसप्रकार नियन्त्रण करता है, और किसप्रकार चैतन्य से उसे प्रकाशित करता है, यह अर्थ गीता के एक श्लोक के द्वारा बहुत सुन्दर रीति पर प्रकाशित किया गया है। श्लोक है—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥१३।३३॥

कृष्ण कहता है, हे अर्जुन ! जैसे एक सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, वैसे क्षेत्री-आत्मा सम्पूर्ण देह को प्रकाशित करता है। इस श्लोक में उदाहरण की उपयुक्तता ध्यान देने योग्य है। सूर्य एक स्थान पर अवस्थित रहता है, और अपनी रश्मियों द्वारा सम्पूर्ण सौर मण्डल को प्रकाशित करता है, सूर्य भौतिक पदार्थ है,उसकी रश्मियां उसका अपनारूप हैं, अभौतिक आत्मा में इसप्रकार की रश्मियों की कल्पना करना तो युक्त न होगा, पर भौतिक ज्ञानतन्तुकेन्द्र, आत्मा को वही कार्य देता है, जो सूर्य को रश्मियां।

आत्मा का निवास जिस हृदयदेश में बताया गया है, वह रक्त का आक्षेप एवं प्रक्षेप करने वाला हृदय नहीं; प्रत्युत वह मस्तिष्कगत प्रदेश है। उसका वर्णन अथर्ववेद के कतिपय मन्त्रों द्वारा अतिस्पष्ट होता है। उसी को प्राचीन साहित्य में हृदय पद से व्यवहृत किया गया है। अथर्ववेद के वे मन्त्र इसप्रकार हैं—

**अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।**
**तस्यां हिरण्ययः कोश : स्वर्गो ज्योतिषावृत : ॥**
**तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।**
**तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥**
**प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।**
**पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥** [१०।२।३१-३३]

इन मन्त्रों में निम्नलिखित कतिपय पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं—हिरण्ययकोश हिरण्ययी पुरी, स्वर्ग, ज्योतिषावृत, त्र्यर, त्रिप्रतिष्ठित, यक्ष, आत्मन्वत् आदि। इनकी व्याख्या इसप्रकार समझनी चाहिये।

**हिरण्यय कोश**—इन मन्त्रों में यह एक मुख्य पद है। प्रथम मन्त्र के उत्तरार्ध में इसका वर्णन है। इसको स्वर्ग और ज्योतिषावृत बताया गया है। अगले मन्त्र में कहा है, कि उस हिरण्यय कोश के मध्यवर्त्ती त्र्यर त्रिप्रतिष्ठित स्थान में आत्मा का निवास है। वेद के इन वर्णनों के आधार पर शरीर में हम उस स्थान को ढूंढ सकते हैं, जिसको हिरण्यय-कोश नाम दिया गया है, और जिसके मध्य अवकाश में आत्मा वास करता है।

पाणिनि ने हिरण्यय पद मयट् प्रत्ययान्त निपातित किया है [६।४।१७५], मयट् प्रत्यय प्रकृत अर्थात् प्राचुर्य अर्थ के कथन करने में होता है [५।४।२१]। इसके अनुसार

हिरण्यय पद का अर्थ होगा—हिरण्य अर्थात् सुवर्ण की प्रचुरता या अधिकता से बना हुआ पदार्थ। अब हमें देखना चाहिये, कि देवों-ज्ञानेन्द्रियों की पुरी इस शरीर में ऐसा कौन सा अवयव है, जो सुवर्ण के प्राचुर्य से बना कहा जासके। परीक्षा करने पर ज्ञात होता है, कि मस्तिष्क में एक ऐसा अवयव है, जो हलके पीले वर्णवाले पदार्थ के आधिक्य से बना है। आधुनिक शारीरशास्त्र में इसका नाम 'आज्ञाकन्द' है। इसे 'आज्ञाचक्र' भी कहा जाता है। यह दक्षिण और वाम भेद से दो भागों में विभक्त होता है। कविराज गणनाथसेन ने प्रत्यक्षशारीर [भाग ३, अ० ६, पृ० ७६] में लिखा है—

आज्ञाकन्दौ नाम……धूसरवस्तुभूयिष्ठौ कन्दौ ब्रह्मगुहामुभयतो वर्त्तेते।

आज्ञाकन्द नाम की दो ग्रन्थियां हैं, जिनमें धूसर अर्थात् हलके पीले रंग की वस्तु का आधिक्य है। ये ग्रन्थियां 'ब्रह्मगुहा' के दोनों ओर विद्यमान रहती हैं। यह आज्ञाकन्द ही हिरण्यय कोश हैं। इनकी आकृति मनुष्य के अंगूठे के अग्रपर्व के समान होती है। जब इन दोनों को आमने सामने मिलाकर बैठाया जाय, तो उनके मध्य में थोड़ा अवकाश रहता है। इसका नाम 'ब्रह्मगुहा' है। इसमें एक प्रकार का गाढ़ा सा स्निग्ध तरल भरा रहता है। यही आत्मा का निवास है। दोनों आज्ञाकन्दों के मध्य का यह अवकाश त्रिकोण सा प्रतीत होता हैं। इसलिये इसका एक विशेषण 'त्र्यर' दिया गया है। निश्चयात्मक संशयात्मक एवं विपर्ययात्मक तीनों प्रकार के ज्ञानतन्तुओं का सम्पर्क इसीके साथ रहता है। उसकी आकृति इसप्रकार प्रतीत होती है, जैसे तिखटी या तीन पायों पर कोई वस्तु रक्खी हो। इसीलिये इसे 'त्रिप्रतिष्ठित' कहा गया है। समस्त शरीर में और कोई ऐसा अवयव नहीं है, जिसके साथ इस वर्णन का सामञ्जस्य होसके।

**स्वर्ग**—हिरण्यय कोश शरीरके ऊर्ध्व भाग में अवस्थित है, इसी आधार पर इसे स्वर्ग कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।२।१।१५] में वाक्य है—'ऊर्ध्व उ वै स्वर्गो लोकः, उपरीव स्वर्गो लोकः।' स्वर्ग को ऊर्ध्वस्थानीय बताया गया है। ब्रह्माण्ड में स्वर्ग 'आदित्यलोक' हैं, पृथ्वी पर त्रिविष्टप [तिब्बत-कैलाश मानसरोवर के आसपास का विस्तृत भूभाग] स्वर्ग माना गया हैं, इस शरीर में स्वर्ग-मस्तिष्क का अवयवभूत यही हिरण्यय कोश है। आदित्य में अजर अमर देवों-किरणों का निवास है, त्रिविष्टप् में मानव देवजाति का निवास है, इस हिरण्यय कोश में देवों-इन्द्रियों की सूक्ष्म संवेदनात्मक शक्तियों का आवास है। इसी समानता के आधार पर वैदिक साहित्य में हिरण्यय कोश को 'आदित्य' पद से व्यवहृत किया गया है। 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' [यजु० ४०।१७] इत्यादि स्थलों में आदित्य पद का अर्थ मस्तिष्कगत हिरण्यय कोश समझना चाहिये। इसके आधार पर भी आत्मा के निवास स्थान का स्पष्टीकरण होता है।

**ज्योतिषावृत**—हिरण्यय कोश को ज्योति से आवृत कहा है। इसकी रचना पीताभवर्ण वाले पदार्थों से हुई है, अतः इसके लिये यह विशेषण सर्वथा उपयुक्त है। कठ उपनिषद् [४।१२] में अंगुष्ठमात्र पुरुष को धूमरहित ज्योति के समान बताया है। यह

अंगुष्ठमात्र पुरुष का कथन उपर्युक्त आज्ञाकन्दों की ओर संकेत करता है। उनकी रचना अंगुष्ठपर्व के समान होने से, और उनके मध्य अवकाश में पुरुष का निवास होने से पुरुष को अंगुष्ठमात्र कह दिया गया है। धूमरहित ज्योति के समान उसका वर्णन, उसकी पीताभवर्ण की स्थिति को स्पष्ट करता है।

**यक्ष, आत्मन्वत्**—यक्ष पद इस प्रसंग में जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस पद का प्रयोग जहां परमात्मा के लिये हुआ है, वहां इसके 'महत्' आदि विशेषणों का निर्देश विस्मृत नहीं किया गया। 'आत्मन्वत्' में 'आत्म' पद का प्रयोग शरीर के अर्थ में किया गया है। इसका अर्थ होता है—शरीर से युक्त अर्थात् शरीरी या देही।

वेद के इस समस्त वर्णन के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि मस्तिष्क के अन्तर्गत पीताभवर्ण वाले दोनों आज्ञाकन्दों के मध्य में जो स्निग्ध गाढ़ तरल से पूर्ण त्रिकोण परिखाकार स्थान है, उसमें जीवात्मा निवास करता है। योगीजन इसी को ब्रह्मगुहा या ब्रह्मयोनि कहते हैं। उपनिषद् तथा अन्य साहित्य में इसीका 'हृदय' पद से वर्णन किया गया है। कविराज गणनाथसेन ने प्रत्यक्षशारीर [भाग ३, अध्याय ६, पृष्ठ ८२] में लिखा है—

ब्रह्मगुहा ब्रह्मयोनिर्वा नाम आज्ञाकन्दयोरन्तराले मध्यरेखायां दृश्या गुहा तनुत्रिकोणपरिखाकारा। तदेव क्वचिद् ब्रह्महृदयमिति हृदयमिति वा व्यवहरन्ति प्राञ्च।

दोनों आज्ञाकन्दों के बीच मध्यरेखा में दीखने वाला ब्रह्मगुहा अथवा ब्रह्मयोनि नामक थोड़ा सा त्रिकोण परिखा के आकार में स्थान है, उसीको प्राचीन आचार्य कहीं ब्रह्महृदय अथवा हृदय नाम से व्यवहार करते हैं। वस्तुस्थिति यह है, कि मस्तिष्क के अन्तर्गत हिरण्यय कोश अथवा आज्ञाकन्दों के मध्य जो थोड़ा त्रिकोणरूप परिखा के समान अवकाश है, उसका नाम हृदय है। इसलिये वेद के वर्णन के साथ सामञ्जस्य करने पर 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा,सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' [कठ० ६।१७] अथवा 'एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः' [तै०६] इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में तथा 'हृदयं चेतनास्थानम्, [सुश्रुत, शारीर० ४।३४] इत्यादि आयुर्वेद वचनों में जो हृदय पद का प्रयोग हुआ है, वह मस्तिष्कगत हृदय के लिये हुआ है, ऐसा निश्चित समझना चाहिये। क्योंकि रक्त का प्रक्षेप करने वाले हृदय के साथ इन वर्णनों का सामञ्जस्य नहीं बैठता। अतएव आत्मा के निवासस्थान के आधार पर आत्मा को परिच्छिन्न अथवा परमाणुपरिमाण माना जाना चाहिये।

सुश्रुत के उक्त स्थल में पूर्वापर प्रसंग को देखने से यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है, कि उस प्रमाण में 'हृदय' पद रक्त का प्रक्षेप करने वाले शरीरांग का बोधक समझा जाना चाहिए, मस्तिष्कगत किसी अन्य अंग का नहीं। परन्तु उक्त श्लोक द्वारा उस प्रसंग में जिस अर्थ का प्रतिपादन किया जा रहा है, उससे इस भावना को बल नहीं मिलता। वह श्लोक इसप्रकार है—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम् ।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम् ॥

हे सुश्रुत ! देहियों का चेतनास्थान हृदय कहा गया है, वह हृदय जब तमस् से अभिभूत हो जाता है, तब देही निद्रा अवस्था में प्रवेश करता है। सुश्रुत ग्रन्थ की प्रणाली के अनुसार यह श्लोक किसी प्राचीन ग्रन्थ से लिया गया है। यहां ध्यानपूर्वक यह समझना अपेक्षित है, कि तमस् से अभिभूत होने पर हृदय की स्थिति क्या होती है ? हम देखते हैं, कि रक्त का प्रक्षेप करने वाला हृदय जाग्रत और निद्रा दोनों अवस्थाओं में अपना कार्य समानरूप से बराबर करता रहता है, इसलिये रक्तप्रक्षेपक हृदय की वह स्थिति निद्रा का प्रयोजक नहीं कही जा सकती। इसके विपरीत मस्तिष्कगत हृदयदेश की वह क्रिया तमस् से अभिभूत होने पर-शिथिल हो जाती हैं, जो ज्ञानवहा नाड़ियों द्वारा बाह्य इन्द्रियों का सम्पर्क मस्तिष्कगत उस प्रदेश के साथ जोड़ती हैं, जहां मन आदि अन्तःकरणों के सहयोग से आत्मा बाह्य विषय की अनुभूति करता है। उस अवस्था में मन आदि अन्तःकरण भी तम से अभिभूत रहते हैं, जिससे कोई अन्य सस्कार भी स्वात्मगत उद्बुद्ध नहीं होपाता। इसी कारण सांख्य-योग में निद्रा अथवा सुषुप्ति अवस्था को तामस बताया गया है।

आयुर्वेद में अन्यत्र जाग्रत अवस्था में हृदय के विकास का उल्लेख है—'जाग्रतस्तद्विकशति' [स्मृति के आधार पर]। सुश्रुत के भी उक्त प्रसंग में अगला उद्धृत श्लोक इसी आशय को प्रकट करता है। श्लोक है—

निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते ।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते ॥

तम का उद्रेक होना निद्रा का कारण है और सत्त्व का उद्रेक जाग्रत अवस्था का। आशंका होती है-प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है. तब निद्रा में तम का और जाग्रत में सत्त्व का प्राधान्य क्यों ? समाधान किया-यह वस्तुरचना का स्वभाव है, प्रत्येक त्रिगुणात्मक वस्तु के विशेष रूप का उभार गुणों के वैषम्य में सम्भव है। यह वैषम्य का चमत्कारपूर्ण परिणाम है, जो जगत् असंख्यात रूप-रूपान्तरों में परिलक्षित होता है। कार्य-कारण की ऐसी स्थिति को साधारण बुद्धिगम्य न होने से आचार्य उसे 'वस्तु-स्वभाव' शब्द से कह देते हैं। फलतः इन अवस्थाओं के अनुरूप तम और सत्त्व का प्रभाव हम रक्तप्रक्षेपक हृदय में नहीं देखते। इसलिये सुश्रुत के उक्त प्रसंग में 'हृदय' पद मस्तिष्कगत उस विशेष अंग का बोधक समझना चाहिये, जिसका संकेत प्रथम किया गया है।

**आत्मा की अणुता में पञ्चशिख सूत्र**—(५) सांख्यसन्दर्भों में आत्मा की अणुता का साक्षात् निर्देश उपलब्ध होता है। पञ्चशिख के उद्धृत सन्दर्भों में एक इस प्रकार है—

**तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् संप्रजानंति ।**

योगसूत्र समाधिपाद के छत्तीसवें सूत्र पर व्यासभाष्य में यह सन्दर्भ उद्धृत है। जब योगी आत्मसाक्षात्कार के लिये समाधि का अभ्यास करता है, उस समय उसकी एक ऐसी स्थिति आती है, जिसका नाम योगशास्त्र में ज्योतिष्मती कहा जाता है। इसमें प्रथम मन की स्थिरता बढ़ने पर सूर्य, चन्द्र अथवा मणिप्रभा आदि के रूप में कुछ प्रकाश सन्मुख आने लगते हैं, मन के और स्थित होने पर वह अपने कारण-अस्मिता में लीन हो जाता है, इन दोनों अवस्थाओं का नाम ज्योतिष्मती है। जब मन अस्मिता में लीन होता है, उस समय आत्मा 'अस्मि' इस रूप में अपना साक्षात्कार करता है, उस साक्षात्कार का स्वरूप पञ्चशिख के उक्त सन्दर्भ में दिखलाया गया है। उसका शब्दार्थ यह है–उस अणुमात्र आत्मा को जानकर 'अस्मि' इस रूप में साक्षात्कार करता है। अभिप्राय यह है, कि समाधि की उस अवस्था में आत्मा अपने सूक्ष्म चैतन्यरूप का साक्षात्कार कर लेता है। इस सन्दर्भ में 'अणु' के साथ 'मात्र' पद ध्यान देने योग्य है, जो आत्मा के परिमाण की ओर संकेत करता है।

**अणु आत्मा, उपनिषदों में**––सांख्य के सिद्धान्त को उपनिषद् आदि से पर्याप्त पुष्टि मिलती है, उपनिषदों में अनेकत्र जीवात्मा को अणुरूप में निर्दिष्ट किया गया है। वहा से कुछ वाक्य प्रस्तुत किये जाते हैं। मुण्डक उपनिषद् [३।१।९] में एक कण्डिका इसप्रकार है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥

इस अणु अर्थात् परिच्छिन्न सूक्ष्म आत्मा को बुद्धि के द्वारा जानना चाहिये, पाचों प्राण वृत्तिरूप से बुद्धि में सन्निविष्ट हैं। मानवमात्र की बुद्धि प्राणों से प्रभावित रहती है। बुद्धि के विशुद्ध होने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है जब बुद्धि बाह्य वृत्तियों से प्रभावित रहती है, तब वह इस दिशा में प्रवृत्त नहीं होती।

कठ उपनिषद् के प्रथमाध्याय की दूसरी वल्ली में तेरहवीं कण्डिका है—

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये॥

नचिकेता को यम कह रहा है—जिस आत्मतत्त्व का मैं प्रवचन करने लगा हूं, उसको सुनकर आत्मभावना से श्रद्धापूर्वक उसे ग्रहण कर, तथा शरीर आदि जड़ तत्त्वों से पृथक् रूप में, जो मानव इस अणु एवं धर्म्य अर्थात् धर्मयुक्त–ज्ञेय आत्मा को जान लेता या प्राप्त कर लेता है, वह हर्षित करने वाले इस आत्मज्ञान को प्राप्तकर प्रसन्न हो जाता है। यम कहता है–मैं समझता हूं, नचिकेतारूपी भवन का द्वार इसके लिये खुला हुआ है। अर्थात् पुरःस्थित नचिकेता को आत्मज्ञान की प्राप्ति में कोई बाधा मैं नहीं देखता। नचिकेता को आत्मज्ञान के द्वारा मोक्षप्राप्ति के योग्य समझता हूं।

कठ उपनिषद की चतुर्थ वल्ली में बारह तथा तेरह कण्डिकाओं में पुरुष को

अङ्गुष्ठमात्र परिमाण लिखा है—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।' पुरुष अङ्गुष्ठमात्र है, जो इस शरीर में विराजमान रहता है,अङ्गुष्ठमात्रपुरुष धूमरहित अर्थात् दहकतीज्योति के समान है। यहां पुरुष का अङ्गुष्ठमात्र निर्देश, मस्तिष्क में उसके निवास-स्थान की दृष्टि से किया गया है। मस्तिष्क के मध्य में अङ्गुष्ठ के अग्रभाग परिमाणसम स्थान में शरीर के समस्त ज्ञानतन्तुओं का केन्द्र है, वही आत्मा का निवास है। दूसरी कण्डिका में आत्मा को जो धूमरहित ज्योति बताया है, वह उसके विशुद्ध चेतनस्वरूप का निर्देश करता है। इस प्रसंग को अभी पूर्व पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया गया है।

कठ उपनिषद् की छठी वल्ली की सत्रहवीं कण्डिका में पुनः इस अर्थ का निर्देश किया है—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतम्।' वह अन्तरात्मा पुरुष सदा जनों के हृदय में सन्निविष्ट हुआ अंगुष्ठपरिमाण स्थान में निवास करता है। उस को शरीर से सदा पृथक् जानना चाहिये, जैसे मूंज को हटाकर सींक को पृथक् कर लिया जाता है। शरीर से पृथक् आत्मा के अस्तित्व का पुनः पुनः इसीलिये निर्देश किया गया है,कि शरीर के एक भाग मस्तिष्क के मध्य में निवास करने के कारण कदाचित् उसको भी शरीर का एक जड़ अङ्ग न समझ लिया जाय। आत्मज्ञान के लिये बड़े धैर्य की आवश्यकता होती है। मन सहित समस्त इन्द्रियां आत्मा की प्रवृत्ति को बाह्य विषयों की ओर सदा आकृष्ट करती रहती हैं, उनका निरोध कर उस विशुद्ध अमृत आत्मा को जानने के लिये स्थिरतापूर्वक प्रयत्नशील रहना चाहिये।

ठीक इसी अर्थ का प्रतिपादन श्वेताश्वतर उपनिषद् के तृतीय अध्याय की तेरहवीं कण्डिका में किया गया है। श्वेताश्वतर में इस सम्बन्ध का और भी वर्णन है। पञ्चम अध्याय की दो कण्डिका हैं—

> अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
> बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥८॥
> वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
> भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥६॥

संकल्प और अहंकार से युक्त, सूर्य के सदृश प्रकाशस्वरूप अर्थात् चेतन, तथा सूर्य जिस प्रकार एक स्थान पर रहता हुआ सम्पूर्ण सौरमण्डल को प्रकाशित करता है, ऐसे ही देह में एक स्थान [मस्तिष्क के ज्ञानकेन्द्र] पर बैठा हुआ आत्मा, समस्त देह को प्रकाशित एवं नियन्त्रित करने वाला अंगुष्ठ परिमाण स्थान में निवास करता है। अपने साधन बुद्धि के द्वारा तथा अपनी निजी स्थिति से वह अतिसूक्ष्म जाना जाता है। एक रोम का अग्रभाग लेकर उसको सहस्रधा विभक्त कर दिया जाय, उससे भी सूक्ष्म जीवात्मा का परिमाण समझना चाहिये। यह कथन जीवात्मा की अत्यन्त अणुता का

निर्देश करने के अभिप्राय से किया गया है। यह नहीं, कि रोम के अग्रभाग का ठीक दस सहस्रवां भाग, जीवात्मा का परिमाण है। इसप्रकार आत्मा का स्वरूप-साक्षात्कार मोक्षप्रद होता है। ऐसे आत्मपरिमाणसम्बन्धी वर्णन आत्मा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु-परिमाण अथवा परिच्छिन्नपरिमाण की ओर संकेत करते हैं।

**मस्तिष्कगत हृद्देश में आत्मा का साक्षात्कार**—समाधिद्वारा बुद्धि में सत्त्वसमुद्रेक होने पर मस्तिष्कगत हृदय देश में आत्मा का साक्षात्कार योगीजन करते हैं। उसके होने पर परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। इस दृष्टि से छान्दोग्य में एक प्रसंग आता है, कि ये दोनों आत्मा हृदय देश में निवास करते हैं, उनमें एक अणीयान् और दूसरा ज्यायान् है। जीवात्मा अत्यणु तथा परमात्मा अति महान है।[1] छान्दोग्य [६।११] में प्रकारान्तर से जीवात्मा की परिच्छिन्नता पर प्रकाश डाला है। एक वृक्ष का उदाहरण देकर समझाया है, कि जब वृक्ष जीवात्मा से अनुप्राणित होता है, तब वह लहलहाता हुआ हरा-भरा प्रसन्न दीख पड़ता है, जब जीव इसकी एक शाखा को छोड़ता है, वह सूख जाती है; दूसरी और तीसरी का परित्याग करता है, वे भी सूखती जाती हैं, जब सब को छोड़ जाता है, सब पेड़ सूख जाता है। यही स्थिति हमारे देहों में है। जब जीव चला जाता है, तब इसे मृत्यु कहा जाता है, पर जीव स्वयं कभी नहीं मरता। वह अत्यन्त अणु है, उसका उतना ही स्वरूप है, वह सब अवस्थाओं में सत्य है, वह 'आत्मा' कहा जाता है। श्वेतकेतो ! तुम भी वही आत्मा हो। इस प्रसंग में जीवात्मा के द्वारा देह का छोड़ जाना, तथा वहां प्रयुक्त साक्षात् शब्द उसके परिच्छिन्न परिमाण को सिद्ध करते हैं। अन्य शतशः ऐसे वर्णन हैं, जिनके आधार पर इस अर्थ की पुष्टि होती है। ग्रन्थविस्तारभय से यह दिग्दर्शनमात्र उल्लेख किया है।

**चेतन की विभुता का वर्णन ईश्वरविषयक**—चेतन की सर्वव्यापकता को बताने वाले वर्णन, उपनिषदों अथवा अन्य शास्त्रों में परमात्मा के स्वरूप का निर्देश करते हैं। कतिपय प्रसंग ऐसे संभव हो सकते हैं, जो संदेहजनक हों, पर उनको गंभीरतापूर्वक विचार कर समझा जासकता है। सांख्यषडध्यायी [१।१२] सूत्र में जो आत्मा के लिये 'व्यापी' पद का प्रयोग किया है, वह विभु अथवा सर्वव्यापकता के अर्थ में समझना युक्त न होगा। क्योंकि कपिल तथा पञ्चशिख के उक्त वर्णनों के आधार पर उनका स्वारस्य इसी में अभिलक्षित होता है, कि जीवात्मा परिच्छिन्न होना चाहिये। सांख्य के इस प्रसंग में आत्मा के बन्ध-कारणों का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत सूत्रों में यह कहा है, कि कालयोग अथवा देशयोग आत्मा को बन्धन में नहीं डाल सकते। क्योंकि नित्य होने से आत्मा, काल के किसी क्षण आदि विशेष अंश के साथ सम्बन्ध रखता हो, ऐसा नहीं है। देशयोग भी आत्मा

---

१ छान्दो० ३।१४।३।। जीवात्मा के अणुपरिमाण होने की पुष्टि में छान्दोग्य के छठे अध्याय का उद्दालक तथा श्वेतकेतु का संवाद भी द्रष्टव्य है। इसमें आठवें खण्ड से लेकर सोलहवें खण्ड तक का भाग विशेष विचारणीय है।

के बन्ध का कारण इसलिये नहीं होसकता, कि वह किसी एक देशविशेष में बन्धा हुआ रहता हो, एसा नहीं है। यद्यपि आत्मा परिच्छिन्न है, पर वह सर्वत्र जाता आता रहता है, उसकी निरन्तर गति-आगति का अभी पीछे वर्णन किया जाचुका है। इसी सार्वत्रिक गति आदि की भावना से औपचारिक रूप में आत्मा को यहां व्यापी कहा है। मुख्य लक्ष्य तो यही है, कि परिच्छिन्न होने पर भी आत्मा के बन्ध का कारण देशयोग नहीं कहा जासकता, क्योंकि वह किसी एक नियत देश में आवृत नहीं है। देशजनित बन्धन का यही स्वरूप संभावना किया जासकता है, और वह आत्मा में घटित नहीं होता। ऐसी औपचारिकता के आधार पर अल्पज्ञ आत्मा को कहीं सर्वज्ञ कह दिया गया है। क्योंकि वह सब विषयों का ग्रहण करने की योग्यता रखता है। यह भी कहा जासकता है, कि अनादि काल से आज तक कदाचित् ही कोई एसी बात रही हो, जिसकी अनुभूति आत्मा को न हुई हो। इसतरह के औपचारिक प्रयोग प्रायः कर दिये जाते ह, अर्थ की वास्तविकता में इनके आधार पर कोई असामञ्जस्य न समझा जाना चाहिये।

**आत्मपरिमाण में सांख्यसूत्रविचार**—इस प्रसंग में सांख्यषडध्यायी के [६।५९] सूत्र की उपेक्षा नहीं की जासकती। उसका विवेचन आवश्यक है। सूत्र के शब्द इसप्रकार हैं—

गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद् भोगदेशकाललाभो व्योमवत्।

इस सूत्र की तीन व्याख्या उपलब्ध हैं; अनिरुद्ध, महादेव और विज्ञानभिक्षु की। तीनो में लगभग समान अर्थ किया गया है। उन सबका सार इसप्रकार कहा जासकता है—आत्मा के व्यापक होने पर भी उसको जो एक देशविशेष अथवा कालविशेष में भोग की प्राप्ति होती है, वह देह आदि उपाधि के योग से समझनी चाहिये। जब किसी देश अथवा काल में भोग भोगने के लिये आत्मा जाता है, तब वह आत्मा नहीं जाता, वस्तुतः देह जाती है, और वह देह का जाना, आत्मा का जाना समझ लिया जाता है, जिन उपनिषदों अथवा अन्य वैदिक वाक्यों में आत्मा की गति का वर्णन किया गया है, उसका यही अभिप्राय समझना चाहिये, कि वह देह की गति को आत्मा की गति में वर्णन किया है। जैसे कि आकाश व्यापक है, उसकी उपाधि घट आदि हैं, घट आदि की गति का आकाश में व्यवहार कर दिया जाता है[1]।

---

१—सूत्र के 'काल' पद का केवल महादेव ने ऐसा अर्थ किया है, जिसके अनुसार हमने ऊपर व्याख्या लिखी है। अनिरुद्ध ने इस पद का कोई व्याख्यान नहीं किया। विज्ञानभिक्षु ने बड़ा अटपटा-सा अर्थ लिखा है—'व्यापकत्वेऽप्यात्मनो गतिश्रवणानुरोधेन भोगदेशस्य कालवशाल्लाभः सिद्ध्यति।' आत्मा के व्यापक होने पर भी आत्मसम्बन्धी गति श्रुतियों के अनुरोध से भोगदेश की प्राप्ति कालवश सिद्ध होती है। भोगदेश की प्राप्ति के समान भोगकाल की प्राप्ति उपाधियोग से होती है, ऐसा न कहकर भिक्षु ने काल को साधनकोटि में रख दिया है—कालवश से [कालवशात्] भोगदेश की प्राप्ति। यद्यपि

मूलसूत्र के पद और इन व्याख्यानों के अनुसार एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है, कि उपनिषदों तथा अन्य वैदिक या लौकिक वाङ्मय में जो आत्मसम्बन्धी गति का वर्णन किया गया है, वह साक्षात् आत्मा की गति का उल्लेख है। अभिप्राय यह है कि सूत्रकार कपिल की यही धारणा है, कि उपनिषद् आदि के उन प्रसंगों में आत्मा की गति का वर्णन किया गया है। और ये व्याख्याकार उस धारणा की उपेक्षा नहीं कर सके।

दूसरी बात यह है, कि आत्मा को व्यापक अथवा विभु मानने वाले विद्वान् यह कहते हैं, कि आत्मा व्यापक अवश्य है, पर उसे भोग, सुख दुःख आदि की अनुभूति अथवा विषय का ज्ञान आदि सब कुछ देह के प्रदेश में उपलब्ध होसकते हैं, देह से अन्यत्र किसी तरह इनकी संभावना नहीं है। तब साधारणरूप से यह प्रश्न होता है, कि ऐसी स्थिति में देह से अन्यत्र आत्मा के अस्तित्व में प्रमाण ही क्या ? जिन साधनों से आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, वे देह से अन्यत्र स्थल में जब आत्मा के अस्तित्व का अनुमान कराने में असमर्थ हैं, तब देह से अन्यत्र आत्मा के अस्तित्व को किस आधार पर माना जाय ?

तीसरी बात यह है, कि जब आत्मा व्यापक है, तो 'भोगदेश' की प्राप्ति उसे उपाधि योग से होती है, यह कथन असंगत है। व्यापक आत्मा तो भोग देश में पहले से वर्तमान है, प्रत्युत सदा वर्तमान है। तब व्यापक तत्त्व का उपाधियोग से किसी देशविशेष में प्राप्ति का कथन करना कैसे संभव होसकता है ? हां ! यह कहा जासकता है, कि व्यापक आत्मा को भोग का लाभ उपाधियोग से होता है। यदि यह कहा जाय, कि उपाधियोग ही व्यापक आत्मा को भोगदेश का लाभ है, अर्थात् उपाधि ही 'भोगदेश' है, उसका आत्मा के साथ योग होना, आत्मा को 'भोगदेश' का लाभ है; तब इसके साथ आत्मा की गतिश्रुति का कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता। एक ओर तो कहा जाता है, कि वह आत्मा की गति का वर्णन है, दूसरे सांस में आत्मा की गति न मानकर उसे उपाधि की गति कह दिया जाता है।

इस उपाधि में भी यह विचारणीय है, कि जो उपाधि 'भोगदेश' है, अर्थात् आत्मा के भोग का आधार है, वह स्थूलदेह है, और वह देह मृत्यु के साथ यहीं रह जाता है, तब यह उपाधि आत्मा की गतिश्रुति का आधार कैसे कही जासकती है। लोकान्तर या योन्यन्तर में इसका जाना तो संभव नहीं। यह उपाधि यदि सूक्ष्मदेह मानी जाती है, तो वह 'भोगदेश' नहीं, क्योंकि सूक्ष्मदेह में आत्मा का भोग असंभव है। सांख्य का सिद्धान्त है—'संसरति निरुपभोगं' स्थूलदेह को छोड़ने पर आत्मा के साथ लिंग अर्थात् सूक्ष्मशरीर भोगरहित रहकर संसरण करता है।

चौथी बात यह है, कि प्रस्तुत प्रसंग में 'व्योमवत्' दृष्टान्त का सामञ्जस्य नहीं

---

**सूत्र में एक समस्त पद है—'भोगदेशकाललाभः'। भिक्षु के अनुसार इस समस्तपद का विग्रह करने पर असमर्थता प्रकट होती है।**

बैठता। उदाहरण घटाकाश दिया जाता है, घट के इधर उधर हटाये जाने पर वह गति घट में होती है, घटसंवृत आकाश में नहीं ; पर उसका व्यवहार आकाश में किया जाता है। यहां देखना यह है, कि घट किस वस्तु का नाम है। वस्तुतः मट्टी आदि की पतली पर्त्त गोल आदि आकार में सन्निविष्ट की हुई घट है। आकाश का कार्य है—अवकाशदान। वह प्रत्येक स्थूल वस्तु के संचरण के लिये यह स्थिति प्रस्तुत करता है। घट जब इधर से उधर हटाया जारहा है, उस समय वह केवल मट्टी आदि की पर्त्त अथवा खोल गति का आधार है। यहां आकाश की गति का प्रश्न ही नहीं उठता। घट जो वस्तु है, उसका कोई अंश आकाश नहीं। तब उस खोल अथवा घट की गति का आकाश से क्या संपर्क ? यह कथन सर्वथा निराधार और भ्रम में डालने वाला है, कि घट से आकाश संवृत अर्थात् घिरा हुआ है। वस्तुस्थिति सर्वथा इससे विपरीत है, अर्थात् आकाश से घट घिरा हुआ रहता है, क्योंकि घट उस मट्टी की पर्त्त अथवा खोल का नाम है, वह सब ओर से आकाश से संवृत है। घट से जो वस्तु घिरी रहती है, वह घट के इधर-उधर होने पर घट के साथ को छोड़ नहीं सकती। आकाश में यह बात नहीं, इसलिये वह घट-संवृत नहीं है।[1] जब घट में जल भरा जाता है, तो वह घट से संवृत है, फिर उसमें अन्न या और कोई दूसरी वस्तु नहीं भरी जासकती। वादी कहेगा, कि जहां अन्न या जल भरा है, वह आकाश ही तो है। यह ठीक है, कि वह आकाश है, आकाश का कार्य प्रत्येक वस्तु को अवकाश देना है। पर वह जल या अन्न आदि ही वस्तुतः घटसंवृत है, वह मट्टी की पर्त्त या खोल से घिरा हुआ है, इसलिये घट में भरा है, यही कहना होगा। यदि वह केवल आकाश में है, घट के साथ उसका कोई संबन्ध नहीं, तो घट के इधर उधर हटाने पर वह अन्न या जल वहीं रह जाना चाहिये। पर ऐसा नहीं, वह घट के साथ ही चलता है। तब निश्चित है, कि वही वस्तु घट से संवृत है। इसलिये घट की गति के साथ आकाश का संबन्ध जोड़ना भ्रान्ति का जनक है, और प्रस्तुत प्रसंग में यह उदाहरण अभिमत अर्थ की पुष्टि नहीं करता।

सांख्यदृष्टि के अनुसार प्रकृत सूत्र का अर्थ इसप्रकार होना चाहिये—गतिश्रुति से यह ज्ञान होने पर भी कि आत्मा विविध प्रदेशों में पहुंचजाने की योग्यता रखता है, उसका भोगदेश अथवा भोगकाल में प्राप्त होना उपाधियोग से होता है। उपाधि का अभिप्राय है—सहयोगी अथवा साधनभूत तत्त्व। आत्मा के भोग आदि के साधन हैं—सूक्ष्म-स्थूलदेह। इन्हीं के सम्पर्क में वह भोगों को भोगता है, और लोकान्तर अथवा योन्य-न्तरों को प्राप्त होता है। यद्यपि उपनिषद् आदि में आत्मा की गति का वर्णन है, पर वह अपने साधनों के सहयोग में गति कर पाता है। जैसे आकाश का कार्य प्रत्येक वस्तु को अवकाश देना है; पर केवल इतने से प्रत्येक वस्तु आकाश में निर्बाध गति कर नहीं

**१—घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा, घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः॥ इसप्रकार की उक्तियां निराधार और कोरी बकवाद हैं। कुछ भी अटपट, संस्कृत में लिख देने मात्र से प्रमाणभूत नहीं होसकता।**

सकती, जब तक कि उसकी गति के साधन उपस्थित न हों। ऐसा अर्थ करने पर इस भावना की रक्षा होजाती है, कि वैदिक साहित्य में जो आत्मसम्बन्धी गतिवर्णन है, वह आत्मा का है, अन्य उपाधि आदि का नहीं; इसलिये उस वर्णन को औपचारिक मानने के लिये बाधित नहीं होना पड़ता।

कपिल ने इस सूत्र से पहले छप्पनवें सूत्र में इस बात का उल्लेख किया है, कि चन्द्र आदि लोक में जो आत्मा अपने शुभ कर्मों का फल भोगने के लिये पहुंचते हैं, पुण्य-क्षय होने पर उनको फिर इसी लोक में वापस आना पड़ता है। यह वर्णन उपनिषदों में प्रपञ्चित पञ्चाग्निविद्या आदि के अनुसार हुआ है। ये चन्द्र आदि लोक, समाधि अभ्यास में प्रतीत होने वाली कोई भूमिका हैं, अथवा कोई लोकान्तर या योन्यन्तर हैं, इसका अधिक निश्चय अभ्यासी जन कर सकते हैं; पर प्रत्येक अवस्था में आत्मा की गति-आगति के प्रति कोई विप्रतिपत्ति नहीं, इसलिये प्रकृत में केवल इतना अभीष्ट है, कि आत्मा की इस स्थिति के आधार पर उसका परिच्छिन्न परिमाण होने की पुष्टि होजाती है।

**जीवात्मा का स्वरूप—**

पिछले प्रसंग में–जीवात्मा चेतनस्वरूप है, भोक्ता है, कर्त्ता है, परिच्छिन्न है–इत्यादि विशेषताओं का वर्णन विशदरूप में आगया है, और इससे जीवात्मा के स्वरूप का एक आभास विचारक के सन्मुख आसकता है। फिर भी सांख्य के कतिपय व्याख्याकारों ने इस सम्बन्ध में जो संकेत दिये हैं, उनसे कुछ विप्रतिपत्ति उपस्थित होजाती हैं, उनका विवेचन यहां आवश्यक है, अतएव उनका प्रस्तुत करना अवसर के उपयुक्त होगा।

**जीव क्या है [अनिरुद्ध]**—इन व्याख्याकारों में सांख्यसूत्र और सांख्यसप्तति दोनों के व्याख्याकार हैं, अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु तथा माठर आदि। अनिरुद्ध ने [१।६२]सांख्य-सूत्र पर सूत्रगत 'जीव' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है–'वायुयुक्तो बुद्ध्यादिर्जीवः, न वात्मा जीवः। आहारादिविशेषकार्येऽपि जीवानामेव कर्त्तृत्वं, आत्मनोऽपरिणामित्वात्।' अर्थात् वायुयुक्त बुद्धि आदि का नाम जीव है, आत्मा जीव नहीं है। आहार आदि विशेष कार्यों में जीवों का कर्त्तृत्व माना गया है, आत्मा तो अपरिणामी है। अनिरुद्ध के इस जीव-स्वरूप में बुद्धि के आगे जो 'आदि' पद है, उससे अन्य करणों का ग्रहण किया जाना ही संभव है, 'वायु' पद का अर्थ प्राण हो सकता है। प्राण समस्त करणों की साधारणवृत्ति है। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि प्राणवृत्ति से युक्त बुद्धि आदि करण 'जीव' कहलाता है। जीव का यह स्वरूप मानने पर निश्चित है, कि करणों का स्थूलदेह के साथ सम्बन्ध रहने पर ही इसका अस्तित्व संभव है। अपने आश्रय पञ्चतन्मात्र के साथ तेरह करण—'सूक्ष्मशरीर' है। तब अनिरुद्ध के अनुसार सूक्ष्मशरीर का नाम उस समय 'जीव' होसकता है, जब वह स्थूलशरीर के साथ सम्बद्ध रहता है। यद्यपि स्थूलशरीर के साथ सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध गर्भस्थिति के प्रथम क्षण से प्रारम्भ होजाता है, वीर्य और आर्त्तव के संपर्क का प्रथम क्षण गर्भस्थिति के प्रारम्भ का काल है। तथा वीर्य-आर्त्तव का वह लघुकण स्थूलशरीर

का आद्यरूप है, नौ दस मास में वह पूर्णाङ्ग होजाता है। परन्तु गर्भ अवस्था में करणों की प्राणवृत्ति का अभाव रहता है। इसलिये अनिरुद्ध के अनुसार गर्भ अवस्था में बुद्धि आदि करणों को, वायुयुक्त न होने के कारण 'जीव' नहीं कहा जासकता। करणों की प्राण-वृत्ति, गर्भ से स्थूलशरीर के बाहर आते ही प्रारम्भ होजाती है, और फिर वह मृत्युपर्यन्त बराबर चलती रहती हैं, इसलिये जन्म से लेकर मरणपर्यन्त जो स्थिति है, उसी में बुद्धि आदि करण अथवा सूक्ष्मशरीर का नाम 'जीव' कहा जासकता है।

अनिरुद्ध के इस प्रतिपादन में अनेक दोष हैं (क)—सर्वप्रथम यह विचार कपिल की भावना के विरुद्ध है। पहले [१।६१] सूत्र में ईश्वर के स्वरूप का निर्देश करते हुए, समस्त जगत् का उसे अधिष्ठाता बताया गया है। इस सूत्र [१।६२] में भी प्रथम सूत्र के 'अधिष्ठातृत्वं' पद की अनुवृत्ति मानी गई है। इसप्रकार देह में जो कार्य सम्पन्न होते हैं, उनका अधिष्ठाता जीव को बताया गया है। सांख्य की प्रक्रिया के अनुसार अचेतन तत्त्व अधिष्ठाता नहीं होसकता। परन्तु अनिरुद्ध का जीव अचेतन है। उसने अपनी व्याख्या में लिखा है, कि विशेषकार्यों में जीवों का ही कर्त्तृत्व है, आत्मा का नहीं, क्योंकि वह अपरिणामी है। सांख्य में प्रयुक्त 'कर्तृ' पद के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन कर दिया गया है। अचेतन तत्त्व में कर्तृ' पद का प्रयोग यहां परिणामी अर्थ को कहता है, अनिरुद्ध भी इससे अपरिचित नहीं है, इसी वाक्य में उसने आत्मा को कर्त्ता न होने में 'अपरिणा-मित्व' हेतु दिया है, इससे स्पष्ट होता है, कि प्रकृति अथवा प्राकृत पदार्थों के लिये 'कर्तृ' पद का प्रयोग परिणामी अर्थ में होता है, इस बात को वह समझता है। अन्य शास्त्रों में चेतन के साथ 'कर्तृ' पद जिस अर्थ को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है, सांख्य में उस अर्थ को प्रकट करने के लिये 'अधिष्ठातृ' पद का प्रयोग हुआ है। यह अधिष्ठातृत्व चेतन में संभव है। प्रकृत सूत्र मे जीवों के अधिष्ठातृत्व का प्रतिपादन किया गया है। इसी अर्थ में 'कर्तृ' पद का प्रयोग होने पर अनिरुद्ध का अर्थ सूत्र के विपरीत चला जाता है, क्योंकि अनिरुद्ध का अभिमत जीव अचेतन है, वहां अधिष्ठातृत्वरूप कर्तृत्व असंभव होगा।

(ख) अनिरुद्ध के लेख से प्रतीत होता है, कि जीव और आत्मा दो भिन्न तत्त्व हैं। पर वस्तुतः 'जीव' पद, उस आत्मा के लिये पर्यायरूप में प्रयुक्त होता है, जो देह में अभि-मानी होकर अधिष्ठित है। क्योंकि केवल 'आत्मा' एक साधारण पद है, जो जीव और ईश्वर दोनों के लिये प्रयुक्त किया जाता है अतएव उसके प्रयोग में विभेद करने के लिये उसके साथ पृथक्-पृथक् दो विशेष पद लगा दिये जाते हैं—जीव और परम। इसप्रकार एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा कहा जाता है। इन दोनों तत्त्वों के लिये विभिन्नरूप में अन्य अनेक पदों का प्रयोग किया जाता है। पर आत्मा की एक विशेष अवस्था के आधार पर उसका 'जीव' नाम रक्खा गया है। इसलिए स्वतन्त्ररूप से अथवा 'आत्मा' पद के साथ जोड़कर उसी विशेषता को प्रकट करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

एक अन्य स्थल [६।५९] पर अनिरुद्ध ने लिखा है, कि आत्मा का धर्म आदि

के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, न आत्मा को ज्ञान होता है, किन्तु शरीर-प्रदेश में प्राण और अग्नि-सहित जीव के साथ सम्बन्ध होने के कारण मनोयोग से इसे जीवात्मा कहा जाता है[1]।' इसके आगे कुछ पंक्तियों के अनन्तर अनिरुद्ध लिखता है–'मोक्ष अवस्था प्राप्त होने पर जीवात्मा को भी परमात्मा के साथ एक होजाने से उसका धर्माधर्म से योग कहां[2]? यहां अनिरुद्ध ने परमात्मा के साथ 'जीवात्मा' की एकता का निर्देश किया है, केवल आत्मा की नहीं। पर उसके पहले लेखों के अनुसार बुद्धि आदि अचेतन करण ही जीव है, उसके सहित आत्मा का परमात्मा के साथ एकताप्रतिपादन करना किसी सिद्धान्त के अनुसार सामञ्जस्यपूर्ण नहीं कहा जासकता। ऐसा प्रतीत होता है, कि 'जीवात्मा' पद के वास्तविक अर्थजनित संस्कारों के कारण यहां वह अपने पहले लेखों के विरुद्ध लिख गया है। इसलिये वास्तविकता यही है, कि 'जीव' पद अल्पज्ञ 'आत्मा' का अपर पर्याय है, इस नाम के अलग दो तत्त्व नहीं हैं। फलतः 'जीवात्मा' पद का अर्थ होगा–जीवरूप 'आत्मा, न कि जीवसहित आत्मा।

(ग)-अतिप्राचीन काल से 'जीव' पद, आत्मा के पर्यायरूप में प्रयुक्त किया जाता है। अभी पिछली पंक्तियों में जीवात्मा के परिमाण विवेचन के प्रसंग में श्वेताश्वतर उपनिषद् का एक सन्दर्भ उद्धृत किया गया है—'भागो जीवः स विज्ञयः स चानन्त्याय कल्पते' [५।९] यहां आत्मा के लिये केवल 'जीव' पद का प्रयोग किया गया है। छान्दोग्य [६।११] में एक वाक्य है–'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते' जब देह से जीव निकल जाता है, तब इस देह को मृत कहा जाता है, पर जीव नहीं मरता। यदि अनिरुद्ध का अभिमत जीव यहां 'जीव' पद से ग्रहण किया जाय, तो उपनिषद् का कथन सर्वथा असंगत होजायगा, क्योंकि अनिरुद्ध का जीव-बुद्धि आदि तो मरणधर्मा है, उसे अमर नहीं कहा जासकता। उपनिषद् के इस प्रसंग में आत्मा को जीव कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् के एक अन्य स्थल [६।३।२] में आता है—'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य'। यहाँ 'आत्मा' के साथ 'जीव' पद का प्रयोग इन पदों की पर्यायिता को पुष्ट करता है। वेद संहिताओं में तो 'आत्मा' के अर्थ में 'जीव' पद का प्रयोग शतशः हुआ है। ऋग्वेद [१०।७८।९] में लिखा है—'दस महीने माता के गर्भ में शयन कर बाल रूप में वह अविनाशी जीव

१—तथात्मा···,नास्य धर्मादिसम्बन्धो, नापि ज्ञानं, किन्तु शरीरावच्छेदेन मरुद्वन्हियोगवज्जीवसम्बन्धेन मनोयोगात् जीवात्मेत्युच्यते ।

२—यदा तु········वासनानाशाद् देहभङ्गेऽन्यदेहानुत्पादः, तदा जीवात्मनोऽपि परमात्मना सहैकत्वेन···क्व धर्माधर्मयोगः ।

वस्तुतः अनिरुद्ध के ये लेख वेदान्त के शांकर विचारों से प्रभावित होकर लिखे गये प्रतीत होते हैं। इसी सूत्र [६।५९] पर अनिरुद्ध ने आत्मा के भोग या ज्ञान आदि का स्वरूप भी विन्ध्यवासी के विचारों के अनुसार लिखा है, जो वेदान्त विचारों का प्र[illegible]सिद्ध है।

बाहर आता है, उसके अनन्तर माता के आश्रय पर रहता है[1]।' अथर्ववेद [२।२८।४] में आता है—'जैसे जीव प्रकृति के दिये हुए शरीर में प्राणापान के द्वारा सौ वर्ष तक सुरक्षित रहते हैं[2]।' यहां 'जीव' पद आत्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। ये उदाहरण दिग्दर्शनमात्र दिये गये हैं। इनसे स्पष्ट होजाता है, कि 'जीव' का जो स्वरूप अनिरुद्ध ने बताया है, वह इन शास्त्रों के विरुद्ध होने से अमान्य है, एवं सांख्यशास्त्रानुमोदित नहीं है।

**जीव क्या है [विज्ञानभिक्षु]**—विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्र [१।६२] की व्याख्या में लिखा है, कि अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चेतन जीव है[3]। यद्यपि इन शब्दों से यह ज्ञात होजाता है, कि चेतन आत्मा का नाम जीव है, और विज्ञानभिक्षु अनिरुद्ध की तरह अचेतन बुद्धि आदि को जीव नहीं कहता, फिर भी केवल उतने शब्द कहदेने में अर्थ अस्पष्ट रहजाता है। आत्मा के भोग का विवेचन करते हुए पिछले पृष्ठों में यह स्पष्ट किया गया है, कि आत्मा और बुद्धि का परस्पर प्रतिबिम्ब-प्रतिबिम्बिभाव इस तरह का नहीं होता, जैसा कि मुख और दर्पण का अथवा पुष्प एवं स्फटिक का। वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा समस्त सर्गकाल में एक क्षण के लिये भी सूक्ष्मशरीर को छोड़कर अलग नहीं रह सकता सूक्ष्मशरीर का साथ इससे या तो आत्मज्ञान होने पर छूटता है, या समस्त विश्व का प्रलय उपस्थित होने पर। आत्मा का कोई कार्य सूक्ष्मशरीर के सहयोग में ही हो पाता है। आत्मा के कार्य को पूरा करने वाले सूक्ष्मशरीरगत समस्त साधनों में क्योंकि बुद्धि का प्राधान्य है, इसलिये अनेक स्थलों पर केवल बुद्धि अथवा अन्तःकरण के सहयोग का उल्लेख कर दिया जाता है। बुद्धि अथवा अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चेतन का इससे अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं है। तब अन्तःकरण में प्रतिबिम्बितचेतन जीव है—इस कथन का अभिप्राय यह होगया, कि आत्मा स्वयं अपनी इस उक्त विशेषता [सूक्ष्मशरीर से अलग होकर न रहना] के कारण ही 'जीव' कहलाता है। इस बात को पहले लिखा गया है, कि आत्मा की एक विशेष अवस्था के आधार पर उसका नाम 'जीव' रक्खा गया है। उसकी वह विशेष अवस्था यही है, कि वह समस्त सर्गकाल में एक क्षण के लिये भी बुद्धि आदि—सूक्ष्मशरीरगत—अपने सहयोगियों अथवा साधनों से अलग होकर केवल स्वरूप में नहीं रहसकता। इसी अर्थ को स्वयं कपिल ने [६।६३] सूत्र से स्पष्ट किया है, 'विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात्।' सूक्ष्मशरीर से विशिष्ट आत्मा जीव कहलाता है। परिच्छिन्न होने पर भी आत्मा अपनी गति-आगति में असमर्थ होता है, यदि सूक्ष्मशरीर का उसे सहयोग न हो। प्रलयकाल में जब कि आत्मा अविवेकी है, सूक्ष्मशरीर

---

१—दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥

२—यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः॥

३—अन्तःकरणोपलक्षितस्यैव जीवशब्दार्थत्वम्………………जीवानामन्तःकरणप्रतिबिम्बितचेतनानां……।

का सहयोग न रहने पर सुप्तवत् पड़ा रहता है। गति-आगति आदि की उस समय उसमें कोई संभावना नहीं। मोक्ष अवस्था में विवेक अथवा आत्म-साक्षात्कार होजाने के कारण उसे यह सामर्थ्य प्राप्त होजाता है, कि वह सूक्ष्मशरीर अथवा अन्य किसी सहयोगी या साधन के विना आनन्द में विचरण करसकता है। इसप्रकार कपिल के मतानुसार चेतन-स्वरूप आत्मा ही जीव अथवा जीवात्मा कहा जाता है।

आत्मा की गति-आगति तथा अन्य कार्यों में सूक्ष्मशरीर के आवश्यक सहयोग का जो उल्लेख किया गया है, उसका यह अभिप्राय कदापि न समझना चाहिए, कि पुरुषार्थ के उन समस्त कार्यों में सूक्ष्मशरीर स्वतन्त्ररूप से समर्थ होता है, क्योंकि अचेतन सूक्ष्मशरीर अथवा उसके घटक बुद्धि आदि स्वयं स्वतन्त्ररूप से कुछ भी करने में उस समय तक असमर्थ रहते हैं, जब तक चेतन का सहयोग या सान्निध्य उन्हें प्राप्त न हो। उन सब कार्यों का नियन्ता व अधिष्ठाता चेतन रहता है, इसलिये जितने गति-आगति अथवा अन्य पुरुषार्थ के कार्य सम्पन्न होते हैं, वे सब चेतन से प्रेरित होने के कारण उसीके समझे जाते हैं, लिंग अथवा सूक्ष्मशरीर उन समस्त पुरुषार्थ कार्यों के सम्पादन में साधन-मात्र होते हैं। ये साधनरूप में पुरुष के समस्त भोग और अपवर्गसिद्धिपर्यन्त कार्यों का वहन करते हैं। साधनरूप में इनकी स्थिति इतनी आवश्यक है, इसी धारणा पर कभी कभी लिङ्ग अथवा सूक्ष्मशरीर का जीवभाव में वर्णन कर दिया जाता है। इसी आशय से सांख्यसप्तति के व्याख्याकार माठर ने एक स्थल पर लिखा है—महत् से लेकर तन्मात्र पर्यन्त अठारह तत्त्वों से घटित लिङ्ग अथवा सूक्ष्मशरीर देव मनुष्य तथा तिर्यक् आदि योनियों में जीवभाव को प्राप्त होता है।[1] माठर के इस लेख से यह स्पष्ट ध्वनित होता है, कि लिङ्ग स्वयं जीव नहीं है, पर निरन्तर जीव के साथ, देव आदि उक्त योनियों में संसरण करता हुआ जीव के समान समझ लिया जाता है। इससे माठर का अभिमत यही प्रतीत होता है, कि वस्तुस्थिति में वह चेतन आत्मा को जीव मानता है।

इन वर्णनों के आधार पर यह निश्चित होजाता है, कि जीव, जीवात्मा अथवा आत्मा एक ही तत्त्व के नाम हैं, और यह वही चेतन तत्त्व है, जो देह में अभिमानी बनकर अधिष्ठित होता है, तथा शुभाशुभ कर्मों को करता और भोगता है। इस कथन के द्वारा उस परमात्म-चेतन का जीवात्मा से भेद स्पष्ट होजाता है, जो समस्त विश्व में व्याप्त और अधिष्ठित रहने के कारण प्रत्येक देह में अधिष्ठित है, पर वह न यहां और न कहीं अन्यत्र अभिमानी बनकर अधिष्ठित होता है, और न इसीलिये फलों को भोगता है।

## जीवात्मा अनेक हैं—

यह उल्लेख किया जा चुका है, कि सांख्य में चेतन का प्रतिपादन दो वर्गों में हुआ है, एक परमात्मा दूसरा जीवात्मा। परमात्मा व्यक्तिरूप में एक है, यह निरूपण कर

---

१. महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं······देवमानुषतिर्यक्योनिषु जीवभावमागच्छति······ लिङ्गम्। सांख्यसप्तति ४०॥

दिया गया है। परन्तु जीवात्मा अनेक हैं। अनेक पद का प्रयोग एक से अधिक किसी भी संख्या के लिये किया जासकता है। तब अनेक कहने से यह निश्चय नहीं होपाता, कि जीवात्मा कितने हैं, किसी भी परिमित संख्या पर टिक जाने के लिये आजतक कोई युक्ति या प्रमाण उपलब्ध नहीं किया जासका। इसीलिये गणना की दृष्टि से जीवात्मा अनन्त कहे जासकते हैं। यह संख्या एक से हटकर फिर अनन्त पर ही जाकर अटकती है, इससे पहले नहीं। यहां अनेक पद का यही अर्थ है। जब जीवात्मा एक नहीं होसकता, तो वे अनन्त होंगे। सांख्य में जीवात्मा के एक न होसकने के लिये जो युक्तियां दी गई हैं, उनको प्रस्तुत किया जाता है।

सांख्यषडध्यायी में इस विषय का मुख्यरूप से वर्णन प्रथम अध्याय में और प्रासंगिकरूप से अन्य दो तीन स्थलों में आया है, परन्तु आगे के स्थलों में प्रथम अध्याय-वर्णित युक्तियों को ही दुहराया गया है। इस प्रसंग का प्रथम सूत्र इसप्रकार है—'जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् [१।१४९]' जन्म आदि की व्यवस्था के कारण यह मानना आवश्यक है, कि पुरुष अर्थात् आत्मा बहुत हैं। संसार में यह देखा जाता है, कि भिन्न-काल में भिन्नप्रदेश में अनेक पुरुषों का जन्म होता है। यद्यपि जन्म चेतन पुरुष अर्थात् आत्मा का नहीं होता, क्योंकि वह नित्य है, स्थूलदेह का जन्म होता है, पर उसके साथ आत्मा का सम्बन्ध हुए विना वह हो नहीं सकता, इसलिये आत्मा में उसका व्यवहार किया जाता है। यदि आत्मा एक हो, तो एक जन्म हो जाने पर अन्य न होना चाहिये। तथा कोई जन्म उच्च अभिजन में होता है, कोई मध्यम में, कोई अधम में, यदि एक आत्मा हो तो यह संभव नहीं होसकता। इसलिये प्रत्येक जन्म के साथ पृथक् आत्मा स्वीकार करना पड़ता है।

सूत्र में 'आदि' पद से निम्नलिखित अन्य हेतुओं का संग्रह किया जाता है—मरण व्यवस्था, करणव्यवस्था, अयुगपत्प्रवृत्ति तथा त्रैगुण्यविपर्यय। जैसे जन्म की स्थिति पृथक्-पृथक् देखी जाती है, वैसे मरण की भी। किसी का बाप मरता है, किसी का बेटा, किसी का भाई, किसी की बहन, यदि एक आत्मा हो, तो पृथक् मृत्यु असंभव है, अथवा एक की मृत्यु होने पर सबकी मृत्यु हो जानी चाहिये। पर ऐसा होता नहीं, इसलिये प्रमाणित होता है, कि आत्मा अनेक हैं, उनके पृथक्-पृथक् जन्म अथवा मरण होते रहते हैं।

करणों की व्यवस्था से भी आत्मा का अनेकत्व सिद्ध होता है। चक्षु आदि तेरह करण बताये गये हैं, संसार में देखा जाता है, कोई बहरा है, कोई अन्धा है, कहीं सब करण ठीक हैं, कहीं अनेक करण दूषित हैं, यदि आत्मा सर्वत्र एक हो, तो एक के अन्धा होने पर सब अन्धे होजाने चाहियें और एक के बहरा होने पर सब बहरे। अथवा एक आत्मा होने पर कोई अन्धा या बहरा होना ही नहीं चाहिये। करणों की इसप्रकार की स्थिति का कारण आत्मा को अनेक मानने के अतिरिक्त और कोई हो नहीं सकता।

अयुगपत्प्रवृत्ति भी आत्मा की अनेकता को पुष्ट करती है। देखा जाता है, एक

की धर्म में प्रवृत्ति है, दूसरे की अधर्म में। एक शुभ की ओर जारहा है, दूसरा अशुभ की ओर। एक खारहा है, दूसरा सोरहा है, एक चल रहा है, दूसरा बैठा है। यदि आत्मा एक हो, तो सर्वत्र एक साथ एक जैसी प्रवृत्ति होनी चाहिये। या तो सब चलते हुए होने चाहिएं, या सब बैठे हुए। या सब सोते हुए होने चाहियें, या खाते हुए। पर ऐसा होना संभव नहीं, इसलिये आत्मा एक न होकर अनेक ही मानना चाहिये, जो प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् है, और उनकी अपनी-अपनी प्रवृत्ति हैं।

त्रैगुण्यविपर्यय से भी आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है। सत्त्व, रजस्, तमस् तीन गुण हैं। इनका प्रभाव चेतन आत्मा पर पड़ता है, जब वह इनके सम्पर्क में आता है। इसके अनुसार लोक में कोई सत्त्वप्रधान देखा जाता है, कोई रजःप्रधान, कोई तमःप्रधान। एक ब्राह्मण के तीन पुत्र हैं, एक ही भार्या से उत्पन्न हुए। एक उनमें सात्त्विक है, मेधावी है, पवित्र है, सुखी है। दूसरा राजस् है, दुर्मेधा है, दुःखी है। तीसरा तामस है, मूढ है, नास्तिक है। यदि एक ही आत्मा हो, तो एक के सात्त्विक, राजस अथवा तामस होने पर सबको वैसा ही होना चाहिये, उस स्थिति में त्रैगुण्य का विपर्यय होना संभव नहीं। परन्तु लोक में यह विपर्य्यय बराबर देखा जाता है, जो आत्मा के नानात्व को सिद्ध करता है।

शिष्य आशंका करता है, इन सब हेतुओं के आधार पर भी आत्मा की अनेकता सिद्ध नहीं की जासकती। क्योंकि एक आत्मा मानने पर जन्म मरण आदि की व्यवस्था उसकी भिन्न-भिन्न उपाधियों के आधार पर कल्पना की जासकती है। जन्म-मरण एक ही आत्मा की देह आदि उपाधियों में हुआ करते हैं, विविध प्रकार की प्रवृत्ति भी देह आदि में देखी जाती है, सात्त्विक राजस आदि भेद भी मुख्यतया देह आदि में संभव हैं। इसलिये एक आत्मा स्वीकार करने पर भी यह सब व्यवस्था ठीक रह सकती है।

गुरु समाधान करता है, यदि आत्मा एक माना जाय, और जन्म-मरण आदि की सब व्यवस्था भिन्न उपाधियों के आधार पर कल्पना की जाय, तो सबसे पहले यह समझने की आवश्यकता है, कि एक आत्मा की अनेक उपाधि होने का क्या कारण है? जब आत्मा अनेक माने जाते हैं, तो उनके अपने अपने विविध कर्म संस्कार वासना आदि के कारण विविध देह आदि का होना संभव होसकता है, परन्तु एक आत्मा मानने पर और उसके कर्म संस्कार वासना आदि एकरूप होने पर उसकी विविध उपाधियों की कल्पना किस आधार पर की जासकती है? फिर यह भी देखना है, कि आत्मा को चेतनस्वरूप माना जाता है, तब उसकी वे विविध उपाधि भी चेतन होंगी या अचेतन? यदि चेतन होंगी, तो वही आत्मा का स्वरूप होगया, फिर आत्मा एक कैसे रहा। यदि उनको अचेतन माना जाय, तो अचेतन में जितने भी कार्य सम्पन्न होते हैं, वे सब चेतन की प्रेरणा के विना असंभव हैं, तब एक आत्मा अनन्त उपाधियों में एकही क्षण में इतनी विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रेरक कैसे होगा?

इसके अतिरिक्त यह भी विचारना होगा, कि आत्मा संसार में भोग और अप-

वर्ग की सिद्धि के लिये उतरता है। यदि वह एक ही है, तो एक आत्मा के एक ही क्षण में अनन्त विविध भोगों की कल्पना नहीं की जासकती। फिर यह भी निश्चित है, कि अनादि काल से चले ससार में एक आत्मा तो मुक्त होगया होगा, वह जिस समय मुक्त हुआ, संसार उसी समय समाप्त होजाना चाहिये था, यदि एक ही आत्मा होता ! भोग और अपवर्ग भी यदि उपाधि में ही होते रहते हैं, ऐसा एकात्मवादी कहे; तो यही समझना होगा, कि वह मुह से कहता ही कहता है, कि आत्मा एक है, वस्तुतः उपाधि के नाम से वह आत्मा को अनेक ही मानता है। आत्मा को अनेक मानने पर तो अनादि काल से चले संसार में भी संसार का उच्छेद नहीं होता, क्योंकि आत्मा अनन्त हैं। मोक्ष को प्राप्त होते रहने पर भी जैसे आज तक संसार बना है, ऐसे ही आगे भी बने रहने की आशा है। किसी भी ऐसे तर्क या प्रमाण का अस्तित्व आज तक ज्ञात नहीं होसका, जिसके आधार पर संसार के निरवधिक उच्छेद की कभी कल्पना की जासके। इसप्रकार सांख्य में जीवात्मा की अनेकता या अनन्तता स्वीकार कीगई है।

## जीवात्मा मध्यस्थ है—

सांख्य में जीवात्मा की अन्य विशेषताओं के साथ उसे 'मध्यस्थ' बताया गया है। यद्यपि सांख्यषडध्यायी में इस पद का प्रयोग नहीं हुआ, पर सांख्यसप्तति [१९] में हुआ है। व्याख्याकारों ने इस पद का अर्थ 'उदासीन' किया है। जैसे विवदमान दो नागरिकों के विवाद को सुनकर निर्णय देनेवाला व्यक्ति दोनों में से किसी की ओर पक्षपात नहीं रखता, इसलिये 'मध्यस्थ' कहा जाता है। इसी भावना से आत्मा को इस विशेषता से युक्त बताया गया है। उदासीन पद का प्रयोग भी ऐसे ही अर्थ में किया जाता है, जहां परस्पर विरोधी दो स्थितियों में किसी की ओर विशेष अभिरुचि अथवा पक्षपात न रक्खा जाय, और साधारणरूप से दोनों ओर अभिरुचि का प्रदर्शन किया जाय। इसी आधार पर राजनीति में शत्रु मित्र और उदासीन पक्ष की कल्पना कीजाती है। जीवात्मा की इस विशेषता का विवेचन यहां इसी कारण करना आवश्यक समझा गया, कि जब वह भोक्ता साक्षी कर्त्ता द्रष्टा आदि बताया गया है, तब उसके 'मध्यस्थ' अथवा उदासीन बने रहने का स्वरूप क्या होसकता है, इसको अधिक स्पष्ट किया जासके।

सुख दुःख, राग द्वेष, हानि लाभ आदि समस्त द्वन्द्व गुणोत्पादित धर्म हैं। परन्तु इनकी अनुभूति आत्मा को होती है। एक सुखी व्यक्ति सुख की अनुभूति से तृप्ति का लाभ करता हुआ, सुख में राग-बुद्धि रखता है। इसीप्रकार दुःखी जन दुःख की अनुभूति से उसमें द्वेष-बुद्धि रखता है। उस समय वह 'मध्यस्थ' नहीं रहता। वह सुख दुःख आदि से प्रभावित होजाता है। आत्मा का स्वरूप सुख और दुःख नहीं है। क्योंकि ये द्वन्द्व त्रिगुणात्मक हैं, और आत्मा अत्रैगुण्य है। सुख और दुःख की अनुभूति होने पर भी जब राग द्वेष का उद्रेक न हो, अर्थात द्वन्द्वातीत, द्वन्द्वविनिर्मुक्त अथवा द्वन्द्वों से अप्रभावित आत्मा की स्थिति 'मध्यस्थ' बताई गई है। इसका निष्कर्ष यही है, कि आत्मा सुख दुःख की अनुभूति

का साक्षी होता हुआ भी सुख दुःख का स्वरूप नहीं है। इसलिये वह कर्त्ता द्रष्टा या अधिष्ठाता रहता हुआ भी 'मध्यस्थ' कहा जाता है।

इस पद में एक और भावना निहित है। यह सम्भव है, कि जीवात्मा को यह नाम इस कारण दिया गया हो, कि यह परमात्मा और प्रकृति इन दोनों के मध्य में अवस्थित रहता है। प्रकृति इसका साधन है, और परमात्मा लक्ष्य। समस्त सांसारिक भोग, प्रकृतिरूप साधनके द्वारा आत्मा उपलब्ध करता है। कभी इधर से खिन्न होकर वह परमात्मा की ओर पग बढ़ाता है। नियत समय पर पुनः प्रकृति की ओर उन्मुख होता है। यह क्रम आत्मा का बना रहता है। यह इसका अनादि अनन्त पथ है, जिस पर यह निरन्तर दौड लगाया करता है। इसके इस लम्बे मार्ग की दृष्टि से यह कहा जासकता है, कि इन दोनों में से किसी की ओर यह इतनी विशेष अभिरुचि नहीं रखता, कि इसे उसका पक्षपाती कहा जासके। यही इसके औदासीन्य का स्वरूप कहा जाना चाहिये। यह अपने ही इस रूप में मस्त रहता है।

## जीवात्मा केवल है—

आत्मा की जिस अवस्था का नाम मोक्ष अथवा अपवर्ग है, उसमें आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाना मुख्य है। चेतन और अचेतन का विवेक, अपवर्ग अवस्था का मूल है। इसीको दूसरे शब्दों में 'आत्मा का साक्षात्कार होना' कहा जाता है। इसप्रकार आत्म-ज्ञान होने पर परमात्मा का जान लेना या साक्षात्कार कर लेना अति सुसाध्य है। कारण यह है, कि इन दोनों का 'चेतन' स्वरूप समान है। सांख्य मे इस कारण आत्मज्ञान को प्रधानता दी गई है। इसका यह अभिप्राय कदापि न समझना चाहिये, कि यहां ईश्वर-ज्ञान की उपेक्षा की गई है। क्योंकि सांख्य में मोक्ष को स्वतः[१] ब्रह्मरूप कहा है। उपनिषदों में इसके स्पष्ट संकेत हैं, कि आत्म-ज्ञान होने पर ब्रह्म-ज्ञान ठीक ऐसे हो जाता है, जैसे एक प्रदीप प्रज्ज्वलित कर लेने पर उससे दूसरा प्रदीप अनायास प्रज्ज्वलित कर लिया जाता है[२]। आत्म-ज्ञान होजाने पर जीवात्मा की यह अवस्था, जब उसका प्रकृति के साथ सम्पर्क नहीं रहता, कैवल्य कही जाती है, और आत्मा केवल।

यह मोक्ष अथवा कैवल्य आत्मा का होता है, अन्य प्रकृति आदि का नहीं। मध्यकाल के सांख्य-व्याख्याकारों ने कुछ इन भावनाओं से प्रभावित होकर कि यदि आत्मा में सुख दुःख आदि की अनुभूति को माना जायेगा; अथवा उसे कर्त्ता माना जायेगा, तो वह

१—समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता। सांख्य० ५।७६॥

२—यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। श्वेता० २।१५॥

गणः षोडशकः सांख्ये विस्तरेण प्रकीर्त्तितः। चतुर्विंशतितत्त्वानि पुरुषः पञ्चविंशकः॥ देहीति प्रोच्यते देहे स चात्मानं हि पश्यति। विदन्ति परमात्मानं षष्ठं तं विंशतेः परम्॥ [षड्विंशमित्यर्थः]

स्कन्द०, प्रभास० वस्त्रापथ माहात्म्य (२), १८।१५-१६॥

विकारी होजायेगा, आत्मा की प्रत्येक विशेषता को प्रकृति में निरूपण करने का प्रयत्न किया है, और अपने विचार में आत्मा को विकारी होने से बचाया है। इसप्रकार मोक्ष भी प्रकृति का बताया गया है। पर वस्तुस्थिति यह है, कि आत्मा का स्वरूप चेतन है। जबतक आत्मा उसका परित्याग न करे, तबतक उसमें किसी तरह के विकार की कल्पना नहीं की जासकती। सुख दुःख आदि की अनुभूति तो चेतन का स्वरूप है। आत्मा के कर्त्तृत्व के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। सांख्य में 'कर्त्तृ' पद परिणामी के अर्थ में पारिभाषिक है। सांख्य में आत्मा के ऐसे ही कर्त्तृत्व का निषेध किया गया है, क्योंकि आत्मा चेतन होने के कारण अपरिणामी है। पर अधिष्ठातृत्वरूप विशेषता तो आत्मा में रहती ही है, और उसके ऐसे कर्त्तृत्व का निषेध नहीं किया जासकता। इस-प्रकार आत्मा में इन विशेषताओं के रहने पर भी उसमें किसी तरह के विकार की कल्पना नहीं की जासकती। सांख्यसूत्रों में यह स्पष्ट है, कि आत्मा का बन्धन, और आत्मा का ही मोक्ष होता है[1]। आत्मा की यही अवस्था 'कैवल्य' है, इसी आधार पर आत्मा को 'केवल' कहा है, क्योंकि मोक्ष में बुद्धि आदि समस्त प्राकृतिक साधन आत्मा के लिये अनपेक्षित रहते हैं। आत्मा की ये सब विशेषता जिनका अभी तक वर्णन किया गया है, सदा आत्मा में रहती हैं, पर अपने-अपने साधन उपस्थित होने पर उनका उदय हुआ करता है।

**उपसंहार—**

प्रस्तुत प्रकरण में पुरुष अर्थात् चेतन तत्त्व का सांख्यदृष्टि से वर्णन किया गया है। मूलरूप में चेतन अचेतन दो वास्तविक तत्त्व हैं, चेतन का दो वर्ग में विवेचन किया गया—ईश्वर और जीवात्मा। पहला समस्त विश्व का साक्षी नियन्ता अधिष्ठाता प्रेर-यिता है, और एक है, जबकि दूसरा अनेक अर्थात् संख्या में अनन्त है, तथा अपनी उन विशेषताओं को देहमात्र में सीमित रख सकता है, इसलिये अल्पज्ञ अल्पशक्ति तथा परिच्छिन्न है। अब आगे अचेतन का निरूपण किया जायगा।

१—सांख्य० ३।७३

## द्वितीय अध्याय

# प्रकृति

**मूलतत्त्व के नाम**—सांख्यदृष्टि से मूलरूप में दो प्रकार के तत्त्व स्वीकार किये गये हैं, एक चेतन और दूसरा अचेतन। चेतन तत्त्व का विवेचन प्रथम प्रकरण में किया जाचुका है। इस प्रकरण में अचेतन तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा। सांख्य में इस का नाम 'प्रकृति' अथवा 'प्रधान' है। अचेतन तत्त्व के ये दोनों नाम सांख्य के किन्हीं विशेष सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित किये गये हैं। यह समस्त जगत् सांख्यधारणा के अनुसार अचेतन तत्त्व का विकार अथवा परिणाम है। जो कुछ संसार आज हमें दीख रहा है, वह अनादि काल से अनन्त काल तक सदा ऐसा ही बना रहता है, यह बात नहीं है। कोई एक स्थिति ऐसी अवश्य आती है, जब दृश्यमानरूप में इसका प्रारम्भ हुआ था, उसके ठीक पहले इसकी यह अवस्था न थी। वर्त्तमान स्थिति के अनन्तर भी एक ऐसा अवसर आयगा जब फिर इसकी यह अवस्था न रहेगी। जगत् की इन दोनों अवस्थाओं में पहली को 'सर्ग' और दूसरी को 'प्रलय' कहा जाता है। अचेतन तत्त्व के लिये सांख्य में जिन दो नामों का अधिक व्यवहार किया गया है, वे जगत् की इन्हीं दो अवस्थाओं को अभिलक्षित करते हैं।

**प्रकृति पद का अर्थ**—'प्रकृति' पद का धातु एवं प्रत्यय के आधार पर अर्थ होगा जिस साधन से यह समस्त जगत् उत्पन्न किया जाता है। अचेतन तत्त्व समस्त जगत् का मूल उपादान है–'प्रकर्षेण क्रियते सर्वं जगदनया इति प्रकृतिः। मूल अचेतन तत्त्व के प्रकृति नाम का आधार सांख्य का यही सिद्धान्त है। यद्यपि जब 'प्रकृति' पद का प्रयोग, मूल-तत्त्वरूप अर्थ का द्योतन करने के लिये किया जाता है, तब मूलतत्त्वसम्बन्धी सब भावनाओं का उसमें समावेश होता है, तथापि विशेषरूप से इसमें सर्ग की भावना प्रस्फुटित होती है।

**प्रधान पद का अर्थ**—इसीप्रकार 'प्रधान' पद मुख्यरूप से जगत् की प्रलय अवस्था की ओर संकेत करता है–प्रकर्षेण धीयते अन्तर्लीयते सर्वं जगत् यस्मिंस्तत्'। जिस में समस्त जगत् अच्छी तरह लीन होजाता है, वह 'प्रधान' है। फिर भी शास्त्र में मूल-तत्त्वसम्बन्धी समस्त भावनाओं को इसमें अन्तर्हित समझते हुए इस पद का प्रयोग होता है। फलतः मूल अचेतन तत्त्व के ये दोनों नाम विशेष सिद्धान्तों के आधार पर रक्खे जाने पर भी इनमें प्रत्येक का प्रयोग अर्थ के पूर्णस्वरूप को प्रकट करता है। जगत् की दृश्यमान

अवस्था का आधार क्योंकि सर्ग है, और उसका द्योतन प्रकृति पद से होता है, इस विशेषता के कारण हमने इस प्रकरण का यही नाम रख दिया है। यद्यपि सांख्य ग्रन्थों में प्रकृति की विभिन्न विशेषताओं के आधार पर इसके अन्य अनेक नामो का उल्लेख हुआ है, जैसे—परिणामिनी, प्रसवधर्मिणी, तमस्, अव्यक्त, अक्षर, ब्रह्म, माया, अविद्या, शक्ति, अजा, क्षेत्र आदि, तथापि मुख्यरूप से हमने एक नाम चुन लिया है। फिर केवल प्रस्तुत प्रकरण के नामकरण में सब विशेषताओं को प्रकट करने की आवश्यकता भी नहीं। ग्रन्थ में प्रसंगवश इन सब का अपेक्षितरूप में जहां तहां उल्लेख आगया है।

**जगत् का मूल उपादान**—जगत् का मूल उपादान अचेतन है, यह सांख्य का परम सिद्धान्त है,। चेतन तत्त्व, जगत् का उपादान नहीं होसकता, इसका कुछ वर्णन प्रसंगवश प्रथम प्रकरण में आचुका है। अचेतन तत्त्व जगत् का उपादान क्यों होसकता है ? इसका विशेषरूप से यहां विवेचन करना आवश्यक है। जगत् का उपादान चेतन है, अथवा अचेतन ; इसका निर्णय करने के लिये प्रथम यह जानना चाहिये कि स्वयं जगत् का स्वरूप क्या है ? संसार में दो प्रकार के ऐसे तत्त्व अनुभव में आते हैं, जिनको एक नहीं कहा जासकता। वे परस्पर इतने विभिन्न और विलक्षण हैं, जैसे प्रकाश और अन्धकार। हम उनमें से एक को चेतन और दूसरे को अचेतन अथवा जड़ कहते हैं। चेतन के जो चिह्न अथवा लक्षण विद्वानों ने निर्धारित किये है, उनका जहां सर्वथा अभाव है, उन तत्त्वों को अचेतन अथवा जड़ कहा जाता है। इसप्रकार जगत् में मूलरूप से दो वर्ग अथवा दो भिन्न जाति के तत्त्वों की उपलब्धि होती है। इनमें से चेतन तत्त्व के सम्बन्ध में आवश्यक वर्णन प्रथम प्रकरण में कर दिये गये हैं, शेष जड़ जगत् के उपादान तत्त्व को खोज निकालने के लिये यह प्रयास है।

**मूल उपादान चेतन**—यदि यह बात स्पष्ट होजाती है, कि आत्मा के अतिरिक्त शेष समस्त जगत् जड़ है, तब हमें उसके ऐसे ही उपादान को मानने के लिये झुकना पड़ेगा। पर इसके साथ एक अन्य विचारधारा है, जहां यह स्वीकार किया गया है, कि चेतन और अचेतन मूलरूप से सर्वथा दो भिन्न वर्ग नहीं है। चेतन, अचेतन के रूप में अथवा अचेतन, चेतन के रूप में परिवर्तित होसकते हैं। इसका फल यह होता है, कि मूल में केवल एक तत्त्व मानने की आवश्यकता है, या वस्तुस्थिति में एकमात्र तत्त्व मूलरूप में होना चाहिये। इस आधार को लेकर दार्शनिक विद्वानों के दो संघ संसार में देखे जाते हैं।

एक का कहना है, कि मूलतत्त्व चेतन है, वही इस विलक्षण जगत् के रूप में परिणत होता या भासता है। यह विचारधारा भारतीय दर्शनशास्त्र में वेदान्त एवं अनेक उपनिषदों की समझी जाती है। इस रूप में वेदान्त और उपनिषदों की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या भगवान् आदि शंकराचार्य ने की है। यह नहीं कहा जासकता, कि शंकराचार्य से पहले वेदान्त और उपनिषदों की इसप्रकार की व्याख्या नहीं की जाती थीं, निश्चितरूप से यह

विचारपरम्परा पर्याप्त प्राचीन है, पर इसके परिमार्जित असन्दिग्ध उल्लेख उतने प्राचीन आज उपलब्ध नहीं हैं। अत एव उक्त विचारधारा के साथ आचार्य शंकर का नाम जुड़ गया है। इसलिये प्रस्तुत ग्रन्थ में यदि कहीं प्रसंगवश उक्त विचारों को शंकराचार्य के नाम के साथ प्रस्तुत कर दिया जाय तो उस का यह अभिप्राय न समझना चाहिये, कि भगवान् शंकर इनका उपज्ञ है। अथवा उससे पूर्व इन विचारों का सर्वथा अस्तित्व न था।

**मूल उपादान अचेतन**—विद्वानों का दूसरा संघ यह कहता है, कि मूलतत्त्व अचेतन अथवा जड़ है। यह विचारधारा पहली विचारधारा से प्राचीन है। भारतीय प्राचीन इतिहास से यह ज्ञात होता है, कि इस विचारधारा का आदि प्रवर्त्तक बृहस्पति था। उसने समस्त चेतनाचेतन जगत् के मूल में एकमात्र तत्त्व को स्वीकार किया है, और वह जड़ अथवा अचेतन है, उसका नाम प्रकृति अथवा अधिभूत है। वही तत्त्व किसी अवस्था में आकर एक ऐसे विशेष अस्तित्त्व को प्राप्त कर लेता है, जो उसकी पहली वास्तविक अवस्था से अतिविलक्षण प्रतीत होता है। अधिभूत की उसी अवस्था के चेतन, अध्यात्म आदि नाम रख लिये जाते हैं। पहले विचार में जिसप्रकार चेतन, मूल एवं वास्तविक तत्त्व है, और यह अचेतन उसी का अवास्तविक विनाशी विकार अथवा परिणाम समझा जाता है, इसीप्रकार दूसरे विचार में मूल वास्तविक तत्त्व जड़ है, उसका एक विशेष परिणाम अथवा विकास या विकार चेतन है, जो कुछ काल तक टिमटिमाकर बुझजाता है, और अपनी इस अवास्तविक अवस्था को छोड़कर फिर उसी मूल वास्तविक अवस्था जड़रूप में चला जाता है। इसप्रकार परस्पर विलक्षण इन दोनों मान्यताओं को स्वीकार करने वाले विद्वान् एक दूसरे से सर्वथा विपरीत अर्थ को प्रतिपादन करते हुए देखे जाते हैं।

**मूल उपादान की दृष्टि से चेतन-अचेतनवाद एक स्तर पर**—तत्त्वानुसन्धान की इन दोनों विचारसरणियों में जब गहराई से पैठा जाता है, तो यह स्पष्ट हो आता है, कि इन दोनों की विभिन्नता ऊपर से प्रतीत होने वाली है, वस्तुतः इन दोनों का आधार एक है, और वह यह है, कि समस्त चेतन अचेतन जगत् का मूलतत्त्व एक है। यह आगे का विचार है, कि उस मूलतत्त्व का स्वरूप क्या माना जाय, अथवा मूलतत्त्व क्या होसकता है? वस्तुतः उसका स्वरूप तो एक ही होसकता है, केवल हमारे विभिन्नरूप में विचार करने से वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आसकता। हां! हम उसके नाम अलग अलग अवश्य रख सकते हैं, और उन नामों का आधार हमारे विचारों की विलक्षणता समझा जासकता है वस्तु की विभिन्नता नहीं। थोड़ी देर के लिये मान लीजिये कि हमने उस मूलतत्त्व को 'चेतन' नाम दे दिया है। चेतनवादी विद्वानों ने उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये जो निष्कर्ष मालूम किये हैं, उनके आधार पर यही कहा जासकता है, कि वह मूलतत्त्व, चेतन और अचेतन समस्त जगत् का उपादान है। मूलतत्त्व का यही स्वरूप दूसरे संघ के विद्वान् कहते हैं। उनकी यही धारणा है, कि इस समस्त चेतन-अचेतन जगत् का

एक ही मूल उपादान है, और वास्तव में वह जड है। इस विवेचना से यह स्पष्ट होजाता है, कि पहले संघ के विद्वानों को 'चेतनवादी' या 'आत्मवादी' केवल इस आधार पर मान लिया जाता है, कि उन्होंने मूलतत्त्व का नाम 'चेतन' अथवा 'आत्मा' रख लिया है। इसी-प्रकार दूसरे संघ के विद्वानों को जो 'अनात्मवादी' अथवा 'अधिभूतवादी' या 'जड़वादी' कहा जाता है, उसका केवल यह कारण है, कि उन्होंने मूलतत्त्व का नाम 'जड़' अथवा 'अनात्मा' बताया है। उसके वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में दोनों विचारों के अनुसार कोई विभेद नहीं कहा जासकता, जब कि दोनों यह कहते हैं, कि चेतन और अचेतन समस्त जगत् उस एक ही मूलतत्त्व का विकार या परिणाम है। चेतन, अचेतनरूप में अथवा अचेतन, चेतनरूप में परिणत होजाना है, ये दोनों कथन उक्त विचारधाराओं को एक स्तर पर ला खड़ा करते हैं। ऐसी स्थिति में इन [विचारधाराओं] को परस्पर इतना विलक्षण नहीं माना जासकता, जैसी कि ये आपाततः कहने में प्रतीत होती हैं।

**चेतन-अचेतन दोनों वास्तविक**—इस प्रसंग में वास्तविक विवेचनीय तत्त्व यह है, कि इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों का, जो चेतन और अचेतन को विभिन्नरूप में उप-स्थित करती हैं, क्या यह विभेद वास्तविक है? अर्थात् इन दोनों प्रकार के तत्त्वों का मूल-रूप में वास्तविक अस्तित्व है? अथवा ये किसी एक ही तत्त्व के दो रूप हैं, जो विभिन्न अनुभूतियों के आधार हैं? प्रथम प्रकरण में संक्षेपतः इसका विवेचन किया गया है, कि चेतन, अचेतन के रूप में, अथवा अचेतन, चेतन के रूप में परिवर्तित नहीं किये जासकते। तब मूल-रूप में दोनों तत्त्वों का पृथक् वास्तविक अस्तित्व स्वीकार करना होगा। कपिल ने इसी वास्तविकता को सांख्यशास्त्रद्वारा स्पष्टरूप में प्रतिपादित किया है। वह चेतन और अचेतन के अस्तित्व को एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और अपने स्वरूप में स्वतन्त्र स्वीकार करता है। अचेतन तत्त्व, परिणत अथवा विकृत होता रहता है, पर वह अपने अचेतन स्वरूप का परित्याग कभी नहीं कर सकता। चेतन में तो इसप्रकार के विकार या परि-णाम की कल्पना भी नहीं की जासकती, वह सदा एकरूप रहता है। वह अपरिणामी तत्त्व है। चेतन वर्ग में जीवात्मा को जो सुख दुःख आदि का अनुभव होता है, उस से आत्मा में किसी प्रकार के विकार की कल्पना नहीं की जासकती। प्रत्येक प्रकार की अनुभूति उसका स्वरूप है, यही तो चेतन की वास्तविकता है। सुख दुःख आदि की अनुभूति चेतन के स्व-रूप में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न करती, वह तो स्वयं उसका रूप है, उसमें विकार क्या उत्पन्न करेगी। इसको ऐसे भी कह सकते हैं, कि अनुभूति चेतन के अस्तित्व की साधक कही जासकती है, बाधक नहीं।

**चेतन का चेतन परिणाम**—यह देखा जाता है, कि अचेतन तत्त्व परिणामी है। वह अपने पहले रूप से रूपान्तर में विकृत या परिणत होता रहता है, फिर भी यह सत्य है कि वह अपने वास्तविक मूलरूप अचेतनता या कारणरूपता का परित्याग नहीं करता। क्या इसीतरह चेतन का चेतनरूप परिणाम नहीं माना जासकता? यह भले ही ठीक हो, कि

चेतन अपने स्वरूप को कभी नहीं छोड़ेगा, अर्थात् अचेतनरूप कभी न होगा, जैसे अचेतन कभी चेतनरूप नहीं होपाता; परन्तु चेतन का चेतनरूप परिणाम होने में क्यों कोई बाधा होनी चाहिये। इसप्रकार के परिणाम का स्पष्टीकरण उस समय होजाता है, जब चेतन के साथ विविध भावनाओं का अनुभव होता है, और ऐसा अनुभव एक दूसरे के अनन्तर बराबर होता रहता है। कभी चेतन अपने-आपको दुःखी अनुभव करता है, कभी सुखी। इसीप्रकार कभी राग, कभी द्वेष, कभी अभिमान, कभी चिन्ता, कभी निश्चिन्तता आदि भावों का अनुभव आत्मा को हुआ करता है। अभिप्राय यह है, कि सुख दुःख आदि की अनुभूति के समय चेतन का उस रूपमें परिणाम होता रहता है, ऐसा क्यों न मान लिया जाय? अथवा यह कहना चाहिये, कि सुख दुःख आदि की अनुभूति उस रूप में चेतन का परिणाम ही है। यद्यपि उस अवस्था में वह अपने चेतनस्वरूप का परित्याग नहीं करता।

वस्तुतः चेतन के सम्बन्ध में ऐसा विवेचन न प्रामाणिक है, और न वस्तुस्थिति को स्पष्ट करता है। सांख्यसिद्धान्त के अनुसार सुख दुःख आदि अचेतन प्रकृति के स्वरूप अथवा विकार हैं, यदि इनकी अनुभूति के समय चेतन तत्त्व का इसी आकार या इसी रूप में परिणाम मान लिया जाय, तो चेतन को परिणामी अर्थात् अचेतन होने से कैसे बचाया जासकता है? वस्तु-स्थिति यह है, कि सुख दुःख आदि की अनुभूति के काल में आत्मा का सुखादि के रूप में परिणाम नहीं होता, प्रत्युत सुख दुःखादिरूप में परिणत हुई बुद्धि, चेतन आत्मा में उपस्थित हो, आत्मा की सुखादिविषयक अनुभूति का साधन बनती है। सुख दुःखादिरूप में इसप्रकार बुद्धि का परिणाम होना, और आत्मा में उसे उपस्थित करना आदि समस्त क्रियाकलाप चेतन के सम्पर्क की अपेक्षा रखता है। इन दोनों का सहयोग संसार के समस्त व्यवहार एवं क्रियाकलाप की धुरा है। जब तक यह सहयोग है, संसार चलता है, जब चेतन आत्मा स्वरूप का साक्षात्कार कर पाता है, तब उस आत्मा के लिये यह क्रम रुद्ध होजाता है। फलतः चेतन आत्मा में सुख दुःखादि की अनुभूति होने पर उस में किसी प्रकार के विकार या परिणाम की कल्पना नहीं की जासकती। चेतन का चेतनरूप परिणाम कहना, जबकि उसमें किसीप्रकार के रूपान्तर की संभावना नहीं होसकती, सर्वथा व्यर्थ है, शब्द का प्रयोगमात्र है, इससे किसी अर्थ का प्रकाश नहीं होता। ऐसी स्थिति में कोई ऐसा साधक प्रमाण उपस्थित नहीं किया जासकता, जो चेतन का चेतनरूप में परिणत होना प्रतिपादित कर सके।

**एकमात्र मूलतत्त्व उभयरूप नहीं**—इस स्थिति को मान लेने पर, कि संसार में दो विलक्षण प्रकार के तत्त्वों की अनुभूति होती है, निर्बाधरूप में यह नहीं कहा जा-सकता, कि मूलरूप में भी इन दोनों का अस्तित्व है; क्योंकि एक मूलतत्त्व दोनों विल-क्षणरूपों में प्रतीत हो सकता है, तब मूल में एकमात्र तत्त्व माना जाना चाहिये। इस बात का निर्देश किया जाचुका है, कि इस सिद्धान्त के आधार पर संसार में विद्वानों की दो विभिन्न विचारधारा अतिप्राचीन काल से प्रचलित हैं। कुछ विद्वान् मूलतत्त्व का स्वरूप

चेतन बताते हैं, जबकि दूसरे उसी मूलतत्त्व को अचेतन अथवा जड़ कहते हैं। पर यह निश्चित है, कि वह एक मूलतत्त्व जड़ और चेतन दोनों रूप नहीं होसकता। वे विद्वान् स्वयं ऐसा नहीं मानते। प्रत्युत उस तत्त्व के मूलरूप को एक मानकर अन्य स्थिति को उसका विकार या परिणाम बताते हैं। केवलात्मवादी अथवा केवलचेतनवादी मूलतत्त्व को केवल चेतनस्वरूप मानकर समस्त जड़ जगत् को उसी का विकार कहता है, जब कि भौतिकवादी मूलतत्त्व को जड़ बताकर संसार में प्रतीयमान चेतन अनुभूति को भी उसी का विकार अथवा विकास प्रतिपादित करता है।

**मूल के उभयरूपकथन में आंशिक सत्य की कल्पना**—इस स्थिति के सामञ्जस्य के लिये दो बातें सन्मुख आती हैं, या तो इन विचारों की आंशिक सत्यता मानी जाय, अन्यथा दोनों में से कोई एक अवश्य असत्य होगा। समस्त प्राकृत जगत् जड़ तत्त्व का विकार है, यह ठीक हैं। पर यह अनुभूयमान चेतना जड़ का विकार है, इसकी वास्तविकता को भौतिकवादी अभी तक स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। उनका यह कहना, कि चेतना के अंश जड़ तत्त्वों में विद्यमान रहते हैं, अथवा अनन्त जड़ प्रकृति के गर्भ में चेतन का भण्डार भरा पड़ा है, और अवसर पाकर प्रकट रूप में आजाता है; इस बात को स्पष्ट करता है, कि जड़ तत्त्व स्वयं चेतन का स्वरूप ग्रहण नहीं करता, प्रत्युत उसकी सत्ता प्रकृति के समान उससे पृथक् एवं स्वतंत्ररूप में सदा बनी रहती है। आज तक किसी आधिभौतिकवादी वैज्ञानिक ने इसप्रकार के आधार प्रस्तुत नहीं कर पाये, जिनसे यह स्पष्ट किया जासके, कि जड़तत्त्व चेतन का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। इसलिये आधिभौतिकवाद का इतना अंश सत्य है, कि समस्त जड़ जगत् का मूल जड़ प्रकृति है। चेतन तत्त्व, जड़ का विकार नहीं है, इसका अधिक विवेचन प्रथम प्रकरण में आ गया है।

इसीप्रकार केवलचेतनवाद में, चेतन के अस्तित्व पर अधिक बल देने का यह कारण प्रतीत होता है, कि चेतन के विना अकेला अचेतन किसी प्रकार की प्रवृत्ति कर नहीं सकता। उसी के आश्रय अथवा प्रेरणा में प्रकृति के समस्त विकार हुआ करते हैं, इतने अंश में इस विचार को वास्तविक कहा जासकता है। पर चेतनवादी चेतन से अतिरिक्त तत्त्व की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सके हैं। माया नाम से उन विद्वानों ने प्रकृतिरूप जड़ उपादान के अस्तित्व को स्वीकार किया है। उनके विचार से माया एक ऐसा तत्त्व है, जो चेतन ब्रह्म का स्वरूप नहीं होसकता। चेतन का जो वर्णन उन विद्वानों ने किया है, वही वर्णन, वही स्वरूप माया का नहीं है। फलतः उनके विचार के अनुसार भी ये दोनों परस्पर विलक्षण तत्त्व हैं। प्रसंगवश प्रथम प्रकरण में इसका थोड़ा विवेचन किया गया है, और विस्तार के साथ आगे स्पष्ट किया जायगा, कि अचेतन मूलतत्त्व चेतन का विकार नहीं माना जासकता।

**मूल में द्विविध तत्त्व क्यों**—कपिल की विचारधारा, जो वास्तविक तत्त्व-निर्देश का एक मूलभत आधार है, केवल इसलिये सच नहीं मानी जानी चाहिये, कि उपर्युक्त

दोनों परस्पर विरोधी विचारों में से किसी एक को असंदिग्धरूप में स्वीकार किया जाना अशक्य है, अतः किसी मध्यमार्ग का आश्रय लेना आवश्यक होगा। प्रत्युत चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के तत्त्वों के अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का यह एक रहस्य है, जिसको उद्घाटन करने के स्पष्ट संकेत कपिल ने किये हैं। जब परस्पर विरोधी उपर्युक्त दोनों विचारधारा एक दूसरे का प्रत्याख्यान करती हैं, तब उनसे दो परिणामों पर पहुंचा जा-सकता है। प्रथम तो यह कि दोनों का एक दूसरे के प्रत्याख्यान द्वारा, वास्तविकता का शून्य में पर्यवसान मान लिया जाय, और यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय, कि किसी तत्त्व का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। परन्तु संसार में होनेवाली वास्तविक अनुभूतियों के परि-णाम इसके विपरीत जाते हैं, इसलिये अन्धानुकरणरूप मे इस स्थिति का स्वीकार कर लेना वास्तविकता से दूर जा पड़ना है, तब दूसरा परिणाम यह होसकता है, कि मूल-भूत तत्त्वों की स्वीकृति में उनके पारस्परिक विरोध की कल्पना का अवसर ही न हो। दार्शनिक विचारधारा के आदि उदयकाल में कपिल ने इस वास्तविकता को गहराई तक समझा, और उसके फलस्वरूप प्रतिपादन किया, कि चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के तत्त्वों का वास्तविक अस्तित्व परस्पर विरोधी न होकर सहानुभूतिपूर्ण रहता है, तथा इसी सहयोग के आधार पर समस्त संसारचक्र चालू है। इसप्रकार समूचे जड़ जगत् का मूल उपादान जड़ प्रकृति है, और उसके सहयोग में चेतन अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, यह अधिक युक्तियुक्त है। यह कहना कठिन एवं अप्रामाणिक होगा, कि एक ही जड़ अथवा चेतनतत्त्व, समस्त चेतन-अचेतन जगत् का मूल है।

**प्रकृति किसी का विकार नहीं**—सांख्य समस्त जड़ जगत् का मूल उपादान प्रकृति को कहता है, यह सब प्रकृति का कार्य है, पर वह किसी का कार्य नहीं है। वह केवल प्रकृति है, विकृति नहीं। जब वह किसी का विकार नहीं, तब वह चेतन का भी विकार क्यों हो? उपनिषदों के कतिपय स्थलों में इसप्रकार के वाक्य उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जाता है, कि समस्त जड़ जगत् का मूल उपादान चेतन ब्रह्म माना जाना चाहिये। उपनिषद् वाक्यों के इसप्रकार के व्याख्यान भगवान् शंकराचार्य ने बहुत आरभटी के साथ प्रस्तुत किये हैं। उनमें से अनेक स्थलों का विवेचन 'पुरुष' नामक प्रथम प्रकरण में कर दिया गया है। इस समय हम उन उपनिषद् वाक्यों के व्याख्यानों की विवे-चना में नहीं जाना चाहते, प्रत्युत शंकर तथा अन्य आचार्यों ने चेतन ब्रह्म से जगत् की रचना का जो क्रम प्रदर्शित किया है, उससे ही यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं, कि वे अचे-तन तत्त्व के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं कर सके, और न वे उसको चेतन का विकार सिद्ध करने में सफल हो सके। इसके विवेचन के लिये हमें मूल उपादान तक पहुंचना होगा।

वेदान्त का वास्तविक विचार ऐसा हो, या न हो, इस समय हमें उसकी अपेक्षा नहीं। भगवान् शंकर ने उसकी जिसप्रकार व्याख्या की है, और जिसके आधार पर जड़ जगत् को चेतन का विकार बताया जाता है, उसी के अनुसार हम यह विवेचन प्रस्तुत करने

लगे हैं। चेतन से जगत्सर्ग का वर्णन करते हुए वेदान्ती विद्वानों ने एक चेतन के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों के अस्तित्व को उस समय स्वीकार किया है।

**छह अनादि पदार्थ**—आधुनिक वेदान्त ग्रन्थों में छह अनादि पदार्थों के अस्तित्व को प्रतिपादित किया गया है—ईश्वर, जीव, ब्रह्म [विशुद्ध चेतन], जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या, अविद्या और चेतन का योग। इनमें से कारणोपाधि चेतन ईश्वर है, कार्योपाधि चेतन जीव तथा निरुपाधि चेतन अर्थात् उपाधिरहित शुद्ध चेतन ब्रह्म है[1]।

यद्यपि वेदान्त की यह स्थापना अनेक दोषों से पूर्ण है, जिनको आगे स्पष्ट किया जायगा; परन्तु उक्तरूप में इसे स्वीकार कर लेने पर केवल चेतन समस्त जगत् का उपादान है, यह कैसे सिद्ध होता है? सबसे पहली बात यह है, कि अनादि वस्तु किसी का विकार कैसे मानी जासकती है? यदि वस्तुतः वह किसी का विकार है, तो उसको अनादि बताना सर्वथा असंगत है। फिर यह भी इससे स्पष्ट होता है, कि अविद्या चेतन से अतिरिक्त वस्तु है, और वह अनादि है, तब वह चेतन का विकार कैसे? अविद्या और चेतन का योग अर्थात् परस्पर सम्बन्ध भी अनादि है, तब इस दृष्टि से अविद्या को चेतन का विकार नहीं कहा जासकता। दोनों अनादि हैं, कौन किसका विकार हो? अविद्या का अर्थ माया अथवा अचेतन है। यही प्रकृति का रूप है। इसप्रकार से अचेतन प्रकृति का अनादि अस्तित्व उन विद्वानों ने स्वीकार किया है।

**छह अनादि का विवेचन**—अब आप इस स्थापना के प्रत्येक अनादि तत्त्व का विवेचन कीजिये, आपको इसके दोषों का स्पष्टीकरण होजायगा। कारणोपाधि ईश्वर है, जब शुद्ध चेतन कारणरूप उपाधि से उपहित होता है, तब वह 'ईश्वर' कहा जाता है। इस कथन में चेतन से अतिरिक्त एक अन्य कारणतत्त्व को स्वीकार किया गया है। वह कारण तत्त्व क्या है? क्या वह अविद्या माया अथवा प्रकृति नहीं है? अवश्य ही उससे अतिरिक्त और किसी कारणतत्त्व की कल्पना नहीं की जासकती। इसप्रकार अनादि शद्ध चेतन ब्रह्म के उपाधिरूप में अनादि अचेतन अविद्या अर्थात् प्रकृति का अस्तित्व उन विद्वानों ने स्वीकार किया है। तब केवल चेतन एक तत्त्व, समस्त चेतनाचेतन का उपादान है, यह सिद्धान्त कैसे स्थिर रह सकता है? इसके अतिरिक्त यदि शुद्धचेतन कारणोपाधि से उपहित होने पर 'ईश्वर' कहाता है, तो शुद्धचेतन की अनुपहित अवस्था में 'ईश्वर' का अस्तित्व नहीं होगा, तब वह अनादि कैसे? छह अनादि में ईश्वर की गणना असंगत है।

आगे जीव के स्वरूप में इससे अधिक आपत्तिजनक स्थिति है। वह शुद्धचेतन

---

**१—जीवेशौ च विशुद्धा चिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥ [अभियुक्तोक्तिरियम्, इति अद्वैतसिद्धौ मधुसूदनः]**

**कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः। कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥ [शुकरहस्योपनिषद् ३।१२]**

ब्रह्म जब कार्यरूप उपाधि से उपहित होता है, तब वह 'जीव' कहा जाता है। यह कार्यरूप उपाधि क्या है ? इसका निर्णय उन्हीं विद्वानों ने किया है, कि यह अन्तःकरण है। अन्तःकरण–मन, बुद्धि, चित्त अहंकार का नाम है, अथवा इसप्रकार समझना चाहिये, कि एक अन्तःकरण विविध क्रियाओं का जनक होने के कारण उक्त चार नामों से व्यवहृत होता है। प्रत्येक अवस्था में विचारणीय यह है, कि अन्तःकरण कार्य है, तथा जब शुद्ध चेतन इस कार्य से उपहित होता है. तब वह जीव कहा जाता है। यदि उपर्युक्त स्थापना के अनुसार जीव अनादि है, तब चेतन की उपाधि-कार्य को भी अनादि मानना होगा। एक वस्तु को कार्य मानना और उसको फिर अनादि बताना ऐसा है, जैसे कोई बोलते हुए कहे कि मेरे मुख में जिह्वा नहीं है। यदि यह कहा जाय, कि वस्तुतः वह जीव शुद्धचेतन का ही तो रूप है, और वह [शुद्धचेतन] अनादि है, तब जीव के अनादि मानने में क्या दोष है ? वस्तुतः उक्त प्रक्रिया में चेतन, उसी समय जीव है, जब वह अन्तःकरणरूप कार्य-उपाधि से उपहित हो, ऐसी अवस्था में जीव की स्थिति को अनादि कैसे कहा जासकता है ? अन्यथा उपाधिरूप कार्य की अनादिता से भी नकार नहीं किया जासकेगा।

**मूल में केवल द्विविध तत्त्व**—जिन छह पदार्थों को अनादि बताया गया है, यदि थोड़ी गम्भीरता से हम उनपर दृष्टिपात करें, तो स्पष्ट होजायगा, कि यहां मूलभूत तत्त्व केवल दो हैं–एक चेतन और दूसरा अविद्या अर्थात् अचेतन। छह की गणना में अन्तिम पदार्थ 'अविद्या और चेतन का योग' वस्तुतः कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। अविद्या पद अचेतन मूल उपादान 'प्रकृति' का निर्देश करता है। अचेतन प्रकृति में कोई भी क्रिया चेतन की प्रेरणा के विना संभव नहीं, सर्ग आदि समस्त कार्यों में इन दोनों का परस्पर सहयोग अवश्यंभावी है, पर वह अतिरिक्त पदार्थ के रूप में कोई अस्तित्व नहीं रखता, क्योंकि वह उन दोनों पदार्थों की एक अनिवार्य स्थितिमात्र है। इसीप्रकार ईश्वर और जीव दोनों को चेतन का स्वरूप माना गया है, केवल उपाधि के कारण उस चेतन को ये नाम दे दिये जाते हैं। इनका चेतन में अन्तर्भाव होने से पृथक गणना करना व्यर्थ होगा। ईश्वर का स्वरूप 'कारणोपाधि चेतन' कहा गया है, यहां कारण 'अविद्या' है, इसी को माया कहते हैं। वस्तुतः यह त्रिगुणात्मक प्रकृति से अतिरिक्त कुछ नहीं। प्रकृति में समस्त कार्य चेतन की प्रेरणा से सम्भव हैं। समस्त परिणाम अथवा विकार प्रकृति के होते हैं, चेतन प्रेरक नियन्ता व अधिष्ठाता रहता है। इसी स्थिति को कारणरूप उपाधि से उपहित चेतन का अस्तित्व कहा जाता है, तथा यही 'अविद्या और चेतन का योग' है। पर ऐसी स्थिति सदा बनी रहती है, इसलिये शुद्ध चेतन से ईश्वर का अस्तित्व पृथक मानना व्यर्थ एव असंगत है। शुद्धचेतन के उस ऐश्वर्यरूप का ही इस पद से अभिलापन होता है, जो समस्त विश्व के नियन्त्रण की ओर संकेत करता है। हा ! यह कथन ठीक है, कि ईश्वर और जीव का भेद अनादि है। वह केवल अनादि नहीं अनन्त भी है। पर उस भेद

को एक अतिरिक्त तत्त्व के रूप में गणना करना व्यर्थ है। ईश्वर अथवा ब्रह्म और जीवात्मा यद्यपि एक-दूसरे से पृथक् अपना अस्तित्त्व रखते हैं, पर दोनों चेतनस्वरूप हैं। इसलिये चेतन पद में दोनों का समावेश होजाता है। इसलिए मूल में तत्त्व-गणना करते हुए चेतन और अचेतन के अतिरिक्त कुछ नहीं। चेतन दो में विभाजित रहता है, एक ब्रह्म अथवा परमात्मा, और दूसरा जीवात्मा। इनमें पहला संख्या की दृष्टि से एकमात्र है, और अन्तिम अनन्त अथवा अनेक है। फलतः मूलरूप में छह पदार्थों का मानना अप्रामाणिक एवं असंगत है।

**केवलचेतनवाद असफल**—वास्तविकता यह है, कि केवलचेतनवाद की घोषणा करने वाले अपने सिद्धान्त की स्थापना में सफलता नहीं प्राप्त कर सके। किसी भी उलटी सीधी बात को केवल वाणी से कहते रहना और बात है, अर्थ की वास्तविकता अन्य है। शुद्धचेतन ब्रह्म के साथ अनादि अविद्या तत्त्व का स्वीकार करना स्वयं इस बात को स्पष्ट कर देता है, कि केवल चेतन, समस्त चेतनाचेतन जगत् का मूल नहीं है। यदि अविद्या तत्त्व को शुद्धचेतन का कार्य माना जाता है, तब प्रथम तो अविद्या को अनादि कहना प्रलापमात्र होगा, और यह भी मानना होगा, कि शुद्धचेतन अपने स्वरूप को छोड़ विकृत होकर अचेतन अविद्या तत्त्व के रूप में परिणत होजाता है। तब पूर्णरूप से चेतनवादी अपने मत का परित्याग कर देता है, और आधिभौतिकवाद में प्रवेश कर जाता है। कारण यह है, कि वह मूल उपादान ब्रह्म की सार्वकालिक शुद्ध चेतनस्वरूप अवस्था की स्थापना में असफल होजाता है। ऐसी स्थिति में चेतन ब्रह्म को अचेतन जगत् का उपादान मानना असंगत है, फलतः जड़ जगत् के मूल उपादान अचेतन प्रकृति की सत्ता स्वीकार करना अधिक प्रामाणिक होगा।

**उपादानकारण चेतन नहीं**—आदि शंकराचार्य ने वेदान्तशांकरभाष्य के अनेक अधिकरणों में इस विचार को पुष्ट करने के लिए अत्यधिक बल लगाया है, कि चेतन ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण होने के साथ-साथ उपादानकारण भी है। इस अर्थ का प्रतिपादन शब्द और युक्ति के आधार पर किया गया है। जहां तक शब्दप्रमाण का आधार है, उपनिषदों के कतिपय प्रसंग इस विषय में प्रस्तुत किये जाते हैं। उनके अनुसार श्री शंकराचार्य के प्रत्येक लेख का विवेचन करना न अपेक्षित हैं, और न आवश्यक होगा। इसका आवश्यक विस्तृत विवेचन 'पुरुष' नामक प्रथम प्रकरण के 'चेतन के दो वर्ग' शीर्षक के नीचे कर दिया गया है, उपनिषद् के इस विषय के कतिपय प्रसंगों का वहीं स्पष्टीकरण किया गया है। फिर उपनिषदों में इससे विपरीत अर्थ का प्रतिपादन करने वाले प्रसंगों की भी न्यूनता नहीं है, जिनमें नियन्ता चेतन के अतिरिक्त अचेतन उपादान का निर्देश किया गया है। इसप्रकार के औपनिषदिक प्रसंगों का उल्लेख 'पुरुष' नामक प्रकरण में आवश्यकतानुसार हुआ है। इसके अतिरिक्त 'प्राचीन साहित्य पर सांख्य का प्रभाव' नामक प्रकरण में 'उपनिषदों में सांख्यसिद्धान्त' शीर्षक के नीचे कतिपय ऐसे

प्रसंगों का वर्णन किया गया है। यह केवल उपनिषदों के सम्बन्ध में कहा, अन्य साहित्य में भी जगत् के उपादान और निमित्त के भेद का सर्वत्र स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। फिर ऋग्वेद आदि संहिताग्रन्थों में तो स्वधा, अदिति त्रिगुण तथा वृक्ष[1] आदि पदों से प्रकृति का जगत् के उपादानरूप में स्पष्ट तथा विशद वर्णन मिलता है। इस विषय को अत्यधिक विस्तार के साथ प्रकट किया जासकता है, पर इस ग्रन्थ के 'सांख्य-सिद्धान्त वेदमूलक हैं' नामक प्रकरण में अतिसंक्षेप से निर्दिष्ट कर दिया है। ऐसी स्थिति में शब्द प्रमाण के आधार पर निर्बाधरूप में चेतन ब्रह्म को जगत् का उपादान नहीं माना जाना चाहिए।

**चेतन उपादान के प्रतिपादन की शांकरशैली**—इसके लिये युक्ति का जहां तक आधार है, अभी पर्याप्त उल्लेख किया जा चुका है। छह पदार्थों को अनादि मानकर, समस्त जगत् को एकमात्र चेतन का परिणाम स्वीकार करना सर्वथा दोषपूर्ण है, तथा अपने कथन का व्याघात है। चेतन की उपादानता का प्रतिपादन करने के लिये वेदान्त-भाष्य में श्री शंकराचार्य ने जिस प्रणाली को अपनाया है, उस पर भी एक दृष्टि डालने की आवश्यकता है। उपनिषदों के कतिपय विशेष स्थलों में जो आकाश, प्राण, ज्योति, अत्ता, गुहाप्रविष्ट, अन्तर्यामी, अद्रेश्य, वैश्वानर, भूमा, अक्षर, दहर, भास्, कर्त्ता आदि पदों का प्रयोग हुआ है, वेदान्तसूत्र के प्रथमाध्याय में यह निर्णय किया गया है, कि ये पद उन-उन स्थलों में परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुए हैं। इन पदों के दूसरे और अर्थ हैं, पर वे अर्थ उपनिषदों के उन स्थलों में ग्राह्य नहीं।

**'आकाश' आदि औपनिषद पदों के अर्थ**—इस प्रतिपादन से दो विचार सन्मुख आते हैं। एक यह, कि आकाश आदि अनेक पदों से एक परमात्मा का निरूपण उसकी सर्वरूपता को प्रकट करता है, जैसा कि आचार्य शंकर ने माना है, और यह भी स्पष्ट करता है, कि सबमें वास्तविक तत्त्व वही है। इन पदों के जो अन्य अर्थ हैं, वे कल्पनामात्र हैं। एक वस्तुभूत अर्थ में वे केवल कल्पना कर लिये गये हैं। इसलिये उसी एक तत्त्व को इस समस्त चर-अचर का—चेतन-अचेतन का—मूल आधार अथवा उपादान मानना चाहिये। दूसरा विचार यह है, कि आकाश आदि पदों के अन्य अर्थ वास्तविक हैं। पर उपनिषदों के उन-उन स्थलों में उक्त पदों का प्रयोग परमात्मा के लिये माना जासकता है। जिन कारणों से ऐसा माना जाना चाहिये, उनके चिन्ह उपनिषदों के उन-उन प्रसंगों में उपलब्ध हैं। यदि किसी स्थल में किसी विशेषता के आधार पर 'आकाश' पद का प्रयोग परमात्मा-अर्थ में हुआ है, तो इसका यह अभिप्राय न होना चाहिये, कि उन पदों के अपने अन्य अर्थ का अस्तित्व ही न रहा। प्रथम विचार के अनुसार जहां 'आकाश

---

१—स्वधा के लिये देखिये—ऋग्वेद, १।१६४।३८॥१।१६५।५,६॥५।३४।१॥ १०।१२६।२,५॥ अदिति के लिये देखिये—१०।७२ सूक्त। त्रिगुण के लिये देखिये—अथर्ववेद, १०।८।४३॥ वृक्ष के लिये देखिये—ऋग्वेद, १।१६४।२० यजुर्वेद, १७।२०॥

आदि पदों के परमात्मरूप अर्थ का विवेचन व निर्णय किया गया है, वहां इन पदों के अन्य अर्थों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, क्योंकि अन्य अर्थों के अस्तित्व में ही यह आशंका होसकती है, कि इन अनेक अर्थों में से प्रस्तुत प्रसंग में कौन-सा अर्थ स्वीकार किया जाय। उपनिषदों के ऐसे वर्णनों का केवल इतना तात्पर्य होसकता है, कि उक्त प्रसंगों में उन पदों का अर्थ परमात्मा हो। 'आकाश' आदि पदों के अन्य अर्थों का अभाव बताने में उनका तात्पर्य नहीं है। यदि कोई उन अर्थों के अभाव अथवा परमात्मा से उनकी अनन्यता सिद्ध करना चाहता है, तो उसे किन्हीं अन्य युक्ति अथवा प्रमाणों का आश्रय लेना होगा।

**चेतन-उपादानता में छान्दोग्य का एक प्रसंग**—उपनिषद् के ऐसे प्रसंगों में यदि कहीं कोई संकेत इसप्रकार का मिलता है, कि जगत् का मूल उपादान परमात्मा होना चाहिये, तो वहां यह जान लेना आवश्यक होगा, कि किन विशेषताओं के कारण ऐसा संकेत किया गया है, और साथ ही यह भी भूल जाना न होगा, कि ऐसे वर्णन का तात्पर्य जगत् के वास्तविक उपादान का अभाव बतलाने में नहीं है। इसतरह का एक अधिक विवादास्पद प्रसंग छान्दोग्य उपनिषद् का है। छठे अध्याय के प्रारम्भ में वर्णन है, कि आरुणि उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु जब गुरुकुल से अपना विद्याध्ययन समाप्त करके घर वापस आया, तब पिता ने जांचा, कि लड़का कुछ अभिमानी दीख रहा है। इसने शब्दमात्र को जाना है, आत्मा को नहीं। आत्मज्ञान कराने की भावना से आरुणि ने श्वेतकेतु से पूछा, तुम सम्पूर्ण विद्या सीखकर आ गये हो, तुमने उस 'आदेश' को जाना, जिससे अश्रुत श्रुत, अमत मत और अविज्ञात भी विज्ञात होजाता है ? श्वेतकेतु जिज्ञासा करता है, वह 'आदेश' कैसा है ? इसके उत्तर में आरुणि ने तीन उदाहरण प्रस्तुत करते हुए जो अर्थ प्रतिपादित किया है, उनमें कार्यकारणभाव अथवा उपादानोपादेयभाव को प्रतिपादन करने की भावना स्पष्ट प्रतीत होरही है, और वहां 'विकार' पद का उल्लेख भी है, जो इस 'आदेश' और श्रुत अश्रुत आदि समस्त जगत् के परस्पर कारणकार्यभाव की ओर संकेत करता है।

आरुणि ने कहा—जैसे एक सुवर्णपिण्ड के जान लेने से समस्त सुवर्णवस्तु जान ली जाती हैं, एक मृत्पिण्ड के जान लेने से सब मृद्विकार जान लिये जाते हैं, एक लोह-पिण्ड के जान लेने से सब लोहमय पदार्थ जान लिये जाते हैं, ऐसा ही वह 'आदेश' है। उसके जान लेने परफिर कुछ जानना शेष नहीं रहता। वह तेज, अप्, अन्न से समस्त जगत् की रचना करता है, यह जीवात्मा उसमें प्रविष्ट होकर बैठता है। इसप्रकार यह जगत् चलता रहता है। उपादान के तीन रूप सत्य हैं, शेष समस्त विकार नश्वर हैं, अपने मूल कारण में लीन होजाने पर यह दृश्यमान भेद अगोचर होजाता है। यह अणुरूप आत्मा ही सत्य है, केवल आत्मा। शेष सब-कुछ परिणामी है। अपरिणामी चेतन आत्मा का साक्षात्कार होजाने पर परमात्मा का साक्षात्कार स्वतः होजाता है। तब अन्य कुछ

जानना शेष नहीं रहता। वही जीवन का अन्तिम एवं परम लक्ष्य है।

**छान्दोग्य प्रसंग का अभिप्राय**—आरुणि के प्रवचन का सार इतना ही है। इसमें प्रथम जो तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं,—जैसे एक सुवर्ण, लोह अथवा मृत्पिण्ड के जान लेने से सुवर्ण आदि के समस्त विकार जान लिये जाते हैं, ऐसा ही वह 'आदेश' है। इससे यह सन्देह होता है, कि वह आदेश-चेतन आत्मा सब जगत् का मूल उपादान होना चाहिये, जैसे सुवर्ण आदि के उक्त उदाहरणों में निर्देश किया गया है। पर वस्तुस्थिति यह नहीं है। उदाहरण वाक्यों पर ध्यान देने से यह भ्रान्ति हट जाती है। वहां स्पष्ट निर्देश है कि, एक मृत्पिण्ड अथवा एक सुवर्ण या लोहे का टुकड़ा हम पहचान लेते हैं, तो फिर दूसरे मृत्पिण्ड अथवा सुवर्ण आदि के टुकड़ों को पहचान सकते हैं। इसका इतना ही अभिप्राय है, कि किसी एक वस्तु को जानकर उसके सजातीय समस्त द्रव्य को पहचाना जासकता है। उसके जानने के लिये फिर पृथक् यत्न करने की आवश्यकता नहीं रहजाती। यहां पर कार्यकारणभाव अथवा उपादानोपादेयभाव की ओर कोई संकेत नहीं है। क्योंकि वस्तुतः जिस एक मृत्पिण्ड अथवा सुवर्णपिण्ड को जानकर समस्त मृद्विकार या सुवर्णविकार को जान लेने का उल्लेख किया गया हैं, वह एक मृत्पिण्ड अथवा सुवर्णपिण्ड तो समस्त मृद्विकारों या सुवर्णविकारों का उपादान है नहीं। यदि वह केवल एक पिण्ड सब मृत् या सुवर्ण का उपादान होता, तो इन उदाहरणों में उक्त भावना का संकेत माना जासकता था। पर ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिये ये उदाहरण केवल साजात्य की भावना से दिये गये हैं।

**छान्दोग्य प्रसंग के 'विकार' पद का तात्पर्य**—इस प्रसंग में 'विकार' पद का जो उल्लेख किया गया है,वह उस समस्त जाति की तुलना में एक व्यक्ति [इकाई] के विचार से है। सुवर्ण के प्रत्येक अंश में सुवर्णपना है, जिसके आधार पर सुवर्ण के एक टुकड़े को देखकर समस्त सुवर्ण को पहचाना जासकता है। सुवर्ण व्यक्ति [इकाई] की बनावट का भेद इस पहचान में रुकावट नहीं डाल सकता। इसीलिये कहा है, कि विकार इस जानकारी में अपना कुछ महत्त्व नहीं रखता, [वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्] साजात्य में यही स्थिति रहती है। उसमें किसी व्यक्ति के छोटे बड़े लम्बे चौड़े गोल चौखुंटे आदि होने से साजात्य के आधार पर पहचान लेने में कोई अन्तर नहीं आता। चाहे सुवर्ण की एक गोली देखली जाय या छड़ या कोई आभूषण, उसकी पहचान होजाने पर कोई भी रूपरेखा सामने हो, उसके जान लेने में वह रूपरेखा किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुचांती। फिर यही उदाहरण नहीं, इसप्रकार के प्रत्येक उदाहरण लिये जासकते हैं। एक आम के पेड़ को जानकर सब आमों के पेड़ों को पहचाना जासकता है। एक शीशम के पेड़ को देखकर सब शीशम के पेड़। एक गाय को देखकर सब गाय। एक घोड़े को देखकर सब घोड़े इत्यादि। जिस एक को देखकर अन्य सबको पहचाना जाता है, वह एक उन सबका कारण या उपादान नहीं होता। जो आम या

शीशम का पेड़ पहले देखा, वह शेष समस्त आमों या शीशमों का उपादान नहीं है, न वे इसके विकार हैं। हां! उनमें साजात्य अवश्य है, जो पहचान का आधार है।

**छान्दोग्य प्रसंग में तीन तत्त्वों से अतिरिक्त आत्मा**—ऐसा ही वह 'आदेश' है। उसको पहचानने के लिये आरुणि ने क्या उपाय बताया? सो सुनिये। प्रथम उसने समस्त जगत् के उपादान तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है—तेजस्, अप्, अन्न। ये तीन यथाक्रम रजस्, सत्त्व और तमस् का निर्देश करते हैं। इनको सत्य अर्थात् वास्तविक बताया गया है। पर ये समस्त तत्त्व परिणामी हैं, इनमें देह के भीतर बैठा एक सूक्ष्म अणु आत्मा अपरिणामी एकरूप रहनेवाला है, वह सदा जागता है, स्वप्न में भी जागता है, लोटे पानी में एक नमक की डली डालने से सारा पानी उसके रस से आप्लावित होजाता है, वह चेतन अणु आत्मा एक जगह बैठा इस देह को प्रकाशित करता है। एक वृक्ष हरा-भरा लहराता रहता है, वह जीवचेतन से युक्त रहता है। जब जीव उसकी एक शाखा को छोड़ देता है, वह सूख जाती है, दूसरी को छोड़ता है, वह भी सूख जाती है, सब वृक्ष को छोड़ता है, वह सब सूख जाता है। इसीप्रकार देह, जीव से छूट जाने पर मृत समझा जाता है। जीवात्मा कभी नहीं मरता, वह अमर अपरिणामी है। हे श्वेतकेतु! वही आत्मा सत्य है, तुम वही हो। जब तक कोई व्यक्ति उसे नहीं जान पाता, अज्ञान में रहता है, जब उसे जान लेता है, तब कोई सांसारिक ताप उसे सता नहीं सकते। न आत्मा दग्ध होता है, न द्रवित होता है, न सूखता है, न भीगता है। इसप्रकार जब त्रिगुणात्मक परिणामी अचेतन से भिन्नरूप में आत्मा का साक्षात्कार होजाता है, तब अपने रूप एक चेतन के साक्षात्कार से ईश्वरचेतन का स्वतः साक्षात्कार होजाता है। क्योंकि एक चेतन के जान लेने पर दूसरे चेतन को जानने के लिये कोई अन्य यत्न नहीं करना पड़ता। 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्' [श्वेता० २।१५], आत्मतत्त्व के द्वारा ब्रह्मतत्त्व को ऐसे ही जान लिया जाता है, जैसे एक प्रदीप के प्रज्वलित होजाने पर अन्य प्रदीप अनायास प्रज्वलित कर लिये जाते हैं।

उस 'आदेश' को जानने का यही मार्ग है। एक सुवर्णपिण्ड के जान लेने से समस्त सजातीय सुवर्ण जान लिया जाता है, इसीप्रकार एक चेतन आत्मा अर्थात् स्वरूप का साक्षात्कार होजाने से चेतनरूप परमात्मा जान लिया जाता है। उक्त उदाहरणों में यही स्वारस्य है। इसके विपरीत यदि इस प्रकरण का यह अर्थ ठीक समझा जाय, कि परमात्मा इस समस्त जगत् का मूल उपादान है, और इसी आधार पर उसको जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है, तो यह मानना होगा कि आत्मज्ञानी इसके अनुसार प्रत्येक तत्त्व का वास्तविक रूप में ज्ञाता होजाता है, तब उसे परमाणुविशेषज्ञ अथवा प्रत्येक यन्त्र का विशेषज्ञ होना चाहिये। पर ऐसा नहीं है। किसी भी शास्त्र अथवा व्यवहार से यह बात प्रमाणित नहीं है। ऐसी स्थिति में उपनिषद् के लेख का यही अभिप्राय होना चाहिये, कि आत्मा अथवा परमात्मा का जान लेना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। जब

वह प्राप्त होगया, तब अन्य किसी के जानने की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिये छान्दोग्य के इस प्रसंग के आधार पर परमात्मा जगत् का उपादान कारण निर्धारित नहीं होता। अन्यत्र भी उपनिषदों में यदि कहीं आपाततः इसप्रकार के संकेत पाये जाते हैं, तो विचार-पूर्वक उनकी वास्तविकता का निश्चय किया जासकता है।

फलतः अचेतन जगत् का उपादान चेतन परमात्मा नहीं माना जाना चाहिये। अथवा यह, कि चेतन परमात्मा जड़जगत् के रूप में परिणत नहीं होसकता। संसार में जो विभिन्न दो अनुभूतियां होती है, प्रत्येक दशा में उन दोनों का एक दूसरे से सर्वथा पृथक् स्वतन्त्र एवं वास्तविक अस्तित्व है। उनमें से जड़ प्रकृति समस्त जगत् का उपादान है, जो त्रिगुणात्मक है, और एक चेतन सत्ता उसकी नियामक एवं अन्य भोक्ता हैं। इसप्रकार चेतन और जड़ इन दो प्रकार के तत्त्वों का अस्तित्व निश्चित होता है। जिस त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति का यह समस्त जगत् परिणाम है, उसके वास्तविक स्वरूप का विवेचन होना चाहिये, जो प्रस्तुत किया जाता है।

## प्रकृति का स्वरूप

सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्य अवस्था प्रकृति है, यह कपिल ने स्वयं कहा है।[१] साम्य अवस्था क्या है—सत्त्व आदि का सर्गोन्मुख न होना। वह अवस्था, जब सत्त्व आदि मूलतत्त्व कार्यरूप में परिणत होने की तयारी में न हों। यह अवस्था समस्त जगत् के प्रलयकाल में संभव है, जब मूल उपादान तत्त्व, कारणरूप में अवस्थित रहते हैं। यद्यपि मूल उपादान सदा वर्तमान रहता है, पर सर्गकाल में वह कार्यरूप में परिणत हुआ रहता है। सर्ग अथवा परिणाम की अवस्था में सत्त्व आदि गुणों में समता न रहकर वैषम्य उपस्थित होजाता है, जो जगत् की विविधता व विचित्रता का आधार है। सर्गरचना में सत्त्व आदि की न्यूनाधिकता वस्तुवैचित्र्य का कारण माना गया है। जब तक यह स्थिति नहीं होती, वह कारण की मूल अवस्था है।

सत्त्व आदि का स्वरूप क्या है, इसका निरूपण कपिल ने एक सूत्र [१।९२] द्वारा सांख्यषडध्यायी में किया है। वहां पर सत्त्व-रजस्-तमस् को यथाक्रम प्रीति, अप्रीति और विषादरूप बताया गया है। इन पदों से जगत् के मूल उपादान का स्वरूप किसप्रकार प्रकट होता है, यह एक विशेष ज्ञातव्य बात है। सूत्रकार ने जहां सूत्र में 'प्रीति' आदि पदों से सत्त्व आदि के स्वरूप का निरूपण किया है, वहां प्रीति आदि के साथ 'आद्य' पद का प्रयोग किया है। इसका अभिप्राय यह होता है, कि 'प्रीति' आदि पद सत्त्व आदि की मुख्य अथवा वास्तविक स्थिति को प्रकट करते हैं, तथा इनके साथ अन्य अनेक भाव हैं,

---

१. 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।' सांख्यदर्शन १।२६॥ यह सूत्रसंख्या-क्रम केवल हमारे संस्करण में मिल सकेगा, अन्यत्र नहीं। इसमें ३५ जोड़कर उस संख्या पर किसी भी संस्करण में देखा जासकता है।

जिनका 'आद्य' पद से प्रीति आदि में समावेश समझना चाहिये। उनके आधार पर भी यथाकथंचित् सत्त्व आदि के स्वरूप को समझने में कुछ सहायता मिल सकती है।

**सत्त्व आदि मूलतत्त्वों की विशेषता**—सांख्य के व्याख्याकारों ने सत्त्व आदि के प्रीति आदि रूप में जिन भावों का समावेश किया है, उनमें से कुछ का निर्देश निम्न-लिखित रीति पर किया जासकता है—

सत्त्व—प्रीति, लघु, प्रकाशक, सुख, ऋजुता, मृदुता, सत्य, शौच, लज्जा, बुद्धि, क्षमा, दया, ज्ञान, प्रसाद, तितिक्षा, सन्तोष आदि।

रजस्—अप्रीति, उपष्टम्भन [प्रवर्त्तन], चल, दुःख, द्वेष, द्रोह, मत्सर, निन्दा, स्तम्भ, उत्कण्ठा, तिरस्कार, शठता, वंचना, बन्ध, वध, छेदन, शोक, अशान्ति, युद्ध, आरम्भरुचिता, तृष्णा संग, काम, क्रोध आदि।

तमस्—विषाद, गुरु, आवरण, मोह, अज्ञान, मद, आलस्य, भय, दैन्य, अकर्मण्यता, नास्तिक्य, स्वप्न, निद्रा आदि।

प्रत्येक भाव-सूची के अन्त में 'आदि' पद लगाया गया है। कारण यह है, कि इतने में सूची समाप्त नहीं होजाती। पर इस निर्देश से यह बात स्पष्ट होजाती है, कि अवशिष्ट समस्त भावों में से—जो हमारे सन्मुख आवें—किसको कौन सी सूची में रक्खा जासकता है। इसप्रकार संसार के समस्त भावों को तीन वर्गों में बांट दिया गया है। तत्त्वविवेचन में इन भावों की उपयोगिता उस समय सामने आती है, जब हम मानव एवं अमानव प्राणीसमाज का सत्त्व आदि गुणों के आधार पर विश्लेषण करना चाहते हैं। समाज का प्रत्येक अङ्ग प्रत्येक पहलू त्रैगुण्य से बाहर नहीं। समाज की स्थिति प्रवृत्ति, नीति, चाल-ढाल, रहन-सहन, धर्म-अधर्म आदि जितने भाव हैं, चाहे वे वैयक्तिक हों या सामूहिकरूप में हों, त्रैगुण्य की सीमा में आजाते हैं। जैसे एक ही स्त्री रूप यौवन व कुल से सम्पन्न अपने स्वामी के लिये सुखजनक होती है, वह क्यों? क्योंकि स्वामी के लिये उसके सुखरूप का समुद्भव होता है। यह सात्त्विक भाव हैं। वही स्त्री अपनी सपत्नियों के लिये दुःखजनक होती है, वह क्यों? क्योंकि उनके प्रति उसके दुःखरूप का समुद्भव होता है, यह राजस भाव है। इसीप्रकार वही स्त्री किसी अन्य पुरुष के लिये, जो उसे प्राप्त नहीं करपाता, मोहजनक होती हैं। वह क्यों? क्योंकि उस पुरुष के लिये उसके मोहरूप का समुद्भव होता है। यह तामस भाव है। इस रूप में एक ही स्त्री सुख-दुःख और मोह की जनक होने से सुख-दुःख-मोहात्मक है, जो सत्त्व रजस् तमस् का रूप है। इसप्रकार समाज व संसार की छोटी बड़ी प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक प्रवृत्ति त्रिगुणात्मक है।

मूल सत्त्व आदि तत्त्वों के स्वरूप का इस आधार पर कैसे प्रकाशन होता है, यह एक विशेष विचारणीय बात है, यदि प्रीति, अप्रीति और विषाद पदों के साधारण अर्थ का सीधा सम्बन्ध सत्त्व आदि के साथ न जोड़कर यहां तक विचार करें, कि मूल तत्त्व के स्वरूप या उसकी वास्तविक स्थिति को प्रकट करने के लिये प्रीतिआदि पदों का

प्रयोग, एक विशेष भावना के आधार पर किया गया है, तो कदाचित् उस स्वरूप को समझने में कुछ सुविधा होसकती है। वह भावना क्या है, इसे जानने के लिये आधुनिक आधिभौतिक विज्ञान द्वारा प्रदर्शित मूलतत्त्वों के विश्लेषण की ओर थोड़ा ध्यान देना होगा।

**आधुनिक भौतिकी के मूलतत्त्व**—जगत् के तथाकथित मूलतत्त्व अणु-प्रोटोन्, इलैक्ट्रॉन् तथा न्यूट्रॉन्स्वरूप हैं। ऐसा कहा जाता है, कि ये एक प्रकार के विद्युत्कण अथवा विद्युत्तरंग हैं। वस्तुतः अणु की रचना अथवा उसका गठन बहुत रहस्यपूर्ण है। यह स्वयं अपने में एक संसार बसाये पड़ा है। यह अद्भुत शक्ति का पुञ्ज व केन्द्र है। इसमें प्रोटोन् तत्त्व के चारों ओर इलैक्ट्रान् तत्त्व तीव्रगति से चक्कर काटा करता है। इनको यथाक्रम पॉजिटिव् और नेगेटिव शक्ति कहा जाता है। इनकी यह स्थिति इसप्रकार बनती है, कि प्रोटोन् स्वभावतःदूसरे तत्त्व को अपनी ओर आकृष्ट करता है, पर दूसरा तत्त्व इलैक्ट्रॉन् गतिशील रहने से अलग दूर को छिटक जाय, ऐसी संभावना रहती है, उसका यह अपना स्वभाव अपनी स्थिति है। पर पहले तत्त्व का आकर्षण उसे दूर भागने नहीं देता, और दूसरा अपने स्वभाव के कारण पहले में अन्तर्हित नहीं होजाता। इसका परिणाम यह निकलता है, कि दूसरा [इलैक्ट्रॉन्] पहले [प्रोटोन्] के चारों ओर तीव्रगति से चक्कर काटता रहता है। इन दोनों के इस चुम्बकीय आकर्षणानुकर्षण से सर्वथा पृथक् रहता है–तीसरा तत्त्व। न्यूट्रॉन् में पहले दोनों तत्त्वों की कोई विशेषता नहीं रहती। इसीकारण इसका उक्त नाम रक्खा गया प्रतीत होता है। वैसे अपनी स्थिति में यह पहले दोनों तत्त्वों का आश्रयभूत है। इस तिकड़ी में यह उदासीन के समान पड़ा रहता है, जिसके सहारे पर पूर्वोक्त दोनों तत्त्व अपनी क्रीड़ा में रत रहा करते हैं। कपिल ने इस तत्त्व को 'विषाद' पद से प्रकट किया है।

**भौतिकी मूलतत्वों की सत्त्व आदि से तुलना**—यद्यपि सत्त्व आदि के साथ इस स्थिति का सन्तुलन करना कदाचित् साहसमात्र कहा जायगा। सभव है, सत्त्व आदि की स्थिति और अधिक मूल की ओर हो, तथा आधुनिक विज्ञान के आधार पर, विश्लेषित अणु, सांख्य के 'तन्मात्र' तत्त्व के समान स्तर का हो, फिर भी सत्त्व आदि के साथ पूर्वोक्त विश्लेषण का सन्तुलन, कदाचित् कपिल की अन्तर्भावना को समझने में सहायक सिद्ध होसकता है, यदि हम प्रोटोन् को सत्त्व, इलैक्ट्रॉन् को रजस्, और न्यूट्रॉन् को तमस् के स्वरूप की तुलना में रखते हैं, तो सत्त्व आदि के प्रीति आदि स्वरूप का स्पष्टीकरण हमारे सन्मुख हो आता है। सत्त्व, रजस् को अपनी ओर आकृष्ट करता है, यही सत्त्व का प्रीतिस्वरूप है। सत्त्व के स्वभाव–आकर्षण को 'प्रीति' पद से प्रकट किया गया है। क्योंकि प्रीति में आकर्षण का अस्तित्त्व संभव है। अथवा आकर्षण, प्रीति की अन्तरात्मा को प्रकट में लाता है। सत्व जैसे रजस् को अपनी ओर आकृष्ट करता है, ठीक इसके विपरीत रजस्, सत्त्व से दूर भाग जाय या छिटक जाय, ऐसी संभावना बनी रहती है, क्योंकि यह

तत्त्व सांख्य के अनुसार चलस्वभाव है, यही रजस् का अप्रीतिस्वरूप है। सत्त्व अपने प्रीतिस्वरूप-आकर्षण के कारण उसे दूर नहीं हटने देता। इसका परिणाम यह होता है, कि रजस् तीव्रगति से सत्त्व के चारों ओर चक्कर काटने लगता है, फिर भी वह अपने आपको सत्त्व में समाविष्ट नहीं होने देता, प्रत्युत उसके साथ पृथक् रूप में अवस्थित रहता है। इसप्रकार उसका अप्रीतिस्वरूप बराबर बना रहता है। सांख्य में रजस् को इसी कारण चलस्वभाव कहा गया है। तत्त्वों की यह स्थिति 'अन्योन्यमिथुनवृत्तिता' नाम से सांख्य में प्रस्तुत की गई है, जब ये तत्त्व परस्पर एक दूसरे से वर्त्तुलाकार में गुंथकर सर्ग रचना के लिये प्रवृत्त होते हैं, यही इनके वैषम्य का रूप है।

आशंका कीजासकती है, कि जब रजस् सत्त्व से दूर भागने या छिटकने लगता है, तो वह सत्त्व को अपने साथ खींचकर क्यों नहीं लेजाता? सांख्य में इसका समाधान इस रूप में किया गया है—सत्त्व प्रकाशमय है। प्रकाशमय अथवा तेजोमय तत्त्व नियन्ता रूप में अवस्थित रहता है। फिर सत्त्व प्रीतिस्वरूप है। यदि वह रजस् के द्वारा खींचकर लेजाया जासके, तो सत्त्व का अपना प्रकाश और प्रीति-स्वरूप नष्ट होजाता है, और सत्त्व का आकर्षण कर लेजाने के कारण वह रूप रजस् को प्राप्त होजाता है, जो सर्वथा असंभव है। सत्त्व उसी समय तक सत्त्व है, जब तक वह आकर्षण करनेवाला है, और वह सदा सत्त्व रहता है, स्वरूप का कभी परित्याग नहीं करसकता। यदि सत्त्व के समीप इतने अधिक रजस् आजायें कि उनके आकर्षण में उसे कुछ शिथिलता का सामना करना पड़े, तो तत्काल अन्य सत्त्व उसके सहयोग के लिये उपस्थित हो जायगा, यह प्रकृति का स्वभाव है, अथवा प्रकृति के नियन्ता की व्यवस्था। पर यह कभी संभव नहीं, कि सत्त्व आदि तत्त्व अपने प्रीत्यादि रूप का परित्याग कर जायें। इसी रूप में मूलप्रकृति को सांख्य में नित्य माना गया है। अपने प्रीति और प्रकाशमय रूप के कारण सत्त्व, सहस्राधिक रजस् को आकृष्ट करने का सामर्थ्य रखता है। उसके सन्तुलन में रजस् तत्त्वों के—आकर्षण द्वारा—एकत्रित होनेपर उसकी सहायता के लिये अन्य सत्त्व तत्काल आ उपस्थित होता है, और प्रकृति के सुचारुरूप से संचालित कार्य में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। मूलतत्त्वों का यह विलक्षण मेल व खेल, इस विचित्र जगत् की रचना का मुख्य आधार है। रजस् तत्त्वों के साथ सत्त्व की इस स्थिति को आधुनिक आधिभौतिक विज्ञान में गुरुत्वाकर्षण [Gravity-ग्रैविटी] बताकर प्रकट किया गया है। इसप्रकार सत्त्व और रजस् के स्वरूप को कपिल ने प्रीति और अप्रीति पदों द्वारा स्पष्ट किया है। तमस् में प्रीति और अप्रीति दोनों का अभाव है। वह इन दोनों के आधाररूप में इनके साथ निष्क्रिय सा पड़ा रहता है। यही उसका 'विषाद' स्वरूप है। इसको पहले दोनों का भारवाही सहयोगी समझना चाहिये।

इसप्रकार कपिल ने प्रीति, अप्रीति और विषाद पदों के द्वारा यथाक्रम सत्त्व रजस् और तमस् मूलतत्त्वों के स्वरूप का जो संकेत किया है, उसमें एक गंभीर रहस्यपूर्ण

भावना निहित है, जिससे मूलतत्त्वों की वास्तविक स्थिति प्रकट होती है। कदाचित् इतना सुन्दर और यथार्थ वर्णन प्रीति आदि पदों के अतिरिक्त अन्य पदों के द्वारा किया जाना संभव न था। पं० राजाराम[1] शास्त्री ने 'सांख्य के तीन प्राचीन ग्रन्थ' नामक अपनी एक रचना में अनुमति दी है, कि इस सूत्र की "स्वतन्त्र बनावट 'सुखदुःखमोहाद्यैः' अच्छी होसकती थी।"[2] पर कोई भी विचारशील विद्वान् उपर्युक्त वर्णन के अनुसार यह अच्छी तरह समझ सकता है, कि 'प्रीति' आदि पदों के प्रयोग मे अर्थ की गंभीरता व वास्तविकता कितनी अधिक है। प्रस्तुत प्रसंग में जो भाव 'प्रीति' आदि पदों से प्रकट किया जासका है, वह सुखादि पदों से किया जाना अशक्य था।

**अणुकी रचना**—सांख्य दृष्टि से अधिकाधिक स्थूल पदार्थ से लेकर सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्त्व पर्यन्त प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है। जिस त्रिगुणात्मक अणु का अभी संतुलन व विवरण दिया गया है, वह किस स्थिति का तत्त्व है, यह निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है। आधुनिक आधिभौतिक विचारधारा के अनुसार अणु का जो विवरण प्रस्तुत किया जाता है, उसमें उपर्युक्त तीन तत्त्वों के अतिरिक्त-नवीन अनुसन्धानों के फल-स्वरूप—अन्य तत्त्वों का भी पता लगा है। ब्रह्मकिरण अथवा सृजनकिरण [कास्मिक रे] की गवेषणा करने पर 'पौजिट्रन' का और उसके अनन्तर एक अन्य तत्त्व 'मेसोन' का पता चला है, जो इलैक्ट्रॉन से २०४ गुना होता है। वैज्ञानिक इस परिणाम पर पहुंचे हैं, कि अणु की शक्ति का मूल यह 'मेसोन' तत्त्व ही है। पर इससे भी आगे द्वितीय महायुद्ध के अनन्तर किये गये परीक्षणों के आधार पर यह पता लगाया जासका है, कि भौतिक जगत् का यह चित्रण भी पूर्ण व पर्याप्त नहीं है। अति आधुनिक परीक्षणों से ज्ञात हुआ है, कि 'मौसोन' तत्त्व दो प्रकार का है, एक 'एम्यु' और दूसरा 'पी'। इसके अनन्तर बार्कले के विशाल साईक्लोट्रोन से किये गये परीक्षणों के आधार पर एक 'उदासीन पियोन' नामक नये तत्त्व का और पता लगा है[3]। इसप्रकार वर्त्तमान आधिभौतिक विज्ञान के आधार पर अणु की वास्तविकता रचना व स्वरूप के सम्बन्ध में कोई असन्दिग्ध निर्णय नहीं दिया

---

१. दुःख है, अभी पिछले दिनों पण्डित जी का दिल्ली में देहावसान होगया। पंजाब के विभाजन के अनन्तर लाहौर से निकाले जाकर आप दिल्ली में आकर बस गये थे। लाहौर के डी० ए० वी० [दयानन्द ऐंग्लो वैदिक] कालिज से सम्बद्ध आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् थे।

२. उक्त ग्रन्थ, पृष्ठ ६, तथा देखिये, 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ २३५।

३. सन् १९५० के दिसम्बर में बंगलौर में आयोजित 'भारतीय विज्ञान महा-सभा' के ३८ वें तथा 'अखिल हिन्दमहासागरीय विज्ञान महासभा' के प्रथम अधिवेशन में प्रस्तुत किये गये, प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा परमाणुविशेषज्ञ डा० भाभा के एक भाषण के आधार पर। [रसायन शास्त्र के अनुसार तत्त्वों की संख्या ९२ की जगह १०२ होगई है, तथा १०६ तक होजाने की संभावना है]।

जासकता। ऐसी स्थिति में कपिलवर्णित मूलतत्त्व के साथ उसकी तुलना करना, संभवतः इतना अधिक सच्चा व साधार न कहाजायगा।

इसके अतिरिक्त एक अणु में जिन तत्त्वों का विवरण दिया गया है, अथवा जो तत्त्व एक अणु के घटक बताये जाते हैं, उनकी सत्ता व स्थिति एक समान नहीं होती। उनके स्वरूप अथवा उनकी प्रवृत्ति में तो अन्तर होता ही है, इससे अधिक गुरुत्वाकर्षण [ग्रैविटेशन] की दृष्टि से उनमें महान अंतर रहता है। प्रोटोन् आकार में छोटा होता हुआ भी इलैक्ट्रॉन् से गुरुत्वाकर्षण में १८४५ गुणा अधिक होता है। फिर यह कोई नियम नहीं है, कि एक अणु में एक ही प्रोटोन् और इलैक्ट्रॉन् हो, इनमें न्यूनाधिकता होती रहती है। इससे प्रतीत होता है, कि जिस अणु का विवरण हम दे रहे हैं, वह वस्तुतः मूलतत्त्व नहीं कहा जाना चाहिये। क्योंकि वह अनेक तत्त्वों से घटित होता है। फिर उसके सब घटक तत्त्व एक समान नहीं होते। इसलिये उनको मूलरूप नहीं कहा जासकता। उनके न्यूनाधिक होने के कारण उनके घटक अवयवों का भी अनुमान होता है। तब समझना चाहिये, कि मूल उपादान का वर्णन करने के लिये प्रवृत्त हुए हम अभी उससे बहुत दूर पड़े हैं। इस स्थिति में वर्त्तमान विज्ञान द्वारा विश्लेषित अणु की कपिलवर्णित मूल उपादान से तुलना कैसी ?

**मूलतत्त्व परस्पर विषम नहीं**—हमने प्रथम ही यह सन्देह प्रकट किया है, कि कदाचित् इस तुलना को साहसमात्र कहा जाय। यह भी ठीक होसकता है, कि जिस अणु का ऊपर विवरण दिया गया है, वह मूल उपादान न हो। पर सत्त्व-रजस्-तमस् की मूल उपादानता में सन्देह प्रकट नहीं किया जासकता। कपिल की भावना यह प्रतीत होती है, कि मूल उपादान तत्त्व अपने स्वरूप अथवा प्रवृत्ति के कारण भले ही परस्पर भिन्न हों, पर गुरुत्वाकर्षण जैसी स्थिति उनकी भेदक नहीं होनी चाहिये, अर्थात् भार की न्यूनाधिकता का उनमें संभव होना नहीं माना जाना चाहिये। वस्तुतः जहां तक परमाणुविशेषज्ञों से ज्ञात होसका है, गुरुत्वाकर्षण [ग्रैविटेशन] तत्त्व के गुरुत्व अर्थात् भार को प्रकट नहीं करता, प्रत्युत उसके चुम्बकीय दबाव को नापने या प्रकट करने की एक रीतिमात्र है। इसप्रकार मूल द्रव्यों अथवा तत्त्वों में चुम्बकीय आकर्षणानुकर्षण रहते हुए भी गुरुत्व अर्थात् भार की दृष्टि से उनमें किसी तरह का कोई भेद नहीं रहता, जिससे उनकी रचना अथवा उनके घटक अन्य अवयवों की कल्पना करनी पड़े।

इसीप्रकार नवीन अन्वेषित 'मेसोन' तथा उसके 'एम्यु' और 'पी' नामक दो प्रकार जिस स्थिति में प्रतीत या अवगत होते हैं, उनको यदि स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय, तो यह देखा जाता है, कि जल्दी ही वे अणु के उन रूपों में समाविष्ट या अन्तर्निहित हो जाते हैं, जो तीन मुख्य अणु के घटक बताये गये हैं। इससे यह संकेत मिलता है, कि अणु की वास्तविक मूल रचना में तीन तत्त्वों का सन्निवेश है, पर परीक्षण की विधि कदाचित् उनको रूपान्तरित कर प्रस्तुत कर देती है, जो अवकाश पाते ही पुनः अपनी

वास्तविक स्थिति में पहुंच जाता है। फिर भी आलोच्य अणु यदि मूलतत्त्व न हो, तो हमें इसके लिये कोई आग्रह नहीं। पर सत्त्व-रजस्-तमस् की प्रीति-अप्रीति तथा विषादरूपता का परिचय इस अणुपरीक्षण के द्वारा प्राप्त करसकते हैं। क्योंकि मूल के समान त्रैगुण्य का अस्तित्व वहां भी उसी रूप में है। हम उसका परिचय वाह्य साधनों की सहायता से यदि किसी स्थूल अणु में पालेते हैं, तो यह दोषावह नहीं।

**सर्गारम्भ की स्थिति**—वस्तुतः मूल प्रकृति की सर्गोन्मुख प्रवृत्ति होनेपर आलोच्य अण उसकी अधिभूत सृष्टि का प्राथमिक कार्य कहा जासकता है। सांख्य में बुद्धि-तत्त्व को प्रकृति का प्रथम कार्य तथा अधिभूत सृष्टि को मध्य में जाकर कहा है। इस क्रमनिर्देश की वास्तविकता का विवेचन 'विकार' नामक प्रकरण में किया गया है। यहां आलोच्य अणु को अधिभूत सृष्टि का प्राथमिक कार्य कहने में असामञ्जस्य की उद्भावना न करनी चाहिये। मूलप्रकृति की सर्गोन्मुख प्रवृत्ति का सांख्य के व्याख्याकारों तथा सांख्यप्रसंगों में अन्य आचार्यों ने भी वर्णन किया है। पर उसकी गणना मूल अवस्था में ही की गई है, क्योंकि उतने प्रवृत्तिमात्र से किसी ऐसे तत्त्व का प्रादुर्भाव नहीं होता, जिसके स्वरूप का निर्देश किया जासके। प्रकृति की इस अवस्था का अनेक आचार्यों ने भिन्न भिन्न नामों से उल्लेख किया है। यास्कीय निरुक्त [१४।४] में 'प्रतिभा' यजुर्वेद [२३।५४] के दयानन्दभाष्य में 'विद्युत्' मनुस्मृति [१।८] शतपथ ब्राह्मण [११।१।६।१] तैत्तिरीय ब्राह्मण [१।१।३।५] वृहदारण्यक उपनिषद् [१।२] तथा ऋग्वेद [१०।१२१।७-८] में 'आपस्' और भगवद्गीता [७।४] में 'मनस्' पद से इसका संकेत उपलब्ध होता है। सांख्यसप्तति की एक व्याख्या युक्तिदीपिका के १०८ पृष्ठ पर इसको 'अनिर्देश्यस्वरूप' लिखा है। इस अवस्था में किसी तत्त्वान्तर का प्रादुर्भाव न होने से सांख्य में तत्त्वविवेचना के अवसर पर इसे मूलकारण के अन्तर्गत मान लिया गया है। पुराणों [स्कन्द० प्रभास खण्ड, वस्त्रापथ–गिरनार–क्षेत्र मा०, १८।१३] में भी इसप्रकार के संकेत उपलब्ध होते हैं। इसलिये इसका पृथक् नाम से उल्लेख नहीं। अनन्तर इससे जो अधिभूत सृष्टि प्रारम्भ होती है, उसके प्राथमिक तत्त्व वे अणुरूप द्रव्य कहे जासकते हैं, जिनका विवरण ऊपर दिया गया है'

यह अवस्था तीनों गुणों की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता की है। सत्त्व-रजस्-तमस् परस्पर मिथुनीभूत होकर सर्ग-रचना में समर्थ होते हैं। इनके स्वरूप को उसी स्थिति में जाना या पहचाना जासकता है। यदि किसीप्रकार इनको इस अवस्था में न रहने दिया जाय, या इनकी अन्योन्यमिथुनवृत्तिता को बलात् नष्ट कर दिया जाय, तो वह जगत् की प्रलय अवस्था होगी। तीनों गुण पृथक्-पृथक् बिखर जायेंगे। अणुओं की जो स्थिति हम देख सकते हैं, चाहे वह बाह्य साधनों के सहयोग से हो अथवा अन्य किसी प्रकार से, वह वस्तुतः सर्गकालीन अवस्था है। सांख्य में इस अवस्था को अन्योन्यमिथुनवृत्तिरूप में वर्णन किया गया है, जहां प्रत्येक गुण परस्पर विरुद्धस्वभाव होनेपर भी एक दूसरे के अनिवार्य

सहयोग के साथ सर्ग-रचना में समर्थ होता है। उपनिषदों में सांख्य के आधार पर इस स्थिति के वर्णन उपलब्ध होते हैं। प्रश्न [५।६] और छान्दोग्य [६।३।३] के प्रसंग[1] इस विषय में द्रष्टव्य हैं। सर्गकाल के इसीप्रकार के प्राथमिक अणु द्रव्य आधिभौतिक विज्ञान के परीक्ष्य तत्त्व हैं। विज्ञान इनकी सर्गोन्मुख प्रवृत्ति से इनको विघटित करने में भी आज समर्थ होसका है। जगत् के प्रलयकाल के प्रारम्भ में यह स्थिति प्राकृतिक नियमों के अनुसार किसी मानव की प्रवृत्ति या प्रयत्न के विना स्वतः प्राप्त होजाती है। उस स्थिति का वर्णन, जगत् अथवा सर्ग के अभाव का कथन करके किया जासकता है। यह मान लेना चाहिये, कि सर्गकालीन वर्णन के समान यत्न करते रहने पर विज्ञान प्रलयकाल का भी उसी रूप में वर्णन क्यों न कर सकेगा? पर कदाचित् समस्त विज्ञान और उसके साधनों का, उक्त वर्णन करने की अवस्था आने से पहले ही प्रलयकाल उपस्थित होजाय, और मानव अपना पाठ फिर वहीं से प्रारम्भ करे। जो हो, कपिल की भावना यह है, कि मूलतत्त्व निश्चित ही निरवयव तथा किसी भी द्रव्य अथवा तत्त्व का अकार्य है। स्वयं कार्यरूप में परिणत अवश्य होता है, पर वह अन्य किसी का परिणाम नहीं है। वह मूल

---

१ 'तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥
प्रश्न० ५।६॥

मृत्युमती—परिणामशील तीन मात्रा प्रयोग में आरही हैं, जो एक दूसरे के साथ सक्त हैं, फिर भी एक दूसरे से अलग हैं। इनकी समस्त क्रियाओं के ठीक प्रयोग में आत्मज्ञानी अथवा चेतन आत्मा विचलित अथवा परिवर्त्तित नहीं होता। यहां सत्त्व-रजस्-तमस् की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता का स्पष्ट वर्णन है। वस्तुतः यह श्लोक अथवा कण्डिका उपनिषत्कार की अपनी रचना नहीं है। प्रत्युत किसी अन्य प्राचीन रचना से इसको यहां उद्धृत किया गया है। तथा प्रश्नोपनिषद् के इस प्रसंग में उक्त श्लोक का उपयोग 'ओङ्कार' की तीन मात्राओं के सम्बन्ध में किया गया है, जो इतना अच्छा संघटित नहीं होता। संभव है, उपनिषत्कार ने 'तिस्रो मात्राः' की समानता को देखकर अपने प्रतिपाद्य अर्थ की पुष्टि में इसका उपयोग कर लिया हो। जैसे विभिन्न आचार्यों ने "चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश"॥ [ऋ० ४।५८।३] इत्यादि ऋचा का किया है।

इसीप्रकार छान्दोग्योपनिषद् [६।३] में तीन देवता अप्-तेजस्-अन्न का वर्णन है। ये तीन यथाक्रम सत्त्व-रजस्-तमस् का निर्देश करते हैं। आगे इनकी अन्योन्यमिथुन-वृत्तिता का 'त्रिवृत' पद से वर्णन किया गया है। इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन भूतोत्पत्ति के अनुक्रम में 'विकार' नामक प्रकरण में हुआ है।

कूर्मपुराण [पू०४।३३-३४] में भी तीन गुणों की अन्योन्यमिथुनवत्तिता का वर्णन उपलब्ध होता है।

तत्त्व सत्त्व-रजस्-तमस्रूप है। यथाक्रम इनकी प्रीति, अप्रीति तथा विषादरूपता का स्पष्टीकरण कर दिया गया है। यही प्रकृति का स्वरूप है।

**क्या व्यक्तिरूप से प्रकृति एक व व्यापक है?**—सांख्यसम्बन्धी साहित्य में ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है, कि प्रकृति एक व्यक्तिरूप माननी चाहिये। श्वेताश्वतर उपनिषद् [४।५] में स्पष्ट लिखा है—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'। रजस्, सत्त्व और तमोरूप में अजा अर्थात् प्रकृति एक है। ऋग्वेद [१।१६४।२०] में 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इस ऋचा में प्रकृति का 'वृक्ष' पद से वर्णन करते हुए उसे 'समान' अर्थात् एक बताया है। सांख्यसप्तति (१०) में व्यक्त जगत् के अव्यापिता और अनेकता आदि धर्म बताकर उसके विपरीत अव्यक्त प्रकृति के धर्मों का निरूपण किया है। उससे स्पष्ट होता है, कि अव्यक्त प्रकृति व्यापक तथा एक है। भगवद्गीता में तो सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों को प्रकृति का कार्य कहकर—'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः' [१४।५] उसकी एकता का प्रतिपादन किया है। जब प्रकृति एक है, तो निश्चित उसे व्यापक मानना होगा। ऐसी स्थिति में प्रकृति के स्वरूप की व्याख्या करने के लिये सत्त्व रजस् तमस् का जिस रूप में प्रथम वर्णन किया गया है, वह असंगत होना चाहिये।

वस्तुतः व्यक्तिरूप से प्रकृति एक नहीं है। कापिल सांख्यसूत्रों में इसप्रकार के कोई सकेत उपलब्ध नहीं होते, प्रत्युत इसके विपरीत प्रथमाध्याय के ९३वें सूत्र में समस्त सत्त्वगुण का साधर्म्य लघुत्व, समस्त रजोगुण का साधर्म्य चलत्व तथा समस्त तमोगुण का साधर्म्य गुरुत्व बताया गया है। इसप्रकार साधर्म्य का निर्देश अनेक सत्त्व, अनेक रजस् और अनेक तमस् के अस्तित्व को स्पष्ट करता है। इससे सूत्रकार की यह भावना ध्वनित होती है, कि वह सत्त्व आदि गुणों को अनन्त-व्यक्तिरूप मानता है। तब सत्त्व आदि की स्थिति सूक्ष्मातिसूक्ष्म परम अणुरूप में कल्पना की जासकती है। सांख्यसप्तति की व्याख्या युक्तिदीपिका में एक सन्दर्भ इसप्रकार है—

"विश्वात्मकानां सत्त्वरजस्तमसामपगतविशेषाविशेषाः सन्मात्रलक्षणोपचयाः प्रतिनिवृत्तपरिणामव्यापाराः परमविभागमुपसंप्राप्ताः सूक्ष्माः शक्तयः।"

समस्त विश्व सत्त्व रजस् तमस् का रूप है। व्यक्त जगत् की त्रिगुणात्मकता सर्व-प्रमाणसिद्ध है। यहां स्थूलभूतों को विशेष और सूक्ष्मभूतों को अविशेष कहा जाता है। जब विशेष तथा अविशेष की स्थिति समाप्त होजाती है, केवल शुद्ध सत्त्व आदि के रूप में इनका अस्तित्व रहता है। इनके परिणामसम्बन्धी समस्त व्यापार समाप्त होचुके होते हैं। कार्य अवस्था से विश्लेषण होते-होते ऐसी स्थिति में पहुंच जाते हैं, जहां आगे और कोई विभाग होने का अवकाश नहीं रहता, तब सत्त्व रजस् तमस् सूक्ष्म शक्तिरूप में अवस्थित रहते हैं। इन पंक्तियों में जगत् के प्रलयकालीन मूल उपादान की स्थिति का वर्णन है, सत्त्व रजस् तमस् से अतिरिक्त अन्य कोई प्रकृति नामक मूलतत्त्व नहीं है। समस्त संसार इन्हीं का विकार है, इसलिये इनको विश्वात्मक कहा हैं। 'परमविभागमुपसंप्राप्ताः' ये पद

अत्यन्त स्पष्ट कर देते हैं, कि प्रकृति नाम का कोई एक अथवा व्यापक तत्त्व नहीं है। व्यापक एक तत्त्व की ऐसी स्थिति असंभव है। इसलिये सत्त्व आदि तत्त्व अति सूक्ष्म एवं अनन्तरूप माने जासकते हैं।

**प्रकृति की एकता में कथित प्रमाणों का समन्वय**—श्वेताश्वतर उपनिषद् के पूर्वोक्त सन्दर्भ से जो प्रकृति की एकता का उल्लेख किया गया है, वहां 'एक' पद प्रकृति की व्यक्ति-रूप एकता का बोधक नहीं, प्रत्युत उसके एकमात्र भोग्यरूप का प्रतिपादक है। न तो प्रकृति के अतिरिक्त कोई तत्त्व भोग्य होसकता है, और न प्रकृति भोग्यरूप से हटकर और कुछ होसकती है। क्योंकि उसी कण्डिका में आगे इसी भावना से 'भोक्ता' अज के साथ भी 'एक' पद का प्रयोग किया गया है—'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते'। एक अज-भोक्ता आत्मा प्रकृति का भोग करता हुआ विद्यमान रहता है। यदि प्रस्तुत सन्दर्भ में 'एक' पद व्यक्तिपरक होता, तो आत्मा के साथ इसका प्रयोग स्पष्टरूप में असामञ्जस्यपूर्ण कहा जाता। कोई एक आत्मा प्रकृति का भोग करता हो, ऐसा नहीं, प्रत्युत अनन्त आत्माओं की यही स्थिति है। इसलिये यहां 'एक' पद समस्त आत्माओं के एकमात्र भोक्तृत्व का निर्देश करता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में अन्यत्र [५।२] उपादान कारण की बहुता व अनन्तता का संकेत मिलता है। पञ्चमाध्याय में सन्दर्भ है—'अधितिष्ठत्येकः···योनीश्च सर्वाः।' एक चेतन परमात्मा समस्त उपादान कारणों पर नियन्त्रण करता है। इससे उपादान कारण की व्यक्तिरूप-एकता का स्पष्ट निषेध होता है। इसी उपनिषद् में आगे छठे अध्याय में एक कण्डिका [१२] है—'एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति'। समस्त जगत् का नियन्त्रण करने वाला एक परमात्मा, निष्क्रिय अर्थात् स्वतः प्रवृत्तिरहित अनन्त उपादान कारणों में से सत्त्व आदि एक एक को दूसरों के साथ मिलाकर अर्थात् प्रत्येक मूल उपादान का अन्योन्यमिथुन करके विविध सृष्टि की रचना करता है। अचेतन उपादान की व्यक्तिगत अनन्तता का यहां स्पष्ट उल्लेख है।

**ऋग्वेद में प्रकृति की एकता का तात्पर्य**—ऋग्वेद [१।१६४।२०] की जो ऋचा प्रस्तुत की गई है, वहां भी 'समान' पद प्रकृति की व्यक्तिगत एकता का प्रतिपादक न होकर भोग्यता अथवा नियम्यता का निर्देश करता है। ऋचा में 'द्वौ' पद भोक्ता और अभोक्ता चेतन को बताता है। उन दोनों का सम्बन्ध वृक्ष से दिखाया गया है. एक का भोक्तारूप में और दूसरे का अभोक्ता अथवा नियन्तारूप में। इसी दृष्टि से जगद्-उपादान का संकेत करने वाले 'वृक्ष' पद के साथ 'समान' पद विशेषणरूप में प्रयुक्त किया गया है। जो वस्तुतत्त्व जीवात्मा का भोग्य है, वही परमात्मा का नियम्य है। यहां पर अनन्त भोक्ता आत्माओं को 'अन्य' पद द्वारा एकरूप में वर्णन किया गया है, वह केवल उनकी भोक्तृत्व समानता के आधार पर। इसीप्रकार केवल उपादानता के आधार पर प्रकृति को 'एक' अथवा 'समान' बताया जाता है, जबकि स्वरूप से वे अतिसूक्ष्म मूल

तत्त्व अनन्त रहते हैं। इसी भाव को दूसरे रूप में इसप्रकार प्रस्तुत किया जासकता है, कि एकमात्र अचेतन की उपादानता को प्रकट करने के लिये मूल की एकता का कथन है। अचेतनमात्र के अतिरिक्त दूसरा तत्त्व उपादान नहीं है, केवल एक अचेतन तत्त्व उपादान होसकता है। अचैतन्यरूप से एकता अथवा उपादानतारूप से एकता, दोनों प्रकार से कथन करने में एक ही भाव प्रकट होता है। इसप्रकार मूल उपादान तत्त्वों के अनन्त होने पर भी जहां तहां उक्त आधारों पर औपचारिकरूप में उनकी एकता का कथन किया गया है।

**सांख्यसप्तति की व्यापिता का तात्पर्य**—सांख्यसप्तति [१०] में व्यक्त तत्त्व की अव्यापिता और अनेकता का उल्लेख कर उससे विपरीत अव्यक्त को व्यापी और एक बताया गया है। वह समस्त कार्य का एकमात्र उपादान होने के आधार पर ऐसा कथन है। कोई ऐसा कार्य नहीं, जिसका उपादान प्रकृति न हो। जब किसी न किसी कार्य की सत्ता प्रत्येक स्थान पर है, तब मूल उपादान का अस्तित्व भी वहां मानना पड़ेगा। इसी आशय से प्रकृति की व्यापिता तथा एकता का कथन है, उसकी व्यक्तिगत एकता के आधार पर नहीं। जब सत्त्व रजस् तमस् इन तीन गुणों को मूल उपादान कहा जाता है, तब व्यक्ति रूप में एक तो इन्हें किसी तरह नहीं कहा जासकता, फिर स्वरूप से प्रकृति की एकता कैसे मानी जासकती है? सप्तति के व्याख्याकारों ने इन पदों का अर्थ उक्त आधार पर ही किया है। फिर व्यक्त से विपरीत होते हुए भी चेतन को एक न मानकर अनेक माना है।

सांख्यसप्तति की दसवीं आर्या में व्यक्त पदार्थों के अव्यापी होने का उल्लेख किया है, और उसी आर्या के अन्तिम पदों से यह अतिदेश किया है, कि उससे [व्यक्त से] विपरीत अव्यक्त है। स्पष्ट है, कि व्यक्त के जो धर्म हैं, उससे विपरीत अव्यक्त के हैं। यह एक ध्यान देने के योग्य बात है, कि दसवीं आर्या जिन सांख्यसूत्रों के आधार पर बनाई गई है, उनमें व्यक्त के धर्म बताने के लिये 'अव्यापि' पद नहीं है। सूत्र का पाठ है—'हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्'। ईश्वरकृष्ण ने कारिकारचना के समय इसमें 'अव्यापि' पद और जोड़कर इसे आर्या का रूप दे दिया। ईश्वरकृष्ण के काल तक सांख्यसिद्धान्तों की मान्यता में बहुत कुछ उलटफेर होचुकी थी, इस विषय में जैसा विचार तात्कालिक विद्वानों के पठन-पाठन में था, उसी के अनुसार ईश्वरकृष्ण ने इसमें यह संशोधन या संवर्धन कर दिया। यद्यपि व्यक्त पदार्थ अव्यापी हैं, पर यह कथन दोषपूर्ण उस समय हुआ, जब अव्यक्त को उससे विपरीत बताया गया। कापिल सूत्रों में अव्यक्त के ऐसे स्वरूप की मान्यता का उल्लेख नहीं है, अव्यक्त को अहेतुमत्, नित्य और अनाश्रित तो बताया गया है, पर एकव्यक्तिरूप मानकर व्यापी नहीं। इसके लिये सांख्यषडध्यायी के [१।३२-३३] सूत्र[1] द्रष्टव्य है। आगे ४१ वें सूत्र में परिच्छिन्न की सर्वोपादानता का जो निषेध किया

१—यह सूत्रसंख्या हमारे सम्पादित व व्याख्यात सांख्यदर्शन की है, इसमें ३५ जोड़कर किसी अन्य संस्करण में सूत्र देखा जासकता है।

गया है, वहां 'परिच्छिन्न' पद संघात अर्थात् कार्यरूप एकदेशी पदार्थ के लिये प्रयुक्त है, मूलरूप असंहत नित्य तत्त्व के लिये नहीं। सत्त्व-रजस्-तमस् ही मूलप्रकृतिरूप है, तब प्रकृतितत्त्व को एकव्यक्तिरूप कहना असंगत है; फिर सत्त्व आदि के साधर्म्य का सांख्य में स्पष्ट उल्लेख किया गया है, जो सत्त्व आदि की अनन्तव्यक्तिरूपता को स्पष्ट करता है। फलत: कपिल की भावना इस रूप में प्रकृति को व्यापी बताने की नहीं रही है यह बात सूत्र में 'अव्यापि' पद न पढ़ने से स्पष्ट होती है।

**गीता के 'सम्भव' पद का तात्पर्य**—गीता के श्लोक [१४।५] में 'सम्भव' पद का अर्थ 'उत्पन्न होना' नहीं समझना चाहिये, क्योंकि न तो गीता के विचार से और न सांख्य के विचार से सत्त्व-रजस् तमस् की उत्पत्ति मानी जाती है, अत: 'सम्भव' पद केवल उन तत्त्वों के वास्तविक अस्तित्व को कहता है। इसप्रकार श्लोक का अर्थ स्पष्ट है, कि सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों का वास्तविक अस्तित्व प्रकृतिरूप में स्वीकार किया जाना चाहिये। 'सम्' उपसर्ग 'एकीभाव' अर्थ में प्रयुक्त होता है [निरुक्त १।३], इसलिये 'प्रकृतिसम्भव' पद का अर्थ होगा—प्रकृत्येकीभूत, प्रकृत्यसंभिन्न अथवा प्रकृतिरूप। तात्पर्य यह, कि ये तीन प्रकार के तत्त्व जगत् के मूल उपादानरूप हैं। यहां पर प्रकृति की एकता का नहीं, प्रत्युत प्रकारान्तर से अनेकता का वर्णन किया गया है।

**प्रकृति की एकता का प्रवाद**—यद्यपि सांख्य के व्याख्याग्रन्थों में इसप्रकार के उल्लेख उपलब्ध हैं, जिन में व्यक्तिरूप से प्रकृति की एकता का कथन किया गया है, और उन विचारों का विरोध किया गया है, जिनमें प्रकृति की अनेकता के संकेत मिलते हैं। पर कपिल के कोई ऐसे निर्देश प्राप्त नहीं हैं, जहां प्रकृति की एकता का संकेत हो। प्रत्युत इनके विपरीत जब सांख्य में प्रकृति के साम्य और वैषम्य का वर्णन किया जाता है, और उससे विविध तथा परस्पर विलक्षण सृष्टि का उत्पन्न होना स्वीकार किया जाता है, तब प्रकृति की अनेकता से नकार कैसे किया जासकता है? इस सम्बन्ध के कतिपय वर्णनों से यह स्पष्ट होता है, कि सांख्य के प्राचीन आचार्य प्रकृति की अनेकरूपता को स्वीकार करते रहे हैं। सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में एक सन्दर्भ इस-प्रकार उपलब्ध होता है—

> "प्रतिपुरुषमन्यत् प्रधानं शरीराद्यर्थं करोति,.........इति पौरिक: सांख्याचार्यो मन्यते।"

प्रत्येक पुरुष के लिये अन्य अन्य प्रधान शरीरादि अर्थ का सम्पादन करता है, यह पौरिक सांख्याचार्य मानता है। इस सन्दर्भ में यह एक विचारणीय बात है, कि 'पौरिक' किसी विशेष सांख्याचार्य व्यक्ति का नाम है, अथवा पुराकाल में होने वाले आचार्यमात्र के लिये ऐसा निर्देश किया गया है? अन्य साक्षियों से इसका निर्णय किया जासकता है, कि यह किसी व्यक्तिविशेष का नाम न होकर प्राचीन सांख्याचार्यों का इस रूप में निर्देश है। षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृतव्याख्या [बंगाल एशियाटिक सोसायटी

कलकत्ता-संस्करण] के ६६ पृष्ठ पर एक लेख है—

"मौलिक्यसांख्या ह्यात्मानमात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति, उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वप्येकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः।"

मूल में होने वाले सांख्याचार्य कहते हैं, कि प्रत्येक आत्मा के प्रति पृथक् पृथक् प्रधान रहता है। तथा उत्तरवर्ती सांख्याचार्यों का मत है, कि सब आत्माओं के लिये एक ही प्रधान कार्य किया करता है। गुणरत्नसूरि ने जिस अर्थ का निर्देश 'मौलिक्यसांख्याः' पद से किया है, उसी अर्थ का निर्देश युक्तिदीपिका में 'पौरिकः' पद से किया गया है। इससे स्पष्ट होता है, कि 'पौरिक' पद का अर्थ साधारणरूप से—पुराकाल में होने वाले सांख्याचार्य—किया जाना चाहिये। इसीप्रकार का आशय, पातञ्जलयोगसूत्र [२।२२] की व्यासभाष्यगत अवतरणिका पर टिप्पणी करते हुए बालराम उदासीन ने प्रकट किया है। यद्यपि वहां इस अर्थ को 'उपनिषत्' के नाम से निर्दिष्ट किया गया है, पर उपनिषत् के उन स्थलों का वहां कोई संकेत नहीं। न होने पर भी यह जाना जासकता है, कि उपनिषदों में इस सिद्धान्त को किस आधार पर प्रकट किया गया है। प्रश्न और छान्दोग्य के प्रसंगों का उल्लेख पीछे हुआ है। अन्य भी यदि कोई उल्लेख हों, तो उनको कापिल सांख्य के अनुसार प्रकट किया गया संभावना किया जासकता है। इससे स्पष्ट होता है, कि मूल उपादान तत्त्वों की अनेकता का प्राचीन सांख्याचार्यों ने प्रतिपादन किया है। प्राचीन सांख्याचार्यों से कपिल आदि का ग्रहण किया जाना चाहिये।

युक्तिदीपिका के उक्त प्रसंग में तथा योगसूत्र [२।२२] के व्याख्याकारों ने उस स्थल में प्रकृति की अनेकता का प्रतिषेध कर एकता की स्थापना की है, और उन प्रसंगों से यह प्रतीत होता है, कि वहां व्यक्तिरूप से प्रकृति की एकता स्वीकार कीगई है। सांख्य परम्परा में यह प्रवाद किस कारण और कब से चल पड़ा, यह निश्चित रूप में नहीं कहा जासकता, पर इनसे यह संकेत अवश्य मिलजाता है, कि प्राचीन सांख्याचार्यों का इस विषय में क्या मन्तव्य था।

कोई भी विचारशील व्यक्ति इस बात को समझ सकता है, कि एक आत्मा कभी समस्त प्रकृति का भोग नहीं करता। उसका कुछ अंश ही उसके उपयोग में आता है। जो अंश एक समय एक आत्मा के उपयोग में आरहा है, वही अंश उस समय किसी दूसरे के उपयोग में आना अशक्य है। यह विचारिये, कि प्रकृति का कितना अंश एक आत्मा के उपयोग में आता है। सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर तथा कुछ बाह्य अर्थ जिनको आत्मा एक समय में भोगता है। बस इतने में एक आत्मा के उपयोग की प्रकृति सीमित है। पर समस्त प्रकृति इतनी ही तो नहीं है। इसलिये प्रत्येक आत्मा के प्रति समस्त एक प्रकृति का उपयोग होता है, यह कथन प्रत्यक्ष के अनुसार पूरा नहीं उतरता। प्रकृति का बहुत थोड़ा अंश एक समय एक आत्मा के उपयोग में आता है, और वह प्रकृति का वास्तविक अंश है, काल्पनिक नहीं। इसप्रकार प्रकृति के अनन्त अंश कहे

जासकते हैं, जो पृथक् पृथक् प्रत्येक आत्मा के उपयोग में आते है। इसी आशय से प्राचीन सांख्याचार्यों ने प्रकृति की अनेकता को स्वीकार किया है। अनेकता स्वीकार करने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है, कि समष्टिरूप में जो प्रकृति है, उसीप्रकार की समस्त एक-एक प्रकृति प्रत्येक पुरुष के लिये पृथक्-पृथक् कार्य करती है। इसप्रकार प्रकृति को परमात्मा के समान एक तत्त्वरूप में एक व्यक्ति स्वीकार करना सांख्यसिद्धान्त के अनुकूल नहीं है।

**प्रकृति की एकता में वाचस्पति का विचार**—वाचस्पति मिश्र ने सांख्यसप्तति की बारहवीं और तेरहवीं आर्याओं की व्याख्या करते हुए सत्त्व रजस् तमस्रूप में मल उपादान के नानात्व को स्वीकार कर, तत्त्ववैशारदी [२।२२] और भामती [१।४।३] में सांख्यसिद्धान्त से प्रकृति की एकता का प्रतिपादन किया है, जो चिन्तनीय है। तत्त्व-वैशारदी में श्वेताश्वतर उपनिषद् के 'अजामेकां' इस प्रमाण के आधार पर प्रकृति की एकता का इस भावना से प्रतिपादन करना संगत नहीं कहा जासकता, कि प्रकृति व्यक्ति-रूप से एक तत्त्व है। यह निरूपण कर दिया गया है, कि वहां 'एक' पद का निर्देश, प्रकृति के एकमात्र भोग्य एवं उपादान होने को प्रकट करता है। फिर आगे 'भोक्ता' के साथ भी 'एक' पद का निर्देश है, जो वस्तुतः अनेक हैं। वहां 'एक' पद से भोक्ता आत्माओं के एक दल का निर्देश समझना चाहिये। उक्त स्थल में प्रकृति की एकता का निर्देश इस-लिए भी नहीं माना जाना चाहिये, कि वहीं पर उसे लोहित-शुक्ल-कृष्ण रूप बताया गया है, जिससे स्पष्ट ही उसका नानात्त्व प्रमाणित होता है।

**मूल उपादानविषयक वेदान्तविचार**—वेदान्तमत के अनुसार जगत् का मूल उपादान 'अविद्या' है। उसी के लिये अव्यक्त माया महामाया बीजशक्ति आदि पदों का प्रयोग किया जाता है। यह एक भावरूप तत्त्व है। सांख्य में इसी को त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति कहा गया है। इसका 'अविद्या' नाम इसके जड़ स्वरूप को प्रकट करता है। विद्या ज्ञान अथवा चेतन का नाम है, जो विद्या अर्थात् चेतन नहीं है, वह अविद्या है, अचे-तन हैं। ये पद एक अर्थ-जड़ तत्त्व-का निरूपण करते हैं। वेदान्त में अविद्या को प्रत्येक जीवात्मा के प्रति पृथक् पृथक् माना गया है। वेदान्तसूत्र [१।४।३] की भामती में वाच-स्पति ने इस अर्थ का स्पष्ट उल्लेख किया है। योगसूत्र [२।२२] की टिप्पणी में बालराम उदासीन ने उपनिषद् के नाम पर इस सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया है, यह संभव है, कि उसका संकेत वाचस्पतिनिर्दिष्ट उक्त विचार की ओर हो। पर यह स्पष्ट है, कि युक्ति-दीपिका और हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत व्याख्या में पुरातन सांख्याचार्यों का जो मत प्रकट किया गया है, उससे उक्त वेदान्तमत का कोई भेद नहीं है। वेदान्त में अविद्या का जिस आडम्बरपूर्ण रीति से वर्णन किया गया है, वह ऐसा प्रतीत होता है, जैसे अविद्या की वस्तुसत्ता को भुलावे में डालने का यत्न किया जारहा हो, पर उसका इतना सार निश्चितरूप से निकल आता है, कि अविद्या एक वस्तुसत् तत्त्व है,

जो चेतनस्वरूप नहीं है। वस्तुतः सांख्याभिमत प्रकृति को वेदान्त में कुछ अभिनवरूप देने के लिये यह एक कृत्रिम आलेप का प्रयोग किया गया है, जिसके क्षुण्ण होजाने पर दोनों मतों की एकता स्पष्ट देखी जा सकती है।

**मूल उपादान की अनेकता का निगमन**—हमारा लक्ष्य इस विषय में या अन्य किसी विषय में सांख्य वेदान्त की एकता का प्रदर्शन करना नहीं है, प्रत्युत यहां केवल इतना अभिप्रेत है, कि प्रकृति की अनेकता या अनन्तरूपता को अधिक स्पष्ट समझने के लिये प्रत्येक आत्मा के प्रति पृथक् अविद्या का स्वीकार किया जाना अच्छा प्रकाश डालता है। इससे प्रत्येक आत्मा के प्रति पृथक् प्रधान माने जाने का सांख्यसिद्धान्त का स्वरूप अवश्य कुछ स्पष्ट होजाता है। यहां हम विचार की उसी स्थिति में आजाते हैं, कि कोई एक आत्मा समस्त प्रकृति का उपयोग नहीं करपाता। उसके समस्त भोग प्रकृति के बहुत थोड़े भाग के आधार पर सम्पन्न होजाया करते हैं। अपवर्ग के लिये प्रवृत्ति होने पर जब समाधिलाभ के अनन्तर आत्मसाक्षात्कार होजाता है, तब प्रकृति के उतने भाग का भी उस आत्मा के लिये कोई उपयोग नहीं रहता। चालू देह का पात होजाता है, और आगे देहान्तर का आदान नहीं होता। सूक्ष्मदेह के घटक प्राकृतिक अवयव–जो आदिसृष्टि से लगातार आत्मा को आवेष्टित किये हुए थे–अपने कारणों में लीन होजाते हैं, क्योंकि संसार में उस आत्मा का प्रयोजन अथवा अन्तिम लक्ष्य पूरा होचुका होता है। इसी भावना को 'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् [२।२२]' इस योगसूत्र में स्पष्ट किया है।

**मूल उपादान का नाश नहीं, प्रत्युत अनुपयोग**—जिस आत्मा को स्वरूप का साक्षात्कार होगया होता है, ऐसे व्यक्ति के प्रति प्रधान का कोई उपयोग नहीं रहता, अतः उसके लिये वह नष्ट के समान है। वस्तुस्थिति में वह नष्ट नहीं होता, क्योंकि अन्य आत्माओं की वैसी ही साधारण अवस्था बनी है, उन्हें स्वरूप साक्षात्कार नहीं हुआ, और प्रधान की प्रवृत्ति यथापूर्व चल रही है। किसी एक आत्मा के स्वरूपसाक्षात्कार अथवा विवेकज्ञान होजाने पर प्रकृति का कोई छोटे से छोटा भाग भी स्वरूपतः नष्ट नहीं होता, और न उसकी कार्यप्रवृत्ति विरत होती है। सत्कार्यवादी सांख्यसिद्धान्त में किसी वस्तु का स्वरूपनाश संभव नहीं। इसप्रकार एक अथवा अनेक आत्माओं के आत्मज्ञान होजाने पर भी चालू संसार में कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि जो प्रकृत्यंश उन आत्माओं के उपयोग मे आरहा था, वह अपने कारणों में लीन होकर आत्मान्तर के उपयोग के लिये प्रस्तुत होजाता है, और अन्य अनन्त अविवेकी आत्माओं के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति बराबर उसी रूप में बनी रहती है। यदि व्यक्तिरूप से प्रकृति को एक माना जाय, तो एक आत्मा के विवेकी होजाने से उसके लिये प्रकृतिकार्य रुद्ध होजाने पर समष्टि रूप में प्रकृति का कार्य रुद्ध होजाना चाहिये। पर ऐसी स्थिति सर्वथा असंभव है, जो प्रकृति की अनेकरूपता को स्पष्ट करती है।

**प्रकृति के एकता-प्रवाद का आधार**—सांख्य में प्रकृति की एकता के प्रवाद का आधार उसकी एकमात्र भोग्यता व उपादानता है, यह प्रथम स्पष्ट कर दिया गया है। अन्य किसी तत्त्व के उपादान न होसकने के कारण इस एकमात्र विशेषता के आधार पर प्रकृति की एकता का वर्णन समझना चाहिये। पर अनन्तर काल में कदाचित् इधर दृष्टि न जाने से कतिपय व्याख्याकारों ने प्रकृति की व्यक्तिगत एकता का उल्लेख किया है। यह संभव है, कि उस समय तक बौद्धों के शून्यवाद अथवा शंकर के ब्रह्मैक्यवाद से मूल उपादान के सम्बन्ध में उन विद्वानों की भावना पूर्णरूप से प्रभावित हों, जिसके कारण वस्तुतत्त्व की उपेक्षा कर उन्होंने सांख्य में प्रकृति की एकता का प्रतिपादन किया हो। विज्ञानभिक्षु ने अपने ग्रन्थों में इस विचार का पूर्ण विरोध किया है, और प्रकृति की अनन्त परमाणुरूपता का आरभटी के साथ प्रतिपादन किया है। इस सम्बन्ध में भिक्षु के 'सांख्यसार' ग्रन्थ का प्राथमिक भाग तथा योगवार्त्तिक [२।१८] के अनेक स्थल द्रष्टव्य हैं। पुराणों में भी सांख्य विचार के अनुसार प्रकृति के ऐसे स्वरूप का उल्लेख किया गया है। इस प्रसंग में विष्णुपुराण [२।७।२५-२७] के अनेक स्थल द्रष्टव्य हैं। वहां सांख्यसिद्धान्त के अनुसार सत्त्वरजस्तमोरूप प्रकृति को इनके अनन्त परमाणुरूप में वर्णन किया गया है।[1] इसप्रकार कापिल सांख्य के अनुसार प्रकृति की व्यक्तिरूप एकता का स्वीकार करना संगत न होगा। प्रकृति की स्थिति अनन्तपरमाणुरूप में स्वीकार की जानी चाहिये।

**विभु मन के आधार पर प्रकृति की विभुता का माना जाना**—प्रकृति को विभु मानने का एक अन्य कारण इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है, कि जब किसी व्यक्ति को पूर्ण समाधि अवस्था प्राप्त होजाती है, उस समय वह अतीत अनागत तथा विप्रकृष्ट वस्तुओं का साक्षात्कार करता है। ऐसी स्थिति में हरद्वार बैठा हुआ योगी जब बम्बई, कलकत्ता अथवा इससे भी दूर किसी विदेशी प्रदेश या नगर का अथवा और दूर किसी

---

१. महान्तञ्च समावृत्य प्रधानं समवस्थितम्॥
अनन्तस्य न तस्यान्तः संख्यानं चापि विद्यते।
तदनन्तमसंख्यातप्रमाणं व्यापि वै यतः।
हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सा परा मुने।
अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि च॥

**महान् [बुद्धि तत्त्व] को आवृत करके प्रधान अवस्थित रहता है, क्योंकि प्रधान सबका मूल कारण है। महत्तत्त्व आदि सब कार्य प्रधान में समाविष्ट रहते हैं। प्रधान अनन्त हैं, उनकी गणना नहीं की जासकती। समस्त प्रधान किसी एक देश में सीमित नहीं, और वह असंख्यात हैं, इसी कारण उसे व्यापी कह दिया जाता है। वह मूलप्रकृति अशेष जगत् का उपादान है। सहस्रों लाखों करोड़ों अरबों लोकलोकान्तर उसी के कार्य हैं, उसी में समाविष्ट हैं। अनन्त लोकों के अनन्त असंख्यात मूल उपादान ही प्रकृति है।**

लोकान्तर का साक्षात्कार करना चाहता है, तब वह अपने अन्तःकरण या मनके द्वारा उन नगरों या प्रदेशों का साक्षात्कार कर सकता है। यदि मन अणु है और अपने देह के एक कोने में पड़ा है, तो वह स्थिति बन नहीं सकती। इसलिये मन को विभु माना गया है। जब योगी किसी विप्रकृष्ट नगर अथवा लोकान्तर का साक्षात्कार करना चाहता है, तब उसका विभु मन वहां पहले से विद्यमान है, केवल उस प्रदेश में योगज शक्ति से वृत्ति को उत्पन्न करता है, और उस वस्तु का साक्षात्कार कर लेता है। यह स्थिति मन को विभु माने विना संभव नहीं होसकती। अपने आपको अनुभवी योगी कहने वाले एक महानुभाव ने हमें यह बात बताई, पर इसप्रकार का कोई अनुभव हमें नहीं हुआ, कि वे योगी स्वयं विप्रकृष्ट वस्तु के साक्षात्कार करलेने की अवस्था तक पहुंच गये हैं। अभिप्राय यह, कि योगी के विप्रकृष्ट प्रत्यक्ष को स्वीकार कर लेने पर मन को विभु माना जाना चाहिये। यदि यह स्थिति ठीक है, और मन विभु है, तो यह अनन्त परमाणुरूप प्रकृति का कार्य नहीं होसकता। विभु मन का कारण या उपादान विभु प्रकृति होनी चाहिये। इसप्रकार प्रकृति की विभुता अनिवार्य होजाती है।

पातञ्जलयोगसूत्र [४।१०] पर भाष्य करते हुए व्यासमुनि ने इस अर्थ को स्वीकार किया है, कि मन विभु है, और मन का उपादान कारण अहंकार आकाश के समान व्यापक है। फिर अहंकार के उपादान बुद्धि और उसके आगे प्रकृति को भी विभु स्वीकार करना होगा। वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसंग में भाष्य की ऐसी ही व्याख्या की है। परन्तु बालराम उदासीन ने इस पर टिप्पणी करते हुए अपना मत प्रकट किया है, कि भाष्यकार का अभिप्राय वस्तुतः मन को विभु प्रतिपादन करने का नहीं है। इसीलिये शेष भाष्य के समान साधारणरूप से इस अर्थ को न कहकर 'आचार्य' के नाम से उल्लेख किया है, जिससे भाष्यकार ने इस विषय में अपना अस्वारस्य लक्षित किया है। स्पष्टरूप में भाष्यकार को यह मत अभिमत नहीं। इसलिये उदासीन मोहदय ने यह लिखकर मन को मध्यम परिमाण बताया है, कि कापिल सांख्य के अनुसार यहां पर सूत्र एवं भाष्यकार को यही मत अभिप्रेत है। जैसे एक प्रदीप यदि घटके मध्य में रख दिया जाय, तो वह उसी अन्तराल को प्रकाशित करता है, यदि वही प्रदीप प्रासाद में रख दिया जाता है, तो वह उतने विशाल प्रासाद को प्रकाशित कर देता है। ऐसे ही कीड़ी और कुन्जर के लघु और विशाल शरीरों में मन संकोच व विकास के साथ अपनी क्रियाशीलता को प्रवृत्त रखता है।

**मन की विभुता का विवेचन**—इन दोनों विचारधाराओं में पहले यह विवेचन करने की आवश्यकता हैं, कि योगी को अतीत अनागत अथवा विप्रकृष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष करने के लिये मन को विभु मानना अनिवार्य होगा या नहीं? यदि मन को विभु मान लिया जाता है, तो योगी की बात तो पीछे है, सर्वसाधारण को प्रत्येक इन्द्रिय से युगपत् ज्ञान होने की आपत्ति का कोई उचित समाधान नहीं किया जासकता। मन को अणु मानने पर तो यह व्यवस्था है, कि एक समय में वह एक ही बाह्य इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता

है, और उस समय उसी इन्द्रियद्वारा ज्ञान ग्रहण हो सकता है। इसप्रकार सदा एक समय में एक ज्ञान होता है, एक साथ अनेक ज्ञानों का हो जाना सम्भव नहीं। पर मन को विभु मानने पर यह व्यवस्था रह नहीं सकती। सब इन्द्रियां अपने अपने विषयों के साथ यथा-संभव सम्बद्ध हैं, और विभु होने से सब इन्द्रियों के साथ युगपत् मन का सम्बन्ध है। तब प्रतिक्षण प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा एक साथ ज्ञान होते रहने चाहियें। पर ऐसा होता नहीं, और उसका कारण है मन का अणु होना, क्योंकि अणु मन प्रत्येक इन्द्रिय के साथ क्रमपूर्वक सम्बद्ध होसकता है। इसीलिये कपिल ने सांख्यषडध्यायी सूत्र [२।३२] में इस अर्थ को स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त [३।१४।१५ तथा ५।६९।७०] सूत्रों में मनकी विभुता व व्यापकता का स्पष्ट प्रतिषेध किया है, और अणुता का प्रतिपादन किया है।

जिन ज्ञानस्थलों में आपाततः युगपत्प्रतीति का भान होता है, वहां भी कपिल ने मुख्यतः क्रमिक प्रतीति को ही स्वीकार किया है। जैसे कमल की पंखुड़ियों में सुई छेदने पर ऐसा भान होता है, कि सब पत्ते एक साथ बिंध गये हैं। पर वे सब क्रमपूर्वक बींधे जाते हैं। एक पत्ते में से सुई निकलने पर दूसरे का क्रम आता है। इसीप्रकार शष्कुलीभक्षण अथवा सहसा आलोक में व्याघ्र आदि के देखे जाने पर वृत्तियाँ क्रमशः ही होती हैं, पर तन्मयता अथवा भय आदि के कारण वृत्तियों के क्रम का ग्रहण न होने से उनके एक साथ होने की भ्रान्ति हो जाती है। ज्ञान के सम्बन्ध में कपिल का यह विचार [२।३२] मनकी अणुता के लिये प्रबल प्रमाण है।

**योगी के अतीतादिप्रत्यक्ष में योगजशक्ति प्रयोजक**—यदि योगी को अतीत अनागत और विप्रकृष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष होने के लिये मन विभु माना जाता है, तो उस वस्तु को विप्रकृष्ट नहीं कहा जाना चाहिये। क्योंकि मन के विभु होने से प्रत्येक वस्तु उसके सन्निकृष्ट है, विप्रकृष्ट नहीं। फिर अतीत अनागत वस्तु के प्रत्यक्ष में मन की विभुता प्रयोजक नहीं है। सांख्य सत्कार्यवादी है, प्रत्येक कार्य अपनी अतीत अनागत अवस्था में कारणस्वरूप से विद्यमान रहता है। कार्यमात्र का मूल कारण प्रकृति है। योगजधर्म से योगी के अन्तःकरण या मन में ऐसा अतिशय प्रादुर्भूत हो जाता है, जिससे वह सीधा प्रकृति के साथ अपना सम्पर्क स्थापित कर लेता है, और प्रकृति का साक्षात्कार कर लेने से समस्त अतीत अनागत धर्मों एवं वस्तुओं का साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष में योगजधर्म से मन में प्रादुर्भूत अतिशय विशेष ही प्रयोजक है, मन की विभुता नहीं [१।५६]। विप्रकृष्ट वस्तु के प्रत्यक्ष में भी योगी का ऐसा ही मन प्रयोजक है, उसका विभु होना आवश्यक नहीं। अन्यथा योगजधर्मजनित अतिशय विशेष के अभाव में विभु मन के द्वारा अतीत अनागत विषयों का ग्रहण होना चाहिये। वस्तुतः जिसको 'योगज शक्ति' कहा जाता है वह आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, अतः उसका रूप है। समाधिलाभ से वह केवल उभर आता है, जीवन्मुक्त अवस्था में व्यावहारिक दृष्टि से हमने उसका उल्लेख मन के अथवा अन्तः करण के साथ कर दिया है। मोक्ष अवस्था

में आत्मा की यही शक्ति व सामर्थ्य आनन्दानुभूति का प्रयोजक होता है।

**योगी का ज्ञान अनैन्द्रियक**—इसके अतिरिक्त यदि योगी के प्रत्यक्ष में विषय के साथ सम्पर्क होना आवश्यक है, तो यह भी देखना चाहिये, कि योगी को जो इसप्रकार का प्रत्यक्ष होता है, वह केवल मानस होता है, या ऐन्द्रियक? पहले विकल्प में मन का बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध संभव नहीं। बाह्य विषय के साथ मनका सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा सम्भव होसकता है। प्रत्येक आचार्य व दर्शनकार ने मन का ऐसा ही स्वरूप स्वीकार किया है। योगसमाधिजन्य अतिशय विशेष प्राप्त होजाने पर मन स्वरूप का हान नहीं कर देता। यदि दूसरे विकल्प के अनुसार वह प्रत्यक्ष ऐन्द्रियक माना जाता है, तो मन को विभु मानने के समान इन्द्रिय को भी विभु मानना होगा। क्योंकि दूरस्थ वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध ऐसी ही अवस्था में सम्भव होसकेगा। फिर जैसे व्यासभाष्य और तत्त्ववैशारदी [४।१०योगसूत्र] में कहा गया है, कि आकाश के समान व्यापक अहंकार का कार्य होने से मन को विभु मानना चाहिये, तब समस्त इन्द्रियां भी आहंकारिक होने से विभु माननी होंगी। यह एक अन्य अनर्थ उपस्थित होजायगा। तब प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को व्यवहित विप्रकृष्ट वस्तुओं का ज्ञान होता रहना चाहिये। प्रत्युत कोई वस्तु विप्रकृष्ट अथवा व्यवहित रहेगी ही नहीं। ऐसी स्थिति में साधारण ज्ञान की जो प्रक्रिया व व्यवस्था है, वह सब अस्तव्यस्त होजायेगी। इसलिये मन अथवा इन्द्रियों को विभु मानना युक्तियुक्त नहीं, और अनुभूयमान व्यवस्था के सर्वथा विपरीत है।

**मन का परिमाण**—सांख्य वस्तुतः परिणामवादी है। इसके अनुसार सब प्रकार के सम विषम परिणाम होने में कोई बाधा नहीं। छोटे का बड़ा और बड़े का छोटा परिणाम हुआ करते हैं। समस्त वस्तुओं के मूल उपादान सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व हैं: वह परमाणु-भाव की एक सीमा है। सर्वव्यापक तत्त्व एक चेतन है, जो समस्त विश्व का नियन्ता है, वह अतिशय महान स्थिति की दूसरी सीमा है। इनके मध्य में जितने तत्त्व या पदार्थ हैं, वे सब मध्यमपरिमाण कहे जासकते हैं। उनमें से कोई मूल तत्त्व के अधिक समीप हैं, और कोई नियन्ता चेतन तत्त्व के। इसप्रकार मध्यमपरिमाण होते हुए भी परस्पर उनमें महान अन्तर है। प्रत्येक कार्य मूल उपादान की अपेक्षा अवश्य स्थूल होगा और उनमें से कोई कार्य अणु होता हुआ भी इसी कारण मध्यमपरिमाण कहा जासकता है। मन अथवा इन्द्रियों का ऐसा ही परिमाण है। मन के मध्यम परिमाण कहे जाने से उसे शरीरपरिमाण नहीं माना जा सकता। हाथी या चींटी के शरीर में जाकर मन उसी परिमाण का होजाता है, यह कथन सर्वथा उपहासास्पद है। यदि इसप्रकार मन को देहपरिमाण माना जाय, तो उसे विभु मानने में युगपत् ज्ञान होते रहने की जो आपत्ति प्रदर्शित की गई है, वह इस अवस्था में भी प्राप्त होती है। मन के देहपरिमाण होने पर देह में अवस्थित समस्त इन्द्रियों के साथ प्रतिक्षण मनका सम्बन्ध बने रहने से युगपत् ज्ञान का होना रोका नहीं जासकता। इसलिये सांख्य में यदि कहीं मन को मध्यम

परिमाण कहा हो, तो उसका यह अभिप्राय नहीं, कि वह देहपरिमाण है। प्रत्युत सांख्य में उसको साक्षात् अणु कहा है [ ३।१४,१५॥५।६९,७० ] ।

फलतः न तो योगी के अतीत अनागत अथवा विप्रकृष्ट व्यवहित वस्तु-प्रत्यक्ष के लिये मन को विभु मानने की आवश्यकता है, और न यही आवश्यक है, कि उसका उपादान विभु हो, इसलिये उसे विभु मानना चाहिये। जब मन विभु सम्भव नहीं, तो उसके आधार पर उसके उपादान की विभुता का अनुमान करना निष्प्रयोजन है। तात्पर्य यह, कि परिणामवादी सांख्य के दृष्टिकोण से मूल उपादान की व्यापकता को इस आधार पर सिद्ध नहीं किया जासकता। फलतः प्रकृति की एकता व व्यापकता का प्रवाद उसकी एकमात्र उपादानता पर आधारित है, अतः उसे औपचारिक ही समझना चाहिये, वास्तविक नहीं।

**कापिल प्रकृति और गौतम-कणाद के परमाणुवाद में अन्तर**—पिछली पंक्तियों में यह प्रकट किया गया है, कि कापिलसिद्धान्त के अनुसार प्रकृति अनन्त परमाणुरूप में अवस्थित रहती है। ये परमाणु सत्त्वरजस्तमोरूप हैं। जब तक ये सम अवस्था में रहते हैं, 'प्रकृति' नाम से कहे जाते हैं। जब कार्योन्मुख होते हैं, इनमें वैषम्य आता है, तब ये विविध कार्यरूपों में परिणत होने लगते हैं। प्रकृति को अनन्त परमाणुरूप मानने पर यह जिज्ञासा होती है, कि गौतम-कणाद ने जिस परमाणुवाद का प्रतिपादन किया है, और परमाणु का जो स्वरूप बतलाया है, क्या सांख्य की प्रकृति उसी के समान है, अथवा उसमें कुछ अन्तर है? इन दोनों की वास्तविक स्थिति का विवेचन होना आवश्यक है। इसका स्पष्टीकरण न होने पर शास्त्रीय अर्थ संदिग्ध रह जायगा।

**न्यायवर्णित परमाणु**—यह ठीक है कि न्याय[1] के परमाणु और सांख्य की प्रकृति को अपने अपने शास्त्र में समस्त विश्व का मूलउपादान कहा गया है, और इस दृष्टि से आपाततः इन दोनों की समानता प्रतीत होती है, या कम से कम इस रूप में समानता कही जासकती है, पर वस्तुतः उन उन शास्त्रों में इनका जो स्वरूप वर्णन किया गया है, उससे इनके भेद का रहस्य अवगत हो जाता है। न्याय में चार प्रकार के परमाणु बताये गये हैं—पार्थिव परमाणु, जलीय परमाणु, तैजस परमाणु और वायवीय परमाणु। इससे यथाक्रम पृथिवी, जल, तेज और वायु तत्त्वों या भूतोंकी उत्पत्ति होती है। स्थूल दृश्यमान पृथिवी में जो विशेषता हैं, केवल स्थूलता को छोड़कर अन्य समस्त विशेषता पार्थिव परमाणु में विद्यमान रहती हैं। पृथिवी गन्धवती होती है। अन्य जल आदि तत्त्वों से इसका भेद गन्ध के कारण प्रतीत होता है। पार्थिव परमाणु इसीप्रकार गन्धवान् होता

---

१. इस प्रसंग में न्याय-वैशेषिक अथवा गौतम-कणाद के परमाणुवाद को प्रकट करने के लिये केवल 'न्याय' पद का संक्षेप की भावना से प्रयोग किया जायगा। इसलिये प्रस्तुत प्रसंग में 'न्याय' पद से न्याय और वैशेषिक दोनों शास्त्रों का अभिप्राय समझना चाहिये।

है। जलीय परमाणु से पार्थिव परमाणु का भेद उसके गन्ध के कारण अवगत हो जाता है। अथवा यह कहना चाहिये, कि एक परमाणु को उसके गन्ध के कारण हम पहचान सकते हैं, कि यह पार्थिव परमाणु है। यही स्थिति अन्य जलीय आदि तत्त्वों के परमाणुओं की है। जैसे जल तेज और वायु में यथाक्रम रस रूप और स्पर्श की विशेषता है, ठीक वही स्थिति इनके परमाणुओं में भी रहती है। इस विश्लेषण से हम इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं, कि पृथिवी आदि में जो गन्ध आदि की विशेषता पाईजाती है, वह उसके मूल उपादान परमाणु से चली आरही है। जब स्थूल पृथिवी का विश्लेषण या विभाग करते हुए हम ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण तक पहुचते है, जिसमें गन्ध तो विद्यमान है, पर उस अवस्था में आगे उसके अन्य टुकड़े नहीं किये जासकते, न्याय की दृष्टि में वही पृथिवी का मूल परमाणु है। इसीप्रकार जल तेज और वायु तत्त्वों के मूल परमाणु हैं।

**सांख्यीय अविशेष व विशेष**—सांख्य में मूलप्रकृतिरूप सत्त्व रजस् तमस् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों अथवा परमाणुओं की ऐसी स्थिति नहीं है। इसे अधिक स्पष्टरूप में समझने के लिये यदि हम स्थूल जगत् से सूक्ष्म की ओर विचार करें, तो अच्छी सुविधा हो सकती है। यहां यह कहदेना अनुचित न होगा, कि मूल उपादन तत्त्व को चाहे कण-रूप कल्पना किया जाय, अथवा तरंगरूप, इनसे जगत् की सर्गोन्मुख प्रवृत्ति का प्रति-पादन करने में कोई अन्तर नहीं आता। सांख्य में सबसे अन्तिम अथवा सबसे स्थूल कार्य पांच भूत बताये गये हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश। पृथिवी आदि भूत हमको जिस रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, इनका स्थूलरूप यही या इतना ही है, ऐसा नहीं। प्रत्युत छोटे से छोटे पार्थिव कणों में जहां से गन्ध-विशेषता उपस्थित या प्रादुर्भूत हो जाती है, वहीं से पृथिवी का स्थूलरूप प्रारम्भ हो जाता है। न्याय में जिस छोटे से छोटे कण को परमाणु कहा हैं, उसमें भी गन्ध-विशेषता का अस्तित्व रहता है। इसलिये सांख्य के विचार से वह मूलपरमाणु अथवा सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूल तत्त्व नहीं है। क्योंकि उनमें गन्ध आदि विशेषता विद्यमान रहती है, अतएव सांख्य में उनका पारिभाषिक नाम 'विशेष' है। पांच स्थूलभूत सांख्य में 'विशेष' कहे जाते हैं। न्याय पृथिवी आदि के उस छोटे से छोटे कण के आगे और अधिक सूक्ष्मता की ओर विचार नहीं करता, जो वस्तुतः स्थूल पृथिवी आदि का सबसे पहला अविभाज्य कण है। इनके मूल उपादानों को सांख्य में 'अविशेष' अथवा 'तन्मात्र' नाम दिया गया है। इसका यही कारण है, कि इन में 'गन्ध' आदि विशेषता का अस्तित्व नहीं। फिर भी इनको 'गन्धतन्मात्र' आदि नामों से इस कारण व्यवहृत किया जाता है, कि ये मूलतत्त्व उन कणों के रूप में परिणत होते हैं, जिनमें गन्ध आदि विशेषता का प्रादुर्भाव होजाता है। कार्य अथवा परिणाम के आ-धार पर इनको यह नाम व्यवहार के लिये दिया जाता हैं, अन्यथा अविशेष अथवा तन्मात्र नामक उपादानों में गन्ध आदि विशेषताओं का अस्तित्व या प्रादुर्भाव नहीं रहता।

**स्थूलतत्त्व का स्वरूप**—साधारणरूप में स्थूलतत्त्व हम उसे कहते हैं, जो दृष्टिगोचर होता हो। सूक्ष्मवीक्षण यन्त्रों से जो दृष्टिगोचर होसके, उसे भी स्थूल समझा जायगा। अनेक प्रकार के लघुकाय कृमियों को हम इन साधारण चक्षुओं से नहीं देखपाते। परन्तु सूक्ष्मवीक्षणयन्त्र से हम उनको और उनकी प्रत्येक दैहिक क्रिया को बहुत अच्छी तरह देख सकते हैं। बहुत लघु होते हुए भी उनको स्थूल कहा जायगा। इसीप्रकार प्रारम्भिक पार्थिव कण जिनमें गन्ध-विशेषता का प्रादुर्भाव होचुका है, वे स्थूलतत्त्व की श्रेणी में आ जाते हैं। भले ही अतिलघु होने के कारण वे हमें दीख न सकते हों। इसप्रकार सत्त्व आदि मूल उपादानों से आधिभौतिक रचना में जो प्रथम परिणाम होते हैं, वे 'अविशेष' अथवा 'तन्मात्र' हैं। अभी तक उनमें गन्ध आदि विशेषताओं का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। उन अविशेषों से विशेष परिणत होते हैं। ये पृथिवी आदि के छोटे से छोटे कण हैं, जिनमें गन्ध आदि विशेषता का प्रादुर्भाव हो गया होता है। न्याय में इन्हीं को मूलपरमाणु बताया गया है, क्योंकि स्थूल जगत् को समझाने अथवा उसका विवेचन करने के लिये उसने प्रक्रिया को यहीं से पकड़ लिया है। उसने अधिक सूक्ष्म का विवेचन करने की आवश्यकता नहीं समझी। इसी दृष्टि से, कुछ नव्य नैयायिकों ने तो न्यायप्रक्रिया के अनुसार प्रमाणित त्रसरेणु पर ही मूलतत्त्व की विवेचना को समाप्त मान लिया है। उनका कहना है, कि न्यायानुमोदित त्रसरेणु तत्त्वों को स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर किया जासकता है, चाहे सूक्ष्मवीक्षणयन्त्रादि की सहायता से ही किया जासके ; पर उसके दृष्टिगोचर होने में कोई सन्देह नहीं, इसलिये उसी को मूल तत्त्व मानकर उसके आगे स्थूलजगत् का विवेचन प्रस्तुत कर लेना चाहिये। इसके विवेचन के लिये उससे अधिक सूक्ष्म में जाना अनावश्यक है।

**सांख्यीय-विशेष अविशेष का स्पष्टीकरण**—सांख्य की विशेष और अविशेष संज्ञाओं को अधिक स्पष्टरूप में इसप्रकार समझना चाहिये। उदाहरण के लिये एक सुवर्णपिण्ड लीजिये, यदि इसको लगातार तोड़ते या विभाजित करते चले जावें, तो अन्त में सूक्ष्म से सूक्ष्म जो सुवर्ण का कण होगा, वह अविभाज्य होगा। यह कायिकरूप से अविभाज्य हमने इसीलिये कहा है, कि आगे उसका विभाग हो जाने पर—जो सुवर्ण होने [सुवर्णत्व] की विशेषता उसमें थी—वह न रहेगी। सुवर्ण के अन्तिम खण्ड तक विभाग होजाने पर जो विशेषता उसमें बनी हुई थी, वह आगे विभाग व विश्लेषण होने पर नहीं रहती। यह निश्चित है, कि सुवर्ण किन्हीं अपने उपादान तत्त्वों से बना हुआ है। विभाग करते हुए जिस अन्तिम खण्ड तक सुवर्णता बनी रहती है, वह सुवर्ण का प्रथम अथवा आदितत्त्व है। इस दृष्टि से हम उसे अविभाज्य कहते हैं, कि यदि आगे उसका विभाग किया, तो वह सुवर्ण नहीं रहेगा, प्रत्युत अपने मूल कारणों के रूप में बिखर जायगा।

ठीक इसीप्रकार पृथिवीपिण्ड का विभाग करते हुए पृथिवी के जिस अन्तिम

कण में पृथिवीत्व अथवा गन्ध-विशेषता बनी है, वह अविभाज्य इसीलिये कहा जाता है, कि आगे उसका विभाग अथवा विश्लेषण हो जाने पर वहां पृथिवीत्व नहीं रहेगा। तब गन्ध-विशेषता आदि के न रहने से उसका नाम 'अविशेष' अथवा 'तन्मात्र' होगा। किसी भी तत्त्व के पिण्ड का विभाग करते हुए उसका जो अन्तिम खण्ड या कण कहा जाता है, उत्पत्ति के समय वही उसका आरम्भिक या आदिकण है। न्याय में इसी को मूलतत्त्व मानकर सृष्टि-रचना आदि का निरूपण किया गया है। उस प्रक्रिया में अविशेष अथवा और आगे सूक्ष्म मूल उपादान के विवेचन में जाने की आवश्यकता नहीं समझी गई। कपिल ने इसका वास्तविक मूल उपादानतत्त्व तक विवेचन किया। उसने समझा, कि कुछ ऐसे तत्त्व या भाव हैं, जो समस्त विश्व में व्याप्त अथवा अनुस्यूत हैं, और उनके अस्तित्व में गन्ध आदि की विशेषता प्रयोजक नहीं हैं। उसने गन्धवान् आदि अणुओं के विभाजन का विचार प्रस्तुत किया, और बताया, कि इनके मूल उपादानों की ऐसी एक अवस्था है, जहां गन्ध आदि विशेषताएं अभी व्यक्त अस्तित्त्व में नहीं आतीं। तत्त्वों की इस अवस्था को उसने 'अविशेष' अथवा 'तन्मात्र' बताया। इन के भी मूल उपादान सत्त्व आदि तत्त्व हैं, जिनका स्वरूप 'प्रीति' आदि पहले स्पष्ट कर दिया गया है। इन्हीं से समस्त विश्व व्याप्त है, इसलिये वास्तविक मूल उपादान ये ही तत्त्व हैं।

**सांख्य में मूलतत्त्वविवेचना**—सांख्य के व्याख्याग्रन्थों में मूलतत्त्वसम्बन्धी इसप्रकार की विवेचना के संकेत उपलब्ध होते हैं। पातञ्जल योगदर्शन के प्रथम पाद के व्यासभाष्य और उसकी वाचस्पतिकृत व्याख्या में इस अर्थ का उल्लेख मिलता है। इस विषय में ४० से ४५ तक सूत्र और उनके व्याख्यान द्रष्टव्य हैं। वहां सवितर्का निर्वितर्का तथा सविचारा निर्विचारा समापत्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इनके स्वरूप को समझने के लिये तो उन प्रकरणों का पर्यालोचन करना चाहिये। प्रस्तुत प्रसंग में हमें इतना देखना है—प्रथम दो समापत्तियों का विषय स्थूल और अन्तिम दो का सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म अर्थ को स्पष्ट करने के लिये व्यासदेव ने यह पंक्ति लिखी है—'पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः।' इसका अभिप्राय यह है, कि पार्थिव अणु की सूक्ष्म अवस्था गन्धतन्मात्र है, जो अन्तिम समापत्ति का विषय होता है। जब योगी समाधिभूमिकाओं में उत्तरोत्तर उन्नति करता है, अर्थात् स्थूल विषयों को अन्तःकरण का विषय न होने देकर सूक्ष्म में एकाग्र करता है, उस अवस्था का यह निर्देश है। इसमें तत्त्व की एक अवस्था पार्थिव आदि अणु हैं, जो तत्त्व की स्थूल श्रेणी की सीमा में आते हैं। इनके उपादान तत्त्व 'तन्मात्र' हैं, जिनके लिये 'सूक्ष्म' पद का प्रयोग किया गया है। पार्थिव अणु वह प्रथम तत्त्व है, जहां से उसका नाम पृथिवी पड़ा है, और वह गन्धवान् होता है। वहीं से उसमें स्थूलता का प्रारम्भ होता है। स्थूल श्रेणी में सब से छोटा होने के कारण, अथवा आगे के महान कार्यों की अपेक्षा इसके अतिलघु होने के कारण इसका व्यवहार 'अणु' पद से किया गया है। यद्यपि वाचस्पति ने व्याख्या में इसके लिये 'पर-

माणु' पद का प्रयोग किया है, जिसका कारण यही समझना चाहिये, कि पार्थिव कणों में यह सबसे छोटा कण होता है। पृथिवी के अवयवों में अत्यन्त लघु होने के कारण यदि इसे 'पार्थिव परम अणु' कह दिया जाय, तो इसमें कोई विशेष आपत्ति की बात नहीं है। यह केवल शब्द के प्रयोग का विचार है। तात्त्विक दृष्टि से निश्चित ही ये पार्थिव अणु अपने उपादान तत्त्व अविशेषों की अपेक्षा स्थूल होते हैं।

चवालीसवें सूत्र के व्यासभाष्य में 'निमित्त' पद की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने तन्मात्रों से अणुओं की उत्पत्ति का स्पष्ट वर्णन किया है। वह लिखता है—"पांच[1] तन्मात्रों से–जिनमें गन्ध-तन्मात्र की प्रधानता है–पार्थिव अणु की उत्पत्ति होती है। इसीप्रकार गन्धतन्मात्ररहित शेष चार तन्मात्रों से–जिनमें रस तन्मात्र की प्रधानता है–आप्य अणु की उत्पत्ति होती है। आगे गन्ध-रसतन्मात्ररहित शेष तीन तन्मात्रों से–जिनमें रूपतन्मात्र प्रधान हैं–तैजस अणु की उत्पत्ति होती है। ऐसे ही स्पर्शतन्मात्र और शब्दतन्मात्र से जिनमें स्पर्शतन्मात्र प्रधान है–वायवीय अणु की उत्पत्ति होती है। केवल शब्दतन्मात्र से नाभस अणु की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार सूक्ष्मभूतों के निमित्त [उपादान] तन्मात्र हैं, और सूक्ष्मभूतों से समस्त स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं।" इससे स्पष्ट होता है, कि सत्त्व आदि मूलतत्त्व आधिभौतिक रचना के लिये प्रथम तन्मात्ररूप में परिणत होते हैं, और तन्मात्रों से पार्थिव आदि अणुओं का परिणाम होता है। उनके विकार ये समस्त भूत भौतिक पदार्थ हैं। वाचस्पति के मूललेख में 'परमाणु' पद का प्रयोग है। पर अनुवाद में हमने केवल 'अणु' पद रक्खा है। इस प्रयोग की विशेषता का स्पष्टीकरण ऊपर कर दिया गया है। हमने इस बात का ध्यान रक्खा है, कि वास्तविक मूल उपादान के लिये 'परमाणु' पद का प्रयोग हो, और आधिभौतिक रचना में उसके ऐसे प्राथमिक कार्य के लिये–जो साधारणतया किसी भी उपाय से दृष्टिगोचर नहीं होपाता–'अणु' पद का प्रयोग किया जाय। इसमें यदि कहीं व्यतिक्रम दीखे, तो उसे इसी के अनुसार समझना चाहिये।

**सांख्य-न्याय के परमाणु-भेद का सार**—सांख्य की प्रकृति और न्याय के परमाणुवाद का जो भेद यहां प्रकट किया गया है, उसका सारांश इतना ही है, कि न्याय में जिनको मूल परमाणु कहा गया है, वह स्थूलभूतों की आद्य स्थिति है। सांख्य में उनको 'विशेष' कहा गया है, जो 'अविशेष' नामक तन्मात्रों के विकार हैं। उपादान तत्त्वों की 'तन्मात्र' नामक वह स्थिति है, जहां अभीतक पृथिवी जल सुवर्ण आदि किसी प्रकार की

१. पार्थिवस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्रप्रधानेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्य उत्पत्तिः। एवमाप्यस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्रवर्जितेभ्यो रसतन्मात्रप्रधानेभ्यश्चतुर्भ्यः। एवं तैजसस्य परमाणोर्गन्धरसतन्मात्ररहितेभ्यो रूपतन्मात्रप्रधानेभ्यस्त्रिभ्यः। एवं वायवीयस्य परमाणोर्गन्धादि-तन्मात्रहीनाभ्यां स्पर्शप्रधानाभ्यां स्पर्शशब्दतन्मात्राभ्याम्। एवं नाभसस्य शब्दतन्मात्रादेवैकस्मात्। तदिदं निमित्तं भूतसूक्ष्माणाम्।" [तत्त्ववैशारदी, १।४४]।

विशेषता का प्रादुर्भाव नहीं होपाया। तन्मात्र भी सत्त्व रजस् तमस् नामक मूल उपादानों के विकार हैं। सांख्य में इन्हीं मूल उपादानों को प्रकृति कहा है। इसप्रकार प्रकृति के अनन्त परमाणुरूप होते हुए भी इसका न्याय के परमाणुवाद से महान अन्तर है। इस अन्तर में भी दोनों के विरोध की स्थिति नहीं है। प्रत्युत एक ने तत्त्वविवेचन की प्रक्रिया को बीच में से पकड़कर स्थूल जगत् का व्याख्यान किया है, जब कि दूसरे [सांख्य] ने वास्तविक मूल तत्त्वों तक विवेचन प्रस्तुत किया है।

**प्रकृति में आद्यप्रेरणा**—प्रकृति परिणामिनी है, यह सांख्यसिद्धान्त है। इसमें परिणाम, परिवर्तन या उलटफेर होते रहते हैं। इस विषय को लेकर सांख्य में दोनों प्रकार के विचार पाये जाते हैं। एक विचार यह है कि प्रकृति में ये परिणाम या परिवर्तन स्वतः होते रहते हैं। प्रकृति का ऐसा स्वभाव या धर्म है। इसमें अन्य किसी का कोई हस्तक्षेप नहीं। दूसरा विचार यह है, कि प्रकृति स्वभाव से जड़ है। उसमें कोई क्रिया कोई परिणाम स्वतः नहीं होसकता। प्रकृति के किसी परिणाम या परिवर्तन के लिये अन्य चेतन की प्रेरणा आवश्यक है। यदि वह अन्य, प्रकृति के समान जड़ हो, तो ऐसी कल्पना सर्वथा व्यर्थ होगी। उस अवस्था में प्रकृति को स्वतः प्रवृत्तिशील मानना अधिक प्रामाणिक होगा। इसलिये वह अन्य, प्रकृति से भिन्नस्वभाव का कल्पना किया गया। प्रकृति जड़ है, इस लिये इसका प्रेरक तत्त्व चेतन माना गया, और उन विचारकों ने कहा, कि किसी एक चेतन सत्ता की प्रेरणा से प्रकृति में समस्त परिणाम व विकार संभव होसकते हैं। दोनों प्रकार के विचारक मूल में चेतन और जड़ तत्त्वों की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हैं, पर पहले विचारक किसी ऐसे चेतन के अस्तित्व को नहीं मानते, जो अकेला समस्त विश्व पर नियन्त्रण करता हो। हमें इस सम्बन्ध में यह खोज निकालना है, कि इस मान्यता में कपिल का विचार क्या है ?

**प्रकृति-प्रेरणा में कपिल के विचार**—कापिल सांख्यसूत्रों में ऐसे तीन प्रसंग है, जहां इस विषय का विवेचन उपलब्ध होता है। पहला प्रसंग प्रथम अध्याय के ५७ सूत्र से ६१ सूत्र तक में वर्णित[१] है। संक्षेप से इन सूत्रों में प्रतिपादित किया गया है, कि समस्त जगत् का अधिष्ठाता व नियन्ता ईश्वर है। सांख्य में जगत् के उपादानभूत ईश्वर का प्रतिषेध किया गया है। कपिल किसी ऐसे चेतन तत्त्व अथवा ईश्वर या ब्रह्म नाम के तत्त्व को स्वीकार नहीं करता, जो स्वतः परिणत होकर जगत् के रूप में परिवर्त्तित हो जाता हो या इस रूप में प्रतीत होता हो। वह इस समस्त जड़ जगत् का उपादान जड़ प्रकृति को

**१-यह सूत्रसंख्या हमारे ग्रन्थ में निर्दिष्ट सूत्रक्रम के अनुसार दी गई है। इसमें २०वें सूत्र से ५४ सूत्र तक पैंतीस सूत्र प्रक्षिप्त होने के कारण व्याख्या में से अलग कर दिये हैं। अन्यत्र मुद्रित सांख्यसूत्रों में, वहां की निर्दिष्ट संख्या के साथ ३५ जोड़कर उन सूत्रों को देखा जासकता है। यह निर्देश केवल प्रथमाध्याय की सूत्रसंख्या के लिये है। पञ्चम अध्याय को छोड़कर शेष अध्यायों में संख्या समान है।**

मानता है, और चेतन ईश्वर को उनका नियन्ता व अधिष्ठातास्वीकार करता है। इस प्रसंग का विस्तार 'पुरुष' नामक प्रकरण में दे दिया गया है।

दूसरा प्रसंग तृतीयाध्याय के ५५ से ५७ सूत्र तक वर्णित है। इस प्रसंग में जगत् को ईश्वर का परिणाम न होने पर उसके अधीन बताया गया है। जगत् के ईश्वराधीन होने में कारण बताया है, कि सर्वान्तिर्यामी ईश्वर इस समस्त जगत् का कर्त्ता है। वह प्रकृतिरूप उपादान से विश्व की रचना करता है। कपिल का यह लेख इस अर्थ को पुष्ट करता है कि ईश्वर की प्रेरणा के विना प्रकृति में किसी प्रकार की क्रिया का होना संभव नहीं। इस प्रसंग के उपसंहारसूत्र में यह स्पष्ट किया गया है, कि इसप्रकार के नियन्ता प्रेरयिता व अधिष्ठाता ईश्वर को सांख्य स्वीकार करता है, और जगत् के उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध मानता है।

तीसरा प्रकरण पंचमाध्याय के प्रारम्भ में है। यह प्रसंग कुछ लम्बा है। दूसरे सूत्र से १२वें सूत्र तक वर्णित है। यहां पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष प्रदर्शित करके यह निश्चय किया गया है, कि प्राणियों के कर्मों का फलप्रदाता होने पर भी ईश्वर रागादि दोषों से उपलिप्त नहीं होता। वह स्वतः अचेतनरूप में कभी परिणत नहीं होता, पर इन विशाल सकल लोक लोकान्तरों का नियन्त्रण व संचालन करता है। इस अखिल ब्रह्माण्ड का उपादान प्रकृति ही है, तथा शब्द प्रमाण से भी इस अर्थ की पुष्टि होती है। इन समस्त सूत्रों के पूर्वापर प्रसंग और विस्तृत व्याख्यान सूत्रस्थलों में देखने चाहियें। यहां अतिसंक्षेप से अर्थ का संकेतमात्र किया गया है। इन प्रसंगों से यह स्पष्ट होता है, कि कपिल प्रकृति में स्वतः प्रवृत्ति नहीं मानता। अर्थात् वह इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता, कि प्रकृति में चेतननिरपेक्ष प्रवृत्ति हुआ करती है। इसलिये कपिल के विचारानुसार जड़ प्रकृति में किसी प्रकार की क्रिया अथवा परिणाम होने के लिये चेतन के अनुग्रह या प्रेरणा की आवश्यकता रहती है।

**प्रकृतिप्रेरणा में पञ्चशिख के विचार**—इस सम्बन्ध में कपिल के प्रशिष्य पञ्चशिख के विचार हमारे सन्मुख हैं। यद्यपि पञ्चशिख की कोई रचना पूर्णरूप से आज उपलब्ध नहीं है, पर सांख्य के व्याख्याग्रन्थों तथा अन्य साहित्य में उद्धरणरूप से जो सन्दर्भ पञ्चशिख के उपलब्ध होते हैं, उनका हमने संग्रह किया है[1]। वहां ये संकेत स्पष्टरूप से मिल जाते हैं, कि यह सृष्टि ज्ञानपूर्वक होती है। चेतन के अधिष्ठातृत्व में प्रकृति की प्रवृत्ति हुआ करती है। उक्त संग्रह में तृतीय सन्दर्भ इसप्रकार है—

**'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते।'**

पुरुष से अधिष्ठित प्रधान प्रवृत्त होता है। यहां पर 'पुरुष' पद से साधारण जीवा-

---

१-ये सन्दर्भ 'साख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के अन्तिम अष्टम प्रकरण में पञ्चशिख प्रसंग में संगृहीत किये गये हैं। उनका हिन्दी व्याख्या सहित पृथक् प्रकाशन करने का विचार है।

त्मा का ग्रहण नहीं किया जासकता, क्योंकि अल्पज्ञ व अल्पशक्ति जीवात्मा में ऐसा सामर्थ्य नहीं, कि वह समस्त प्रकृति का अधिष्ठातृत्व सम्पन्न कर सके। अतएव यह 'पुरुष' विशेष चेतन ईश्वर संभव होसकता है। उसी संग्रह में १४वां सन्दर्भ भी इस अर्थ को पुष्ट करता है। वहां कहा गया है[1] महत्तत्त्व से लेकर विशेष [स्थूलभूत] पर्यन्त जितना सर्ग है, सब बुद्धिपूर्वक होता है। आगे आलंकारिक भाषा में वर्णन किया गया है, कि वह सर्वोत्कृष्ट सर्वान्तर्यामी चेतनतत्त्व संकल्प करता है, कि आत्मा अकेला है, सृष्टि की रचना करनी चाहिये। वह अध्यात्म एवं अधिभूत की सृष्टि कर विपर्यय अशक्ति तुष्टि सिद्धि रूप में प्रत्यय सर्ग की रचना करता है। यह सर्ग ब्रह्म के अभिध्यान संकल्प अथवा प्रेरणा से होता है। इससे स्पष्ट है, कि प्रकृति से समस्त सर्ग चेतन की प्रेरणा के विना नहीं होपाता।

**प्रकृतिप्रेरणाविषयक मत दृष्टानुसार**—यह मन्तव्य दृष्ट के अनुसार कल्पना किया गया है। संसार में जड़ और चेतन दो प्रकार के तत्त्व देखे जाते हैं। व्यक्तिरूप से किसी जड़ तत्त्व में स्वतः प्रवृत्ति नहीं होती। जहा प्रवृत्ति देखी जाती है, वहां चेतन के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। उस चेतन की साक्षात् अनभूति होती है। इस बात का निश्चय होजाने पर, कि व्यक्तिरूप से ससार में कोई प्रवृत्ति चेतन के विना नहीं हो रही; समष्टि प्रवृत्ति में किसी एक ऐसे सर्वशक्ति सर्वान्तर्यामी चेतन के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। विशेष अवस्थाओं में ऐसी चेतन सत्ता की अनुभूति भी की जा सकती है। इसप्रकार समष्टिरूप से प्रकृति की प्रवृत्ति में ईश्वर चेतन की अपेक्षा सांख्य ने स्वीकार की है। कपिल ने जगत् प्रक्रिया से ईश्वर का सर्वथा बहिष्कार नहीं किया। पर निश्चितरूप से यह ईश्वर को जगत् का उपादान नहीं मानता। उस स्थान पर कपिल ने प्रकृति को स्वीकार किया है।

**प्रकृति-प्रेरणा में वार्षगण्यमत**—इसके विपरीत सांख्य के अन्तर्गत कुछ आचार्यों ने जगत्-प्रक्रिया से ईश्वर का अथवा प्रेरयिता चेतन का सर्वथा बहिष्कार किया है। इनमें मुख्य सांख्याचार्य वार्षगण्य है। यद्यपि आज उसकी कोई ऐसी पूर्ण रचना उपलब्ध नहीं होती, जिसके आधार पर हम उसके विचारों को स्पष्टरूप में समझ सकें। पर सांख्य के व्याख्याग्रन्थों में उसके कुछ सन्दर्भ उद्धृत मिलते हैं। हमने यथाशक्य उनके संग्रह करने

---

१—'महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात्। उत्पन्नकार्यकरजस्तु माहात्म्य-शरीर एकाकिनमात्मानमवेक्ष्याभिदध्यौ। हन्ताहं पुत्रान् स्रक्ष्ये ये मे कर्म करिष्यन्ति ये मां परं चापरं च ज्ञास्यन्ति।.........एवं तस्माद् ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नस्तस्मात् प्रत्ययसर्गः। स विपर्ययाख्यः, अशक्त्याख्यः, तुष्ट्याख्यः, सिद्ध्याख्यश्च। [संगृहीत पञ्चशिखसन्दर्भ, १४]। देखें—सांख्यदर्शन का इतिहास, पृष्ठ ४८०-८१।

का यत्न किया है[1]। इन सन्दर्भों में ऐसे संकेत हैं, जिनसे वार्षगण्य की उपर्युक्त भावना स्पष्ट होती है। उनमें एक सन्दर्भ इसप्रकार है—

'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणाऽपरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्त्तते।'

आदिसर्ग में प्रधान की प्रवृत्ति ज्ञानपूर्वक नहीं होती, न उस प्रवृत्ति में पुरुष का अनुग्रह रहता। पुरुष के परिग्रह-अनुग्रह या प्रेरणा के और किसी प्रकार के ज्ञान या संकल्प के विना प्रकृति में प्रवृत्ति हुआ करती है। आदिसर्ग में जब प्रकृति की प्रवृत्ति के लिये चेतन की अपेक्षा नहीं है, तब अन्य समय में क्यों होगी। इसप्रकार वार्षगण्य के विचार से सदा प्रकृति में चेतन की अपेक्षा के विना प्रवृत्ति हुआ करती है। उसने एक और सन्दर्भ में स्त्री-पुरुष के अचेतन शरीरों का एक दूसरे के प्रति प्रवृत्त या आकृष्ट होने का उदाहरण देकर[2] जड़ की स्वतः प्रवृत्ति को स्पष्ट करने का यत्न किया है। इसप्रकार सांख्य के अन्तर्गत वार्षगण्य की विचारधारा के अनुसार प्रकृति के अधिष्ठाता व नियन्तारूप में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया।

**कपिल पर वार्षगण्य मत का आरोप**—जैसा कि प्रस्तुत प्रसंग के प्रारम्भ में लिखा गया–प्रकृति की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में सांख्याचार्यों के दोनों प्रकार के विचार पाये जाते हैं। कपिल प्रकृति में चेतनसापेक्ष प्रवृत्ति मानता है, और वार्षगण्य चेतननिरपेक्ष प्रकृति में स्वतः प्रवृत्ति बताता है। पर आजकल इस विषय का जो सांख्यसिद्धान्त हमारे सन्मुख प्रस्तुत किया जाता है, उसमें आचार्य के स्थान पर वार्षगण्य को सर्वथा विस्मृत कर दिया गया है, और सिद्धान्त के स्थान पर कापिलसिद्धान्त को। शेष दो को परस्पर जोड़ दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ, कि कपिल के नाम पर वार्षगण्य का सिद्धान्त आरोपित होगया। पिछले लगभग दो सहस्र वर्ष के भीतर जितना सांख्यसम्बन्धी साहित्य लिखा गया, अथवा उस सम्बन्ध की जो आलोचना प्रत्यालोचना हुईं, उन सब में यही भावना प्रदर्शित की गई हैं। इससे पूर्वकालिक साहित्य में कपिल के वे विचार प्रकट किये गये हैं, जिनका हमने यहां ऊपर की पंक्तियों में निर्देश किया है। उपनिषद्, महाभारत, गीता एवं पुराणों के प्राचीन अंशों में जहां कापिलसिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है, वहां प्रायः सर्वत्र प्रकृति के साथ चेतन अधिष्ठाता ईश्वर का वर्णन उपलब्ध होता है। कहीं कहीं इस अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिये ईश्वर का छब्बीसवां तत्त्व बताया गया है। प्रतीत यह होता है, कि बौद्धदर्शन के प्रादुर्भावकाल में कुछ बौद्ध विद्वानों ने और कुछ उनके विचारों से प्रभावित अन्य विद्वानों ने प्राचीन सांख्यसिद्धान्तों को वर्त-

**१—वार्षगण्य के कुछ सन्दर्भों का संग्रह 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के अन्तिम अष्टम प्रकरण में ५०८—१२ पृष्ठों में किया गया है। उनका हिन्दी व्याख्या सहित पृथक् प्रकाशन करने का विचार है।**

**२—'यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः।' [सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ५१०],**

मानरूप देने का यत्न किया, जिसका प्रभाव आज तक उन सिद्धान्तों पर विद्यमान है।

बौद्ध काल के उत्कर्ष तक समस्त साहित्य और विद्वत्समाज पर सांख्य-सिद्धान्तों का स्मरणीय प्रभाव रहा है, जो तात्कालिक साहित्य का पर्यालोचन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है। संभवतः बौद्ध दार्शनिकों ने अपने निरीश्वरवादी दर्शन की भित्ति को उठाने के लिये उसकी आधारशिला के रूप में सांख्य का आश्रय लिया। क्योंकि समस्त प्रामाणिक साहित्य एवं विद्वत्समाज पर उसका गहरा प्रभाव था। उससे लाभ उठाकर अपने निरीश्वरवादी विचारों की पुष्टि के लिये वार्षगण्य के सिद्धान्तों को सांख्य के नाम पर प्रचारित किया गया। सांख्य के साथ कपिल का नियत सम्बन्ध है। कपिल इस विचारधारा का आदि स्रोत था। सांख्य के नाम पर प्रचारित वार्षगण्य के सिद्धान्त कालान्तर में कपिल के नाम पर आरोपित होगये। आदि शंकराचार्य के काल से पहले ही ये विचार इतने परिपुष्ट होचुके थे, कि इनके सहयोग में वार्षगण्य सर्वथा विस्मृत होगया, और कपिल के साथ इनका अटूट-सा सम्बन्ध स्थापित होगया। शंकराचार्य के सन्मुख सांख्य का जो स्वरूप प्रस्तुत हुआ था, वह पूर्णरूप से विकृत होचुका था। सांख्य का ठीक वही कलेवर आज हमारे सन्मुख है। शंकराचार्य ने सांख्य का जो कुछ प्रत्याख्यान किया है, वह मुख्यरूप से इसी विचार पर आधारित है, कि सांख्य जड़प्रकृति में चेतननिरपेक्षप्रवृत्ति मानता है। इस सिद्धान्त को कापिलसिद्धान्त मानकर शंकर ने खण्डन किया है, वार्षगण्य के नाम पर नहीं। पर आज निश्चितरूप से यह कहा जासकता है, कि वस्तुतः कपिल का यह मन्तव्य नहीं है। इसलिये इस आधार पर शंकर के द्वारा किया गया सांख्य का समस्त प्रत्याख्यान एक भ्रान्त-भित्ति पर चित्रित है। उसकी प्रामाणिकता पूर्णरूप से सन्दिग्ध है।

**सांख्य पर वार्षगण्यमतारोप का विरोध**—जिस काल में सांख्य-सिद्धान्तों को इसप्रकार विकृत किया जारहा था, उस समय इस प्रवृत्ति का किसी ने विरोध न किया हो, ऐसा नहीं है। पर निश्चित ही उस विरोध को तात्कालिक विचारधारा के पक्षपाती विद्वानों ने उभरने नहीं दिया, और उसको वहीं दबोच देने का पूरा प्रयत्न किया गया। दर्शन के इतिहास में इसकी पुष्टि के लिये कुछ संकेत अवश्य मिल जाते हैं। इस विषय में एक सांख्याचार्य माधव का नाम उल्लेखनीय है। श्लोकवार्त्तिक के व्याख्याकार भट्ट उम्बेक ने २४६ श्लोक की व्याख्या में सांख्यमत का निर्देश करते हुए बताया है, यज्ञिय हिंसा अधर्म को अवश्य उत्पन्न करती है। इस अर्थ के अवतरण में भट्ट लिखता है—

'सांख्यनायकमाधवस्त्वाह—'

इससे प्रतीत होता है, कि भट्ट उम्बेक के हृदय में सांख्याचार्य माधव के लिये एक विशेष आदर की भावना है। 'सांख्यनायक' विशेषण देकर सांख्य के जिस अर्थ का वह यहां उल्लेख कर रहा हैं, उसकी प्रामाणिकता को ध्वनित करता है। इससे यह प्रतीत होता है, कि सांख्याचार्य माधव ने सांख्य के सिद्धान्तों का जिस रूप में प्रतिपादन किया है, उन सिद्धान्तों के प्रति भट्ट उम्बेक अपनी अनुकूल भावना को प्रकट करता है। इसके

विपरीत धर्मकीर्त्ति के प्रमाणवार्त्तिक में एक लेख है—

"आगमभ्रंशकारिणामाहोपुरुषिकया······अन्यथा रचनासंभवात्[1]"

कुछ व्यक्तियों ने आत्माभिमान के कारण शास्त्र में भ्रष्टाचार फैला दिया है। कारण यह है, कि शास्त्र का जो तात्पर्य है, उन्होंने उससे विपरीत रचना करडाली है। धर्मकीर्ति के इस लेख की व्याख्या करते हुए कर्णकगोमि ने लिखा है—

'आगमभ्रंशकारिणामित्यादिना सम्प्रदायविच्छेदेन रचनान्तरसंभवमेष समर्थयते। आगमभ्रंशकारिणां पुंसामन्यथा-पूर्वरचनावैपरीत्येन रचनादर्शनादिति सम्बन्धः। अन्यथा रचनायां कारणमाह-आहोपुरुषिकयेत्यादि। आहोपुरुषिकयेत्य-हंमानित्वेन। यथा सांख्यनाशकमाधवेन सांख्यसिद्धान्तस्यान्यथा रचनं कृतं।"

'जिस शास्त्र का जो सम्प्रदाय चला आरहा है, उसका उल्लंघन करके भिन्न रचना कर डालने का धर्मकीर्ति ने उक्त लेख से समर्थन किया है। वह कहता है, कि शास्त्र को भ्रष्ट करने वाले पुरुषों की रचना, पूर्व रचनाओं के विपरीत देखी जारही हैं। कारण यह है, कि शास्त्र का तात्पर्य समझने में वे अपनी बराबर और किसी को नहीं आंकते। जैसे सांख्य का नाश करने वाले माधव ने सांख्य-सिद्धान्तों की अन्यथा रचना कर डाली है।'

धर्मकीर्त्ति, और कर्णकगोमि के लेखों से स्पष्ट ज्ञात होजाता है, कि सांख्याचार्य माधव के सम्बन्ध में उनकी अनुकूल भावना नहीं है। उन्होंने माधव को उम्त्रेक के समान सांख्यनायक न कहकर 'सांख्यनाशक' कहा है। सांख्य-सिद्धान्तों की अन्यथा रचना करने का जो आरोप माधव पर लगाया गया है, उसमें 'अन्यथा' का अभिप्राय यही होसकता है, कि कपिल के सिद्धान्तों को धर्मकीर्त्ति और कर्णकगोमि ने जैसा समझा है, माधव ने उससे विपरीत सांख्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। अब विचारणीय यह है, कि दोनों में से किसने कपिल को वास्तविकरूप में समझा, अथवा उस विषय में कपिल का अपना मन्तव्य क्या है? इसका निर्णय करने के लिये एक उदाहरण हमारे सन्मुख है।

**दिङ्नाग के अनुसार कपिल पर आरोप का रहस्य**—दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय [प्रत्यक्षपरिच्छेद, श्लोक ३१] की व्याख्या में जिनेन्द्रबुद्धि ने लिखा है—

"कपिलादयो मन्यन्ते। सुखादीनां स्वरूपं सर्वत्र एकमेवेति। माधवस्तु सर्वत्र तानि भिद्यन्त इति।"

कपिल आदि मानते हैं, कि सुख आदि का स्वरूप सर्वत्र एक ही है परन्तु माधव उनको सर्वत्र भिन्न मानता है। 'सुखादि' पद से सुख दुःख मोह का ग्रहण होता है, जो यथाक्रम सत्त्व रजस् तमस् के प्रतीक हैं। विकाररूप सुखादि का एक होना तो सर्वथा असगत है, और न किसी आचार्य ने ऐसा स्वीकार किया है! इसलिये प्रकृतिरूप सत्त्व

---

**१—प्रमाणवार्त्तिक, कर्णकगोमिकृत व्याख्यासहित, पृष्ठ ५८५। सांख्याचार्य माधव के सम्बन्ध में हमने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठों में संक्षिप्त विवेचन किया है।**

रजस् तमस् की एकता या अनन्तता के सम्बन्ध में यह विचार प्रस्तुत किया गया समझा जासकता है। इसका परिणाम यह निकलता है, कि कपिल के मत में सत्त्व रजस् तमस् एक व्यक्तिरूप स्वीकार किये जाने चाहियें। समस्त जगत् में मूलरूप से एक ही सत्त्व एक ही रजस् और एक ही तमस् है। इसके विपरीत माधव के विचार से मूलरूप में अनन्त सत्त्व अनन्त रजस् और अनन्त तमस् हैं। यह विवेचन प्रमाणसमुच्चय और उसकी टीका के आधार पर प्रस्तुत किया गया। अब निर्णय इस बात का करना है, कि कपिल के नाम से जो मत दिया गया है, वह कपिल का मत है, इसमें कहाँ तक सचाई है।

सांख्यषडध्यायी को यदि कपिल की रचना माना जाता है, तो उसमें सत्त्व आदि के साधर्म्य का प्रतिपादन किया गया है। जिसका यह अभिप्राय होता है, कि सत्त्व अनन्त व्यक्तियां हैं। मूल अनन्त सत्त्व–परमाणुओं अथवा सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्त्व नामक तत्त्वों को इस रूप में कहा गया। उन सब में लघुत्व आदि ऐसे धर्म हैं, जो सर्वत्र समानरूप से रहते हैं। इस रूप में साधर्म्य का कथन अनन्त सत्त्वों को माने विना संभव नहीं। इसीप्रकार अनन्त रजस् तत्त्वों में चलत्त्व आदि तथा अनन्त तमस् तत्त्वों में गुरुत्व एवं आवरकत्त्व आदि साधर्म्य का प्रतिपादन किया है। यदि कपिल एक ही सत्त्व आदि को मानता हो, तो यह साधर्म्य का प्रतिपादन सर्वथा प्रलापमात्र रह जायगा। यदि इन सूत्रों के कापिल होने में सन्देह किया जाय,[1] जो वस्तुतः निराधार है ; तो कपिल के विचारों का प्रतिनिधि किसको माना जायेगा ? यह तो हो नहीं सकता, कि बौद्ध विद्वानों के कानों में ही कपिल यह कह गया हो। इस विषय में अभी तक किसी विद्वान् ने सन्देह प्रकट नहीं किया कि ईश्वरकृष्ण की कारिका कापिल विचारों का सच्चा प्रतिनिधित्व करती हैं। वहां तेरहवीं आर्या में उक्त साधर्म्य का स्पष्ट वर्णन किया गया है। इसलिए बौद्ध विद्वानों ने इस विषय में कपिल का जो मत बताया, उसका कोई आधार दृष्टिगोचर नहीं होता। फलतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि बौद्ध विद्वानों ने अपने विचारों को कपिल पर आरोपित किया, और उसी रूप में उनका प्रचार किया। इसप्रकार स्वयं शास्त्र के स्वरूप को भ्रष्ट किया, तथा जिन विद्वानों ने इसके विरोध में शास्त्र के वास्तविक स्वरूप को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया, उनको 'आगमभ्रंशकारी' कहकर विद्वत्समाज में अपमानित करने का प्रयत्न किया गया, जिससे उनकी विचारधारा को समाज में प्रसार पाने से रोका जासके।

**कपिल पर आरोपित सिद्धान्त**—यह निर्देश पहले किया जाचुका है, कि भगवान् शंकराचार्य के सांख्य-विषयक प्रत्याख्यान उस समय के हैं, जब सांख्यसिद्धान्त बौद्ध-विचारों से पूर्णरूप में प्रभावित कर दिये गये थे। शंकर ने सांख्य का वही रूप समझा, जो बौद्ध विद्वानों के सांचे में से ढलकर निकला था। अपने विचारों की पुष्टि के लिये

१—सांख्यषडध्यायी अथवा उपलब्ध सांख्यदर्शन, कपिल की रचना है; इसका विस्तारपूर्वक विवेचन हमने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ में किया है

बौद्ध दार्शनिकों ने सांख्यसिद्धान्त को मनोवाञ्छितरूप दिया। भगवान् शंकर ने बौद्ध-दर्शन को अपने विचारचित्रों के लिये आधार भित्ति बनाकर उसके एक ऐसे पहलू पर प्रहार किया, जिसकी लपेट में सांख्य के वे सिद्धान्त भी आगये, जिनको अपनी सुरक्षा के लिये बौद्ध विद्वानों ने इच्छानुसार रूपान्तरित करलिया था। ऐसे एक सिद्धान्त का पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार कापिलसांख्य प्रकृति की प्रवृत्ति में ईश्वर चेतन को प्रेरयिता व नियन्ता स्वीकार करता है, जिसको बौद्धों ने वार्षगण्य के विचारों का सहारा लेकर परिवर्त्तित कर दिया। भगवान् शंकर के सामने सिद्धान्त का यही स्व-रूप आया।

दूसरा सिद्धान्त जो सत्त्व रजस् तमस् की एकता या **अनन्तता** के सम्बन्ध में है, जिसका अभी ऊपर की पंक्तियों में उल्लेख हुआ है, शंकर ने इसके भी उसी स्वरूप को स्वीकार किया है, जो बौद्ध विद्वानों ने कपिल के नाम पर आरोपित किया, पर वस्तुतः कपिल का अपना मत नहीं है। वेदान्तसूत्र [२।१।२६] के भाष्य में कापिलसांख्यमत के अनुसार भगवान् शंकर ने सत्त्व रजस् तमस् को एक-एकव्यक्तिरूप माना है। उसका यह अभिप्राय स्पष्ट होता है, कि सांख्यसिद्धान्त के अनुसार एक सत्त्व एक रजस् और एक तमस् तत्त्व मूलरूप में हैं, तथा वेदान्त के ब्रह्म के समान सांख्य उसे व्यापक व निरवयव मानता है। मूलतत्त्व का निरवयव स्वीकार किया जाना तो प्रामाणिक है, पर यह आव-श्यक नहीं, कि उसे व्यक्तिरूप से एक व व्यापक भी माना जाय। इस विषय में कपिल के वास्तविक मन्तव्य का निर्देश कर दिया गया है। शंकर ने उक्त प्रसंग में जिस उद्देश्य से यह वर्णन किया है, उसकी सफलता में सन्देह ही रहा है। चेतन ब्रह्म को जड़ जगत् का उपादान मानने में जिन दोषों की उद्भावना होजाती है, प्रकृति को उपादान मानने पर उनमें से अनेक दोषों का स्वतः परिहार होजाता है।

**आरोपित सांख्यमत की शंकरकृत आलोचना का रहस्य**—वेदान्त के प्रस्तुत प्रकरण में जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर यह आपत्ति दी गई है, कि समस्त ब्रह्म जगत्रूप में परिणत होजाता है, अथवा उसका कुछ अंश ? पहली अवस्था में ब्रह्म का अपनी सत्ता से उच्छेद होगा और दूसरी में उसकी निरवयवता अबाधित नहीं रह सकती। शंकर २६वें सूत्र से यह प्रकट करना चाहता है, कि प्रकृति को उपादान मानने पर भी ये दोष कहे जासकते हैं। समस्त प्रकृति कार्यरूप में परिणत होजाती है, अथवा उसका एक-देश। पहले विकल्प में प्रकृति का अस्तित्व न रहेगा, और दूसरे में प्रकृति को निरवयव नहीं माना जासकेगा। इस आपत्ति की पुष्टि के लिये शंकर ने सत्त्व आदि को एक एक व्यक्तिरूप माना है।

सचाई यह है, कि मूल उपादान की वास्तविकता का स्पष्टीकरण न होने पर ही ऐसा कथन, संभव है। ब्रह्म वस्तुतः एक है चेतन है, नाना अचेतनरूप में उसके परिणत होजाने का कोई स्पष्ट आधार प्रमाणित नहीं होता। पर प्रकृति तो सत्त्व रजस् तमस्

रूप में ही नाना है। फिर सत्त्व आदि भी अनन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के रूप में विद्यमान रहते हैं। वे आवश्यकता के अनुसार कार्यरूप में परिणत होते रहते हैं। यह होसकता है, कि कुछ मूलतत्त्व कार्यरूप में परिणत न भी हों। होने पर भी उनका त्रिगुणात्मकस्वरूप तो बराबर बना रहता है, इसलिये उस अवस्था में उनके उच्छेद की आशंका निराधार है। यह स्थिति चेतन के उपादान मानने पर संभव नहीं। उसका अचेतन परिणाम होने पर स्पष्ट ही चेतना का अस्तित्व न रहेगा। क्योंकि ब्रह्म चेतन एकमात्र तत्त्व है, उसमें यह कल्पना नहीं होसकती, कि उसका कुछ अंश परिणत होजाता है, और कुछ शेष रह जाता है। अन्यथा उसका निरवयव और एक होना असंभव होगा। इसप्रकार ब्रह्म की दोषपूर्ण उपादानता को केवल निर्बाध सिद्ध करने के प्रयत्न में शंकर ने प्रकृतिस्वरूप के याथातथ्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। तथा विना किसी ऊहापोह व अन्वेषणा के सांख्याभिमत प्रकृति को उसने एकव्यवितरूप में प्रस्तुत किया, जो कपिल का मन्तव्य न होकर केवलमात्र बौद्ध विद्वानों की लेखनी का चमत्कार है।

**बौद्धकालिक तथा आधुनिक साहित्यालोचन**—यह मानते हुए भी, कि पिछली एक शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय साहित्य को अधिकाधिक प्रकाश में लाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है, और एक ऐसी दिशा को प्रगति व स्फूर्ति दी है, जो अनेक शताब्दियों से अन्धकार में थी। सर्वथा सुप्त भारतीय विद्वानों को उस दिशा में जागरूक बनाया है। पर इस प्रयत्न का एक दूसरा पहलू भी है, जो मात्रा में कम नहीं। उसको देखते हुए प्रत्येक निष्पक्ष, व सामाजिक उत्थान-पतन का पारखी निःसंकोच कह सकता है, कि भारतीय साहित्य के साथ अनेक अंशों में निर्दय उपहास हुआ है। उसकी वास्तविकता को तोड़ा-मरोड़ा गया है, भाषा शैली के मर्म को–उसके अन्तस्तल में पैठने की उपेक्षा के कारण–समझने का यत्न न करते हुए अर्थों का अनर्थ किया गया है। अवास्तविकताओं को वास्तकिता का रूप दिया गया है, और वास्तविकताओं को उखाड़ फेंकने में कोई कोर कसर नहीं रक्खी गई। एक राजनैतिक सभ्यता के साथ-जिसके बाह्य आवरण को बड़ा आकर्षक व रुचिकर बनाया गया है–साहित्य को भ्रष्ट करने में पूरा उद्योग हुआ है। यह उदाहरण आज हमारे सामने प्रत्यक्ष है। बौद्धों के प्रारम्भिक व उत्कर्ष काल में प्राचीन भारतीय साहित्य के साथ कुछ ऐसा ही व्यवहार हुआ हो, इसमें क्या आश्चर्य है, उनमें से सांख्य-सम्बन्धी एक दो सिद्धान्तों का प्रसंगवश हमने यहां उल्लेख किया है। साहित्यविषयक ऐसे अनेक विवरण प्रस्तुत किये जासकते हैं, जिनको अन्यथा प्रदर्शित करने में कोई न्यूनता नहीं रक्खी गई; पर यहां उनके लिये उपयुक्त अवसर न समझकर उनकी उपेक्षा कर दी गई है।

इस विवेचन से हमारे सामने यह स्पष्टहो जाता है, कि प्रमाणवार्त्तिक और उसकी टीका में सांख्याचार्य माधव को 'आगमभ्रंशकारी' और 'सांख्यनाशक' क्यों लिखा गया, जबकि भट्ट उम्बेक आदर के साथ उसको 'सांख्यनायक' कहता है। तब उन प्रसंगों में

भी–जहां प्रकृति की आद्यप्रेरणा के विषय में विवेचन किये गये हैं–इसप्रकार के अर्थ-विपर्यासों का घटित होना कुछ असंभव या अशक्य नहीं कहा जासकता। इसप्रकार कपिल के सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति में प्रवृत्ति, ईश्वर की प्रेरणा के विना नहीं होसकती, यह स्पष्ट है।

**क्या बन्ध और मोक्ष प्रकृति के होते हैं?**—प्रकृतिसम्बन्धी अन्य विवेचनों के साथ यह आवश्यक विचारणीय है, कि बन्ध और मोक्ष, प्रकृति के होते हैं अथवा पुरुष के? यह सन्देह इसलिये उत्पन्न हुआ कि सांख्य-ग्रन्थों में दोनों प्रकार के संकेत उपलब्ध होते हैं। साधारणतया यह भावना रहती है, कि चेतन आत्मा अविवेक के कारण प्रकृति के सम्पर्क में आता है, और यही अवस्था उसकी बन्ध अवस्था कही जाती है। जब उसे विवेक होजाता है, तो वह प्रकृति के सम्पर्क से छुटकारा पाजाता है, यही उसकी मोक्ष अवस्था समझी जाती है। इसतरह के प्रतिपादन में आत्मा के बन्ध और मोक्ष होने की व्यवस्था प्रतिभासित होती है। पर मध्यकाल के विरोधी दार्शनिकों ने आत्मा की ऐसी स्थिति को कुछ अपने पैने दीखनेवाले तर्कों से झकझोर डाला। उनका कहना था, कि यदि तुम आत्मा के बन्ध और मोक्ष स्वीकार करते हो, तो वह परिणामी, परिवर्त्तनशील कुछ अनित्य जैसा हो उठता है। कपिल के तात्कालिक हिमायती आत्मा की इस दुर्गति को सहन नहीं करसकते थे। उन्होंने आत्मा को उस समय एक ऐसा गुड्डा-सा बनाकर खड़ा किया, कि उसका वास्तविक स्वरूप झमेले में पड़गया। पर उन विद्वानों ने ऐसा कर सन्तोष की सांस ली, और समझ लिया कि हमने आत्मा को दाव पर चढ़ने नहीं दिया, उसे बिल्कुल साफ बचा लिया है।

सांख्य के व्याख्याग्रन्थों में ऐसी भावना का अनेकत्र स्पष्ट वर्णन मिलता है। सांख्यसप्तति की ६२वीं आर्या में बताया है–'पुरुष न बद्ध होता है, न मुक्त होता है, और न विविध योनियों में संचरण करता है। फिर बन्ध आदि किसको होते हैं? यह विविधताओं का आश्रय प्रकृति ही बद्ध व मुक्त होती है, और यही सर्वत्र संसरण करती है।' क्या सचमुच ये समस्त अध्यात्मशास्त्र प्रकृति के अपवर्ग के लिये हैं? फिर जड़ परिणामिनी प्रकृति का कैसा बन्ध और क्या मोक्ष। प्रतीत यह होता है, कि विरोधियों के तर्क ने तात्कालिक आचार्यों को आत्मा का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करने के लिये बाध्य कर दिया। शास्त्र का आरम्भ आत्मा के भोग और अपवर्ग का प्रतिपादन करने के लिये है। विरोधियों का तर्क यह है, कि यदि आत्मा साक्षात् भोक्ता है, और वह कभी सुख और कभी दुःख का अनुभव करता है, तो उसे कभी सुखात्मक और कभी दुःखात्मक होने के कारण परिवर्तनशील मानना होगा। इसप्रकार वह परिणामी होजायगा, जो शास्त्र का अभीष्ट नहीं।

वस्तुतः ऐसा तर्क केवल शब्दजाल है। आत्मा चिन्मात्र है, उसका स्वरूप चैतन्य है, अनुभूति है। चाहे वह सुख का अनुभव करता है, चाहे दुःख का, किसी भी अवस्था

में वह अपने अनुभूति-स्वरूप का परित्याग नहीं करता। प्रत्येक अनुभूतिकाल में उसका चित्स्वरूप सर्वतोभावेन अबाधित है। दुःख या सुख का अनुभव करते हुए उसका चेतन-स्वरूप दूषित नहीं होता। सुख दुःख आदि के अनुभूतिकाल में आत्मा के अनुभूतिस्वरूप रहते हुए भी वह स्वरूप से परिवर्त्तित कैसे होजाता है, यह तर्क समझने में नहीं आता। प्रत्युत इसके विपरीत यथावसर प्रत्येक विषय की अनुभूति का होना आत्मा के अपरिवर्त्तनशील होने का द्योतक है।

**भोगापवर्ग बुद्धि को कैसे?**—इन विद्वानों का कथन है, कि वास्तविक भोग बुद्धि को होता है, आत्मा में केवल उसका उपचार होता है। जैसे योद्धाओं के द्वारा प्राप्त विजय राजा में उपचरित होजाता है। गीता आदि में इसप्रकार के अनेक वर्णन मिलते हैं, कि 'प्रकृति यह सब कुछ किया करती है, आत्मा केवल अहंकार से ऐसा समझ लेता है, कि मैं करता हूं [३।२७]' वस्तुतः इसप्रकार के वर्णनों का निर्वाह बहुत सीधे और साधारणरूप में होजाता है। निर्वाह के स्वरूप को जानने से पहले यह प्रकट कर देना आवश्यक है, कि आत्मा के स्वरूप अथवा भोग के सम्बन्ध में जो विचार मध्यकालिक विद्वानों ने प्रकट किये हैं, उनके लिये यह निश्चितरूपसे कहा जासकता है, कि ऐसे विचार कपिल अथवा कापिलसांख्य के नहीं हैं। इसमें एक स्पष्ट कारण यह है, कि सांख्य में कपिल ने प्रकृति को 'परार्थ' बताया है। अभिप्राय यह है, कि प्रकृति की समस्त प्रवृत्तियां 'पर' के लिये होती हैं, और वह 'पर' है—चेतन आत्मा। अर्थात् चेतन आत्मा के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिये प्रकृति की समस्त प्रवृत्ति है। प्रकृति का अस्तित्व केवल 'पर' के लिये है। अब यदि हम यह मान लेते हैं, कि वास्तविकरूप में समस्त भोग बुद्धि को होते हैं, और मोक्ष भी उसी का होता है, तथा आत्मा में केवल इनका उपचार होता है, तो प्रकृति का 'परार्थ' कहा जाना असंगत होजाता है। इस अवस्था में तो—प्रकृति केवल अपने लिये सब कुछ करती है—यही कहना होगा। तब प्रकृति की परार्थता का प्रतिपादक सांख्यसिद्धान्त सर्वथा निराधार होजायगा।

**प्रकृति की 'परार्थता' चेतन आत्मा की साधक**—प्रकृति की 'परार्थता' के आधार पर प्रकृति से भिन्न चेतनस्वरूप का अस्तित्व सांख्य में सिद्ध किया गया है। [सांख्यसूत्र १।३१।१०५ तथा सांख्य-कारिका १७]। जब भोग और अपवर्ग वस्तुस्थिति में प्रकृति के हैं, तब उससे अतिरिक्त किसी चेतन आत्मा के अस्तित्व का कोई प्रयोजक नहीं रहजाता। यदि यह कहा जाय, कि प्रकृति अथवा बुद्धि आदि तत्त्व जड़ है, उनमें स्वतः भोग आदि का सामर्थ्य नहीं, चेतन के सान्निध्य से बुद्धि आदि में यह क्षमता आती है, इस दृष्टि से चेतन आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होजाता है, और बुद्धि में भोग आदि का सम्पन्न होना भी बनजाता है। परन्तु यह विचार कपिल अथवा कापिलसांख्य के अनुकूल इसलिये नहीं कहा जासकता, कि सांख्य में बुद्धि आदि को चेतन आत्मा के लिये 'करण' बताया गया है। इसका अभिप्राय है, चेतन आत्मा के भोग आदि को सम्पन्न करने के लिये बुद्धि आदि तत्त्व

साधनमात्र हैं। पर उक्त विचार के अनुसार बुद्धि मुख्य ध्येय बनजाता है, और उसी के भोगसम्पादन के लिये आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। इसप्रकार चेतन आत्मा एक साधनमात्र रहजाता है, बुद्धि के भोग के लिये चित्सान्निध्य का प्रस्तुत करना। उक्त विचार के अनुसार यह स्पष्ट है, कि मध्यकालिक विद्वानों ने आत्मा और बुद्धि के स्थानों को परस्पर बदल दिया है। आत्मा के स्थान पर बुद्धि को लाबिठाया, और बुद्धि के स्थान पर आत्मा को जापटका है। इसप्रकार आत्मा को किसी प्रकार की आंच न आने देने के भ्रम में उन विद्वानों ने आत्मा से ही हाथ धो बैठने की स्थिति उत्पन्न करदी है, जो इष्ट नहीं।

**प्रकृति सब करती है, का तात्पर्य**—'प्रकृति सब कुछ किया करती है, आत्मा केवल अहंकार से ऐसा समझता है, कि मैं करता हूं।' ऐसे वर्णनों के निर्वाह का मार्ग अब हमारे सन्मुख स्पष्ट होजाता है। यह सांख्य का परमसिद्धान्त है, कि बुद्धि आदि प्राकृतिक साधनों के विना आत्मा के लिये किसी भोग आदि का सम्पन्न होना सम्भव नहीं। साधन के उस एकमात्र प्राधान्य अथवा अस्तित्व को प्रकट करने के लिये शास्त्र में जहां तहां उक्त वर्णन किये गये हैं। आत्मा, अहंकार अथवा अविवेक से अपने आपको साधनस्थानीय समझने लगता है। वस्तुतः वह एक सच्चा भोक्ता है, और उसके भोक्तृत्व के लिये बुद्धि आदि साधन उसके चारों ओर आजुटते हैं। साधनों में अपने कार्य को करने का सामर्थ्य आत्मा के सान्निध्य के कारण होपाता है। इसप्रकार आत्मा समस्त करणों पर नियन्त्रण करता और अपने भोग के सम्पादन के लिये उन्हें स्वभावतः प्रेरित करता रहता है।

सांख्यसप्तति की ६२वी आर्या में जिस भावना को व्यक्त किया है, उसका यही स्वरूप समझा जासकता है, कि चेतन आत्मा स्वतः स्वभावतः न बद्ध होता है, न मुक्त होता है, और न वह स्वतः विविध योनियों में संसरण किया करता है। प्रत्युत प्रकृति के सम्पर्क में आने से वह बद्ध कहाजाता है, तथा प्रकृति का सम्पर्क न रहने पर मुक्त। विविध योनियों में संसरण वह केवलमात्र स्वतः नहीं करता, बुद्धि आदि तेरह करण और पांच तन्मात्रों से घटित सूक्ष्मशरीर के द्वारा आवेष्टित हुआ वह विविध योनियों में संचरण किया करता है। क्योंकि आत्मा के समस्त भोग व अपवर्गलाभ प्रकृति एवं प्राकृतिक साधनों के विना सम्पन्न नहीं होसकते. इसी विचार से सांख्यग्रन्थों में उपर्युक्त वर्णन उद्गीर्ण हुए हैं। इनका यह अभिप्राय कदापि नहीं, कि भोग और अपवर्ग आत्मा को छोड़ कर केवल प्रकृति में अथवा वस्तुस्थिति से प्रकृति में हुआ करते हैं।[1]

**भोगापवर्ग आत्मा को**—इसके अतिरिक्त सांख्य के उन्हीं व्याख्याग्रन्थों में जहां

१. सांख्यसूत्र ३।७१ में परमर्षि कपिल ने इस आशय को स्पष्ट किया है, कि एकान्ततः आत्मा न बद्ध है न मुक्त है। अविवेक बन्ध का और विवेक मोक्ष का प्रयोजक है। अगले [३।७२] सूत्र में गौणरूप से प्रकृति के लिये बन्ध मोक्ष पदों का प्रयोग कैसे होता है, इस अर्थ पर प्रकाश डाला है।

उपर्युक्त वर्णन हैं. आत्मा के भोगापवर्ग की ओर संकेत करनेवाले वर्णन उपलब्ध होते हैं। सांख्यसप्तति की ६३वीं आर्या में स्पष्ट बताया है, कि प्रकृति सात रूपों से आत्मा को बन्धन में डालती है, और एक रूप के द्वारा आत्मा को बन्धन से छुड़ाती है[1]। ६५वीं आर्या में बताया गया है—'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः' साक्षात्कार होजाने की अवस्था में स्वरूपावस्थित पुरुष प्रेक्षक के समान प्रकृति को देखलेता है। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि प्रकृति तथा पुरुष का साक्षात्कार अर्थात् प्रकृति पुरुष का विवेक-ज्ञान पुरुष को होता है। इसके अनन्तर ६७वीं आर्या में बताया है, कि सम्यक् ज्ञान प्राप्त होजाने पर प्रारब्धसंस्कारवश पुरुष, शरीर को धारण किये रहता है। इससे आत्मा को सम्यक् ज्ञान का होना प्रमाणित होता है। जिसको सम्यक् ज्ञान होगा, उसी का मोक्ष माना जाना चाहिये। इसी कारण विषय का उपसंहार करते हुए अन्तिम ६८वीं आर्या में स्पष्ट उल्लेख है—शरीर का पात होजाने पर और चरितार्थ होजाने से प्रधान के कार्य-विरत होजाने पर पुरुष कवल्य को प्राप्त करलेता है। इस आर्या की व्याख्या में व्याख्याकार माठर ने लिखा हैं—'एवमयं विद्वान् तस्मिन् शरीरे भिन्ने ऐकान्तिकं कैवल्यं मोक्ष-माप्नोति'। इसप्रकार यह विवेकी आत्मा शरीर पात के अनन्तर मोक्ष प्राप्त करलेता है। फिर ५५वीं आर्या में चेतन पुरुष को दुःख-प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख किया गया है—'अत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।' इससे प्रमाणित होता है, कि बन्ध और अप-वर्ग चेतन आत्मा के होते हैं, जड़ प्रकृति के नहीं।

षडध्यायी सूत्रों में इस अर्थ का प्रतिपादन अनेकत्र हुआ है। शास्त्र का प्रारम्भ ही यहां से होता है, कि त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति अत्यन्त पुरुषार्थ है। यहां दुःख निवृत्ति को 'पुरुषार्थ' कहा गया है 'प्रकृत्यर्थ' नहीं कहा गया। इसलिये शास्त्र का तात्पय पुरुष के अपवर्ग को बताने में है। इसके आगे के प्रकरण में बीसवें सूत्र तक आत्मा के बन्धनिमित्तों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकरण से स्पष्ट है, कि कपिल आत्मा का बन्ध मानता है, प्रकृति का नहीं। प्रकृति के सम्पर्क को तो प्रकरण के अन्त में बन्ध का प्रयोजक बताया गया है, इसलिये आत्मा का बन्ध संभव होसकता है, प्रकृति का नहीं। आगे इसी अध्याय [१।१०४-१०६] में त्रिगुणात्मक शरीरादि से चेतन आत्मा को अति-रिक्त सिद्ध करने के लिये हेतु दिये गये हैं—'अधिष्ठानात्, भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः।' इनमें से अन्तिम दोनों हेतु आत्मा के भोग और अपवर्ग को स्पष्ट करते हैं। आत्मा की अनेकता को प्रमाणित करने के लिये आगे एक सूत्र [१।१२२] में कहा है, कि वामदेव आदि की मुक्ति हो गई, पर अन्य पुरुष बन्धन में हैं, इससे अनेक आत्मा सिद्ध होते हैं। यह लेख भी आत्मा के बन्ध मोक्ष की ओर संकेत करता है। आगे एक सूत्र [२।२] में विरक्त [रागादिरहित] को मोक्षाधिकारी बताया गया है, जो केवल

---

१. इसी अर्थ का प्रतिपादन सांख्यसूत्र [३।७३] में किया गया है। देखें—सांख्यदर्शन-विद्योदयभाष्य।

आत्मा में संभव होसकता है। आगे सूत्र [२।११[ में समस्त सृष्टि की रचना आत्मा के भोगापवर्ग को पूरा करने के लिये बताई गई है। [३।२३] सूत्र में आत्मज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति कही गई है, जो आत्मा की मानी जानी चाहिये। छठे अध्याय के छठे और सत्रहवें सूत्रों के वर्णन से यही प्रमाणित होता है, कि बन्ध और मोक्ष आत्मा के होते हैं। पचपनवें सूत्र में चेतन को भोग का होना बताया है। इन सब उल्लेखों से यह सांख्य-सिद्धान्त स्पष्ट होता है, कि बन्ध और मोक्ष चेतन आत्मा के कहे गये हैं, जड़ प्रकृति के नहीं।

**आत्मज्ञान से अपवर्ग में शंकर की साक्षी**—आदि शङ्कराचार्य ने सांख्य का विवेचन करते हुए वेदान्तसूत्र [१।४।५] के भाष्य में सांख्य के ऐसे ही सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उसने लिखा है—'न हि प्रधानमात्रं निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यत इति सांख्यैरिष्यते। चेतनात्मविज्ञानाद्धि मृत्युमुखात् प्रमुच्यत इति तेषामभ्युपगमः।' केवल प्रधान के जान लेने से बन्धन छूट जाता है, यह सांख्य का सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत उनका ऐसा सिद्धान्त है, कि चेतन आत्मा का साक्षात्कार होजाने से बन्धन छूटकर मोक्ष होता है। इस लेख से सांख्य के उक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है। इन आधारों पर बन्ध और मोक्ष वस्तुस्थिति से प्रकृति के न होकर चेतन आत्मा के माने जासकते हैं।

## आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के मूलतत्त्वसम्बन्धी विचार

कपिल के विचार के अनुसार अभी तक मूलतत्त्व का प्रतिपादन किया गया। वर्तमान समय में पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने इस विषय में गहरा विवेचन किया है। पिछली तीन शताब्दियों का पाश्चात्य देशों का इतिहास, वस्तुतः आधिभौतिक अनुसन्धानों का सच्चा व जीता जागता इतिहास है। मूलतत्त्व का विचार करते समय इनकी उपेक्षा नहीं की जासकती। पाश्चात्य भाषाओं में इस विषय का गम्भीर एवं विशाल साहित्य है। सदियों की उसकी विस्तृत रूप-रेखा और विवेचन-प्रक्रियाओं के विवरण में हम इस समय उतरना नहीं चाहते और न इतने विस्तार की यहां अपेक्षा है। हमारी ऐसी भावना नहीं है, कि केवल इस दृष्टि से कपिल के विचारों के साथ इसकी तुलना की जाय, कि कपिल ने सहस्रों सदियों पूर्व इसप्रकार के तत्त्वों का विवेचन किया था, इसलिये यह उसकी कुछ विशेषता हो। सचाई का किसी भी समय में समझ लेना एक महत्त्वपूर्ण घटना कही जासकती है। हमारी अधिक भावना ऐसी है, कि यदि पाश्चात्य विद्वानों के मूलतत्त्व-सम्बन्धी विचारों को हम थोड़ा बहुत समझ सकें, तो कदाचित् कपिल के विचारों को अधिक गहराई तक समझने में हमें पर्याप्त सहायता मिल सके।

पाश्चात्य विद्वानों ने वर्तमान समय में जो अनुसन्धान किये हैं, मुख्यतया उनकी दो दिशा हैं—रसायन और भौतिक विज्ञान। पहले आधार को लेकर आज तक जिन मूलतत्त्वों[1] का पता लगाया गया है, उनकी संख्या १०२ तक पहुंच चुकी है, और १०६

१. इन समस्त तत्त्वों की सूची इस अध्याय के अन्त में देखिये।

तक पहुंचने की संभावना है, वैज्ञानिकों का कहना है कि विज्ञान इस रीति पर अब नये तत्त्वों के निर्माण कर लेने में समर्थ हो गया है। तब संभवत: १०६ संख्या की सीमा भी नगण्य हो जायगी।

आधुनिक रीति पर इन तत्त्वों को प्रकाश में लाने का जब प्रथम प्रयास किया गया, उस समय के विद्वानों में राबर्ट ब्वायल [ १६२७-१६६१ ई० ] डॉल्टन लैव्रौयज़िअर आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कहा जाता है, कि ब्वायल ने अपने अनुसन्धानों के फलस्वरूप पुराने भारतीय पञ्चभूत सिद्धान्त की जड़ हिला दी। इस समय के भारतीय रसायनशास्त्री--जिनमें अनेक से वार्तालाप करने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ है—कहते हैं, कि पञ्चभूत का सिद्धान्त अब मर चुका है; इसे मानने को अब कोई जानकार तैयार नहीं होसकता। जिन व्यक्तियों ने किसी ज़माने में इन सिद्धान्तों को मालूम किया था, उस अन्धकारमय समय में उनके लिये इतना जानना भी बहुत था, उस आदिकाल में इसप्रकार के सिद्धान्तों की बुनियाद रखने के लिये उन आचार्यों को जितना श्रेय दिया जाय थोड़ा है; पर अब ज़माना उससे बहुत आगे निकल गया है, जब ऐसे सिद्धान्तों का महत्त्व समझा जाता था। आज रसायनशास्त्र द्वारा मूलतत्त्वों की रूप-रेखा प्राय: निश्चित होचुकी है; उसमें साधारणतया किसी प्रकार के सन्देहों को अवकाश नहीं रहा। अब रसायनशास्त्र इतना उन्नत हो गया है कि उसके आधार पर नवीन तत्त्वों का निर्माण किया जासकता है, रसायनशास्त्र के विद्वानों की इस शास्त्र के विषय में यह सम्मति सुनी जाती है, इनकी गहराईयों तक पहुंचने के लिये यत्न करना अपेक्षित है।

**रसायनशास्त्रीय मूलतत्त्वों के विषय में**—ब्वॉयल के समय से लगाकर अभी पिछले दिनों तक संसार में बानवें मूलतत्त्वों का अस्तित्व सिद्ध होचुका था; पर अब उनमें और वृद्धि हो गई है, वैज्ञानिकों की यह कल्पना है कि यह संख्या एक सौ छह अथवा एक सौ आठ तक पहुंच सकती है। अभी तक एक सौ दो मूलतत्त्वों को विभिन्न पदार्थों से निकाल कर जाना जाचुका है; शेष उपलब्ध नहीं होसके। उनके मिल जाने की संभावना की जाती है, उसके लिये विज्ञान प्रयत्नशील है। जिन मूलतत्त्वों को जाना जासका है, उनके भौतिक और रासायनिक गुणों तथा उनकी उपयोगिता की परीक्षा भी हो चुकी है।

ब्वॉयल के मतानुसार मूलतत्त्व—द्रव्य के किसी ऐसे प्रकार को कहते हैं, जो दो या अधिक सरलतर पदार्थों में विच्छेदित न होसकता हो; अर्थात् जिसमें एक ही प्रकार के पदार्थ का अस्तित्व हो। इस सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न वस्तुओं का विश्लेषण कर मूलतत्त्वों को पहचाना गया और गम्भीरतापूर्वक उनकी परीक्षा की गई। उदाहरण के लिये सुवर्ण को लीजिये, यह अन्य वस्तुओं से संयुक्त होकर विभिन्न यौगिकों में तो परिणत होसकता है, पर स्वयं उससे कोई अन्य पदार्थ नहीं निकल सकता। तात्पर्य यह,

कि सुवर्ण एक ऐसा द्रव्य है, जो दो या अधिक सरलतर पदार्थों में विच्छेदित नहीं होता।[1] इससे यह निश्चय किया गया, कि सुवर्ण अपने रूप में एकमात्र तत्त्व है और मूलतत्त्व है। इसीप्रकार अन्य सब धातुएं भी मूलतत्त्व सिद्ध हुईं। इन विवेचनाओं और परीक्षणों के आधार पर अनेक ऐसे मूलतत्त्वों का पता तात्कालिक वैज्ञानिकों ने लगाया, जिनके विषय में पहले कोई जानकारी न होपाई थी। उन तत्त्वों में पांच भूतों के अस्तित्त्व को कहीं नहीं पाया गया; किसी विधि यां रीति के अनुसार उन मूलतत्त्वों में पृथिवी आदि पांच भूतों का कोई अंश नहीं निकाला जासका, पञ्चभूत के सिद्धान्त को यह एक प्रबल चुनौती है।

उन्हीं दिनों रूस के एक प्रसिद्ध रसायनशास्त्री डी० एस० मैण्डलिएफ् ने इन तत्त्वों के भार, दबाव और अन्य सम-विषम गुणों अथवा विशेषताओं के आधार पर इनकी एक क्रमबद्ध तालिका तयार की। उसने अपने प्रयोगात्मक परीक्षणों तथा गणित पर आधारित नियमों के अनुसार यह परिणाम प्रस्तुत किया, कि सबसे हल्के तत्त्व से लगाकर सबसे भारी तत्त्व तक वे बानवें संख्या में सीमित हैं। यद्यपि उस समय तक इनमें से अनेक तत्त्वों को मालूम नहीं किया जासका था, पर जितने तत्त्व जाने जासके थे, उन्हीं के आधार पर उस प्रतिभाशाली विद्वान् ने अपनी तालिका में समस्त बानवें तत्त्वों को यथास्थान निर्दिष्ट कर दिया। ज्ञात तत्त्वों की क्रमिक विशेषताओं के आधार पर उसने अज्ञात तत्त्वों की विशेषता को कल्पना कर उसके अनुसार उनको भी अपनी तालिका के उपयुक्त स्थान पर बैठा दिया। अब वे सब तत्त्व मालूम कर लिये गये हैं, और उनसे कुछ अधिक भी। मेण्डलिएफ् के निर्दिष्ट नियमों के अनुसार नव-परिचित तत्त्वों को भी तालिका में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त हो गया है। प्राप्त तत्त्वों के भारक्रम के अनुसार अब उनकी संख्या एक सौ दो [१०२] है।

**मूलतत्त्वविषयक विवेचन**—आधुनिक रसायनशास्त्रद्वारा प्रतिपादित मूल-तत्त्वों के विषय में अतिसंक्षिप्त सिद्धान्तभूत विवरण प्रस्तुत किया गया। देखना चाहिये, इनको मूलतत्त्व बताना कहां तक युक्त है। ब्वॉयल के मतानुसार मूलतत्त्व की परिभाषा यह की गई है, कि द्रव्य का कोई ऐसा प्रकार, जो दो या अधिक पदार्थों के रूप में विच्छे-दित न होसकता हो। इस कसौटी पर हमें रसायनशास्त्रप्रतिपादित मूलतत्त्वों को परखना चाहिये। वस्तुस्थिति यह है, कि पिछले बीस पच्चीस वर्षों में आधुनिक विज्ञान ने जो खोज की हैं, उनके आधार पर वे सिद्धान्त भी अब अमान्य से होगये हैं, जिनकी स्थापना सौ डेढ़-सौ वर्ष पहले वैज्ञानिकों ने की है। उन खोजों के अनुसार अब यह बात निश्चित होचुकी है, कि हाइड्रोजन से लेकर नोबैलिअम् या मैण्डैलेविअम् तक समस्त रसायनशास्त्रीय तत्त्व किन्हीं अन्य मूलतत्त्वों के संघटन से बने हुए हैं। वास्तविकरूप में

१. हिन्दी विश्वभारती, चारबाग, लखनऊ से प्रकाशित, पृष्ठ ८१२-१३ के आधार पर।

स्वयं वे [हाइड्रोजन आदि] मूलतत्त्व नहीं। उनको ऐसे द्रव्य या पदार्थ कहा जा सकता है, जो एक विशिष्ट रचना के अनन्तर अपने किसी स्थायीरूप को ग्रहण कर चुके हैं।

उदाहरण के लिये सुवर्ण को लीजिये। रसायनशास्त्र की मूलपदार्थ सूची में यह ७६ संख्या पर है, और इसका परमाणुभार १६७ है। इसका अभिप्राय यह है, कि सुवर्ण का प्रथम कण अर्थात् छोटे से छोटा कण–जिसका और आगे सुवर्णरूप में रहते हुए विभाजन नहीं होसकता–अपनी रचना को इस स्थिति में प्रस्तुत करता है। यह सुवर्ण का परमाणु[1] [Atom-ऐटम्] है। सूची में इसकी क्रमिक सख्या और इसके भार की संख्या इसकी रचना को सूचित करती हैं। भौतिकी रसायनशास्त्र [Physical Chemistry फिज़िकल-कैमिस्ट्री] के अनुसार अभी तक की खोजों के आधार पर प्रत्येक तथाकथित मूलतत्त्व [Element] की रचना प्रोटोन्, इलैक्ट्रॉन् और न्यूट्रॉन् के संघटन द्वारा मानी गई है। ये तीनों तत्त्व चाहे विद्युत्तरंगरूप हों अथवा अतिशय सूक्ष्म कणरूप; इनमें से पहले और तीसरे को भारयुक्त तथा दूसरे को भारहीन माना जाता है। पदार्थ-सूची में उस पदार्थ की क्रमिक संख्या उसके घटक 'प्रोटोन्' की संख्या को प्रकट करती है, तथा परमाणुभार की संख्या 'प्रोटोन्' और 'न्यूट्रॉन्' दोनों की मिलित सख्या को प्रकट करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि हम परमाणुभार संख्या में से पदार्थ की क्रमिक संख्या को घटा दें, तो 'न्यूट्रान्' की संख्या निकल आयेंगी। अब सुवर्ण की क्रमिक संख्या ७६ है, और परमाणुभार १६७ है, इसलिये १६७-७६=११८, यह संख्या सुवर्ण के परमाणु में 'न्यूट्रॉन्' की संख्या को प्रकट करती है। प्रत्येक तत्त्व [Element] के परमाणु की रचना में जितनी संख्या 'प्रोटोन्' मूलतत्त्वों की होती है, ठीक उतनी ही संख्या 'इलैक्ट्रॉन्' तत्त्वों की; पर क्योंकि यह तत्त्व भारहीन है, इसलिये उस पदार्थ [Element] के परमाणु का भार 'प्रोटोन्' और 'न्यूट्रॉन्' की संख्याओं के आधार पर होगा, जितने इन तत्त्वों के संघटन से उस परमाणु की रचना हुई है।

**सुवर्ण के घटक अवयव**—अब हम सुवर्ण के परमाणु की रचना का सरलतापूर्वक निश्चय कर सकते हैं। पदार्थसूची की क्रमिक संख्या के अनुसार सुवर्ण के एक परमाणु में ७६ 'प्रोटोन्' और इतने ही 'इलैक्ट्रॉन' होते हैं तथा ११८ 'न्यूट्रॉन' होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इतनी संख्या में इन तीन प्रकार के मूलतत्त्वों का संघटन पदार्थ के एक ऐसे स्थायीरूप को उभार देता है, जिसको हम सुवर्ण कहते हैं। रसायन-

---

**१. यहां 'परमाणु' पद का प्रयोग केवल इतने आशय को लेकर समझना चाहिये, कि यह सुवर्ण का सब से छोटा कण है। इसका सुवर्णरूप में आगे विभाजन नहीं हो सकता। यदि इसका और विश्लेषण या विभाजन किया जायगा, तो यह अपने कारण तत्त्वों के रूप में बिखर जायगा, तब इसको सुवर्ण नहीं कहा जायगा, क्योंकि अब उसने अपने उस स्थायी-रूप [सुवर्ण] को छोड़ दिया है, जो एक विशिष्ट रचनाक्रम के अनन्तर प्राप्त किया था।**

शास्त्र प्रतिपादित १०२ [अभी तक ज्ञात] पदार्थों ने इसीप्रकार अपने स्थायीरूप को ग्रहण किया है। ऊपर कहे गये सिद्धान्त के अनुसार अब हम इनमें से प्रत्येक पदार्थ की रचना को पदार्थ की क्रमिक संख्या और उसके परमाणुभार के आधार पर स्पष्टरूप से समझ सकते हैं। इससे यह निश्चय होता है, कि ये समस्त १०२ पदार्थ, तथा इसीप्रकार के अन्य पदार्थ-जो अभी तक ज्ञात नहीं हैं, पर भविष्य में जिनके जान लेने की संभावना है-सब किन्हीं अन्य मूलतत्त्वों के विशिष्ट संघटन के द्वारा प्राकृतिक नियमों के अनुसार निर्मित होते हैं, इसलिये इनको वास्तविकरूप में मूलतत्त्व नहीं कहा जाना चाहिये। यदि इन पदार्थों के लिये रसायनशास्त्र में 'मूलतत्त्व' पद का प्रयोग केवल इनके स्थायी रूप ग्रहण कर लेने के आधार पर किया जाता है, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि इसे एक शास्त्र की परिभाषा के रूप में ही समझा जासकेगा, ऐसे प्रयोग सर्वथा गौण या औपचारिक ही माने जाते हैं।

**ब्वॉयल की मूलतत्त्व परिभाषा**—ब्वॉयल के मतानुसार मूलतत्त्व की जो परिभाषा ऊपर दी गई है, वह इसीप्रकार की है। उसका प्रयोग केवल रसायनशास्त्र की दृष्टि से उपयोगी है, वास्तविक सिद्धान्त के रूप में नहीं। संभवतः यह परिभाषा इसी दृष्टिकोण से की गई है, कि वास्तविक मूलभूत तीन तत्त्वों के संघटन से जो पदार्थ एक विशिष्ट स्थायीरूप ग्रहण कर लेता है, वह केवल वही है; उसमें उसके समकक्ष [उसी की तरह के अन्य हाइड्रोजन्, हीलिअम् आदि] अन्य पदार्थ का कोई मिश्रण नहीं है। सुवर्ण को कितना ही विच्छेदित करते चले जाईये, वह केवल सुवर्ण है, उसमें अन्य कोई पदार्थ [हाईड्रोजन् आदि] किसी अंश में उपलब्ध नहीं होता। इसलिये प्रत्येक ऐसा पदार्थ अपने रूप में स्थायी है, और इसी कारण वह 'मूलतत्त्व' मान लिया गया है।

रसायनशास्त्र की मान्यताओं के अनुसार इन पदार्थों में से कतिपय पदार्थ ऐस है, जो अन्य पदार्थों के रूप में परिवर्तित होते रहते हैं। युरेनिअम् [९२], थोरिअम् ]९०] रैडिअम् [८८] आदि ऐसे ही पदार्थों में से हैं। उनका परिवर्तन का स्वरूप क्या है, यह देखना चाहिये। उदाहरण के लिये हम एक युरेनिअम् पदार्थ को लेते हैं। हमें यह मालूम है, वह कितने वास्तविक मूलतत्त्वों के संघटन से रचा गया है। उसका अब किसी दूसरे पदार्थ के रूप में परिवर्तन होना है। हम यह नहीं कह सकते, कि यह किस अन्य पदार्थ के रूप में परिवतन होरहा है, जिस किसी अन्य पदार्थ के रूप में परिवर्तन होना हो, उसके लिये व्यवस्था यह होगी, कि परिवर्तित पदार्थ के संघटक मूलतत्त्वों के अनुसार परिवर्त्त्य पदार्थ के भूलतत्त्वों की स्थिति हो जायगी। युरेनिअम् में जितने प्रोटोन् इलैक्ट्रॉन् न्यूट्रॉन् हैं, उनकी संख्या में परिवर्तन होकर वह संख्या उस परिवर्तित पदार्थ के संघटक मूलतत्त्वों की संख्या के अनुसार होजायगी। यही युरेनिअम् का दूसरे पदार्थों के रूप में परिवर्तित होना है, यह स्थिति भी इन पदार्थों के मूलतत्त्व होने में एक सुपुष्ट बाधक प्रमाण है।

**तत्त्वों का कृत्रिम निर्माण**—प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के सन्मुख यह एक

समस्या है, कि जब हम पदार्थ की रचना के विषय में पूरी और सच्ची जानकारी रखते हैं, तो अपने साधनों द्वारा उन्हीं कारणों से उस पदार्थ की रचना हम कर सकते हैं, या नहीं ? स्वभावतः उन पदार्थों की रचना प्रकृति के नियमानुसार होती रहती है। इस रचना को कोई वैज्ञानिक या तत्त्वदर्शी व्यक्ति आकस्मिक नहीं कहसकता; प्रकृति का सब कार्य किन्हीं नियम और व्यवस्थाओं के अनुसार चलता है। हम उन नियम और व्यवस्थाओं को कहां तक समझते तथा प्रयोग में लासकते हैं, यह अलग बात है, पर अपने विज्ञान एवं साधनों के आधार पर उन पदार्थों की रचना करने में हमारी क्षमता कहां तक है, यह देखना है; जबकि उन पदार्थों की रचनाविषयक अपनी जानकारी में हम कोई सन्देह के स्थल नहीं पाते, उसके लिए हमारे साधन या नियम चाहे जो हों।

उदाहरण के लिए एक पदार्थ सुवर्ण ले लीजिए। विज्ञान इस विषय की सच्ची परीक्षा कर अन्तिम निर्णय पर पहुंचा है, कि कितने मूलतत्त्वों का प्राकृतिक संघटन सुवर्ण के रूप में परिणत होजाता है। हम उन तत्त्वों से ऐसे परिणाम को अपने साधनों द्वारा करने में कहां तक समर्थ हैं, इसका उत्तर विज्ञान यह देता है, कि सुवर्ण की रचना कर लेना वैज्ञानिक के लिए असंभव नहीं है; पर उसकी प्रक्रिया और विधि-विधान इतने अधिक महंगे होसकते हैं, कि उसका उत्पादन सर्वथा अव्यवहार्य होजाता है। यदि कभी ऐसे साधन जुटाये जासकें, जिनके द्वारा सुवर्ण का उत्पादन सरल व सस्ता हो, उसकी अपेक्षा जो खनिज सुवर्ण को भूमि से प्राप्त करने व शोधन आदि करने के अनन्तर व्यवहार्य अवस्था तक लाने में होता है, तो यह सब संभव है। तात्पर्य यह, कि विज्ञान कृत्रिम पदार्थों की रचना के विषय में बौद्धिक विधि-विधान को प्रस्तुत करता है, व्यवहार्य अवस्था तक पहुंचने के लिये अभी पर्याप्त मार्ग पार करना शेष है। फिर भी विज्ञान ने अनेकानेक व्यवहार्य कृत्रिम वस्तुओं का निर्माण किया है।

प्रकृतिप्रदत्त एक वस्तु है—कपास। इससे मानव विविध प्रकार के वस्त्रों का निर्माण कर लेता है। इसकी एक लम्बी प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया का आधारभूत धुरा सूत या धागे की रचना है। विज्ञान ने कपास की परीक्षा कर यह मालूम किया कि वहां कौन ऐसे विशिष्ट तत्त्व हैं, जो धागे के रूप में परिणत होने के लिये पूर्ण सहयोगी हैं। इसका ज्ञान होजाने पर विज्ञान ने उस प्रकार के तत्त्वों के सम्मिश्रण अथवा संघटन से अपनी आविष्कृत प्रक्रियाओं द्वारा धागा तयार किया, और विविध प्रकार के वस्त्रों एवं तत्सम अन्य वस्तुओं का निर्माण किया गया। यह वस्तु आज बाजार में 'नाईलोन' के नाम से प्रसिद्ध है। फलतः विज्ञानद्वारा विविध प्रकार के शतशः पदार्थों का निर्माण हुआ है।

इन सब आधारों पर हमें सोचना यह है, कि क्या तत्त्वों का निर्माण भी इसी प्रकार सम्भव है ? और क्या उस आधार पर हम तत्त्वों की सीमा निर्धारित कर सकते हैं ? आईये, विचार करें। विविध वस्तु-निर्माण में 'नाईलोन' का एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जो प्राकृत कपास का प्रतिनिधि है। यह निश्चितरूप से कहा जासकता

हैं, कि वह वस्तु कपास नहीं है, और जो कुछ भी हो। जहां तक धागा बनाये जाने का सम्बन्ध है, उसमें किसी को कोई आपत्ति नहां होसकती, कपास का विश्लेषण कर उसके वास्तविक उन तत्त्वों को जानकर—जिनके आधार पर कपास की रचना प्राकृत नियमों के अनुसार होती है—ठीक उसी प्रकार की कपास को बनाने में विज्ञान कहां तक समर्थ होसका है, यह देखना आवश्यक है। कपास की विशेषताओं की वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर धागे का किन्हीं मिश्रणों से तैयार किया जाना चाहे महत्त्वपूर्ण हो, पर उसे तत्त्व-निर्माण के उदाहरण मे प्रस्तुत कर लेना विचारणीय है। धागा अनेक विभिन्न वस्तुओं से तैयार किया जासकता है, और पर्याप्त प्राचीन काल से तैयार किया जाता रहा है। विशेष प्रकार के कीटों द्वारा उत्पादित रेशों से, पेड़ों की छाल के तथा अन्य विविध प्रकार की वनस्पतियों के रेशों से। 'नाईलोन' वस्तुनिर्माण हो, पर न वह 'वस्तु-तत्त्व' का निर्माण है और न 'तत्त्व-निर्माण' के लिये उदाहरण कहा जासकता है।

इसीप्रकार हमें सुवर्णरचना के विषय में विचारना चाहिये। हम इस बात को जानते हैं, अमुक तत्त्व इतनी मात्रा में संघटित होकर विशिष्ट स्तर एवं परिस्थितियों को पार करते हुए सुवर्ण का रूप धारण कर लेते हैं। यद्यपि इस बात को स्पष्टरूप में नहीं जानते, कि वे मूलतत्त्व सुवर्णरूप में परिणत होने के लिये पहले ही क्षण से नियत संख्या में संघटित होजाते हैं, अथवा धीरे-धीरे विभिन्न कालों में वस्तु-निर्माण के विभिन्न स्तरों पर आकर मिलते रहते हैं? पर यह निश्चित है, कि यह उन कारणतत्त्वों की आद्य मूल अवस्था से लेकर सुवर्णरूप में उनका परिणाम होने तक बहुत अधिक काल लग जाता है, और उस परिणाम को अनेकानेक स्तरों में से होकर गुजरना पड़ता है। उस काल में उप-युक्त ऊष्मा और दबाव आदि सुवर्ण-परिणाम के लिये अत्यन्त सहायक रहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी के गर्भ में 'सुवर्ण-परिणाम' की भट्ठी निरन्तर चालू हैं। नहीं कहा जासकता, इस भट्ठी ने कितना सुवर्ण तयार कर दिया है। कितना मानव के व्यवहार एवं उपयोग में आचुका है, कितना अभी तयार हुआ भट्ठी में दबा पड़ा है, और कितना अभी तयार होने को है। मान लीजिये, प्राकृत नियमों के अनुसार एक भट्ठी चालू है। सुवर्ण-परिणाम की प्रक्रिया चल रही है, अभी न मालूम कितना दीर्घकाल उसे तयार होने में लगेगा, क्योंकि उसे अनेक स्तरों में से पार होकर अन्तिम सुवर्ण अवस्था में पहुंचना है। अब मध्य में ही उस भट्ठी पर कोई अचिन्तनीय अनिवार्य बाधा आगई, और भट्ठी का कार्य बन्द होगया। वे मूलतत्त्व परिणाम के जिस स्तर तक पहुंच गए हैं, उनका वह एक स्थायी रूप रहगया। निश्चित है, कि वह अभी सुवर्ण नहीं है; वे तत्त्व अब अपनी मूल अवस्था में भी नहीं रहे हैं। उस परिणाम की जो अब स्थिति है, वह अपना एक विशिष्ट अस्तित्व रखती है, और ऐसी स्थिति प्रत्येक स्तर पर अथवा किसी भी स्तर पर आसकती है। फिर प्रत्येक पदार्थ के परिणाम-स्तरों के विषय में यह स्थिति संभव होसकती है, और किसी भी स्तर पर वे परिणाम अपने स्थायी रूप को ग्रहण कर सकते हैं। इस विचार के

अनुसार रसायनशास्त्रानुमोदित १०२ तथा कुछ और अधिक नियत संख्या तक पदार्थ का सीमित करना चिन्तनीय होजाता है। उपलब्धि के आधार पर नियत संख्या का कथन भले ही किया जासके।

नियत काल तक प्रक्रिया के पूर्ण होने पर एक विशिष्ट परिणाम 'सुवर्ण' होजाता है। उसका रूप, काठिन्य, चमक तथा अन्य विशेषताएं पूर्णरूप में उभर आती हैं। ठीक ऐसे ही रूप में या इस जैसे रूप में विज्ञान-प्रक्रियाओं द्वारा किया गया सुवर्ण-निर्माण भी सुवर्ण के वस्तुस्थिति में मूलतत्त्व होने का बाधक होजाता है। यही स्थिति रसायन-शास्त्रानुमोदित अन्य पदार्थों के विषय में भी समझनी चाहिये। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं. कि रसायनशास्त्र में प्रतिपादित पदार्थ मूलतत्त्व नहीं हैं, उनको मूलतत्त्व कहना पारिभाषिकमात्र है। अब हमें देखना चाहिये, कि वस्तुतः मूलतत्त्व कौन हो सकते हैं।

**मूलतत्त्व कौन हैं**—आधुनिक विज्ञान की खोजों के परिणामस्वरूप अब तक यह सचाई जानी गई है, कि समस्त विश्व का मूल उपादान [Material Cause] तीन प्रकार के तत्त्व हैं, जिनको प्रोटोन् इलैक्ट्रॉन् और न्यूट्रॉन् के नाम से कहाजाता है। रसायन-शास्त्रप्रतिपादित समस्त पदार्थ इन्हीं तत्त्वों के परिणाम हैं। उनका कलेवरविषयक पूरा विवरण इस सचाई को स्पष्ट करता है। अनेक वैज्ञानिकों ने इन्हीं तत्त्वों के समकक्ष कुछ अन्य तत्त्वों को भी मालूम करने का प्रयास किया है। अथवा यह कहना चाहिये, कि उनके द्वारा तत्त्वविषयक परीक्षण किये जाने के अवसरों पर उन्हें ऐसा भान हुआ है, कि कदाचित् प्रोटोन् आदि के समकक्ष अन्य अनेक तत्त्व भी संभव हों। उनमें से ऐसे एक तत्त्व का नाम पॉजिट्रॉन् कहा जाता है। इस विषय का एक सन्देश बड़ा रुचिकर है, उसे प्रस्तुत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

यह घटना १६ जनवरी, सन् १९६२, शुक्रवार को भारतीय समयानुसार रात के लगभग ११ बजे की है। मेरे मित्र श्री महेशस्वरूप भटनागर एम० ए० [भूगोल विभागाध्यक्ष, महानन्द मिशन कॉलिज गाजियाबाद] ने अपने रेडियो पर 'वाइस् आफ़ अमेरिका, वाशिंगटन' [Voice of America Washington, U. S. A.] से विज्ञान विषयक एक भाषण सुना। प्रवक्ता वैज्ञानिक ने बताया, कि पानी को उबलने के तापमान तक गरम कर लेने पर उसके उफान में जब हम किसी तत्त्व से प्राप्त इलैक्ट्रॉन् को बम्बॉर्ड करते हैं, तो उसकी प्रतिक्रियास्वरूप विभिन्न प्रकार की प्रकाशमय किरण उसमें से निकलती हैं, जिनकी संख्या तीस के लगभग आंकी गई है। इस विषय के परीक्षणों के आधार पर वैज्ञानिक ने ऐसे परिणामों की संभावना प्रकट की, कि मूल में इलैक्ट्रॉन् के समान अन्य तत्त्व भी होने चाहियें, जिसकी प्रतिक्रिया विभिन्न प्रकाशमय किरणों के रूप में परीक्षणकाल में प्रतीत होती है, जिसमें एक स्वयं तथाकथित इलेक्ट्रॉन् की किरण भी रहती है। वैज्ञानिक ने अपने भाषण में एक अतिरिक्त मूलतत्त्व 'पॉजिट्रॉन्' का नाम तो

लिया, पर परीक्षण में संभावित अन्य विभिन्न प्रकाशमय किरणों के नामों के विषय में कुछ नहीं कहा। यदि मूल उपादानविषयक यह विवरण यथाभूत है, तो इससे यह परिणाम प्रकट होता है, कि तथाकथित 'इलैक्ट्रॉन्' नामक तत्त्व की रचना भी अन्य विविध तत्त्वों के आधार पर मानी जानी चाहिये, जिनके वास्तविक स्वरुप के विषय में अभी हम नहीं जान पाये हैं, अथवा जिनकी यथार्थ जानकारी तक हम नहीं पहुंच पाये हैं, पर जानकारी के लिये बरावर प्रयत्नशील हैं।

अन्य तत्त्वों के संघटन से इलैक्ट्रॉन् की रचना इस कारण संभावना की जाती है, कि जब उबलने के तापमान तक पानी के उफान में इलैक्ट्रॉन् बम्बॉर्ड किया गया, तब तक हमने बम्बॉर्ड किये गये तत्त्व को एकमात्र विशुद्ध इलैक्ट्रॉन् पाया है, पर बम्बॉर्ड करने पर जो विभिन्न प्रकाशमय किरणों का प्रादुर्भाव होता है, वह इलैक्ट्रॉन् की आन्तरिक रचना को प्रकट करता है। परीक्षण के अवसर पर वे तत्त्व विभिन्न प्रकाशमय किरणों के रूप में अपने अस्तित्त्व को प्रकट कर देते हैं, जिनके संघटन ने तत्त्व के 'इलैक्ट्रॉन्' रूप को धारण किया है। संभव है, उन प्रकाशमय किरणों के प्रादुर्भाव में उबलते पानी और उफान का भी कुछ सहयोग हो, तब केवल इलैक्ट्रॉन् को उससे प्रभावित माना जाय, ऐसा निश्चयात्मक कहाजाना शक्य नहीं। अभी यह अनुसन्धान का विषय बना है, भविष्य इसकी वास्तविकता को प्रकट करेगा। मूलतत्त्व की खोज के प्रयासों में यह प्रसंग बड़ा रुचिकर एवं विचारणीय है।

**इलैक्ट्रॉन् एकमात्र मूलतत्त्व**—इस दिशा में विज्ञान के प्रयास अभी चालू हैं। अन्तिम निर्णय के विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। आधुनिक वैज्ञानिकों का यह विचार भी अब प्रकाश में आया है, कि उक्त तीन मूलतत्त्वों में से वस्तुतः मूलतत्त्व एक ही माना जाना चाहिये, और वह 'इलैक्ट्रॉन्' है। तीनों तत्त्वों की आपेक्षिक स्थिति के विषय में यह स्पष्ट है, कि 'इलैक्ट्रॉन्' की अपेक्षा 'प्रोटोन्' १८४५ गुणा अधिक भार या दबाव रखता है। किसी भी पदार्थ के एक अणु में—जहां ये तीनों तत्त्व रहते हैं—प्रोटोन् और न्यूट्रॉन् ही भारयुक्त तत्त्व माने गये हैं, 'इलैक्ट्रॉन्' भारहीन रहता है। वस्तुतः इसका यह अभिप्राय नहीं है, कि वह सर्वथा भारहीन है। वैज्ञानिकों ने इसका अनुमान लगाया है, कि एक ग्राम अथवा एक माशा वज़न में लगभग पौने अठारह करोड़ [१७,७२,३०,०००] इलैक्ट्रॉन् तुल जाते हैं। जो वैज्ञानिक केवल इसी तत्त्व को मूलतत्त्व बताते हैं, उनकी मान्यता है, कि यही तत्त्व संघटित होकर एक ऐसी विशिष्ट अवस्था को प्राप्त करलेते हैं, जो 'प्रोटोन्' के रूप में हमारे परीक्षणों का विषय होती है, और ऐसे ही विशिष्ट संघटन 'न्यूट्रॉन्' को उभार लाते हैं। आगे इनके आधार पर जगद्रचना चलती रहती है। इसप्रकार ये वैज्ञानिक एकमात्र इलैक्ट्रॉन् तत्त्व को मूलतत्त्व कहते हैं। इसके आधार पर 'प्रोटोन्' आदि को मूलतत्त्व माने जाने में सन्देह हो जाता है।

इलैक्ट्रॉन् एकमात्र मूलतत्त्व है, यह कथन भी सन्देह से परे नहीं है। वाशिंगटन

कें एक वैज्ञानिक के परीक्षणों का ऊपर जो उल्लेख किया गया है, उनके आधार पर तथा इलैक्ट्रॉन् को भारयुक्त माने जाने पर–वह भार चाहे कितना ही न्यून क्यों न हो–इसके मूलतत्त्व होने में सन्देह हो जाता है। किसी तत्त्व का भारयुक्त होना उसकी रचना का द्योतक है। भार, अनेकों के समूह अथवा अनेकों के संघटन को प्रकट करता है, और यह स्थिति मूलतत्त्व होने की बाधक है। संमाननीय श्री डा० दौलतसिंह कोठारी ने एक बार मेरी जिज्ञासा पर यह बताया था, कि इन तत्त्वों [प्रोटोन्, इलैक्ट्रॉन् आदि] में भार का जो कथन किया जाता है, वह ऐसा भार नहीं है, जैसा हम कहते हैं, कि यह सेर भर आलू हैं; वस्तुतः वह इन तत्त्वों के पारस्परिक दवाव [Pressure = प्रैशर] को नापने का एक तरीका है। इस रीति पर हम उन तत्त्वों के पारस्परिक दबाव या आकर्षण आदि का अनुमान करते हैं। यदि भार का यह रूप माना जाता है, तो उन तत्त्वों के विषय में उपर्युक्त रचनाविषयक आशंका का अवसर नहीं रहता, और उनका मूलतत्त्व कहा जाना संभव हो सकता है। दबाब या आकर्षण उस तत्त्व की भारहीन चुम्बकीय शक्ति को प्रकट करता है, उसके व्यवहार्य बोझ को नहीं।

महर्षि कपिल ने अपने शास्त्र में उन मूलतत्त्वों को सत्त्व, रजस्, तमस् नामों से प्रकट किया है, जिनसे यह समस्त भूत-भौतिक जगत् प्रकाश में आता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार प्रोटोन्, इलैक्ट्रॉन् और न्यूट्रॉन् का मूलतत्त्व के रूप में जो विवरण दिया जाता है, वह वस्तुतः मूलतत्त्वों की उन स्थूल अथवा व्यक्त अवस्थाओं का है, जो अपनी मूलस्थिति से कार्योन्मुख दिशा में चलकर रचना के एक विशेष स्तर में आपहुंचे हैं। उनकी उस स्थिति के आधार पर यथाकथञ्चित् मूलतत्त्वों के विषय में यथार्थ अनुमान किये जासकते हैं। व्यक्त अवस्था को प्राप्त ये तत्त्व अनन्त शक्तियों के पुञ्ज हैं। इनकी अव्यक्त अवस्था का अनुमान–जो वस्तुतः हमारे यान्त्रिक परीक्षणों का सदा अविषय रहती है–उन व्यक्त तत्त्वों की विशेषताओं तथा पारस्परिक स्थितियों से किया जाना संभव है। तत्त्वों की उस अव्यक्त मूल अवस्था को कपिल ने सत्त्व, रजस्, तमस् पदों से कहा है, जिसका यथाक्रम प्रोटोन्, इलैक्ट्रॉन्, न्यूट्रॉन् नामक परीक्षित व्यक्त तत्त्वों की विशेषताओं एवं स्थितियों के संतुलन के आधार पर अनुमान किया जासकता है।

**अव्यक्त से व्यक्त जगत्**—मूल उपादान तत्त्व अव्यक्त हैं, उनसे व्यक्त जगत् प्रकाश में आता है, यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। भारतीय साहित्य में इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद [१०।१२९।४] में उल्लेख है–सर्ग के आदिकाल में अध्यक्ष सर्वनियन्ता का वह संकल्प है, जो मन का पहला बीज होता हैं। क्रान्तदर्शी ऋषि प्रतिभा-सम्पन्न मेधा-द्वारा विचारकर मस्तिष्क में व्यक्त के सम्बन्ध को अव्यक्त में समझलेते हैं [-सतो बन्धुमसति निरविन्दन्[1]]। सर्वसाधारण जन को यह विषय हृदयंगम करना कठिन

१—कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

होता है, मननशील विद्वान् इसकी वास्तविकता को जानलेने में यथाकथंचित् समर्थ हो जाते हैं। इसीकारण सर्वकल्याण की भावना से इस दिशा में सतत प्रयत्न चालू रहते हैं। मनु[1] के प्रारम्भिक स्थल और गीता[2] में भी अव्यक्त से व्यक्त के प्रादुर्भाव का उल्लेख है। इसप्रकार के प्रामाणिक प्रतिपादन जिज्ञासु को एक आश्चर्य में डाले रखते हैं। अव्यक्त से व्यक्त के प्रादुर्भाव का रहस्य कपिल के परिणामवाद पर आधारित है। परिणामवाद में वस्तुतत्त्व के सम और विषम आदि सभी प्रकार के परिवर्तन संभव हैं। इस कारण अव्यक्त से व्यक्त का प्रादुर्भाव होने में कोई अड़चन नहीं आती। यह जगत् अव्यक्त मूलतत्त्व का विषम परिणाम है। जगद्रचना की यह प्रक्रिया उक्त उलझन को सुलझा देती है। 'व्यक्ति' पद अवयव अर्थ को कहता है, जो वस्तु अवयवसहित है, वह व्यक्त है और जो अवयवरहित है वह 'अव्यक्त' है। कोई भी ऐसा पदार्थ-जिसका किसी भी रूप में विश्लेषण अथवा विच्छेदन होसकता हो-मूलतत्त्व होना संभव नहीं। वह अवश्य किन्हीं तत्त्वों अथवा अवयवों के संघटन का परिणाम कहा जासकता है। इसलिये मूलतत्त्व का अव्यक्त होना आवश्यक है।

**रचनाक्रम में अनेक स्तर**—मूलतत्त्व सीधा अथवा एकदम अन्तिम कार्यरूप में परिणत नहीं होता। कोई भी वस्तु एक रूप से दूसरे रूप में परिणत होने के लिये अनेक स्तरों में से गुजरती है, यह एक सर्वमान्य व्यवस्था है। तत्त्व की मूल अवस्था से लगाकर इस व्यवहार्य अवस्था तक कितने स्तरों में से इसे गुज़रना पड़ा है, इसका पूर्ण एवं स्पष्ट लेखा-जोखा करना अशक्य है। ज़गत् का अतिस्थूल व्यवहार्यरूप जो हमारे सामने है, वह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश के रूप में है। प्राणी का साधारणरूप से समस्त आहार [भोग] विहार [प्रजनन] इन्हीं भूत-भौतिक पदार्थों में सीमित है। विविध प्रकार के समस्त भोग्य पदार्थ प्राणी को इन्हीं से प्राप्त होते हैं। यद्यपि अपने रूप में इनका अस्तित्व सब के लिये सिद्ध एवं मान्य है, पर विचारणीय यह है, कि इनको मूलतत्त्व के रूप में स्वीकार करना कहां तक ठीक है। आईये, पृथिवी की रचना पर इस तात्त्विक दृष्टि से विचार करें, और इसकी वास्तविकता को समझने का यत्न करें।

आधुनिक विज्ञान ने इस दिशा में प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। पृथिवीरूप में इस पदार्थ की रचना किन कारणतत्त्वों के आधार पर है, इसका उपयुक्त उत्तर विज्ञान देता है। पृथिवी के एक परमाणु[3] में कितने मूलतत्त्व[4] हैं, इसका निश्चय होचुका है, अर्थात

१—मनुस्मृति, १।६,७,११॥

२—भगवद्गीता, २।२८ तथा ८।१८॥

३—पृथिवी के छोटे से छोटे अविभाज्य कण के लिये यह 'परमाणु' पद का प्रयोग है। यदि उसको आगे विभाजित या विश्लेषित किया जायगा, तो वह पृथिवी-कण न रहकर अपने कारणतत्त्वों के रूप में बिखर जायगा।

४—रसायनशास्त्रप्रतिपादित तत्त्वों के लिये यह 'मूलतत्त्व' पद का प्रयोग है, वस्तुतः वे तत्त्व मूलउपादान नहीं हैं, क्योंकि उनकी भी रचना अन्य उपादान तत्त्वों से मानी गई है।

पृथिवी का परमाणु किन तत्त्वों के संघटन से इस रूप को धारण कर लेता है। इसके साथ यह भी निश्चय किया जाचुका है, एक पृथिवी परमाणु में संघटित तत्त्वों का परिमाण क्या है। इस विषय का अध्ययन बड़ा मनोरंजक है। पृथिवी के चारों ओर के वायु तथा जल-मंडलों को साथ लेकर चौबीस मील गहराई तक का पार्थिव चिप्पड़ मुख्यतः [ ९९ प्रतिशत ] केवल बारह मूलतत्त्वों से बना है। उसका लगभग आधा भाग तो ऑक्सिजन ही है, और लगभग एक चौथाई सिलिकन है। शेष चौथाई भाग में अन्य दस मूलतत्त्व हैं। इन बारह मूलतत्त्वों के नाम और इनके प्रतिशतांक का विवरण इसप्रकार है—

| नाम | प्रतिशत | नाम | प्रतिशत |
|---|---|---|---|
| ऑक्सिजन् | ४९·८५ | मैग्नेशिअम् | २·११ |
| सिलिकन् | २६·०३ | हाइड्रोजन् | ०·९७ |
| एलुमीनिअम् | ७·२८ | टिटैनिअम् | ०·४१ |
| लोहा | ४·१२ | क्लोरीन् | ०·२० |
| कैल्शिअम् | ३·१८ | कॉर्बन् | ०·१९ |
| सोडिअम् | २·३३ | | —— |
| पोटैशिअम् | २·३३ | | ९९·०० |
| | | शेष समस्त मूलतत्त्व[1] | १·०० |
| | | | —— |
| | | | १००·०० |

यह विवरण पृथिवी के एक अणु की रचना का है। ऐसे अणुओं से मिलकर यह बाह्य पृथिवीमण्डल बना है। जैसे इन तत्त्वों के संघटन से पृथिवी की रचना है; इसी-प्रकार इन समस्त तथाकथित तत्त्वों की रचना भी प्रोटोन् इलैक्टॉन् और न्यूट्रॉन् तत्त्वों के संघटन से होती है, इसका वर्णन इन्हीं पृष्ठों में पीछे कर दिया गया है। अब यह कुछ निश्चय के साथ कहा जासकता है, कि मूलतत्त्वों ने अपनी यह यात्रा जहां से प्रारम्भ की और जहां तक वे पहुंचे हैं, इस बीच अनेकानेक स्तरों में से होकर उन्हें गुजरना पड़ा है, तब वे यहां तक आपहुंचे हैं। इस यात्रा में ये स्तर इनके एक प्रकार के पड़ाव हैं। मानव ने अपनी चमत्कारपूर्ण प्रतिभा के आधार पर उन पड़ावों में से अनेकों को पकड़ लिया है, और उतने आधार पर उसने अपनी मनोवाञ्छित विविध रचना कर डाली है, तथा आगे उसी में तत्परता से लगा हुआ है। मानव के इसी सतत प्रयास का अकल्पित दिग्दर्शन यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय की कतिपय मध्यगत ऋचाओं में हुआ है[2]। मानव के इस खेल ने मानव को स्वयं चमत्कार में डाल दिया है, और वह इसके गहरे आवरण से घिरा है, इसके बाहर देखने की क्षमता वह अब प्रायः खोचुका है। आवरण शिथिल होने पर

**१—पृथिवी रचना सम्बन्धी यह विवरण 'विश्वभारती' [ चारबाग, लखनऊ से प्रकाशित ], पृष्ठ ८१२–१३ के आधार पर दिया गया है।**

**२—यजुर्वेद, ४०।९—१४॥ तथा ईशावास्योपनिषद्, ९—१४॥**

क्षमता की किरण पुनः उदित होने की संभावना बराबर रहती है।

**पञ्चतत्त्व**—यहां केवल इतना स्पष्ट करना अभिप्रेत है, कि अपनी यात्रा में संलग्न तत्त्वों के मूलस्थान एवं मूलरूप को खोजने के लिये अतिप्राचीन काल से मानवद्वारा महान तथा सफल प्रयत्न होते रहे हैं। मानव ने उसकी जानकारी के लिये स्थूलजगत् से प्रतियात्रा प्रारम्भ की, कतिपय मनीषियों ने लोककल्याण की भावना से जनसाधारण की ज्ञानग्रहण क्षमता का विचार करते हुए तत्त्वों की सर्वाधिक स्थूल स्थिति के प्रथम कण से ही जगत् की व्याख्या करने का सत्प्रयास किया। उन्होंने पृथिवी, जल, तेज, वायु के प्रथम कणों को मूलतत्त्व मानकर जो जगत् की व्याख्या की है, उसका यह कारण नहीं है, कि वे मनीषी उस काल में उतना ही जान पाये थे, या उनका इतना जान लेना भी उस अन्धकारमय या अज्ञानमय काल में बहुत महत्त्व रखता था, जबकि आज का केवल भौतिकवादी अहंमन्य मानव उन पर दया दिखाने की दृष्टि से उनके सत्प्रयासों को इन आधारों पर बढ़ावा देकर उनको उपहास का विषय बनाना चाहता है। प्रत्युत उसका यही मुख्य आधार है कि उन्होने इस यात्रा के उतने ही अंश का विवरण उन अधिकारियों की दृष्टि से प्रस्तुत किया, जो वहीं तक जाने की क्षमता रखते थे, आगे क़दम बढ़ाने का उन्होंने किसी को निषेध नहीं किया, वे तत्त्वों की वास्तविक स्थिति को जानते थे, उन्होंने ज्ञानपूर्वक ऐसा किया है, अज्ञानवश नहीं। उन मनीषियों का वह काल न अन्धकारमय था न अज्ञानमय। प्रत्येक दिशा में उनकी सतर्कता अनुकरणीय रही है, यह उनकी कृतियों से स्पष्ट है। यदि विरोधी भावनाओं के चश्मे को उतार कर निष्पक्ष दृष्टि से देखें, तो उन क्रान्तदर्शी मनीषियों के अगाध ज्ञानाब्धि के अनुपम रत्नों का अवलोकन कर सकेंगे।

**गौतम-कणाद के पञ्चतत्त्वप्रतिपादन का आधार**—जिज्ञासु की योग्यता के अनुरूप शास्त्रीय अर्थ का प्रतिपादन उपयोगी होता है, इस भावना से प्रेरित होकर गौतम और कणाद ने अपने शास्त्रों का प्रवचन किया। उन्होंने अपने प्रतिपाद्य विषय के क्षेत्र को व्यक्त जगत् के एक विशिष्ट अंश तक ही सीमित रक्खा। इसीलिये गौतम ने व्यक्त जगत् का उत्पत्ति व्यक्त कारण से स्वीकार की है। वह लिखता है—'व्यक्ताद व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात' [न्यायसूत्र ४।१।११]। इसकी व्याख्या करते हुए वात्स्यायन मुनि ने लिखा है—भूत कहे जाने वाले व्यक्त, परमसक्ष्म पृथिवी आदि [पृथिवी तत्त्व के परमाणुरूप आद्य कण] से अन्य शरीर आदि व्यक्त द्रव्य उत्पन्न होते हैं। जो इन्द्रियों से जाना जाता है, वह व्यक्त है, उसके समान होने से उसका कारण भी व्यक्त है। दोनों में समानता क्या है? रूप आदि गुणों का योग। रूप आदि गुणो से युक्त नित्य पृथिवी [पृथिवी तत्त्व के परमाणुरूप आद्य कण] आदि से रूपादि-गुणयुक्त शरीर एवं अन्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण से देखा जाता है, कि रूपादिगुणयुक्त जैसी मिट्टी होती है, वैसा ही घड़ा आदि द्रव्य उत्पन्न होता है। इसी के अनुसार न देखे हुए का अनुमान कर लिया जाता है। मूल उपादान और उसके विकार में रूप आदि का अन्वय देखे जाने से अतीन्द्रिय पृथिवी [पृथिवी तत्त्व के

परमाणुरूप आद्य कण] आदि की कारणता का अनुमान हो जाता है।

इस विवरण से स्पष्ट है, यह स्थूलजगत् जिस रूप में हमें दीखता है, इन आचार्यों ने उसी के आधार पर इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। इसमें सन्देह नहीं किया जासकता, कि इस स्थूल दृश्यमान पृथिवी के पीछे छोटे से छोटा पृथिवी का कण विद्यमान है। उस कण की रचना कैसे हुई है, इस विषय को गौतम ने अपने शास्त्र की सीमा में नहीं लिया। इस कारण दृश्यमान चारों भूततत्त्वों के परमसूक्ष्म कणों को ही जगत् का मूल मान लिया गया है, उन कणों की रचना कैसे होती है, इससे यहां कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि इस विषय पर इस शास्त्र ने विचार नहीं करना है, इसलिये उन्हें नित्य कह दिया गया है, यदि इनकी भी रचना पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जाता, तो यह उस शास्त्र की सीमा से बाहर की बात होती। फलस्वरूप यह समझना निराधार होगा, कि इसके आगे उन तत्त्वों के विषय में उन आचार्यों को जानकारी न थी। वस्तुतः ऐसा कहनेवाले अपनी जानकारी का दिवालियापन ही प्रकट करते हैं।

कणाद ने जगद्रचना को गौतम के समान ही स्वीकार किया है, पर इस अर्थ को दूसरे शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया है। उसकी मान्यता है, कि यह व्यक्त जगत् 'विशेष' नामक पदार्थों से उत्पन्न होता है। इसी आधार पर इस शास्त्र का नाम वैशेषिक है। 'विशेष' नामक पदार्थ को लेकर प्रवृत्त हुए शास्त्र का 'वैशेषिक' नाम सर्वथा उपयुक्त है। गौतम कणादद्वारा स्वीकृत पृथिवी तत्त्व आदि के परमसूक्ष्म कणों की 'विशेष' संज्ञा सांख्य-योग में परिभाषित है, और वहां इनकी रचना-प्रक्रिया का भी वर्णन उपलब्ध होता है।[1] इसका उल्लेख इसी प्रकरण में पहले प्रसंगवश किया जाचुका है। यहां केवल इतना अभिप्रेत है, कि कणाद ने 'विशेष' संज्ञक पृथिवी आदि तत्त्वों के परमसूक्ष्म कणों से जगत् की रचना मानी है। ऐसे कणों की चार विधा ठोस, तरल, प्रकाश तथा ऊष्मारूप और वायु अथवा गैस आदि के रूप में स्वीकार कीगई हैं। जिसमें ठोस आदि कोई भाव नहीं होता, ऐसी एक पांचवीं विधा है। समस्त पदार्थ इन्हीं पांच विधाओं में अन्तर्भूत होजाते हैं। कोई ऐसा पदार्थ शेष नहीं रहता, जो इन पांच प्रकारों में न आजाता हो। पांच भूतों की मान्यता का यह एक साधारण आधार है। इन्हीं को यथाक्रम पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश नामों से वर्णित किया गया है।

**पञ्चतत्त्व का अन्य आधार**—इसके अतिरिक्त विषयग्रहण के लिये हमारी पांच इन्द्रियां हैं। उनके ग्राह्य विषय पञ्चभूत अथवा पञ्चतत्त्वों के रूप में विभाजित हैं। पांचभूतों के रूप में अर्थ के विभाजन का यह भी एक आधार है। अन्य आधारों पर किये गये विषयविभाग का इससे कोई मार्ग अवरुद्ध नहीं होजाता है। रसायनविज्ञान इस बात को स्वीकार करता है, कि पृथिवी तत्त्व की रचना में मुख्यरूप से बारह मूलतत्त्वों का

१. इसके लिये देखें—पातञ्जल योगदर्शन, १।४४, उसका व्यासभाष्य और वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी टीका। तथा सांख्यदर्शन, ३।१।।

उपयोग होता है। रसायनशास्त्री ब्वॉयल के अनुसार मूलतत्त्व की परिभाषा यही है, कि जो पदार्थ दो या अधिक पदार्थों के रूप में विच्छेदित न होसकता हो; अर्थात् अपने रूप में जो वही एकमात्र तत्त्व है। जैसे सुवर्ण अपने रूप में केवल एकमात्र सुवर्ण है, वह अन्य कुछ नहीं; उसका विच्छेदन दो पदार्थों के रूप में संभव नहीं। ब्वॉयलद्वारा की गई यह मूलतत्त्व की परिभाषा सांख्य के 'तन्मात्र' स्वरूप के साथ पूर्णरूप में समानता रखती है। पदार्थ या तत्त्व का 'तन्मात्र' वही स्वरूप है, जो केवल वही है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। इन परिभाषाओं के अनुसार रसायनशास्त्रप्रतिपादित समस्त तत्त्व सांख्यपरिभाषा के अनुसार 'तन्मात्र' हैं। इन्हीं तन्मात्रों से 'विशेष' नामक स्थूल पदार्थ परिणत होते हैं। पृथिवी तत्त्व ऐसा ही स्थूल पदार्थ है, जो विविध तन्मात्रों के संघटन से परिणत होता है जैसा कि रसायनशास्त्र के अनुसार ऊपर दिखाया जाचुका है। तन्मात्रों से इसप्रकार पदार्थों की रचना का प्रतिपादन सांख्य का विषय है। आधुनिक रसायनशास्त्र मूलतत्त्व के रूप में जिन एक सौ दो पदार्थों का प्रतिपादन करता है, सांख्य के अनुसार वे सब 'तन्मात्र' पद में व्याख्यात होजाते हैं। रसायनशास्त्रद्वारा इनको मूलतत्त्व मानना ऐसा ही है, जैसा गौतम-कणाद ने पृथिवी तत्त्व आदि के परमसूक्ष्म आद्य कणों को मूलतत्त्व मान लिया है। जैसे न्याय-वैशेषिक का प्रतिपाद्य विषय उतना ही है, ऐसे रसायनशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय और एक कदम आगे तक है। यद्यपि परमसूक्ष्म पृथिवी कणों के समान रसायन-शास्त्रप्रतिपादित तत्त्व भी वस्तुतः मूलतत्त्व नहीं हैं।

**पञ्चतत्त्व-निगमन**—इस विवरण के अनुसार हाइड्रोजन से लेकर समस्त एक सौ दो पदार्थ सांख्य के 'तन्मात्र'स्थानीय हैं, यह कहा जासकता है। रसायनशास्त्र इसके आगे इनके रचना-सम्बन्धी विषय का प्रतिपादन नहीं करता; पर सांख्य इसके बहुत आगे तक तत्त्व का विवेचन करता है। इसके साथ जब हम रसायनशास्त्रप्रतिपादित पदार्थों पर सामूहिकरूप में विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है, कि इनमें पर्याप्त पदार्थ विभिन्न प्रदेशों की विविध प्रकार की मिट्टियां हैं। कुछ धातु और उपधातु हैं। बहुत से पदार्थ गैसेज़ हैं। कुछ पदार्थ—हाइड्रोजन, पोटैशिअम्, मैग्नेशिअम्, फ़ास्फ़ोरस आदि प्रज्ज्वलनशील हैं। कतिपय ईथर आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो इन प्रकारों में नहीं आते। फिर पञ्चभूतों की रचना में इन पदार्थों में से अत्यधिक का उपयोग होता है। सृष्टिक्रम में ये पदार्थ पहली रचना हैं, पञ्चभूतों का क्रम इनकी रचना के अनन्तर आता है। यदि उन पदार्थों के स्तर में हम पञ्चभूतों को तलाश करें, तो यह उपहासास्पद होगा। उन पदार्थों की रचना तक पञ्च-भूत अभी प्रादुर्भाव में ही नहीं आये; तब उनको वहां ढूढ़ना कहां तक बुद्धिमत्ता का कार्य है।

मूलतत्त्वों ने अपनी यात्रा स्थूल जगत् के रूप में आने तक जारी रक्खी। हमने मूलतत्त्व का जानकारी तक पहुंचने के लिये स्थूल जगत् से प्रतियात्रा प्रारम्भ की। हमने देखा, न्याय-वैशेषिक केवल स्थूल जगत् का वर्णन करते हैं। रसायनशास्त्र उसके

आगे तन्मात्रों का वर्णन करता है, सांख्य उससे भी आगे तन्मात्रों के कारणरूप सत्त्व, रजस्, तमस् का वर्णन उनकी अव्यक्त अवस्था तक करता है, जबकि आधुनिक भौतिक-शास्त्र अथवा भौतिकी-रसायनशास्त्र एक सौ दो तत्त्वों के कारणरूप प्रोटोन्, इलैक्ट्रॉन् तथा न्यूट्रॉन् का केवल व्यक्त अवस्था तक का वर्णन करते हैं, और आगे के लिये प्रयत्न-शील हैं। इससे जगद्रचनाक्रम के अनेक स्तरों तथा विभिन्न शास्त्रों के प्रतिपाद्य अंशों का स्पष्टीकरण होजाता है। इसमें किसी की अज्ञता और सर्वज्ञता की तुलना करना सर्वथा अवाञ्छनीय है। इन आधारों पर पञ्चभूत सिद्धान्त को सर्वथा अवैज्ञानिक एवं उप-हासास्पद नहीं कहा जाना चाहिये। इस विवेचन से स्पष्ट होता है, समस्त विश्व का मूल उपादान सत्त्वरजस्तमोरूप प्रकृति है, जिसके स्वरूप व विशेषताओं का वर्णन प्रस्तुत प्रकरण में किया गया है।

जिन महान पारदर्शी मनीषियों ने अथक परिश्रम और दिव्य मेधा के द्वारा इन गहन-गम्भीर अचिन्तनीय विषयों का विवेचन किया, संसार-अरण्य में भटकते मानव के लिये यथार्थ का पथ प्रशस्त किया, और केवल लोककल्याण की भावना से जिन्होंने अपना स्पृहणीय जीवन ऐसे सत्प्रयासों के लिये अर्पण किया है; वे चाहे प्राचीन हैं या नवीन, हमारे लिये सभी वन्दनीय हैं।

## आधुनिक विज्ञानप्रतिपादित मूलपदार्थों [Elements] की परमाणुभारानुसार–सूची

| संख्या-नगरी मैण्डलिएव | नाम-पदार्थ | संकेत | परमाणु-भार[1] | प्रमुख-संयोजक शक्तियां |
|---|---|---|---|---|
| १–हाइड्रोजन | Hydrogen | H | १·००८ | १ |
| २–हीलिअम् | Helium | He | ४ | ० |
| ३–लीथिअम् | Lithium | Li | ६·९ | १ |
| ४–बैरिलिअम् [Glucinum-ग्ल्यूसिनम्] | Beryllium | Be | ९·२ | २ |
| ५–बोरोन | Boron | B | १०·८ | ३ |
| ६–कार्बन | Carbon | C | १२ | ४ |
| ७–नाइट्रोजन | Nitrogen | N | १४ | ३;५ |
| ८–ऑक्सिजन | Oxygen | O | १६ | २ |
| ९–फ्ल्योरीन | Fluorine | F | १९ | १ |

१. परमाणु-भार का अभिप्राय प्रत्येक तत्त्व के उस आपेक्षिक भार से है, जो हाइड्रोजन के परमाण-भार को १·००८ अथवा ऑक्सीजन के परमाणु-भार को १६ मान-कर निर्धारित किया जाता है।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १०–निश्रोन | Neon | Ne | २०·२ | ० |
| ११–स्रोडिश्रम् | Sodium, Latin : | | | |
| | [Natrium-नैट्रिश्रम्] | Na | २३ | १ |
| १२–मैग्नेशिश्रम् | Magnesium | Mg | २४ | २ |
| १३–ऐल्युमिनिश्रम् | Aluminium | Al | २७ | ३ |
| १४–सिलिकन् | Silicon | Si | २८ | ४ |
| १५–फ़ॉस्फ़ोरस् | Phosphorus | P | ३१ | ३,५ |
| १६–सल्फ़र | Sulphur | S | ३२ | २,४ |
| १७–क्लोरीन् | Chlorine | Cl | ३५·५ | १ |
| १८–श्रॉर्गन | Argon | A | ४० | ० |
| १९–पोटैशिश्रम् | Potassium, Latin : | | | |
| | [Kalium-कैलिश्रम्] | K | ३९ | १ |
| २०–कैल्शिश्रम् | Calcium | Ca | ४०·१ | २ |
| २१–स्कैंडिश्रम् | Scandium | Sc | ४५ | ३ |
| २२–टिटैनिश्रम् | Titanium | Ti | ४८ | ४ |
| २३–वैनेडिश्रम् | Vanadium | V | ५१ | २ |
| २४–क्रोमिश्रम् | Chromium | Cr | ५२ | २,६ [३] |
| २५–मैङ्गनीज़् | Manganese | Mn | ५५ | २,४ |
| २६–श्रॉयरन् [लोहा] | Iron, Latin : | | | |
| | [Ferrum-फ़ैरम्] | Fe | ५६ | २,३ |
| २७–कोवाल्ट | Cobalt | Co | ५९ | २ |
| २८–निकल | Nickel | Ni | ६० | २ |
| २९–कॉपर [तांबा] | Copper, Latin : | | | |
| | [Cuprum-क्यूप्रम्] | Cu | ६३·६ | १,२ |
| ३०–ज़िन्क [जस्ता] | Zinc | Zn | ६५·४ | २ |
| ३१–गैलिश्रम् | Gallium | Ga | ६९.५[७०] | ३ |
| ३२–जर्मेनिश्रम् | Germanium | Ge | ७२.५ | ४ |
| ३३–श्रार्सनिक | Arsenic | As | ७५ | ३,५ |
| ३४–सैलेनिश्रम् | Selenium | Se | ७९ | २ |
| ३५–ब्रोमाइन | Bromine | Br | ८० | १ |
| ३६–क्रिप्टन | Krypton | Kr | ८३ | ० |
| ३७–रुबिडिश्रम् | Rubidium | Rb | ८५.५ | १ |
| ३८–स्ट्रॉन्शिश्रम् | Strontium | Sr | ८७.५ | २ |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| ३९–इट्रिअम् | Yttrium | Y | ८९ | ३ |
| ४०–ज़िरकोनिअम् | Zirconium | Zr | ९१ | ४ |
| ४१–निओबिअम् | Niobium | Nb | ९३ | ३,५ |
| | [Columbirum कोलम्बिअम्] | | | |
| ४२–मॉलिब्डिनम् | Molybdanum | Mo | ९६ | २ |
| ४३–मैसूरिअम् | Masurium | Ma | ९८ | १ |
| ४४–रुथेनिअम् | Routhenium | Ru | १०१.७ | ३ |
| ४५–रोडिअम् | Rhodium | Rh | १०३ | २,३,४ |
| ४६–पैलेडिअम् | Palladium | Pd | १०६.५ | २,४ |
| ४७–सिलवर चांदी | Silver, Latin: | | | |
| | [Argentum अर्जेन्टम्] | Ag | १०८ | १,३ |
| ४८–कैड्मिअम् | Cadmium | Cd | ११२.५ | २ |
| ४९–इण्डिअम् | Indium | In | ११५ | ३ |
| ५०–टिन् [रांगा] | Tin, Latin: | | | |
| | [Stannum स्टैनम्] | Sn | ११८.५ | २,४ |
| ५१–ऐण्टिमनी | Antimony, latin: | | | |
| | [Stibium स्टिबिअम्] | Sb | १२२ | ३,५ |
| ५२–टैल्यूरिअम् | Tellurium | Te | १२७.५ | २ |
| ५३–आयोडिन् | Iodine | I | १२७ | १ |
| ५४–ज़ैनन | Xenon | Xe | १३० | ० |
| ५५–सीज़िअम् | Caesium | Cs | १३३ | १ |
| ५६–बेरिअम् | Barium | Ba | १३७.५ | २ |
| ५७–लैन्थेनम्[1] | Lanthanum | La | १३९ | ३ |
| ५८–सीरिअम् | Cerium | Ce | १४० | ४ |
| ५९–प्रैज़िओडिमिअम् | Prascodymium | Pr | १४१ | |
| ६०–निओडिमिअम् | Neodymium | Nd | १४४.५ | |
| ६१–इलिनिअम | Illinium | Il | १४६ | |
| ६२–सैमेरिअम् | Samarium | Sm | १५०.५ | |
| ६३–यूरोपिअम् | Europium | Eu | १५२ | |
| ६४–गैडोलिनिअम् | Gadolinium | Gd | १५७ | |
| ६५–टर्बिअम् | Terbium | Tb | १५९ | |
| ६६–डिस्प्रोज़िअम् | Dysprosium | Dy | १६२.५ | |

१. ५७ से ७१ संख्या तक दुर्लभ मिट्टियों के तत्त्व हैं।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| ६७–हॉल्मिश्रम् | Holmium | Ho | १६३.५ | |
| ६८–इर्बिश्रम् | Erbium | Er | १६७.५ | |
| ६९–थूलिश्रम् | Thulium | Tm | १६९.५ | |
| ७०–इटर्बिश्रम् | Ytterbium | Yb | १७३.५ | ३ |
| ७१–ल्युटेशिश्रम् | Lutecium | Lu | १७५ | |
| ७२–हैफ़्निश्रम् | Hafnium | Ha | १७८.५ | |
| ७३–टैण्टेलम् | Tantalum | Ta | १८१.५ | ५ |
| ७४–टंग्स्टैन | Tungsten. German: | | | |
| | [Wolframium वुल्फ्रेमिश्रम्] | W | १८४ | ४,६ |
| ७५–र्हीनिश्रम् | Rhenium | Re | १८७ | |
| ७६–ऑस्मिश्रम् | Osmium | Os | १९१ | |
| ७७–इरीडिश्रम् | Iridium | Ir | १९३ | २,३,४ |
| ७८–प्लैटिनम् | Platinum | Pt | १९५ | २,४ |
| ७९–गोल्ड [सोना] | Gold, Latin: | | | |
| | [Aurum ऑरम्] | Au | १९७ | १,३ |
| ८०–मर्करी [पारा] | Mercury, Latin: | | | |
| | [Hydrargyrum हाइड्रार्जिरम्] | Hg | २००.६ | १,२ |
| ८१–थैल्लिश्रम् | Thallium | Tl | २०५ | १,२ |
| ८२–लैड् [सीसा] | Lead, Latin: | | | |
| | [Plumbum प्लम्बम्] | Pb | २०७ | १,२ |
| ८३–बिस्मथ | Bismuth | Bi | २०९ | |
| ८४–पोलोनिश्रम् | Polonium | Po | २१० | २ |
| ८५–ऐस्टेटिन् | Astatine | At | २१० | |
| ८६–रैडॉन् | Radon, Latin: | | | |
| | [Niton नाइटोन्] | Nt | २२२ | |
| ८७–फ्रेन्शिश्रम् | Francium | Fr | २२३ | |
| ८८–रेडिश्रम् | Radium | Ra | २२६ | २ |
| ८९–ऐक्टिनिश्रम् | Actinium | Ac | २२९ | |
| ९०–थोरिश्रम्[1] | Thorium | Th | २३२ | २,४ |
| ९१–प्रोटोऐक्टीनिश्रम् | Protoactinium | Pa | २३४ | |
| ९२–युरेनिश्रम् | Uranium | U | २३८ | २ |
| ९३–नैप्च्यूनिश्रम् | Neptunium | Np | २३७ | |

१. ९० संख्या से अन्त तक सब दुर्लभ मिट्टियों के तत्त्व हैं।

| | | | |
|---|---|---|---|
| ९४–पियुटोनिअम् | Piutonium | Pu | २४२ |
| ९५–अमेरिकिअम् | Americium | Am | २४३ |
| ९६–क्यूरिअम् | Curium | Cm | २४३ |
| ९७–बरकैलिअम् | Berkelium | Bk | २४५ |
| ९८–केलिफ़ोर्निअम् | Californium | Cf | २४६ |
| ९९–ऐन्स्टैनिअम् [आइन्स्टैनिअम्] | Einsteinium | Es | २५४ |
| १००–फ़रमिअम् | Fermium | Fm | २५३ |
| १०१–मैन्डैलेविअम् | Mendelevium | Md | २५६ |
| १०२–नोबैलिअम् | Nobelium | No | २५४ |

१. रसायनशास्त्रप्रतिपादित इन तत्त्वों की सूची निम्नलिखित आधारों पर प्रस्तुत की गई है—

१—विश्वभारती,चारबाग लखनऊ से प्रकाशित।

२—The New Standard Encyclopaedia, [दि न्यू स्टैण्डर्ड इन्साइक्लोपीडिया।]

३—Periodic Chart of the Atams, Revised Edition, 1959. W. M. Welch Manufecturing Company, Chicago, U. S. A. द्वारा प्रकाशित। चार्ट में १०६ संख्या तक निर्देश है, पर अन्तिम चार ब्लॉक [प्रकोष्ठ] रिक्त हैं। अभी तक ये तत्त्व उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्धि की संभावना है।

## तृतीय अध्याय

# विकार

समस्त जड़ जगत् के मूल उपादान प्रकृति का निरूपण द्वितीय प्रकरण में किया गया। प्रकृति के स्वरूप और उसकी स्थिति को स्पष्ट किया गया। अब इस तृतीय प्रकरण में प्रकृति के परिणत होने से जो विकाररूप जगत् हमारे अनुभव में आता है, उसका निरूपण किया जायगा। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। तीन गुण हैं—सत्त्व, रजस् तमस्। इनका विकार समस्त जड़ जगत् भी त्रिगुणात्मक है। विकारभूत सूक्ष्म अथवा स्थूल तत्त्व का चाहे बाह्यरूप कैसा ही हो, उसकी त्रिगुणात्मकता बराबर बनी रहती है। कार्य अथवा विकार के रूप में अन्तर आजाने पर भी, उसकी मूलभूत त्रिगुणात्मकता में कोई अन्तर नहीं आता। सांख्य के व्याख्याकारों ने जगत् की इस स्थिति को स्त्री का उदाहरण देकर समझाया है। यह उदाहरण प्रकृति को स्त्रीरूप मानकर कल्पना किया गया है। मूलतत्त्व चेतन पुरुष के साथ जिसका सह-अस्तित्व अनिवार्य है।

**जगत् की त्रिगुणात्मकता में स्त्री का दृष्टान्त**—पद्मावती रूप यौवन कुलीनता आदि गुणों से सम्पन्न, अपने पति के लिये सुखकर होती है, क्योंकि पति के लिये उसके सुख [प्रीति] रूप का समुद्रेक होता है। यह उसका सात्त्विकरूप है। वही अपनी सपत्नियों के लिये दुःखकर होती है, क्योंकि उनके प्रति उसके दुःख [अप्रीति] रूप का प्रादुर्भाव होता है। यह उसका राजसरूप है, जहां रजोगुण की प्रधानता प्रकट में आती है। वही पद्मावती अन्य कामी पुरुष के लिये–जो उसे नहीं प्राप्त कर सकता–मोह अर्थात् विषाद को उत्पन्न करने वाली होती है, क्योंकि अन्य पुरुष के प्रति उसके मोह [विषाद] रूप का आधिक्य ही प्रकट में आता है। यह उसका तामसरूप है, जहां तमोगुण की प्रबलता प्रकाश में आती है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु भिन्न भिन्न निमित्तों के अनुसार सुख दुःख और मोह की जनक होने से प्रीति, अप्रीति एवं विषादरूप में त्रिगुणात्मक रहती है, जो मूल उपादान का स्वरूप है। इसमें किसी प्रकार के व्यतिक्रम की संभावना नहीं की जासकती।

**जगत् की त्रिगुणात्मकता में अन्य दृष्टान्त**—इसको अधिक स्पष्ट करने के लिये एक और व्यावसायिक स्थिति का उदाहरण ले लीजिये। एक कपड़े का व्यापारी है। उसके पास ग्राहक आता है, सौ दो सौ या न्यूनाधिक का माल क्रय कर लेजाता है, यह स्थिति उस व्यापारी के लिये सुखजनक है। यह उसका सात्त्विकरूप है। वही स्थिति पड़ौसी बजाज़ के लिये जिसका माल नहीं बिका दुःखजनक है। तीसरे उस व्यक्ति के लिये मोहजनक है, जो इसप्रकार व्यावसायिक श्रम से धनार्जन करने में असमर्थ है।

और देखिये–रामदास के घर पुत्र उत्पन्न होता है, या खेत में बढ़िया फ़सल लगती है, और सैंकड़ों मन अनाज होता है, यह रामदास के लिये सुखजनक है, उसके विरोधियों के लिये दुःखजनक, तथा जिसे पुत्र व अनाज अप्राप्त है उसके लिये मोहजनक है। एक ही क्रिया, विशेष-निमित्तों के अनुसार त्रिगुणात्मक है। इसी आधार पर व्यासभाष्य [४।१५] में व्यासदेव ने लिखा है—'सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणम्' सांख्यमत में प्रत्येक वस्तु त्रिगुण है। 'वस्तु' पद यहां अन्य समस्त अवस्था व क्रिया आदि का भी उपलक्षण है। कोई वस्तु कोई स्थिति, कोई क्रिया ऐसी संभव नहीं, जो त्रिगुणात्मकता की सीमा से बाहर जासके।

**वस्तुमात्र त्रिगुणात्मक है**—कहा जासकता है, कि प्रत्येक वस्तु आदि के त्रिगुणात्मक होने में हमारा अनुभव ही बाधक होजाता है। यदि वस्तु त्रिगुण है, तो हमें प्रतिक्षण उसके इस रूप का अनुभव होना चाहिये। क्योंकि वस्तुविषयक ऐसा अनुभव नहीं होता, इसलिये वस्तु की त्रिगुणात्मकता में सन्देह किया जासकता है। पर ऐसे किसी सन्देह का उस समय अवकाश नहीं रहता, जब हम यह समझ लेते हैं, कि किसी भी जगह गुणों के प्राकट्य की अनुभूति बाह्य निमित्तविशेष की अपेक्षा से होपाती है। पद्मावती जिन क्षणों में पति के लिये सुखजनक है, उन्हीं क्षणों में उसके लिये दुःख या मोहजनक नहीं होसकती, क्योंकि सुखानुभूति का साधन चित्त अथवा बुद्धि उन क्षणों में सुखसमुद्रेक का निमित्त है, वह पद्मावती की सुखात्मकता का अनुभव कर सकता है। कालान्तर में निमित्त वैलक्षण्य से उसे दुःखानुभूति अथवा मोहानुभूति होसकती है। पद्मावती के पुरुषान्तरासक्त होने पर पति को दुःख, तथा किन्हीं कारणों से वियोग होने पर मोह की अनुभूति होती है। यहां पर काल अथवा स्थितिभेद से, अनुभूति का साधन चित्त अथवा बुद्धि, विषयगत सुख-दुःख-मोहात्मकतारूप विलक्षण अनुभूति का साधन बनता है। प्रत्येक क्षण में वस्तु की त्रिगुणात्मकतारूप समानता रहने पर भी बुद्धि एक समय में उसके एक रूप को ग्रहण कर पाती है। एक काल में भी पति, कामुक तथा अलब्धा व्यक्ति को पद्मावती की सुख-दुःखमोहात्मकता का अनुभव होता है। वहां पर बुद्धिरूप निमित्त की विभिन्नता स्पष्ट है। इसप्रकार प्रत्येक क्षण में प्रत्येक वस्तु के त्रिगुणात्मकरूप में विद्यमान साम्य की, सुखदुःखादि विलक्षण अनुभूतियों से कोई बाधा नहीं होती। एक समय में एक व्यक्ति को त्रिगुणात्मक विषय के एक ही गुणोत्कर्ष की अनुभूति का यह वर्णन अविवेकी पुरुष की दृष्टि से है। विवेकी तो विषय की त्रिगुणात्मकता का सदा अनुभव कर लेता है। फलतः विकारभूत समस्त जड़ जगत् की त्रिगुणात्मकता स्पष्ट है।

**'गुण' नामकरण क्यों?**—दृश्यादृश्य जगत् का मूल उपादान–सत्त्व, रजस्, तमस् हैं। सांख्यसूत्रों में इनको 'गुण' पद से व्यवहृत किया गया है। अन्य समस्त साहित्य में इनके लिये इसी नाम का प्रयोग हुआ है। इस नामकरण का कारण क्या है, यह विवेचन आवश्यक है। आवश्यक इसलिये कि पद का प्रयोग-विषय अतिविस्तृत है। विभिन्न

शास्त्रों में इस पद का प्रयोग अन्य अनेक अर्थों को प्रकट करने की भावना से हुआ है। कहीं कहीं तो यह केवल पारिभाषिक हो उठा है। जैसे पाणिनीय व्याकरण में 'गुण' पद 'अ ए ओ' इन तीन वर्णों को प्रस्तुत करता है। गुण पद के किसी अर्थ के साथ इनका सामञ्जस्य स्थापित कर सकना कठिन है। राजनीतिशास्त्र में सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव इन छह का नाम गुण है, जो परराष्ट्रनीतिसम्बन्धी व्यवहार के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। इस विषय में कोई ऐसी मन लगती व्याख्या स्पष्ट नहीं है, जो इनके साथ गुण पद का समन्वय प्रकट करती हो। न्याय और वैशेषिक दर्शन में–जो सांख्यदर्शन के समान छह वैदिक दर्शनों में से हैं—चौबीस[1] गुणों का उल्लेख है। यहां पर 'गुण' पद का प्रयोग वस्तु की 'योग्यता' के अर्थ में हुआ है। समाजशास्त्र तथा लोक व्यवहार में 'गुण' पद का प्रयोग, वस्तु अथवा व्यक्ति की 'योग्यता' को प्रकट करने के लिये किया जाता है। इस अर्थ में 'गुण' पद का प्रयोग सर्वविदित है। विशेष पारिभाषिक स्थलों को छोड़कर कहीं भी जब हम आज 'गुण' पद का प्रयोग देखते हैं, तो सर्वप्रथम मस्तिष्क में इसी अर्थ का प्रादुर्भाव हो आता है।

आयुर्वेद में शरीर की रचना और स्थिति के आधारभूत–वात, पित्त और श्लेष्म इन तीन तत्त्वों का वर्णन किया गया है। इनको विकृत अवस्था में दोष और समीकृत अवस्था में गुण कहा जाता है। विकृत होकर ये शरीर को रोगी बनाते हैं, और समीकृत रहकर उसे नीरोग रखते हैं। शरीर को सुस्थ रखने के लिये जितनी जिस तत्त्व की आवश्यकता है, उसी सीमा में रहने पर समीकृत तथा न्यूनाधिक होने पर विकृत अवस्था समझी जाती है। आयुर्वेद के आचार्यों का यह त्रित्वकल्पनामूलक विवेचन, बहुत कुछ सांख्य के आधिभौतिक सिद्धान्तों पर आश्रित है। बहुत कुछ क्या, आयुर्वेद के ग्रन्थों में तो सांख्य के त्रिगुण के साथ इन तत्त्वों की स्पष्ट तुलना की गई है। इस विषय में क्या किसी ऐसे आधार की संभावना की जासकती है, जो इसप्रकार की विवेचनाओं के किसी समान मूलभूतसिद्धान्त की ओर संकेत करता हो ? मूलतत्त्वों का 'गुण' नाम क्यों रक्खा गया है ? कदाचित् इस प्रश्न का उत्तर उस सिद्धान्त के द्वारा प्रकट किया जासके।

**मूलतत्त्व के 'गुण' नामकरण का आधार, सांख्य का एक सिद्धान्त**—विचार पूर्वक यह कहा जासकता है, कि मूलतत्त्वों के 'गुण' नामकरण का आधार, सांख्य का एक सिद्धान्त है, जो जगद्रचना की वास्तविक प्रक्रिया के अनुसार निर्णीत किया गया है। वह सिद्धान्त है–जगत्सर्ग में मूलतत्त्वों की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता का स्वभाव। जब जगत् की

---

**१—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार; ये चौबीस गुण–पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन इन–न्यायवैशेषिकाभिमत नौ द्रव्यों की यथायथ विशेषता व योग्यताओं को प्रकट करते हैं।**

रचना होने लगती है, अथवा मूलतत्त्व विकारोन्मुख होते हैं, तब वे एक दूसरे में वर्त्तुलाकार गुंथे हुए रहकर अपना कार्य चालू रखते हैं, यह उनका स्वभाव है। उनका स्वभाव कहने से हम इतना ही स्पष्ट करना चाहते हैं, कि सर्ग-रचना काल में उनकी किसी अन्य स्थिति की संभावना नहीं की जासकती। चाहे यह स्थिति उनकी स्वतः हो, अथवा किसी अन्य की प्रेरणा से हो, इसका विवेचन इससमय हमारा लक्ष्य नहीं है। यह अन्योन्यमिथुनवृत्तिता अर्थात् मूलभूत तत्त्वों का एक दूसरे में वर्त्तुलाकार गुंथे हुए रहकर सर्ग अथवा विकार के लिये अग्रसर होना, उनके 'गुण' नामकरण का मूल आधार कहा जासकता है। कपिल ने मूलतत्त्वों के स्वरूप का निरूपण प्रीति, अप्रीति और विषाद पदों से किया है, इसकी व्याख्या करते हुए हम 'प्रकृति' नामक प्रकरण में स्पष्ट कर आये हैं, कि किस प्रकार मूलतत्त्व जगद्रचनाकाल में एक दूसरे के साथ गुथे हुए रहते हैं। जब हम सन अथवा जूट या इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं के रेशों [अंशुओं, फिर तन्तुओं] को इकट्ठा कर लपेट के साथ उन्हें दुहरा तिहरा कर देते हैं, उनकी इस अवस्था को 'गुणित' अथवा 'गुणीकृत' या 'गुणीभूत' कहा जाता है। लगभग यही स्थिति रचनाकाल में मूलतत्त्वों की रहती है। कदाचित् इसी आधार पर रस्सी का नाम 'गुण' है।

रचना या विकार का प्रारम्भ होने से पूर्व समस्त मूलतत्त्वों की स्थिति एक समान रहती है, तब किसी प्रकार की विशेषता का अस्तित्व नहीं रहता। मूलतत्त्वों के अन्योन्यमिथुनवृत्ति अथवा गुणीकृत होने पर किसी भी प्रकार की विशेषता का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव होता है। कदाचित् इसी कारण आगे चलकर 'गुण' पद की शक्ति, वस्तु अथवा व्यक्ति की विशेषता या योग्यता के प्रकट करने में समन्वित होगई है। पर रचनाकाल की मूलतत्त्व की अपनी स्थिति में उस समय तक कभी कोई अन्तर नहीं आता, जब तक समस्त जगत् फिर अपने मूल कारणरूप में अवस्थित न होजाय। इसलिये मूलतत्त्व सदा 'गुण' बना रहता है। यद्यपि मूलतत्त्व की यह अन्योन्यमिथुनवृत्तिता, उसके विकारोन्मुख होने अथवा विकाररूप में परिणत होजाने की अवस्था को प्रकट करती है, फिर भी हम उनकी इस विकृत अवस्था के आधार पर रक्खे हुए नाम का प्रत्येक अवस्था को प्रकट करने के लिये प्रयोग करते हैं, और ऐसा ही किया जासकता है, क्योंकि समस्त व्यवहार सर्गकाल का संभव है, प्रलय का नहीं।

**अथर्ववेद में मूलतत्त्वों के लिये 'गुण' पद का प्रयोग**—यह कह देना यहां अप्रासंगिक न होगा, कि अथर्ववेद में मलतत्त्वों के लिये इस पद का प्रयोग हुआ है–'त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्' [१०।८।४३]। इस पद के व्याख्यान में सत्त्व रजस् तमस् के अन्योन्यमिथुनवृत्ति होने की ध्वनि प्रस्फुटित होती है। पर ऋग्वेद में आधिभौतिक जगत् के मूलतत्त्वों का संकेत 'त्रिधातु' पद से किया गया है। इस सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन हमने इसी ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण में किया है। सांख्य के इस सिद्धान्त के संकेत व स्पष्ट उल्लेख उपनिषद् तथा पुराण आदि के अनेक स्थलों में उपलब्ध होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के

छठे अध्याय का प्रारम्भिक भाग इस प्रसंग की पुष्कल सामग्री प्रस्तुत करता है। इस अध्याय के कतिपय सन्दर्भों के अर्थों का निर्देश 'प्रकृति' नामक प्रकरण के प्रारम्भिक भाग में कर दिया गया है। प्रस्तुत प्रसंग के उपयोगी अंश का यहां उल्लेख किया जाता है।

**छान्दोग्य में प्राणी-रचना का वर्गीकरण**—सर्वशक्तिमती अनादि चेतनसत्ता के आदिसर्गकालीन संकल्प का संकेत करते हुए उपनिषत्कार नामरूपात्मक जगत् की रचना का विवरण प्रस्तुत करता है। पर यह जगद्रचना उस समय तक सर्वथा व्यर्थ है, जब तक इसके भोक्ता जीवात्मा का यहां प्रवेश न हो। वस्तुतः जीवात्माओं के भोगापवर्ग को सिद्ध करने के लिये जगत्सर्ग है। साधारणतया संसार के उपभोग के लिये जीवात्माओं की यहां उपस्थिति तीन रूप में होती है–अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज। उपनिषद् के तृतीय खण्ड का प्रारम्भ यहीं से होता है। जिन प्राणियों के कानों के खोल बाहर को उभरे हुए नहीं रहते वे अण्डज प्राणियों की श्रेणी में आते हैं। इसमें प्रायः समस्त नभचर, जलचर और सरीसृप जाति के प्राणियों का समावेश होजाता है। वृक्ष लता ओषधि वनस्पति आदि समस्त वीरुध उद्भिज्ज हैं। इसी श्रेणी में अतिसूक्ष्म देह वाले कृमि-कीट आदि का समावेश है, जो एक देह के विभाजन से अपनी वंशवृद्धि करते हैं, तथा गलने-सड़ने वाली वस्तुओं में कृमि आदि के रूप में जन्म लेते हैं। ये उस देह तथा वस्तु का भेदन कर उत्पन्न होने के कारण उद्भिज्ज देहवाले प्राणियों की श्रेणी में आते हैं। शेष सब प्राणी जीवज हैं। इनमें समस्त ग्राम्य तथा वन्य पशु और मानव आदि का समावेश होता है। ब्राह्म प्राजापत्य आदि देवयोनियां जीवज में अन्तर्हित हैं। सांख्य में भौतिक सर्ग को संक्षेप से तीन भागों में विभक्त किया है–दैव, तैर्यक और मानव। दैवसर्ग आठ प्रकार का है–ब्राह्म प्राजापत्य ऐन्द्र पैत्र गान्धर्व याक्ष राक्षस पैशाच। तैर्यक पांच प्रकार का–पशु मृग पक्षी सरीसृप स्थावर। पशु से ग्राम्य पशु, मृग से समस्त वन्य पशु, पक्षी से समस्त नभचर, सरीसृप से भूमिपर अथवा जल में सरककर गति करनेवाले अर्थात् स्थल एवं जल में रींगनेवाले समस्त प्राणी गृहीत होजाते हैं। तीसरा सर्ग मानव है, जो एक प्रकार का है। सांख्य का यह सर्गविभाग मुख्यतया फलोपभोग की दृष्टि से किया गया है, रचना की दृष्टि से नहीं। इस कारण उपनिषद् के वर्णन से मूलरूप में इसका कोई विरोध न समझना चाहिये। बात में बात आगई, इसलिये यह उल्लेख कर दिया है।

**चेतनाशक्ति का सर्ग-संकल्प**—उपनिषत्कार जगद्रचना का वर्णन प्रस्तुत करने से पहले जगत् में जीवात्माओं की स्थिति का स्वरूप बताकर अनादि चेतनाशक्ति के सर्ग संकल्प का निर्देश करता है—

"सेयं देवतैक्षत–हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति।" [छा० ६।३।२]

प्रथम निर्दिष्ट इस देवता ने ईक्षण किया। इसी अध्याय के पहले और दूसरे खण्ड में उस देवता का 'सत्' पद से निर्देश किया गया है। वहां लिखा है—'सदेव

सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को सम्बोधन करके कहता है—हे सोम्य ! [अग्रे] सर्गरचना से पूर्व यह 'सत्' ही था, [एकम्] अकेला [एव] केवल [अद्वितीयम्] अद्वितीय। 'सत्' के विशेषणरूप इन अन्तिम तीन पदों के आधार पर, सदात्मक ईश्वर को स्वगत, सजातीय तथा विजातीय भेद से शून्य वर्णित किया जाता है। ईश्वर के सम्बन्ध का ऐसा वर्णन तो ठीक है, पर उसकी जो व्याख्या की जाती है, वह विचारणीय है। भगवान् शंकराचार्य तथा उनके अनुयायी अन्य विद्वानों ने इन पदों के आधार पर ईश्वरसम्बन्धी जो वर्णन प्रस्तुत किये हैं, उनका फलितार्थ यह है, कि एक ईश्वरसत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के अस्तित्व की उस समय अथवा त्रिकाल में भी कल्पना नहीं की जासकती। पर गम्भीरता से देखा जाय, तो उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण के साथ ही इस विचारधारा का विरोध स्पष्ट प्रतीत होने लगता है।

**छान्दोग्यवर्णित 'सत्' के तीन विशेषण**—इस स्पष्टीकरण से पूर्व 'सत्' के उक्त विशेषणों का अभिमत व्याख्यान कर देना उपयुक्त होगा। 'सत्' पद से यहां सर्वशक्ति मती अनादि चेतनसत्ता का बोध होता है, जिसे ईश्वर अथवा ब्रह्म कहा जाता है। उक्त वर्णन ईश्वरसम्बन्धी विशेषता को प्रस्तुत करता है। यह ईश्वर के केवल एकमात्र अस्तित्व को दृढ़ करता है, ईश्वर से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों के अस्तित्व का निषेध नहीं करता। ईश्वर स्वगत भेदशून्य है, इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है, कि उसके एकव्यक्तित्व में किसी प्रकार के अवयवों की कल्पना नहीं की जासकती। वह एक ईश्वर अनेक अवयवों से बना है, अथवा अनेक अवयवरूप है, यह कल्पना संभव नहीं। स्पष्ट ही उसमें अवयवभेद की कल्पना नहीं की जासकती, इसलिये उसका एकमात्र अस्तित्व स्वगतभेद से शून्य है। ईश्वर केवल एक है, उस जैसा कोई अन्य ईश्वर नहीं है, इसलिये वह सजातीय भेद से शून्य है। यदि उसके समान कोई अन्य ईश्वर नहीं है, तो उससे विलक्षण प्रकार का कोई दूसरा ईश्वर होगा, यह भी सम्भव नहीं। ईश्वर केवल एकमात्र सत्ता है, अतः वह विजातीय भेद से शून्य है। इसप्रकार उक्त वर्णन ईश्वर की केवल एकमात्र सत्ता को दृढ़ करता है। इसका तात्पर्य ईश्वर से अतिरिक्त अन्य सत्ताओं के निषेध में कदापि नहीं है।

**सत् के ईक्षण-प्रजनन के मुख्यार्थ में दोष**—इस स्थापना की पुष्टि उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग से ही होजाती है। द्वितीय खण्ड में आया है—'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' उस सत् ने ईक्षण किया—'मैं बहुत होजाऊं, मैं बहुत रूप से उत्पन्न होऊं'। 'तत्तेजोऽसृजत' उसने तेज को सृजा, 'तदपोऽसृजत' उसने अप् को सृजा, 'ता अन्नमसृजन्त' उन्होंने अन्न को सृजा। यदि इन सब वाक्यों के मुख्यार्थ को यहां इसी रूप में स्वीकार किया जाता है, तब यह निश्चित है, कि त्रिकाल में एक ही सत्ता रहती है, यह बात असत्य होजायगी, क्योंकि एक ही सत्ता के सदा स्वीकार किये जाने पर 'बहु स्यां' तथा 'प्रजायेय' को अवकाश नहीं मिल सकता। इसके अतिरिक्त उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में जहां 'सत्' के

ईक्षण का उल्लेख है, वहां 'तेज' और 'अप्' के ईक्षण का भी उल्लेख हुआ है, यदि इन पदों का साधारण प्राप्य अर्थ स्वीकार किया जाता है, तो अचेतन तेज और अप् में ईक्षण की कल्पना कैसे संभव होगी ? तब इन पदों के मुख्यार्थ को छोड़कर गौण की कल्पना करनी चाहिये। इस आधार पर कहा जासकेगा, कि एकमात्र सत्ता का यह बहुभवन अथवा बहु-प्रजनन कल्पनामात्र है, गौणरूप वास्तविक नहीं। पर इस सम्बन्ध में पहली बात यह है, कि किसी गौणी कल्पना के लिये मुख्य आधार की अपेक्षा होती है। उस एकमात्र सत्ता के बहुभवन अथवा बहुप्रजनन को गौण मानने पर इनके वास्तविक अस्तित्व को कहीं स्वीकार करना होगा, जिसका प्रतिपादन एकमात्र सत्ता को मानने वालों के लिये अशक्य है। फिर 'तत्तेजोऽसृजत' 'तदपोऽसृजत' इत्यादि वाक्यों में इस अर्थ का निर्देश नहीं है, कि उस 'सत्' ने तेज अप् अन्न का किस सामग्री से सृजन किया। कहा जायगा, कि उसने अपने स्वरूप से इनका सृजन किया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है, कि वह 'सत्' ही तेज अप् अन्न रूप में परिणत होजाता है। उस 'सत्' को परिणामी मानने पर उसकी त्रिकाला-बाध्यता नष्ट होजाती है, और उसके सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्यता का डिण्डिम घोष स्वतः शून्य में पर्यवसित होजाता है।

**'सत्' के ईक्षण-प्रजनन का निर्दोष तात्पर्य**—इन आपत्तियों से बचने के लिये भगवान् शंकराचार्य और उनके अनुयायियों ने अनेक पारिभाषिकताओं का आश्रय लिया है, जिनमें से एक वेदान्त का विवर्त्तवाद है। पर यह विवर्त्तवाद ब्रह्म के साथ से माया के अस्तित्व को मेट नहीं सका। स्पष्ट ही वेदान्त के इस रूप ने माया के बहाने प्रकृति को स्वीकार करने में अपने घुटने टेक दिये हैं। इसीलिये उक्त वाक्यों में यदि मुख्यार्थ को छोड़कर अमुख्यार्थ की कल्पना करनी है, तो उसकी और भी दिशा सम्भव होसकती हैं, जो अधिक युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक हैं। हम देखते हैं, कि द्वितीय खण्ड में तेज अप् अन्न की सृष्टि का कथन है। जब इनकी सृष्टि होगई, तब नामरूपात्मक जगत् तो बन गया, फिर तृतीय खण्ड में 'नामरूपे व्याकरवाणि' इसप्रकार 'सत्' के ईक्षण का वर्णन व्यर्थ है। कहा जासकता है, कि तेज आदि की सृष्टि हो जाने पर जीवसृष्टि का होना शेष है, जिसका वर्णन तृतीय खण्ड के इस अंश में किया गया है। पर यह कथन भी चिन्तनीय है। पहली बात तो यह, कि जीवात्माओं की सृष्टि होती नहीं, उनके शरीरों की सृष्टि होती है, जो तेज अप् अन्न की सृष्टि के वर्णन में अन्तर्निविष्ट है। फिर तृतीय खण्ड के अन्तिम अंश में जीवसृष्टि के अनन्तर तेज अप् अन्न के त्रिवृत्करण का वर्णन असंघटित होता है, क्योंकि जब तेज आदि की सृष्टि के अनन्तर जीव सृष्टि होचुकी, फिर तेज आदि का त्रिवृत्करण कैसा ?

ऐसी स्थिति में कल्पना का द्वार खुला होने पर प्रकरणसंगत कल्पना अधिक बलवती व युक्तियुक्त कही जासकती है। इसप्रकार उक्त वाक्यों में अमुख्यार्थ की कल्पना को लेकर दूसरी बात यह है, कि 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि वाक्य में 'असृजत' क्रियापद का

मुख्य अर्थ 'सृजन करना' या 'उत्पन्न करना' छोड़कर 'सर्गोन्मुख करना' किया जाना चाहिये। सर्ग से पहले प्रलयकाल में केवल ईश्वर एक ऐसी सत्ता है, जो अपने कार्य में लगी है। उसका कार्य है—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय। इसलिये वह तो प्रलय अवस्था में भी अपने कार्य पर आरूढ़ है। जगत् के मूल उपादानतत्त्व उस समय अपने कारणरूप में पड़े हैं। चेतन जीवात्मा साधन के अभाव में निश्चेष्ट सुप्तवत् पड़े हैं। अकेला ईश्वर जागृत व कार्यरत है। यह उसकी एकाकी अवस्था है। वह अब बहुत होना चाहता है। प्रलय के अनन्तर यह सर्ग का अवसर आता है। इसी स्थिति का उपनिषत्कार ने उक्तरूप में वर्णन किया है। वह सर्वप्रथम मूल उपादानतत्त्वों को सर्गोन्मुख करता है। ये तत्त्व कार्यरूप में परिणत होने वाले हैं। पर जब तक चेतन जीवात्मा इनके साथ नहीं आते, तब तक इनका कार्यरूप में परिणत होना व्यर्थ है। क्योंकि यह समस्त जगत्सर्ग जीवात्माओं के भोगापवर्ग को सम्पन्न करने के लिये है। अभी तक ईश्वर अकेला अपने कार्य में रत था, और वह अब भी उसी तरह है, पर अब अन्य भी अनेक इसप्रकार अपने कार्य में तत्पर होगये हैं, यही उस 'सत्' का 'बहुभवन' है, और यही 'बहुप्रजनन'। जो प्रलयकाल में मूल उपादान और सुप्तवत् जीवात्माओं का नियन्त्रण कर रहा था, वही अब सर्ग में अनन्त विविध सृष्टि एवं प्राणि-प्रजाओं का पति होकर सबका नियन्त्रण कर रहा है। यह 'प्रजायेय' का वास्तविक तात्पर्य है।

**छान्दोग्य के तेज अप् अन्न**—यहां तक आजाने पर द्वितीय खण्ड में वर्णित तेज अप् अन्न की वास्तविकता की ओर भी हमें ध्यान देना होगा। यद्यपि तेज आदि का वहां ऐसा वर्णन हुआ है, जैसे ये कार्यरूप से भौतिक जगत् में विद्यमान हैं। जहां तक वर्णन का प्रश्न है, मूलतत्त्व के स्वरूप को इतना उघाड़ कर रखना कठिन है। इसलिये कार्यरूप का वर्णन वस्तुतः अपने मूल उपादान तत्त्वों को प्रस्तुत करता है। इसप्रकार यदि यहां तेज अप् अन्न को रजस् सत्त्व और तमस् का प्रतिनिधि कहा जाय, तो अप्रासंगिक न होगा। अब उपनिषद् के मूल पदों पर आइये—

'सत्' ने ईक्षण किया—मैं बहुत होजाऊं और विविध प्रजाओं का नियन्ता। उसने रजस् सत्त्व तथा तमस् इन मूल उपादानतत्त्वों को सर्गोन्मुख प्रवृत्ति के लिये प्रेरित किया। पर जीवात्माओं के विना यह समस्त प्रवृत्ति व्यर्थ होती, इसलिये उसने देखा—जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश के अनन्तर इन तीन देवताओं को नाम रूप से व्याकृत करूं। प्रलयकाल में तथा सर्गोन्मुख प्रवृत्ति होने पर भी मूल उपादान अव्यक्त अवस्था में रहता है। जब वह अभिव्यक्त अवस्था में आता है, तब जीवात्मा उसमें अनुप्रविष्ट रहता है। जीवात्माओं को एक ओर छोड़कर या उनकी उपेक्षा करके जगत्सर्ग की सम्भावना शक्य नहीं। इस प्रसंग में 'अनुप्रविश्य' पद की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। यह 'अनुप्रवेश' पद इस बात को स्पष्ट करता है, कि उक्त तीन देवताओं में पहले और भी किसी का प्रवेश है। यह स्पष्ट है, कि इन तीन देवताओं के नामरूपात्मक सर्ग-व्याकरण

या अभिव्यञ्जन के लिये इनमें ईश्वर का प्रवेश आवश्यक है। वह इनमें अन्तर्यामी होकर इनको प्रेरित व अभिव्यक्त करता है। पर यह अभिव्यक्ति जीवात्माओं की सर्वथा उपेक्षा करके सम्भव नहीं, क्योंकि यह सर्ग उन्हीं के भोगापवर्ग के लिये है। इसलिये इसकी रचना व अभिव्यक्ति में उसका भी हाथ होना चाहिये। शास्त्रकारों ने जगद्रचना में अन्य निमित्तों के साथ जीवात्म-कर्मों को भी निमित्त माना है [सां० सू० ६।४१]। उक्त तीन देवताओं की नामरूपात्मक अभिव्यक्ति में यही जीवात्माओं का अनुप्रवेश है।

यदि शंकर आदि आचार्यों के अनुसार उपनिषद् के इन वाक्यों का यह अर्थ समझा जाय, कि--'सत्' ने यह ईक्षण किया, कि मैं स्वयं जीवात्मारूप से इन तीन देवताओं में अनुप्रविष्ट होकर इनको नामरूप से अभिव्यक्त करूं–तो यह कथन आचार्य शंकर के मतानुसार ही असंगत होजाता है। उस प्रक्रिया के अनुसार 'सत्' ईक्षिता एक अद्वितीय आत्मा, उस समय जीवात्मा कहा जाता है, जब वह अन्तःकरण उपाधि से उपहित व विशिष्ट हो। अभी–जबकि नामरूपात्मक जगत् बना ही नहीं, प्रत्युत उसके लिये केवल संकल्प किया जारहा है–अन्तःकरण का अस्तित्व ही नहीं है। जब अन्तःकरण नहीं, तो जीवात्मा की कल्पना कैसी? पर उपनिषत्कार की प्रतिपादनशैली से यह स्पष्ट हो रहा है, कि जवतक जगत् नामरूपात्मक अभिव्यक्ति में नहीं आया, उस समय भी 'सत्' ईक्षिता से अतिरिक्त जीवात्मा का अस्तित्व बराबर बना हुआ है, और वह उन तीन देवताओं [रजस् सत्त्व तमस्] की नामरूपात्मक अभिव्यक्ति में इनका सहयोग भी स्वीकार करता है।

छान्दोग्य के छठे अध्याय के प्रारम्भ से जो अर्थ प्रस्तुत किया गया है, उसको लेकर हम यहां तक पहुँचे, कि उस 'सत्' अर्थात् अनादि चेतनसत्ता को छोड़कर केवल परिणामी तत्त्व के आधार पर जगत् की रचना संभव नहीं। वह 'सत्' सर्गावसर आने पर जगत् के मूल उपादानतत्त्वों को सर्गोन्मुख प्रवृत्ति के लिये प्रेरित करता है। जीवात्म-कर्मों की अपेक्षा करते हुए वह उन तीनों देवताओं–तीन प्रकार के मूल उपादान तत्त्वों [सत्त्व रजस् तमस्]-को कार्यरूप में परिणत करने के लिये संकल्प करता है।

**तेज-अप-अन्न का नाम-रूप परिणाम**—अब इसके आगे तृतीय खण्ड के अन्तिम भाग में उस प्रक्रिया का संकेत किया गया है, जिसके अनुसार वे तीन देवता 'नाम और रूप' बन जाते हैं। वह है, इन तीनों देवताओं का त्रिवृत्करण। उपनिषद् के पद इस प्रकार हैं—

"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो
देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।"

उन तीन देवताओं में से प्रत्येक को त्रिवृत् त्रिवृत् करूं, यह संकल्प करके उस 'सत्' ईक्षिताने इस जीवात्मा से अनुप्रविष्ट इन तीनों देवताओं को त्रिवृत कर नामरूप से अभिव्यक्त किया। खण्ड के अन्तिम संदर्भ से उपनिषत्कार के शब्दों में प्रसंग का

उपसंहार करते हुए उद्दालक आरुणि श्वेतकेतु से कहता है, इसप्रकार सर्ग के आदिकाल में उस 'सत्' ने तीन देवताओं को त्रिवृत् कर दिया । हे सोम्य ! जिसप्रकार यह त्रिवृत् होता है, वह मैं तुम्हें समझाता हूं, सुनो। तृतीय खण्ड यहीं समाप्त हो जाता है ।

इतने वर्णन से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, कि तीन देवताओं के त्रिवृत्करण से पूर्व नामरूपात्मक जगत् की अभिव्यक्ति नहीं होती । ये तीन देवता कौन हैं, यह भी इस वर्णन से स्पष्ट हो गया है। मूल में 'तेज अप् अन्न' ये पद हैं, । यदि इसी क्रम से इनको रक्खा जाय, तो ये देवता होते हैं—रजस् सत्त्व और तमस् । इनका अन्योन्यमिथुनवृत्ति किया जाना ही त्रिवृत्करण है । इनके त्रिवृत्करण की प्रकिया और स्वरूप का निर्देश 'प्रकृति' नामक प्रकरण के 'प्रीति, अप्रीति, विषाद' पदों की व्याख्या के प्रसंग में कर दिया गया है।

**सत्य मूल उपादान का त्रिवृत्करण 'गुण' नाम का प्रयोजक**—आगे उपनिषद् के चतुर्थ खण्ड में इन तीनों को सत्य बताया है, जो जगत् के मूल उपादान हैं । अग्नि सूर्य चन्द्र पृथ्वी सोना चांदी आदि जितने पदार्थ हैं, ये सब विकार हैं। जब तक इनमें अग्निपन सूर्यपन या चन्द्रपन आदि बना रहता है, तब तक ये सब विकार हैं । यह नामरूपात्मक लोकव्यवहार तब तक ही चलता है। ये विकार व्यवहारमात्र के प्रयोजक हैं । पर अन्त में तीन वे रूप सत्य हैं, जो इस समस्त विकार के मूल उपादान हैं । मूलतत्त्व की अवस्था में अग्नि सूर्य चन्द्र सोना चांदी आदि समस्त विकारदशा की विशेषताएं अन्तर्हित हो जाती हैं। पर सत्त्व रजस् तमस् का भाव बना रहता है, इसीलिये इनको सत्य माना है। इनके त्रिवृत्करण पर समस्त विकार का विस्तार आश्रित है । उद्दालक कहता है—मूलतत्त्वसम्बन्धी त्रिवृत्करण की इस व्यवस्था को जान लेने पर अब कोई यह न कह सकेगा, कि हमारे कुल में कुछ अज्ञात या अश्रुत रह गया है । कारण यह है, कि समस्त जगत् का मूलतत्त्वपर्यन्त वास्तविक ज्ञान हो जाने पर चेतनाचेतन के विवेक का साक्षात्कार अनायास होजाता है, और यह ऐसी अवस्था है, जब अन्य ज्ञातव्य कुछ शेष नहीं रह जाता। इसप्रकार मूल उपादान के त्रिवृत्करण की व्यवस्था उसके 'गुण' नामकरण का प्रयोजक कही जाती है ।

**तीन मात्रा सत्त्व रजस् तमस्**—अन्य उपनिषदों में भी इसप्रकार के प्रसंग उपलब्ध होते हैं। प्रश्नोपनिषद् के पांचवें प्रश्न में छठी और सातवीं संख्या पर किसी प्राचीन रचना से उद्धृत हुए दो श्लोक उपलब्ध होते हैं । इनमें से पहले में तीन मात्रा और दूसरे में ओङ्कार का वर्णन है। पहले श्लोक में ओङ्कार का कोई संकेत नहीं, और दूसरे श्लोक में मात्राओं का कोई उल्लेख नहीं। यह ठीक है, कि प्रश्न उपनिषद् के इस प्रसंग में प्रथम ओङ्कार और उसकी एक दो तीन मात्राओं का वर्णन किया गया है। उसी की पुष्टि के लिये उपनिषत्कार ने इन दोनों श्लोकों को किसी प्राचीन रचना से यहां उद्धृत किया है। पर पहले श्लोक में ओङ्कार की मात्राओं का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता । संभवतः

उपनिषत्कार ने श्लोक में मात्रा पद की समानता को देखकर ओङ्कार की मात्राओं के वर्णन प्रसंग से इस श्लोक को उद्धृत किया हो। मूलरचना में इसका मुख्य प्रसंग क्या रहा होगा, यह निश्चय किया जाना कठिन है। पर श्लोक के पदों से जो भाव प्रस्फुटित होते हैं, उन्हें देखते हुए ओङ्कार की तीन मात्राओं के वर्णन की अपेक्षा जगत् के मूल उपादान-भूत 'सत्त्व रजस् तमस्' नामक तीन मात्राओं के वर्णन में श्लोक अधिक संघटित होता है। श्लोक है—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥

मृत्युमती परिणामशील, तीन मात्रा–सत्त्व रजस् तमस् सदा प्रयोग में आई हैं, जब ये अन्योन्यसक्त होती हैं, एक दूसरे में मिनीथुभूत हो जाती हैं, तब निश्चित रूप से ये विविध कार्यों में प्रयुक्त होती रहती हैं। यह इनकी वैषम्य अवस्था है, जब मूलकारण कार्यरूप में परिणत हो जाता है। बाह्य आभ्यन्तर और मध्यम सम्बन्धी क्रियाओं में इनका यथायथ प्रयोग होने पर आत्मज्ञानी विचलित नहीं होता। अथवा इनके सतत प्रवृत्तिशील रहने पर चेतन आत्मा सदा अपरिवर्तित रहता है, उसमें किसी प्रकार के विकार अथवा परिणाम की संभावना नहीं की जासकती।

श्लोक में 'बाह्य' पद पिण्ड अर्थात् शरीर से अतिरिक्त अन्य समस्त ब्रह्माण्ड का द्योतक है। 'आभ्यन्तर' पद पिण्ड में आध्यात्मिक सृष्टि की ओर संकेत करता है। शरीर में बुद्धि से लगाकर इन्द्रियपर्यन्त आध्यात्मिक सृष्टि है। 'मध्यम' पद साक्षात् पिण्ड अर्थात् स्थूलशरीर का बोध कराता है। जगत् में समस्त क्रियाओं के ये आधार हैं। जो भी कर्म गति चेष्टा या परिणति है, वह इन तीन से बाहर संभव नहीं। इनके यथार्थ प्रयोग में आत्मज्ञानी कभी विचलित नहीं होता। वह उनकी वास्तविकता से परिचित रहता है, इसलिये इन मात्राओं का प्रयोग उस पर अपना प्रभाव नहीं रखता। यह भी कहा जा सकता है, कि जब ये मात्रा यथार्थरूप से जगत् की रचना करने और उसके चालू रखने में सतत गतिशील अथवा परिणतिशील रहती हैं, चेतन आत्मा तब भी अविचलित अर्थात् अपरिणामी बना रहता है। उसके स्वरूप में किसी प्रकार के विकार की संभावना अशक्य है।

**तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः' की अन्य व्याख्या**—उपनिषद् के व्याख्याकारों ने बाह्य आदि पदों का अर्थ यथाक्रम जाग्रत सुषुप्ति और स्वप्न किया है। हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। इन अवस्थाओं में भी–वस्तुस्थिति को देखते हुए–होने वाली समस्त क्रियाओं में आत्मा सदा एकरूप बना रहता है। पर थोड़ी गहराई से विचारने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि श्लोक के पद ओङ्कार की मात्राओं के वर्णन में इतने अधिक संगत नहीं हो पाते। मृत्युमती विशेषण ओङ्कार की मात्राओं के किसी असाधारण अथवा अबोध-गम्य भाव को प्रस्फुटित नहीं करता। इसके विपरीत मूल उपादानतत्त्वों की वास्तविक

स्थिति को अधिक स्पष्ट करता है। अगले दो विशेषण भी ऐसे हैं। ओङ्कार की मात्राओं का परस्पर सक्त होना कौन से अर्थ को प्रकट करता है, यह स्पष्ट नहीं। ओम् में जो 'अ उ म्' वर्ण हैं, क्या इन्हीं को मात्रा कहा गया है, या उच्चारण के आधार पर काल के अनुसार एक दो तीन मात्राओं का कथन है? दोनों अवस्थाओं में अन्योन्यसक्तता संभव नहीं होती। वर्णों का एक दूसरे में सक्त न होना तो स्पष्ट है, नहीं तो 'ओम्' का उच्चारण ही अशक्य होगा। तब उच्चारणभेद ही मात्रा पद से यहां अपेक्षित माना जा सकेगा। उपनिषद् का पूर्व प्रसंग भी इस की पुष्टि करता है। यदि उच्चारणमूलक मात्रा अन्योन्य में सक्त हैं, तो उच्चारण के भेद का अस्तित्व संभव नहीं होगा, और वे मात्रा अपने रूप को ही खो बैठेंगी। 'अनविप्रयुक्ता' का अर्थ आचार्य शंकर ने—विशेष रूप से एक ही एक विषय में प्रयुक्त होने वाली—किया है। यदि इसप्रकार विभेद को प्राप्त हुई वे मात्रा पृथक् पृथक् एक एक विषय में प्रयुक्त होतीं हैं, तो फिर इनके अन्योन्यसक्त होने की संभावना कैसे की जा सकती है। इसके अतिरिक्त विशेषरूप से इनके एक एक विषय में प्रयुक्त होने का क्या स्वारस्य है? यह भी स्पष्ट नहीं किया गया। ओङ्कार की मात्राओं के वर्णन में ये विशेषण पहले तो ठीक संघटित नहीं होते, फिर व्याख्याकारों ने उसके लिये जो यत्न किया है, उसे देखते ये परस्पर विरोधी हो जाते हैं।

'बाह्य' आदि पदों का अर्थ आचार्य शंकर ने 'जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति' किया है। सुषुप्ति एक ऐसी अवस्था मानी गई है, जहां ओङ्कार के जप, और उपासनासम्बन्धी वृत्ति अथवा अन्य किसी प्रकार की वृत्ति का अस्तित्व नहीं रहता, तब वहां ओङ्कार की मात्राओं का क्या व्यावहारिक प्रयोग होगा, यह स्पष्ट नहीं होपाता। स्वप्न अवस्था में चाहे अनेक प्रकार की वृत्तियों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, पर ओङ्कार के जप अथवा उपासना आदि सम्बन्धी वृत्ति का इस रूप में वहां भी स्वीकार किया जाना कठिन होगा। इसप्रकार इन अवस्थाओं में ओङ्कार की मात्राओं के प्रयोग का व्यावहारिकरूप क्या होगा, यह बात अधिक स्पष्ट नहीं हो पाती। भले ही उस प्रयोग के करने वाले योगी जन हों, क्योंकि योगी और अयोगी दोनों के लिये इन अवस्थाओं में कोई भेद नहीं रहता। फ़लत: यही कहा जा सकता है, कि उपनिषत्कार ने ओङ्कार की व्याख्या अथवा ओङ्कार की मात्राओं के वर्णन के प्रसंग में इस श्लोक को उद्धृत किया है, इसलिये यथा-कथंचित् उसका निर्वाह करना ही चाहिये। कतिपय अन्य सन्दर्भों [ऋ० ४।५८।३] का भी विविध अर्थों के प्रतिपादन में प्रामाणिक उपयोग देखा जाता है। इसप्रकार प्रश्नोपनिषद् में उद्धृत यह प्राचीन श्लोक सांख्य के उक्त सिद्धान्त को पुष्ट करता है।

**पुराणों में तीन मात्राओं का अन्योन्यमिथुन**—पुराणों के अनेक स्थलों में सांख्य के इस सिद्धान्त का वर्णन उपलब्ध होता है। देवीभागवत के तृतीय स्कन्ध के अष्टमाध्याय में लेख है—

अन्योन्याभिभवाच्चैते विरुध्यन्ति परस्परम् ।
तथाऽन्योन्याश्रयाः सर्वे न तिष्ठन्ति निराश्रयाः ॥
यथा स्त्री पुरुषश्चैव मिथुनं च परस्परम् ।
तथा गुणाः समायान्ति युग्मभावं परस्परम् ॥
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ।
उभे ते सत्त्वरजसी तमसो मिथुने विदुः ॥
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ।
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते ॥

सत्त्व रजस् तमस् एक दूसरे का अभिभव करने पर आपाततः परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, फिर भी ये सब एक दूसरे के आश्रय से रहते हैं। परस्पर आश्रयरहित होकर सर्गकाल में इनका ठहरना शक्य नहीं। स्त्री-पुरुष का मिथुन जिसप्रकार प्रजनन का प्रयोजक होता है, इसीप्रकार ये गुण भी सर्गोत्पादन के लिये मिथुनभाव को प्राप्त होते हैं,। रजस् सत्त्व से, सत्त्व रजस् से, सत्त्व रजस् तमस् से तथा तमस् सत्त्व रजस् से मिथुनीभूत होकर सर्गरचना में प्रवृत्त होते हैं। इनका यह क्रम अनादि अनन्त है। सर्ग के अनन्तर प्रलय और प्रलय के अनन्तर सर्ग चलता ही रहता है। इसका न कभी प्रारम्भ हुआ और न कभी अन्त होगा। इसीप्रकार कूर्मपुराण [पू० ४।३३-३४] में तीन प्रकार के मूल उपादानतत्त्वों की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता का वर्णन उपलब्ध होता है। इस विषय में भगवद्गीता के [१४।९-१०]श्लोक भी द्रष्टव्य हैं। इतने लेख से यह स्पष्ट होजाता है, कि सांख्य का यह सिद्धान्त प्रायः सर्वमान्य रहा है। यही सिद्धान्त मूल उपादान तत्त्वों के 'गुण' नामकरण का प्रयोजक है। इसलिये सांख्य में 'गुण' पद को केवल संज्ञा या पारिभाषिक मात्र न समझना चाहिये।

**पाणिनिकृत 'गुण' संज्ञा**—प्रसंगवश पाणिनि की 'गुण' संज्ञा के सम्बन्ध में एक बात कही जासकती है। वहां—'अ ए ओ' ये तीन वर्ण अथवा तीन ध्वनि 'गुण' हैं। इनमें सबसे पहली सर्वथा मूलभूत ध्वनि है। अगली दोनों ध्वनियां संमिश्रित हैं। यह एक आश्चर्य की बात है, कि वे दोनों ध्वनि, पहली मूल ध्वनि के साथ अन्य दो मूल ध्वनियों के संमिश्रण से बनी हैं। 'ए' में 'अ+इ' का संमिश्रण है, तथा 'ओ' में 'अ+उ' का। ये तीनों मूलभूत ध्वनि हैं। स्वर, नाम से कही जानेवाली अन्य निरपेक्ष ध्वनियों में कदाचित् ये तीन ही ध्वनि मूलभूत हैं। इनका सर्वप्रथम विजातीय संमिश्रण मूल ध्वनि के साथ जिन ध्वनियों को उत्पन्न करता है, पाणिनि ने उनका ही नाम 'गुण' रक्खा है। मूलध्वनियों की तीन संख्या और उनके सर्वप्रथम विजातीय संमिश्रण का 'गुण' नाम, सांख्य के उक्त सिद्धान्त की ओर आकृष्ट करने के लिये मानो हमें संकेत कर रहा है। संभव है, इन वर्णों की 'गुण' संज्ञा का निर्देश करते समय पाणिनि के मस्तिष्क में कपिल का उक्त सिद्धान्त कुछ उथल-पुथल मचा रहा हो।

## दो प्रकार की सृष्टि—

जब मूलतत्त्व विकारोन्मुख होते हैं, अथवा परिणत होने लगते हैं, तब उनका सर्वप्रथम परिणाम क्या होता है ? यह जिज्ञासा प्रत्येक तत्त्व-खोजी को उत्सुक बनाये रखती है। इस विवेचन के अवसर पर अनेक दर्शनों के विभिन्न विचार सन्मुख आजाते हैं। कोई ऐसा सर्वमान्य एक मत नहीं है, जिसको निश्चितरूप में उक्त जिज्ञासा के शमन के लिये प्रस्तुत किया जासके। दर्शनों के वैदिक अवैदिक विभाग के अनुसार इस विचार को दो श्रेणियों में रक्खा जासकता है। वैदिक दर्शनों में न्याय वैशेषिक सांख्य योग मीमांसा वेदान्त ये छह दर्शन आते हैं, तथा अवैदिक दर्शनों में चार्वाक जैन बौद्ध एवं वर्त्तमान योरपीय दर्शन कहे जासकते हैं। इनमें भी अपनी श्रेणी में रहते हुए परस्पर पर्याप्त विचार-विभिन्नता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जासकती। इन दर्शनों के एतत्सम्बन्धी विचारों का यहां अतिसंक्षेप से दिग्दर्शन करा देना आवश्यक होगा।

**वैदिकदर्शनों में अध्यात्म-अधिभूत**—वैदिकदर्शनों में न्याय-वैशेषिक भौतिक जगत् के उपादानकारण चार प्रकार के परमाणु बताते हैं–पृथिवी जल तेज वायु के मूलभूत परमसूक्ष्म कण। ये स्वयं नित्य[1] हैं, किसी कारण से उत्पन्न नहीं होते। संसार में जो कुछ उत्पन्न होता है, वह इन्हीं से होता है। जो इनसे उत्पन्न नहीं हुआ, वह कभी उत्पन्न नहीं होता। वह नित्य कहा जाता है। इसलिये चार प्रकार के इन अनन्त निरवयव कणों के अतिरिक्त इस दर्शन में अन्य कतिपय पदार्थ अथवा द्रव्य गुण तथा उनमें रहने वाले धर्म, नित्य मान लिये गये हैं। जब सृष्टि उत्पन्न होने लगती है, सर्वप्रथम दो दो परमाणु मिलकर द्व्यणुक को उत्पन्न कर देते हैं। सबसे पहले कभी ऐसा संभव नहीं होसकता, कि दो से अधिक परमाणु एक साथ इकट्ठे मिल जायें, क्योंकि एक संयोग दो ही परमाणुओं का संभव होसकता है, जो तत्काल द्व्यणुक को उत्पन्न कर देता है। इसप्रकार यह दर्शन आधिभौतिक जगत् में द्व्यणुक को सर्वप्रथम कार्य बताता है। परमाणु के समान ये द्व्यणुक इन्द्रियों के अगोचर रहते हैं। आगे तीन द्व्यणुक मिलकर एक त्रसरेणु को उत्पन्न करते हैं, इसके उपादानों की बहुत्व संख्या [उपादानों का बहुत होना, कम से कम तीन अवश्य] इसमें महत् परिमाण अर्थात् स्थूलता को उत्पन्न कर देती है। इसलिये ये कण इन्द्रियों से देखे जासकते हैं। इस दर्शन में एकमात्र भौतिक सृष्टि का वर्णन है, आध्यात्मिक का नहीं। इन्द्रियों की रचना को भी यहां भौतिक सृष्टि के अन्तर्गत माना गया है। इन दोनों शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय एक नियत सीमा तक केवल आधिभौतिक जगत् का विवरण प्रस्तुत करना है।

---

१. इनकी नित्यता इनके एक विशिष्ट स्थायीरूप को ग्रहण कर लेने के आधार पर समझनी चाहिये। यह प्रतितन्त्रसिद्धान्त के अनुसार है। इस रूप में रहते इनकी [परमाणु कणों की] नित्यता को केवल न्याय-वैशेषिक में किन्हीं विशिष्ट स्थितियों के आधार पर मान लियागया है।

मीमांसा का विचार है, कि यह संसार अनादि काल से इसी तरह चला आरहा है, यह कभी उत्पन्न नहीं हुआ। अभिप्राय यह कि वह जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई विवरण प्रस्तुत नहीं करता। संभव है, जैमिनि ने इस विषय को अपने दर्शन का प्रतिपाद्य विषय न बनाया हो, इसलिये मीमांसादर्शन की दृष्टि में किसी आद्य कार्य का प्रश्न नहीं उठता।

वेदान्तदर्शन को जब हम आचार्य शंकर की आंखों से देखते हैं, तो वहां अध्यात्म और अधिभूत दोनों प्रकार की सृष्टि का संकेत मिलता है। पर इसप्रकार के कोई निश्चित विवेचन उपलब्ध नहीं होते, जहां इनके पूर्वापरक्रम का निर्धारण किया गया हो। वेदान्तशांकरभाष्य के विभिन्न स्थलों [१।१।२॥१।१।२२।१।३।४१] में कुछ ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं, जहां ब्रह्म से भूतसृष्टि का प्रसंगवश वर्णन किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् [२।१-७] के आधार पर आचार्य शंकर ने आत्मा [ब्रह्म] से आकाश, उससे वायु, वायु से तेज, तेज से जल तथा जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है, ऐसा निर्णय किया है। इस विषय का वर्णन वेदान्तदर्शन द्वितीयाध्याय के तृतीयपाद के प्रारम्भ में विस्तार के साथ किया गया है। यह सब अधिभूतसृष्टि है। अध्यात्मसृष्टि के विचार से मन इन्द्रिय आदि करणों की उत्पत्ति का वर्णन आचार्य शंकर ने वेदान्तदर्शन [२।३।१५] के भाष्य में संक्षेप से किया है। इन प्रसंगों में अध्यात्म अधिभूत का विभाजन चाहे जैसे किया गया हो, पर दोनों प्रकार की सृष्टि के वर्णन में वेदान्त का कोई प्रातिकूल्य नहीं है।

**अवैदिक दर्शनों में अध्यात्म-अधिभूत**—अवैदिक दर्शनों में चार्वाक और जैनदर्शन, जगत् के मूल उपादान और उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक के साथ बहुत कुछ समानता रखते हैं। चार्वाक दर्शन का दूसरा नाम लोकायतदर्शन है। दृग्गोचर जगत् को समस्त विचारों का पूर्ण आधार मानकर इस दर्शन का विकास व विस्तार हुआ है, संभवतः इसीलिये इसे उक्त नाम दिया गया। यह इन्द्रियगोचर पृथिवी जल तेज वायु इन चार-भूतों के मूलभूत चार प्रकार के परमाणुओं को समस्त जड़ चेतन जगत् का उपादान मानता है। मूल में इन चार प्रकार के परमाणुओं के अतिरिक्त वह किसी प्रकार की स्वतन्त्र चेतन सत्ता को स्वीकार नहीं करता। ये अचेतन तत्त्व किसी विशेष अवस्था में आकर–जो उन तत्त्वों के स्वाभाविक परिवर्तनों के कारण उपस्थित होती है–एक ऐसे स्वरूप को ग्रहण कर लेते हैं, जिसमें हम जड़ पदार्थों से कुछ विलक्षण स्थिति का अनुभव करते हैं, तत्त्व की उस स्थिति को चेतन कहने लगते हैं। यह स्थिति किसी एक नियत काल तक रहती है, और परिवर्तित होकर पुनः अपनी जड़ अवस्था में चली जाती है। लोकायतदर्शन की यह विचारधारा–जड़ का चेतन में और चेतन का जड़ में परिवर्तित होजाना–वर्तमान पाश्चात्य आधिभौतिक विज्ञान व दर्शन के साथ अत्यधिक समानता रखती है।

इस दर्शन का अत्यल्प साहित्य उपलब्ध होता है, वह भी क्रमबद्ध व व्यवस्थित नहीं। जहां तहां दर्शनों के व्याख्याग्रन्थों में इस विचारधारा का प्रत्याख्यान करने के लिये जो मत पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हीं को कुछ विद्वानों ने इस दर्शन के नाम से संग्रह करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ बड़ौदा से जय-राशि भट्ट रचित 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नामक एक ग्रन्थ इस दर्शन का प्रकाशित हुआ है। उसमें केवल जल्पकथा के अनुसार विभिन्न दर्शनों के प्रमाणलक्षणों का प्रत्याख्यानमात्र है। उतने सीमित विचारों के आधार पर यह कहना कठिन है, कि इस दर्शन ने मूल परमाणुओं से जगत्सर्ग की प्रक्रिया का क्या स्वरूप प्रस्तुत किया होगा। इतना अवश्य प्रतीत होता है, कि मूल परमाणुओं से जो आद्य कार्य उत्पन्न हुआ होगा, वह जड़रूप होगा, वहां चेतन का अवकाश कालान्तर में ही आपाता है। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि लोकायतदर्शन अध्यात्म और अधिभूत दोनों प्रकार की सृष्टि का उपादान उन्हीं चार प्रकार के परमाणुतत्त्वों को मानता है।

जैनदर्शन में भी जगत् के मूल उपादान चार प्रकार के परमाणु स्वीकार किये गये हैं। प्राणियों के कर्मानुसार जगद्रचना में ये कारण हैं। समस्त भूत-भौतिक जड़ जगत् इनका विकार है। चेतन आत्मतत्त्व इन सबसे अतिरिक्त है। चार्वाकदर्शन में आत्मा को भूतविकार माना गया है, उससे जैनदर्शन की यह विशेषता है, कि यहां आत्मा को नित्य चेतनतत्त्व स्वीकार किया गया है। इन्द्रिय आदि करणों को न्याय आदि के समान इस दर्शन में भी भौतिक माना गया है। जैसे भारतीय अन्य दर्शनों की प्रवृत्ति मोक्षप्राप्ति के साधनों को वर्णन करने की भावना से तत्त्वविवेचन के लिये है, यह बात पूर्णरूप से जैनदर्शन पर भी लागू है। इस दर्शन में मोक्षप्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य, [सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः, तत्त्वार्थसूत्र १।१]।

तत्त्व और आचारविषयक विवेचन जैनदर्शन में जिसप्रकार आरभटी के साथ किया गया है, वह दर्शन की अध्यात्म और अधिभूत के रूप में मीमांसापद्धति को स्पष्ट करता है। सिद्धान्त की दृष्टि से अनेक अंशों में जैनदर्शन की सांख्य से समानता है, पर जैनदर्शन की अर्थविवेचनप्रणाली अपनी अद्भुत विशेषता रखती है। समस्त जगत् जीव-अजीवरूप से चेतन व जड़ में विभाजित है। ये 'अस्तिकाय' कहे जाते हैं। ये सत्ता सच्ची होने से 'अस्ति' और देहादि के समान विस्तारयुक्त होने से 'काय' हैं। चेतन जीवास्तिकाय और जड़ पुद्गलास्तिकाय है। भूत-परमाणुओं का नाम 'पुद्गल' है, जो जगत् को पूरते बनाते और गलाते रहते हैं। इसप्रकार पुद्गलरूप में चार प्रकार के परमाणु जड़ जगत् के उपादान हैं और जीव चेतन सर्वथा अनुत्पाद्य हैं।

**बौद्धदर्शन में अध्यात्म-अधिभूत**—बौद्धदर्शन में किसी सद्रूप उपादान के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया। असत् अथवा शून्य ही वास्तविकता है,

वही एक व्यवहारमात्र की भावना के रूप में 'सत्' ऐसे भासित होता रहता है। बौद्धदर्शन की प्रसिद्ध चार शाखाओं में दो इस दृश्यमान समस्त बाह्य अर्थ की सद्रूपता को स्वीकार करती हैं, पर अन्त में उनका भी तात्पर्य 'असत्' में परिनिष्ठित होता है। शेष दो में से मुख्य शाखा सर्वात्मना 'असत्' का प्रतिपादन करती है, और दूसरी चित्त अथवा विज्ञान नाम से एक क्षणिक अर्थात् प्रतिक्षण परिणामशील अस्तित्व को मानती है। उस चित्त के प्रतिक्षण परिणाम का यह चमत्कार है, जो इसरूप में यह समस्त जगत् प्रतिभासित होता रहता है। अब अतिसंक्षेप से बौद्धदर्शन के अनुसार हमें यह खोज निकालना है, कि जब 'असत्' सद्रूप में उभरने लगता है, तब वह सर्वप्रथम वस्तु क्या है ?

यद्यपि बौद्धदर्शन में इस दृष्टि से कोई स्पष्ट विवेचन उपलब्ध नहीं होते, पर जो कुछ प्रतिपादन किया गया है, उसको गम्भीरतापूर्वक विचारते हुए जिस परिणाम पर पहुंचा जासकता है, वह इस विवेचन में संभव है। इसको कुछ स्पष्ट समझने के लिये उपर्युक्त दो मुख्य विचारधाराओं का थोड़ी देर के लिये हम परस्पर समन्वय कर लेना चाहते हैं। मानो ये दोनों धारा एक हैं, और अपनी जगह रहती हुई एक पूरे अर्थ को निष्पन्न कर रही हैं। हम देखते हैं, कि यह समस्त बाह्य अथवा जगत्-व्यवहार ज्ञाता और ज्ञेय इन दो रूपों में पर्यवसित होजाता है। ज्ञानसाधन का अवसर अनन्तर आता है, और वह एक प्रकार से दूसरी कोटि में अन्तर्निविष्ट समझा जासकता है। उक्त दो रूपों में ज्ञाता चित्त अथवा विज्ञान है, और बाह्यरूप में उसका प्रतिभासित होना, यह समस्त ज्ञेय है। इस स्थिति से हमारे सन्मुख यह स्पष्ट होजाता है, कि चित्त अथवा विज्ञान की स्थिति इस प्रतिभासित होने वाले ज्ञेय के पहले होनी चाहिये। क्योंकि जब तक चित्त का अस्तित्व न हो, बाह्य अर्थ का प्रतिभासित होना संभव नहीं। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि 'असत्' जब सर्वप्रथम सद्रूप में उभरने लगता हैं, तो वह चित्त अथवा विज्ञानरूप है। मूल 'असत्' और इस समस्त बाह्य ज्ञेय के अन्तराल में 'विज्ञान' एक ऐसा केन्द्रबिन्दु है, जिसके आधार पर यह अखिल विश्व चक्कर लगा रहा है, वह 'बिन्दु' ही तो यह सब होकर भासता है।

यदि इसी बात को कुछ विवेक के साथ दूसरी दिशा से देखा जाय, तो चित्त अथवा विज्ञान को अध्यात्म और उसके इस समस्त लीलाविलास को अधिभूत कहा जासकता है। बौद्धदर्शन ने जिस रूप में जगत् के स्वरूप को प्रस्तुत किया है, और उसकी आदिकालीन स्थिति की विवेचना का जहां तक प्रश्न है, यह बात कुछ अधिक स्पष्टता के साथ कही जासकती है, कि अध्यात्म का अवसर प्रथम और अधिभूत का अनन्तर आता है। इस प्रक्रिया को वहां किस रूप में प्रस्तुत किया अथवा अन्त तक निभाया है, इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं, न उसका विस्तार या संक्षेप से यहां प्रतिपादन करना हमारा लक्ष्य है। यहां केवल इतना कहना है, कि बौद्धदर्शन के अनुसार

जगत्सर्ग अध्यात्म और अधिभूतरूप में परिलक्षित होता है, और उनमें अध्यात्म का स्थान प्रथम है, अधिभूत का अनन्तर।

**योरपीय दर्शन में अध्यात्म-अधिभूत**—योरपीय दर्शन की विचारधारा लगभग ढाई-तीन सहस्र वर्ष पूर्व से लगाकर आज तक समय के चढ़ाव-उतार के साथ कभी तीव्र और कभी मन्दरूप से विविध स्रोतों के द्वारा बहती रही हैं। पर पिछली कुछ शताब्दियों में विशेषकर इन तीन सदियों के अन्दर एक अभूतपूर्व आपूर से आप्लावित हुई हैं। उसका परिणाम यह हुआ है, कि न केवल इतना कि उनका रुझान या ढलान एक ओर को हुआ हो, प्रत्युत वे मिली हुई सी बनकर एक समुद्र में गिरती दिखाई दे रही हैं। आधुनिक पाश्चात्य आधिभौतिक विज्ञान ने—चाहे वह रसायनशास्त्र पर आधारित हो, अथवा वस्तुतत्त्व [भौतिकी] शास्त्र पर, या अन्य किसी विचार पर—जिन परिणामों को प्रस्तुत किया है, वे हमें किसी एक प्रकार की सचाई के आस-पास पहुंचाने में समर्थ हुए हैं। उस सचाई का अन्तिम स्वरूप क्या होगा, यह तो अभी निश्चितरूप से नहीं कहा जासकता, पर जो कुछ कहा जासका है वह इतना है—

यह समस्त ब्रह्माण्ड मूलरूप में अनन्तानन्त विद्युत्कण अथवा तरंगों के सहयोग से बना है। उन समस्त कणों को तीन [इलेक्ट्रॉन्, प्रोट्रोन्, न्यूट्रॉन्] श्रेणियों में सीमित समझ या देखलिया गया है। वे कण अनन्त शक्ति के भण्डार हैं। यह सब कुछ जड़ और चेतन उन्हीं का चमत्कार है। वे विद्युत्कण अपनी परिस्थितयों और सहयोगियों के सहयोग के अनुसार विविध जड़ और चेतनरूप में परिणत होते रहा करते हैं। इसप्रकार जड़तत्त्व चेतन के रूप में अथवा चेतनतत्त्व जड़ के रूप में परिवर्तित किये जासकते हैं, योरपीय दर्शन का यह एक परिनिष्ठित सिद्धान्त बन चुका है। फिर भी उसका अन्तिम विचार उन विद्युत्कणों को अनन्त अथवा अनिर्वाच्य शक्ति का भण्डार मानते हुए भी मूल में चेतनारूप नहीं मानता। सर्ग होने के अनन्तर किसी विशेष परिस्थिति में आकर ही कहीं चेतना फूट पाती है। सर्वप्रथम अपने लक्षणों के साथ प्रादुर्भूत चेतना जहां प्रतीत होती है, वह एक सैल् का प्राणी अमीबा है। यह सबसे छोटा और कदाचित् पहला स्थूल देह है, जहां सर्वप्रथम चेतना का अस्तित्त्व भासित होता है। इसका एक लेसदार गाढ़ तरल भाग मींगी है, जो चेतना का विशेष स्थान है। इसे प्रोटोप्लाज्म या जीवनमूल अथवा सत्त्वमूल कहा जाता है। वह इतना छोटा और तुच्छ होता हुआ भी अपने अन्दर एक आश्चर्यपूर्ण संसार बसाये रहता है।

**चार्वाक तथा आधुनिक योरपीयदर्शन का साम्य**—इतने वर्णन से जगत् के आदिकालीन सर्ग के सम्बन्ध में हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि चेतना की उद्भूति से बहुत पहले अचेतन सर्ग प्रारम्भ हुआ रहता है। यदि इसमें हम चेतना को अध्यात्म और शेष जगत् को अधिभूत कहें, तो योरपीय दर्शन के विचार से यह स्वीकार किये जाने में कोई बाधा न होगी, कि अधिभूत जगत् पहले और अध्यात्म पीछे अस्तित्त्व में आता है।

बौद्धदर्शन से जो हमने जाना, यहां हम उसके विपरीत देखते हैं। वहां चित्त, विज्ञान अथवा अध्यात्म शेष समस्त का अर्थात् अधिभूत का आधार व प्रतिभासक है; पर यहां अधिभूत में से अध्यात्म उभरता है। इस दृष्टि से योरपीय दर्शन और भारत के चार्वाक दर्शन का विलक्षण साम्य है। यह बात समस्त संसार की विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के श्रेणीविभाजन और उसके विकासक्रम के मूल आधार पर अच्छा प्रकाश डालती है। तथा विभिन्न सभ्यताओं के अतिप्राचीन इतिहास की उलझनभरी गांठ को सुलझाने में अच्छा सहयोग देती है।

यहां तक हमने कतिपय विभिन्न दर्शनों की उन मान्यताओं का उल्लेख किया है, जो आदिकालीन सर्ग की स्थिति की ओर संकेत करती हैं। यद्यपि उनकी मीमांसा करना यहां हमारा लक्ष्य नहीं है, पर उनके सम्बन्ध में इतना कह देना अनुपयुक्त न होगा, कि उनमें से कुछ वस्तुस्थिति के अधिक समीप और ठोस वैज्ञानिक परम्पराओं पर आश्रित हैं, चाहे उन्होंने अपने विचारों के आधार को चेतन या जड़ की दिशा में किसी ओर भी मान लिया हो। दर्शनों की इस कोटि में न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, चार्वाक और योरपीय दर्शन को रक्खा जासकता है। शेष में से कुछ ने सर्ग-विवेचना की उपेक्षा की है, और कुछ केवल कल्पना जाल के फैलाने में अपने बल का प्रदर्शन करसके हैं। कदाचित् ऐसा हो, कि उनकी दृष्टि में कल्पना ही वस्तु है; अथवा वस्तु, कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं। फिर भी समस्त दर्शन किसी न किसी रूप में अध्यात्म और अधिभूत का विवेचन अवश्य करते हैं। वस्तुतः यही तो अखिल विश्व है, यदि दर्शन इसका विवेचन न करे, तो फिर उसका विवेच्य ही क्या रहजाता है। इसके विवेचन के साथ प्रत्येक दर्शन अपने विचार के अनुसार इनके उद्भव-क्रम का भी संकेत करता है।

**सांख्य में अध्यात्म-अधिभूत**—यह बात अब अवसरप्राप्त है, कि इस विषय में सांख्य का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाना चाहिये। पर उसके पूर्व अध्यात्म और अधिभूत की पारिभाषिकताओं का निर्देश कर देना उपयुक्त होगा। अन्यथा विभिन्न दर्शनों के द्वारा विभिन्न अर्थों में इन पदों के प्रयोग के आधार पर आगे भ्रान्ति की संभावना हो सकती है। अध्यात्म में ज्ञाता और ज्ञान-साधनों का समावेश किया जासकता है। न्याय-वैशेषिक के प्रसंग में लिखा गया है, कि वहां केवल अधिभूत सृष्टि का वर्णन है। अध्यात्म पद से ज्ञाता और ज्ञानसाधनों के समझे जाने पर यह स्पष्ट होजाता हैं, कि न्याय-वैशेषिक में अधिभूतसृष्टि का ही वर्णन क्यों है। कारण यह है, कि उसने आत्मा और मन को नित्य माना है। आत्मा ज्ञाता है, और मन आन्तर ज्ञानसाधन है। बाह्य ज्ञानसाधन जो इन्द्रियां हैं, उन्हें वह भौतिक मानता है, इसलिये वह अधिभूतसृष्टि में समाविष्ट होजाता है। वहां अध्यात्मसृष्टि के वर्णन का अवकाश ही नहीं रहता। अन्य सब दर्शनों में किसी न किसी रूप में इसका वर्णन किया गया है, चाहे कहीं ज्ञाता का भी सर्ग माना गया हो, या कहीं केवल ज्ञान-साधनों का। अधिभूत की सृष्टि तो सब दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य

विषय माना गया है ।

उपनिषदों और अन्य साहित्य में भी अध्यात्म तथा अधिभूत के अतिरिक्त एक अधिदेव का भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है। सांख्य में भी विविध दुःखों के वर्णन में आधि-दैविक दुःखों का विवेचन किया गया है। प्राणि-सृष्टि में दैव-सर्ग का वर्णन है। पर अधिदैव जगत् प्राणि-सृष्टि की सीमा से बाहर रहजाता है। वस्तुतः अधिदेव जगत्सर्ग का कोई ऐसा विभाग नहीं है, जिसका इस रूप में पृथक् अस्तित्त्व वर्णन करने की आवश्यकता हो। प्राणि-सृष्टि केवल विभिन्न देह-रचना पर आश्रित रहती है, इसलिये वह अधिभूत से बाहर नहीं। सांख्य के विचार से अधिदेव भी अधिभूत में से ही उठ खड़ा होता है, इसलिये साधारण सृष्टि के वर्णन में सांख्य ने उसके पृथक् वर्णन की उपेक्षा की है। जिस अधिभूत के साथ मानव-अध्यात्म का सीधा सम्पर्क, सहयोग अथवा व्यवहार नहीं रहता, प्रत्युत जहां अन्य प्राकृत शक्तियां अपना कार्य करती रहती हैं, उनसे सहकृत वह अधिभत हम पर प्रभाव डालता है, हमारे अर्थात् मानव-अध्यात्म के लिये अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों को प्रस्तुत करता है, वही अधिभत हमारे सामने 'अधिदैव' बनकर आता है।

सांख्य में 'अध्यात्म और अधिभूत' इन दो रूपों में विश्व-सृष्टि का वर्णन हुआ है। समस्त दर्शनों की प्रवृत्ति के आधार पर 'अध्यात्म' पद से ज्ञाता और ज्ञान-साधनों का ग्रहण होना चाहिये, यह कहा जा चुका है। ज्ञाता व भोक्ता आत्मा को सांख्य अपरिणामी तथा अत्रिगुणात्मक तत्त्व स्वीकार करता है, केवल मूल उपादान त्रिगुण जगत् के रूप में परिणत हुआ करते हैं। उनके साथ आत्मा सदा एकरूप बना रहता है, वह नित्य है, अपरिणामी है, इसलिये उसकी सृष्टि का प्रश्न नहीं उठता। वह सर्गरहित है, असृष्ट है। अतः सांख्य ने अध्यात्मसृष्टि में ज्ञानसाधनों अथवा मात्र साधनों का समावेश किया है। आत्मा के ज्ञान अथवा कार्य जिन साधनों से सम्पन्न होते हैं, और जो समस्त सर्गकाल में आत्मा के साथ निरन्तर सहयोग बनाये रखते हैं, अथवा आत्मज्ञान होने तक जिनका सहयोग अनिवार्यरूप से बना रहता है, वे तत्त्व अध्यात्म और शेष अधिभूत सृष्टि में गिने गये हैं। इसप्रकार सांख्य में वर्णित तेरह करण अध्यात्मसृष्टि में तथा तन्मात्र और स्थूलभूत अधिभूतसृष्टि में आते हैं।

**तत्त्वविवेचन के दो मार्ग**—सांख्य में अध्यात्म और अधिभूत के भेद से सर्ग रचना का वर्णन जान लेने पर हम यह देखते हैं, कि यहां तत्त्व-विवेचन के लिये दो मार्गों का आश्रय लिया गया है, और इन आधारों पर विभिन्न रूपों में तत्त्वों का निरूपण होने से यह शास्त्र अपने दो नामों से प्रसिद्ध हुआ है—षष्टितन्त्र और सांख्य। अध्यात्म की भावना से इस शास्त्र में साठ पदार्थों का निरूपण किया गया है। इनमें से पचास बुद्धिसर्ग अथवा प्रत्ययसर्ग नाम मे प्रत्येक सांख्यशास्त्राध्येता के लिये परिचित हैं। इनमें दस मौलिक अथवा मूलिक पदार्थ जोड़कर साठ संख्या पूरी होती है, जिसमें सांख्य का समस्त

प्रतिपाद्य विषय आजाता है। इन सब का विस्तारपूर्वक विवेचन 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण में [पृ० १४८ से १६४ तक] कर दिया गया है।

**अध्यात्म में बुद्धिसर्ग**—जो व्यक्ति अध्यात्म की ओर अर्थात् आत्मज्ञान के लिये सतत प्रवृत्तिशील होते हैं, उन्हें जिन स्थितियों अथवा भूमिकाओं में से होकर गुजरना पड़ता है, वे सब साधारणतया पचास भेदों में सीमित हैं। इन विभिन्नताओं के आधार निश्चितरूप से 'तेरह करण' होते हैं, जिनका अध्यात्मसृष्टि के रूप में वर्णन किया गया है। यहां यह कहा जासकता है, कि इन पचास भूमियों के आधार तेरह करण हैं, तब इनका नाम 'करणसर्ग' रक्खा जाना चाहिये था, इनको सांख्य में 'बुद्धिसर्ग नाम से क्यों व्यवहृत किया गया है ? इसका कारण वस्तुतः यह प्रतीत होता है, कि अध्यात्मसर्ग में बुद्धि सबसे प्रधान तथा एक प्रकार से शेष सब करणों का नियामक तत्त्व है। फिर यह भी है, कि सर्गरचना में यह सबसे पहला कार्य है, तथा उन समस्त स्थितियों में–जो अध्यात्ममार्ग पर चलनेवाले किसी भी अभ्यासी के सामने आती हैं–इसका अग्रनेतृत्व व प्राधान्य समानरूप से बना रहता है, इसलिये उन समस्त अवस्थाओं को इसी के आधार पर 'बुद्धिसर्ग' नाम दे दिया गया है।

बुद्धिसर्ग के पचास भेदों का स्थूलरूप से पांच विपर्यय, अट्ठाईस अशक्ति, नौ तुष्टि और आठ सिद्धि [५+२८+९+८=५०] के रूप में समावेश किया गया है। यदि इनकी छाया में अभ्यासी की और भी सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर अवस्थाओं को देखा जाय, तो इनके अधिकाधिक, यहां तक कि अनन्त भेद कहे जासकते हैं, क्योंकि अभ्यासी और उनकी अनुकूलता तथा प्रतिकूलताओं की सीमा का निर्धारित किया जाना शक्य नहीं। इसलिये उन अवस्थाओं के आधारों को वर्गीकृत करके इस नियत संख्या में सीमित कर दिया गया है, जिनमें सब प्रकार की संभावित स्थितियों का अन्तर्भाव होजाता है।

**दस मौलिक अर्थ**—इनके साथ दस मौलिक अर्थ गिने गये हैं—एकत्व, अर्थवत्त्व, पारार्थ्य, अन्यत्व, अकर्तृत्व, बहुत्व, अस्तित्व, वियोग, योग और स्थिति। इनमें पहले तीन केवल प्रकृति को लक्ष्य करके माने गये हैं, उससे अगले तीन केवल पुरुष को तथा और आगे के तीन प्रकृति पुरुष दोनों को। इसका अभिप्राय यह है, कि जब आत्म-जिज्ञासु अध्यात्म-मार्ग पर प्रवृत्त होता है, तब प्रकृति पुरुष के इन स्वरूपों का साक्षात्कार कर लेना उसके लिये आवश्यक होता है। प्रकृति एक है, अर्थात् समस्त जड़ जगत् का एकमात्र उपादान वही है, उसके अस्तित्व और उसकी इस रचना का कोई प्रयोजन है, यह समस्त निर्माण निष्प्रयोजन नहीं, वह दूसरे के लिये प्रवृत्त होती है, उसका अस्तित्त्व वास्तविक है, वह कोई कल्पना की वस्तु नहीं, क्योंकि वह दूसरे के लिये प्रवृत्त होती है, इसलिये पुरुष के साथ जब उसका योग रहता है, तब वह पुरुष के लिये शब्दादि की उपलब्धिरूप भोग को निष्पन्न करती है, तथा विवेकज्ञान हो जाने पर पुरुष से वियुक्त होकर उसके अपवर्ग को सिद्ध करती है। ये पिछले–अस्तित्व, योग, वियोग-

–तीन अर्थ प्रकृति के समान पुरुष को भी लक्ष्य करते हैं। वस्तुतः प्रकृति–पुरुष के वास्तविक अस्तित्व और पारस्परिक सम्बन्ध का इन अर्थों के द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। गणना में चौथे से छठे तक–अन्यत्व, अकर्त्तृत्व, बहुत्व–तीन अर्थ केवल पुरुष के स्वरूप का निरूपण करते हैं। वह प्रकृति से भिन्न है, इसलिये वह अकर्त्ता है। प्रकृति स्वरूप से परिणामशीला है, पर उससे सर्वथा भिन्न होने के कारण पुरुष अपरिणामी है, इसीलिये उसे अकर्त्ता[1] कहा गया है। पुरुष बहुत अर्थात् अनेक हैं। जैसे अनेकात्मक प्रकृति को समस्त जगत् का एकमात्र उपादान होने के कारण एक कहा गया है, इसप्रकार प्रकृति के भोक्तारूप में पुरुष एक नहीं है। भोक्ता के एकत्व की कल्पना जगत् के सर्ग और बन्ध मोक्ष की व्यवस्था को उलट देती है, इसलिये भोक्ता की वास्तविकता इसी में है, कि वह अनेक है। इसप्रकार दस मौलिक अर्थों में से पहले नौ पुरुष और प्रकृति के प्रतीक हैं, और अपनी एकत्त्व आदि विशेषताओं के द्वारा अध्यात्ममार्ग में उनके उपयोग को स्पष्ट करते हैं।

हम देखते हैं, कि यह स्थूलशरीर, जो हमारे समस्त सांसारिक भोगों का आधार है, इसकी पाञ्चभौतिकता, जन्म, मरण, नश्वरता, अशुचिता आदि भावनाओं की दृढ़ता से वैराग्य की उत्पत्ति होना, तथा सांसारिक भोगों की क्षणभंगुरता को समझकर अध्यात्ममार्ग की ओर प्रवृत्त होना, आदि सब बातें शरीर के उपादान पांच महाभूतों के वास्तविक ज्ञान पर आधारित हैं। इसके आगे आत्मा के–एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में–जाने के साधन, कर्म या धर्माधर्मों के आधारभूत सूक्ष्मशरीर की वास्तविकता को समझना भी अध्यात्ममार्ग की प्रवृत्ति के लिये आवश्यक है। इसप्रकार इन दस मौलिक अर्थों में से दसवां अर्थ 'स्थिति' सूक्ष्म और स्थूलशरीर को लक्ष्य करता है। सूक्ष्मशरीर में तेरह करण और पांच सूक्ष्मभूत आजाते हैं, और स्थूलशरीर पांच स्थूलभूतों का उपलक्षण है, जिसमें समस्त स्थूल जगत् का समावेश है। फलतः 'स्थिति' नामक दसवें मौलिक अर्थ में आधिभौतिक दृष्टि से विवेचित समस्त तेईस विकार अन्तर्हित हैं। इसप्रकार अध्यात्ममार्ग के साठ पदार्थों में से दस मौलिक अर्थ, आधिभौतिक दृष्टि से प्रतिपादित समस्त पच्चीस तत्त्वों का इस दिशा में प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिये न तो इन दोनों मार्गों से अर्थ के प्रतिपादन में कोई अर्थ कहीं शेष रहजाता है, और न इनमें परस्पर किसी प्रकार के विरोध की कल्पना का अवकाश है। अर्थ-विवेचन की ये दोनों पद्धति एक दूसरे में अन्तर्हित होकर अथवा ऐकात्म्य होकर चलती हैं।

**तेईस विकार**—आधिभौतिक दृष्टि से सांख्य में पच्चीस तत्त्वों का विवेचन है। वस्तुतः सांख्य केवल दो प्रकार के तत्त्व स्वीकार करता है, एक चेतन और दूसरा जड़।

---

**१—पुरुष के कर्त्तृत्व अथवा अकर्त्तृत्व का वास्तविक स्वरूप क्या है? तथा सांख्य में प्रकृति को कर्त्ता और पुरुष को अकर्त्ता किस रूप में प्रतिपादन किया गया है; इसका विस्तृत विवेचन 'पुरुष' नामक प्रकरण के 'जीव' प्रसंग में देखना चाहिये।**

चेतन का निरूपण 'पुरुष' नामक प्रकरण में कर दिया गया है। जड़—कारण और कार्य-दो रूप में हमारे सन्मुख आता है। कारण प्रकृति है, और कार्य उसके तेईस विकार हैं। इन सब को मिला कर पच्चीस तत्त्वों के प्रतिपादन का सांख्यसम्बन्धी प्रवाद निर्धारित होता है। इनमें चेतन और मूलप्रकृति को छोड़कर प्रकृति के विकारभूत तेईस पदार्थ सृष्टि का पूरा विस्तार हैं। समस्त सर्ग इतने में समाविष्ट है। इन तेईस पदार्थों में से तेरह करण हैं, अर्थात् चेतन आत्मा के लिये ज्ञानादि के साधन हैं। ये हैं—बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। इनमें पहले तीन अन्तः-करण और शेष दस बाह्यकरण कहलाते हैं। इनमें से पहले दो को छोड़कर शेष ग्यारह की 'इन्द्रिय' संज्ञा भी है। इसमें मन आन्तरिन्द्रिय और श्रोत्र आदि दस बाह्येन्द्रिय कहे जाते हैं। बाह्य इन्द्रियों में पहले पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा अगले पांच कर्मेन्द्रिय हैं। 'इन्द्रिय' संज्ञा उन्हीं साधनों की है, जिनका विषय के साथ सीधा संपर्क रहता है। बाह्य इन्द्रियों का बाह्य विषय के साथ, तथा स्मृति आदि में स्मर्त्तव्य विषय के साथ आन्तर इन्द्रिय का सीधा संपर्क रहता है। ये तेरह करण सांख्य में अध्यात्मसृष्टि में गिने जाते हैं। शेष विकारभूत दस पदार्थों—पांच सूक्ष्मभूत पांच स्थूलभूतों—की गणना अधिभूतसृष्टि में की जाती है।

**अध्यात्म-अधिभूत विवेचन**—आध्यात्मिक दृष्टि से निरूपित तथा 'बुद्धिसर्ग' नाम से व्यवहृत पचास पदार्थों के आधारभूत तत्त्व ये तेरह करण हैं। वे पदार्थ इन्हीं तेरह करणों के आधार पर आत्मलाभ करते हैं। जब इन करणों से जनित उन अव-स्थाओं की ओर हम दृष्टि नहीं डालते, अथवा उन पर विचार या कोई विवेचना प्रस्तुत नहीं करते, प्रत्युत केवल करणों के अपने सर्ग या स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, तब करणों का इसप्रकार का विवेचन आधिभौतिक दृष्टि से किये गये विवेचन की सीमा में आता है। इस विवेचना के साथ 'अध्यात्मसृष्टि' में इनकी गणना इसीलिये की जाती है, क्योंकि आत्मा के लिये ये ज्ञान के साधन हैं। जब केवल आत्मज्ञान के लिये प्रवृत्ति होती है, उस समय इनका अध्यात्मरूप मूर्त्त हो उठता है, और इनकी प्रत्येक अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रवृत्तियों स्थितियों तथा इनसे जनित भावनाओं पर कड़ी दृष्टि रखने की आवश्यकता होती है, इसलिये इनके उसप्रकार के विवेचन को आध्यात्मिक दृष्टि से किये गये विवेचन के अन्तर्गत रक्खा गया है, जहां साठ पदार्थों का निरूपण है।

अधिभूत की सृष्टि, स्वरूप से ही आधिभौतिक विवेचन के अन्तर्गत आती है। करण ज्ञान के साधन हैं, और ये विषय हैं। समस्त विषय के केवल स्वरूप और उनकी विशेषताओं का यथायथ विवेचन, आधिभौतिक दृष्टि का विवेचन है। पर जब इनकी किन्हीं विशेषताओं के आधार पर, केवल आत्मज्ञान के लिये इनके उपयोग की जांच का अवसर आता है, तब इसप्रकार का इनका विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि के विवेचन के अन्तर्गत समझा जाता है। इसप्रकार जहां करण और भूतों के सर्ग, स्वरूप तथा कार्य

आदि का विवेचन हो, वह आधिभौतिक विवेचन है। इसमें तेईस विकारभूत तत्त्वों के अतिरिक्त उनके मूल उपादानरूप प्रकृति तथा भोक्ता एवं नियन्ता चेतन तत्त्व को मिलाकर पच्चीस पदार्थों का प्रतिपादन किया जाता है। पर जब आत्मज्ञान के लिये इन तत्त्वों के उपयोग का प्रश्न सामने आता है, और उसके अनुसार इनके आधार पर जो विवेचन प्रस्तुत किया जाता है, वह आध्यात्मिक विवेचन समझना चाहिये। इसमें पदार्थों के विवेच्यरूप के आधार पर उनकी संख्या साठ मानी गई है। आधिभौतिक विवेचन के अनुसार इस शास्त्र का नाम 'सांख्य' तथा आध्यात्मिक विवेचन की दृष्टि से 'षष्टितन्त्र' है।

अब हम इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं, कि सांख्य में समस्त सर्ग अथवा विकार को अध्यात्म तथा अधिभूत के रूप में वर्णन किया गया है। इनके सर्गसम्बन्धी क्रम के विषय में सांख्य, अध्यात्म का प्रथम और अधिभूत का अनन्तर अस्तित्व में आना स्वीकार करता है। इनके पारस्परिक कार्यकारणभाव अथवा पौर्वापर्य की व्यवस्था का बुद्धि आदि विकारों के अनुक्रमप्राप्त वर्णन में यथाशक्य निरूपण किया जायगा। इस समय मूल कारण से कार्य की प्रथम रचना के निर्देश के प्रसंग में सामान्य कार्यकारणभाव के स्वरूप तथा उनकी पारस्परिक स्थिति का प्रतिपादन कर देना आवश्यक होगा।

## सत्कारण तथा सत्कार्यवाद—

वैदिक दर्शनों में कोई दर्शन ऐसा नहीं है, जो जगत् के मूल उपादान के अस्तित्व को भावरूप में स्वीकार न करता हो। आचार्य शंकर की विचारधारा के अनुसार वेदान्त उपादान के दो रूप प्रस्तुत करता है, एक परिणामी उपादान दूसरा विवर्त्तोपादान। इनमें जगत् का पहले प्रकार का उपादान माया है। इसका स्वरूप भावात्मक न मानकर इसे अनिर्वचनीय नाम दिया गया है। फिर भी इसे अभावात्मक नहीं माना गया। दूसरे प्रकार का उपादान तो साक्षात् ब्रह्म है, जिसको निर्बाधरूप से सदात्मक स्वीकार किया गया है। उपादान के साथ 'विवर्त्त' एक पारिभाषिक पद है। जो मूल उपादान अपने स्वरूप में किसी प्रकार के परिवर्तन के विना कार्य का आधार बना रहता है, वह विवर्त्तोपादान समझा जाता है। वस्तुतः उपादान के ऐसे स्वरूप की कल्पना ब्रह्म के लिये बलात् उपादान पद का प्रयोग करने की भावना से की गई है, क्योंकि ब्रह्म को जगत् का आधार मानने के लिये तो उसका निमित्त होना ही पर्याप्त है। वह समस्त अचेतन कार्य-कारण का अन्तर्यामी प्रेरक व नियन्ता है। अन्यथा उपादान की वास्तविकता इसी में है, कि वह कार्यरूप में परिणत होता हो। यहां केवल इतना अभिप्रेत है, कि शांकर वेदान्त इसप्रकार के उपादान को सर्वथा अभावात्मक नहीं मानता।

**कार्य के अनुरूप कारण की कल्पना**—अन्य दर्शनों—यहां तक कि अवैदिकदर्शन के आदि प्रवर्त्तक अतिप्राचीन मुख्य आचार्य बृहस्पति तथा चार्वाक आदि—ने भी समस्त चेतनाचेतन जगत् के मूल उपादान चार प्रकार के परमाणुओं को सदात्मक स्वीकार किया

है। पर इस सब के विपरीत बौद्धदर्शन की माध्यमिक नाम से प्रसिद्ध मुख्य शाखा का यह मन्तव्य है, कि इस समस्त जगत् का पर्यवसान 'शून्य' में होता है। इस पद से जिस अर्थ का द्योतन किया जाता है, उसका विवरण यही दिया जासकता है, कि समस्त जगत् के इसरूप में आने से पहले इसका किसीप्रकार का सदात्मक अस्तित्व नहीं है। उनकी मान्यता के अनुसार जगत् का वर्तमान रूप भी अपनी सदात्मकता का समर्थक नहीं, क्योंकि आगे जाकर इसका वर्तमान रूप भी न रहेगा। जो अपने इस रूप से पहले नहीं था, और आगे भी नहीं रहेगा, वह वर्तमान में भी 'नहीं है' ऐसा ही समझना चाहिये। वस्तुतः जगत् को शून्य अथवा अभावात्मक मानकर उसके मूल उपादान को शून्य, अभाव अथवा असद्रूप कहा जासकता है। सब दर्शनकार जगत् के अनुरूप मूल उपादान की कल्पना करते हैं। आचार्य शंकर ने जगत् को अनिर्वचनीय समझकर मूल उपादान माया को अनिर्वचनीय माना है। कपिल जगत् को त्रिगुणात्मक देखकर मूल उपादान को त्रिगुणात्मक बताता है। अब यह देखना व समझना आवश्यक है, कि वास्तविकता कहां है?

**असत् से सत् नहीं**—यदि थोड़ी भावुकता से घिर कर झटिति यह उत्तर दे दिया जाय, कि वास्तविकता कहीं नहीं है, तो कदाचित् सचाई से दूर हटजाने के मार्ग की ओर हमारा पग होगा। यदि वास्तविकता का कहीं न होना ही वस्तु का स्वरूप है, और वही सचाई है, तो बौद्धदर्शन का उक्त कथन निस्सन्देह मान्य कहा जासकता है। पर अब और पहले भी सचाई को जानने और उस तक पहुंचने का यत्न हुआ है, जिसके परिणाम अनुकूल हैं। माध्यमिक की इस स्थापना पर प्रथम ध्यान दीजिये, कि जगत् का जो वर्तमान रूप है, वह न पहले था और न आगे रहेगा। इसमें एक बात तो यह है, कि वर्तमान जगत् को स्पष्ट रीति पर अभावात्मक स्वीकार नहीं किया गया। आगे पीछे की अवस्थाओं को असद्रूप कल्पना करके उस कल्पित आधार पर वर्तमान को अभावात्मक कहने की कल्पना की गई है। मानो बौद्धदर्शन इससे भयभीत है, कि वह जगत् के उस वर्तमान रूप को असत् कहना चाहता है, जो सदात्मक अनुभूति से सम्बन्ध रखता है। वह वर्तमान को अपने रूप मे ही अभाव कहने का साहस नहीं करता। दूसरी बात यह है, कि माध्यमिक का उक्त कथन जगत् के परिवर्तनस्वभाव को प्रकट करता है। यह कहना, कि जगत् का वर्तमान रूप पहले न था, अथवा जो कुछ पहले था, वह न रहकर यह वर्तमान रूप बना है, और आगे यह फिर अपने इस रूप में न रहेगा, इसप्रकार का कथन जगत् की परिवर्तनशीलता को स्पष्ट करता है। परिवर्तन एक ऐसी स्थिति व क्रिया है, जो निराधार रहकर आत्म-लाभ नहीं कर सकती। कोई भी ऐसा आधार मानना आवश्यक है, जहां परिवर्तन के अस्तित्व का कथन होता है।

**परिवर्तन 'सत्' का प्रयोजक**—परिवर्तन एक ऐसी अवस्था है, जो स्वतः अपने आधार का समर्थन करती है। कोई ऐसा अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है, जो रूपान्तरित होता रहता है। ऐसे तत्त्व के लिये उसके मूलरूप में यदि हम 'अभाव' अथवा

'असत्' पद का प्रयोग करते हैं, तो भी हम उस तत्त्व की वस्तुसत्ता से कैसे नकार कर सकते हैं ? नाम उसका चाहे जो कुछ रख लिया जाय, पर उसके अस्तित्व को झुठलाया नहीं जासकता। जगत् का मूल उपादान, जो अदृश्य तथा परोक्ष है, जिसकी जानकारी के लिये हमारे इन्द्रिय आदि स्थूल साधन सर्वथा असमर्थ हैं, उसके एक ऐसे स्वरूप की कल्पना करके, जिसको किसी प्रमाण का समर्थन प्राप्त नहीं है, उसीके आधार पर अनुभूयमान जगत् के स्वरूप की कल्पना कर लेना सामञ्जस्यपूर्ण नहीं कहा जासकता। प्रत्युत प्रमाणसिद्ध जगत् के वर्तमान स्वरूप की यथार्थता को समझकर उसके अनुसार उसके मूल उपादान को जांच लेना अधिक सामञ्जस्यपूर्ण तथा युक्तियुक्त माना जाना चाहिये।

**मूल उपादान सद्रूप**—अतिप्राचीन काल से लेकर आज तक के अनेक पारदर्शी विद्वानों ने इस विषय पर निश्चित प्रकाश डाला है। साधनसम्पन्न आधुनिक आधिभौतिक विज्ञान ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है, और वह अपने परीक्षणों के आधार पर इस परिणाम तक पहुंचा है, कि जगत् के मूल उपादान तत्त्व तीन प्रकार के विद्युत्कण हैं। इनका विवेचन पिछले प्रकरणों में यथावसर किया गया है, पर इनके सम्बन्ध में यह निश्चित तथ्य है, कि इनको 'शून्य' अथवा अभावात्मक स्वीकार नहीं किया गया। इनकी वस्तुसत्ता निर्णीतरूप में मानी गई है। उसके स्वरूप या प्रकार आदि में विवाद किया जासकता है, पर उसका सदात्मक अस्तित्व सन्देह से परे है। इसप्रकार सद्रूप से अनुभूयमान जगत् के मूल उपादान को शून्य अथवा असत् या अभावरूप मानना किसी भी युक्ति या प्रमाण से अनुमोदित नहीं कहा जासकता।

**प्रादुर्भाव से पूर्व वस्तु-स्थिति**—समस्त जगत् के मूल उपादानकारण के सत् या भावरूप मान लेने पर यह जानना शेष रह जाता है, कि अपने स्वरूप में आने से पूर्व प्रत्येक कार्य की क्या स्थिति होती है ? उसके पहले भी उसका किसी प्रकार का अस्तित्व रहता है, या नहीं ? यह एक निर्विवाद व्यवस्था है, और प्रत्येक विचारशील व्यक्ति इसको स्वीकार करता है, कि जो वस्तु बनती है वह बिगड़ती अवश्य है, उत्पन्न होने वाली कोई वस्तु सदा स्थायी नहीं। उत्पन्न का विनाश अथवा प्रादुर्भूत का तिरोभाव अवश्यम्भावी है। इसका परिणाम यह निकलता है, कि मूल उपादान के अतिरिक्त समस्त अचेतन वर्ग बनता व बिगड़ता रहता है। अब प्रश्न यह है, कि किसी भी वस्तु की जिस स्थिति को हम 'बनना' कहते हैं, उस बनने के पहले उस वस्तु का किसी रूप में अस्तित्व रहता है या नहीं ? यह प्रश्न बड़ा उलझनभरा है। यदि बनने से पहले उसका वैसा अस्तित्व है, तो बनना बेकार है। यदि नहीं है, तो वह कहां से आजाता है ? फिर पहले न होने पर पुनः होजाना, इस विचार को सहारा देता है, कि अभाव की स्थिति भाव बन जाती है, अथवा यह कहिये, कि असत् से सत् होजाता है।

**प्रादुर्भाव से पूर्व कार्य असत्**—गौतम और कणाद ने इस विषय में बताया, कि

कारण यद्यपि सत् है, पर उससे जो कार्य उत्पन्न होता है, वह अपने आत्मलाभ से पहले किसी रूप में सत् नहीं था। प्रत्येक उत्पन्न होनेवाली वस्तु का उसकी उत्पत्ति से पहले अभाव रहता है। किसी भी वस्तु के इसप्रकार भावरूप में आने के लिये उसका अभाव भी निमित्त माना जाता है। फिर भी उस वस्तु का उपादानतत्त्व भावरूप ही रहता है। इन तार्किकों के विचार में किसी भी भाववस्तु का उत्पादन भाव और अभाव दोनों प्रकार के मिलित कारणों से होपाता है। यह अलग बात है, कि किसी वस्तु का अभाव या प्रागभाव उसका केवल निमित्तकारण माना जाता है, उसके उपादानकारण भावात्मक पदार्थ ही रहते हैं। जब कोई कारण अपने कार्य को उत्पन्न कर देता है, वह अपने स्वरूप से गिर जाता है, और एक सर्वथा नई वस्तु सन्मुख आजाती है। यह वस्तु का अपूर्वोत्पादन है। यह वस्तु अब से पूर्व कभी किसी रूप में नहीं थी। इसका परिणाम यह निकलता है, कि कोई भी कारणतत्त्व, एक अपूर्व कार्य को उत्पन्न करने के लिये अपने आपको गला देता है। जब तन्तु से पट बनगया, तो उसमें तन्तुभाव नष्ट होजाता है, पटभाव उत्पन्न होजाता है। मृत् से घट, बीज से अंकुर होकर उनमें कारणभाव न रहकर कार्य-भाव सन्मुख आजाता है। अथवा यह कहना चाहिये, कि वह कारण अपने से भिन्न एक अन्यथाभाव को अपना लेता है, जिसे हम कारण के स्थान पर कार्य कहने लगते हैं। इसप्रकार कार्य के आत्मलाभ से पहले उसका किसी प्रकार का अस्तित्व नहीं होता।

**प्रादुर्भाव से पूर्व कार्य का रूप**—यह बात साधारणतया कहने सुनने में अच्छी और युक्तियुक्त भासित होती है। पर थोड़ा गहराई से देखने पर हमारे सामने वही प्रश्न अधिक स्पष्टरूप में आ खड़ा होता है, कि क्या किसी कार्य के आत्मलाभ से पहले उसका किसी प्रकार का अस्तित्व सम्भव नहीं? यदि यह बात सत्य है, तो किसी कार्य के लिये किन्हीं विशेष उपादानतत्त्वों के ग्रहण किये जाने की व्यवस्था क्यों देखी जाती है? पट के लिये तन्तुओं का ही उपादान क्यों होता है? यदि आत्मलाभ से पहले कार्य का सर्वत्र समानरूप से अभाव है, तो प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक कार्य उत्पन्न होजाना चाहिये, अथवा किसी भी वस्तु से कोई भी कार्य उत्पन्न किया जासके। तब बालू से भी तेल निकल आना चाहिये और तन्तु या पट से भी वट का अंकुर उत्पन्न होजाना चाहिये। पर यह सब सम्भव नहीं। यह प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिदिन का अनुभव है। यह स्पष्ट है, कि तिलों में ही तेल का सम्भव है, तन्तु में पट का और वटबीज में वटांकुर का। इससे निर्बाधरूप में यह परिणाम निकल आता है, कि आत्मलाभ से पहले प्रत्येक कार्य का अपने कारण में किसी प्रकार का अस्तित्व अवश्य रहता है, अन्यथा यह कार्य-कारण-भाव अथवा उपादानोपादेयभाव की व्यवस्था सम्भव नहीं होसकती।

अब देखना चाहिये, कार्य का वह क्या रूप है, जो उसके आत्मलाभ से पहले अस्तित्व में रहा कहा जासकता है। सांख्य का इस विषय में स्पष्ट मत यह है, कि कोई भी कारण, कार्य के लिये अपने आपको गला नहीं देता। कारण कार्य को उत्पन्न कर

स्वयं नष्ट या ध्वस्त होजाता हो, ऐसी मान्यता सांख्य की नहीं है। प्रत्युत कारण स्वयं कार्यरूप में परिणतमात्र होता है। मूल उपादान तत्त्वों का अपना अस्तित्व बराबर बना रहता है। जहां केवल उपादान तत्त्वों के आतान वितान अथवा क्रमिक व्यवस्थापन से कार्य का सम्पादन होजाता है, वहां कार्य के आत्मलाभ के अनन्तर भी उपादान तत्त्वों का स्पष्ट अस्तित्व बना रहता प्रतीत होता है। तन्तुओं से वस्त्र बन जाने पर तन्तुओं की स्पष्ट प्रतीति होती रहती है। ईंटों से मकान और तख्तों के जोड़ से नाव बन जाने पर हम मकान और नाव के उपादानतत्त्वों को भलीभांति देख-परख सकते हैं। क्योंकि इसप्रकार के कार्यसम्पादन में उपादानतत्त्वों को केवल एक विशेष क्रम से व्यवस्थित कर दिया जाता है। इन उपादानतत्त्वों को इसप्रकार के कितने आकारों में व्यवस्थित किया जासकता है, इसकी कोई सीमा नहीं है, और वे समस्त असीमित आकार उन उपादानतत्त्वों में अन्तर्निहित रहते हैं।

जहां पर उपादानतत्त्वों की केवल क्रमिक व्यवस्था कार्यसम्पादन का रूप नहीं है, प्रत्युत कारण स्वयं रूपान्तरित हुआ देखा जाता है, वहां पर भी यह भलीभांति जांचा जासकता है, कि वे उपादानतत्त्व परिणत होकर कार्यरूप में विद्यमान हैं। तिलों को पीसकर ही तिल, तेल और खल के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। जो तत्त्व तिलों में विद्यमान नहीं है, ऐसा कुछ भी नवीन तत्त्व और कहीं से कार्य में नहीं आजाता। इसप्रकार कारणगत मूल उपादान तत्त्व ही कार्यरूप में परिणत हुआ करते हैं, उन उपादानतत्त्वों का सर्वथा ध्वन्स या नाश किसी प्रकार सम्भव नहीं। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि कोई कार्य अपने वर्तमान आत्मलाभ से पहले अपने कारणों में उस कारण के रूप से विद्यमान रहता है, क्योंकि इस बात को हम जान चुके हैं, कि वे कारण ही कार्यरूप में परिणत होजाया करते हैं।

**कार्य प्रादुर्भाव से पूर्व कारणरूप कैसे**—प्रत्येक कार्य आत्मलाभ से पहले अपने कारण में कारणरूप से विद्यमान रहता है, यह बात कहने सुनने में कुछ अटपटी सी लगती है। क्योंकि जो तत्त्व का कारणरूप है, वह स्वयं तो कार्य है नहीं, फिर कार्य का वहां अस्तित्व कैसा? यह ठीक है, कि तत्त्व का जो कारणरूप है, वह स्वयं उसी रूप में कार्य नहीं है, पर कार्य के समस्तरूप कारण में अन्तर्निहित हैं। अपनी इस तिरोहित अवस्था से प्रयत्न के अनन्तर जो रूप प्रकट में आजाता है, वही कार्य का रूप कह दिया जाता है। किसी वस्तु के कार्यरूप में आने के पहले कार्य का किसी प्रकार का अस्तित्व स्वीकार न किये जाने पर कार्यकारणव्यवस्था सम्भव नहीं होसकती। इस अव्यवस्था से बाधित होकर गौतम आदि दार्शनिकों ने भी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व किसी रूप में उसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। न्यायदर्शन में एक सूत्र है—

'बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्' [४।१।५०]

प्रत्येक कार्य के उत्पत्ति-विनाश देखे जाने से गौतम ने इस प्रसंग में निर्णय किया

है, कि उत्पत्ति से पूर्व अथवा विनाश के अनन्तर कार्य का अस्तित्व नहीं रहता। पर ऐसी स्थिति में यह उपादाननियम—कि किसी कार्य के लिये किन्हीं विशेष तत्त्वों का कारणरूप से उपादान [ग्रहण] क्यों किया जाता है, जबकि कार्य की उत्पत्ति से पहले उसका अभाव सर्वत्र समान है—सम्भव नहीं होसकता। उपादान की व्यवस्था के लिये गौतम ने उक्त निर्णय किया है। 'तत् असत्'—उत्पत्ति से पहले असत् भी वह कार्य, बुद्धिसिद्ध अवश्य रहता है। किन उपादानतत्त्वों से कौनसा कार्य उत्पन्न होना है, यह बात बुद्धि द्वारा निश्चित होती है। कार्य का स्वरूप उसकी आकृति व विशेषताएं आदि सब कुछ प्रथम ही उस कार्य का शिल्पी अच्छी तरह जानता है। यदि इस सबको वह न जानता हो, तो इच्छानुरूप कार्य का निर्माण नहीं किया जासकता। कार्य की उत्पत्ति से पहले उसकी बुद्धिसिद्ध सत्ता ही—कारणरूप से कार्य का विद्यमान होना है। शब्दों का अन्तर केवल अर्थ के प्रतिपादन करने का एक विशेष प्रकारमात्र है। फलतः कार्य के आत्मलाभ से पूर्व किसी न किसी रूप में उसका अस्तित्व और उसके उपादानतत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध निश्चितरूप से अवस्थित रहता है। उसको जानकर ही प्रत्येक शिल्पी कार्यारम्भ के लिये प्रयत्नशील होता है, और उसके अनुकूल उपादानतत्त्वों का आदान करता है। कार्यमात्र में प्रेक्षापूर्वक प्रवृत्ति के नियम का भी यही अभिप्राय है, कि तद्विषयक कार्य-कारणव्यवस्था को अच्छीतरह जान लिया गया है, जो कार्यकारण के अस्तित्व को किसी रूप में स्वीकार न करने पर सम्भव नहीं होसकती। इसप्रकार आत्मलाभ से पूर्व भी किसी रूप में कार्य का अस्तित्व स्वीकार करना न केवल आवश्यक है, अपितु प्रमाण-सिद्ध भी है।

**सत्कार्य में सांख्य-युक्ति**—इस विचार की पुष्टि के लिये सांख्य में अनेक प्रकार की युक्तियों का आश्रय लिया गया है, जिनमें से कतिपय युक्तियों का सारांश ऊपर के सन्दर्भ में आचुका है। कुछ और इस रूप में प्रस्तुत की जाती हैं—

कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध माने विना कार्य का आत्मलाभ सम्भव नहीं। क्योंकि यदि कारण के साथ विना सम्बन्ध के कार्य उत्पन्न होजाता हो, तो वह असम्बन्ध सर्वत्र समान होने से प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य अथवा कारणमात्र से कार्यमात्र की उत्पत्ति होजानी चाहिये। पर यह सम्भव नहीं। देखा यह जाता है, कि किसी विशेष कारण से विशेष कार्य की उत्पत्ति होती है। इससे कार्यकारण के पारस्परिक सम्बन्ध का निश्चय होता है, और वह सम्बन्ध केवल कारण की अवस्था में भी कार्य के किसी प्रकार के अस्तित्व का निश्चायक है। वह सम्बन्ध उपादानोपादेयभाव है। मृत् या तन्तु, घट या पट के उपादान हैं, वे परिणत होकर उपादेय अर्थात् घट या पट के रूप में प्रकट होते हैं। यह घट और पट का प्रकटरूप, मृत् और तन्तुओं में अन्तर्निहित रहता है। यदि ऐसा न हो, तो मृत् तथा तन्तुओं को उस रूप में परिणत किया जाना सम्भव नहीं।

कदाचित् इस विषय में यह कहा जासकता है, कि मृदादि कारणों में घटाद्याकार

का अस्तित्व स्वीकार करना अनावश्यक होगा। कारण में एक प्रकार की शक्ति की कल्पना कर लेनी चाहिये, जिसके आधार पर कार्यकारण का नियमन होसकता है। मृत् में घट के उत्पन्न करने की शक्ति है, पट के नहीं, और तन्तु में पट के उत्पन्न करने की शक्ति है, घट के नहीं। घट अथवा पट के कार्यरूप में दीखने पर उनके कारणों में उस-प्रकार की शक्ति के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। इससे यह अव्यवस्था नहीं रहेगी, कि किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न होजाय, और आत्मलाभ से पूर्व कार्य का अस्तित्व भी स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती।

यह कथन कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। प्रत्येक कारण भिन्न-भिन्न कार्यों को उत्पन्न करता है, उसके अनुसार प्रत्येक कारण में एक 'शक्ति' नाम के अतिरिक्त तत्त्व को स्वीकार करना पड़ेगा। इसप्रकार अनन्त 'शक्ति' नामक पदार्थों के माने जाने से व्यर्थ में गौरवग्रस्त होना पड़ता है। फिर यह भी नहीं, कि एक कारण में एक शक्ति से काम चल जाय, किसी मृत्पिण्ड को शिल्पी की इच्छानुसार अनेक प्रकार की आकृतियों में परिणत किया जासकता है। जिस मृत्पिण्ड से घट बनता है, उसी से करवा, मटकी या शकोरे आदि बनाये जासकते हैं, तथा अन्य विविध प्रकार के खेल खिलौने बनाये जासकते हैं। तब उस अकेले मृत्कारण में कार्य के अनुसार अनेक प्रकार की शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। ऐसे तत्त्व-व्यवस्था का नियमित रहना संभव नहीं। यदि कारण में कार्योत्पादन की अथवा कार्यरूप से परिणत होने की अनुकूलता का नाम शक्ति है, तब तो यह कारण में कार्य के अस्तित्व का शक्ति के नाम से कथन कर दिया गया, यही कहना होगा। क्योंकि प्रत्येक कारण में कार्यरूप से परिणत होने की अनुकूलता विद्यमान रहती है। यही कारण में कार्य के अस्तित्व का स्वरूप है, तब फिर हम उसी जगह आजाते हैं। इस स्थिति का नाम शक्ति रख देने से शब्दमात्र का भेद है, कार्यकारण व्यवस्था को उसी रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। इसप्रकार तथाकथित कार्योत्पत्ति से पूर्व भी कार्य का अस्तित्व माना जाना चाहिये।

सांख्य कार्य के किसी ऐसे अस्तित्व को नहीं मानता, जो अपने कारणतत्त्व से सर्वथा अतिरिक्त हो। कार्य वस्तुतः कारण का एक रूपान्तरमात्र है, अथवा एक अवस्था-मात्र। इसलिये जब कारण से अतिरिक्त कार्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, और वह कारण का ही एक विशेषरूप है, तब कारण को सत् मानने पर कार्य को सत् क्यों नहीं माना जायगा? इसप्रकार कारण से अभिन्न होने की अवस्था में कारण के अस्तित्व के समान कार्य का अस्तित्व भी उस समय स्वीकार किया जाता है।

**सत्कार्य सिद्धान्त में कार्य नित्य होना चाहिये**—अब हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि उत्पत्ति से पहले कार्य का अस्तित्व किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है। इस सिद्धान्त में अन्य मार्ग से एक आशंका उपस्थित की जाती है, और वह यह है, कि यदि कार्य कारण से भिन्न नहीं है, तथा कारण के समान उसका अस्तित्व भी उत्पत्ति

और अनुत्पत्ति दोनों अवस्थाओं में स्वीकार किया जाता है, तो अन्त में कारण के समान कार्य को भी नित्य स्वीकार किया जाना चाहिये। यदि इसको ऐसा ही मान लिया जाता है, तो इतना ही नहीं, कि कार्यमात्र के लिये समस्त प्रयत्न व्यर्थ हैं, प्रत्युत इस अनुभूयमान व्यवहार का भी विलोप कर बैठेंगे। यह प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है, कि हम किसी कार्य की उत्पत्ति के लिये बराबर प्रयत्न करते हैं, और प्रयत्न के अनन्तर उसके रूप में उस वस्तु को देख पाते हैं। फिर जो वस्तु एकबार उत्पन्न हुई, वह सदा स्थायी नहीं रह सकती, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। फलतः किसी वस्तु के विषय में यह कहना, कि उसके उत्पाद और विनाश होते हैं, तथा वह सदा बनी भी रहती है, अर्थात् नित्य है, यह परस्पर सर्वथा विरोधी कथन है। इसलिये कार्य की सत्ता को उत्पत्ति के अनन्तर ही स्वीकार किया जाना चाहिये, उससे पूर्व नहीं।

**वस्तु की परिणामि-नित्यता**—इसके समाधान के लिये पातञ्जल योगदर्शन और उसके व्याख्याग्रन्थों में बताया है, कि किसी वस्तु के उत्पाद और विनाश उसके धर्म, लक्षण एवं अवस्थापरिणाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जैसे एक स्वर्ण-कुण्डल को तोड़कर उसका रुचक बना लिया जाय, यहां सुवर्ण के स्वरूप में कोई अन्यथाभाव नहीं आता, वह सुवर्ण बराबर बना रहता है, पर वहां कुण्डलभाव अपगत होजाता है–अतीत होजाता है और रुचकभाव अभिव्यक्त होआता है। यहां वास्तविकता यह है, कि वह सुवर्ण धर्मी स्वरूप में अवस्थित हुआ कुण्डलभाव को छोड़कर रुचकभाव में परिणत होता है। इसी प्रकार प्रत्येक कारणतत्त्व स्वरूप को न छोड़ता हुआ कार्यरूप में परिणत होजाता है। जब उस कार्य की अनागत अवस्था है, उस समय भी कार्य, स्वरूप अर्थात् कारणरूप से सत् है, परन्तु अभिव्यक्त अवस्था की दृष्टि से असत् है। वही घट उत्पत्ति के उत्तरकाल में स्वरूप से सत् है, यह उसकी अभिव्यक्त अवस्था है। इसका अभिप्राय यह है, कि एक मृत्पिण्ड जहां घट अभी तक अनागत अवस्था में था, वह अब घट की अभिव्यक्त अवस्था में परिणत होगया है। उसका मृद्भाव बराबर बना रहता है, पिण्डभाव अतीत होकर घटभाव अभिव्यक्ति में आजाता है। मुद्गर प्रहार आदि से घट के अदर्शन होने पर अतीत अवस्था की दृष्टि से घट सद्रूप है, तथा अन्य अवस्थाओं की दृष्टि से वह असत् है। इसप्रकार विनाशी होने पर भी प्रत्येक अवस्था में घटादि कार्य का अस्तित्व बना रहता है। यदि इसी रूप में कार्य को नित्य कह दिया जाता है, तो इस दर्शन को उसमें कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि इसप्रकार उसके लिये नित्य पद का प्रयोग कर देने पर उसके परिणामिस्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। वस्तुतः अपरिणामिनी चितिशक्ति के समान एकान्त नित्यता, किसी कार्य अथवा परिणामी तत्त्व की स्वीकार नहीं की जासकती, और न ऐसा यह दर्शन मानता है। इसलिये कार्य की नित्यता का प्रतिपादन केवल उसके प्रवाह-नैरन्तर्य को प्रकट करता है।

**उत्पाद-विनाश में वार्षगण्यमत**—सांख्य-योग मत से वस्तु के उत्पाद व विनाश

के स्वरूप पर आचार्य वार्षगण्य का एक सन्दर्भ अच्छा प्रकाश डालता है। वह लिखता है, कि[1] "यह समस्त जगत् जब अपनी अभिव्यक्त अवस्था में आता है, वही इसका उत्पाद है। परन्तु यह सदा इस अवस्था में रह नहीं सकता, क्योंकि यह एकान्त नित्य नहीं है। अतः अभिव्यक्त अवस्था से अपेत-दूर होजाता है, इसकी अभिव्यक्त अवस्था नहीं रहती, अतीत अवस्था आजाती है। तब क्या यह अपने सब प्रकार के अस्तित्व को खो बैठता है? नहीं, ऐसा नहीं। अपेत अवस्था में भी इसका अस्तित्व बना रहता है, क्योंकि कोई वस्तु जो सद्रूप है, सर्वथा विनाश अथवा अभावरूप में परिणत नहीं होसकती। अपेत अवस्था में भी यदि वस्तु का अस्तित्व है, तो वह दीखता क्यों नहीं? न दीखने का कारण यह है, कि वह अभिव्यक्त अवस्था से अनभिव्यक्त अवस्था में चला जाता है। जो कारण-तत्त्व कार्यरूप में परिणत होगया था, वह पुनः अपने कारणरूप में पहुंच गया है। इसको ऐसे भी कहा जासकता है, कि कार्य कारण में लीन हो गया है। अभिव्यक्त अवस्था में कार्य का जो व्यापार देखा जाता है, अथवा उसका जो उपयोग होता है, वह कारण अवस्था में संभव नहीं है, इसीलिये उसकी सूक्ष्मता अर्थात् दर्शन की अयोग्यता कही जाती है। यही कारण है, कि हम उसे उपलब्ध नहीं कर सकते, और न उपयोग में ला सकते हैं। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि किसी वस्तु की अभिव्यक्ति उसका उत्पाद है, और अभिव्यक्ति के अपगम का नाम विनाश है। वस्तुतत्त्व सदा बना रहता है।" आचार्य वार्षगण्य के इस लेख से यह स्पष्ट होता है, कि सांख्य-योग परिणामी वस्तुतत्त्व की एकान्त नित्यता को स्वीकार नहीं करते। परिणाम के निरन्तर प्रवाह की दृष्टि से यदि उसको नित्य कह दिया जाता है, तो इस कथन में यह दर्शन कोई ऐसा अनुपेक्षणीय असामञ्जस्य नहीं देखता। इससे वस्तु में उत्पाद-विनाश व्यवहार के रहते भी परिणाम-प्रवाह-नैरन्तर्य के साथ उसका कोई विरोध नहीं कहा जासकता।

**आविर्भाव-तिरोभाव ही उत्पाद-विनाश है**—सांख्यदृष्टि से उत्पाद-विनाश पदों के प्रयोग की यथार्थता को समझने का हमने यत्न किया। गौतम और कणाद ने कार्य-स्थिति को प्रकट करने के लिये उत्पाद-विनाश पदों का प्रयोग किया है, और सांख्य में आविर्भाव-तिरोभाव पदों का प्रयोग किया गया है। इससे यह न समझना चाहिये, कि इनका यह विशेष प्रयोग किसी आवश्यक सिद्धान्तभेद की ओर संकेत करता है। संभव है, इस विषय में कपिल और गौतम के विचार-भेद को इन पदों का प्रयोग किसी सीमा तक ध्वनित करता हो, पर हमने यहां दोनों प्रकार के पदों का प्रयोग एक ही अर्थ को

---

१. **तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, न सत्वात् [ नित्यत्वप्रतिषेधात्—योगभाष्यपाठ, ३ । १३ ]। अपेतमप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं, सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिः। तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाशः। स तु द्विविधः—आसर्गप्रलयात् तत्त्वानाम्, किञ्चित्कालान्तरावस्थानादितरेषाम्, इति। [ युक्तिदीपिका, पृ० ६७, पं० १४–१७ ]।**

प्रकट करने में किया है। आविर्भाव-तिरोभाव के स्थान पर उसी अर्थ को प्रकट करने के लिये सांख्य में उत्पाद-विनाश पदों का प्रयोग न हुआ हो, ऐसा नहीं है। वस्तुतः सांख्य-दृष्टि से पहला दूसरे का अर्थ-प्रकाशनमात्र है। सिद्धान्तभेद की दृष्टि से इन पदों के प्रयोग में हमने कोई विशेषता नहीं बरती।

वस्तु के उत्पाद और विनाश के स्वरूप को समझ लेने पर हम इस आशंका का समाधान पाजाते हैं, कि उत्पाद–विनाशशील वस्तु को नित्य अर्थात् स्थायी क्यों और किसप्रकार कहा जासकता है। निश्चित ही यहां नित्य अथवा स्थायी पद का यह अभिप्राय नहीं है, कि वस्तु अपरिणामी रहती हुई सदा एकरस एकरूप बनी रहती है, क्योंकि चितिशक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व अपरिणामी नहीं है। इसलिये चितिशक्ति को छोड़कर कोई अन्य वस्तु एकान्त नित्य नहीं कही जासकती। तब परिणामी वस्तु के लिये भी यदि प्रतिवादी नित्य पद का प्रयोग करने में प्रसन्न होता है, तो इसका इतना ही अर्थ समझना चाहिये, कि परिणामी वस्तु किसी न किसी रूप में सदा बनी रहती है, उसका सर्वथा विनाश संभव नहीं। इस रूप में उसको नित्य कहना चाहते हैं, तो कहते रहें, इससे सांख्यसिद्धान्त को कोई हानि नहीं।

**प्रकृति-प्रवाह का नैरन्तर्य**—इस दर्शन के अनुसार वस्तुतः यह सृष्टिप्रवाह अथवा प्रकृति-प्रवाह, निरन्तर गतिशील एक नदी के प्रवाह के समान है। नदी तट पर बैठकर जब हम नदी प्रवाह को देखते हैं, तब जो प्रवाह हमारी आंखों के सामने से नीचे को ढलक जाता है, उसे हम फिर कभी नहीं देख पायेंगे। यदि एक चुल्लू पानी नदी में से उठाकर हम उसे उसी में छोड़ देते हैं, फिर दुबारा हम उसी पानी को कभी नहीं उठा सकते। नदी के बहुत से पानी को हम खेतों में लगा लेते हैं, उसी पानी को फिर कभी दुबारा हम नहीं लगा सकते। पर नदी बराबर बह रही है, खेतों में पानी उसी तरह चल रहा है। पर एकबार का लगा पानी फिर हाथ नहीं आता, वह कहां चला जाता है? उसका कुछ अंश ओषधि वनस्पितियों लता वृक्षों में रसरूप से परिणत होजाता है, और कुछ अंश उसी समय सूर्य के ताप से वाष्प बनकर अन्तरिक्ष में विचरण करता है। ऋतु के अनुसार वही बादल बनकर फिर जलरूप में बरसता है। तब वह किस नदी नाले में बहता है, कहां बरसता है, तथा खेत की उठी वाष्प से कौन सा अंश उसका बना है, या जो बना है, वह यहां है भी या नहीं? इस सबका हिसाब लगाना हमारी शक्ति से बाहर है, यह हमारा काम नहीं। पर नदी का प्रवाह निरन्तर उसी तरह चलता जारहा है। नदी समुद्र में जा मिली। सूर्य ताप ने सामुद्र जलों को वाष्प बनाकर अन्तरिक्ष में भर दिया। ऋतु आने पर उचित तापमान में वाष्प मेघरूप में गरज उठा। वायु के रथ पर सवार हो वह पर्वत शिखरों तक पहुंचा। इन्द्र का वज्र उठा, बिजलियां कड़की, मूसलाधार बह चली, नदी नाले उमड़ आये। नदी का प्रवाह उसी तरह चलता रहा। जिस बूंद को हमने एक बार पकड़ कर छोड़ा, फिर दुबारा कभी हम उसे न पकड़ सके।

पर निश्चित ही वह इस प्रवाह में कहीं बहती चली जारही है।

ठीक ऐसा ही यह सृष्टि-प्रवाह है। प्रकृति का यह प्रवाह अनादि काल से चला है, और अनन्त काल तक चला जायगा। प्रकृति का स्वभाव ही ऐसा है, यह निश्चल नहीं बैठती, परिणामशील है, यह आगे से आगे परिवर्तित होती रहती है। जब इसप्रकार के परिवर्तन का क्रम पूरा होता है, तब यह फिर प्रकृति है–अपना मूलरूप। इसके अनन्तर पुनः परिवर्तन। इस परिवर्तन के नैरन्तर्य में ही प्रकृति का नित्यत्व छिपा है। परिवर्तनशील वस्तु स्थायी नहीं कही जाती। परन्तु प्रकृति-परिणाम का यह नैरन्तर्य तो कभी समाप्त होना नहीं, यह अन्त-हीन है, तब इस रूप को स्थायी या नित्य कह दिया जाय, तो क्या हानि है? जो बात समष्टि में है, वही व्यष्टि में। विश्वब्रह्माण्ड में जो होरहा है, वही एक छोटे से छोटे कण में है। तब हमें प्रकृति के एक अल्पतम अंश को भी प्रकृति के समान ही समझना चाहिये।

**कार्य का उपयोग–अनुपयोग**—इस निरन्तर गतिशील प्रकृतिप्रवाह के साथ वहते हुए हमारे अत्यल्पकालीन जीवन में अनेक वस्तु संपर्क में आती हैं। समस्त दृष्टसृष्टि हमारे समस्त व्यापारों का साधन है। स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक सब वस्तुतत्त्व हमारे उपयोग में आते हैं, कोई सीधे कोई परम्परा से। वस्त्र से देह ढकते हैं, वह इसे शीतातप से सुरक्षित रखता है। अन्न आदि से भूख भगाते हैं, जल से प्यास बुझाते हैं, रसादिपरिपाक होकर देह बलिष्ठ रहता है। घट से जलाहरण करते हैं, मकान हमें आंधी वर्षा से बचाता है। यह एक उदाहरणमात्र है। हमें देखना यह है, कि इस अनन्त सृष्टिप्रवाह में जो वस्तु इस रूप में उभर आई हैं, कि सीधे हमारे व्यापार का साधन बनी हैं, और एक नियत व्यापार को पूरा करती हैं, व्यवहार के लिये हमने उनका एक नाम रख लिया है। उन वस्तुओं को अपनी परिभाषा में हम 'कार्य' कहते हैं। वही वस्तु जब उस नियत व्यापार के योग्य नहीं रहती, हम कहने लगते हैं, वह कार्यवस्तु नष्ट हो गई। वस्तुतः वह अब ऐसी स्थिति में आ गई है, जिससे हमारा वह नियत व्यापार निष्पन्न नहीं हो सकता। वस्तु का वह स्वरूप जिससे हम अभी तक अपने एक नियत व्यापार को निष्पन्न कर रहे थे, अब वह कभी हमारे हाथ नहीं आयेगा। वह इस निरन्तर गतिशील प्रकृति-प्रवाह में हम से आगे बह गया। जब तक हम घट से जलाहरण करते रहते हैं, और वस्त्र से देह का प्रावरण, तब तक वह घट और वस्त्र हैं। पर जब उनका यह व्यापारक्रम समाप्त हो जाता है, और वे इस प्रकृतिप्रवाह में इधर उधर खिसक जाते हैं, हम समझ बैठते हैं, कि वह नष्ट हो गया। वस्तुतः इस प्रकृतिप्रवाह में वह घट और वस्त्र अपने कारणरूप में अनादि काल से चला आ रहा था। हमारे जीवन में उस नियत व्यापार के लिये वह उभर आया, और अब फिर उस निरन्तर प्रवाह में जा पड़ा है। उसके अस्तित्व में अब भी कोई बाधा नहीं। पर यह निश्चित है, कि अब वह वस्त्र और घट कभी हमारे हाथ नहीं आयेगा। समस्त कार्यजगत् का यही क्रम है। जो कारण किसी

कार्यरूप में एक वार उभर आता है, वही कार्यरूप फिर दुबारा कभी नहीं आसकता।

जो कारणतत्त्व एक वार घटरूप में परिणत हुए हैं, यह नियम नहीं, कि निश्चित रूप से वे केवल इसी एक कार्यरूप में परिणत किये जासकते हैं। प्रत्युत उनमें करवा मटकी कसोरे कुल्हड़ अनेक प्रकार के खेल खिलौने आदि उसी तरह उभारे जासकते हैं। इसप्रकार समस्त कारणतत्त्वों में अपने योग्य अनन्त कार्याकृतियां विद्यमान रहती हैं। जिन कारणतत्त्वों में एक वार एक रूप उभर आया है, उनको सदा के लिये सीमित नहीं किया जा सकता। उस आकृति के पुनः कारण में लीन होने पर कारणतत्त्व बिखर जाते है। उनमें कुछ अन्य तत्त्व आमिलते हैं, उनमें से बहुतेरे दूसरों में जामिलते हैं, और उनमें अन्यान्य विविध आकृतियां यथासंभव उभरती रहती हैं। यही कारण है, कि जो आकृति एकवार जिन कारणतत्त्वों में उभर आती है, वह फिर कभी दुबारा ऐसा अवसर नहीं पासकती। पर वे अनन्त कार्याकृतियां समस्त कारणतत्त्वों में सदा वर्त्तमान रहती हैं। वह उनका कारणात्मकरूप है। अभिव्यक्त होकर वे हमें दीखने लगती हैं, और वही उन की ऐसी अवस्था है, जब वे अपने अर्थक्रिया आदि व्यापार को पूरा कर पाती हैं।

**कार्य-कारणस्थिति पर कपिल-गौतम अतिसमीप**—कार्य-कारण की इस स्थिति पर यदि हम कपिल और गौतम की दृष्टि को तुलनात्मक विचार से देखें, तो ये दोनों हमें बहुत समीप दिखाई देते हैं। भले ही हमें सत्कार्य और असत्कार्य जैसे स्थूलरूप से विरोधी पदों का प्रयोग इस विचार से दूर ले जाना चाहे, पर गंभीरता से देखने पर यह विरोध ऊपरी प्रतीत होने लगता है, और हम एक ही वास्तविकता पर दोनों आचार्यों को खड़ा देखते हैं। यह बात अभी पिछले पृष्ठों में स्पष्ट की जा चुकी है, कि आचार्य गौतम उत्पत्ति से पहले कार्य की बुद्धि-सिद्ध सत्ता को स्वीकार करता है। बुद्धि-सिद्ध सत्ता का अभिप्राय यह है, कि जिन कारणतत्त्वों से कोई शिल्पी जिस कार्याकृति को उभारना चाहता है, उसका अस्तित्त्व कारणों में विद्यमान है, और शिल्पी की बुद्धि से अवगत है, वह कार्याकृति केवल अभिव्यक्ति या उत्पत्ति की अवस्था में नहीं है, उसी के लिये शिल्पी का प्रयत्न है। फिर भी गौतम इस बात पर जो बल देता है, कि उत्पत्ति से पूर्व और विनाश के अनन्तर कार्य का कोई अस्तित्व नहीं रहता, वह केवल इस अभिप्राय से कहा जासकता है, कि वह कार्य अपने कारणों में एक बार उभर पाता है, फिर कभी नहीं। जो कार्याकृति न कभी इससे पहले उभरी थी, और न जिसके फिर कभी आगे उभरने की संभावना है उसके अस्तित्व को मानने से लाभ ही क्या? क्योंकि न उससे कभी किसी प्रकार का व्यापार संभव है, और न वह उन अवस्थाओं में हमें कभी दीख ही पाती है।

पर वस्तुस्थिति के विचार में लाभालाभ की अपेक्षा को कपिल अवकाश नहीं देता। कोई भी कार्य, कारण अवस्था में रहता हुआ न दीख पाता है, और न वह किसी प्रकार के अर्थ-क्रिया आदि व्यापार का प्रयोजक होता है, फिर भी उसके अस्तित्व की उपेक्षा किया जाना शक्य नहीं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य के अस्तित्व के समान विध्वंस या

विनाश के अनन्तर भी कारणरूप में उसका अस्तित्व बना रहता है। गौतम जब कार्य का प्रागभाव और ध्वंसाभाव बताता है, कपिल उस स्थिति को कार्य की अनागत अवस्था और अतीत अवस्था कहता है। अनागत अवस्था में भी कार्य के अस्तित्व को गौतम ने किसप्रकार माना है, यह स्पष्ट किया जाचुका है, वही स्थिति कार्य की अतीत अवस्था में है। अनागत और अतीत अवस्था से निश्चित ही वर्तमान का कुछ भेद है। कपिल ने इस भेद की उपेक्षा नहीं की। अतीत अनागत अवस्था में कारणरूप से कार्य का अस्तित्व होने पर भी वह उसकी वर्त्तमान अवस्था नहीं है। इसप्रकार सत् और असत् दोनों रूपों में कार्य हमारे सन्मुख आता है। कपिल का केवल इतना तात्पर्य है, कि अतीत अनागत अवस्था में कार्य का सर्वथा अभाव नहीं कहा जासकता। ऐसा ही कुछ अभिप्राय गौतम का प्रकट होता है। भले ही उसके व्याख्याकारो ने उसके विचारों को अन्यथारूप दे दिया हो। मूल में दोनों आचार्यों के विचारों को इस विषय पर हम बहुत समीप पाते हैं।

**उत्पत्ति और अभिव्यक्ति**—न्याय और सांख्य के व्याख्याग्रन्थों में 'उत्पत्ति' और 'अभिव्यक्ति' पदों को लेकर एक लम्बी बहस छिड़ी देखी जाती है। कहाजाता है, कि 'अभिव्यक्ति' आत्मलाभ से पहले अपना अस्तित्व रखती है, या नहीं? यदि रखती है, तो कार्य आत्मलाभ से पहले भी दृष्टिगोचर होना चाहिये। यदि नहीं रखती, तो असती अभिव्यक्ति पुनः सद्रूप में आती है, ऐसा मानना होगा, और इससे सत्कार्यवाद का मन्तव्य दोषपूर्ण होजायेगा। इसका समाधान किया जाता है, कि 'उत्पत्ति' में भी यह दोष है। असत्कार्यवादी कार्य की अपूर्व उत्पत्ति मानता है। वह उत्पत्ति आत्मलाभ से पूर्व है या नहीं? यदि है तो उसके लिए प्रयत्न क्यों? तथा कार्य के आत्मलाभ से पहले ही वह हमें दृष्टिगोचर होना चाहिये। यदि नहीं है, और उसकी भी अपूर्व उत्पत्ति होती है, तो उसके कारणान्तरों को बताना होगा। और फिर उसके आगे अगली 'उत्पत्ति' के कारणान्तरों को भी खोजना होगा। इसप्रकार उत्पत्ति की उत्पत्ति को आगे-आगे बताते रहने में युग बीत जायेंगे, पर इसकी समाप्ति न होगी। यह अवस्था असत्कार्यवादी के सिर पर मंडराती रहेगी। इसलिये यदि 'अभिव्यक्ति' के अभिलापन में दोष है, तो वह 'उत्पत्ति' में भी है। हम तुम दोनों एक से हैं, इस विषय में कौन किसको टोके, यहां चुप्पी ही भली है।

इसप्रकार की आशंका का यह वास्तविक समाधान नहीं। यह केवल एक शाब्दिक बहस है। इसके वास्तविक समाधान की हमें खोज करनी चाहिये। इसके लिये देखना होगा, कि वस्तुतः अभिव्यक्ति अथवा उत्पत्ति का स्वरूप क्या है? कारण का कार्यरूप में आजाना ही इसका स्वरूप है। जब कारण अपने कार्यरूप में उपस्थित हैं, तब क्या उन्हीं कारणों को उसी कार्य के रूप में पुनः उपस्थित होने की आवश्यकता रहजाती है? उत्तर स्पष्ट है, नहीं। जब कार्य विद्यमान है, तब प्रादुर्भूत के पुनः प्रादुर्भूत होने अथवा उत्पन्न के पुनः उत्पन्न होने का प्रश्न ही निराधार है। जब हम यह कहते हैं, कि 'अभिव्यक्ति' आत्मलाभ से पहले अपना अस्तित्व रखती है, या नहीं? तब उसका यही अर्थ समझा

जासकता है, कि 'कार्य' आत्मलाभ से पूर्व अपना अस्तित्व रखता है, या नहीं ? अभिप्राय यह है, कि कार्यरूप से अतिरिक्त 'अभिव्यक्ति' का कोई अस्तित्व नहीं है । यदि कार्य के आत्मलाभ से पहले कारणात्मना [कारणरूप में] हम उसका अस्तित्त्व स्वीकार करते हैं, तो कारणात्मना अभिव्यक्ति का भी अस्तित्त्व स्वीकृत होगया । कार्य के समान आत्म-लाभ से पूर्व उसके असद्रूप होने का प्रश्न ही नहीं उठता । यही बात उत्पत्ति के सम्बन्ध में समझनी चाहिये । इसमें उक्तप्रकार से किसी दोष की उद्भावना करना केवल शाब्दिक विवाद है । इससे वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता ।

**सत् कार्य का कारण भी सत्**—कार्य-कारणभाव की व्यवस्था का विवेचन करते हुए यहां तक यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, कि यह समस्त कार्य जगत् भावात्मक है, सद्रूप है, इसलिये इसका मूल उपादान-कारण भावरूप अथवा सद्रूप होना चाहिये । यह संभव नहीं होसकता, कि मूल उपादान अभावरूप हो, और उसका कार्य अथवा परिणाम भावरूप होजाय । न अभाव से भाव, और न भाव से अभाव के परिणाम की कल्पना की जासकती है । सांख्य के इस सिद्धान्त को भगवद्गीता में निम्नलिखित शब्दों से बहुत स्पष्टरूप में प्रकट किया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः [२, १६] ॥

असत् कभी भाव [सत्] नहीं होता, और सत् कभी अभाव [असत्] नहीं होता । तत्त्वदर्शी विद्वानों ने इसरूप में सत् और असत् की वास्तविकता को यथार्थरूप से समझा है । इससे निश्चित ही हम इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं, कि भावात्मक दृश्यादृश्य कार्य जगत् का मूल उपादान अभाव अथवा असत् नहीं होसकता । जड़रूप जगत् का मूल उपादान चेतन तत्त्व नहीं होसकता । परिणामशील जगत् का मूल उपादान अपरिणामी तत्त्व नहीं होसकता, तथा त्रिगुणात्मक जगत् का मूल उपादान अत्रिगुणात्मक तत्त्व संभव नहीं । इसप्रकार परिणामी त्रिगुणात्मक सत् कार्य से तद्रूप कारण का अस्तित्त्व स्पष्ट होता है ।

अब हमें यह देखना चाहिये, कि उस सद्रूप त्रिगुणात्मक मूल उपादान का आद्य कार्य क्या है ? अथवा यह कहिये, कि वह मूल उपादान जब सर्वप्रथम परिणत होने लगता है, तो उस परिणाम का विकार या स्वरूप क्या होता है ?

## प्रकृति का आद्यकार्य महत् अथवा बुद्धि—

उपर्युक्त 'सत्कारण तथा सत्कार्यवाद' प्रसंग से पहले हम लिख आये हैं, कि सांख्य में समस्त सर्ग अथवा विकार को अध्यात्म एवं अधिभूत के रूप में वर्णन किया गया है । इनमें से अध्यात्म प्रथम और अधिभूत अनन्तर प्रकट में आता है । सांख्यदृष्टि से अध्यात्म सृष्टि में तेरह करणों का समावेश है—बुद्धि, अहंकार, मन और दस बाह्य इन्द्रियां । इनके अनन्तर अधिभूत सर्ग का प्रारम्भ होता है । उसमें सबसे प्रथम तन्मात्र अस्तित्व में आते

हैं। त्रिगुणात्मक मूलतत्त्व, तन्मात्र के रूप में परिणत होते हैं। इनकी रचना होते ही सूक्ष्मशरीरों का संघटन होने लगता है, जो आत्माओं का सर्गकालीन निश्चित अधिवास है। इसके अनन्तर तन्मात्रों से स्थूलभूतों की रचना होती है। अथवा तन्मात्र स्थूलभूतों के रूप में परिणत होने लगते हैं। तब स्थूलदेहों की रचना होती है, और जड़ तथा चेतन समस्त जगत् पूर्णरूप से प्रकाश में आजाता है। स्थूलदेह की रचना में एक सैल [Amoeba=अमीबा] के प्राणि-देह से लेकर बड़े से बड़े संभाव्य देहों का समावेश समझना चाहिये। 'एतद्धि रामायणम्' के समान इतने में समस्त सर्ग समाया हुआ है। इसके आगे सर्ग का कोई अंश अवशेष नहीं रहता। अब यथाक्रम और यथाशक्य इनका विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

**प्रकृति का आद्यकार्य**—सांख्यदर्शन[1] में कपिल ने लिखा है, कि प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। अथवा प्रकृति[2] का आद्य कार्य महत् नामक तत्त्व है। इस प्रसंग में महत्तत्त्व को 'मनस्' भी बताया गया है, यह पद जिस धातु से बना है, उसका अर्थ है–अवबोधन, निश्चय अथवा अध्यवसाय। इससे यह अभिप्राय प्रकट होता है, कि प्रकृति का आद्यकार्य महत्तत्त्व, निश्चयात्मक अथवा अध्यवसायस्वरूप होना चाहिये। इसी कारण इस तत्त्व का अपर नाम 'बुद्धि' है।

केवल इतना कह देने से महत्तत्त्व अथवा बुद्धि के विषय में हमारे सन्मुख कुछ स्पष्ट अर्थावभास नहीं होता। यह एक बहुत गहन और रहस्यपूर्ण विषय है, कि बुद्धि की रचना किस प्रकार तथा किन तत्त्वों से होपाती है। बुद्धि का कार्य अथवा व्यापार क्या है? इसको 'पुरुष' प्रकरण के जीवात्म-प्रसंग [पृ० ६९–८० तथा ८८–८९] में हमने स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, और एक शब्द में यह कह दिया जाता है, कि 'अध्यवसाय' इसका व्यापार है। पर बुद्धि की रचना एक गंभीर रहस्य है।

आदिसर्गकाल में जब प्रलय की स्थिति का अवसान और सृष्टि का आरम्भ होने को होता है, उस समय सत्त्व-रजस्-तमस्रूप प्रकृति में चेतन नियन्ता की प्रेरणा से एक क्षोभ उत्पन्न होजाता है। अभी तक इसकी साम्य अवस्था थी। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनन्तानन्त सत्त्व रजस् तमस् मूलतत्त्व, महान शक्ति के पुञ्ज, परस्पर विलक्षण स्वभावयुक्त, जब तक किसीप्रकार के रूप में परिणत होने के लिये प्रवृत्तिरहित बने रहते हैं, यह उनकी साम्य अवस्था अथवा कारणरूप अवस्था है। अब चेतन-प्रेरणा से विक्षुब्ध होकर ये वैषम्य की ओर झुकते हैं। ये मूलकारण तत्त्व विकारोन्मुख हो उठते हैं। अब हमें देखना यह

---

१. सांख्यसूत्र, १।२६॥ यह सूत्र संख्या केवल हमारे द्वारा सम्पादित व व्याख्यात सांख्यसूत्रों में उपलब्ध होसकती है। यदि अन्य सम्पादित ग्रन्थों में देखना चाहें तो प्रथमाध्याय की हमारी निर्दिष्ट संख्या में ३५ जोड़कर उस संख्या पर किसी भी अन्य संस्करण में देख सकते हैं। १९ संख्या तक जोड़ने की आवश्यकता नहीं।

२. सांख्यसूत्र, १।३६॥

है, कि इनमें से सर्वप्रथम यह 'बुद्धि' तत्त्व क्यों और किसप्रकार उभर आता है? निश्चित ही यह ऐसी वस्तु नहीं, जिसे चित्र अथवा अन्य संकेतों के रूप में अंकित किया जासके, और इसप्रकार स्पष्टरूप में दिखाया जासके।

पहले हमें इस ओर ध्यान देना चाहिये, कि सत्त्व रजस् तमस् में विक्षोभ होने पर जब उनमें सर्गोन्मुख अथवा विकारोन्मुख प्रवृत्ति होती है, तब क्या उस विक्षोभ के तत्काल अनन्तर बुद्धि उभर आती है, अथवा विक्षोभ और बुद्धि-उभार के अन्तराल में और भी कुछ क्रम अनुक्रम रहता है? अतिप्राचीनकाल से लेकर पीछे तक के ऋषियों ने इस विषय पर जो प्रकाश डाला है, उसका दिग्दर्शन इसप्रकार है—कतिपय ऋषियों और आचार्यों ने इतना बताया है, कि तत्त्व-विक्षोभ और बुद्धि-उभार के अन्तराल में मूलतत्त्वों में अवश्य ऐसे परिवर्तन होते हैं, जिन्होंने कारणतत्त्वों की साम्य अवस्था को तो नहीं रहने दिया, अथवा यह कहिये कि वे साम्य अवस्था से आगे निकल आये हैं, पर अभी तक किसी निश्चित 'कार्य' या 'विकार' के रूप में नहीं उभर पाये। तत्त्वों की इस स्थिति को प्रकट करने के लिये अनेक आचार्यों ने भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। उनका कुछ संकेत इसप्रकार समझना चाहिये।

युक्तिदीपिका[1] के १०८ पृष्ठ पर एक पंक्ति इसप्रकार निर्दिष्ट है—

"केचिदाहुः—प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते ततो महानिति।"

कतिपय सांख्याचार्यों ने बताया है, प्रधान से एक अनिर्देश्यस्वरूप तत्त्वान्तर की उत्पत्ति होती है, उसके अनन्तर 'महान्' होता है। सत्त्व रजस् तमस् में विक्षोभ होने और महत्तत्त्व की उत्पत्ति के अन्तराल में मूल उपादान की एक ऐसी अवस्था का संकेत किया गया है, जिसके स्वरूप का 'इदमित्थं' निर्देश किया जाना शक्य नहीं। वस्तुतः यह प्रकृति की वही अवस्था है, जब उसमें क्षोभ होकर उसकी साम्य स्थिति तो नहीं रहती, पर एक निश्चित कार्य महत्तत्त्व अथवा बुद्धि की उत्पत्ति भी नहीं हो पाती। निरुक्त [१४।४] में इस अवस्था को 'प्रतिभा' मनुस्मृति [१।८], शतपथ ब्राह्मण [११।१।६।१], तैत्तिरीय ब्राह्मण [१।१।३।५], बृहदारण्यक उपनिषद् [१।२] तथा ऋग्वेद [१०।१२१।७,८] में 'आपस्' भगवद्गीता [७।४] में 'मनस्' एवं यजुर्वेद [२३।५४] के दयानन्द भाष्य में 'विद्युत्' नाम से प्रतिपादित किया गया है। यह एक ऐसी अवस्था है, जब मूलकारण किसी विशेष कार्य के रूप में परिणत नहीं हो पाता, इसलिये सांख्य में इसको कारणरूप के अन्तर्गत मान लिया गया है, तब कार्यरूप से उसका कोई विशेष नाम रक्खे जाने की आवश्यकता नहीं रहती। अन्य आचार्यों ने केवल व्यवहार के लिये विभिन्न पदों द्वारा उस अवस्था का अभिलापन किया है। उसके अनन्तर जो विशेष 'कार्य' प्रकट रूप में

१. सांख्यसप्तति की एक प्राचीन व्याख्या, कलकत्ता से ईसवी सन् १९३८ में प्रकाशित।

आता है। वही मूल कारण का आद्य कार्य समझा जाता है।

इस वर्णन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि मूलतत्त्व सत्त्व रजस् तमस् में विक्षोभ होने पर उनमें कुछ परिवर्तन होते हैं, जिनका सरलता से निर्देश किया जाना शक्य नहीं। उन अलक्षित विशिष्ट परिवर्तनों के फलस्वरूप वहां एक 'महत्' नामक तत्त्व उभर आता है। तत्त्व के साथ उसका यह नाम भी उभर आया है, ऐसी बात नहीं। नाम तो उसके विशेष व्यापार आदि के अनुसार बाद में हमने रक्खा है। चाहें, तो उसका नाम और कुछ रक्खा जासकता है। इसी कारण सांख्य तथा अन्य साहित्य में अनेक नामों से उसका व्यवहार हुआ है। जिनमें कुछ ये हैं–मनस्, मति, ब्रह्मा, बुद्धि, ख्याति, प्रज्ञा, स्मृति, उपलब्धि, विष्णु, जिष्णु, मनु, महान् इत्यादि।

**बुद्धिरचना में सत्त्वाधिक्य**—सत्त्व रजस् तमस् मूलतत्त्वों का स्वरूप क्या है? इसका यथाशक्य विवेचन 'प्रकृति' नामक प्रकरण [पृ० १५२–१६०] में कर दिया गया है। सांख्य के विचारानुसार 'बुद्धि' की रचना में 'सत्त्व' नामक तत्त्वों का अधिक उपयोग होता है। यद्यपि जगत् में प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है, निर्माण में तीनों गुणों का न्यूनाधिक उपयोग वस्तु की विलक्षणता का एक मुख्य कारण माना गया है। इसलिये कोई वस्तु किसी एकमात्र विशुद्ध गुण से निर्मित नहीं हो सकती। वस्तुत: गुणों का विशुद्धरूप इनकी कारण अवस्था अथवा साम्य अवस्था है। जगत् के निर्माण में इनका अन्योन्यमिथुन होना अनिवार्य है। इसलिये 'बुद्धि' तत्त्व की रचना में यद्यपि तीनों गुणों का सहयोग रहता है. पर यहां सत्त्व गुणों का अधिकाधिक उपयोग होता है, रजस् और तमस् का अल्पतर अल्पतम। यह वस्तु-रचना की विलक्षणता कही जासकती है। इस बात का हिसाब लगा सकना अत्यन्त कठिन है, प्रत्युत संभव की सीमा से बाहर समझना चाहिये, कि एक 'बुद्धि-तत्त्व' की रचना में कितने सत्त्व और कितने रजस् तमस् का उपयोग होता है। आधुनिक विज्ञान इस दिशा में कितनी प्रगति कर सका है, यह हमारी जानकारी से परे है। इसको जानने और समझने का हमने जितना यत्न किया है, उससे इसी परिणाम पर पहुँचा जासकता है, कि आधुनिक विज्ञान अभी तक इस दिशा में मौन है। आधिभौतिक रचना के विश्लेषण में आधुनिक विज्ञान ने चमत्कारपूर्ण परिणाम प्रकट किये हैं, पर अध्यात्म दिशा में अभी वह इतनी आदरणीय प्रगति नहीं कर पाया है। समस्त रसायन और भौतिकीशास्त्र की विषयसीमा के अन्तर्गत अभी यह नहीं आया।

**बुद्धि आद्यकार्य क्यों**—बुद्धि की रचना के सम्बन्ध में हम इतना जान सके हैं, कि सत्त्वप्रधान त्रिगुण कतिपय परिवर्तनों के अनन्तर 'बुद्धि'रूप में परिणत होजाते हैं। अव्यक्त मूल कारण सबसे प्रथम यहां व्यक्त अवस्था में आते हैं। मूलकारण की अव्यक्त अवस्था वह है, जहां उसमें किसी प्रकार के वैषम्य का प्रादुर्भाव नहीं होपाता। वैषम्य की ओर मूल कारण की प्रवृत्ति होने पर उसका सर्वप्रथम परिणाम 'बुद्धि' है। ऐसा क्यों? रचना में सूक्ष्म तत्त्व स्थूल की ओर आता है, ऐसा वस्तुस्वभाव है। हम

इसमें कोई नियमनियोग नहीं कर सकते, केवल वस्तुस्थिति की व्याख्या कर सकते हैं। अव्यक्त प्रकृति जब रचना की ओर प्रवृत्तिशील होती है, तब वह व्यक्तरूप में आजाती है। जितना कार्यमात्र व्यक्त पदार्थ है, उस सबमें बुद्धि-तत्त्व अति-सूक्ष्म है। रचना जितनी आगे को बढ़ती जाती है, आने वाले कार्य अधिकाधिक स्थूलता की ओर अग्रसर रहते हैं। फिर भी अध्यात्म की रचना इतनी सूक्ष्म अवस्था तक सीमित रहती है, कि समस्त अध्यात्मसृष्टि अतीन्द्रियता की सीमा को पार नहीं कर पाती। इसी कारण अध्यात्म की सृष्टि अधिभूत की सृष्टि से पहले होनो आवश्यक है। अध्यात्मसृष्टि में तेरह करणों का समावेश है, वे सब अतीन्द्रिय रहते हैं। उनमें भी सबकी अपेक्षा बुद्धि अतिसूक्ष्म है। व्यक्त जगत् में इससे सूक्ष्म अथवा इसके बराबर सूक्ष्म अन्य कोई तत्त्व नहीं। इसलिये अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आने वाला यह सर्वप्रथम तत्त्व है। यही इसके आद्यकार्य माने जाने का मुख्य कारण है। संभवतः इसी कारण इसको 'महत्' नाम दिया गया है।

इस वस्तुस्थिति की व्याख्या के रूप में हम एक बात और कह सकते हैं। यह समस्त रचना आत्मा के प्रयोजन को पूरा करने के लिये है, ऐसा सांख्य का मत है। आत्मा का प्रयोजन है—भोग और अपवर्ग। जो वस्तु आत्मा के जितना अधिक समीप संपर्क में रहकर भोगादि को संपन्न करती है, रचना के समय वह उसी क्रम से प्रादुर्भाव में आती है। बुद्धितत्त्व अन्य सबकी अपेक्षा आत्मा के अधिकाधिक समीप संपर्क में रह-कर उसके भोगादि को निष्पन्न करता है, इसलिये अव्यक्त से व्यक्त की रचना के समय सबसे पहला कार्य 'बुद्धि' होना चाहिये। सांख्य में तत्त्वों का जो उत्पत्तिक्रम निर्दिष्ट किया गया है, उसे इसी नियम पर आधारित कहा जासकता है। अथवा यह कहना चाहिये, कि वस्तु-स्वभाव के अनुसार तत्त्व-रचना में जो क्रम प्राप्त है, उसको सांख्य ने यथार्थरूप में प्रस्तुत कर दिया है। अब हमारे सन्मुख यह स्पष्ट हो जाता है, कि बुद्धि को आद्यकार्य क्यों माना गया है।

**आदिसृष्टि में अनन्त बुद्धि रचना**—सत्त्व-प्रधान त्रिगुण का आद्य परिणाम बुद्धि है, यह ज़ान लेने पर उसके सम्बन्ध में कतिपय अन्य बातें ज्ञातव्य शेष रह जाती हैं। सबसे प्रथम क्या एक ही बुद्धि उत्पन्न होती है, अथवा अनेक ? अनेक होने पर क्या उनकी कोई सीमित संख्या कही जासकती हैं ? फिर क्या समस्त बुद्धि-तत्त्व आदि सर्ग में ही उत्पन्न होजाते हैं, या आवश्यकतानुसार कालान्तर में भी यदा कदा उत्पन्न होते रहते हैं ?

सांख्य की दृष्टि से आत्माओं के अनुसार बुद्धि-सर्ग होता है। आत्मा अनन्त हैं, आदिसर्ग में बुद्धि भी अनन्त उत्पन्न होजाती हैं। प्रत्येक आत्मा के साथ एक बुद्धि-तत्त्व का सहयोग हो जाना आवश्यक है। प्रलय के अनन्तर जब जो आत्मा सर्वप्रथम शरीर बन्धन में आता है, उसके सहयोग के लिये, सबसे पहले निर्मित, बुद्धि उपस्थित रहती

है। आदिसर्ग में अथवा जब भी प्रथम शरीरबन्धन में आने पर आत्मा के साथ जिस बुद्धि का सहयोग होजाता है, यह गठबन्धन फिर अगला प्रलयकाल आने तक छूटता नहीं। केवल एक अवस्था में पहले भी छूट जाता है, यदि किसी आत्मा को स्वरूप का साक्षात्कार होजाय, अर्थात् प्रकृति-पुरुष के विवेक का साक्षात् ज्ञान होजाय। आत्मा के साथ बुद्धि का गठबन्धन आत्मा के भोगापवर्ग को निष्पन्न करने के लिये होता है। आत्म-साक्षात्कार होने पर यह लक्ष्य पूरा होजाता है, इसलिये फिर उस गठबन्धन की आवश्यकता नहीं रहती। आत्मा मुक्त हो जाता है, और प्राकृत नियमों के अनुसार बुद्धि-तत्त्व अपने कारणों में लीन होजाता है, अथवा अन्य किसी आत्मा के सहयोग के लिये प्रतीक्षा कर सकता है।

आदिसर्ग में अनन्त आत्माओं के साथ सहयोग के लिये जो अनन्त बुद्धितत्त्वों के उत्पन्न होने की बात कही गई, वह ऐसी नहीं, जिसकी कोई नियमित गणना व हिसाब प्रस्तुत किया जासके। न इसकी आवश्यकता है, और न यह शक्य है। उस वस्तुस्थिति के अभिलापन के लिये हम केवल 'अनन्त' पद का प्रयोग करके अपना मार्ग प्रशस्त कर लेते हैं। आत्माओं के साथ बुद्धि-तत्त्व के सहयोग की व्यवस्था प्राकृत नियमों के अनुसार चेतन नियन्ता के द्वारा होती रहती है। इसमें अल्पज्ञ अल्पशक्ति जीवात्म-चेतन का कोई हाथ नहीं रहता। यह ऐसी व्यवस्था है, जिसमें न कोई कभी व्यतिक्रम होसकता है, और न किसी प्रकार की न्यूनाधिकता।

**बुद्धितत्त्वों की रचना समान**—अनन्त बुद्धि-तत्त्वों की रचना समान कारणों से होती है। इसलिये रचना की दृष्टि से प्रत्येक बुद्धि-तत्त्व दूसरे से किसी प्रकार की विलक्षणता नहीं रखता। जितने और जिसप्रकार के उपादान तत्त्वों से एक बुद्धितत्त्व की रचना होती है, उतने और वैसे ही उपादान तत्त्वों से समस्त बुद्धितत्त्वों का निर्माण होता है। आधुनिक आधिभौतिक विज्ञान ने मूल उपादानतत्त्वों के सम्बन्ध में जो विवेचन प्रस्तुत किये हैं, उनके अनुसार विश्व-ब्रह्माण्ड के मूल उपादानभूत तत्त्व तीन प्रकार के हैं—प्रोटोन्, इलैक्ट्रॉन्, न्यूट्रॉन्। इनकी तुलना में सांख्यदृष्टि से यथाक्रम सत्त्व, रजस्, तमस् को प्रस्तुत किया जासकता है। इसका कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन हमने 'प्रकृति' नामक प्रकरण [पृ० २४५-५५] में किया है। सत्त्व-प्रधान मूलतत्त्वों से बुद्धि की रचना होती है, इसका अर्थ यह निकल आता है, प्रोटोन् जैसे परिणत हुए तत्त्व बुद्धि के उपादान होते हैं। यहां इस बात को भूलना न चाहिये कि शेष दो प्रकार के तत्त्वों का सहयोग रचना में आवश्यक रहता है, क्योंकि कोई निर्माण त्रिगुण की अन्योन्यमिथुन-वृत्तिता के विना संभव नहीं होसकता [गीता, १८।४०]। आधुनिक विज्ञान ने कुछ इसप्रकार के परीक्षण प्रस्तुत किये हैं, कि विशेष प्रोटोन तत्त्वों से बुद्धि [चेतना] का प्रादुर्भाव होजाता है। इनकी युक्तता अथवा अयुक्तता का परिचय हमने यथाप्रसंग 'पुरुष' और 'प्रकृति' नामक प्रकरणों में देने का यत्न किया है, पर बुद्धि [चेतना] की रचना का जहां तक प्रश्न है,

उसके कुछ और थोड़ा स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

ऊपर की पंक्तियों में हमने 'बुद्धि' के आगे कोष्ठक में 'चेतना' पद दिया है। यह आधुनिक विज्ञान के निर्देशानुसार दिया गया है। वस्तुस्थिति यह है, कि चेतना अथवा चेतनतत्त्व बुद्धि से सर्वथा अतिरिक्त है। हम इस बात को अभी देखते व समझते चले आरहे हैं, कि 'बुद्धि' एक त्रिगुणात्मक तत्त्व है। पर चेतनतत्त्व अत्रिगुणात्मक है। इस बात को प्रकट किया जाचुका है, कि बुद्धितत्त्व, चेतन आत्मा के अधिकाधिक समीप संपर्क में रहकर अपने वृति अथवा व्यापार को प्रस्तुत करता है। यह व्यापार-चमत्कार यद्यपि बुद्धि का है, और उसी के नाम पर व्यवहृत होता है, पर वस्तुतः इसके पीछे जो जादूगर [चेतन आत्मा] बैठा है, समस्त चमत्कार की डोर उसी के हाथ में रहती है। बुद्धि अपने व्यापार का सामर्थ्य चेतन के सहयोग से प्राप्त कर पाती है। सांख्य में इस प्रकार के स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं, जहां यह प्रतिपादन किया गया है, कि चेतन के सहयोग से बुद्धि अपने व्यापार में समर्थ होती है, और उस दशा में यह चेतन के समान प्रतिभासित हुई समझी जाती है[1]। बुद्धि की रचना में कुछ ऐसी विशेपता है, कि स्वभावतः उसका रुझान चेतना की ओर रहता है। चेतना के साथ सीधा सहयोग प्राप्त कर वह अपने व्यापारकाल में चेतना जैसी प्रतिभासित होती है। जब यह स्थिति नहीं रहती, तब उसके वास्तविक जड़रूप का स्पष्ट अनुमान किया जासकता है। प्रतीत यह होता है, कि आधुनिक विज्ञान ने 'बुद्धि' की इसी स्थिति को 'चेतना' का वास्तविक स्वरूप समझा है, और इस भ्रान्तिपूर्ण आधार पर कदाचित् वह इस परिणाम तक पहुंचा है, कि चेतन अचेतन के रूप में तथा अचेतन चेतन के रूप में परिणत अथवा परिवर्तित किया जासकता है।

आधुनिक विज्ञान के चेतनाविषयक इन परीक्षणों को यदि त्रिगुणात्मक बुद्धि की रचना तक सीमित रक्खा जाय, तो वस्तुतः बुद्धि की रचना की दिशा में इससे अच्छा प्रकाश प्राप्त किया जासकता है। उसके आधार पर हमें ये संकेत मिलते हैं कि विशेष प्रकार के प्रोटीन तत्त्व अपने सहयोगियों से आवश्यक सहयोग प्राप्त कर बुद्धि-तत्त्व के निर्माण में समर्थ होते हैं। पर वस्तुतः यह एक कल्पनामात्र है, केवल तुकबन्दी। प्रोटोन्

---

१ सांख्यविषयक प्रसंगों में कपिल के शिष्य आसुरि के नाम से एक श्लोक उद्धृत हुआ उपलब्ध होता है—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

इसी आशय का एक श्लोक विन्ध्यवासी का उपलब्ध होता है—

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा॥

तथा सांख्यसूत्र, २।३५,३६ और ४५,४६॥

मूलतत्त्व और प्रोटीन पदार्थ का कोई साम्य नहीं है। भौतिक देहरचना में प्रोटीन तत्त्वों का अनिवार्य सहयोग है; ऐसी स्थिति में जैसे ही देहरचना पूर्ण होती है, उसमें चेतना के लक्षण प्रस्फुटित होजाते हैं। भ्रान्ति से परीक्षणकर्त्ता समझता है, कि ये प्रोटीन तत्त्व ही चेतना को उभार लाये हैं। वस्तुतः भौतिक देहरचना पूर्ण होते ही चेतना के वहां उपस्थित रहने के चिह्न स्पष्ट हो आते हैं, चेतना तो प्राकृत-व्यवस्था के अनुसार पहले ही विद्यमान रहती है। बुद्धि की रचना पर परीक्षणों की इस स्थिति से वास्तविकरूप में कोई प्रकाश नहीं पड़ता। सांख्यभावना के अनुसार हम केवल इतना कहसकते हैं, कि मूल में समस्त बुद्धि-तत्त्वों की निर्माण-सामग्री सर्वथा समान होती है। फलतः रचना की दृष्टि से प्रत्येक बुद्धितत्त्व परस्पर किसी प्रकार की विलक्षणता नहीं रखता, और अपने आरम्भकाल से लगाकर जब तक वह आत्मा के संपर्क में बना रहता है, उसके मौलिक स्वरूप में किसी प्रकार के परिवर्तन की संभावना नहीं रहती[1]।

**बुद्धि की समानता में व्यवहार्य बुद्धिभेद क्यों**—यदि बुद्धि की रचना में परस्पर किसी प्रकार की विलक्षणता नहीं रहती, तो शास्त्र और लोक दोनों में उसकी मन्दता, तीव्रता आदि, सात्त्विक राजस तामस [गीता, १८।३०-३२] आदि मलिनता स्वच्छता आदि तथा अन्य प्रकार की विषमताओं को बताये जाने का प्रवाद क्यों है? इस सब व्यवहार से तो यही स्पष्ट होता है, कि बुद्धि की रचना में विलक्षणता अवश्य रहती है, और समय-समय पर उसमें विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों की सम्भावना रहती है। मन्दबुद्धि व्यक्ति समय पाकर उपायान्तरों से तीव्रबुद्धि होते देखे जाते हैं; तथा जो एक समय तीव्रबुद्धि हैं, उनकी वही अवस्था सदा रहती नहीं देखी जाती। बुद्धि की मलिनता को दूर करने के लिये शास्त्र में यम नियम तथा शम दम आदि उपायों का उल्लेख किया गया है। इससे बुद्धि-मात्र की समान रचना तथा आत्मा के साथ समस्त संपर्क काल में एक सा बना रहना निर्बाधरूप से स्वीकार किया जाना कठिन है।

इस दिशा में बुद्धि का विवेचन प्रस्तुत होने पर यद्यपि हम उक्त परिणाम पर पहुँचते हैं, परन्तु बुद्धि के नाम पर व्यवहृत होने वाली ये समस्त विलक्षणता वस्तुतः उसके वातावरण पर निर्भर करती हैं। जिस वातावरण में रहकर अथवा आवेष्टित होकर बुद्धि को अपना व्यापार कार्य करना होता है, उसपर बुद्धिविषयक समस्त उक्त व्यव-

---

१. वार्षगण्य आचार्य का एक सन्दर्भ है—

'तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाशः। स तु द्विविधः—आसर्गप्रलयात् तत्त्वानाम्, किञ्चित्कालान्तरावस्थानादितरेषाम्' इति।

किसी भी व्यक्त पदार्थ का अपने कारण में लीन हो जाना, उसका विनाश कहा जाता है। वह दो प्रकार का है—सर्ग से प्रलय पर्यन्त बने रहना तत्त्वों का, और कुछ काल तक अवस्थित रहना अन्य पदार्थों का। बुद्धि आदि तत्त्व सर्ग से प्रलय पर्यन्त अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं, प्रलय आने पर ही उनका अपने कारणों में विलय होता है।

हार आधारित हैं। आत्मा के भोग आदि को निष्पन्न करने के लिये बुद्धि का एकमात्र क्षेत्र स्थूलशरीर है। आत्मा के समस्त भोग व अपवर्ग स्थूलशरीर के द्वारा सम्पन्न हो पाते हैं। स्थूलशरीर की रचना बुद्धि के अपने व्यापार को पूरा करने के लिये अनुकूल अथवा प्रतिकूल वातावरण है। शरीर की रचना बहुत रहस्यपूर्ण है, पर मानव ने इसकी पूरी जानकारी प्राप्त करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है, और वह अपने प्रयत्न में पर्याप्त सीमा तक सफल हुआ है, उसके अनुसार मानवशरीर में मस्तिष्क तथा अनेक ग्रन्थियों की इसप्रकार की रचना है, जो बुद्धि के कार्य में अनुकूल अथवा प्रतिकूल सहयोग दिया करती हैं। मस्तिष्क बुद्धि का निवास स्थान है। मस्तिष्क की अनुकूल अथवा प्रतिकूल रचना बुद्धि के तीव्र मन्द तथा स्वच्छ मलिन व्यापार पर गहरा प्रभाव रखती है। मस्तिष्क की रचना आधिभौतिक है, उसमें उपादानतत्त्वों की विलक्षणता से विविध प्रकार की रचना सर्वथा संभव है। उपादान की विलक्षणता में अपने स्वरूपवैलक्षण्य के साथ आत्मा के कुशला-कुशल कर्म भी निमित्त हुआ करते हैं, ऐसी मर्यादा शास्त्र ने बताई है।

मस्तिष्क के अनन्तर शरीर में कुछ ऐसी ग्रन्थियां हैं, जिनका निर्माण यहां इसी कार्य के लिये हुआ है, कि वे बुद्धि के व्यापार में सहयोग दें। उनमें सर्वश्रेष्ठ भाग्यग्रन्थि अथवा ज्ञानग्रन्थि है। इसको आधुनिक चिकित्सा अथवा शारीरशास्त्र में पिट्चुटरी बॉडी [Pituitary Gland] कहा जाता है। नासिका के मूलभाग से ऊपर दोनों ओर की भोंहों के बीच में कुछ पीछे की ओर हटकर इस ग्रन्थि का स्थान है। यह शरीर के अन्दर इस प्रकार के रसों का निर्माण करती है, जो बुद्धि के कार्य में पूरा सहयोग देते हैं। जिन व्यक्तियों में स्वतः आधिभौतिक रचना के अनुसार वह ग्रन्थि अपने रसों का उत्तम रीति पर निर्माण करती है, वे व्यक्ति समाज व राष्ट्र के नेता होते हैं, उनका बुद्धि-बल अकूत रहता है, बुद्धि के अपने कार्य के लिये यह वातावरण अत्यन्त अनुकूल होता है। अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ऐसे व्यक्ति किसी न किसी दिशा में बुद्धि-बल की आश्चर्यजनक सीमा तक पहुंचते हैं। बड़े-बड़े दार्शनिक वैज्ञानिक गम्भीर कूटनीतिज्ञ क्रान्तदर्शी ऋषि मुनि ऐसे ही व्यक्तियों में से होते हैं।

इस ग्रन्थि के रसनिर्माण की न्यूनाधिकता व अधमोत्तमता के आधार पर मानव में बुद्धि-कार्य की विलक्षणता देखी जाती है। आधिभौतिक रचना के अनुसार यदि यह ग्रन्थि विकृत है, अपने रसों का निर्माण करने में असमर्थ है, तो वहां बुद्धि के व्यापार के लिये अनुकूल वातावरण नहीं रहता, ऐसे व्यक्ति समाज में बुद्धि-हीन झल्ले व पागल समझे जाते हैं। चिकित्साशास्त्र में विकृतग्रन्थि की चिकित्सा का विधान है। औषधोपचार से विकृतग्रन्थि की रसनिर्माणशक्ति को यथाशक्य सुधारा व उभारा जा सकता है। इसके लिये आधुनिक पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र में सूचीवेध चिकित्सा का भी प्रचलन हुआ है। साधारण रसनिर्माण की अवस्था में कुछ यौगिक क्रियाओं से भी इसके रसनिर्माण की

शक्ति को अधिक उत्तेजित किया जा सकता है। योगशास्त्र में इस ग्रन्थि के स्थान में ध्यान करने से इसके उत्तेजित हो जाने का संकेत मिलता है। यह ग्रन्थि शरीर की विविध शक्तियों को सहयोग देने एवं इन्हें कार्यक्षम बनाने के लिये लगभग आठ प्रकार के रसों का निर्माण करती है। हम देखते हैं, कि बुद्धि के अनुकूल प्रतिकूल कार्यों में इस ग्रन्थि का महान योग रहता है। बुद्धि की रचना सर्वत्र समान होने पर भी उसके तीव्र मन्द व स्वच्छ मलिन आदि विलक्षण व्यवहार में यह वातावरण मुख्य कारण है।

इसके अनन्तर एक और ग्रन्थि है, जो इस दिशा में पर्याप्त कार्य करती है। इसको नाम 'चुल्लिकाग्रन्थि' है। आधुनिक शारीरशास्त्र में इसको 'थाईराइड ग्लेन्ड्ज़' [Thyroid Glands] कहते हैं। यह पहली ग्रन्थिके द्वारा नियन्त्रित रहती है। इसका स्थान गले के निचले भाग में गर्दन की हंसली हड्डी के सामने के मध्यभाग से थोड़ा पीछे हटकर है। ये दो ग्रन्थि चूल्हे की ईंटों की तरह बराबर रक्खी रहती हैं। संस्कृत में इनका उपर्युक्त नाम इसी आधार पर है। यह ग्रन्थि शरीर में इसप्रकार के रसों का निर्माण करती है, जिनसे मानव की प्रतिभा प्रकट में आती है, और इस दिशा में यह बुद्धि के लिये अनुकूल सहयोग देती है। जब यह अपने रसों का ठीक निर्माण नहीं करती, उस समय व्यक्ति के चेहरे पर अज्ञानता की झलक स्पष्ट प्रतीत होती है। होठ लटके और मोटे से दीखते हैं, मुंह हर समय खुला हुआ सा रहता है, जीभ होठों के ऊपर तक आई रहती है, चलते समय टांगे लचका सा खाती हैं, पैर भूमि पर डगमग से पड़ते हैं। आकृति पर बुद्धि-हीनता व अज्ञानता की स्पष्ट छाया प्रतिभासित होती है। जब इस ग्रन्थि की रचना में आयसीय भागों की न्यूनता होजाती है, तो इसे अपने कार्य के लिये अत्यधिक श्रम करना पड़ता है, फिर भी वह कार्य ठीक नहीं होता, और इस श्रम का परिणाम यह होता है, कि ग्रन्थि फूलने लगती है, इसे घेघा या गलगण्ड रोग कहते हैं। अधिक फूल जाने पर यह दुश्चिकित्स्य रोग है।

इस विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं, कि समान सामग्री के आधार पर बुद्धि-तत्त्व की समान रचना में कोई बाधा नहीं समझनी चाहिये। बुद्धि की व्यवहारगत विलक्षणता उसके वातावरण की विभिन्नता पर आश्रित रहती है। संक्षेप में यह कहा जासकता है, कि उक्त ग्रन्थियां शरीर में जिन रसों का निर्माण करती हैं, वे मस्तिष्क के लिये अनुकूल जीवनोपयोगी उद्दीपक पुष्कल खाद्य सामग्री को प्रस्तुत करते हैं। उद्दीप्त मस्तिष्क सदा बुद्धि को अपने कार्य में सचेत रहने का अवसर देता है। मस्तिष्क बुद्धि का आवास है।

**बुद्धिरचना में सत्त्वाधिक्य क्यों**—बुद्धि की रचना को समझने के लिये हमने यथाशक्य प्रयत्न किया, इसपर अधिक बल इसीलिये दिया गया है, कि यदि इस विवेचन से हमें इस सम्बन्ध में थोड़ा भी आभास मिल सका, तो हम आगे की तत्त्व-रचना को समझने में अधिक सुविधा का अनुभव करेंगे। हमने यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, कि बुद्धि-तत्त्व को क्यों आद्य-कार्य माना गया है, अथवा यही आद्य-कार्य क्यों होसकता

है। इसके साथ इतनी बात और जाने रखना चाहिये, कि सत्त्व ज्ञान का मुख्य साधन है। सत्त्व के उत्कर्ष से व्यक्ति आत्म-ज्ञान की स्थिति तक पहुंच पाता है। इसलिये सर्वोत्कृष्ट सत्त्व-प्रधान तत्त्व ही चेतन आत्मा के अधिकाधिक समीप संपर्क में आसकता है। इस-प्रकार के संपर्क के लिये समस्त व्यक्त की अपेक्षा उसका सूक्ष्मतम होना भी आवश्यक है। अन्त तक ज्ञान के जितने साधन हैं, उनमें अपेक्षाकृत सत्त्व की उत्कृष्टता बनी रहती है। यदि हम बाह्य इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक इनकी रचना पर ध्यान दें, तो इनमें अन्य तत्त्वों की अपेक्षा सत्त्व की उत्कृष्टता होने पर भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक सत्त्वोत्कर्ष का अनुमान किया जासकता है। इसी के अनुसार अब हम बुद्धि के अनन्तर होने वाले कार्य के विवरण पर आते हैं।

**बुद्धि के अनन्तर अहङ्कार**—सांख्यदर्शन में लिखा है, कि बुद्धि अथवा महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है[1]। दूसरी जगह बताया है, कि बुद्धि के अनन्तर होने वाला कार्य अहंकार है[2]। चाहे बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति कहें, अथवा बुद्धि के अनन्तर, इन दोनों प्रकार के कथनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जिन उपादानतत्त्वों से बुद्धि का आरम्भ होता है, उनमें यत्किंचित् रजस्तत्त्व की विशेषता होने पर 'अहंकार' की उत्पत्ति होती है। बुद्धि और अहंकार के उपादानतत्त्वों में इतना ही अन्तर रहता है। कतिपय दार्शनिकों ने इस अन्तर को नगण्य सा समझकर ये विचार प्रकट किये हैं, कि वस्तुतः बुद्धि और अहंकारतत्त्व भिन्न नहीं हैं, यह एक ही तत्त्व है। इसको दर्शन की परिभाषा में 'अन्तःकरण' कहा जाता है। वह जब निश्चयात्मक ज्ञान अथवा अध्यवसायवृत्ति का साधन बनता है, तब उसे 'बुद्धि' कहा जाता है, और जब वही अन्तःकरण अभिमानवृत्ति का साधन बनता है, तब उसी का नाम 'अहंकार' होजाता है। इन दार्शनिकों के विचार में अन्तःकरण एक है, केवल वृत्तिभेद से उसी के नाम पृथक् होजाते हैं। इसप्रकार वे विद्वान् मन को भी—जिसका विवरण आगे है—पृथक् अन्तःकरण नहीं मानते। संकल्पविकल्पात्मक वृत्ति का साधन होने पर उसी अन्तःकरण का नाम 'मन' रख दिया जाता है।

महर्षि कपिल ने इस विचार को संगत नहीं माना, अथवा उसके विचार के अनुसार यह धारणा कसौटी पर खरी नहीं उतरती। उसका कहना है, कि वृत्तिभेद का कोई मूल आधार अथवा नियामक होना चाहिये। करणों की वृत्ति में एक व्यवस्था देखी जाती है, जिसके अनुसार एक करण की अनेक वृत्ति मानना व्यवस्था के विपरीत जाता है। इस व्यवस्था को हम बाह्य करणों में स्पष्ट रीति पर देख सकते हैं। श्रोत्र केवल शब्द का ग्रहण

---

१—'महतोऽहंकारः' सांख्यसूत्र, १।२६॥

२—'चरमोऽहंकारः' सांख्यसूत्र, १।३७॥ यह सूत्रसंख्यानिर्देश केवल हमारे संपादित सांख्यदर्शन में होगा। इसमें ३५ जोड़कर अन्य संस्करणों में भी देखा जासकता है। हमने प्रथमाध्याय के २० से ५४ तक के ३५ प्रक्षिप्त सूत्रों को पृथक् कर दिया है।

करता है, स्पर्श आदि का नहीं। त्वक् केवल स्पर्श का ग्रहण करती है, अन्य शब्द आदि का नहीं। इसीप्रकार चक्षु रूप का, रसना रस का और घ्राण गन्ध का ग्रहण करती है। यहां प्रत्येक बाह्यकरण के विषयग्रहण की वृत्ति व्यवस्थित है, अन्य इन्द्रिय से अन्य विषय का ग्रहण संभव नहीं। अब बाह्यकरण से अन्तःकरण पर आईये। प्रत्येक अन्तःकरण यद्यपि बाह्य करणों से गृहीत समस्त विषयों के सम्बन्ध में अपना व्यापार प्रस्तुत करता है, पर उसका जितना व्यापार या जो वृत्ति है, वह व्यवस्थित है। बाह्यकरणों के साथ जिसका सीधा संपर्क है, वह अन्तःकरण 'मन' है। यद्यपि बाह्यकरणों से गृहीत समस्त विषयों के सम्बन्ध में यह अपनी संकल्पविकल्पात्मक वृत्ति को प्रस्तुत करता है, पर बाह्य विषय को ग्रहण करना मन की वृत्ति नहीं, इसकी वृत्ति तो केवल संकल्पविकल्पात्मक है। इसलिये बाह्येन्द्रिय से गृहीत प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में यह केवल अपनी नियतवृत्ति का उद्भावन करता है। इससे यह निर्धारित होता है, कि इसकी अपनी एक वृत्ति व्यवस्थित है। इसीप्रकार 'अभिमान' वृत्ति अहंकार की और 'अध्यवसाय' बुद्धि की व्यवस्थित वृत्ति समझनी चाहिये। इसप्रकार सांख्य की दृष्टि से वृत्तिभेद की व्यवस्था बाह्यकरणों के समान अन्तःकरणों के भेद को निश्चित करती है। इसके अनुसार वृत्तिभेद का कारण करण भेद ही कहा जासकता है। फलतः अहंकारतत्त्व बुद्धितत्त्व से अतिरिक्त मानाजाना चाहिये। अहंकार की रचना कुछ रजस्तत्त्वों की विशेषता के साथ उसी उपादानसामग्री से होजाती है, जिसका उपयोग बुद्धितत्त्व की रचना में हुआ है। उतने रजस्तत्त्वों की विशेषता इसको बुद्धि से अतिरिक्त तत्त्व के रूप में ला खड़ा करती है।

अन्तःकरण को एक माने जाने की कल्पना के समान बाह्यकरण के सम्बन्ध में भी इसप्रकार के संकेत उपलब्ध होते हैं, जहां उसके एक माने जाने की कल्पना की गई है। ये संकेत सांख्यदर्शन [२।२४] और न्यायदर्शन [३।१।५२) दोनों में विद्यमान हैं। चाहे यह किन्हीं आचार्यों की मान्यता हो, अथवा सूत्रकारों ने अर्थ की स्पष्टता के लिये पूर्वपक्ष रूप में स्वयं इस वाद की कल्पना करली हो, पर यह निश्चित है, कि इसप्रकार के विचार सन्मुख अवश्य आये। उनका समाधान वृत्ति-व्यवस्था के आधार पर किया गया है।

बुद्धि की तरह समस्त अहंकार-तत्त्वों की रचना भी समानसामग्री से होती है। इसलिये रचना की दृष्टि से अनन्तानन्त अहंकारतत्त्व परस्पर सर्वथा समान होते हैं। विभिन्न व्यक्तियों में इसकी न्यूनाधिकता अथवा मन्दोत्कटता का उद्भावन केवल वातावरण पर आश्रित होता है। शारीरिक रचना, प्रवृत्तियों का झुकाव, आहार व्यवहार आदि की विभिन्नताओं के कारण हम अहंकार की स्थिति में विलक्षणताओं का आभास पाते हैं। वैसे मूलरचना और स्वरूप में एक दूसरे से किसीप्रकार की विलक्षणता नहीं रहती।

**अहंकार से मन, इन्द्रियां तथा तन्मात्र**—सांख्यदर्शन में बताया है, कि[1] 'अहंकार से एक आन्तर इन्द्रिय 'मन', दस बाह्य इन्द्रिय 'श्रोत्र' आदि तथा तन्मात्रों की उत्पत्ति होती

---

**१—सांख्यसूत्र, १।२६॥ तथा १।२८॥ और २।१७॥**

है। यह उत्पत्ति अहंकार से कही जाय अथवा अहंकार के अनन्तर, इससे वस्तुस्थिति में कोई भेद नहीं आता। अहंकार और मन आदि के कारणकार्यभाव अथवा उपादानोपादेय-भाव के आधार पर अहंकार के तीन भेदों का सांख्यग्रन्थों में उल्लेख पाया जाता है। इस दृष्टि से अहंकार के तीन भेदों के नाम हैं—वैकारिक, तैजस, तामस। इनसे यथाक्रम मन इन्द्रिय और तन्मात्र की उत्पत्ति होती है। इतने कथन को सांख्यसिद्धान्त का एक सूत्ररूप समझना चाहिये। अब इसकी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।

अहंकार के जो ये तीन भेद बताये, और उनके नामों का अलग अलग निर्देश किया गया, यह केवल कार्यभेद की दृष्टि से है। विभिन्न कार्यों के उपादानतत्त्वों को स्पष्ट रीति पर समझा जासके, इसी आशय से उनके भेद और अलग नामों का निर्देश है। इससे अहं-कार के अपने वास्तविक स्वरूप अथवा रचना में किसी प्रकार के भेद की संभावना नहीं की जासकती। इस विभेद से मन आदि कार्यों के उपादानतत्त्वों की यथार्थता को किस-प्रकार समझा गया है, यह देखना चाहिये।

**वैकारिक अहंकार से मन**—वैकारिक अहंकार से मन की उत्पत्ति बताई। यह पहले स्पष्ट किया जाचुका है, कि जिन उपादानतत्त्वों से बुद्धि का आरम्भ होता है, उन्हींमें रजस् का आधिक्य अहंकार को उत्पन्न कर देता है। अब अहंकार की जितनी उपादानसामग्री है, उसमें कुछ विकार हुआ। क्या विकार हुआ? कुछ सत्त्वांश न्यून होगया, इस कारण कि कुछ रजस् अंश अधिक होगया। अब यह स्वरूप अहंकार का नहीं रहा है। उसमें यह विकार होकर जो स्थिति बनी, उस परिणाम को 'मनस्' कहा गया। इसप्रकार वैकारिक अहंकार से मन की उत्पत्ति का वर्णन हुआ। हम देखते हैं, कि जिन उपादानतत्त्वों से अहंकार का आरम्भ होता है, वे जब तक अपनी अवस्था में ठीक रहते हैं, वह अहंकार का वास्तविक स्वरूप है। उसमें न्यूनाधिकता होने पर जो परिणाम हुआ, उस परिणाम के आधार पर उन उपादानतत्त्वों की विशेषता प्रकट करने के लिये उनका नाम 'वैकारिक' रख दिया। क्योंकि यह विकार अहंकार की उपादानसामग्री में प्रदर्शित किया गया है, इसलिये उसके साथ 'अहंकार' पद लगाना आवश्यक हुआ। इसप्रकार वैकारिक अहंकार से मन की उत्पत्ति की व्याख्या होती है।

**तैजस अहंकार से इन्द्रियां**—अब आगे तैजस अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति बताई गई है। मन की उत्पत्ति के लिये जितनी उपादानसामग्री है, उसमें केवल रजस् अंश और अधिक होजाता है। रजस् सतत गतिशील होने से तेजस्रूप समझा जाता है। उक्त सामग्री में रजस् अंश के अधिक होजाने से उस कारणसामग्री का नाम 'तैजस' बताया गया। कारणसामग्री की यह रद्दोबदल अहंकार की कारणसामग्री को आधार मानकर निर्दिष्ट की गई है, इसलिये इसके साथ 'अहंकार' पद का उल्लेख हुआ। इसप्रकार 'तैजस अहंकार' से बाह्य इन्द्रियों की उत्पत्ति कही जाती है।

बाह्य इन्द्रियों के दो वर्ग हैं—ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय। ऊपर इन्द्रियों की उत्पत्ति

का जो निर्देश हुआ है, वह ज्ञानेन्द्रियों का समझना चाहिये । कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति के लिये कारणसामग्री में थोड़ी विशेषता होजाती है । ज्ञानेन्द्रियों की जो सामग्री है, उसमे कतिपय सत्त्वांश कम होकर उतने तमस् अंश बढ़ जाते हैं, क्योंकि रजस् अंश यहां पर भी उतने ही रहते हैं, इसलिये कारणसामग्री के 'तैजस' नाम में कोई अन्तर नहीं आता । सत्त्वांश की न्यूनता और तमस् अंश की अधिकता के कारण इस सामग्री से उत्पन्न कर्मेन्द्रियों में ज्ञानसाधनता नहीं रहती । ये इन्द्रियां केवल कर्म अर्थात् क्रिया के साधन रह जाते हैं। पर यह सृष्टि भी सात्त्विक है, क्योंकि अन्य अंशों की अपेक्षा कारणसामग्री में सत्त्वांश अब भी पर्याप्तमात्रा में रहते हैं । यहां तक अध्यात्मसृष्टि की रचना पूरी होजाती है । इस सृष्टि के सत्त्व-प्रधान होने तथा आत्मा के अधिकाधिक समीप संपर्क में रहकर उसके भोगापवर्ग को निष्पन्न करने के कारण इस को 'अध्यात्म' नाम दिया गया है । वैसे यह सृष्टि भी अधिभूत के समान जड़ तथा त्रिगुणात्मक है ।

**तामस अहंकार से तन्मात्र**—अध्यात्मसृष्टि के अनन्तर 'तामस अहंकार' से 'तन्मात्र' रूप अधिभूतसृष्टि के होने का उल्लेख किया गया है । अहंकार के लिये जो कारणसामग्री बताई गई है, उसमें जब सत्त्वांश पर्याप्तमात्रा में न्यून रह जाते हैं, उसी अनुपात से कुछ अधिक दुगुने के लगभग रजस् अंश होते हैं, और इन दोनों के गुणित से भी दुगुने तमस् अंश आजाते हैं, तब यह सामग्री यथायथ तन्मात्रों को उत्पन्न करती है, अथवा तन्मात्रों के रूप में परिणत होती है । तमःप्रधान होने से इस कारणसामग्री को 'तामस' नाम दिया गया, तथा इसका निर्देश अहंकार की कारणसामग्री को आधार मानकर उसमें न्यूनाधिकता को बताकर किया गया है, इसलिये 'तामस' के साथ 'अहंकार' पद का उल्लेख हुआ । इसप्रकार 'तामस अहंकार' से 'तन्मात्र' नामक अधिभूतसृष्टि का प्रादुर्भाव होता है । यह सृष्टि भी अभी इन्द्रियग्राह्य नहीं होपाती, इसलिये इसे व्यवहार की दृष्टि से 'सूक्ष्मभूत' भी कहा जाता है ।

**अध्यात्मरचना में मूलतत्त्वों का कल्पित अनुपात**—अध्यात्म और अधिभूत सृष्टि में सत्त्वादि अंशों की स्थिति को स्पष्टरूप में समझने के लिये हमने उनके अनुपात की कल्पना की है । इस कल्पना के आधार पर हम बुद्धि आदि तत्त्वों में उत्तरोत्तर न्यूनता की ओर बढ़ती हुई सूक्ष्मता, तथा उनके कलेवर की रचना को समझने में थोड़ा सहयोग पासकते हैं । बुद्धि आदि तत्त्वों की कारणसामग्री का वह अनुपात निम्नलिखित रूप में प्रदर्शित किया जासकता है—

| | उत्पन्न तत्त्व नाम | कारण तत्त्वों का अनुपात सत्त्व | रजस् | तमस् | |
|---|---|---|---|---|---|
| अन्तःकरण | १ बुद्धि | ७ | १ | १ | अध्यात्मसृष्टि |
| | १ अहंकार | ७ | २ | १ | |
| | १ मनस् | ६ | ४ | १ | |
| बाह्यकरण | ५ ज्ञानेन्द्रिय | ६ | ५ | १ | |
| | ५ कर्मेन्द्रिय | ४ | ५ | ३ | |
| करण | १३ | | | | |
| सूक्ष्मभूत | ५ तन्मात्र | २ | ५ | २० | अधिभूतसृष्टि |

इन तत्त्वों की रचना का जो हमने ऊपर उल्लेख किया है, वह इसी अनुपात के आधार पर किया गया है। सांख्य में समस्त सृष्टि का–अध्यात्म और अधिभूत–इन दो रूपों में वर्णन हुआ है, यह प्रथम स्पष्ट कर दिया गया है। अब वर्णित रचनाक्रम से यह स्पष्ट हो जाता है, कि अध्यात्म सात्त्विकसृष्टि है, तथा अधिभूत तामस। अध्यात्म सृष्टि की समस्त इन्द्रियों की रचना में सत्त्व और रजस् अंशों की प्रायः समानता होजाने से कहीं इनको 'राजस' भी कह दिया गया है। दूसरी सृष्टि में जो पदार्थ अधिक तेजोमय दीप्तियुक्त चंचल एवं अतिगतिशील हैं, वहां रजस्, तथा जो सुख शान्ति के देनेवाले हैं, वहां सत्त्व अंशों की अधिकता समझनी चाहिये। पर यह बाहुल्य वहां अन्य पदार्थों के रजस् व सत्त्व अंशों की स्थिति से नापना चाहिये, तमस् अंशों की अपेक्षा से नहीं। प्रत्येक अधिभूत पदार्थ में तमस् अंशों का अतिबाहुल्य रहता है, यह निश्चित समझे रहना चाहिये। सांख्य में इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख हुआ है[1]। आधुनिक आधिभौतिक विज्ञान ने अपने परीक्षणों से इस विषय में यह परिणाम प्रकट किया है, कि इस समस्त जड़ जगत् की रचना में मूलतत्त्व 'न्यूट्रॉन्' तथा उनके परिणामों का बाहुल्य रहता है।

**करणों की विशिष्ट स्थिति**—अधिभूत रचना के सम्बन्ध में अभी आगे विस्तार पूर्वक वर्णन किया जायगा। प्रसंगानुसार यहां तेरह करण तथा पांच तन्मात्र के आधार पर निर्णीत कुछ विशिष्ट सांख्यसिद्धान्तों का विवेचन कर देना आवश्यक होगा। तेरह करणों में तीन अन्तःकरण और दस बाह्यकरण हैं। इन दस का एक अन्य नाम 'इन्द्रिय है, क्योंकि इनका सीधा सम्बन्ध बाह्य विषय के साथ रहता है। अन्तःकरणों में मन का अपर नाम 'इन्द्रिय' है, क्योंकि स्मृति आदि में बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा के विना ही अनुभूत विषय के साथ संस्काररूप में इसका सीधा संपर्क रहता है। अन्तःकरण होने से इसको 'आन्तरिन्द्रिय' तथा शेष दस को 'बाह्य इन्द्रिय' कहा जाता है।

**अन्तःकरण तीन या चार**—सांख्य में अन्तःकरण तीन बताये हैं। कतिपय

१ सांख्यसूत्र, २।१८॥ सांख्यसप्तति, २५॥

विद्वानों ने 'चित्त' नामक एक चौथे अन्तःकरण का उल्लेख किया है। संस्कृतसाहित्य में इसका पर्याप्त प्रसंग उपलब्ध होता है। सांख्यदर्शन के एक सूत्र [६।३१] में चित्त-प्रसाद से ध्यानादि अनुष्ठान का विधान बताया है। पातञ्जल योगदर्शन सूत्रों में लगभग बाईस स्थलों पर 'चित्त' पद का प्रयोग हुआ है। एक स्थल [४।२२] में बुद्धि और तीन चार स्थलों में 'मनस्' पद का प्रयोग है। पर इन दर्शनों के उक्त स्थलों में चित्त को चौथा अन्तःकरण कहीं स्वीकार नहीं किया गया। प्रायः चित्त पद का प्रयोग साधारण 'अन्तःकरण' के अर्थ में हुआ है। इन स्थलों में कहीं-कहीं विशेषरूप से बुद्धि अथवा मनस् के अर्थ में भी यह प्रयोग है। सांख्य-योग में 'चित्त' पद के प्रयोगमात्र से एक चौथे अन्तःकरण की कल्पना नहीं की जासकती। क्योंकि समस्त दर्शन एवं इनके व्याख्याग्रन्थों में ऐसी किसी अतिरिक्त वृत्ति का उल्लेख नहीं मिलता, और न व्यवहार में ऐसा अनुभव होता है, जिसके लिये चतुर्थ अन्तःकरण की कल्पना आवश्यक हो।

वेदान्तग्रन्थों में अन्तःकरणचतुष्टय का उल्लेख अधिक हुआ है। यद्यपि ब्रह्म-सूत्रों में साक्षात् इसके कोई संकेत नहीं मिलते, पर व्याख्याग्रन्थों में प्रायः कहीं इसे विस्मृत नहीं किया गया। इनमें से अनेक स्थलों को देखने पर यह ज्ञात होता है, कि वहां अन्तःकरणों की स्थिति और उनकी वृत्ति अथवा व्यापार के विषय में कोई वर्णन प्रस्तुत नहीं किये गये, केवल साधारणरूप में अन्तःकरण के आवरण को हटाने, दोष मालिन्य आदि को दूर करने तथा उसकी स्वच्छता आपादन करने आदि के प्रसंगों में वैसा उल्लेख हुआ है। इससे प्रतीत होता है, कि उन स्थलों में अर्थ की वस्तुस्थिति को विवेचन करने का लक्ष्य नहीं है। परम्परा से साधारणरूप में जो बात कहते सुनते चले आये हैं, उसी का निर्देश कर दिया गया है। गीता में 'चित्त' अथवा 'चेतस्' पद का बहुत प्रयोग हुआ है, पर उन स्थलों में कहीं चौथे अन्तःकरण की कल्पना संभव नहीं। वहां प्रायः साधारण अन्तःकरण अथवा मन या बुद्धि के अर्थ में इस पद का प्रयोग है। 'अचेतस्' और 'विचेतस्' पदों का प्रयोग 'अज्ञानी' के अर्थ में हुआ है। बारहवें अध्याय के आठ और नौवें श्लोकों के आधार पर तो यह विचार अधिक पुष्टि पाजाता है, कि गीता में 'चित्त' पद का प्रयोग 'बुद्धि' और 'मन' के अर्थ में माना जाना चाहिये। सब को देखते हुए कम से कम गीता के आधार पर यह परिणाम निकाला जाना कठिन है, कि वहां 'चित्त' नामक चौथे अन्तःकरण को माने जाने के संकेत मिलते हैं।

देखने पर इसप्रकार की परम्परा का मूल उपनिषदों में उपलब्ध होजाता है। इसके लिये प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न की आठवीं कण्डिका द्रष्टव्य है। वहां पांच स्थूलभूत, पांच सूक्ष्मभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा दसों इन्द्रियों के ग्राह्य विषय और मन बुद्धि अहंकार चित्त इन चारों अन्तःकरणों एवं इनकी वृत्तियों का पृथक् उल्लेख हुआ है, और इनके आगे तेज तथा प्राण का एवं उनके विषय या व्यापार का उल्लेख है। इतने में कण्डिका पूरी होती है। इससे पहली सातवीं कण्डिका में बताया

है, कि–वह सर्व [सब कुछ], पर–आत्मा में संप्रतिष्ठित होता है। निःसन्देह यह समस्त जड़ चेतन जगत् उस नियन्ता परमात्मा के द्वारा नियन्त्रित होता है, वह अन्तर्यामी होकर इस सबमें व्याप्त है। इसप्रकार यह सब परमात्मा में संप्रतिष्ठित समझा जाता है। सातवीं कण्डिका के 'सर्व' पद की व्याख्या प्रस्तुत कण्डिका में की गई है।

**प्रश्नोपनिषद् का 'तेजस्' पद**—स्पष्ट है, कि यहां[1] सांख्यप्रतिपादित समस्त तत्त्वों का निर्देश हुआ है, जिनमें चेतनाचेतन अखिल विश्व का समावेश है। इससे सातवीं कण्डिका के 'सर्व' पद की पूर्ण व्याख्या होजाती है। इस कण्डिका में 'तेजस्' पद का दो वार प्रयोग हुआ है। पहला प्रयोग स्पष्ट ही मध्यम स्थूलभूत के लिये है। उसके साथ 'तेजोमात्रा' पद मध्यम तन्मात्र अथवा सूक्ष्मभूत के लिये प्रयुक्त है। कण्डिका के अन्तिम भाग के द्वितीय 'तेजस्' पद का अर्थ आचार्य शंकर ने[2]–त्वगिन्द्रिय से भिन्न प्रकाशविशिष्ट त्वचा [कदाचित् चर्म]–किया है। यह अर्थ प्रसंग के साथ संगत नहीं होता। प्रकाशविशिष्ट त्वचा [चर्म] कौन सा ऐसा तत्त्वविशेष है, जिसको 'सर्व' पद के व्याख्यान में वर्णन करने की आवश्यकता समझी गई ? और जिसके विना यह कथन अधूरा रहजाता ? आचार्य शंकर की यह केवल कल्पना है, जो 'तेजस्' पद का अर्थ त्वचा किया है। वस्तुतः कण्डिका में अर्थप्रतिपादन के जिस क्रम का आश्रय लिया गया है, उससे स्पष्ट होता है, कि यहां अन्तिम 'तेजस्' पद समस्त जगत् के मूल उपादान 'प्रकृति' के लिये प्रयुक्त हुआ माना जाना चाहिये। सबकी अपेक्षा स्थूलभूत तथा विश्व में सबसे अन्तिम कार्य-पृथिवी तत्त्व से प्रारम्भ कर सबसे सूक्ष्म तथा आद्यकार्य बुद्धि अथवा चित्त पर्यन्त तत्त्वों का निर्देश कर आगे 'तेजस्' पद का उल्लेख हुआ है। यह क्रम इस पद के प्रयोग को प्रकृति के लिये माने जाने की स्पष्ट पुष्टि करता है।

इसके अतिरिक्त मूल उपादानतत्त्वों में गतिशील 'रजस्' तेजोरूप है, यह प्रकट किया जा चुका है। सर्गकाल की चंचल गतिशील स्थिति को देखते हुए 'रजस्' की विशेषता के कारण उसके प्रतिनिधिभूत 'तेजस्' पद से मूल उपादान का निर्देश असमञ्जस नहीं समझा जाना चाहिये। उपनिषदों में तथा अन्यत्र भी इस पद से मूल उपादानतत्त्व का संकेत हुआ है[3]। कण्डिका में इसका व्यापार बताया है–विद्योतयितव्यं च। विद्योतन–

---

१—पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंकर्त्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥८॥

२—तेजश्च त्वगिन्द्रियव्यतिरेकेण प्रकाशविशिष्टा या त्वक्।

३—देखिये–इसी 'विकार' नामक प्रकरण का प्रारम्भिक भाग।

प्रकाशन किया जाना, प्रकट किया जाना। मूलप्रकृति स्थूल पृथिवी से लेकर बुद्धि अथवा चित्त पर्यन्त–जितने तत्त्वों का कण्डिका में निर्देश किया गया है–सबको प्रकट करती है। समस्त जड़ जगत् इसी प्रकृति का विकार है। जो प्रकृति का विकार नहीं है, और इस जगत् में इसका सहयोगी बनकर सदा विद्यमान रहता है, उसका 'तेजस्' पद के आगे तथा कण्डिका के अन्तिम पद द्वारा निर्देश किया गया है–प्राणश्च विधारयितव्यं च। यहां 'प्राण' पद अल्पज्ञ अल्पशक्ति चेतन आत्मा अर्थात् जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस शरीर में जीवात्मा के अस्तित्व का सबसे स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण 'प्राण' का विद्यमान रहना है। सुषुप्ति अथवा गाढ़ मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में जब शरीर सर्वथा मृत के समान निश्चेष्ट पड़ा रहता है, सब बाह्य इन्द्रियां अपना व्यापार खो बैठती हैं, प्राण का अस्तित्व ही वहां जीवात्मा की विद्यमानता को प्रकट करता है। शरीर में प्राण का अस्तित्व जीवात्मा के अस्तित्व में ही सम्भव होसकता है। इस नाते यहां 'प्राण' पद जीवात्मा के लिये प्रयोग किया गया है। जब तक जीवात्मा शरीर में बैठा रहता है, तब तक इसका विधारण रहता है, और प्राणों का निरन्तर संचरण। जीवात्मा के जाते ही शरीरपात हो जाता है, प्राणपखेरू तत्काल उड़ते दीखते हैं। इसप्रकार कण्डिका में विश्व के समस्त जड़ चेतन तत्त्वों का निर्देश हुआ है, जो पिछली कण्डिका के 'सर्व' पद की व्याख्या को पूरी करता है। यह सब उस अन्तर्यामी परमात्मा में संप्रतिष्ठित रहता है, यह उपनिषद् की प्रकरणसंगति है।

**प्रश्नोपनिषद् में 'चित्त' पद का भाव**—उक्त कण्डिका के आधार पर हम अन्तःकरणचतुष्टय की विवेचना में प्रवृत्त हुए थे, कण्डिका के व्याख्यान में जालगे। पर यह आवश्यक था। वास्तविक व्याख्यान के स्पष्ट हुए विना प्रस्तुत प्रसंग पर यथार्थ प्रकाश पड़ना कठिन होता। अब हमारे सामने यह खुला हुआ सत्य है, कि उक्त कण्डिका में सांख्यप्रतिपादित पदार्थों का निर्देश हुआ है, ऐसी अवस्था में यहां अन्तःकरणचतुष्टय का निर्देश कैसे? सांख्य में तो 'चित्त' नामक अतिरिक्त अन्तःकरण का कहीं उल्लेख नहीं हुआ। देखना यह चाहिये, कि उपनिषद् में 'चित्त' की जो 'चेतना' नामक वृत्ति बताई गई है क्या वस्तुतः वह कोई ऐसी विलक्षण वृत्ति है, जिसके लिये एक अतिरिक्त करण की आवश्यकता हो? बुद्धि की वृत्ति–ज्ञान, बोध अथवा अध्यवसाय है। वृत्त्यात्मक 'चेतना' पद इससे अतिरिक्त किसी अर्थ का बोध नहीं कराता। जब बोध, चेतना, अध्यवसाय आदि पद एक अर्थ का भान कराते हैं, तो उसे एक वृत्ति मानना संगत होगा। और उसका एक करण 'बुद्धि' है।

प्रतीत होता है, उपनिषत्कार ने अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये पहले कहे हुए अर्थ को अन्त में पदान्तर से पुनः प्रकट कर दिया है। यहां मुख्यरूप से तत्त्व के अतिरिक्त प्रतिपादन की भावना इतनी बलवती प्रतीत नहीं होती। क्योंकि यह स्पष्ट है, कि चेतना, वृत्ति बोध अथवा अध्यवसाय से अतिरिक्त अपना कोई अस्तित्व नहीं रखती। अथवा

समस्त कार्य-जगत् में बुद्धि की प्रधानता एवं आत्मा के अतिनिकट रहकर उसके भोगापवर्ग में सहयोग देने की बुद्धि की स्थिति को दोवारा इस रूप में प्रकट कर दिया गया है। इससे बुद्धि के पूर्ण व्यापार का प्रतिपादन होजाता है। जहां बुद्धि का व्यापार बोधन या अध्यवसाय है, वहां यह भी स्पष्ट होजाता है, कि चेतन के अतिनिकट सम्पर्क में रहकर चेतना का उद्बोधन या प्रकाशन भी बुद्धि का व्यापार है। जैसे बुद्धि आत्मा के लिये सांसारिक भोगों का मुख्य साधन है, समस्त भोग आत्मा को बुद्धिद्वारा प्राप्त होते हैं; ऐसे ही अपवर्ग का मुख्य साधन भी बुद्धि है[1]। चेतना का उद्बोधन या प्रकाशन का अभिप्राय इतना ही है, कि आत्मा के साक्षात्कार होने में अन्तिम स्तर तक बुद्धि साधन होती है, इस स्थिति का उल्लेख अन्ततः उपनिषद् में पृथक् 'चित्त' पद द्वारा किया गया है।

**'मनस्' पदप्रयोग का विवेचन**—'मनस्' पद का प्रयोग भी अनेक स्थलों में सन्देहजनक देखा जाता है। इस पद का निवर्चन जिस मूलधातु के आधार पर होता है, पाणिनि ने उसके दो अर्थों का निर्देश किया है। एक–अवबोधन और दूसरा–मनन। पहले की व्याख्या है–निश्चय करना, बोध अथवा अध्यवसाय। दूसरे की है–विचार करना, तर्क करना अथवा संकल्प करना। जब पहले अर्थ की भावना से 'मनस्' पद का प्रयोग किया जाता है, तब उसका सांख्यदृष्टि के अनुसार 'बुद्धि' अर्थ होता है, जो निश्चय-बोध अथवा अध्यवसायवृत्तिक करण है। जब दूसरे अर्थ की भावना से इस पद का प्रयोग होता है, तब इसका अर्थ–संकल्पवृत्तिक 'मनस्' करण है। 'मनस्' पद का कहीं प्रयोग देखने पर और वहां अर्थविषयक सन्देह होनेपर इस विवेचन से यथार्थता को समझने में सहायता मिल सकती है। सांख्यसूत्र [१।३६] में 'मनस्' पद का प्रयोग आद्यकार्य 'बुद्धि' के लिये हुआ है। संस्कृतसाहित्य में कतिपय स्थलों पर बुद्धि के उपादानतत्त्वों की उस अवस्था को भी 'मनस्' पद से निर्दिष्ट किया है, जहां वे उपादानतत्त्व बुद्धिरूप में अभी परिणत होने को हैं। बुद्धि का अपर नाम 'मनस्' सम्भावित होने की दशा में ऐसा प्रयोग सर्वथा संगत है। इसका संकेत इसीप्रकरण के 'प्रकृति का आद्यकार्य' नामक प्रसंग के प्रारम्भिक भाग में किया गया है।

अन्तःकरणत्रय का इसप्रकार विवेचनापूर्ण विवरण सांख्य में उपलब्ध होता है। गौतम और कणाद ने एक अन्तःकरण माना है–मन। जब यह पद प्रथमधात्वर्थ के अनुसार निष्पन्न होता है, तब सांख्य में इसका अर्थ बुद्धि–अन्तःकरण समझा जाता है। पर गौतम कणाद इस नाम के किसी अन्तःकरण का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। उनके विचार में 'बुद्धि' पद जब करण अर्थ में क्तिन् प्रत्यय करके [बुध्यते अनया इति बुद्धिः] निष्पन्न किया जाता है, तब इसका अर्थ भी 'मन' होता है, क्योंकि अन्तःकरण केवल यही एक है। अनन्तर काल में इन भावनाओं के साथ जो विद्वान् अपने लेखों में साधारणतया 'मनस्' पद का प्रयोग करते रहे हैं, और उसमें उक्त विवेचना की ओर से उपेक्षा

---

**१—देखें, सांख्यकारिका, ३७; तथा सांख्यषडध्यायीसूत्र।२।४७॥**

रखते रहे हैं, ऐसे प्रयोगों में जिज्ञासु को सन्देह उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है। वहां उक्त विवेचना से लाभ उठाया जा सकता है। पूर्वोत्तरमीमांसा में अन्तःकरणविषयक इसप्रकार के स्पष्ट विवेचन उपलब्ध नहीं होते। वहां थोड़ी बहुत उलटफेर के साथ सांख्य-मन्तव्यों को स्वीकार कर लिया गया है।

**अन्तःकरण के सम्बन्ध में सांख्याचार्यों के विभिन्न मत**—तीन अन्तःकरण का विचार सांख्यशास्त्र के प्रवर्त्तक परमर्षि कपिल का है। यह वस्तुस्थिति के कितना समीप है, इस निर्णय को हम तत्त्व-विवेचक विद्वानों पर छोड़ते हैं। समस्त शास्त्रों के तुलनात्मक विचार और वस्तुसाक्षात्कार के अनन्तर ही इसका पार पाया जासकता है। इस विषय में अन्य शास्त्रकारों के विचार संक्षेप से ऊपर की पंक्तियों में दिये हैं। कपिल के अनन्तर अनेक सांख्याचार्यों ने इस विषय में अपना मतभेद प्रकट किया है। कपिल-प्रतिपादित अन्य सांख्य-सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए उन्होंने अन्तःकरण के विषय में अपने विभिन्न संशोधन प्रस्तुत किये हैं। वे केवल दो वर्गों में सीमित हैं—अन्तःकरण की संख्या दो है, अथवा एक है।

**वार्षगण्य का मत**—यह एक अतिप्राचीन आचार्य है। इसने सांख्य के अन्तर्गत एक विशेष शाखा की स्थापना की, जिसने कालान्तर में अच्छी प्रतिष्ठा पाई। बौद्ध विद्वानों से टक्कर लेनेवाला प्रसिद्ध सांख्याचार्य रुद्रिल विन्ध्यवासी इसी शाखा का अनुयायी था। वार्षगण्य ने करणों की कुल ग्यारह संख्या मानी है। दस बाह्यकरण और केवल एक अन्तःकरण। ऐसा ही रुद्रिल विन्ध्यवासी का मत है। ये आचार्य सांख्यप्रतिपादित तत्त्वों की गणना में तो कोई न्यूनाधिकता नहीं करते, एक प्रकृति और उसके तेईस विकारों की गणना पूरी मानते हैं, पर उनमें से तीन तत्त्वों को अन्तःकरणरूप नहीं मानते। इस नाम से उन्होंने एक ही तत्त्व माना है, और इनके उत्पत्तिक्रम में भी कुछ उलटफेर मानी है। इनका कहना है, कि प्रधान से 'महत्' की उत्पत्ति होती है। आगे ऐसा नहीं, कि महत् से केवल अहंकार की उत्पत्ति हो, प्रत्युत ये आचार्य महत् से पांच तन्मात्र और अहंकार इन छः तत्त्वों की उत्पत्ति मानते हैं। इनका सांख्य में पारिभाषिक नाम 'अविशेष' है। कपिल की व्यावहारिक परिभाषा में 'अविशेष' केवल पांच हैं—तन्मात्र। ये आचार्य अहंकार को भी इनमें सम्मिलित कर लेते हैं, और महत् से इनकी सीधी उत्पत्ति मानते हैं। इस रूप में महत् और अहंकार इन तत्त्वों को तो ये आचार्य स्वीकार करते हैं, पर इनको करण नहीं मानते। इन छः अविशेषों से आगे सोलह 'विशेष' उत्पन्न होते हैं। ये सोलह विशेष हैं—ग्यारह करण और पांच स्थूलभूत। अहंकार से ग्यारह करणों की उत्पत्ति होती है, एक अन्तःकरण मन और दस बाह्यकरण श्रोत्र आदि। पांच तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूतों से पांच स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं। सांख्य में इन सोलह तत्त्वों का पारिभाषिक नाम 'विशेष' है। इसप्रकार सांख्य की वार्षगण्य-संस्थापित शाखा में एक अन्तःकरण माना गया है—मन। रुद्रिल विन्ध्यवासी का एक सन्दर्भ उपलब्ध है, जहां उसने

लिखा है, कि मन में सब अर्थों की उपलब्धि होजाती है। संकल्प अभिमान और अध्यवसाय ये नाना वृत्ति नहीं हैं, प्रत्युत एक ही वृत्ति है तब एक से अधिक अन्तःकरण मानना व्यर्थ है[1]।

**पतञ्जलि का मत**—यह आचार्य योगसूत्रकार पतञ्जलि से भिन्न है, कदाचित् यह व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि हो, जिसने सांख्य-योग पर एक व्याख्याग्रन्थ लिखा था। इस सम्बन्ध का ऐतिहासिक विवेचन 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण के पतञ्जलि प्रसंग में हमने विस्तारपूर्वक कर दिया है। इस पतञ्जलि का सांख्य-योगविषयक ग्रन्थ इस समय कोई नहीं मिलता। इस नाम पर उद्धृत जितने सन्दर्भ हम संगृहीत कर सके हैं, उन्हींके आधार पर ये विचार प्रस्तुत किये जारहे हैं। यह आचार्य करणों की संख्या बारह मानता है। दो अन्तःकरण और दस बाह्यकरण। इसने अहंकार तत्त्व को करण नहीं माना। इसका कहना है, कि अभिमानवृत्ति का कर्त्तृत्व महत्तत्त्व में स्वीकार किया जासकता है। अध्यवसाय और अभिमान दोनों प्रकार की वृत्ति महत्तत्त्व में सम्भव होसकती है, इसलिये अहंकार को अतिरिक्त करण मानने की आवश्यकता नहीं रहती। तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम को इस आचार्य ने वार्षगण्य के समान स्वीकार किया है। इसप्रकार महत्तत्त्व से यह छः अविशेषों [—पांच तन्मात्र एक अहंकार] की उत्पत्ति मानता है। वार्षगण्य से इसके मत में यह विशेषता है, कि इसने महत्तत्त्व को करण स्वीकार किया है। इस करण से आगे छः अविशेष अकरणरूप उत्पन्न होते हैं। उनमें से अहंकार तत्त्व फिर ग्यारह करणों को उत्पन्न करता है, एक अन्तःकरण मन और दस बाह्यकरण श्रोत्र आदि[2]।

व्याकरणमहाभाष्यकार पतञ्जलि के विषय में इतिहास से यह बात ज्ञात है, कि उसने योग पर कोई व्याख्याग्रन्थ लिखा था, और आयुर्वेद की चरकसंहिता का प्रतिसंस्कार किया था। आज कदाचित् इस बात का विवेचन करना सम्भव की सीमा से बाहर है, कि चरकसंहिता में प्रतिसंस्काररूप में कितना भाग पतञ्जलि का है, तथा कितना प्राचीन है। चरकसंहिता के सांख्यीय वर्णनों में कतिपय ऐसे सांख्य-मत निर्दिष्ट हैं, जिनकी तुलना पतञ्जलि के नाम पर उद्धृत सन्दर्भों में प्रतिपादित सांख्य-सिद्धान्तों के साथ की जासकती है। उनमें एक स्पष्ट मत यह—बारह करण स्वीकार किये जाने का—है। वार्षगण्य

---

१—तथा सर्वार्थोपलब्धिः मनसि विन्ध्यवासिनः ।६।। संकल्पाभिमानाध्यवसाय-नानात्वमन्येषां एकत्वं विन्ध्यवासिनः ।७।। [सांख्यदर्शन का इतिहास, पृष्ठ ५३०, तथा युक्तिदीपिका, पृष्ठ १०८, पंक्ति १२–१३]।

२—करणं द्वादशविधमिति पतञ्जलिः ।४।। पतञ्जलिः.........प्रधानात् महानुत्पद्यत इति।......महतोऽस्मिप्रत्ययकर्त्तृत्वाभ्युपगमात् ।२।। एवं तर्हि नैवाहङ्कारो विद्यत इति पतञ्जलिः। महतोऽस्मिप्रत्ययरूपत्वाभ्युपगमात् ।१।। [सांख्यदर्शन का इतिहास, पृष्ठ ५२०]।

और पतञ्जलि दोनों आचार्यों ने समस्त इन्द्रियों [आन्तरिन्द्रिय मन तथा बाह्य इन्द्रिय श्रोत्र आदि दस] को कपिल के समान अहंकार का कार्य माना है।

**पञ्चाधिकरण का मत**—इस आचार्य का कोई ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला। संस्कृतसाहित्य में इसके नाम से उद्धृत जितने सन्दर्भों को संगृहीत किया जासका है, उन्हीं के आधार पर ये विचार प्रस्तुत किये गये हैं। जहां तक करणों का प्रश्न है, इसके एक सन्दर्भ के आधार पर ज्ञात होता है, कि यह आचार्य केवल दश करण मानता है[1]। उपलब्ध सन्दर्भों में कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता, जिससे यह प्रतीत हो, कि इस आचार्य ने दस बाह्य करणों अर्थात् बाह्य इन्द्रियों में कुछ उलट-फेर था कमी मानी है। यदि दस करण स्वीकार करने का यह अभिप्राय होसकता है, कि यह केवल बाह्य दस करणों को स्वीकार करता है, तो यह स्पष्ट है, कि इसने किसी अन्तःकरण को नहीं माना। पर एक सन्दर्भ में अन्तःकरण और बाह्यकरण दोनों का समानरूप से उल्लेख मिलता है[2]। इन सन्दर्भों का पाठ इतना सुबोध नहीं है, जिनसे किसी अर्थ को स्पष्ट व निश्चितरूप में अनायास जाना जासके।

ज्ञानवृत्ति के सम्बन्ध में इस आचार्य का कुछ ऐसा आशय प्रतीत होता है, कि इस व्यापार के लिये करणों का इतना विशेष उपयोग नहीं माना जाना चाहिये, वे तो शून्य-ग्राम या शुष्कनदी के समान हैं, उनमें ज्ञान का उपनिपात प्रधान से प्राप्त होता है, कदाचित् प्रधान से आगत शक्तिविशेष का यह कार्य है। करणों में ज्ञानवृत्ति के उस उपनिपात में 'प्रेरकज्ञानांश' सहयोग देता है[3]। सन्दर्भ में 'प्रेरकज्ञानांश' से अभिप्राय कदाचित् 'आत्मा

---

१—करणं ··· दशविधमिति तान्त्रिकाः पञ्चाधिकरणप्रभृतयः। ६॥ [सांख्य-दर्शन का इतिहास, पृ० ५२६, तथा युक्तिदीपिका, पृ० १३२, पं० २८—२९]

२—देखें—'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ ५२५ में संख्या ५ पर उद्धृत सन्दर्भ।

३—तथा करणं निर्लिखितस्वरूपं शून्यग्रामनदीकल्पम्; प्राकृतवैकृतिकानि तु ज्ञानादिप्रेरकाङ्ग संगृहीतानि प्रधानादागच्छन्ति चेति पञ्चाधिकरणः।३॥ अनयोश्चाभिधानाद् यः पञ्चाधिकरणपक्षः—प्राकृतवैकृतानां ज्ञानानां प्रधानवत् [प्रधानात्] शुष्कनदीस्थानीयान्तःकरणे बाह्ये च प्रेरकज्ञानांशकृत उपनिपातः, तथाच···तत् प्रतिक्षिप्तं भवति। [सांख्यदर्शन का इतिहास, पृष्ठ ५२५]।

गौतम के न्यायदर्शन [३।२।२५-३४] में स्मृतियों के युगपत् उभर आने की आशंका के आधार पर एक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रसंग में शरीर से बाहर मन के जाने के लिये 'आत्मप्रेरणा' के रूप में एक संभावित हेतु का संकेत [३।२।३२] उपलब्ध होता है, जो सूत्र व्याख्याताओं के अनुसार किसी एकदेशी [न्यायसिद्धान्त से अननुमोदित] आचार्य के मत का निर्देश है। पञ्चाधिकरण के उक्त सन्दर्भ में आत्मप्रेरणा से बाह्य विषय के साथ इन्द्रियों के संपर्क का संकेत मिलता है। इन सदृश उल्लेखों का पारस्परिक सम्बन्ध विचारणीय है।

की प्रेरणा' से प्रतीत होता है। ज्ञानवृत्ति में बाह्य करणों का इतना उपयोग माना जासकता है, कि उनके द्वारा बाह्य विषय के साथ संपर्क स्थापित किया जाता है। तथाकथित अन्त - करण का तो इतना भी उपयोग नहीं। उतने अंश में आत्मप्रेरणा सहयोगी रहती है। इसलिये संभवत: ज्ञानवृत्ति में अन्त:करण की उपयोगिता को इस आचार्य ने स्वीकार नहीं किया, केवल दस बाह्यकरणों को माना है।

**तत्त्वोत्पत्तिक्रम में वार्षगण्य-पञ्चाधिकरण का साम्य**—तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम को यह आचार्य वार्षगण्य के समान स्वीकार करता है। इसप्रकार महत्तत्व से ही छः अविशेषों [पांच तन्मात्र और एक अहंकार] की उत्पत्ति मानता है, पर आगे के उत्पत्तिक्रम में इसने कुछ उलट फेर मानी है। यह इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से न मानकर तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूतों से मानता है। केवल यही एक ऐसा सांख्याचार्य है, जिसने इन्द्रियों को आहंकारिक न मानकर भौतिक माना है। इन्द्रियों को आहंकारिक मानकर उनके द्वारा विषय-ग्रहण के सम्बन्ध में स्वभावत: यह आशंका होती है, कि एक इन्द्रिय से किसी विशेष भूत—भौतिक के ग्रहण में क्या कारण है ? जब उसकी रचना में भूतविशेष का कोई सह-योग नहीं, तो उसी के ग्रहण में उसका रुझान क्यों ? सांख्यदृष्टि से इसका विवेचन अभी आगे इन्द्रियों के विषयग्रहणप्रसंग में किया जायगा, पर पञ्चाधिकरण ने इन्द्रियों की उत्पत्ति तन्मात्र-भूतों से मानकर इस आशंका के अवसर को मिटा दिया है। यह एक साधारण बात है, कि जिन तत्त्वों से जिस इन्द्रिय की उत्पत्ति हो, वह उन तत्त्वों के ग्रहण करने का सामर्थ्य रख सके। कदाचित् इसी आधार पर आचार्य पञ्चाधिकरण ने यह सिद्धान्त स्वीकार किया हो। इस मान्यता में गौतम कणाद के विचारों के साथ स्पष्ट समानता प्रतिभासित होती है।

**करणविषयक निगमन**—अब देखना यह चाहिये, कि करणसम्बन्धी ये विभिन्न विचार कहां तक वस्तुस्थिति के समीप कहे जासकते हैं। कपिल का तत्त्व-व्यवस्थापन सृष्टि में अविगम्यमान अध्यात्म और अधिभूत वर्गों में निष्ठित है। वहां कार्यकारणभाव के क्रमिक अनुरोध से तत्त्वों के सूक्ष्म-स्थूलभाव अथवा दृश्यादृश्य-व्यवस्था का ध्यान रक्खा गया है। सृष्टिक्रम में तत्त्वविवेचन की दृष्टि से ये व्यवस्था अनुपेक्षणीय एवं अनिवार्य हैं। इस आश्रय को छोड़कर तत्त्व का व्यवस्थापन वस्तुस्थिति से दूर हट जा सकता है। प्रतीत होता है, करणसम्बन्धी विभिन्न विचारों को प्रस्तुत करने के समय उन आचार्यों ने इस लक्ष्य के महत्त्व की ओर समुचित ध्यान न देकर केवल लौकिक व्यवहार के प्रयोजन को सरलता से पूरा कर लेने में अधिक रुचि प्रकट की है। कभी कभी यह देखा जाता है, कि मानवस्वभाव की दुर्बलता के कारण विचारों की अपरिनिष्ठित अवस्था में व्यक्ति वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। वह अपनी दृष्टि में नवीनता की ओर अग्रसर होता है, पर यह भावना उसे यथार्थता से दूर हटा लेजाती है, जिसका अस्तित्व बहुधा कल्पनामूलक आधारों पर अवलम्बित रहता है। स्पष्ट है, ये आचार्य

अपने आपको उस प्रभाव से बचाकर न रख सके। यह अन्य बात है, कि वस्तुस्थिति के एक लक्ष्य तक पहुंचने के लिये अनेक मार्गों का आश्रय किसी सीमा तक लिया जासकता है। पर अन्ततः एक ही मार्ग से पर्यवसान में सचाई का बीज निहित है।

## सूक्ष्मशरीर अथवा आतिवाहिक शरीर—

तेरह करण और पांच तन्मात्र इन अठारह तत्त्वों के समूह को सांख्यदर्शन[1] में आत्मा के प्रयोजनों को पूरा करने के लिये सूक्ष्मशरीर के रूप में वर्णन किया गया है। इनमें तेरह करण आश्रित तथा पांच तन्मात्र आश्रयभूत तत्त्व माने जाते हैं। इस स्थूल-काय में प्राण आदि के अस्तित्व से हम आत्मा की विद्यमानता का अनुमान करते हैं, और सांख्य[2] में प्राण आदि को समस्त करणों की सामान्यवृत्ति माना गया है। अभिप्राय यह है, कि करणों के रहने पर प्राण आदि का अस्तित्व संभव होसकता है, इसलिये करणों को आत्मा का लिंग [चिन्ह-आत्मा के अस्तित्व को पहचानने का साधन] कहा जाता है। इस आधार पर सूक्ष्म-शरीर के इतने भाग का नाम 'लिंगशरीर' भी है। पांच तन्मात्र, सूक्ष्म-शरीर में करणों के आश्रयभूत होने के कारण 'कारणशरीर' के नाम से भी व्यवहृत होते हैं। शरीर के इन नामों का दार्शनिक साहित्य में अनेकत्र प्रयोग हुआ है, बहुधा इन नामों के आधार पर सूक्ष्मशरीर के एक अथवा अनेक माने जाने का निराधार विवाद उठ खड़ा हुआ देखा जाता है। इसलिये सूक्ष्मशरीरविषयक विवेचन प्रस्तुत किये जाने से पूर्व हमने यहां इन विभिन्न नामों के वास्तविक आधार का निर्देश कर दिया है।

चेतन आत्मा साधनहीन रहकर अचेतन जगत् के संपर्क में कुछ भी करने के लिये असमर्थ रहता है। यह उसकी अल्पज्ञता व अल्पशक्ति आदि वास्तविकताओं का परिचायक है। 'पुरुष' नामक प्रकरण में हमने आत्मा की यथार्थ स्थिति का यथाशक्य वर्णन करने का यत्न किया है। सांख्य तथा आत्मविषयक अन्य साहित्य के आधार पर परिमाण की दृष्टि से आत्मा के परिच्छिन्न माने जाने के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। भोगादि के समान एक देह को छोड़कर दूसरे देह में जाने के लिये भी आत्मा को साधन की अपेक्षा रहती है। ये तेरह करण और पांच तन्मात्र—अठारह तत्त्व सूक्ष्मशरीर के रूप में संघटित होकर आदिसर्गकाल से प्रत्येक आत्मा के साथ संबद्ध होजाते हैं, और यह संबन्ध समस्त सर्गकाल में बराबर बना रहता है। एक तरह से यह समझना चाहिये, कि आत्मा का यह सर्गकालीन आवेष्टन है। इस में आवृत हुआ आत्मा अपने भोग आदि को सम्पन्न करता है। एक देह से देहान्तर में जाने का यही साधन है। इसी विशेष आधार पर इसको 'आतिवाहिक शरीर' कहा जाता है। वैसे यह सदा ही आत्मा का वहन करता है, देह का उक्त नाम रक्खे जाने में यह एक मुख्य भावना है।

**सूक्ष्मशरीरविषयक पञ्चाधिकरण-सन्दर्भ**—पञ्चाधिकरण के नाम से उद्धृत एक

---

१—सांख्यसूत्र, ३।९॥ तथा २।३६॥ सांख्यकारिका ३१, तथा ४० से ४२ तक।
२—सांख्यसूत्र, २।३१॥ सांख्यकारिका २९॥

सन्दर्भ में इस अर्थ का बहुत स्पष्ट वर्णन किया गया है। उसने लिखा है—'सूक्ष्मशरीर[1] माता पिता के संसर्गकाल में करणसहित शुक्रशोणित में अनुप्रविष्ट होजाता है। इसके अनुप्रवेश से ही शुक्रशोणित कण, कलल आदि रूप में वृद्धि को प्राप्त होपाते हैं। जब गर्भाशय में समस्त अवयवों की रचना पूरी होजाती है, और ज्ञानसाधन अपने पूरे विकास में प्रस्फुटित हो आते हैं, उस समय माता के उदर से यह बाहर आजाता है, और पूर्वानुष्ठित जिन धर्माधर्मों के अनुसार यह शरीर आरम्भ हुआ है, उनके परिपाक अथवा भोगकाल तक अवस्थित रहता है। भोग से धर्माधर्म के क्षय होजाने पर शरीर का पात होजाता है। इस अवस्था में यदि करण धर्मसंस्कृत हैं, तब आत्मा सूक्ष्मशरीर के द्वारा ऊर्ध्वदेशों [उन्नत योनियों=देवादि योनियों] में लेजाया जाता है। अधर्मसंस्कृत होने की अवस्था में यातनास्थानों अथवा तिर्यक् योनियों में प्राप्त कराया जाता है। यदि धर्माधर्म का सम-सम्मिश्रण रहता है, तब यह आत्मा मनुष्ययोनि में पुनः ले आया जाता है। इस-प्रकार यह आतिवाहिक सूक्ष्मशरीर इन्द्रियों सहित उनके धारण करने और अभिलषित स्थान में प्राप्त कराने का सामर्थ्य रखता हुआ, समस्त सर्गकाल में नश्वर बाह्य शरीर [स्थूलशरीर] के द्वारा परिवेष्टित और परित्यक्त होता रहता है।'

पञ्चाधिकरण के इस लम्बे सन्दर्भ से सूक्ष्मशरीर के एक अन्यतम व्यापार पर प्रकाश पड़ने के अतिरिक्त यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि यह आचार्य, परमर्षि कपिल के समान सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इस मान्यता के अनुसार यह स्पष्ट होता है, कि आत्मा सूक्ष्मशरीर में आवेष्टित रहता है, और वह स्थूलशरीर में अनुप्रविष्ट होकर आत्मा के भोग आदि को संपन्न करने में साधन बनता है। भगवद्गीता के [१५। ७-१०] श्लोकों का परिशीलन भी इस अर्थ की पुष्टि करता है।

**सूक्ष्मशरीरविषयक महाभारत श्लोक**—महाभारत के शान्तिपर्व में एक श्लोक[2] है, जिसका आशय है—'शरीरस्थित जिस चेतन आत्मा को सत्रहवां कहा है, क्योंकि वह

---

१—(७)-पञ्चाधिकरणस्य तावत्—

**वैवर्त्तं शरीरं मातापितृसंसर्गकाले करणाविष्टं शुक्रशोणितमनुप्रविशति। तदनुप्रवेशाच्च कललादिभावेन विवर्धते। व्यूढावयवं तूपलब्धप्रत्ययं मातुरुदरान्निस्सृत्य यौ धर्माधर्मौ षट्सिद्ध्युपभोगकाले कृतौ तद्वशादवतिष्ठते, यावत् तत्क्षयात् शरीरपातस्तावत्। यदि धर्मसंस्कृतं करणं ततो द्युदेशं सूक्ष्मशरीरेण प्राप्यते, तद्विपर्ययात्तु यातनास्थानं तिर्यग्योनिं वा, मिश्रीभावेन मानुष्यम्। एवमातिवाहिकं सूक्ष्मशरीरमिन्द्रियाणां धारणप्रापणसमर्थं नित्यं बाह्येनापायिना परिवेष्ट्यते परित्यज्यते च। [युक्तिदीपिका, पृ० १४४, पं० १०–१६; तथा सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ५२६]**

२—**यं दृगात्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः॥ [४६।५४]**

पहले सोलह गुणों से परिवृत है, उस सांख्यप्रतिबोधित आत्मा के लिये हमारा नमस्कार हो' हम उसके लिये अपना आदरभाव प्रकट करते हैं, हम उसके अस्तित्व में आस्था रखते हैं। इस श्लोक के द्वारा सूक्ष्मशरीर से परिवेष्टित आत्मा के-स्थूलशरीर में-वास का वर्णन किया गया है। मूल श्लोक में 'आत्मस्थं' पद है। यहां 'आत्म' पद का प्रयोग स्थूलशरीर के लिये हुआ है। यह कोई ऐसा अवाञ्छित प्रयोग नहीं है, संस्कृतसाहित्य में ऐसे प्रयोग अनेकत्र[1] हुए हैं। इसे प्रामाणिक एवं विद्वज्जनानुमोदित समझना चाहिये। श्लोक के द्वितीय चरण से आत्मा के आवास की स्थिति को स्पष्ट किया है-'वृतं षोडशभिर्गुणैः'। इस वाक्य में 'गुण' पद विशेष ध्यान देने योग्य है। साधारणतया सीधे अर्थ में इस पद का प्रयोग यहां सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों के लिये नहीं किया गया, प्रत्युत 'गुना' या 'गुणित' अर्थ को कहता हुआ यह रस्सी या रज्जुरूप अर्थ को ध्वनित करता है। जैसे किसी वस्तु को रस्सी के लपेट पर लपेट देकर परिवेष्टित कर दिया जाय, इसी प्रकार यह आत्मा सोलह गुणों अर्थात् बन्धनों से परिवेष्टित है। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिये हम प्याज का दृष्टान्त दे सकते हैं। इस कन्द का आन्तर भाग अनेक पत्तों से ढका रहता है, और वे पर्त्त एक दूसरे पर चढ़ी रहती हैं। ठीक इसीप्रकार आत्मा जिस परिवेष्टन में है, उसमें सोलह पर्त हैं। इसप्रकार वह सोलह गुणों से आवृत है। वे सोलह गुण सूक्ष्मशरीर के घटक सोलह अवयव हैं।

सूक्ष्मशरीर के घटक अवयव, सत्त्व रजस् तमस् इन तीन गुणों के विकार हैं। तब उक्त श्लोक के 'गुण' पद का अर्थ 'गुणविकार' किया जासकता है। गुणों का विकार होने से वे त्रिगुणात्मक हैं। उनके लिये 'गुण' पद का प्रयोग उपयुक्त है। ऐसी अवस्था में मूल श्लोक के द्वितीय चरण का यह अर्थ भी किया जासकता है-गुणों के विकारभूत सोलह-सूक्ष्मशरीर के घटक-अवयवों से परिवृत आत्मा-इत्यादि। ऐसा अर्थ किये जाने में भी हमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि इससे मूल अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता, आत्मा के परिवेष्टन का वर्णन पूर्ववत् बना रहता है। मूल श्लोक से यह अर्थ अभिव्यक्त होने में कोई बाधा नहीं, कि-चेतन आत्मा सोलह अवयवों अथवा तत्त्वों से परिवेष्टित है। उसकी स्थिति को स्पष्ट करने के लिये हम रज्जु या प्याज के दृष्टान्त का उपयोग कर सकते हैं। आत्मा का सबसे समीप स्थित पर्त्त बुद्धि है। उसके अनन्तर उत्पत्तिक्रम के अनुसार आते हुए तत्त्व, ऊपर ऊपर के पर्त्त के रूप में उपस्थित होते जाते हैं। सबसे ऊपरी पर्त्त तन्मात्रों का है, जो पहले तेरह करणों के आश्रयभूत कहे गये हैं। आत्मा के आवास का यह एक प्रकोष्ठ [सैल्] बन जाता है। स्थूलशरीर में आने पर भी सब करण उसी के बीच में से झांकते रहते हैं। इनके झांकने के लिये स्थूलशरीर में जो मार्ग बने हैं, उनको इन्द्रियस्थान अथवा इन्द्रियों का आवास या गोलक कहा जाता है, और लोक व्यवहार में तो साधारण जन उन्हीं को इन्द्रियरूप समझते हैं।

---

१—विष्णु पुराण, ६।७।१३॥ कठोपनिषद् २।१।१२॥ अथर्ववेद, १०।८।४३॥

**सूक्ष्मशरीरविषयक महाभारतश्लोक पर वैद्यमत**—इस श्लोक के आधार पर कुछ विद्वानों[1] ने यह आशंका प्रकट की है, कि वर्त्तमान सांख्य-सिद्धान्तों के साथ यहां प्रतिपादित अर्थों का सामञ्जस्य नहीं बैठता। कारण यह है, कि श्लोक में सूक्ष्मशरीर के घटक सोलह तत्त्वों का उल्लेख है, जबकि सांख्यदर्शन में अठारह तत्त्वों का निर्देश किया गया है। यह आशंका अवसरप्राप्त है। इसके समाधान के लिये हमें देखना चाहिये, कि श्लोकवर्णित वे सोलह तत्त्व कौन से हैं ? उनमें पांच तन्मात्र दस बाह्यकरण और एक अन्तःकरण की गणना की जासकती है। कपिलाभिमत तीन अन्तःकरणों के स्थान पर एक की गणना की गई है, केवल इतना सांख्यविरोध यहां उद्भावित किया जासकता है। पर अभी पिछले पृष्ठों में हमने अन्तःकरण के विषय में सांख्याचार्य वार्षगण्य के सिद्धान्त से परिचय प्राप्त किया है। हम देखते हैं, कि उसने एक अन्तःकरण माना है। महाभारत का उक्त श्लोक चाहे व्यास की रचना माना जाय, अथवा अनन्तरकालीन अन्य किसी आचार्य की, पर श्लोक इस बात के लिये स्वयं साक्षी है, कि उसके रचयिता पर उक्त सांख्यसिद्धान्त के सम्बन्ध में सांख्याचार्य वार्षगण्य का प्रभाव था। कापिल साख्यसिद्धान्त के साथ यह एक नगण्य सा विरोध है, जो तीन अन्तःकरण के स्थान पर केवल एक का उल्लेख किया गया है। इसमें कोई प्रबल सिद्धान्त-गत विरोध नहीं है, जब कि कतिपय सांख्याचार्यों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

**सूक्ष्मशरीर की स्थायिता**—सांख्य के इस सिद्धान्त का प्रस्तुत पुस्तक में प्रसंगवश अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है, कि प्रत्येक आत्मा के साथ आदिसर्गकाल में एक सूक्ष्मशरीर का सम्पर्क हो जाता है। इसप्रकार अनन्त आत्माओं के लिये आदिसर्ग में अनन्त सूक्ष्मशरीरों की रचना होकर एक आत्मा के साथ एक सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध नियत है। यह सम्बन्ध समस्त सर्गकाल में बराबर बना रहता है। इसके विच्छेद के दो अवसर आते हैं, या तो सर्ग के अनन्तर प्रलयकाल का उपस्थित होना या सर्गकाल में आत्म-साक्षात्कार होजाना, इसप्रकार आदिसर्गकाल में आत्मा के परिवेष्टन के रूप में उसके भोगापवर्ग को सम्पन्न करने के लिये जो सूक्ष्मशरीर प्रस्तुत होता है, उसमें सर्गस्थितिपर्यन्त किसी तरह के परिवर्तन की सम्भावना नहीं की जा सकती। स्थूलशरीर अल्पकाल में बदलता रहता है, और सूक्ष्मशरीर सर्गकाल में सदा वही बना रहता है।

**सूक्ष्मशरीरविषयक पतञ्जलि मत**—इसके विपरीत सांख्याचार्य पतञ्जलि ने इस सिद्धान्त को इसी रूप में स्वीकार नहीं किया। वह सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को तो मानता है, पर यह नहीं मानता, कि आदिसर्ग से प्रलयपर्यन्त एक ही सूक्ष्मशरीर बराबर बना

---

**१—चिन्तामणि विनायक वैद्य-कृत 'महाभारतमीमांसा' हिन्दी संस्करण का सांख्यप्रकरण, पृष्ठ ४८७॥ मूल श्लोक का पाठ 'यं दृगात्मानं' के स्थान पर 'महाभारतमीमांसा' में 'यं त्रिधात्मानं' दिया गया है।**

रहता है। उसके एक [1]सन्दर्भ से प्रतीत होता है, कि वह स्थूलशरीर की उत्पत्ति के साथ सूक्ष्मशरीर की भी उत्पत्ति मानता है, पर उसी स्थूलशरीर के पतन के साथ सूक्ष्मशरीर का पात अथवा विनाश नहीं मानता। स्थूलदेह का पात हो जाने पर आत्मा को वह सूक्ष्मशरीर अगले स्थूलदेह की उत्पत्तितक पहुंचाता है। जब अगला स्थूलदेह उत्पन्न होता है, तो अगला सूक्ष्मशरीर भी उसके साथ उत्पन्न होजाता है, और आत्मा वहां पहुंच जाता है, तब पहले सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति होजाती है। यह सूक्ष्मशरीर फिर अगले स्थूलदेह की प्राप्ति तक बना रहता है, इसीप्रकार आगे यह क्रम आत्मसाक्षात्कार अथवा प्रलयपर्यन्त चलता रहता है।

**सूक्ष्मशरीरविषयक पतञ्जलि मत का विवेचन**—सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी इस सिद्धान्त को पतञ्जलि ने किस आधार पर माना है, अथवा ऐसा मानने से किस विशेष प्रयोजन की सिद्धि होती है, इसका कोई कारण उसके किसी उपलब्ध सन्दर्भ से प्रकट नहीं होता। सांख्य के आदिकाल से ईश्वरकृष्ण[2] पर्यन्त कापिल शाखा के समस्त सांख्याचार्यों ने आदिसर्ग से एक-एक सूक्ष्मशरीर को प्रत्येक आत्मा के साथ नियत, समस्त सर्गकाल में अवस्थित रहनेवाला, धर्मादि भावों के निवास में सहयोगी, भोगादि सम्पन्न करने में असमर्थ तथा परिच्छिन्न होने के कारण संसरणशील आत्मा का वाहनरूप बतलाया है। प्रत्येक भोगसाधन-स्थूलशरीर के साथ सूक्ष्मशरीर का उत्पाद विनाश मानने के लिये कोई विशेष कारण होने चाहियें, फिर ऐसी स्थिति में सूक्ष्मशरीर की आवश्यक उपयोगिताओं का उपपादन करना भी कठिन होगा। पतञ्जलि का सूक्ष्मशरीर-सम्बन्धी यह विशिष्ट मत विवेचना की अपेक्षा रखता है। यह आचार्य पतञ्जलि, योग-सूत्रकार पतञ्जलि से सर्वथा भिन्न है।

**सूक्ष्मशरीरविषयक वार्षगण्य व रुद्रिल का मत**—आचार्य वार्षगण्य के सन्दर्भों से यह संकेत मिलता है, कि वह सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को स्वीकार करता था, परन्तु उसी शाखा के एक मध्यकालीन प्रसिद्ध सांख्याचार्य रुद्रिल विन्ध्यवासी ने सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व से स्पष्ट नकार किया है। उसके किसी ग्रन्थ का अभी पता नहीं लगा, पर उसके नाम पर उद्धृत सन्दर्भ व मतों में से अधिक का झुकाव उसके इस विचार को पुष्ट

---

१.—(५) पातञ्जले तु सूक्ष्मशरीरं यत् सिद्धिकाले पूर्वमिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तत्र तत्कृताशयवशात्, द्युदेशम् यातनास्थानं वा; करणानि वा प्रापय्य निवर्त्तते। तत्र चैवंयुक्ताशयस्य कर्मवशादन्यदुत्पद्यते, यदिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तदपि निवर्त्तते, शरीरपाते चान्यदुत्पद्यते। एवमनेकानि शरीराणि। [युक्तिदीपिका, पृ० १४४, पं० १६-२०; तथा 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृ० ५२०]। (६) यत्तावत् पतञ्जलिः आह—सूक्ष्मशरीरं विनिवर्त्तते पुनश्चान्यदुत्पद्यते। [युक्तिदीपिका, पृ० १४५, पं० १-२; तथा 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृ० ५२०]

२—सांख्यसूत्र, ३, १-१३॥ तथा सांख्यसप्तति, ३९-४१॥

करने की ओर है। श्लोकवार्त्तिक में लिखा है—विन्ध्यवासी ने अन्तराभव देह का स्पष्ट निषेध किया है, क्योंकि उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता[1]। मनुस्मृति के मेधातिथिभाष्य में सूक्ष्मशरीरविषयक विविध मतों का निर्देश करते हुए लिखा है—"कतिपय आचार्य अन्तराभवदेह के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनका विचार है, कि एक देह से देहान्तर में आत्मा की उत्क्रान्तिका साधन यही है। पर अन्य आचार्यों को अन्तराभवदेह का अस्तित्व अभीष्ट नहीं, जैसा कि भगवान् व्यास ने कहा है—'हे राजन्! इस देह [स्थूलदेह] के व्यतीत होजाने पर दूसरे देह में इन्द्रियां जाकर बस जाती हैं, तब अन्तराभव देह के अस्तित्व को क्यों माना जाय' विन्ध्यवासी आदि कुछ सांख्याचार्य भी अन्तराभव देह के अस्तित्व को नहीं मानते[2]" मेधातिथि के इस लेख में विन्ध्यवासी के अन्तराभवदेह की अस्वीकृति के साथ, व्यास-श्लोक के आधार पर एक और अर्थ का संकेत मिलता है, कि एक स्थूलदेह के समाप्त होजाने पर देहान्तर में इन्द्रियां निवास कर लेती हैं। युक्तिदीपिका में उद्धृत एक सन्दर्भ के आधार पर विन्ध्यवासी की दृष्टि से इस अर्थ का स्पष्टीकरण होता है।

वहां विन्ध्यवासी का मत दिखाया है—'इन्द्रियों के विभु होने से बीजदेश में उनके वृत्तिलाभ द्वारा 'जन्म' तथा उस देह में वृत्ति का त्याग 'मरण' कहा जाता है। एक देह की समाप्ति और देहान्तर की प्राप्ति यथाक्रम मरण और जन्म का रूप है, उनके सम्बन्ध को स्थापित करने व समझने के लिये सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व की कल्पना बताई जाती है। पर बीजदेश में इन्द्रियों के वृत्तिलाभ व अलाभ से इस व्यवस्था के सम्पन्न होजाने पर सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को मानना अनावश्यक होजाता है। इसलिये यह संसरण की व्यवस्था विना किसी सूक्ष्मशरीर आदि विशेष निमित्त के स्वीकार किये

---

१—अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते॥ [श्लो० वा. सूत्र ५ पर ६२ श्लोक; तथा 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृ० ५३१]

२—अथवा कैश्चिदिष्यते—अस्त्यन्यदन्तराभवं शरीरं सूक्ष्मं यस्येयमुत्क्रान्तिः।
अन्यैस्त्वन्तराभवदेहो नेष्यते, यथाह भगवान् व्यासः—
अस्मिन् देहे व्यतीते तु देहमन्यन्नराधिप।
इन्द्रियाणि वसन्त्येव तस्मान्नास्त्यन्तराभवः॥
सांख्या अपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासिप्रभृतयः।
[मनु०, मेधातिथिभाष्य, १,५५; तथा 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ ५३२]

३—विन्ध्यवासिनस्तु—विभुत्वादिन्द्रियाणां बीजदेशे वृत्त्या जन्म तत्त्यागो मरणम् तस्मान्नास्ति सूक्ष्मशरीरम्। तस्मान्निर्विशेषः संसार इति पक्षः।
[यु० दी०, पृ० १४४, पं० २०-२२; तथा 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृ० ५३०]

बराबर चलती रहती है। दूसरे एक सन्दर्भ में विन्ध्यवासी के मत से इन्द्रियों के विभु माने जाने का स्पष्ट निर्देश किया गया है। इस प्रसंग में 'बीजदेश' पद का अभिप्राय है–विभिन्न योनियों के अनुसार विरोधी लिंगों का प्रजननात्मक सहयोग, वहां से स्थूलदेह की रचना प्रारम्भ हो जाती है, इन्द्रियों के विभु माने जाने पर जिस देह में वे अपने व्यापार को छोड़ देती है, उसका 'मरण', तथा जहा नये देहान्तर में प्रारम्भ कर देती हैं, उसका 'जन्म' होना समझा जाता है, इसी स्थिति को औपचारिकरूप में 'संसरण' अथवा 'उत्क्रान्ति' आदि पदों से व्यवहृत किया गया है। वस्तुतः न किसी की उत्क्रान्ति होती है, और न कहीं संसरण। जब इन्द्रियां सर्वत्र व्याप्त हैं, तब उनके वृत्तिलाभ अथवा अलाभ से ही यह सब व्यवस्था सम्पन्न हो जाती है। देहान्तर में इन्द्रियों के इसी वृत्ति-लाभ को व्यास के उपर्युक्त श्लोक में देहान्तर में इन्द्रियों का निवास करलेना बताया है। इसके अनुसार सूक्ष्मशरीर का अस्तित्व अनावश्यक एवं अप्रामाणिक होजाता है।

**विन्ध्यवासी के सूक्ष्मशरीर अस्वीकार का आधार**—विन्ध्यवासी के विचार से सूक्ष्मशरीर के न माने जाने का मुख्य आधार-इन्द्रियों का विभु होना–स्वीकार किया जाना है। पातंजल योगदर्शन के व्यासभाष्य [४।१०] में स्पष्टरूप से 'चित्त' को विभु बताया है। यहाँ 'चित्त' पद का अर्थ वाचस्पति ने 'मन' किया है। इसी प्रसंग के आगे व्यासभाष्य की एक पंक्ति [तयोर्मानसं बलीयः] के आधार पर 'चित्त' पद का 'मन' के लिये प्रयोग होना स्पष्ट होता है। हम इस प्रसग में उसके लिये केवल 'मन' पद का प्रयोग करेंगे। फलतः व्यासभाष्य के उक्त प्रसंग में मन को विभु मानकर अन्तराभवदेह का प्रत्याख्यान किया गया है। सांख्य-योग के अनुसार मन ग्यारह इन्द्रियों में से एक आन्तर इन्द्रिय है। अन्य श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों को विभु माने जाने का कोई संकेत व्यासभाष्य में नहीं है। प्रत्युत इसके विपरीत श्रोत्र आदि इन्द्रियों की परिच्छिन्नता का संकेत इसी प्रसंग के व्यासभाष्य की उस पक्ति के आधार पर मिल जाता है, जिसमें विभु मन की वृत्ति को संकोचविकासयुक्त बताने के लिये उसके बाह्य साधनों का निर्देश किया है। वहां भाष्य में 'शरीरादिसाधन' पद है, जिसके 'आदि' पद का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने 'इन्द्रिय' किया है। इसका अभिप्राय यह निकलता है, कि एक आन्तर इन्द्रिय मन को विभु मान लेने पर अन्य श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों को परिच्छिन्न मानकर भी सूक्ष्म-शरीर को मानने की आवश्यकता नहीं रहती। व्यास ने यहां सूत्र का जो आशय प्रकट किया है, वह यदि सूत्रकार पतञ्जलि की भावना के अनुकूल है, जो होना चाहिये, तो यह मानना होगा, कि सूत्रकार पतञ्जलि ने भी सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया, और मन को विभु माना है।

**मन की विभुता में दोष**—मन के विभु मानने में एक बड़ी आपत्ति यह है, कि

---

१—इन्द्रियाणि···विभूनीति विन्ध्यवासिमतम् [युः दी०, पृ० १०८, प० १०; तथा 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृ० ५३०]

उसका प्रत्येक इन्द्रिय के साथ प्रतिक्षण सम्बन्ध बना रहेगा, और इन्द्रिय का अपने विषय के साथ। तब विषयग्रहण का यौगपद्य होना चाहिये। अभिप्राय यह है, कि प्रत्येक क्षण में प्रत्येक विषय का ज्ञान होते रहना चाहिये, जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के सर्वथा विरुद्ध है। इस अनुभवविरोधी अर्थ को स्वीकार करना कठिन होगा। मन को विभु मानकर सूक्ष्मशरीर के अस्वीकार करने में दूसरी आपत्ति यह है, कि एक स्थूलशरीर का अवसान होने पर यहां से देहान्तर में इन्द्रियों के जाने का आधार क्या होगा? जिस देह में उन्होंने अब वृत्तिलाभ करना है। करणों का निराश्रय रहना और इसप्रकार संसरण करना शक्य नहीं। मन का विभु होना उनको इस दिशा में कोई सहारा नहीं दे सकता। मन स्वयं इन्द्रिय है, एक इन्द्रिय का दूसरा इन्द्रिय आश्रय होना संभव नहीं। यदि देहपात होने पर इन्द्रियों का विनाश और नये देह के साथ नवीन इन्द्रियों का उत्पन्न होजाना माना जाता है, तो मन के भी उत्पादविनाश का प्रश्न उपस्थित होता है, क्योंकि वह भी इन्द्रिय है। यह अर्धजरतीयन्याय संभव नहीं, और न इसका कोई नियामक कारण है, कि कतिपय इन्द्रियों का उत्पादविनाश होता रहे, और कोई इन्द्रिय बराबर बनी रहे। योगसूत्रों [४।४-५] में जहां योगी के लिये आवश्यकतानुसार इन्द्रियों को उत्पन्न कर लेने का उल्लेख हुआ है, वहां मन के उत्पन्न कर लेने का भी कथन है। इसप्रकार मन को विभु मानकर विषयग्रहण और संसरण की व्यवस्था बनी नहीं रह सकती। फिर मन की रचना कर लेना उसको विभु मानने के विपरीत जाता है।

**विन्ध्यवासी ने इन्द्रियों को विभु क्यों माना**—प्राचीन सांख्याचार्य जीवात्मा को अणु मानते आये हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने 'पुरुष' नामक प्रकरण में किया है। आत्मा को अणु मानकर उसके भोगसाधन एक देह का अवसान होने पर देहान्तर में संसरण का प्रश्न आता है। जिन साधनों से परिवेष्टित होकर उसका परिवहन किया जाता है, उसी को सांख्य में सूक्ष्मशरीर माना है। इस शरीर को स्वीकार न करने वाले आचार्यों ने मन को विभु मानते हुए संसरणसम्बन्धी आशंका का समाधान आत्मा को विभु मानकर किया। वस्तुतः आत्मा को विभु मानने पर संसरण का प्रश्न नहीं रहता। समस्त वैदिक व अन्य साहित्य में आत्मा के संसरण का जो उल्लेख है, उस सब को औपचारिक मान लिया गया। एक देह में इन्द्रियों का वृत्तिलाभ न करना—वहां से आत्मा का निकलजाना व संसरण करना समझ लिया गया। वस्तुतः विभु आत्मा का न कहीं जाना आना और न किसी प्रकार का संसरण संभव है। पर आत्मा व मन के विभु मानने पर एक देह के अवसान होने से देहान्तर में इन्द्रियों के संसरण की कोई गति नहीं बनती। इसके समाधान के लिये कदाचित् विन्ध्यवासी ने समस्त इन्द्रियों को विभु माना। इससे संसरण की समस्या समाप्त होगई। एक देह का पात होनेपर दूसरे उत्पद्यमान देहप्रदेश में विभु होने से इन्द्रियां सदा विद्यमान हैं, अब वहां पर वे अपना वृत्तिलाभ कर सकेंगी।

**इन्द्रियों की विभुता में दोष**—संसरण की समस्या समाप्त समझ लेने से अन्य अनेक समस्या सिर न उठायेंगी, सो बात नहीं है। सबसे पहले तो यह, कि समस्त साहित्य में वर्णित आत्मा के संसरण को एक शब्द में औपचारिक कह देना साहसमात्र है। इसके अतिरिक्त आत्मा से लेकर इन्द्रियपर्यन्त उसके समस्त साधनों को विभु मानने पर विषयग्रहण के यौगपद्य का निवारण नहीं किया जासकता। समस्त इन्द्रियां प्रत्येक देश में विद्यमान होने के कारण अपने विषयों के साथ सम्बद्ध हैं, और उन सब का सम्पर्क मन के साथ बना हुआ है, मन आत्मा से सम्बद्ध है, तब प्रत्येक क्षण में प्रत्येक विषय का ज्ञान होते रहना चाहिये। कहा जासकता है, कि इन्द्रियों को वृत्तिलाभ स्थूलदेह में होपाता है, और वह एकदेशी है, इसलिये अन्यत्र वृत्तिलाभ न होगा। पर प्रश्न अन्यत्र वृत्तिलाभ का नहीं है। देह एकदेशी होने पर भी इन्द्रियों को उसमें सीमित नहीं किया जासकता, वे असीमित हैं, विभु हैं। तब अन्तर्हित विषयों का और समस्त विषयों का युगपत् देहदेश में ग्रहण क्यों नहीं होता? अभिप्राय यह है, कि देह के एकदेशी होने से चाहे ग्रहण देहदेश में होता रहे, पर देह में इन्द्रियों के असीमित होने के कारण अन्तर्हित विषय का भी ग्रहण होना चाहिये। 'अन्तर्हित' पद का प्रयोग तो हमने वस्तुस्थिति के अनुसार किया, इन्द्रियों के विभु होने की दृष्टि से तो कोई विषय अन्तर्हित नहीं कहा जासकता। अब समस्त संसार प्रत्यक्षगोचर होते रहना चाहिये, और प्रतिक्षण यही स्थिति बनी रहनी चाहिये।

**गोलक यौगपद्य में बाधक क्यों**—यदि इसका दोष एकदेशी देह-स्थित इन्द्रिय-गोलकों पर डाला जाता है, और यह कहाजाता है, कि वे इन्द्रियों को विषयग्रहण में सहायता देते हैं, तथा इतना सामर्थ्य नहीं रखते, कि वे अन्तर्हित विषयों को ग्रहण करने में सहायक होसकें क्योंकि वे सर्वथा एकदेशी हैं। इससे एक तो गोलकों में ग्रहणशक्ति को स्वीकार करना पड़ता है। दूसरे यह, कि गोलकों में इन्द्रियों को सीमित नहीं कहा जासकता। यदि पहली स्थिति को मान लिया जाय, तो उनको ही इन्द्रिय कहना होगा। दूसरी स्थिति में अन्तर्हित और युगपत् विषयग्रहण की प्रसक्ति होगी। यदि इन्द्रिय विषयग्रहण की दृष्टि से देह अथवा गोलकों में सीमित हैं, तब उनके विभु होने का अथवा देह से बाहर उनके अस्तित्व का क्या प्रमाण है? केवल यह कहते चले जाना, कि इन्द्रियां विभु हैं, और उनके विषयग्रहण का सामर्थ्य बस देहमात्र में सीमित हैं, वस्तुस्थिति का उपहास करना है। इन्द्रियों की ऐसी स्थिति में उनके विभु होने का कोई प्रमाण नहीं रहता। इन्द्रियों का अस्तित्व विषयग्रहण से अनुमान किया जाता है, और वह जब देह में सीमित हैं, तब इन्द्रियों की स्थिति को सीमित व परिच्छिन्न माना जासकता है, विभु नहीं।

इन्द्रियों को विभु मानने पर और यह व्यवस्था स्वीकार कर लेने पर कि विषय-ग्रहण देह के बाहर नहीं होता, देहदेश में ही उसका होना संभव है, इससे अन्तर्हित विषयों के ग्रहण होजाने का दोष चाहे न दिया जा सके, पर ज्ञानों के युगपत् होने की

आपत्ति का निवारण नहीं होपाता, मन और इन्द्रियों के विभु होने से एक देह में ही सब इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ और मन का सब इन्द्रियों के साथ युगपत् सम्बन्ध बने रहने के कारण प्रत्येक ज्ञान प्रतिक्षण होते रहना चाहिये, । इन्द्रियगोलक इसमें बाधक नहीं कहे जासकते, अन्य किसी बाधक की संभावना नहीं । फलतः ज्ञानों के अयौगपद्य की व्यवस्था से मन और इन्द्रियों का विभु माना जाना सर्वथा अप्रामाणिक है।

**मरणानन्तर इन्द्रियास्तित्व में प्रमाण**—यहां एक आशंका की जासकती है, कि इन्द्रियों को परिच्छिन्न मानने पर भी देह में विषयग्रहण के सीमित होने से देह को छोड़कर चले जाने पर बाहर उनका अस्तित्व बना रहता है, इसमें क्या प्रमाण है ? क्योंकि आत्मा के भोग का स्थान स्थूलदेह है, वहीं पर इन्द्रियों की वृत्ति संभव होने से वहां उनके अस्तित्व का अनुमान किया जासकता है, पर मरणानन्तर शरीर के बाहर उनके अस्तित्व में कोई प्रमाण होना चाहिये । अन्यथा स्थूलदेह के साथ समस्त इन्द्रियों के उत्पाद एवं विनाश को स्वीकार कर लेना होगा ।

यह आशंका ठीक है, वृत्तिलाभ से स्थूलदेह में इन्द्रियों का अनुमान किया जा-सकता है । पर इसकी पृष्ठभूमि को विचारना होगा । हेत्वन्तरों से यह सिद्धान्त निश्चित है, कि एक देह छोड़ने के अनन्तर देहान्तर में जानेपर आत्मा का अस्तित्व बराबर उसी रूप में सदा बना रहता है । आत्मा के निश्चित अस्तित्व को स्थिर स्वीकार करने पर एक देह के त्याग और देहान्तर की प्राप्ति में उसकी उत्क्रान्ति के किसी आधार को मानना होगा । वह आधार सूक्ष्मशरीर का अस्तित्व सम्भव होसकता है । सूक्ष्मशरीर में तेरह करण और उनके आश्रयभूत पांच तन्मात्र की विद्यमानता रहती है । इसप्रकार आत्मा की उत्क्रान्ति अथवा संसरण, स्थूलदेह के बाहर इन्द्रियों के अस्तित्व में अनुमापक होता है । योगसूत्रकार पतञ्जलि अथवा विन्ध्यवासी आदि आचार्यों ने सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को न मानकर अनेक ऐसी कल्पना कर डाली हैं, जिनका वस्तुस्थिति से सामञ्जस्य नहीं होपाता । उन्होंने केवल जैसे तैसे लोकव्यवहार को निभाने का असफल प्रयत्न किया है जो विचार की दृष्टि से उन्हें बहुत महंगा पड़ा कहा जासकता है । फलतः सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को स्वीकार करना प्रमाणसिद्ध तथा सबप्रकार की बाधाओं से रहित है, और वस्तुस्थिति के अतिसमीप।

**वाचस्पति मिश्र और सूक्ष्मशरीर**—वाचस्पति मिश्र ने योगदर्शन के उक्त प्रसंग में लिखा है, कि संसरण को सूक्ष्मशरीर का अनुमापक नहीं कहा जासकता, क्योंकि जो योगाचार्य सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उनके मत में भी संसरण सम्भव होता है । पर मिश्र ने संसरण की उस सम्भावना को इस प्रसंग में किसी प्रकार से स्पष्ट नहीं किया । केवल कह देने से संसरण की संभावना निर्बाध नहीं होजाती । सूक्ष्मशरीर को स्वीकार न करने की स्थिति में मन अथवा इन्द्रियों को विभु मान लेने पर संसरण की सम्भावना किस प्रकार सम्पन्न नहीं होपाती, इसका विवेचन अभी पिछली पंक्तियों में

कर दिया गया है।

सूक्ष्मशरीर के प्रत्याख्यान के लिये वाचस्पति मिश्र ने एक बात और लिखी है- यदि चित्त विना किसी आश्रय के देहान्तर में सञ्चरण नहीं कर सकता, तो वह आतिवाहिक शरीर का आश्रय भी कैसे लेता है? यदि उस शरीर का आश्रय लेने के लिये अन्य शरीर की कल्पना की जाय, तो इसप्रकार आगे आगे अन्य अन्य शरीरों की कल्पना करने पर अनवस्था दोष होगा। यदि विना किसी अन्य आश्रय के चित्त आहिवाहिक शरीर में पहुंच जाता है, तो विना आतिवाहिक के वह देहान्तर में भी संचार कर सकेगा। पर इस तर्क की उद्भावना वस्तुस्थिति की उपेक्षा में ही की जासकती है। कारण यह है, कि एक देह से देहान्तर में संचरण का प्रश्न केवल स्थूलदेह के विचार से किया जाता है। आतिवाहिक देह में चित्त के उपस्थित होने के लिये अन्य आतिवाहिक की प्रसक्ति का प्रश्न ही निराधार है, क्योंकि चित्त आतिवाहिक शरीर में उपस्थिति से पहले किसी अन्य देह को छोड़कर नहीं आता। वहां अतिवहन का प्रश्न नहीं उठता। स्वयं 'अतिवहन' पद में यह भावना अन्तर्निहित है, कि पहले देह को अतिक्रान्त करके ढोये जाकर देहान्तर में पहुंचना। आतिवाहिक शरीर में चित्त के उपस्थित होने की यह अवस्था नहीं है। इस प्रसंग में 'चित्त' पद को समस्त करणों का उपलक्षण समझना चाहिये। इसप्रकार चित्त अर्थात् करण अपने आत्मलाभ के अनन्तर सृष्टिक्रम के अनुसार सूक्ष्मशरीर के रूप में संघटित होजाते हैं। इसी संघटन का नाम 'आतिवाहिक' शरीर है। सर्गकाल में यह समस्त करणों का एक देह से देहान्तर में संचार का साधन बनता है। इससे अन्यत्र चित्त अथवा करणों के संचार की स्थिति या प्रश्न की सम्भावना कहां है? इसलिये उक्त तर्क वस्तुस्थिति को छोड़कर किया गया है।

**सूक्ष्मशरीर के विना उत्क्रान्ति सम्भव नहीं**—इतने विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को माने विना चिति अथवा चित्त का संचार सम्भव नहीं होसकता। यदि इस समस्या को सुलझाने के लिये मन अथवा इन्द्रियों को विभु मान लिया जाता है, तो विषयमात्र का ज्ञानयौगपद्य प्रसक्त होजाता है। ज्ञानयौगपद्य के समाधान के लिये व्यासभाष्य में एक संकेत किया है। वहां लिखा है, कि विभु चित्त की वृत्ति के लिये बाह्य तथा आध्यात्मिक निमित्तों की अपेक्षा रहती है। चित्त यद्यपि विभु है, पर उन निमित्तों के सद्भाव में उसे वृत्तिलाभ होसकेगा, अन्यथा नहीं। ऐसी अवस्था में ज्ञानयौगपद्य की प्रसक्ति न होगी। वे निमित्त क्या हैं? व्यासभाष्य में बताया है, कि वे दो प्रकार के हैं-बाह्य और आध्यात्मिक। बाह्य हैं-शरीर इन्द्रिय आदि, तथा आध्यात्मिक हैं-स्तुति दान अभिवादन श्रद्धा आदि शुभ एवं अशुभ कर्म अथवा धर्म अधर्म आदि। अभिप्राय यह है, कि ये साधन ऐसे हैं, जिनकी उपस्थिति सार्वकालिक अथवा सार्वदेशिक नहीं रहती। मन के विभु होने पर भी इन निमित्तों के अथवा किसी एक निमित्त के अभाव में प्रतिक्षण एवं युगपत् वृत्तिलाभ की सम्भावना नहीं होपाती।

कह देने के लिये यह बात आपाततः युक्त प्रतीत होती है, कि शरीरादि साधनों के सद्भाव में वृत्तिलाभ सम्भव है, अन्यथा नहीं। पर मन के विभु होने की अवस्था में शरीरादि साधनों के विद्यमान रहने पर विषयमात्र का युगपत् ज्ञान क्यों नहीं होता ? इसका समाधान उक्त कथन से नहीं होपाता। जब विभिन्न विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क होनेपर समस्त इन्द्रियों के साथ मन का सम्पर्क बना रहता है, और ज्ञान का कोई बाधक निमित्त वहां नहीं रहता, तब ज्ञानयौगपद्य का निवारण कैसे ? यदि किसी अदृष्ट या रहस्यमय निमित्त की साधक या बाधकरूप में कल्पना की जाती है, तो ऐसे निमित्त के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं। जब वह निमित्त ज्ञानग्रहण में सहयोगी माना जाता है, तो उसका अभाव ज्ञानयौगपद्य को न होने देगा, वह उसका साधकरूप है। यदि ज्ञान-निमित्तों के रहते, वह रहस्यमय निमित्त अस्तित्व के कारण युगपत् ज्ञानों को नहीं होने देता, तो वह उसका बाधकरूप होगा। किसी भी रूप में ऐसे निमित्त की कल्पना प्रमाण परिपोषित नहीं है। यदि ज्ञानग्रहण में उस निमित्त का सहयोग अनिवार्य है, तो उसीको ज्ञान का साधन मान लेना चाहिये, चित्तादि का स्वीकार किया जाना व्यर्थ है। यदि विन्ध्यवासी के विचार के अनुसार मन की विभुता के साथ अन्य सब इन्द्रियों को विभु मान लिया जाता है, तो ज्ञानयौगपद्य की प्रसक्ति का समाधान और कठिन होजाता है, जैसा अभी स्पष्ट किया है। फलतः करणों की यह लम्बी परीक्षा सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को स्वीकार करने की ओर हमें अधिक झुका देती है। महाभारत और पुराणों [अग्नि० ३७९।१२-१३॥ ब्रह्म० २३५।१६] आदि में सांख्यानुसार अनेक स्थलों पर सूक्ष्मशरीर के वर्णन उपलब्ध होते हैं।

**ग्यारह इन्द्रिय, उनके विषय**—विस्तार के साथ अभी तेरह करणों का वर्णन किया गया है। इनमें ग्यारह करणों की विशेष संज्ञा 'इन्द्रिय' है। श्रोत्र आदि दस बाह्य-करण बाह्य 'इन्द्रिय' कहलाते हैं। इनमें श्रोत्र त्वक् चक्षु रसन घ्राण पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, तथा वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ पांच कर्मेन्द्रिय हैं। इसप्रकार समस्त बाह्यकरणों को 'इन्द्रिय' कहा जाता है। तीन अन्तःकरणों में से केवल एक 'मन' की विशेष संज्ञा 'इन्द्रिय' है। मिलकर सब ग्यारह इन्द्रिय हैं। उनके इस नामकरण का मुख्य आधार अपने ग्राह्य विषयों के साथ सीधा सम्पर्क होना कहा जासकता है। यथाक्रम इनके विषय हैं—शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध वचन आदान विहरण उत्सर्ग आनन्द स्मृति। पहले पांच यथाक्रम ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं, इसलिये श्रोत्र आदि से शब्द आदि का ज्ञान सम्पन्न होता है। ये ज्ञान के बाह्य साधन हैं। किसी ज्ञान के पूरा होने के लिये सबसे पहला पग इन साधनों का अपने विषय के साथ सम्बन्ध होना है, जो निश्चितरूप से बाहर का संसार है। इसके अनन्तर आन्तर साधन अपना कार्य करते हैं, तब ज्ञान पूरा होपाता है। आन्तर साधनों के तीन स्तर हैं, जो विषय बाह्य इन्द्रिय से गृहीत होता है, उसका मनन [तर्कवितर्कात्मक अथवा संकल्पविकल्पात्मक विचार] मन से, अभिमान अहंकार से तथा निश्चय बुद्धि के

द्वारा होता है। यह ज्ञान का अन्तिम स्तर अथवा पग है। यहां ज्ञान पूरा होजाता है। ज्ञान के इस क्रम में मन जो कार्य करता है, उसके आधार पर उसे केवल 'करण' कहा जा-सकता है, इन्द्रिय नहीं। क्योंकि उन उन विषयों के साथ उसका कोई सीधा सम्पर्क नहीं, प्रत्युत बाह्य इन्द्रियों के द्वारा वह सम्पन्न होता है। आन्तर करण होने से इसकी गणना अन्तःकरणों में कीगई है।

वचन आदि अगले पांच विषय यथाक्रम कर्मेन्द्रियों के हैं। ज्ञानेन्द्रियों के कार्यक्रम में जिस आनुपूर्वी को हमने परिलक्षित किया है, कर्मेन्द्रियों के कार्यक्रम में उससे कुछ विपर्यय देखा जाता है। ज्ञानेन्द्रियों में पहले, इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध होता है, तब इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध मन अपना कार्य करता है, फिर अहंकार और अन्त में बुद्धि निश्चय करती है। पर कर्मेन्द्रियों में यह क्रम परिलक्षित नहीं होता। वहां जिस क्रिया का अनुष्ठान करना होता है, उसके अनुकूल संस्कार अथवा वासना किसी उद्बोधक निमित्त के द्वारा मन में स्मृतिरूप से उठ आता है, और मन उस भावी क्रिया के विषय में संकल्प-विकल्पात्मक विचार प्रस्तुत करता है, अहंकार अभिमान तथा बुद्धि उसका निश्चय कर डालती है। अनुकूल स्मृति के उदबोध से लेकर क्रियानुष्ठान के निश्चय तक अन्तःकरणों का कार्यक्रम यथापूर्व रहता है। निश्चय के अनन्तर चेतन आत्मा की प्रेरणा से वह कर्मेन्द्रिय क्रियानुष्ठान में तत्पर होजाती है, जिसका वह विषय है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के कार्यक्रम में इतना अन्तर है। यह इन्द्रियों की अपनी विशेष रचना तथा ज्ञान व कर्मरूप विलक्षण विषयों की स्थिति पर आधारित है।

ग्यारहवां विषय स्मृति है। किसी भी विषय की स्मृति, तद्विषयक संस्कार अथवा वासनाओं के आधार पर प्रकाश में आती है। संस्कार अथवा वासनाओं का आधार चाहे जो हो, पर स्मृतिरूप में प्रकट होने के लिये उनका सीधा सम्पर्क मन से होता है। इसलिये स्मृति के प्रकाशन में मन इन्द्रियरूप से उपस्थित होता है। स्मृतिविषयक अभिमान और निश्चय अहंकार तथा बुद्धि के द्वारा पूर्वक्रमानुसार होते रहते हैं। 'मन' अन्तःकरण होते हुए इसी कारण 'इन्द्रिय' कहा जाता है। ज्ञान और कर्म के रूप में अपनी विलक्षणता के आधार पर समस्त विषय ग्यारह वर्ग में सीमित हैं। उनके ग्रहण व अनुष्ठान के लिये ग्यारह इन्द्रियों का अस्तित्व सम्पन्न होता है। ज्ञान कर्म के रूप में विषय की न्यूनाधिकता न होने से इन्द्रियों की न्यूनाधिकता सम्भव नहीं। सांख्य में नियतरूप से ग्यारह इन्द्रियों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

**इन्द्रियां छह, न्याय वैशेषिक में**—गौतम-कणाद ने छह इन्द्रियां स्वीकार की हैं। उन्होंने कर्मेन्द्रियों को इन्द्रिय नहीं माना। केवल ज्ञानसाधनों को इन्द्रिय संज्ञा दी है। उनका कहना है, कि कर्म के साधन स्थूलशरीर के अवयवमात्र हैं, उनके अतिरिक्त यहां किसी अन्य इन्द्रिय नामक तत्त्व के अस्तित्व की सम्भावना नहीं करनी चाहिये। केवल ज्ञानसाधन, बाह्य गोलकों के पीछे अपना अतिरिक्त अस्तित्व रखते हैं, जिनको इन्द्रिय

कहा जाता है। सांख्य की दृष्टि से कर्मसाधन शरीरावयवों के पीछे भी इन्द्रियों का अस्तित्व है। वस्तुतः जिन शरीरावयवों को कर्मसाधन कहा गया, वे उन इन्द्रियों के बाह्य गोलकमात्र हैं, पीछे बैठा इन्द्रिय उनके द्वारा क्रियानुष्ठान का साधन बनता है। यह केवल रुचि की बात कही जासकती है, कि कोई ज्ञानसाधनों को इन्द्रिय माने, कर्मसाधनों को न माने, पर वस्तुस्थिति इसका साथ नहीं देती। ज्ञानसाधनों को तरह कर्मसाधनों को इन्द्रिय मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। भारतीय अन्य[1] साहित्य इस तथ्य की विस्तार के साथ पुष्टि करता है। भगवद्गीता में 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' [१५।७] यह वाक्य केवल ज्ञानेन्द्रियों का निर्देश करता है, यह बात अगले नवम श्लोक से स्पष्ट होजाती है। इसका यह अभिप्राय न समझना चाहिये, कि गीता ने केवल छह इन्द्रियों का अस्तित्व स्वीकार किया है। क्योंकि अन्य प्रसंगों [१३।५] में इन्द्रियों की नियत ग्यारह संख्या का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। प्रायः समस्त भारतीय साहित्य के द्वारा इस तथ्य का प्रतिपादन, सांख्यनिर्दिष्ट तत्त्वविषयक वस्तुस्थिति को और अधिक प्रकाश में ले आता है, चाहे वह प्रतिपादन स्वतन्त्ररूप से माना जाय अथवा सांख्य-विचारों के प्रभाव से।

**इन्द्रियविचार और आचार्य शंकर**—वेदान्तसूत्र [२।२।१०] के भाष्य में प्राचार्य शंकर ने सांख्यसिद्धान्तों के प्रत्याख्यान-प्रसंग से इन्द्रियविषयक सिद्धान्त में परस्पर विरोध होने की आपत्ति प्रस्तुत की है। आचार्य ने लिखा है, कि 'सांख्य में परस्पर विरोधी मतों को मान लिया गया है। कहीं सात इन्द्रियों का वर्णन है, तो कहीं ग्यारह का। कहीं महत् से तन्मात्र की सृष्टि का उपदेश किया गया है, और कहीं अहंकार से। कहीं पर तीन अन्तःकरणों का वर्णन है, तो कहीं एक का।' इस विप्रतिषेध के आधारपर आचार्य ने सांख्यसिद्धान्तों में उपहासपूर्वक उपेक्षा की भावना प्रदर्शित की है।

उपनिषदों में संसार के सर्गसम्बन्धी उल्लेख परस्पर अतिविभिन्नरूप में उपलब्ध होते हैं। ब्रह्मसूत्रकार और सूत्रों के भाष्यकार स्वयं आचार्य शंकरने बहुत विस्तार और आरभटी के साथ उन उपनिषद् वाक्यों के समन्वय का प्रयत्न किया है। फिर भी यह निश्शंक तथा निर्बाधरूप में नहीं कहा जासकता, कि वह समन्वय सर्वथा यथायथ होसका हो। उसका कारण है, ब्रह्मसूत्रों का जो व्याख्यान आचार्य शंकर ने किया है, उससे सर्वथा भिन्न व्याख्यान अन्य आचार्यों ने किये हैं। इनमें से सूत्रकार का आशय कौन सा है, इसका निर्णय करने के लिये आज तक कोई कसौटी काम नहीं देसकी। यह भी सम्भव है, कि कदाचित् उनमें से एक भी व्याख्यान सूत्रकार के आशय के अनुकूल न हो। क्या अब हम इसप्रकार के विप्रतिषेध के आधार पर वेदान्त के मूल सिद्धान्तों को असमञ्जस कह सकते हैं? और क्या उन व्याख्याकारों के परस्पर मतिविभेद के आधार पर सूत्रकार ऋषि का विप्रतिषेधमूलक उपहास किया जासकता है? आचार्य शंकर के ही शिष्यों

१—देखें—भगवद्गीता, ३।६–७॥५।८–९॥१३।५॥ मनुस्मृति, २।८९॥ तथा प्रश्नोपनिषद् ४।८॥

अथवा अनुयायियों ने अनेक परस्पर विरोधी मतों का उपपादन किया है, क्या उससे आचार्य के प्रतिपादित मूल मत पर चोट दी जासकती है ? स्वयं आचार्य ने उक्त सूत्र के प्रसंग से दो पग आगे ही बौद्धमतखण्डन के अवसर पर कितने बलपूर्वक यह नहीं लिखा ?– 'स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्' [२।२।२६]। क्या आचार्य सचमुच स्वप्न को स्मृति मानते हैं ? क्या आचार्य ने सर्वथा अपने मन्तव्य के विरुद्ध स्वयं इसको नहीं लिखा ? आचार्य के ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रसंग दिखाये जासकते हैं। बात यह है, कि अपनी आंख का शहतीर दीखना कठिन होता है, जबकि दूसरे का तिनका आसान।

**शंकर का बौद्धमतप्रत्याख्यान**—आचार्य शंकर के उपपादित समन्वय की यथार्थता और सूत्रकार का वही आशय होने की वास्तविकता, बौद्धमतप्रत्याख्यान में आयोजित सूत्रों के व्याख्यान से स्पष्ट होजाती है। वेदान्तदर्शन के इन पन्द्रह सूत्रों का बौद्धमतखण्डन की दृष्टि से जो व्याख्यान आचार्य शंकर ने प्रस्तुत किया है, और उसमें प्रत्याख्यान की जिस रीति का आश्रय लिया गया है, सूत्रकार का सर्वथा वही आशय था–यह उपपादन करना अत्यन्त कठिन है। यह ठीक है, कि बौद्धदर्शन की उन पारिभाषिकताओं और आन्तरिक विभिन्नताओं के स्पष्टतया प्रकाश में आजाने पर आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ, पर बौद्धदर्शन की वह सब स्थिति उसी रूप में सूत्रकार व्यास ऋषि के सन्मुख तो नहीं मानी जासकती। इससे स्पष्ट है, व्याख्याकार ने अपनी भावना व जानकारी को आयासपूर्वक उन सूत्रों में से खींचने का यत्न किया है। कम से कम यह निश्चयपूर्वक कहा जासकता है, कि इस प्रसंग में व्याख्याकार ने जिस ध्वनि को प्रस्फुटित किया है, सूत्रकार का वैसा आशय नहीं कहा जासकता। सूत्रकार, बौद्धदर्शन की उन पारिभाषिकताओं तथा अवान्तर विभेदों से सर्वथा अपरिचित था, जिनका उद्घाटन व्याख्याकार ने सूत्रों के आधार पर उस रूप में किया है।

**शंकर का सांख्यमतप्रत्याख्यान**—सांख्यप्रत्याख्यान के जिस प्रसंग के आधार पर हम यह विवरण दे रहे हैं, उसको देखिये। इन दस सूत्रों [२।२।१-१०] में कापिल सांख्यसिद्धान्तों का प्रतिषेध किया गया बताया जाता है। इन सूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह है, कि चेतन की सहायता या प्रेरणा के विना प्रकृति में कोई क्रिया नहीं हो पाती। चेतननिरपेक्ष अर्थात् चेतन पुरुष से अपरिगृहीत अथवा अननुगृहीत प्रकृति में प्रवृत्ति नहीं होसकती, जो सांख्य में प्रतिपादित कीगई है। पर पिछले प्रकरण में यह स्पष्ट कर दिया गया है, कि कपिल प्रकृति में चेतननिरपेक्ष प्रवृत्ति नहीं मानता। सांख्य की परम्परा में ऐसा मत आचार्य वार्षगण्य का है। कपिल के सूत्रों से तथा महाभारत आदि में वर्णित कपिलमतसम्बन्धी अन्य प्राचीन उल्लेखों से यह स्पष्ट है, कि वह प्रकृति के अधिष्ठाता एक चेतन को स्वीकार करता है[1]। इसके विपरीत आचार्य वार्षगण्य के एक

१—देखें—सांख्यसूत्र, १,६१॥ यह सूत्रसंख्या हमारे सम्पादित व व्याख्यात सांख्यदर्शन के अनुसार है; इसमें ३५ जोड़कर अन्य किसी संस्करण में देखा जा सकता है।

सन्दर्भ से यह स्पष्ट है, कि वह चेतन पुरुष से अपरिगृहीत प्रधान में स्वतन्त्र अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति मानता है[1]। वार्षगण्य के इस सिद्धान्त को बौद्धकाल के प्रारम्भिक दिनों में कापिल सांख्य के नाम पर आरोपित किया गया, या ऐसा समझ लिया गया। परिणाम यह हुआ कि अनन्तरकाल में यह सिद्धान्त कपिल का समझा जाने लगा। ऐसे समय में आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा, और इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान कपिल अथवा कापिल सांख्य के नाम पर किया। निश्चित ही सूत्रकार व्यास के समय कपिल अथवा कापिल सांख्य के सम्बन्ध में यह भावना अविद्यमान थी। इसलिये यह कहा जासकता है, कि सूत्रकार का आशय इन सूत्रों के द्वारा वार्षगण्यमत के प्रत्याख्यान का प्रतिपादन करना रहा हो, अथवा विशुद्ध भौतिकवाद के प्रत्याख्यान की ओर इसका संकेत हो, जिसे आचार्य बृहस्पति आदि ने स्वीकार किया है, पर आचार्य शंकर के व्याख्यान में जिनका गन्ध भी नहीं है। इस दृष्टि से वस्तुतः ब्रह्मसूत्रों को अभी और अधिक विचारने की बड़ी आवश्यकता है।

**इन्द्रियविषयक शांकर प्रतिषेध**—आचार्य शंकर ने जिस रीति पर सांख्य-सिद्धान्त में परस्पर विप्रतिषेध का उल्लेख किया है, उसकी एक साधारण झलक हमने वेदान्त तथा स्वयं आचार्य के व्याख्यानों में प्रदर्शित की। पर दूसरे की आंख का तिनका दिखाकर अपनी दृष्टि को सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जासकता। आचार्य ने सांख्य के इन्द्रियसम्बन्धी सिद्धान्त पर जो आपत्ति की है, उसका विवेचन होना चाहिये, सबसे पहली आपत्ति यह है, कि 'सांख्य में कहीं सात और कहीं ग्यारह इन्द्रियोंका वर्णन है।' ग्यारह इन्द्रियों का वर्णन अभी पिछले पृष्ठों में दिखाया जाचुका है। यह सांख्य का स्पष्ट सिद्धान्त है। पर सांख्य में सात इन्द्रियों का उल्लेख आज तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। यद्यपि अन्तःकरण के सम्बन्ध में वार्षगण्य तथा पतञ्जलि आदि आचार्यों का कपिल से नगण्य सा मतभेद है, जो मूल सिद्धान्तों में किसी प्रकार के विरोध का उद्भावक नहीं समझा जाना चाहिये। तथापि इन्द्रियों के सम्बन्ध में विशेषकर उनकी संख्या के सम्बन्ध में किसी आचार्य का कोई मतभेद प्रकट में नहीं आया। कापिल सांख्यदर्शन तथा अन्य सांख्याचार्यों के ग्रन्थ और उपलब्ध सन्दर्भों में कोई ऐसा संकेत नहीं, जहां सात इन्द्रियों का उल्लेख हुआ हो। फिर भी आचार्य के लेख पर उंगली उठाना कठिन कहा जासकता है, शास्त्र का क्षेत्र अतिमहान है। सम्भव है, उसने ऐसा कहीं देखा हो। कम से कम हम उसमें साक्षी नहीं देसकते।

**इन्द्रिय सात हैं, सांख्यमत नहीं**—सात इन्द्रियों की संख्या–पांच कर्मेन्द्रिय, एक ज्ञानेन्द्रिय केवल त्वक्, तथा एक आन्तर इन्द्रिय मन की गणना करके पूरी कीजाती है।

---

**तथा देखें—पञ्चशिखसूत्र, ३ ॥ सांख्यदर्शन का इतिहास, पृष्ठ ४७६ के आधार पर।**

**१—देखें—सांख्यदर्शन का इतिहास पृठ ५१०, पं० १ ः**

एक ज्ञानेन्द्रिय त्वक् के माने जाने का विवेचन गौतम के न्यायसूत्रों [३।१।५२-६२] में उपलब्ध होता है। वहां ग्यारह सूत्रों में इस विषय का स्पष्ट वर्णन किया गया है। पूर्व-पक्षरूप में एकमात्र ज्ञानेन्द्रिय त्वक् बताकर अन्त में पांच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के सिद्धान्त का निर्णय किया है। इस प्रसंग से यह स्पष्ट नहीं हो पाता, कि एकमात्र त्वक् ज्ञानेन्द्रिय माने जाने का सिद्धान्त किसी आचार्य का था, अथवा ज्ञानेन्द्रियों की पांच संख्या को स्पष्ट व परिपुष्ट करने के लिये गौतम ने ही पूर्वपक्षरूप में इस वाद की कल्पना करली हो। इससे इतना तो अवश्य स्पष्ट होजाता हैं, कि पांच ज्ञानेन्द्रियों के स्थान पर एकमात्र त्वक् ज्ञानेन्द्रिय माने जाने की उद्भावना की गई है। उसके साथ पांच कर्मेन्द्रिय तथा एक आन्तर इन्द्रिय मन मिलाकर सात संख्या पूरी होती है। पर सांख्य के साथ उसके किसी प्रकार के संपर्क का पता नहीं लगता। इसलिये यह विरोधप्रदर्शन सर्वथा निराधार है।

**तन्मात्रसर्ग में शांकरमत विवेचन**—आचार्य शंकर की दूसरी आपत्ति है 'कहीं महत् से तन्मात्रों की उत्पत्तिका उपदेश है, कहीं अहंकार से।' यद्यपि इन्द्रियसंख्या के विवेचन में इसका इतना उपयोग नहीं, पर अब प्रसंगप्राप्त होने से इसका विवेचन अनुपयुक्त न होगा। इस विषय में कपिल का एक निश्चित मत है—अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। उसका कोई अन्य ऐसा लेख नहीं जो उसके विरोधी अर्थ का प्रतिपादन करता हो। महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति का वर्णन हम अभी पिछले पृष्ठों में उन आचार्यों के मत से कर आये हैं, जिन्होंने प्रायः अहंकार को करण नहीं माना। इनमें से करण न मानने वाले आचार्यों में वार्षगण्य, योगव्याख्याकार पतञ्जलि तथा पञ्चाधिकरण आदि का नाम लिया जासकता है। जिन आचार्यों ने महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति मानी है, तथा अहंकार को करण भी स्वीकार किया हैं, उनमें योगसूत्रकार पतञ्जलि और भाष्यकार व्यास का नाम उल्लेखनीय है। अभिप्राय यह, कि कपिल के अपने लेख में कोई ऐसा विरोध नहीं है, जिसमें उसने स्वयं एक स्थान पर महत् से तथा अन्य स्थान पर अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति मानी हो। अन्य आचार्यों ने तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम में यदि कोई ऐसा मत प्रकट किया है, जो कपिल के विचार के अनुकूल न हो, तो इस मत-भेद के आधार पर दोनों को असंगत नहीं माना जाना चाहिये, ऐसी दशा में वस्तुस्थिति का विचार करना आवश्यक है। यह सम्भव है, कि उन दोनों में से कोई एक निश्चित रूप से सच्चा हो, यदि इसप्रकार के विभिन्न विचारों के आधार पर दोनों को असत्य माना जासकता है, तो किसी भी स्थिति में किसी वस्तु का, विचार का, शास्त्र का, सत्य माना जाना सम्भव नहीं। मतिभेद प्रत्येक स्थान में उपस्थित रहता है, यह मानव-स्वभाव है। इसलिये सचाई को जानने के लिये हमें वस्तुस्थिति तक पहुंचना चाहिये।

**तन्मात्रसर्ग में वार्षगण्य आदि के विचार**—सत्य के अन्वेषक को यह परखना होगा कि मूल उपादानतत्त्व जब किसी विशेषकार्य के रूप में परिणत होते हैं, तब, किन अवस्थाओं को पार कर ये उस रूप में आये हैं। कपिल ने अध्यात्म और अधिभूत सर्ग

को जिस रीति पर प्रस्तुत किया है, उसकी नियमितता व व्यवस्था को देखते यह धारणा होती है, कि तत्त्वों के रचनाक्रमसम्बन्धी उसके निर्देश सचाई के अतिसमीप होने चाहियें।

वार्षगण्य आदि जिन आचार्यों ने महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति का संकेत किया है, उन्होंने प्रकृति के आद्यपरिणाम महत् की रचना के अनन्तर प्रकट में आने वाले तत्त्वों को दो वर्ग में बांट दिया है–अविशेष और विशेष। सांख्य में इन पदों का परिभाषा के रूप में प्रयोग हुआ है। आद्यकार्य के अनन्तर प्रकट में आने वाले जो तत्त्व अपने आगे तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करते हैं, उनका नाम 'अविशेष' तथा जो अन्तिम तत्त्व हैं, अर्थात जो आत्मलाभ के अनन्तर आगे अन्य तत्वों के उत्पादक नहीं होते, वे 'विशेष' कहे जाते हैं। अहंकार और तन्मात्र ऐसे तत्व हैं, जो आगे तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करते हैं। अहंकार से समस्त इन्द्रियां तथा तन्मात्र से स्थूलभूत परिणत होते हैं। इसलिये ये 'अविशेष' हैं। इन दोनों की यह समान संज्ञा है। वार्षगण्य आदि आचार्यों ने संभवतः इस समानता के आधार पर अहंकार और तन्मात्र को समानकोटि में वर्णन कर दिया है। इस रचना-क्रम में यह एक अन्य साधारण व्यवस्था स्पष्ट होती है, कि आद्यकार्य-महत् से अविशेष तथा अविशेष से विशेषों की उत्पत्ति हो। कपिल के रचनाक्रम में अहंकार से विशेष [इन्द्रियां] और अविशेष [तन्मात्र] दोनों की उत्पत्ति कही जाती है। एक अहंकार दोनों रूपों में परिणत होता है। यह कथन उस व्यवस्था के सामने कुछ अटपटा सा लगता है, जहां वार्षगण्य आदि आचार्यों ने महत् से अविशेष एक ओर तथा अविशेषों से विशेषों के उत्पादन का निर्देश किया है।

**तन्मात्रसर्ग में क्रमिक स्तर**—वस्तुतः महत् से छह अविशेषों की उत्पत्ति का निर्देश शाब्दिक व्यवस्थामात्र को स्पष्ट करता है। केवल समान संज्ञा के आधार पर तत्त्वनिर्देश की यह व्यवस्था बांधी गई है। तत्त्वों के रचनाक्रम की वास्तविकता से इसका कितना तालमेल है, यह विचारणीय है। मूल उपादानतत्त्वों से तन्मात्र के उत्पादन तक अन्तराल में जितने अनिवार्य परिणतिस्तर आते हैं, उनकी उपेक्षा किया जाना शक्य नहीं। अहंकार अध्यात्मसर्ग में सन्निविष्ट है, तन्मात्र से अधिभूतसर्ग का प्रारम्भ होता है। महत् से तन्मात्र सर्ग मानने वाले आचार्यों को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं, कि तन्मात्रसर्ग से पूर्व अहंकार की रचना होजाती है। अभिप्राय यह, कि पहले महत् अहंकार रूप में परिणत होता है, अनन्तर तन्मात्ररूप में। अब यह देखना चाहिये, कि महत् अहंकार द्वारा तन्मात्ररूप में परिणत होता है, अथवा सर्वथा स्वतन्त्ररूप से ? द्वितीय विकल्प का तात्पर्य यह है, कि महत् से तन्मात्र परिणाम होने में अन्तराल के वे परिणति-स्तर उभरने नहीं पाते, जिनको रचनाक्रम में 'अहंकार' नाम दिया गया है, क्या यह संभव है ? कपास से वस्त्र तयार किया जाता है, कपास को ओट धुनकर रुई बना उसके अनतिदीर्घ धागे तयार किये जाते हैं, जिनका नाम 'अंशु' है, उन्हें जोड़कर और अधिक लपेट देकर अति-दीर्घ धागे बनते हैं, जिनको 'तन्तु' कहा जाता हैं। तन्तु का विशेष आतान-वितान वस्त्र-

रूप परिणाम है। यहां यह स्पष्ट है, कि कपास अथवा रुई से सीधा सर्वथा स्वतन्त्र, अन्त-रालवर्त्ती परिणति-स्तरों की उपेक्षा करके वस्त्रपरिणाम संभव नहीं। वही महत् से तन्मात्र के उत्पादन में है। फलतः प्रथम विकल्प के अनुसार यह स्वीकार किया जाना चाहिये, कि महत् अहंकार के द्वारा तन्मात्ररूप में परिणत होता है। ऐसी स्थिति में चाहे महत् से तन्मात्र की उत्पत्ति कही जाय अथवा अहंकार से, इसमें कोई विरोध नहीं है। वस्त्र की उत्पत्ति कपास से भी कही जासकती है, रुई से भी और तन्तु से भी। इन तीनों रूपों से वस्त्रोत्पादन का निर्देश करने वाले व्यक्तियों में कोई असत्य नहीं। बस थोड़े धैर्य के साथ वास्तविकता की ओर लक्ष्य करने की अपेक्षा रहती है। फलतः आचार्य शंकर का सांख्य-सिद्धान्त में यह विरोधप्रदर्शन सर्वथा शिथिल है।

**अन्तःकरणविषयक शांकर प्रतिषेध**—आचार्य की तीसरी आपत्ति है–'कहीं तीन अन्तःकरणों का वर्णन है और कहीं एक का।' अन्तःकरणों के तीन दो या एक होने के सम्बन्ध में अभी पीछे वर्णन किया गया है। इस विषय में कपिल का निश्चित एक मत है–अन्तःकरण तीन हैं, न न्यून न अधिक। योगव्याख्याकार पतञ्जलि ने दो और वार्ष-गण्य ने एक अन्तःकरण माना है। अन्य आचार्यों का यह मतिभेद कापिलसांख्य के अन्तर्गत किसी प्रकार के विप्रतिषेध का साधन नहीं माना जाना चाहिये। इसप्रकार के प्रवाद उस कोटि के अन्तर्गत नहीं माने जासकते, जिसमें स्वयं आचार्य शंकर का 'स्मृति-रेषा यत्स्वप्नदर्शनम्' यह लेख और इसके समान अन्य अनेक लेख हैं। वस्तुतः सांख्या-चार्यों के ये अन्तःकरणसम्बन्धी विभिन्न लेख, केवल 'अन्तःकरण' संज्ञा के विभेद को प्रकट करते हैं, वस्तुतत्त्व के स्वीकार में उनका कोई मतभेद नहीं है। जिन आचार्यों ने अहंकार अथवा बुद्धि को अन्तःकरण नहीं माना, उनको इन तत्त्वों के अस्तित्व में न कोई सन्देह है, और न इनसे नकार करते हैं। उन्होंने केवल इनकी 'अन्तःकरण' संज्ञा माने जाने में मतिविभेद प्रकट किया है। इतने से सांख्यप्रतिपादित तत्त्वों और उनके रचनाक्रम में किसी प्रकार का मतिवैचित्र्य न समझना चाहिये। इन्द्रियों की ग्यारह संख्या स्वीकार करने में तो किसी सांख्याचार्य को कोई आपत्ति नहीं है।

**इन्द्रियां आहङ्कारिक हैं, भौतिक नहीं**—इन्द्रियां ग्यारह हैं, यह निर्णय किया गया। समस्त इन्द्रियों की रचना अहंकार से होती है, अथवा अहंकार के अनन्तर सर्गक्रम में इन्द्रियों की रचना का अवसर आता है, इस कथन में कोई विशेष अन्तर नहीं। मूल उपादानतत्त्वों में परिणाम होकर जब वे एक ऐसे स्तर पर आते हैं, जहां उनका नाम 'अहंकार' होता है, उसमें कुछ अन्य परिवर्त्तन व परिणाम होकर आगे तत्त्व की जो स्थिति होती है, उसी का नाम 'इन्द्रिय' कहा जाता है। ऐसी अवस्था में चाहे अहंकार से उत्पादन कहें, चाहे अहंकार के अनन्तर, इसमें कोई भेद इसीलिये नहीं, कि उपादानतत्त्व तो वे ही रहते हैं, जिनमें कुछ अन्य परिवर्तन अथवा परिणाम होने पर 'इन्द्रिय' नामक तत्त्व का अस्तित्व उभर आता है। इसी कारण इनको आहंकारिक माना जाता है।

भूतों के उत्पादन का अवसर इसके अनन्तर आता है। उन्हीं अहंकाररूप से परिणत तत्त्वों में जब कुछ अन्य अधिक परिवर्त्तन आता है, तब उनकी परिणाम-प्रवृत्ति भूतोत्पादन की ओर समझी जाती है। उसके अनन्तर कतिपय अन्तरालवर्त्तीस्तरों को पार करते हुए तत्त्वों की जो स्थिति प्रकाश में आती है, वह 'भूत' है। सृष्टिक्रम में इन्द्रियों के प्रकाश में आजाने के अनन्तर तत्त्व-परिणाम की यह अवस्था आती है, इसलिये इन्द्रियों का उत्पादन इन तत्त्वों से अथवा इन तत्त्वों के अनन्तर होना संभव नहीं। अतः इन्द्रियों को 'भौतिक' नहीं माना जासकता।

**इन्द्रियों को भौतिक कहना अवैज्ञानिक**—अभी पीछे कार्यकारणभावप्रसंग में सर्गक्रम का वर्णन करते समय इस अर्थ को स्पष्ट किया गया है। सांख्य में सर्ग का विवरण उसके अध्यात्म और अधिभूत–दो वर्गों को समझकर दिया गया है। इन्द्रियों की अपनी अतीन्द्रिय व सूक्ष्म स्थिति, विषय का ग्रहण व अनुष्ठान, भूतभौतिक तत्त्वों की अधिक तमोमय अवस्था से उनकी रचनामूलक श्रेष्ठता को स्पष्ट करते हैं। इन्द्रियरचना पर अध्यात्मसृष्टि की समाप्ति होती है अथवा यह कहना चाहिये, कि अध्यात्मसर्ग में सबसे अन्तिम रचना 'इन्द्रिय' हैं। ठीक इसके अनन्तर उन्हीं कारणतत्त्वों से 'तन्मात्र' का उत्पादन होता है। यह सच है, कि उन कारणतत्त्वों में इतना अधिक परिवर्त्तन अथवा विजातीय तत्त्वों का विलक्षण सहयोग होजाता है, कि इन दोनों की दिशा ही बदल जाती है। रचना-क्रम में एक अध्यात्म की समाप्ति करता है, दूसरा अधिभूत का आरम्भ। यह दिशाभेद होने पर भी रचना के नाते इन दोनों का परस्पर अधिकाधिक सामीप्य है। एकप्रकार से अध्यात्म और अधिभूत के संसार को आपस में जोड़ने वाली यह एक कड़ी है। यदि हम तत्त्वों के कार्यकारणभाव की ओर थोड़ा गहराई से ध्यान दें, तो हम देखेंगे, कि वे ही अहंकारतत्त्व एकरूप से 'साधन' तथा दूसरे रूप से 'साध्य' अथवा 'विषय' का उत्पादन कर देते हैं, अर्थात् वे ही अहंकारतत्त्व विलक्षण परिवर्त्तन व सहयोग के आश्रय से दो विभिन्न धाराओं में परिणत हो जाते हैं। एक अध्यात्म की सीमा के अवसान में बैठती है, दूसरी अधिभूत की सीमा का आरम्भ करती है, और ये दोनों पारस्परिक सहयोग से दोनों संसारों को आपस में मिलाकर रखती हैं। सम्भवतः साधन का स्तर कुछ उच्च प्रथम व प्रशस्त रहता है, साध्य व विषय का कुछ निम्न अनन्तर व अप्रशस्त। साधन और विषय की यह स्थिति स्पष्ट करती है, कि रचनाक्रम में साधन पूर्व तथा विषय अपर है। इन्द्रिय पहले और तन्मात्र पीछे हैं। तब तन्मात्र से इन्द्रियों का उभर आना माना नहीं जा-सकता। इसलिये इन्द्रियों को भौतिक कहना अवैज्ञानिक है।

**इन्द्रियां भौतिक क्यों नहीं?**—सांख्य में स्पष्ट रूपसे इन्द्रियों की आहंकारिकता[1] का उल्लेख हुआ है, पर सर्गक्रम में इनकी स्थिति ऐसी जगह आपड़ी है, जहां तन्मात्र के

१—सांख्यसूत्र, १।२६।। २।२०।। पञ्चशिखसूत्र १३।।
सांख्यकारिका २२,२४,२५।।

साथ इनका अधिकाधिक सामीप्य है। कदाचित् इनके सामीप्य तथा इनकी सहयोगी प्रवृत्ति ने इस भावना को जागृत होने में सहायता दी, कि इन्द्रियों का उभार कहीं तन्मात्रों से ही तो नहीं हो आता ? कतिपय आचार्य इस आभास से प्रभावित हुए, और उन्होंने इन्द्रियों के भौतिक होने की घोषणा की। यद्यपि न्याय-वैशेषिक के प्रवक्ता गौतम और कणाद ने अपने दर्शनों में इस वाद को बड़ी आरभटी से प्रोत्साहन दिया है, पर इस विवेचना-क्षेत्र से हमने उन्हें बाहर रक्खा है। कारण यह है, कि उन्होंने तत्त्वों की भौतिक अवस्था से अपना विवरण प्रारम्भ किया है, उस दृष्टि से अध्यात्म की विवेचना में उन्होंने प्रवेश नहीं किया। उनकी ऐसी प्रवृत्ति का कारण केवल अधिकारि-भेद कहा जासकता है। उन्होंने शास्त्र का उपदेश उन जिज्ञासु अधिकारियों के लिये किया, जो केवल अधिभूत की स्थूल विवेचना में जानकारी करना चाहते हैं। सांख्याचार्यों की उपलब्ध नाम-सूची में एक पञ्चाधिकरण आचार्य है, जिसने इन्द्रियों को भौतिक बताया है।[1] सांख्य में अध्यात्म और अधिभूतरूप से वस्तुस्थिति के अनुकूल सर्गक्रम की जो एक नियत शृंखला प्रस्तुत की गई है, यदि हम उसमें इन्द्रियों को भूतानुगत बैठाने का यत्न करते हैं, तो वह शृंखला टूटकर बिखर जाती है, और तत्त्वों के रचनाक्रम की व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाती है, उनके व्यापार व क्रिया आदि का कोई नियमन नहीं रहता। भौतिक माने जाने पर इन्द्रियों में विषयग्रहण की संभावना होसकती है या नहीं ? यह भी हम नहीं विचार पाते, और वस्तुस्थिति सें दूर जा पड़ते हैं। भूतों की रचना तमोमय है, अत्यधिक तमःप्रधान, इन्द्रियों की रचना ऐसी नहीं।

**इन्द्रियविषय में परमार्थ के लेख**—उज्जयिनी का परमार्थ पण्डित एक चीनी राजा के आमन्त्रण पर लगभग पांच सौ संस्कृतग्रन्थ भारत से चीन में लेगया था। यह घटना छठी विक्रम शताब्दी की बताई जाती है। जब भी हो, पर उस ग्रन्थराशि में सांख्यसप्तति की एक प्राचीन व्याख्या थी, जिसका परमार्थ ने अन्य ग्रन्थों के साथ चीनी भाषा में अनुवाद किया। उस अनुवाद का अब पुनः संस्कृत-रूपान्तर 'सुवर्णसप्ततिशास्त्र' नाम से प्रकाशित हुआ है। वह चीनी अनुवाद सांख्यसप्तति की माठरवृत्ति का है, यह निर्णय हमने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ के सप्तम प्रकरण के अन्तिम [पृ० ४५४–४७३] भाग में तथा अष्टम प्रकरण के पञ्चाधिकरण प्रसंग [पृ० ५२७-२८] में विस्तार के साथ प्रमाणपूर्वक किया है। इतिहासविषयक विवेचन वहां देखा जासकता है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका उल्लेख इस कारण किया गया है, कि संस्कृतरूपान्तर सुवर्णसप्ततिशास्त्र में अनेक स्थलों पर[2] इन्द्रियों को भौतिक माने जाने का निर्देश मिलता है।

---

**१—भौतिकानीन्द्रियाणीति पञ्चाधिकरणमतम् [ २ ], युक्तिदीपिका, पृ० १०८, पं० ७–८॥ सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ५२५**

**२—सुवर्णसप्ततिशास्त्र, आर्या ३, ८, १०, १५, ५६ ६८॥**

यद्यपि तन्मात्रों से इन्द्रियों की उत्पत्ति के समान वहां अनेक[1] प्रसंगों में अहंकार से भी इन्द्रियों की उत्पत्ति का उल्लेख है।

यह निश्चित ह, कि उक्त ग्रन्थ सांख्यसप्तति की एक व्याख्या है। मूल सांख्यसप्तति में कहीं कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता, जिससे यह ध्वनित होसके, कि इन्द्रियों की उत्पत्ति तन्मात्र से होती है। प्रत्युत जिन कारिकाओं [२२,२४-२५] में तत्त्वसर्ग का निर्देश किया गया है, वहां स्पष्ट ही अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति का उल्लेख है। चीनी अनुवाद में इन स्थलों पर कारिका के अनुसार व्याख्या की गई है। सांख्यसप्तति के अन्य किसी व्याख्याग्रन्थ में इसके विपरीत कोई उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह संभावित होता है, कि सांख्यसप्तति की व्याख्या के चीनी अनुवादक ने अपने अनुवाद में ऐसे अर्थों का संमिश्रण कर दिया है, जिनका मूलग्रन्थ में कोई संकेत नहीं। उक्त कारिकाओं से अतिरिक्त दो अन्य [२७, ३६] कारिकाओं की व्याख्या के अनुवाद में अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति का निर्देश है। फिर भी जिन स्थलों में तन्मात्र से इन्द्रियों की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है, उसकी परीक्षा की जानी चाहिये।

**परमार्थ के इन्द्रियविषयक पाठों का सामञ्जस्य**—यह मान लेने पर, कि चीनी अनुवाद माठरवृत्ति का है, इनकी तुलना कदाचित् हमें इस दिशा में किसी निश्चय पर पहुंचा सके। छप्पनवीं कारिका के चीनी अनुवाद में पाठ है 'बुद्धेरहंकारं अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि पञ्चतन्मात्रेभ्य एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि।' इस पाठ में यदि 'एकादशेन्द्रियाणि' पद को 'पञ्चतन्मात्रेभ्यः' पद से पहले रख दिया जाय, तो यह पाठ बाईसवीं आर्या में प्रतिपादित क्रम के अनुसार होजाता है। माठरवृत्ति में यहां किसी क्रम का विवरण नहीं दिया। केवल इतना लिखा है, कि महत् से लेकर भूतपर्यन्त सर्ग प्रकृति का परिणाम है, जिसका वर्णन पहले कर दिया गया है। सर्ग का पहले वर्णन २२,२४,२५ कारिकाओं में है। चीनी अनुवाद का सर्गक्रमसम्बन्धी विवरण उक्त कारिकाओं में प्रतिपादित क्रम के साथ तभी अनुकूलता रख सकेगा, जब उस पाठ में 'एकादशेन्द्रियाणि' पद को पहले पढ़ दिया जाय। चीनी अनुवाद के इस सर्गविवरणसम्बन्धी पाठ के अतिरिक्त शेष समस्त पाठ माठरवृत्ति के साथ पूर्ण समानता रखता है। इससे यह भावना दृढ़ होती है, कि चीनी अनुवादक ने सर्गक्रम का विवरण मूलव्याख्या की उपेक्षा कर अपनी ओर से यहां सन्निविष्ट किया है, और उसमें मूलग्रन्थप्रतिपादित सर्गक्रम की ओर ध्यान नहीं दिया गया। अथवा इस स्थल में ऐसा विपर्यय लेखक या संस्कृतरूपान्तरकार आदि की अनवधानता के कारण होगया है।

सांख्यसप्तति की पन्द्रहवीं आर्या की व्याख्या के चीनी अनुवाद में अनुवादक ने प्रकृति के विकारभूत तेईस तत्त्वों का निर्देश किया है। निर्देशक्रम इसप्रकार रक्खा गया है—बुद्धि (१), अहंकार (१), तन्मात्र (५), इन्द्रिय (११), स्थूलभूत (५)। माठर

१—सुवर्णसप्ततिशास्त्र, आर्या २२, २४, २५, २७, ३६॥

वृत्ति में भी ठीक यही क्रम है। दोनों में तत्त्वों की उत्पत्ति अथवा कार्यकारणभाव का यहां कोई उल्लेख नहीं है। इस क्रम में यह मान लेना, कि दूसरा पहले से उत्पन्न हुआ है, संभव न होगा। तब इन्द्रियों की उत्पत्ति तो तन्मात्र से कही जासकेगी, पर स्थूलभूतों की उत्पत्ति इन्द्रिय से माननी पड़ेगी, जो सर्वथा अमान्य है। यदि यह कहा जाय, कि अन्त्य और उपान्त्य दोनों तत्त्वों की उत्पत्ति उनसे पहले निर्दिष्ट तत्त्व से मान लेनी चाहिये; इसप्रकार तन्मात्र से इन्द्रिय तथा स्थूलभूतों की उत्पत्ति का संकेत माना जासकेगा। ऐसी स्थिति में यह भी कहा जासकता है, कि उपान्त्य तथा उसके पूर्वनिर्दिष्ट तत्त्व का कारण इन दोनों से पहले रक्खा हुआ तत्त्व है। तब अहंकार से तन्मात्र और इन्द्रियों की उत्पत्ति संभव होगी, जो सांख्य का साधारण सिद्धान्त है। ऐसा कोई विशेष कारण हमें नहीं दीखता, जिसके आधार पर पहली बात को मान लिया जाय और दूसरी को न माना जाय। यदि उत्पत्ति का संकेत करने के लिये इसी रीति का आश्रय और आगे लिया जाय, तो यह भी कहा जासकता है, कि सर्वप्रथम निर्दिष्ट बुद्धितत्त्व से उसके आगे निर्दिष्ट दोनों तत्त्वों का उत्पादन मान लेना चाहिये। इसका फल होगा, कि बुद्धि से अहंकार और तन्मात्र दोनों की उत्पत्ति मानी जायेगी। अभी पिछली पंक्तियों में यह विवरण दिया गया है, कि वार्ष-गण्य, योगसूत्रकार पतञ्जलि तथा भाष्यकार व्यास आदि आचार्यों ने तत्त्वों की उत्पत्ति के इसी क्रम को स्वीकार किया है। इसप्रकार चीनी अनुवाद और माठरवृत्ति के तत्त्व-निर्देशक्रम में यदि तत्त्वों के परस्पर कार्यकारणभाव-संकेत को ढूंढा जाता है, तो इसमें तीन विरोधी विचारों को उकसाया जासकता है, जिनका यहां कोई महत्त्व नहीं। इसलिये वस्तुस्थिति यह है, कि यहां केवल तत्त्वों की गणना कर दी गई है, और प्रसंग में जो उप-योग है, किया गया है। तत्त्वों के कार्यकारणभाव का निर्देश करने की यहां कोई भावना नहीं है। उसे सांख्यसिद्धान्त के अनुसार मानते रहना चाहिये। यद्यपि परमर्षि कपिल के एक सूत्र [१।३६] में तत्त्वों का यही क्रम उपदिष्ट है, पर वहां कार्यकारणभाव का स्पष्ट निर्देश है, इसलिये किसी प्रकार के संदेह का वहां कोई अवकाश नहीं।

इसी पन्द्रहवीं आर्या के एक अन्य पद की व्याख्या में तत्त्वों के—अपने कारण में—लय का निर्देश है। चीनी अनुवाद में कहा है, कि महाभूत और इन्द्रियों का तन्मात्र में लय होता है। पर आगे तन्मात्र आदि के लय का कोई निर्देश नहीं है। माठरवृत्ति में महा-भूतों से लेकर बुद्धिपर्यन्त सब तत्त्वों का—सांख्यसिद्धान्त के अनुसार—अपने कारण में लय बताते हुए प्रकृति में सबके लीन होजाने का निर्देश है। मूल आर्या के अनुसार बुद्धिपर्यन्त सब कार्यों का प्रकृति में लय बताने तक अर्थ पूरा होपाता है। इससे प्रतीत होता है, कि चीनी अनुवाद के पाठ में यहां अवश्य कुछ गड़बड़ हुई है। कुछ पाठ खण्डित हुआ है, और कुछ विपर्यय। इसलिये यहां का निर्देश तन्मात्रों से इन्द्रियों की उत्पत्ति में असंदिग्ध प्रमाण नहीं कहा जासकता, और न इससे यह निश्चय होता है, कि चीनी अनुवादक का अपना ऐसा मत था, यद्यपि उसकी ऐसी मान्यता से सांख्यसिद्धान्त पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं

पड़ता। सांख्यसप्तति की उनसठवीं आर्या पर माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद दोनों में तत्त्वनिर्देश के उक्तक्रम को स्वीकार किया गया है, पर वहां तत्त्वों के कार्यकारणभाव अथवा उत्पाद एवं लय का कोई संकेत नहीं है। वहां तत्त्वों की गणनामात्र अपेक्षित है, जिसमें तत्त्वनिर्देश का कोई क्रम स्वीकार किया जासकता है।

अड़सठवीं आर्या के चीनी अनुवाद में मूल आर्या के अनुसार यह विवरण दिया है, कि तत्त्वज्ञान होजाने पर जब आत्मा का शरीर से वियोग होता है, तो पाञ्च-भौतिक स्थूलशरीर के सब अंग अपने कारणों में अन्तर्लीन होजाते हैं। इसी क्रम में आगे वह लिखता है, कि समस्त इन्द्रियां जिन में मन भी सम्मिलित है, पाँच तन्मात्रों में लीन होते हैं। इसप्रकार के लय का कोई विवरण माठरवृत्ति में नहीं दिया गया। पर मूल के 'चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ' वाक्य में 'प्रधान' पद को श्लिष्ट मानकर वहां इसका एक विशिष्ट अर्थ–सूक्ष्मशरीर भी किया है। आगे तत्त्वज्ञान हो जाने पर सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति का साधारणरूप से उल्लेख है, पर सूक्ष्मशरीर के घटक प्रत्येक अवयव के अपने कारण में लय होने का कोई विवरण नहीं दिया गया। आत्मा के भोगापवर्ग को प्रधान, मुख्यतया सूक्ष्मशरीर के रूप में प्रस्तुत होकर सिद्ध कर पाता है, स्थूलशरीर तथा बाह्य विषय उसके सहयोगी रहते हैं। इसी आधार पर कदाचित् माठर ने मूल आर्या के 'प्रधान' पद का अर्थ 'सूक्ष्मशरीर' कर, तत्त्वज्ञान होने पर उसकी निवृत्ति का प्रतिपादन किया है। उसके साथ पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर के अवयवों का अपने कारणों में विलय होने का विवरण दिया है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर प्रधान का कार्य पूरा होजाता है, तब उस आत्मा के लिये वह दूसरे शरीर का आरम्भ नहीं करता। आत्मा कैवल्य अवस्था में पहुँच जाता है।

**परमार्थलेख इन्द्रियभौतिकता में प्रमाण नहीं**—इस प्रसंग में माठर ने सूक्ष्म-शरीर का जो विवरण दिया है, उसके पद हैं 'कारणमविशेषमयं तान्मात्रिकं सर्गादावुत्पन्नं'। सूक्ष्मशरीर के प्रसंग में यह स्पष्ट किया है, कि इसके घटक अठारह अवयवों में तेरह करण और पांच तन्मात्र हैं। इनमें पहले आश्रित तथा दूसरे आश्रयभूत हैं। दो भागों में विभक्त इसके दूसरे भाग को इसी आधार पर 'कारणशरीर' कहा जाता है, और पहले को 'लिङ्गशरीर'। औपचारिकरूप से ये दोनों नाम साधारण सूक्ष्मशरीर के लिये भी प्रयुक्त होते रहते हैं। माठर के उक्त विवरण में 'कारणम्' पद शरीर के आश्रयभूत अंश का निर्देश करता है। मुख्यतया कारणशरीर उसी भाग का नाम है। उसकी रचना 'तन्मात्र' से होती है। पांच तन्मात्रों का अपर नाम 'अविशेष' है। 'अविशेषमयं' तथा 'तान्मात्रिकं' ये दोनों पद इसी एक अर्थ को प्रकट करते हैं। माठर के इन पदों का अर्थ साधारण सूक्ष्मशरीर समझ लिया जाय, तो उससे यह अभिप्राय प्रकट किया जा सकता है, कि उसके समस्त अवयवों की रचना तन्मात्र से होती है। तब इन्द्रियों की उत्पत्ति भी तन्मात्रों से कही जा सकेगी। पर माठर का अभिप्राय ऐसे अर्थ के प्रतिपादन में कदापि

नहीं कहा जासकता। प्रथम तो ऐसा कथन मूलग्रन्थ [सांख्यसप्तति] के विपरीत जाता है। दूसरे उसने अनेक स्थलों पर इन्द्रियों को अहंकार से उत्पन्न बताया है। अपने ही लेख के विरुद्ध वह कैसे लिखता? तीसरे यहां साधारण सूक्ष्मशरीर का ग्रहण किया जाना चाहिये, या नहीं? इस सन्देह के निवारण के लिये उसने सर्वप्रथम 'कारणं' पद का निर्देश किया है। जिससे सूक्ष्मशरीर के तन्मात्रारब्ध आश्रयभूत भाग का यहां ग्रहण किया जाना चाहिये, यह स्पष्ट होता है। इसप्रकार माठर के 'तान्मात्रिक' पद का साधारण सूक्ष्मशरीर अर्थ भ्रान्ति पर आधारित कहा जासकता है। फलतः इस प्रसंग में चीनी अनुवादक का इन्द्रियसम्बन्धी विवरण इस कोटि से बाहर नहीं समझा जासकता। तब वह इन्द्रियों के भौतिक होने में प्रमाण कैसे?

**तन्मात्र ऐन्द्रियक हैं, माठरलेख का विवेचन**—ऐसे लेखों के प्रामाणिक होने में सन्देह का एक कारण इन ग्रंथों के पाठों में गड़बड़ होना भी है। समय-समय पर प्रतिलिपिजनित दोषों, अध्येता तथा अध्यापकों द्वारा प्रान्तभागों पर सन्निविष्ट पाठों के कालान्तर में मूलभाग में अन्तर्निविष्ट होजाने, स्वतन्त्र अध्येताओं द्वारा किसी पद या वाक्य के ठीक समझ में न आने से अपनी इच्छा के अनुकूल उनमें परिवर्तन कर देने तथा भ्रान्ति से किन्हीं पदों की अन्यथा व्याख्या किये जाने आदि अनेक कारणों से पाठों में विपर्यास की सम्भावना होसकती है। अभी तक कुछ ऐसे लेख प्रस्तुत किये गये, जिनसे इन्द्रियों का भौतिक अर्थात् तन्मात्रों से उत्पन्न होना प्रकट है। पर माठरवृत्ति में एक लेख है, जिससे तन्मात्रों का ऐन्द्रियक होना प्रतीत होता है, पहले अर्थ से सर्वथा विपरीत। वहां तन्मात्रों में इन्द्रियों का लय होना बताया है, यहां इन्द्रियों में तन्मात्रों का लय होना। माठर का लेख है 'लयं वक्ष्यामः—भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तानीन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि लीयन्ते चाहंकारे, स बुद्धौ सा प्रधाने लयं गच्छति।' यहां स्थूलभूतों का तन्मात्रों में, तन्मात्रों का इन्द्रियों में तथा इन्द्रियों का अहंकार में लय बताया है। इस लेख से तन्मात्र इन्द्रियों के विकार सिद्ध होते हैं। प्रश्न यह है, कि क्या माठर के इस लेख को इसी रूप में ठीक माना जासकता है? स्वयं माठरने इसी ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर तन्मात्र को अहंकार का विकार लिखा है। निश्चित है, कि पाठ में कुछ गड़बड़ हुई है। समस्त ग्रन्थ और कापिलसिद्धान्त की भावना के अनुसार इस पाठ में 'तानि' पद के आगे 'इन्द्रियेषु' पद अधिक आपड़ा प्रतीत होता है, यहां इसके सन्निवेश का कोई विशेष कारण बताया जाना कठिन है, पर इनकी असम्बद्धता स्पष्ट है। पंक्ति में 'लीयन्ते' क्रियापद के आगे पठित 'च' उसके पहले आना चाहिये। तब पाठ सामञ्जस्यपूर्ण होजाता है। चीनी अनुवाद में इसी प्रकार पाठों के अन्यथा होजाने के अनेक कारण और अनेकानेक प्रसंग हैं।

**तन्मात्र से इन्द्रियसर्ग, परमार्थलेख का विवेचन**—सुवर्णसप्ततिशास्त्र अर्थात् सांख्यसप्तति के चीनी अनुवाद से संस्कृतरूपान्तरित ३,८ और १० आर्याओं की व्याख्या

में इन्द्रियों की उत्पत्ति स्पष्ट ही तन्मात्र से लिखी है। माठरवृत्ति के इन प्रसंगों में ऐसा उल्लेख नहीं है, प्रत्युत सांख्य के साधारण सिद्धान्त के अनुसार वहां अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति का निर्देश है। तन्मात्र से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानने पर यह एक जिज्ञासा बनी रहती है, कि कौन से तन्मात्र से किस इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है ? अथवा समस्त तन्मात्र मिलकर प्रत्येक इन्द्रिय को उत्पन्न करते हैं ? तीसरी आर्या के चीनी अनुवाद में इसका कुछ संकेत मिलता है। वहां लिखा है—'शब्दतन्मात्र आकाश को और श्रोत्रेन्द्रिय को उत्पन्न करता है, यही क्रम गन्धतन्मात्र तक चला जाता है, जो पृथिवी को और घ्राणेन्द्रिय को उत्पन्न करता है। इस लेख से चीनी अनुवादक का यह भाव प्रकट होता है, कि शब्दतन्मात्र से श्रोत्रेन्द्रिय, स्पर्शतन्मात्र से त्वगिन्द्रिय, रूपतन्मात्र से चक्षु, रस-तन्मात्र से रसन तथा गन्धतन्मात्र से घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। पर इसमें केवल पाच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति का कथन होपाता है। अभी छह इन्द्रियां और हैं—पांच कर्मेन्द्रिय तथा एक आन्तरिन्द्रिय मन, इनकी उत्पत्ति किन तन्मात्रों से होती है, इस अर्थ का स्पष्टीकरण अथवा संकेत तक कहीं नहीं किया गया। गौतम और कणाद आदि आचार्यों ने जो इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं–पांच ज्ञानेन्द्रियों को इन्द्रिय माना है। मन को वे अनुत्पन्न अर्थात् नित्य कहते हैं, इसलिये उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं। पर इन्द्रियों को ग्यारह मानकर और उनको तान्मात्रिक स्वीकार कर यह आवश्यक होजाता है, कि उनके कार्यकारणभाव का स्पष्ट विवेचन किया जाय। चीनी अनुवादक ने ऐसा कही नहीं किया। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि चीनी अनुवादक के ये लेख सांख्यसिद्धान्त के अनुकूल नहीं हैं, और तन्मात्र से किसी रूपमें इन्द्रियों की उत्पत्ति का सामञ्जस्य न होने के कारण अवैज्ञानिक हैं। सांख्यसिद्धान्त के अनुसार वैकृत अथवा तैजस अहंकार से किस प्रकार समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, इसका निर्देश प्रथम कर दिया गया है। यह सम्भव है, न्यायादिज्ञान के संस्कारों की प्रबलता से चीनी अनु-वादक के द्वारा उक्त प्रसंगों में उन अर्थों का समावेश हो गया हो। इसप्रकार के उल्लेखों का और कोई शास्त्रीय समाधान किया जाना शक्य नहीं।

**इन्द्रियों की भौतिकता का विवेचन**—सांख्याचार्यों के उपलब्ध नामों में केवल पञ्चाधिकरण एक ऐसा आचार्य है, जो इन्द्रियों को तान्मात्रिक अथवा भौतिक मानता है। उसके नाम से उद्धृत एक सन्दर्भ में केवल इतना लिखा मिलता है–पञ्चाधिकरण इन्द्रियों को भौतिक मानता है[1]। यह सम्भव है, उसने अपने ग्रन्थ में इस अर्थ का स्पष्टी-करण किया हो, कि कौन से तन्मात्र अथवा भूत से किस इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है, पर अभी तक उसके नाम का अथवा अन्य कोई ऐसा सन्दर्भ उपलब्ध नहीं होसका है। विशेषरूप से पांच कर्मेन्द्रिय और एक आन्तरिन्द्रिय मन के सम्बन्ध में यह कार्यकारण का असाम-

---

**१—भौतिकानीन्द्रियाणीति पञ्चाधिकरणमतम् [२] 'सांख्यदर्शन का इति-हास' पृष्ठ ५२५।**

ञ्जस्य सन्मुख आता है। शेष पांच ज्ञानेन्द्रियों को पांच भूतों का कार्य मान लिया जाता है। यद्यपि गौतम और कणाद ने श्रोत्रेन्द्रिय को आकाशरूप बताकर उसे उत्पन्न हुआ नहीं माना, और शेष चार इन्द्रियों को चार भूतों का विकार बताया है, फिर भी आकाश के साथ श्रोत्र का सम्बन्ध तो इससे प्रकट हो ही जाता है। पञ्चाधिकरण और उसके अनुयायी शब्दतन्मात्र से श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति मान लेते हैं, इतनी विशेषता के रहते भी पांच भूतों से पांच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्तिके वर्णन में गौतम कणाद के विचारों का प्रभाव स्पष्ट ही प्रतिभासित होता है। इसीलिये इन्द्रियों को दश मानकर उनमें से पांच कर्मेन्द्रियों तथा उनके अतिरिक्त आन्तरिन्द्रिय मन के कारणों का वर्णन करने में स्पष्टता का आश्रय नहीं लिया गया, और इस विषय को केवल इतना कहकर सरका दिया गया है, कि इन्द्रियां भौतिक अथवा तान्मात्रिक हैं। इतने से उनका कार्यकारणभाव स्पष्ट नहीं होपाता।

**उपनिषद् में वाक्-मन का कारणनिर्देश**—उपनिषदों में कुछ ऐसे उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर आन्तरिन्द्रिय मन तथा कर्मेन्द्रिय वाक् के कारणों का संकेत मिलता है। 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' तथा 'तेजोमयी वाक्'[1] इत्यादि। इन वाक्यों में मन को अन्नमय–अन्न का विकार, तथा वाक् को तेजोमय–तेज का विकार बताया गया है। अनेक आचार्यों ने 'अन्न' पद को यहां पृथ्वी का प्रतीक माना है। वैसे भी साधारणतया समस्त खाद्य–अन्न आदि–पार्थिव समझा जाता है। यदि इसको ऐसे ही यथार्थरूप में मान लिया जाता है, तो इसका यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि इन्द्रियों को भौतिक स्वीकार करने पर मन को पार्थिव–पृथिवी का विकार–माना जाना चाहिये। इसीप्रकार वाक् कर्मेन्द्रिय को तेज का विकार। यदि इस वर्णन को इसी रूप में ठीक मान लिया जाता है, तो भी शेष चार कर्मेन्द्रियों के उपादानतत्त्वों का अनिर्णय रहता है। मन और वाग्विषयक ऐसे वर्णन दार्शनिक साहित्य में कहीं उपलब्ध नहीं होते। उपनिषदों के प्रसंग प्रायः रहस्यपूर्ण एवं अर्थान्तर के द्योतक होते हैं। ऐसे प्रसंगों के आधार पर दार्शनिक दृष्टि से नियमित कार्यकारणभाव की व्यवस्था करना सर्वथा यथार्थ नहीं कहा जासकता। इनमें कल्पना का अंश अधिक रहजाता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रसंग की परीक्षा कीजिये।

**मन आदि के औपनिषद कारणनिर्देश की विवेचना**—अन्न का विकार मानने पर मन को केवल पार्थिव कहना होगा। इन्द्रियों को जब भौतिक माना जाता है, उसके अनुसार 'घ्राण' पार्थिव इन्द्रिय है। वह केवल पृथिवीसम्बन्धी गन्ध आदि का ग्रहण कर सकती है, अन्य रस रूप आदि का नहीं। तब मन के साथ भी यह नियम लागू होगा और मन सर्वविषयों को ग्रहण करनेवाला नहीं माना जासकेगा। इन्द्रियों को भौतिक माननेवाले आचार्य भी इस विचार को स्वीकार नहीं करते। कारण यह है, कि अन्न का विकार

१—छान्दोग्योपनिषत्, ६।५।४॥ ६।६।५॥ ६।७।६॥

माने जाने पर मन को अपने स्वरूप तथा अपने कार्य से वञ्चित कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में यही कहना होगा, कि या तो मन को अन्न–पृथिवी का विकार न माना जाना चाहिये, या इस प्रसंग में 'अन्न' पद का कुछ अन्य अर्थ समझना चाहिये। यही बात 'तेजोमयी वाक्' इस वाक्य के सम्बन्ध में कही जासकती है। केवल वाक् कर्मेन्द्रिय तेज का विकार है, अन्य कर्मेन्द्रियां तेज का विकार नहीं, तथा उनके अन्य किसी कारण का पता नहीं लगता। तब उक्त वाक्य से प्रतिपादित अर्थ अन्य प्रमाणों एवं वैज्ञानिक आधारों पर सुपुष्ट है, यह कैसे कहा जासकता है? इसलिये सम्भव है, 'तेजस्' पद भी यहां किसी अन्य अर्थ का संकेत करता हो। इस दृष्टि से विचार करनेपर प्रस्तुत प्रसंग का एक और वाक्य–'आपोमयः प्राणः' उक्त धारणा की पुष्टि में सहयोग देता है। प्राण यदि वायुमात्र हैं, तब उन्हें आपोमय अर्थात् जल का विकार कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यदि 'प्राण' कोई अन्य तत्त्व है, तो वह क्या हैं? तथा उसके 'आपोमय' होने में क्या प्रमाण हैं? यह अपेक्षा बनी रहती है। इसलिये उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग का कोई ऐसा रहस्य-पूर्ण अर्थ होना चाहिये, जो कथित पदों द्वारा आपाततः प्रतीयमान नहीं होरहा।

पूर्वापर प्रसंग का ध्यान रखते हुए–अन्न तेजस् आपस्–पद इस प्रकरण में यथा-क्रम–तमस् रजस् सत्त्व–के द्योतक प्रतीत होते हैं। यदि इस धारणा को ठीक माना जाय, तो प्रश्न होता है, कि मन को अन्न अर्थात् तमस् का विकार क्यों कहा गया, जब सात्त्विक उपादानों से मन एवं समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी गई है? वस्तुतः यहां मन के उपादानतत्त्वों का वर्णन नहीं, प्रत्युत मन की तथा मन से उपलक्षित समस्त इन्द्रियों की कार्य-व्यापृत अवस्था पर प्रकाश डालने के लिये उसके बाह्य साधनों का संकेत किया गया है। यह स्पष्ट है, कि समस्त इन्द्रियां अपने व्यापार को करने के लिये स्थूलशरीर के सहयोग के विना सर्वथा असमर्थ रहती हैं। इन्द्रियों के समस्त व्यापार स्थूलशरीर में अपने अस्तित्व का लाभ करते हैं। स्थूलशरीर की रचना पाञ्चभौतिक होने से तमोमय है, क्योंकि स्थूलभूतों के उपादान तन्मात्रतत्त्व तमःप्रधान उपादानों के परिणाम होते हैं। स्थूलशरीर को अन्यत्र[1] भी इसी आधार पर 'अन्नमय' वर्णन किया गया है। इसकी स्थिति खाद्य अन्न के उपयोग अनुपयोग पर अवलम्बित है। उपनिषद् के पद प्रत्यक्षरूप में इस अर्थ का निर्देश करते हुए वास्तविक स्थिति को भी प्रस्फुटित कर देते हैं। क्योंकि मन-सहित समस्त इन्द्रियों का ऐहिक कार्यकलाप स्थूलशरीर पर आधारित हैं, इसलिये औप-चारिकरूप में उनको 'अन्नमय' कह दिया गया है। इन्द्रियों में मन प्रधान समझा जाता है, इसलिये इस अर्थ का निर्देश केवल मन के द्वारा कर दिया गया, जो समस्त इन्द्रियों को उपलक्षित कर लेता है।

प्राण समस्त इन्द्रियों की साधारणवृत्ति माने जाते हैं। वृत्ति का अर्थ है–व्यापार। सब इन्द्रियों का मिलित अर्थात् साधारण व्यापार प्राण हैं। इसलिये उपनिषद् के प्रस्तुत

१—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।८।१॥ ३।१०।५॥

प्रसंग में 'प्राण' पद समस्त इन्द्रियों का उपलक्षण है। 'आपस्' पद सत्त्व का द्योतक होने से 'आपोमयः प्राणः' वाक्य का अभिप्राय यह होता है, कि इन्द्रियां सत्त्वप्रधान उपादानों का विकार हैं। प्राणादि व्यापार को इन्द्रियां स्थूलशरीर के आश्रय से कर पाती हैं, और इसका अस्तित्व स्थूल अन्न जल आदि पर आधारित है। इसलिये अन्न जल आदि का उपयोग शरीर को पुष्ट रखता है, और इन्द्रियव्यापार में सुविधा का जनक है। इस आधार पर प्राण को जलमय कह दिया गया है। उपनिषद् पदों से आपाततः प्रतीयमान इस अर्थ के साथ मुख्यतः प्रतिपाद्य अन्तर्निहित विषय भी प्रतिफलित होजाता है।

यह अवगत होचुका है, कि समस्त इन्द्रियां सत्त्व-प्रधान उपादानों का परिणाम हैं। फिर भी कर्मेन्द्रियों में अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा रजस् तत्त्व की कुछ विशेषता रहती है। उपनिषद् के 'तेजोमयी वाक' में 'वाक्' पद समस्त कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण हैं। 'तेजस्' पद रजस् तत्त्व का संकेत करता है। इसप्रकार यहां कर्मेन्द्रियों की रचना में रजस् अंश की आपेक्षिक अधिकता का प्रतिपादन किया गया है। कर्मेन्द्रियां कार्य—अनुष्ठान क्रिया—के साधन हैं, इसलिये लौकिक दृष्टि से उनका तेजोमय होना स्वभावसिद्ध है। क्रियाशीलता में अधिक ताप का होना स्वाभाविक माना जाता है। फलतः लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि से जो बात साधारणतया सीधे सादे शब्दों में कही गई प्रतीत होती है, वह अपने भीतर एक वास्तविक निगूढ अर्थ को छिपाये हुए है। जिसके ज्ञान से इन्द्रियों की रचना पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। उपनिषद् के इस समस्त प्रकरण में अन्न आपस् तथा तेजस् पदों का यथाक्रम तमस् सत्त्व और रजस् अर्थ समझना चाहिये। यह प्रसंग इन्द्रियों को भौतिक माने जाने में कोई सहायता नहीं देता।

**औपनिषद अन्न आदि पदों के अर्थ**—उपनिषद् में यहां कुछ ऐसे निर्देश हैं, जिनके आधार पर 'अन्न' आदि पदों के उक्त अर्थ किये जाने में सन्देह उत्पन्न होसकता है। जैसे यहां अन्न आपस् आदि के अशन पान का उल्लेख है, उनके उपयोग और अनुपयोग के परिणामों से स्पष्ट ही इन्द्रियां के प्रभावित होने का वर्णन है। इनके उपयोग में इन्द्रियां अपना कार्य यथावत् करती रहती हैं, पर अनुपयोग में शिथिल होजाती हैं। षोडशकल पुरुष को समझाने के लिये श्वेतकेतु से कहा गया है, कि तुम पन्द्रह दिन तक कोई आहार न लो, कवल जल यथेच्छ पीते रहो। यथाकथंचित् प्राण तो बचे रहेंगे, पर इन्द्रियां शिथिल होजायेंगी। इसका परीक्षण किये जाने पर श्वेतकेतु अपना पढ़ा लिखा सब भूल जाता है। इन्द्रिया अपने सब विशिष्ट व्यापारों को छोड़ बैठती हैं। इसप्रकार अन्न पान आदि का इन्द्रियों पर स्पष्ट प्रभाव प्रकट किया गया है। जिससे यह परिणाम निकाला जासकता है, कि इन्द्रियों की रचना में इनका कुछ सहयोग होना चाहिये, तथा इस वर्णन से 'अन्न' आदि पदों के लोकप्रसिद्ध अर्थों के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ की सम्भावना नहीं की जासकती।

यह मन्तव्य सर्वसम्मत है, कि स्थूलशरीर के सहयोग में इन्द्रियां अपना व्यापार-

लाभ कर सकती हैं। शरीर के सर्वथा आरोग्य रहने पर उनके व्यापार में किसी प्रकार की वाधा नहीं आपाती। परन्तु शरीर में रोग होनेपर अथवा किसी कारण से शिथिलता आने पर इन्द्रियों के व्यापार में अन्तर प्रतीत होने लगता है। उस अवस्था में भी इन्द्रियों की अपनी वास्तविक स्थिति किसी रूप में प्रभावित नहीं होती। इन्द्रियों का अपना अस्तित्व ठीक वैसा ही वना रहता है, जैसा पहले था। अब केवल शरीर के शिथिल होजाने से उनके व्यापार में शैथिल्य आजाता है, क्योंकि इन्द्रियव्यापार स्थूलशरीर के सहयोग की पूर्ण अपेक्षा रखता है। सर्गकाल के अन्तराल में किसी इन्द्रिय का नाश नहीं होता, न उसमें किसी प्रकार के विकार या शैथिल्य की सम्भावना रहती है। आदिसर्ग में इन्द्रियों की जैसी पूर्ण रचना होजाती है, वैसी सर्ग के अन्तकाल तक बनी रहती है। श्वेतकेतुसम्बन्धी उक्त वर्णन में शरीर के शैथिल्य से इन्द्रियव्यापार के शैथिल्य का वर्णन है, जो इन्द्रियव्यापार में शरीरसहयोग की अनिवार्य अपेक्षा का प्रतिपादन करता है। जहांतक खाद्य पेय वस्तुओं के उपयोग का प्रश्न है, ये सब शरीर को अपनी यथायथ अवस्था में रखने के साधन हैं। भोज्य आदि समस्त पदार्थ मूल में त्रिगुण के विकार हैं, उनके विभिन्न व विलक्षण समासों के अनुकूल विविध भोज्य आदि पदार्थों में विभिन्न प्रभावोत्पादकता का अद्भुत उद्रेक देखा जाता है, जो शरीर के विभिन्न अंगों पर उनके अनुकूल व प्रतिकूल प्रभाव डालता है। कोई भी विचक्षण व्यक्ति इन वस्तुओं के स्थूलरूप के आधार पर उनके मूलभूत अस्तित्व का सामञ्जस्य स्थापित कर सकता है, जो वास्तविकता को प्रकाश में लाने का साधन बन जाता है। उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में 'अन्न' आदि पद व्यावहारिक लोकप्रसिद्ध अर्थों का निर्देश करते हुए, अन्तर्निगूढ उन वास्तविक अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, जो इनके मूलभूत तत्त्वों और उनके परिणामों पर प्रकाश डालते हैं। यदि हम उपनिषद् के साधारण, स्थूल अथवा आपाततः प्रतीयमान शब्दार्थ पर ही सन्तोष कर लेते हैं, तो वस्तुतः उपनिषद् के प्रतिपाद्यस्वरूप को खो बैठते हैं।

**इन्द्रियरचनाविषयक निगमन**—प्रस्तुत प्रसंग में श्वेतकेतु के सन्मुख आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये यह बतलाया गया है, कि स्थूल-सूक्ष्मशरीर तथा समस्त इन्द्रियां हमारे लिये साधनमात्र हैं, ये हमारे साध्य नहीं, हमारे लक्ष्य या ध्येय नहीं। इनकी रचना अचेतनरूप है, त्रिगुणात्मक है। पर आत्मा चेतन एवं गुणातीत है। तुम वही आत्मा हो। इस प्रसंग के एकादश खण्ड में चेतन अचेतन के विभेद को स्पष्टरूप से वर्णित किया है, और अचेतन से अतिरिक्त चेतन आत्मा के अस्तित्व को स्थापित किया है। फलतः उपनिषद् के उक्त प्रसंग से मन की एवं वागिन्द्रिय की भौतिकता प्रमाणित नहीं होती। इसप्रकार इन्द्रियों को भौतिक कहने पर हमारे सामने यह समस्या विस्फारितमुख होकर उपस्थित रहती है, कि कौन सी इन्द्रिय को किस भूत का विकार माना जाय? सांख्यसप्तति की व्याख्या के चीनी अनुवादक ने चाहे किसी भी कारण से जहां तहां

इन्द्रियों को भौतिक केवल लिख भले दिया हो, पर उसने इनकी कार्यकारणव्यवस्था को स्पष्ट करने का कहीं कोई संकेत नहीं किया। इसलिये यही कहा जासकता है, कि सांख्य-दृष्टि अथवा वस्तुस्थिति के अनुसार इन्द्रियों को भौतिक कहना या मानना प्रमाणमूलक नहीं है। पञ्चाधिकरण ने इस सिद्धान्त को किस आधार पर माना है, उसका सम्पूर्ण लेख उपलब्ध हुए विना इसका निर्णय किया जाना दुःशक है। कदाचित् तन्त्रान्तर की भावना से प्रभावित होकर उसने ऐसा मान लिया हो। पर उस अवस्था में ऐसी मान्यता का प्रमाणमूलक स्पष्ट प्रतिपादन करना सर्वदा अपेक्षित रहेगा।

**अभौतिक इन्द्रियों का विषयग्रहण**—प्रत्येक इन्द्रियद्वारा एक नियत विषय का ग्रहण होता है, यह सब प्रमाणों से सिद्ध है। घ्राण इन्द्रिय केवल गन्ध का ग्रहण करती है रूपादि का नहीं, चक्षु केवल रूप का प्रकाश करती है, अन्य गन्ध रसादि का नहीं। इस आधार पर यह जाना जाता है, कि जिस इन्द्रिय का जो भूत उपादान है, वह इन्द्रिय उसी का ग्रहण करती है, अथवा उसमें रहने वाले गुण आदि का। इस नियत विषयग्रहण से इन्द्रियों का भौतिक होना स्पष्ट होता है। यदि इन्द्रिय भौतिक न होकर आहंकारिक मानी जाती हैं, तो उनके नियत विषयग्रहण का क्या नियामक होसकता है, यह स्पष्ट होना आवश्यक है। आहंकारिक होने पर प्रत्येक इन्द्रिय सब विषयों का ग्रहण क्यों नहीं करती? अथवा उस अवस्था में अधिक इन्द्रियरचना की आवश्यकता ही न होती, एक ज्ञानेन्द्रिय सब विषयों का ग्रहण कर सकती।

इस विषय को अधिक स्पष्टरूप में समझने के लिये हमें एक वार फिर इन्द्रियों की रचना की ओर दृष्टिपात करना होगा। यह बात प्रथम कह दी गई है, कि इन्द्रियों का परिणाम तैजस अहंकार से होता है। इसीप्रकार तामस अहंकार से तन्मात्र परिणत होते हैं, इनका दूसरा नाम अविशेष कहाजाता है। इनको अविशेष इसी कारण कहाजाता है, कि इनमें अभी तक गन्ध आदि की विशेषता प्रकट नहीं होती, यही आधार इनके 'तन्मात्र' नाम का है। हमें ध्यान इस ओर देना चाहिये, कि जिन उपादानतत्त्वों से जिस अविशेष अथवा तन्मात्र का परिणाम होता है, उसके अनुकूल उपादानतत्त्वों से ही उस विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय का परिणाम हुआ है, यद्यपि इन्द्रिय तैजस अहंकार से और तन्मात्र तामस अहंकार से परिणत होते हैं, पर उनकी उपादानसामग्री में पारस्परिक अनुकूलता अवश्य बनी रहती है। जो उपादानसामग्री घ्राण इन्द्रिय को परिणत करती है, उसकी अधिक अनुकूलता उस उपादानसामग्री के साथ अवश्य रहती है, जो उन तन्मात्रों को परिणत करती है, जिनसे गन्धवती पृथिवी परिणत होने को हैं। इसी प्रकार रसन इन्द्रिय की कारणसामग्री की अधिक अनुकूलता रसतन्मात्र की कारण-सामग्री के साथ रहती है। इन्द्रिय और उसके ग्राह्य विषयों की रचना इस ढंग की है, कि वह पारस्परिक अनुकूलता के साथ गुथी हुई है, उसके अनुसार घ्राण गन्ध का ग्रहण कर सकती है, रसन रस का और चक्षु रूप का।

**'तन्मात्र' के साथ 'गन्ध' आदि पदप्रयोग का प्रयोजन**—'तन्मात्र' के साथ जो गन्ध या रस आदि विशेषण जोड़े जाते हैं, वह केवल व्यवहार की दृष्टि से हैं, क्योंकि तन्मात्र में किसी प्रकार के गन्ध रस आदि का उद्भव नहीं होपाता, इन तन्मात्रों से जब अन्योन्यमिथुन होकर पृथिवी परमाणु आदि का परिणाम होता है, उसी में गन्ध आदि विशेषता उभर कर प्रकाश में आती है, उस प्रकार के परिणामों का उपादान होने के कारण तन्मात्रों में विशिष्ट व्यवहार के लिये उस-उस तन्मात्र के साथ 'गन्ध' आदि कार्यगत पदों का कारण में प्रयोग कर दिया जाता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन 'तन्मात्र' परिणाम के प्रसंग में किया गया है। यहां केवल इतना अंश स्पष्ट करना अभिप्रेत है, कि भूतों की उत्पत्ति या परिणाम से पूर्व इन्द्रियों का परिणाम हो चुकता है, जिस इन्द्रिय की कारणसामग्री के साथ आगे परिणामक्रम में जिस भूत की कारणसामग्री का अधिक आनुकूल्य होता है, वह इन्द्रिय उसी विषय का ग्रहण अथवा प्रकाशन करती है, अन्य का नहीं।

**भौतिक इन्द्रिय विषयग्रहण में असमर्थ**—यदि भूतों के परिणत होजाने पर उनसे इन्द्रियों का परिणाम माना जाता है, तो भूतों के समान इन्द्रियों को तामस मानना होगा, उस अवस्था में इनका अर्थप्रकाशनसामर्थ्य स्वीकार किया जाना अशक्य एवं प्रमाणविरुद्ध होगा, क्योंकि अर्थप्रकाशन अथवा विषयग्रहणसामर्थ्य केवल सत्त्वप्रधान रचना में सम्भव है, 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' [गीता १४।१७] सत्त्वप्रधान रचना से ज्ञान होता है। इसी कारण पञ्चशिखाचार्य ने बताया है–'आहंकारिकाणीन्द्रियाण्यर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा'[1] इन्द्रियां आहंकारिक मानी जाती हुई अर्थ को सिद्ध कर सकती हैं अन्यथा नहीं। कारण यही है, कि भौतिक इन्द्रियां तामस होने से विषय के ग्रहण करने में अयोग्य रहती हैं। गीता के उक्त वाक्य में चाहे यह भाव ध्वनित होता हो, कि सत्त्वोद्रेक होने पर आत्मविषयक ज्ञान होपाता है; फिर भी सत्त्वप्रधानरचनामूलक इन्द्रियां विषय का ज्ञान करने में साधन होती हैं, इस मान्यता के साथ उक्त भाव का कोई विरोध नहीं है। फलत: नियत इन्द्रियद्वारा नियत विषय का ग्रहण करने में इन्द्रिय और विषय की कारणसामग्री का परस्पर अनुकूल होना नियामक है। यही अनुकूलता इनका साजात्य है, तब ऐसा व्यवहार किया जा सकता है, कि कोई इन्द्रिय अपने समानजातीय विषय का ग्रहण करती है, भिन्नजातीय का नहीं; इसके लिये इन्द्रियों को भौतिक मानना अपेक्षित नहीं है।

**कणाद-गौतम ने इन्द्रियों को भौतिक क्यों कहा**—इस तथ्य का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है, कि तामस अहंकार तन्मात्ररूप में परिणत होते हैं; इन तन्मात्रों का दूसरा नाम 'अविशेष' है। वह इसी कारण है, कि अभी तक इनमें गन्ध आदि की

---

१—देखें—'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ ४८०, सन्दर्भ संख्या १३; तथा युक्तिदीपिका, पृष्ठ १२३, पंक्ति ९-१० ॥

विशेषता उभार नहीं लेती, इन तन्मात्रों अथवा अविशेषों के अन्योन्यमिथुन से पृथिवी-परमाणु आदि का परिणाम होता है, इनमें गन्ध आदि की विशेषता उभर आती है, इसीलिये सांख्य-योग में इनको 'विशेष' कहा गया है। कणाद ने अपने शास्त्र में जगद्रचना का विवेचन करने के लिये इन्हीं 'विशेष' संज्ञक तत्त्वों को मूल मानकर शास्त्र का प्रवचन किया है, सम्भवतः इसीकारण इस शास्त्र को 'वैशेषिक' नाम दिया गया—विशेषं विशेषाभिधं तत्त्वं मूलमाश्रित्य प्रवृत्तं शास्त्रं वैशेषिकम्। सांख्यप्रक्रिया के अनुसार जगद्रचनाक्रम में ये तत्त्व बहुत अनन्तर आते हैं, पर कणाद ने प्रारम्भिक अधिकारियों को जगद्रचना की सरल एवं स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये रचना का आरम्भ इन्हीं 'विशेष' नामक तत्त्वों से मानकर शास्त्र का उपदेश किया। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों की रचना इन विशेषों से ही मानी जा सकती थी, क्योंकि इन विशेषों का नाम सूक्ष्मभूत है, इनसे उत्पन्न मानी गई इन्द्रियों को भौतिक कहना उपयुक्त था। कणाद ने अपनी प्रक्रिया में मन के अतिरिक्त अन्य अन्तःकरणों के वर्णन की उपेक्षा कर दी, और मन को नित्य मान लिया। गौतम के न्यायशास्त्र में जगद्रचना की प्रक्रिया को कणाद के अनुसार स्वीकार कर लिया गया है।

**इन्द्रियों की बहिर्मुख रचना**—बाह्य विषयों के साथ आन्तर का सम्बन्ध बनाये रखने के लिये इन्द्रियों की रचना है। आत्मा के विषयग्रहण के लिये जितने साधन हैं, वे दो भागों में विभक्त हैं—आन्तर और बाह्य। इनमें हमारी दस इन्द्रियां बाह्यसाधन हैं। सांसारिक बाहरी विषयों के साथ इनका सीधा सम्बन्ध रहता है। अपने विशिष्ट गोलकों द्वारा ये सदा बाहर की ओर को फैलती हैं, और एक नियत व्यवस्था के अनुसार आत्मा के लिये विषय का ग्रहण करने में साधन बनती हैं। यदि किसी इन्द्रिय का गोलक शारीरिक रचना के अनुसार विकृत होजाता है, तो वह इन्द्रिय अपना कार्य करने में असमर्थ रहजाती है, तब आत्मा उस बाह्य विषय के जान लेने में अक्षम होता है। बाहर की दुनिया के साथ आत्मा का संपर्क बनाये रखने के लिये इन्द्रियां एकमात्र महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। इन्द्रियों की इस स्थिति को उपनिषद् की एक कण्डिका[1] द्वारा बड़े सुन्दररूप में वर्णन किया गया है। बनाने वाले ने इन्द्रियों को बाहर की ओर देखने वाला बनाया है, इसलिये प्राणी स्वभावतः बाहर देखता है, अन्दर आत्मा की ओर नहीं; अर्थात् अपनी ओर ही नहीं देखपाता, इन साधनों के पीछे आपे को भूल बैठता है। पर कोई धीर पुरुष विरला ऐसा होता है, जो इनकी बाहर की ओर बहती हुई धारा को अन्दर की ओर मोड़ लेता है। उस अवस्था में इन्द्रियों का मार्ग अमृत की दिशा में मुड़जाता है। बाहर की ओर फैली इन्द्रियां तब आत्मा को विषयग्रहणद्वारा विचलित एवं व्यथित नहीं करतीं। भोग और अपवर्ग की

१—पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
[कठ०, २।१।१]

प्राप्ति में इन्द्रियों के साधन माने जाने का यही एक रहस्य है।

इन्द्रियप्रसंग में यह स्पष्ट किया गया, कि इन्द्रियां अहंकार का परिणाम हैं, तथा इसी आधार पर इनकी विषयग्राहकता उपपन्न मानी जासकती है। तन्मात्रों का परिणाम भी अहंकार से होता है, उन्हीं तन्मात्रों से सूक्ष्म और उनसे स्थूलभूत उभार में आते हैं, इस कारणसामग्री की समानता के आधार पर इन्द्रियों की नियतविषयग्राहकता का उपपादन संपन्न होता है। इसप्रकार अहंकार नामक कारणसामग्री अध्यात्म [इन्द्रियात्मक] और अधिभूत [तन्मात्रात्मक] दोनों विधाओं में परिणत होती है। जिन विशेषताओं के साथ दो मार्गों की ओर इसका बहाव होता है, उनका उपयुक्त वर्णन प्रथम इन्द्रियप्रसंग के प्रारम्भ में कर दिया गया है। उसके अनुसार 'तैजस अहंकार' इन्द्रियरूप में तथा 'तामस अहंकार' तन्मात्ररूप में परिणत होते हैं। इन्द्रिय-परिणाम के वर्णन के अनन्तर अब तन्मात्रपरिणाम का वर्णन अवसरप्राप्त है।

**तन्मात्र की रचना**—इन्द्रियरचनाप्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया गया है, कि तेरह करण की रचना अध्यात्मसृष्टि में पूरी हो जाती है, तब अधिभूतसृष्टि का आरम्भ होता है, और उसकी सर्वप्रथम रचना 'तन्मात्र' हैं। अध्यात्मसृष्टि की तुलना में अधिभूत की रचना के लिये मूल उपादानतत्त्वों का क्या अनुपात रहता होगा, इसका सर्वाङ्गपूर्ण निश्चय किया जाना संभव नहीं। केवल कल्पना के आधार पर कुछ अनुमान किये जासकते हैं। अध्यात्मसृष्टि के प्रसंग में मूलतत्त्वों के रचनागत अनुपात का हमने काल्पनिक निर्देश किया है। उसीके साथ अधिभूतरचना में मूलतत्त्वों का अनुपात क्या संभव होसकता है, इसका संकेत किया गया है। उसके अनुसार अधिभूतरचना में मूल उपादानतत्त्व सत्त्व-रजस् का न्यून और तमस् तत्त्वों का पर्याप्त अधिक अनुपात रहता है। अधिभूतरचनाक्रम में जिन पदार्थों ने अपना कोई एक स्थायीरूप प्राप्त करलिया है, आधुनिक विज्ञान ने उनको खोज निकालने में प्रशंसनीय प्रयास किया है, और वह इस दिशा में अभी बराबर अग्रसर होरहा है। उसके अनुसार उन पदार्थों की रचना में मूलतत्त्वों का अनुपात बराबर की स्थिति से लगाकर लगभग डेढ़ गुना से भी अधिक संख्या तक मालूम किया गया है।

आधुनिक विज्ञान ने ऐसे जितने पदार्थों की आजतक खोज की है, उनकी संख्या हाइड्रोजन्, हीलिअम् आदि से लेकर मैण्डलेविअम्, नोबैलिअम् तक एकसौ दो है। इन सबकी रचना प्रोटोन्, इलैक्ट्रॉन् तथा न्यूट्रॉन् नामक मूलतत्त्वों के विलक्षण संघटन के आधार पर होती है। इनमें आदि पदार्थों की रचना के लिये जहां प्रोटोन् आदि का अनुपात बराबर है, वहां अन्तिम पदार्थों की रचना में प्रोटोन् की अपेक्षा न्यूट्रान् का अनुपात डेढ़गुना से भी अधिक होजाता है। तेरह करणों की रचना के प्रसंग में अध्यात्मसृष्टि के अनन्तर हमने जो अधिभूतरचना में मूलतत्त्वों के अनुपात का काल्पनिक संकेत किया है, वह लगभग आधुनिक वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा प्रकट किये गये परिणामों के

समान है। अध्यात्मरचना के विषय में विज्ञान के परीक्षण अभी अधिक अनिश्चयात्मक स्थिति में हैं, वे यहां तुलना की दृष्टि से अनपेक्षित हैं। इसप्रकार अधिभूतरचना के क्षेत्र में जहां तक तन्मात्रों की रचना का प्रश्न है, इनमें मूलतत्त्वों का अनुपात सत्त्व-रजस् की अपेक्षा तमस् तत्त्वों का अधिक रहता है; संभवतः इसीकारण अधिभूतरचना को 'तामस-सृष्टि' कहा गया है।

इस विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि 'तन्मात्र' स्वयं, तत्त्व की एक ऐसी स्थिति है, जो किन्हीं मूल उपादानतत्त्वों के विलक्षण संघटन के आधार पर प्रकाश में आती है, और अपने किसी स्थायीरूप को ग्रहण कर लेती है। अधिभूत की रचना में तत्त्व का यह पहला स्तर समझना चाहिये। कदाचित् आधुनिक विज्ञान में तत्त्व की इसी स्थिति को ऐलीमैन्ट [Element] नाम दिया गया है। ऐलीमैन्ट की जो परिभाषा उस विषय के विशेषज्ञ विद्वानों ने की है, उसके अनुसार यही निश्चय होता है, कि सृष्टि के रचनाक्रम में ये तत्त्व किसी विशेष स्तर पर आकर अपने एक स्थायीरूप को ग्रहण कर लेते हैं। अपने रूप में वह एकमात्र तत्त्व रहता है, उसमें उसी स्तर के अन्य किसी तत्त्व का संमिश्रण नहीं रहता। सांख्यप्रतिपादित 'तन्मात्र' तत्त्व की ठीक यही स्थिति रहती है। 'तन्मात्र' यह संज्ञा तत्त्व की उस अवस्था को स्पष्ट कर देती है, अर्थात् जो तत्त्व केवल उतना ही है, या वही है, उसमें अन्य किसी तत्त्व का संमिश्रण नहीं। इस विषय का अपेक्षित वर्णन द्वितीय अध्याय के अन्तिम पृष्ठों में आधुनिक विज्ञान की विवेचना के प्रसंग से कर दिया गया है। फलतः तन्मात्र की रचना थोड़े सत्त्व-रजस् तथा अधिक तमस् तत्त्वों के विलक्षण संघटन से होती है, ऐसी संभावना की जासकती है, जो प्रमाणों पर आधारित समझनी चाहिये।

**तन्मात्र-अहंकार का कार्यकारणभाव**—सांख्य में यह प्रतिपादन किया गया है, कि ग्यारह करण और तन्मात्र अहंकार के परिणाम हैं। तैजस अथवा सात्त्विक अहंकार का परिणाम करण हैं, और तामस अहंकार का तन्मात्र। विचारणीय यह है, कि अहंकार एकमात्र तत्त्व, सात्त्विक और तामस दोनों रूप कैसे? वस्तुस्थिति यह है, कि अहंकार की जो कारणसामग्री है, उसमें बहुत थोड़े उलटफेर से जो तत्त्व परिणत होजाते हैं, वे करण हैं—मन और इन्द्रियां। अहंकार स्वयं एक सात्त्विक रचना है। उसमें साधारण उलट-फेर उसकी सात्त्विक स्थिति को बदल नहीं देती, और वह स्थिति करणरूप परिणाम है। कारणसामग्री की तुल्यता और आत्मलाभ [अपने आप को प्रकट में आने] का पौर्वापर्य इनके कार्यकारणभावरूप में व्यवहार कियेजाने का प्रयोजक है। परन्तु जब उसी कारणसामग्री के साथ तमस् तत्त्व अधिक परिमाण अथवा अधिक संख्या में आ मिलते हैं, तब तन्मात्र तत्त्वों का अस्तित्व उभर आता है। इसी आधार पर तन्मात्र और अहंकार का परस्पर कार्यकारणभाव माना जाता है, तथा अहंकाररूप कारणसामग्री के साथ अधिक तमस् तत्त्वों का संघटन होजाने से उस समस्त कारणसामग्री का नाम

तामस अहंकार है, और उसका परिणाम तन्मात्र हैं, इसप्रकार इनका कार्यकारणभाव स्पष्ट होता है।

वह कारणसामग्री उत्तरोत्तर अन्य उलटफेरों के साथ संघटित होती हुई किन्हीं स्थायीरूपों को ग्रहण कर लेती है, वे सब परस्पर विलक्षण रहते हुए भी अपने रूप में केवलमात्र वही तत्त्व होने से 'तन्मात्र' कहे जाते हैं। तत्त्वों की यह स्थिति इन्द्रियों के दृष्टिगोचर नहीं होती। सूक्ष्म तत्त्वों को इन्द्रियों के द्वारा देखे जाने के लिये जो उन्नतोन्नत बाह्य यन्त्र आदि साधन तयार किये गये हैं, उनके सहयोग में भी इन्द्रियां इस स्थिति के तत्त्वों को देखने में असमर्थ रहती हैं। वस्तुतः इन्द्रियां और ये तत्त्व एकप्रकारसे समकक्ष जैसी अवस्था के तत्त्व हैं, दोनों आहंकारिक हैं, उनमें विषय-विषयिभाव की स्थिति अभी प्रकाश में नहीं आई। इन तत्त्वों से जो पदार्थ आगे परिणत होते हैं, उनमें वे धर्म उभर आते हैं, जो पदार्थों के इन्द्रियविषय होने में सहायक हैं। यह आवश्यक नहीं, कि ऐसा प्रत्येक पदार्थ साधारणतया इन्द्रियों से जाना जासके। अनेकानेक पदार्थ, स्थूलपदार्थ की परिभाषा के अन्तर्गत होने पर भी इतने सूक्ष्म होते हैं, कि उनको सीधा इन्द्रियों से नहीं देखा जासकता। शक्तिशाली सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र के सहयोग से उनको अच्छी तरह देखा जासकता है। यदि वे कोई सूक्ष्म कृमिदेह हैं, तो उनकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को भी भलीभांति देखे जासकने में कोई रुकावट नहीं होती। गन्दी नालों से उठाये हुए पानी के एक बिन्दुकण में सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र के सहयोग से आप अनेक कृमिदेहों और उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं को सरलता से देख सकते हैं, जब कि साधारणरूप में वह पानी की बूंद आपको साफ स्वच्छ जैसी दिखाई देती है। यह सब प्रकृति अथवा प्रकृति के नियन्ता की विलक्षण एवं मानवमस्तिष्क को चमत्कृत करने वाली रचनाओं का अनन्त विस्तार है। यह सब अधिभूत जगत् की प्रारम्भिक रचना, अध्यात्मसृष्टि के अहंकार तत्त्वों की रचना के अनन्तर आती है, इन्हीं आधारों पर इनके कार्यकारणभाव का निर्देश सांख्य में हुआ है।

**तन्मात्र की पांच संख्या के प्रवाद का आधार**—मूलतत्त्वों के ऐसे संघटनों को—जो प्राकृतिक नियम व व्यवस्थाओं के अनुसार होते रहते हैं और जिन्होंने किसी विशेष-स्तर में आकर अपने एक स्थायीरूप को ग्रहण कर लिया है—किसी नियत संख्या में सीमित करना संभव प्रतीत नहीं होता। यदि यह मानलिया जाय, कि आधुनिक विज्ञान के ऐलिमैन्ट यथाकथञ्चित् सांख्यप्रतिपादित तन्मात्र के समकक्ष हैं, तो इनकी व्यवहृत नियत संख्या के विषय में विचार करना आवश्यक है। अभी तक ऐसे जाने गये तत्त्वों की संख्या आधुनिक विज्ञान ने 'एक सौ दो' बताई है तथा इनसे अतिरिक्त कुछ अन्य तत्त्वों के मिलजाने की संभावना प्रकट की गई है। पर सांख्य में तन्मात्र पांच बताये गये हैं, इसका क्या आधार होसकता है? यह एक विचारणीय समस्या है।

विभिन्न तन्मात्रों का विलक्षण संघटन कतिपय अलक्षितस्तरों को पार करता

हुआ पृथिवी आदि भूतों के रूप में परिणत होता है, यह विवेचन द्वितीय अध्याय के अन्तिम पृष्ठों में किया गया है। भारतीय दर्शन के अनुसार भूत नामक रचना की नियत संख्या पांच है। यह निश्चित है, कि पृथिवीरूप परिणाम किन्हीं विभिन्न तन्मात्रों के विलक्षण संघटन का फल है। प्राकृतिक नियमों व व्यवस्थाओं के अनुसार जब वह संघटन एक विशेषस्तर पर पहुँचकर अपने स्थायीरूप को ग्रहण कर लेता है, उसका नाम पृथिवी है। परिणाम की इस अवस्था में कुछ गन्ध आदि ऐसी विशेषताएँ उभर आती हैं, जिनका अनुभव पहली अवस्था में—अर्थात् तन्मात्र की तथा मध्यगत अलक्षित स्तरों की अवस्था में—नहीं होता। तब इस पृथिवीपरिणाम को हम 'गन्ध' अथवा 'गन्धवाला' कहते हैं। व्यवहार के लिये यह नामकरण उन तन्मात्रों का भी होजाता है, जिनका विलक्षण संघटन पृथिवीरूप में परिणत हुआ है, और उन तन्मात्रों के वर्ग को हम 'गन्ध-तन्मात्र' नाम से व्यवहार करने लगते हैं। वे कितने तन्मात्र हैं, कितने प्रकार के हैं, उनकी अपनी निजी विशेषताओं के आधार पर क्या-क्या अपने विभिन्न नाम हैं ? इन सब बातों का लेखा-जोखा एक अतिरिक्त विषय है। इसीप्रकार जल तेज आदि भूतों के अपने-अपने कारण-तन्मात्रवर्ग के विषय में समझना चाहिये। जिन तन्मात्रों का विलक्षण संघटन जलरूप में परिणत होता है, जल की अभिव्यक्ति 'रस' विशेषता के आधार पर उसके कारणभूत तन्मात्रवर्ग को भारतीय दर्शन में 'रसतन्मात्र' के नाम से व्यवहृत किया गया है। जो तन्मात्र पृथिव्यादिरूप में परिणत होते हैं, उनसे अतिरिक्त अनेक 'तन्मात्र' ऐसे-रहते हैं, जो आगे अन्य तत्त्वों के रूप में परिणत नहीं होते।

पृथिवीरूप में विभिन्न तत्त्वों ने एक स्थायीरूप ग्रहण किया है, आधुनिक विज्ञान भी इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। पृथिव्यादि भूत अन्य अनेक प्रकार के पदार्थों के उत्पादन में निमित्त रहते हैं, यह बात सर्वथा वैज्ञानिक है। अन्न, फल, मूल, ओषधि, वनस्पति आदि विभिन्न पदार्थ सब पाञ्चभौतिक हैं, जो प्राणी की भोग्यसामग्री के अंग हैं। प्राणियों के ये विभिन्न प्रकार के शरीर पाञ्चभौतिक हैं, जो आत्माओं के भोगसाधन हैं। पांच भूतों की अपनेरूप में स्थिति ऐसी ही सत्य है, जैसे कोई भी अन्य पदार्थ अपनेरूप में सत्य होसकता है। दर्शनशास्त्र में पांच भूतों को विशेष महत्त्व दिये जाने का यही कारण प्रतीत होता है, कि तत्त्व की परिणामपरम्परा में यह एक ऐसे स्तर पर आकर बैठा है, जिसका प्राणी के लिये जगद्व्यवहार में और अपने लिये प्रयोग में सीधा संपर्क है। प्राणी का जीवन और उसके समस्त बाह्य साधन इन्हीं भूतभौतिक परिणामों पर अवलम्बित रहते हैं। इसप्रकार पञ्चभूतों की रचना के आधार पर उनके कारणभूत उतने 'तन्मात्र' वर्ग के लिये व्यवहार की सुविधा के निमित्त पांच संख्या का प्रवाद प्रचलित है, ऐसा समझना चाहिये।

**भूतविषयक पञ्चीकरणसिद्धान्त**—छान्दोग्य उपनिषद् [ ६।३।३-४।। तथा ४।७ ] के त्रिवृत्करणवर्णन के आधार पर आचार्य शंकर ने भूतों के पञ्चीकरण सिद्धान्त की

उद्भावना की है। उपनिषद् के उस अंश की व्याख्या[1] में तथा ब्रह्मसूत्रों[2] के अपने भाष्य में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि तत्त्वों का त्रिवृत्करण भूतों के पञ्चीकरण का उपलक्षण है, आचार्य शंकर ने छान्दोग्य के इस प्रसंग के तेज अप् अन्न पदों का प्रतीयमान अर्थ यथाक्रम अग्नि जल और पृथिवी किया है। इन तीनों के मिथुनीकरण को त्रिवृत्करण मानकर शेष भूतों का भी इसमें समावेश स्वीकार किया है। इसप्रकार पांचों भूतों की रचना प्रत्येक भूत में अन्य सब के मिथुनीकरण द्वारा बताई है। वेदान्त के आचार्यों ने इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार किया है, कि प्रत्येक भूत की रचना में आधाभाग उस भूत का रहता है, और शेष आधाभाग चार अंशों में विभक्त होकर एक-एक अंश अन्य चार भूतों में संमिलित होजाता है। इसप्रकार पृथिवी की रचना में आधा भाग पृथिवी का है, और शेष आधा जल आदि चारों भूतों में से प्रत्येक का आठवां अंश संमिलित होकर पृथिवी में मिथुनीभूत है। इसीप्रकार जल में आधाभाग जलका और शेष आधे में अन्य चारों भूतों के आठवें-आठवें अंश सम्मिलित हैं। ऐसे ही तेज आदि में समझ लेना चाहिये।

अब देखना चाहिये, कि छान्दोग्य के प्रस्तुत प्रकरण के त्रिवृत्करण का यही तात्पर्य है, या इसमें अन्य किसी अर्थ का वर्णन हुआ है? यदि भूतरचना की इस प्रक्रिया को स्वीकार किया जाता है, तो विचार करने पर यह प्रमाणसंगत सिद्ध नहीं होती। पहली आपत्ति तो यह है, कि मान लीजिये, अब पृथिवी की रचना प्रारम्भ है, शेष चारों भूतों की रचना होचुकी है, तभी पृथिवी का आधा भाग उन भूतों में से प्रत्येक के अष्टमांश को लेकर रचित होसकेगा। पर उन भूतों की रचना भी कैसे संभव होसकती है, जबकि अभी तक पृथिवी की रचना नहीं हुई, क्योंकि उन भूतों की रचना में भी तो पृथिवी का आधा भाग चार अंश में विभक्त होकर प्रत्येक भूत की रचना में सहयोगी होगा। यदि यह मानलिया जाय, कि पहले विशुद्ध पृथिवी आदि तत्त्वों की रचना होजाती है, उसके अनन्तर यह व्यवहार्य पृथिवी आदि की रचना का अवसर आता है, और तब इसप्रकार के भूतों के पञ्चीकरण में अन्योन्याश्रय आदि कोई दोष संभव न होगा। वस्तुतः भूतों के पञ्चीकरण की यह कल्पना सर्वथा निराधार एवं उपहासास्पद है। कारण यह है, कि न तो रचना की ऐसी प्रक्रिया में कोई प्रमाण है, और न इसको सिद्ध किया जासकता है, कि जब एकवार पृथिवी आदि सब भूतों की रचना होगई, तब उनको तोड़कर और एक दूसरे में कुछ अंश मिलाकर दुबारा उनकी रचना करने की आवश्यकता रह जाती है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है, कि भूतों की उत्पत्ति का एक निश्चित क्रम

---

१—देखें—छा. उ. ६।४। २-४, की व्याख्या में आचार्य शंकर का लेख—यथा तु त्रिवृत्कृते त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यं, तथा पञ्चीकरणेऽपि समानो न्याय इति।

२—देखें—ब्रह्मसूत्र, २।४।२०-२२ का शांकरभाष्य, तथा सूत्र ३।१।२, और उसका भाष्य।

प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। वेदान्त भी उस क्रम को स्वीकार करता है, स्वयं भगवान् शंकराचार्य ने तैत्तिरीय उपनिषद् [ २।१ ] में वर्णित रचनाक्रम को स्वीकार किया है, और उसी आधार पर उपनिषद् के भिन्न प्रतीत होने वाले अन्य सन्दर्भों का सामञ्जस्य स्थापित किया है। उस रचनाक्रम के अनुसार आकाश की रचना सर्वप्रथम होती है,[1] यह भूतों की रचना का क्रम है। आकाश की रचना के समय वायु आदि का अपनेरूप में अस्तित्व नहीं है, आकाश की रचना के अनन्तर वायु आदि की रचना का अवसर आता है, तब आकाश की रचना में वायु आदि के संमिश्रण का सामञ्जस्य कैसे स्थापित किया जासकता है? उत्तरोत्तर रचना होने वाले पदार्थों में पहले उत्पन्न पदार्थों का सहयोग हो यह तो संभव होसकता है, पर जिस पदार्थ ने अभी आत्मलाभ नहीं किया, उसके सहयोग का उससे पूर्ववर्त्ती कार्यों में वर्णन करना प्रामाणिक नहीं कहा जासकता। पूर्ववर्ती भूततत्त्व का उत्तरवर्त्ती की रचना में जो सहयोग संभव है, इस स्थिति को पञ्चीकरण का रूप नहीं माना गया।

इस प्रसंग में यह कहा जासकता है, कि जिन कारणतत्त्वों से भूतों की रचना होती है, उनमें से प्रत्येक भूत के कारणतत्त्वों का आठवां भाग शेष चार भूतों की रचना में सहयोगी रहता है, इसी आधार पर यह पञ्चीकरण का मन्तव्य स्वीकार कियाजाना चाहिये। परन्तु इस विषय में पहली बात तो यह है, कि कारणतत्त्वों के अष्टमांश का निर्धारण अन्य भूतों की रचना के लिये, सहयोगी के रूप में किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। यदि दुर्जनतोषन्याय से मान भी लिया जाय, तो यह भूतों के पारस्परिक सहयोग में पञ्चीकरण का साधक नहीं माना जासकता, क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने विशिष्ट कारण-समुदाय से प्रादुर्भाव में आता है, उस कारणसमुदाय में कितना अंश अन्यत्र उपयोगी है, न इसका नियमन शक्य है, और न इसकी सम-सीमा। कारणसामग्री के आधारपर उत्तरवर्त्ती कार्यों के पारस्परिक संमिश्रण का वर्णन युक्तियुक्त नहीं कहा जासकता। इसके अतिरिक्त कारणसामग्री की स्थिति में तो अभी भूतों का अपनारूप उभर ही नहीं पाया, तब उस स्थिति को भूतों का पञ्चीकरण कैसे कहा जासकेगा? इसप्रकार आकाश आदि भूतों की रचना का क्रम ही—जिसको स्वयं आचार्य शंकर ने प्रमाणपूर्वक स्वीकार किया है—पञ्चीकरण सिद्धान्त को उखाड़ फेंकता है।

इसके अतिरिक्त यह प्रत्यक्ष से देखा जाना जाता है, कि उत्तरवर्त्ती रचनावाले भूतों की कोई विशेषता पूर्ववर्त्ती रचनावाले भूतों में नहीं पाई जातीं। यदि आकाश की रचना में पृथिवी तेज आदि का अंश वस्तुतः सहयोगी है, तो उनकी गन्ध रूप आदि विशेषताओं की उपलब्धि न्यून से न्यून अंश में ही सही, वहां शक्य होनी चाहिये; परन्तु

---

**१—ब्रह्मसूत्र द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद के प्रारम्भ में आचार्य शंकर ने विस्तार के साथ भूतों के उत्पत्तिक्रम का निर्धारण किया है, वहां आकाश, वायु, तेज, जल और अन्त में पृथिवी यह क्रम बताया है।**

किसी भी प्रमाण से न यह सिद्ध है और न जाना जाता है, कि आकाश में गन्ध या रूप आदि का अस्तित्व रहता हो। इसप्रकार यह आचार्य शंकरद्वारा उद्भावित भूतों के पञ्चीकरण का सिद्धान्त सर्वथा अवैज्ञानिक है। वस्तुतः छान्दोग्य के उक्त प्रसंग में सांख्य-प्रतिपादित सत्त्व-रजस्-तमस् मूलतत्त्वों के आदिसर्गकालीन अन्योन्यमिथुनीभाव को त्रिवृत्करण के रूप में वर्णन किया गया है। अन्यत्र भी हमने इस प्रसंग का प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णन किया है [पृष्ठ १४९-१५२]। छान्दोग्यवर्णित त्रिवृत्करण के रूप में सांख्यप्रक्रिया के अनुसार त्रिगुण के अन्योन्यमिथुनीभाव का सामञ्जस्यपूर्ण वर्णन आचार्य शंकर को सह्य नहीं होसकता था, उसने बलात् त्रिवृत्करण में सर्वथा अप्रामाणिक अवैज्ञानिक भूतों के पञ्चीकरण को खींचने का निष्फल प्रयास किया है। शब्द के स्वारस्य की उपेक्षा कर किसी भी तरह स्वाभिमत को प्रकट करने का यह प्रयास है।

छान्दोग्य के उसी प्रसंग में जिन तीन तत्त्वों के परस्पर त्रिवृत्करण का निर्देश है, उन तत्त्वों को वहां 'सत्य' बताया गया है, उनके विकार सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि लोक लोकान्तरों को वाचारम्भणमात्र कहा है, जो उनके नश्वरभाव को स्पष्ट करता है, परन्तु उनके कारणरूप तीन तत्त्वों को 'सत्य' माना गया है, आचार्य शंकर ने उनके सत्य होने का कोई बुद्धिगम्य स्पष्टीकरण नहीं किया। सांख्यप्रक्रिया के अनुसार सत्त्व-रजस्-तमस् तीन प्रकार के मूलतत्त्व यथार्थरूप में सत्य हैं, और उसी स्थिति का वर्णन उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में हुआ है। वहां का अन्य वर्णन भी इसी प्रक्रिया के सामञ्जस्य में प्रतिफलित होता है। आचार्य शंकर ने प्रस्तुत प्रसंग में उपनिषद् के 'पृथिवी-अप्-तेज' पदों का जो अर्थ किया है, स्वयं आचार्य ने उन पदार्थों को सत्य नहीं माना, जबकि उपनिषद् में उनको 'सत्य' बताया है। इससे स्पष्ट है, यहां शंकर के अभिमत पृथिवी आदि दृश्यमान भूतों के त्रिवृत्करण अथवा पञ्चीकरण का निर्देश नहीं है। इसप्रकार यह सिद्धान्त न केवल आचार्य के स्वयं अपने लेख और उपनिषद् के स्वारस्य के अनुकूल नहीं है, प्रत्युत मनु आदि धर्मशास्त्रों के प्रतिकूल भी है। मनु [१।२०] ने आद्य भूतों की अपनी विशेषताओं का परवर्त्ती भूतों में उतर आना बताया है, परवर्त्ती भूतों की विशेषता आद्य अथवा पूर्ववर्त्ती भूतों में नहीं रहतीं। यह बात भूतों के पञ्चीकरण सिद्धान्त के अनुसार नहीं बनती। सांख्यद्वारा प्रतिपादित सृष्टिप्रक्रिया के साथ मनु के कथन का सामञ्जस्य स्पष्ट है।

**तन्मात्रों से आकाश आदि भूतों की रचना**—सांख्यविचार के अनुसार तन्मात्र-नामक जो कारणसामग्री आकाशरूप में परिणत होती है, उसमें कुछ न्यूनता तथा अन्य कारणसामग्री के अपेक्षित आधिक्य से वायु का परिणाम होता है। इसीप्रकार तेज के परिणाम के लिये कुछ पूर्वसामग्री और अधिक मात्रा में अपेक्षित अन्य नवीन कारण-सामग्री आजुटती है, यह तेजोरूप में परिणत होजाती है, इसीप्रकार जल और पृथिवी भूत के परिणाम में कारणसामग्री की न्यूनाधिकता समझ लेनी चाहिये। इसका तात्पर्य

यह है, कि भूतों के रचनाक्रम में पूर्वरचित भूतों की कारणसामग्री अंशतः परवर्त्ती भूतों की रचना में प्रयुक्त होती है, इसलिये पूर्ववर्त्ती भूतों की विशेषताओं का परवर्त्ती भूतों में अंशतः उभर आना स्वाभाविक है ; परन्तु परवर्त्ती भूतों की रचना में अपेक्षित विलक्षण नवीन कारणसामग्री का जो उपयोग होता है, उसका प्रभाव पूर्वरचित भूतों पर होना संभव नहीं। प्रत्येक भूत की स्थिति ऐसी ही जानी परखी जाती है। भूतों का पञ्चीकरण मानने पर यह अवस्था नहीं टिक सकती। भूतरचना की उक्त प्रक्रिया का संकेत सांख्य के व्याख्या-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। आचार्य माठर ने सांख्यकारिका [ २२ तथा ३८ ] की व्याख्या में लिखा है—

> तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी इत्यादिक्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि आकाशादिपृथिवीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टिक्रमः [ २२ ]।
>
> शब्दादिभ्यः पञ्चभ्यः आकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि पूर्वपूर्वानुप्रवेशादेकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणान्युत्पद्यन्ते [ ३८ ]।

भूतों की रचना में शब्दतन्मात्र से आकाश, स्पर्शतन्मात्र से वायु, रूपतन्मात्र से तेज, रसतन्मात्र से जल, गन्धतन्मात्र से पृथिवी; इस क्रम से पूर्व-पूर्व भूत की कारण-सामग्री के उत्पद्यमानभूत की कारणसामग्री में अनुप्रवेशद्वारा एक दो तीन चार पांच गुणवाले यथाक्रम आकाशादि पृथिवीपर्यन्त महाभूत उत्पन्न होते हैं, यह सृष्टिक्रम भगवान् कपिल ने उपदिष्ट किया है।

इस तथ्य को प्रथम स्पष्ट कर दिया गया है, कि आकाश आदि भूतों की कारण-सामग्री का नाम सांख्य में साधारणरूप से 'तन्मात्र' बताया गया है। पदार्थों के रचनाक्रम में यह एक अवस्था है, जहां पदार्थ अपना एक विलक्षण स्थायीरूप ग्रहण कर लेता है। अधिभूत की रचना में यह सर्वप्रथम स्तर है। अपने विलक्षणरूप में इसप्रकार के अनेक-विध तन्मात्र परिणत होजाते हैं, अभी इनमें आकाश आदि भूतों की उन विशेषताओं का किसी रूप में उभार नहीं होता, जिनके साथ प्राणीवर्ग का सीधा सम्बन्ध जगद्व्यवहार में देखा जाता है, सम्भवतः इसीकारण पदार्थ की इस 'तन्मात्र' नामक अवस्था का 'अविशेष' पद से व्यवहार किया जाता है। रचनाक्रम के कुछ आवश्यक अलक्षित स्तरों को पार करते हुए ये तन्मात्र आकाश आदि भूतों के रूप में परिणत होते हैं। जिन तन्मात्रों का संघटन आकाशभूत के रूप में परिणत होता है, उनके विशिष्ट व्यवहार के लिये कार्यगत विशेषता को अभिव्यक्त करनेवाले 'शब्द' पद का प्रयोग उन तन्मात्रों के साथ कर दिया जाता है। इसप्रकार आचार्य माठर के 'शब्दतन्मात्र' पद का अर्थ है—उन तन्मात्रों का वर्ग, जो आकाश के रूप में परिणत होता है, जहां शब्दरूप विशेषता उभर आती है। उक्त पद का 'शब्दजातीय तन्मात्र' अथवा 'शब्दरूप तन्मात्र' अर्थ नहीं है; प्रत्युत 'शब्दरूप विशेषता से युक्त आकाशरूप में परिणत होने वाले तन्मात्र' यही अर्थ समझना चाहिये।

इसप्रकार भूतों के पञ्चीकरणसिद्धान्त की विवेचना के प्रसंग से तन्मात्रोंद्वारा भूतों की रचना का विषय स्पष्ट किया गया। किस भूत की रचना में कितने और किस-प्रकार के तन्मात्रों का उपयोग होता है, इसका लेखा-जोखा करना प्रयोगात्मक परीक्षण का विषय है। इसके स्पष्टीकरण की क्षमता के अभाव में यहां उस के विवेचन की उपेक्षा करना ही अभीष्ट होगा। कुछ भूतों की रचना के विषय में स्पष्ट संकेत प्रसंगवश पीछे किये जाचुके हैं। तन्मात्रों द्वारा आकाश आदि भूतों की रचना के विषय में वाचस्पति मिश्र का एक लेख अच्छा प्रकाश डालता है। प्रसंगवश उसका उल्लेख इसी ग्रन्थ में पूर्व [पृष्ठ १७५] कर दिया गया है। पांच भूतों की रचना और प्राणी के भोग की भावना से उन विषयों को ग्रहण करने के लिये पांच ज्ञानेन्द्रियों की रचना सर्वथा स्वाभाविक है।

**पाञ्चभौतिक जगत्**—समस्त विश्व जो प्राणीमात्र के सीधे सम्पर्क तथा उपयोग में आता है, स्थूलविचार से उसका वर्णन पांच भूतों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह पृथिवी तथा अन्य समस्त लोक-लोकान्तर साधारणरूप से किन्हीं विशेषताओं के आधार पर पांच भूतों में वर्गीकृत होजाते हैं। यह लोक जिस पर हम निवास करते हैं पृथिवी है। संभव है, इसप्रकार के अन्य अनेक लोक हों, और वहां पर भी प्राणी का निवास हो। इस पृथ्वी पर रहते हुए हमारा सब भूतों से वास्ता है, और अपनी विशिष्ट स्थिति के साथ उन सबका अस्तित्व यहां विद्यमान है। उनमें से किसी एक के अभाव में प्राणी का आहार-विहार चालू रहना सम्भव नहीं। आहार है, प्राणी का अपने जीवन को अधिकाधिक स्थायी बनाये रखने का प्रयास और उसके साधन; विहार है, प्रजनन अर्थात् प्राणी द्वारा अपने समानजातीय अन्य प्राणी का प्रसव एवं उसके उपाय। इसप्रकार प्राणीमात्र का आहार-विहार पांचभूतों की समष्टि पर आधारित है। इसके लिये प्राणी को समस्त साधन इन्हीं भूतों से प्राप्त होते हैं। पृथिवी पर ही प्रत्यक्षरूप में प्राणी के लिये सामुद्र, नादेय, वार्ष एवं भौम आदिरूप में विविध जलों का अस्तित्व है। अप्रत्यक्षरूप से निरवधिक प्रदेशों में 'आपस्' भरे हैं। प्रत्यक्षरूप से पृथिवी पर प्राणीमात्र के उपयोग का भूततत्त्व अग्नि उपलब्ध है। अन्य तेजोमय मण्डल लोक-लोकान्तरों को सम्मिलित कर विविधप्रकार के अग्नितत्त्व का अस्तित्व प्रत्यक्ष है। इसके आधार पर प्राणी के अनेकविध कार्यों का आयो-जन व सम्पादन आयेदिन होता है। अप्रत्यक्षरूप में यह तत्त्व सीमारेखाओं से भी परे तक भरा है। भू से लेकर असीमित विस्तार मरुतों का वायुरूप से वर्णित है। प्रतिक्षण प्राणी इसके प्रयोग का अनुभव करता है। इन सबसे अतिरिक्त भूततत्त्व है–आकाश। इन सबका ही उपयोग प्राणीमात्र के लिये अनिवार्य है।

**पञ्चभूत का नैसर्गिक व्यवहार**—सृष्टिरचना के क्रम में पदार्थ के जितने स्तर संभव होसकते हैं, उनमें से अनेक को प्रतिभाशाली अध्यवसायी मानव ने इसी पृथ्वी के गर्भ से प्राप्त किया है। अन्य लोक-लोकान्तरों में रचनाक्रम के कितने स्तर होंगे, इसका लेखा-जोखा मानवद्वारा किया जाना सर्वथा अशक्य है। यह तो बहुत दूर की बात रही,

पृथिवी के गर्भस्थित स्तरों एवं तत्त्वों का ही असंशयात्मक ज्ञान अशक्य है। तब मानव के आहार-विहार की सर्वसुलभ साधारण व्याख्या के उन समस्त रचनास्तरों व तत्वों [Elements] को पृथिवी आदि भूतों के अन्तर्गत मान लिया गया है, जिसको मानव ने भूगर्भ से प्राप्त किया। विश्व में अनन्त भट्टियां रचनाक्रम की चालू हैं, इनका अन्त पाने का प्रयास करना मानव व प्राणीमात्र के अन्त को अधिकाधिक समीप बुलाने का प्रयास है। प्राणी की स्वभावदुर्बल स्थिति–जो राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि के रूप में उभर कर प्रकाश में आई है–जागतिक नैसर्गिक भट्टियों की गहरी खोज को विनाश के मार्ग पर अग्रसर कर दे सकती है, आज संसार इसी स्थिति के कगार पर खड़ा है। क्रान्त-दर्शी अन्तःप्रज्ञ ऋषियों ने इस वास्तविकता को अच्छीतरह समझा और समझकर उपयोगी स्थिति को मानवहितार्थ उसके सन्मुख प्रस्तुत किया। इस भावना से जगत् का वर्णन पाञ्चभौतिकरूप में होता रहा है, आज भी है और संभवतः सदा होता रहेगा।

**स्थूलदेह पाञ्चभौतिक**—कृमि, कीट, पतंग आदि से लगाकर पशु-पक्षी मानव आदि के भोगसाधन स्थूलदेह पांचों भूतों के सहयोग से रचना किये जाते हैं। सांख्य में आत्मा के देह दो प्रकार के माने गये हैं, सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्मदेह की रचना में सूक्ष्म-भूतों का उपयोग होता है, और स्थूलदेह की रचना में स्थूल भूतों का। सूक्ष्मदेह प्राकृतिक व्यवस्थाओं के अनुसार आदि-सर्गकाल में रचित होकर प्रत्येक आत्मा के साथ सम्बद्ध होजाते हैं, और समस्त सर्गकाल में अथवा आत्मज्ञान होने तक उसी अवस्था में बने रहते हैं। समस्त सांसारिक भोगकाल में आत्मा के निवास का यह एक स्थायी आवेष्टन है, इसीमें आवेष्टित जीवात्मा जन्म-मरणरूप में अनेकानेक एवं विविध प्रकार के स्थूल देहों का ग्रहण व त्याग करता हुआ संसार में संचरण किया करता है।

स्थूलदेह की रचना नर-मादा के प्रजननभावनामूलक संपर्क के अनन्तर प्रारम्भ हो-जाती है। विभिन्न योनियों की स्थिति के अनुसार देहरचना पूर्ण होने में काल और साधन आदि की अपेक्षित विभिन्नता रहती है। सूक्ष्मदेह से आवेष्टित जीवात्मा का स्थूल देह से सम्बन्ध उसकी रचना प्रारम्भ होने के प्रथमक्षण से ही बराबर रहता है। इस विषय का विस्तृत प्रतिपादन इसी ग्रन्थ के प्रथमाध्याय के जीवात्मप्रसंग में [पृष्ठ ९८] कर दिया है। होसकता है, किन्हीं आचार्यों का इस विषय में मतभेद हो, पर कपिल ने अपने सूत्रों में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। कपिल का सूत्र है—

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसंगान्न तत्सिद्धिः ॥६।६०॥

भोक्ता पुरुष से अधिष्ठित हुए विना भोगायतन देह की सिद्धि अर्थात् रचना सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसी अवस्था में भोगायतन शरीर के बीजभूत शुक्र-शोणित निश्चित-रूप से दूषित होजायेंगे। सन्तानकामना से जैसे ही स्त्री-पुरुष का सम्पर्क होता है, शुक्र के गर्भाशय में पहुंचने पर जीवित शुक्र-शोणित अणु परस्पर मिलने के लिये तीव्रगति से चक्कर लगाते हैं। उनके तात्कालिक जीवन का समय अत्यन्त सीमित होता है। यदि

उतने समय में कोई जीवित अणु परस्पर मिल जाते हैं, तो गर्भस्थिति होकर भोगायतन स्थूलदेह की रचना प्रारम्भ होजाती है। यदि उतने समय में उनका मेल न होसके, तो वे मर जाते हैं, नष्ट होजाते हैं। मेल उन्हीं अणुओं का सम्भव है, जो जीवित होते हैं, अर्थात् भोक्ता आत्मा से अधिष्ठित। इस विषय की गम्भीर जानकारी के लिये औपनिषदिक पञ्चाग्निविद्या का अध्ययन अभीष्ट है। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में [पृष्ठ ९८ से १०२ तक] पञ्चाग्निविद्या का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन [३।१।२८] में शरीर को केवल पृथिवीभूत का विकार माना है, पर शरीर की रचना में अन्य समस्त भूतों के उपयोग को स्वीकार किया है। न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने सूत्रकार के इस भाव को स्पष्ट किया है। अन्य भूत चाहे शरीर की रचना में उपादानकारण न हों, पर पृथिवीभूत के समान देह-रचना में उनका उपयोग अवश्य रहता है। पांचों भूतों की विशेषताओं को स्थूलदेह में यथायथ उपलब्ध किया जाता है। महर्षि कपिल ने स्पष्टरूप में देह को पाञ्चभौतिक बताया है [३।१७–१९]। वस्तुस्थिति को देखते हुए इस बात का अधिक महत्त्व नहीं है, कि देहरचना में कौनसे भूततत्त्व का किस रूप में उपयोग होता है, पर यह कथन सन्देहरहित है, कि देहरचना में आचार्यों ने पांचो भूतों की उपयोगिता को स्वीकार किया है।

**प्राणिजगत् का प्रादुर्भाव**—बुद्धि से लेकर स्थूलभूतपर्यन्त जड़सृष्टि की रचना का अध्यात्म तथा अधिभूत के रूप में यथासम्भव विवेचन प्रस्तुत किया गया। इसमें चेतना अथवा प्राणी का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम कैसे होता है, यह विचार किया जाना अपेक्षित है। यह विषय अपने आपमें अति गहन और विस्तृत है। पर्याप्त प्राचीनकाल से इस विषय का विवेचन न्यूनाधिकरूप में समय-समयपर प्रस्तुत किया जाता रहा है। पर इसके समस्त इतिहास में अभीतक कोई ऐसी ऐकान्तिक दिशा निर्धारित नहीं की जासकी, जिसे बुद्धिजीवी व्यक्ति अनायास स्वीकार कर सके। इस विचार की अनेक विभिन्न शाखा हैं,

१—जड़ से चेतना का विकास या प्रादुर्भाव होजाना।

२—चेतना अपने आपमें एक स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह नित्य है, सदा अविकृत।

३—उक्त दोनों अवस्थाओं में से कुछ भी स्वीकार किया जाय, चेतना अथवा प्राणी का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम एक कोश के देह से प्रारम्भ होता है, वही कालान्तर में धीरे-धीरे विकसित होता हुआ विविध महान देहोंद्वारा प्रतिभासित है, जो लक्षाधिक योनियों के रूप में अभिलक्षित है।

४—विविध योनियों के रूप में प्राणी का प्रादुर्भाव अपने आदिकाल से इसीप्रकार विभिन्न श्रेणियों में विभाजित चला आरहा है, मूल में किसी एक ही योनि से समस्त शाखा-प्रशाखा फूटी हों, ऐसा नहीं है।

इन सभी शाखाओं पर विद्वानों ने गहरा विचार किया है, और उसका विशाल साहित्य है। जहांतक जड़तत्त्व से चेतना के विकास या प्रादुर्भाव का प्रश्न है, सांख्य का इस विषय में अपना निश्चित सिद्धान्त है, और वह इस धारणा को निराधार एवं युक्ति-प्रमाणशून्य मानता है। इस विषय पर प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय [पृष्ठ २५—३४] में उपयुक्त विचार किया गया है। उससे यह निर्धारित है, कि किसी अन्य विजातीय द्रव्य से चेतना का विकास या प्रादुर्भाव नहीं होता, वह एक प्रकार का स्वतन्त्र अपरिवर्तनशील तथा सर्वथा विकाररहित तत्त्व है। संसार में उसके अस्तित्व का ज्ञान उसी समय होपाता है, जब वह एक या अनेक कोशों के देह से सम्बद्ध होता है। इसी स्थिति को चेतना अथवा प्राणी का प्रादुर्भाव कहा जाता है। इस स्थिति की सबसे बड़ी समस्या यह है, कि सर्वप्रथम ऐसा प्रादुर्भाव क्या एक कोशवाले देह के साथ सम्भव है, अथवा अनेक कोशयुक्त देहों के साथ भी यह होता है ? इस समस्या का समाधान यह निश्चय करता है, कि प्राणिजगत् के प्रादुर्भाव का आदिकाल में स्वरूप क्या रहा होगा।

भारतीय साहित्य में ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि जब कोशयुक्त देह के रूप में प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ, उससे पूर्व इस पृथ्वी पर लता प्रतान ओषधि, वनस्पति फल, मूल आदि उत्पन्न होचुके थे[1]। यद्यपि भारतीय विचारकों ने लता वनस्पति आदि में चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किया है, पर उनको अन्तःसंज्ञ माना गया है[2], जिसका अभिप्राय यह है, कि उनमें सांसारिक बाह्य व्यवहार का अभाव पाया जाता है, जो अन्य प्राणियों में नहीं है, यद्यपि उनमें आहार, भय और समानजातीय प्रजनन आदि की प्रक्रिया प्राकृतिक नियम व व्यवस्थाओं के अनुसार बराबर देखी जाती है। प्रस्तुत प्रसंग में प्राणिजगत् के प्रादुर्भाव से हमारा अभिप्राय वनस्पतिजगत् के प्रादुर्भाव से नहीं है।

**प्राणी के प्रादुर्भाव पर आधुनिक विचार**—आधुनिक विद्वानों का विचार है, कि सर्वप्रथम एक कोशवाले देह के रूप में प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे उसी के विलक्षण-विकास के परिणामस्वरूप अनेकानेक कोशयुक्त देहों का प्रादुर्भाव होता रहा, इसप्रकार एक ही मूल से विभिन्न शाखा-प्रशाखा फूट चलीं, जो अब अनेक वर्गों के रूप में पाई जाती हैं। पहले प्राणी जलीय हुए, अवसर पाकर वे आहार की तलाश में स्थल की ओर छिटकने लगे, इसी भावना ने जल-स्थल उभयनिवासी प्राणियों को जन्म दिया, आवास और आहार की विविधता एवं सुविधा से आकृष्ट प्राणी स्थलनिवास की ओर झुका, इस प्रकार हवा में सांस लेने वाले फुपफुसयुक्त प्राणियों का प्रादुर्भाव होने लगा। ऊंचे वृक्षों पर लगे फलों की ओर खुले आसमान में विहार व रक्षा की भावना ने परों

---

१—ऋग्वेद, -१०।७२।३-४।।

२—छान्दोग्य उपनिषद्, ६।११।१-३।। अथर्ववेद, १।३२।१।। तथा ८।७।६।। मनुस्मृति, १।४६।।

वाले प्राणियों को जन्म दिया, पर अभी तक प्राणी की जल-प्रियता की भावना बनी रही। धीरे-धीरे आहार और रक्षा की खोज में प्राणी स्थल में दूर-दूर तक जाने लगा, जल के साथ प्यार की भावना शिथिल होने लगी, आवश्यकतानुसार जल की इच्छा उधर भी पूरी होने लगी, तब नखी शृङ्गी प्राणियों की श्रेणियां प्रादुर्भाव में आईं। अब ये देह में अपेक्षाकृत भारी होने लगी थीं, तब वृक्षों पर लटकते फलों ने किन्हीं को आरोही शक्ति से सम्पन्न किया, कोई खुले जंगली मैदानों में अन्य प्राणियों को आहार बना सकने की भावना से शक्ति-संचय करने लगे। इसप्रकार धीरे-धीरे पशुओं की अनेक श्रेणियां प्रादुर्भाव में आईं। जो बन चुकी थीं, प्रजनन-व्यवस्था के अनुसार चलती रहीं, नई और प्रादुर्भूत होती रहीं। इन्हीं में से एक श्रेणी में-जो वृक्षनिवास और फलाहार में रुचि रखती थीं-धीरे-धीरे मस्तिष्क का विकास होने लगा, यह मानव के प्रादुर्भाव का प्रथम स्तर था। संभवतः लाखों वर्षों के विकास-क्रम से मानव-देह के रूप में प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसे संकेत पाये गये हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है, कि प्राणी-वर्ग की अनेक श्रेणियां नष्ट होचुकी हैं।

प्राणिजगत् के प्रादुर्भाव की यह कल्पना बड़ी रोचक है। आज का तथाकथित बुद्धिजीवी मानव इस पर मुग्ध है। भावुकता की बात और है, पर प्राणी के प्रादुर्भाव की यह प्रक्रिया मानव-मस्तिष्क को पूरा सन्तोष नहीं दे पाती, संभवतः इस विषय में अन्य कोई प्रक्रिया भी ऐसी प्रकाश में नहीं आई, जो विचार की सन्तोषजनक स्थिति के लिये सहयोग दे। पर इससे उक्त प्रक्रिया के दोषों व न्यूनताओं को ओझल नहीं किया जासकता। वस्तुतः यह मानव की अनदेखी पुरानी कहानी है। जिसने देखा, उसने बताया नहीं, जो बताता है, उसने देखा नहीं। यह कल्पना केवल पुरानी फटी चादर में भौंडी थेगलियां हैं, चादर की असली रूपरेखा को समझ पाना कठिन प्रतीत होता है। यदि कोई उस चादर को देखनेवाला ही बतानेवाला मिल जाता, तो संभवतः इस समस्या के अधिक सचाई तक सुलझ जाने की आशा होती। प्राचीन भारतीय आर्यों, क्रान्तदर्शी ऋषियों ने इस विषय में कुछ दावे किये थे, पर उस दिशा में अभी गम्भीर अध्ययन एवं अनुसंधान की अपेक्षा है। किसी भी भावुकता के पीछे बह जाना सचाई की ओर नहीं ले जाता। विशुद्ध बुद्धिजीवी व्यक्ति आग्रहरहित रहता है। फिर भी उन दावों की ओर दृष्टिपात करना उपेक्षा की कोटि में नहीं समझाजाना चाहिये। उसे समझ सकने के लिये प्रयत्न चालू हैं।

**प्राणी का प्रादुर्भाव और अवतारवाद**—प्राणिजगत् के प्रादुर्भाव की आधुनिक विकासमूलक प्रक्रिया से अभिभूत होकर वर्तमान काल के अनेक विद्वानों ने पौराणिक अवतारवाद की स्थिति को इसके साथ सन्तुलन करने का चमत्कारपूर्ण प्रयास किया है। उनका विचार है, कि अवतारवाद की यह स्थिति प्राणिजगत् के क्रमिक विकास की ओर संकेत करती है। सर्वप्रथम अवतार मत्स्य है, जो जलीय प्राणी के रूप में हमारे सम्मुख आता है। आधुनिक प्रक्रिया में भी एककोशयुक्त प्राणी का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव जलीय

संपर्क में स्वीकार किया गया है। इसके अनन्तर कूर्म अवतार है, जिसके जीवन का संबन्ध जल और स्थल दोनों के साथ समान है। अनन्तर वराह अवतार आता है, जो जलप्रिय होता हुआ स्थल को अपना अधिक आश्रय बनाता है। यहां तक यह विकास अभी तिर्यक् योनि में सीमित है। इसके अनन्तर नृसिंह अवतार है, जहां पशु अर्थात् तिर्यक् शक्ति की अन्तिम सीमा हैं, तथा मानव के विकास की पूर्वाशा द्योतित की गई है। तब वामन अवतार के रूप में लघुकाय मानव उभर आता है। इसके अनन्तर तीन अवतार मानव की क्रमिक पूर्णता की ओर संकेत करते हैं। वे हैं--परशुराम, दाशरथि राम तथा कृष्ण। परशुराम ब्राह्मण होकर हथियार उठाता है, अपनी माता का वध करता है, यह स्थिति मानव समाज की प्राथमिक अव्यवस्थापूर्ण दशा का द्योतन करती है, इसके विपरीत अगला दाशरथि राम का अवतार अपने माता-पिता के आदेश को शिरोधार्य कर राज्य-सिंहासन को त्याग जंगल चला जाता है। यह क्रमिक सामाजिक विकास के रूप में अधिक व्यवस्थित सामाजिक संघटन को प्रकट करता है। अभीतक यह अवतार मानव की पूर्ण कलाओं से संपन्न नहीं है, राम को द्वादशकलासम्पन्न अवतार माना जाता है। इसके अनन्तर पूर्ण षोडशकलासंपन्न अवतार कृष्ण है। यह पूर्णता मानव की बाह्य रचना को लक्षित करती है। अभी मानसिक अथवा भावात्मक विकास के प्रशस्त मार्ग को तै करना बाकी पड़ा है। उसके लिये नौवां अवतार बुद्ध हमारे सामने आता है, जो मानव के त्याग और ज्ञान का प्रतीक है। यहां तक प्राणिजगत् के कायिक और बौद्धिक विकास को उसकी पूर्ण अवस्था तक पहुंचा दिया गया है।

**दसवां अवतार**—पौराणिक दृष्टि से अभी अन्तिम दसवां अवतार भविष्य में होने को है। भविष्य के विषय में कुछ कहना साहसमात्र है। जिन्होंने कहा, वे दूरदर्शी ज्ञाता होसकते हैं, पर उन्होंने अपनी मनोभावनाओं को कहीं इतने स्पष्टरूप में प्रकट नहीं किया, जो किसी बुद्धिजीवी की विचारकोटि में आ सकें। संभवतः इसीकारण आज अनेक समुदाय अपने आधुनिक नेताओं को बड़ी चमत्कारपूर्ण रीति पर दसवां अवतार बतलाने का प्रयास करते देखे सुने जाते हैं, चाहे वे पुराण की अन्य किसी एक बात पर भी विश्वास न करते हों। यह एक बड़ी अद्भुत बात है, कि दसवें अवतार का नाम 'निष्कलंक' है। उसका एक दूसरा रूप 'कल्कि' भी पढ़ने सुनने में आता है, पर अभी इस पद के वास्तविक अर्थ की टोह करना अपेक्षित है। पहले नाम के आधार पर एक कल्पना मेरे मस्तिष्क में उभर रही है, आधुनिक योगीराज श्री अरविन्द बाबू ने अपने यौगिक अनुभवों के आधार पर एक 'अतिमानव' स्थिति का उपोद्बलन किया है। क्या पुराण के दसवें अवतार की स्थिति का उस 'अतिमानव' अवस्था को बतलाने की ओर संकेत माना जासकता है? संभवतः वह अवस्था 'निष्कलंक' तो अवश्य होगी। मानव के साथ दोष या कलंक का रहना स्वाभाविक है। इसप्रकार यह अवतारवाद की कल्पना प्राणी की अतिप्रारम्भिक अवस्था से लेकर 'अतिमानव' अवस्था तक के विकास को प्रकट करती है।

**अवतारवाद प्राणीसर्ग की क्रमिकता का अनिश्चायक**—प्राणी के प्रादुर्भाव की विकासमूलक कथा का पौराणिक अवतारवाद के साथ सन्तुलन निस्सन्देह बड़ा रोचक प्रतीत होता है, इसके अनुसार अन्य अनेक प्रकार की कल्पनाओं की उड़ान भरी जा सकती है। पर ये सब हैं कल्पना, मानव-मस्तिष्क का केवल बालसम क्रीड़ाक्षेत्र। संभवतः पुराण के विद्वान्–जिन्होंने इस सन्तुलन की रूपरेखा को प्रस्तुत किया है–सन्तुलन की चकाचौंध में अवतारवाद की वास्तविक स्थिति की ओर दृष्टिपात नहीं कर सके। अवतारवाद अभी एक रहस्य है। अनेक दिशाओं से इसके स्पष्टीकरण की अपेक्षा है। कौन-सा अवतार किस निमित्त से हुआ है, इस बात को ठीक समझकर तात्कालिक स्थितियों से उसका सामञ्जस्य स्थापित करना अपेक्षित है। प्राणि-सर्ग के विकास को अवतारवाद के रूप में प्रस्तुत करने के कारणों को जांचना होगा। इस विषय में पुराणकारों की क्या यही सच्ची भावना रही होगी? इसकी परीक्षा करनी होगी। अन्यथा यह सन्तुलन केवल हमारी कल्पना माना जायगा, पुराणकार की भावना नहीं। फिर अवतारवाद की उन गहरी जड़ों तक भी हमें पहुंचना होगा, जहां से उभार कर इसे वर्तमानरूप दिया गया है, और इस वर्तमानरूप दिये जाने के काल की तथा उस समय के सामाजिक विचारों की भी जानकारी प्राप्त करनी होगी। अन्य भी अनेक ग्रन्थियां हैं, जिनका सुलझा लेना अवतारवाद के रहस्य को समझलेने के लिये आवश्यक है। इसलिये इस वाद की रहस्यपूर्ण स्थिति में प्राणि-सर्ग के क्रमिक विकास की दृष्टि से इनके सन्तुलन के प्रति हम अपनी आस्था प्रकट करने में असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमानरूप में अवतारवाद की कल्पना कल की बात है, जिस काल में प्रथम अवतार के अवतीर्ण होने की कल्पना की गई है, उससे भी लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व से मानव की तथा अन्य प्राणियों की विद्यमानता बराबर चली आरही है। फलतः वर्तमान अवतारवाद में प्राणि-सृष्टि के क्रमिक विकास की गन्ध सूंघने का प्रयास व्यर्थ है।

अवतारविषयक अन्य विवेचनाओं के विस्तार का यह अवसर नहीं है। फिर भी यह ध्यान रखने की बात है, कि अतीत अवतारों में नौवां नाम भगवान् बुद्ध का है। अवतारों की संख्या में पुराणों द्वारा वृद्धि भी की गई है। सब मिलाकर यह संख्या चौबीस तक पहुंची है। यदि इस बात की गवेषणा की जाय, कि यह चौबीस संख्या कब तक प्रादुर्भूत होनेवाले अवतारों का संकलन करती है, तो संभवतः जैनधर्म के तीर्थंकरों की चौबीस संख्या के साथ इसकी आश्चर्यजनक समता पर हम कुछ प्रकाश पा सकेंगे, और इस बात का पर्याप्त सीमा तक निर्धारण किया जासकेगा, कि अवतारवाद की कल्पना किस काल में प्रसूत हुई, तथा उसके आधार क्या थे। दस अवतारों में भगवान् बुद्ध की गणना किया जाना इस मान्यता पर स्पष्ट प्रकाश डालता है। ऐसी स्थिति में प्राणी के विकासमूलक क्रमिक प्रादुर्भाव के साथ अवतारवाद की तुलना के व्यामोह में पड़ने से पूर्व इस विषय पर पर्याप्त विवेचना करना अपेक्षित है।

**आधुनिक विकासवाद की मान्यता**—कतिपय ऐसी मान्यता हैं, जिनपर आधुनिक विकासवाद आधारित है। साधारणरूप में उसका उल्लेख अभी किया जाचुका है। विशेष विवेचना के लिए उन मान्यताओं का अपनेरूप में प्रस्तुत कर देना अभीष्ट होगा।

(क)—प्रारम्भ में पृथिवी एक गैस [प्रज्वलित वायु] या अग्नि का पुञ्ज थी। धीरे-धीरे वह कठिन और ठण्ढी हुई। फलतः उसका ऊपरी भाग ऊंचा-नीचा तथा कठोर होगया। किन्हीं प्राकृतिक कारणों से उसपर वायु एवं जल का प्रादुर्भाव हुआ। तबतक पृथिवी का ऊपरी भाग परतहीन ठोस चट्टानों के रूप में अतिकठोर था। ताप तथा वायु आदि के प्रभाव से ये चट्टानें धीरे-धीरे तिड़कीं फटीं-टूटीं, और तब क्रमशः मिट्टी के रूप में बनीं।

(ख) प्राणी अथवा जीवन-तत्त्व का प्रथम आविर्भाव जलों में उद्भिज्ज के रूप में हुआ। पहले जलवायु मट्टी आदि के संसर्ग से एक प्रकार की सूक्ष्म काई बनी, उसी से पुनः जल वायु का विलक्षण प्रभाव प्राप्तकर समस्त जलीय तथा पृथिवी के तृण, वीरुध, लता, गुल्म, ओषधि, वनस्पति तथा विविध वृक्ष आदि का क्रमशः विकास हुआ।

(ग) कालान्तर में इसी मूल जीव-बीज से सर्वप्रथम जल में ही एक दूसरी जीवनशाखा चली। यह आरम्भ में अमीबा [Amoeba एक कोश का प्राणी] की भांति के सूक्ष्म जलजन्तु हुए। धीरे-धीरे जलीय कीट, मछली, मेंढक, कछुवा, वराह, रीछ, बन्दर, वनमानुष आदि विभिन्न प्राणिस्तरों को पार करता तथा विकसित होता हुआ मनुष्य बना है। उस आदिकालीन एक कोश के प्राणी से मनुष्य तक पहुंचने के लिए मध्य में जीवन के सैकड़ों स्तर पार किये गये, संभवतः लाखों करोड़ों वर्षों में मनुष्य इस रूप में आया।

आधुनिक खोजी अध्यवसायशील व्यक्तियों द्वारा मूल एक-कोशीय प्राणी से मनुष्य तक की शृंखला के बहुत से अस्थिपञ्जर ढूंढ निकाले गये हैं। जहां यह शृंखला नहीं मिली, वहां मध्यवर्त्ती ढांचों के प्राणी नष्ट होगये मानलिये गये हैं। उनके कंकाल भी आज तक कोई उपलब्ध नहीं हैं।

**जीवन विकास के कारण**—आद्यकालिक प्राणिरचना को क्रमिक विकास सिद्धान्त के आधार पर माननेवाले विद्वानों ने इस बात पर विचार किया है, कि एकमात्र मूल से अनेक शाखा-प्रशाखाओं में बटकर विभिन्न योनियों के रूप में जीवन कैसे पहुंच जाता है। उनका कहना है कि प्राणी की इच्छा और उसकी आवश्यकता ऐसी स्थितियां हैं, जो उसके विकास एवं परिवर्तन का विशेष कारण होती हैं। भोजन के लिये प्रयत्न तथा प्राकृतिक संघर्षों एवं शत्रुओं से रक्षा के लिये प्राणी को अनेक परिवर्तनों में से होकर गुजरना पड़ा है। उनमें जो अपने को प्रकृति के अनुकूल बनाने में सफल होसके, वे बचे रहे; जो उन संघर्षों में अपने को परिवर्तित न कर सके, एवं जीवन की रक्षा में

असफल रहे, वे नष्ट होगये। इन्हीं कारणों से शरीरों में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा, और विभिन्न योनियों के रूप में प्राणी बटगया।

उदाहरण के लिये देखिये, पानी का समुद्र था, नदियां थीं, छोटे-छोटे सागर थे; इस जल के तटभागों में भूप्रदेश घने जंगलों से घिरे थे। वायु के तीव्र झोंकों से वृक्षों की शाखा टूटतीं और पानी में गिरजातीं, वह इधर-उधर बहतीं और तैरतीं। उनके गलने सड़ने पर उनमें कीड़े पड़ जाते। उन्हें खाने के लिये जो मछलियां उछलकर उनपर पहुंचने लगीं, वे धीरे-धीरे मेंढक बन गईं। इसीप्रकार जो मेंढक तरुओं के तनों पर रेंगते हुए कीड़ों को पकड़ने लगे, वे क्रमशः गिलहरी बनगये। ऐसे ही अपनी रक्षा के लिए परिस्थितियों के अनुसार किन्हीं प्राणियों के सींग, किन्हीं के नख और किन्हीं के दांतों की क्रमशः ऐसी रचना होगई, जिन्हें संघर्ष के समय प्राणी अपने बचाव के लिये एक हथियार के समान प्रयोग करने लगे। अधिक शीत और उष्ण कटिबन्ध के प्रदेशों में प्राणियों के अधिक रोम तथा रोम का प्रायः अभाव होगया।

अफ्रीका के मरुप्रदेशों में एक लम्बी गर्दन का जानवर ज़ेरा नाम का पाया जाता है। कहते हैं, यह प्रारम्भ में ऐसा न था, जैसा आज देखा जाता है। मरुप्रदेशों में ऊंचे वृक्षों पर अपने आहार को प्राप्त करने की इच्छा ने उसके अग्रिम भाग और गर्दन को लाखों वर्षों में इतना लम्बा बना दिया। उन्हीं प्रदेशों में जिनको आहार के दूसरे साधन मिलगये, वे वैसे ही रहगये। अभिप्राय यह है, कि आधुनिक विकासवाद के अनुसार प्राणी के क्रमिक विकास में उसकी आवश्यकताजन्य इच्छा और उसको पूरा करने के चिरकालीन अभ्यास को आकृतिपरिवर्तन का मूलकारण मानाजाता है।

**विकासवाद की मान्यताओं का विवेचन**—इस विषय के किसी भी विवेचन से पूर्व यह जानलेना अपेक्षित होगा, कि प्राणिरचना में विकाससिद्धान्त की उद्भावना करनेवालें विद्वानों ने चेतन आत्मतत्त्व की स्थिति को उस रूप में स्वीकार नहीं किया, जिस रूप में भारतीय ऋषियों ने माना और उसका प्रतिपादन किया है। विकासवाद के अनुसार चेतना का उद्भव प्राकृत तत्त्वों से माना गया है। ज़ेरा के सर्वप्रथम स्तर के किसी पूर्वज की यह भावना जागृत हुई, कि वह ऊंचे पेड़ के पत्तों को खासके। प्राकृतिक नियमों व व्यवस्थाओं के अनुसार अपनी सन्तति के लिये प्रजननक्रिया के अनन्तर गर्भाशय में नवीन शरीर की रचना जिन तत्त्वों से प्रारम्भ होती है, वे प्राकृतिक तत्त्व हैं, वह चेतना जहां ऊंचे पत्तों को खाने की भावना जागृत हुई है, वह भी एक प्राकृत तत्त्व है। इन तत्त्वों के समानजातीय होने के कारण जनकप्राणी की भावनाओं के जन्य प्राणीशरीर में संक्रान्त होने की संभावना होसकती है। अभिप्राय यह, कि इस वाद में देह की आकृतिसमानता की तरह भावसमानता भी सन्तति में आसकती है, ऐसा माना जाने का उपयुक्त अवकाश है। इसप्रकार ज़ेरा के जिस पूर्वज को ऊंचे पत्ते खाने की भावना जागृत हुई, वह उसकी सन्तति में भी संक्रान्त होती रही, और लाखों वर्षों की

इस अनवरत भावना का परिणाम वर्तमान ज़ेरा के रूप में प्रकट हुआ।

यदि चेतना की स्थिति को उक्त रूप में स्वीकार कर लिया जाता है, तो भी इस विचार में बहुत आपत्ति है। जिस ज़ेरा के पूर्वज को ऊंचे पत्ते खाने की भावना जागृत हुई, अवश्य वह दस-पन्द्रह-बीस वर्ष जीवित रहा होगा। यह निश्चित है, कि वह अपने जीवन म ऊंचे पत्ते नहीं खा सका, फिर भी अवश्य वह इतने वर्ष किसी आहार पर जीवित रहा होगा। यह संभावना सर्वथा हास्यास्पद होगी, कि जैसे ही उसे पत्ते खाने की भावना जागृत हुई, उसने संतति में अपनी भावना संक्रान्त कर तत्काल आहार के अभाव में शरीर छोड़ दिया। आगे होनेवाली सन्तति का पालन-पोषण, पोषकों के जीवन का निर्वाह आदि आहार के बिना संभव नहीं माना जासकता। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना होगा, कि अन्य प्राणियों के समान–जिनको आहार मिलते रहने के कारण गर्दन नहीं बढ़ी–ज़ेरा के पूर्वजों को भी बराबर आहार मिलता रहा, इसी रूप में उन्होंने लाखों वर्ष बिताये। तब गर्दन बढ़ने का विकासवादप्रतिपादित कारण ही जड़ से उखड जाता है।

विकासवाद के पोषक विद्वान् संभवतः यह समझते हों, कि ज़ेरा ने जब वृक्षों के नीचे के पत्ते चुगलिये, फिर दुबारा वृक्षों के उन स्थलों में पत्ते नहीं आते होंगे; इसीलिये ऊपर के पत्ते खाने की भावना उसमें बराबर उभरती रहती है। पर ऐसा सोचना सृष्टिक्रम के सर्वथा विपरीत है। जिन निचली टहनियों के पत्ते एक बार खाये जाते हैं, समय आने पर उनमें फिर नये पत्ते निकल आते हैं, और ज़ेरा का आहार नई कोमल पत्तियों के रूप में बराबर बना रहता है। आज भी इस स्थिति को स्पष्टरूप में देखा जासकता है। पशु प्रतिदिन जंगल में घास पत्तियां चुगते हैं, और न मालूम कब से चुगते चले आरहे हैं, पर अन्य विविध बाधाओं व आपत्तियों के रहने पर भी आहार में कोई कमी नहीं है। ज़ेरा के लिये नीचे पत्तियों या आहार के अभाव में ऊपर की पत्तियों के खाने की भावना का जो उद्भावन किया गया है, वस्तुतः विकासवाद के संस्थापकों की यह कल्पना ही निराधार है। हम देखते हैं, बकरी नीचे के घास-पत्ते चुगती है, और पेड़ के तनों व टहनियों पर अगले पैर रखकर जहां तक उसका मुंह जाता है, पत्ते चुगलेती है, इसीतरह वह लाखों वर्षों से चुगती चली आरही है, जहांतक चुग सकती है, उसके ऊपर भी पत्ते रहते हैं, संभवतः उन्हें भी चुगना चाहती हो, पर न उसकी गर्दन बढ़ी, न अगला भाग लम्बा हुआ' और न उसके लिये चारे की कमी हुई। फलतः ज़ेरा की बनावट के लिये विकासवादियों की कल्पना बालकों की कहानी जैसी है।

चेतन आत्मा को भारतीय विचार के अनुसार प्राकृत तत्त्वों से अतिरिक्त मानने पर एक चेतन की भावना प्रजनन-व्यवस्थाओं के अनुसार साधारणरूप से किसी अन्य चेतन में संक्रात होती नहीं मानी जासकतीं। अन्यथा जनक और सन्तति की भावनाओं में अनिवार्य समानता माननी होगी, जिसका कदाचित् कोई विरला ही उदाहरण मिल

सके। किसी भी वर्ग में व्यवसाय आदि की समानता एक सामाजिक व्यवस्था है; यह सन्तति अनुक्रम का फल नहीं। इसी कारण मूर्खों की सन्तान विद्वान्, पापियों की धर्मात्मा और इनके विपरीत बराबर देखी जाती हैं। नित्य चेतन आत्माओं के अपने कर्मों का सहयोग, आत्माओं की सर्वात्मना भावना-समता में बाधक रहता है। फलतः यह मानना चाहिये, कि प्राणिरचना की विविधता के प्रतिपादन में उक्त कारण अत्यन्त दुर्बल है।

**अस्थि**—विकासवाद में अस्थि को आकृतिपरिवर्तन का आधार माना जाता है। विचारना चाहिये, कि ऐसे शारीर अंगों पर इच्छा आदि के प्रभाव की संभावना होसकती है या नहीं? हम देखते हैं, शरीर के अनेक अंगों पर इच्छा का कोई नियन्त्रण नहीं रहता। दांत, बढ़े नख, रोग, केश आदि पर इच्छा का कोई दबाव नहीं है। इच्छामात्र से हम इनको हिला तक नहीं सकते। शरीर का कोई अंश टूट जाने पर जब अलग होजाता है, उस अस्थि को छूने या काटने में किसी तरह का कष्ट या अन्य कोई अनुभव नहीं होता। शरीर में सम्बद्ध रहने पर भी अपनी इच्छामात्र से उसे अनुकूल अवस्था में नहीं लाया जासकता। इच्छा का जब इनपर कोई नियन्त्रण ही नहीं, तो इच्छाद्वारा अस्थि आदि की रचना तथा इनमें परिवर्तन कैसे संभव हो सकता है।

प्राणी की आवश्यकता और उसकी पूर्ति के लिये दीर्घकालीन अभ्यास को आकृतिपरिवर्तन का कारण बताया गया। पर यह स्थिति भी आकृतिपरिवर्तन में असमर्थ है। कारण यह है, कि अभ्यास का दीर्घकाल दस-बीस या पचास-सौ वर्ष में पूरा नहीं होजाता; यह दीर्घकाल लाखों या करोड़ों वर्षों का स्वीकार किया गया है। इतने काल में भौतिक स्थितियों की बहुत उलट-फेर होजाती है। जिस प्राणी को किसी समय कोई आवश्यकता प्रतीत हुई, उसके लिये दीर्घकाल के लिये उतने वर्ष अपने जीवन में पूरे करने सर्वथा असंभव हैं। कालक्रमानुसार जन्म-जन्मान्तर में सन्ततिक्रम के साथ इतने दीर्घकाल तक एकमात्र आवश्यकता की पूर्ति के अभ्यास का किसी भी युक्ति या प्रमाण से प्रतिपादन किया जाना अशक्य है। प्राणी की आवश्यकता और उसकी पूर्ति की स्थिति लाखों वर्षों तक लगातार एकजैसी बनी रही हो, यह सिद्ध कियाजाना भी संभव नहीं।

केवल आहार या निवास आदि की ऐसी आवश्यकता कही जासकती है। यदि आहार की प्राप्ति में प्राणी सफल नहीं होता, तो उसका नष्ट होजाना निश्चित है। फिर दीर्घकालीन अभ्यास कैसा? यदि प्राणी को आहार प्राप्त होता रहता है, चाहे वह किसी भी तरह का हो, तो उसकी आहार की आवश्यकता पूर्ण होजाती है। यह ठीक है, कि उसके सुधार की ओर प्राणी का ध्यान आकृष्ट होसकता है, और उसके लिये अनेक दिशाओं में अथवा विधाओं में प्राणी द्वारा प्रयत्न करते रहना संभव है, ऐसा प्रयत्न सन्ततिक्रमानुसार दीर्घकाल तक किया जाना संभव होसकता है। पर इसके लिये यह

आवश्यक नहीं, कि ज़ेरा की गर्दन ही बढ़े, बन्दर की तरह पेड़ पर चढ़ने की प्रवृत्ति का वहां विकास क्यों न हुआ ? फिर इतने दीर्घकाल के अन्तराल में सन्ततिक्रम के किसी स्तर पर आहार में किसी भी तरह की सुधार की स्थिति न हुई हो, ऐसा निश्चय किया जाना अशक्य है। यह माने जाने में कोई आपत्ति नहीं, कि एक आवश्यकता पूरी होजाने पर अन्य दस नई तरह की आवश्यकता खड़ी होजाती हैं, पर यह मानव की स्थिति में संभव है, प्राणी की तिर्यक् अवस्था में नहीं, जिसको विकासवाद आदिकाल में स्वीकार करता है। तथापि उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आकृतिपरिवर्तन अपेक्षित नहीं है।

इन सबके अतिरिक्त हम देखते हैं, कि आवश्यकता या इच्छा का सम्बन्ध आत्मा व मन के साथ रहता है। जब हम आत्मा, मन और शरीर के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते हैं, तो यह स्पष्ट होता है, कि वह स्थिति अथवा वे सम्बन्ध आकृति के परिवर्तन में कोई सहायता नहीं पहुंचासकते। यद्यपि एक दुर्बल किशोर अपने मनोबल आदि तथा शारीरिक अभ्यास व्यायाम आदि से अपने शरीर को सबल बना लेता है, और हम वहां ऐसा व्यवहार करते हैं, कि आश्चर्य है छह महीने में नरेन्द्र की तो शक्ल बदल गई। इस व्यवहार में हम नरेन्द्र के शारीरिक सुडौलपन सौन्दर्य एवं पुष्टि आदि को शक्ल बदल जाना कहते हैं। इसमें शरीर की दुर्बलता, ढीलापन तथा रूखापन आदि बदलते हैं, आकृति नहीं। इससे यह निश्चित है, कि लोक में ऐसा व्यवहार केवल औपचारिक होता है। इसको आकृति परिवर्तन के उदाहरणरूप में प्रस्तुत करना हास्यास्पद है।

**रोम तथा चर्म**—शीतप्रदेशों में प्राणी के रोम बढ़जाना और उष्ण कटिबन्ध में रोम का अभाव, विकासवाद के अनुसार आकृतिपरिवर्तनप्रसंग में प्राणी की आवश्यकता-पूर्ति का एक उपोद्बलक प्रमाण उपस्थित किया जाता है। पर हम देखतें हैं, कि यह कथन सर्वथा निराधार है, किसी एक व्यवस्था का निश्चायक नहीं। न मालूम कितने युगों से मनुष्य उत्तरी ध्रुव और वर्त्तमान ग्रीनलैंड के हिमप्रधान प्रदेशों में बसा हुआ है। उसकी आवश्यकता और अभ्यास अब तक भी उसके शरीर पर रीछ जैसे रोम उत्पन्न करने में अक्षम रहे हैं। वहां के मनुष्य के रोम ऐसे ही हैं, जैसे एक मरुभूमि के मनुष्य के। हिमालय की भेड़ के बाल जैसे लम्बे होते हैं, मरुप्रदेश तथा अन्य उष्ण कटिबन्ध की भेड़ के भी वैसे ही होते हैं। किसी पशु के रोमों का बड़ा होना, उसका शीत से रक्षा का प्रबन्ध नहीं है, यह उस प्राणीवर्ग की प्राकृतिक रचना का परिणाम है। हिमप्रदेश का निवासी प्राणी शीत से अपनी रक्षा का प्रबन्ध अपनी बुद्धि के द्वारा सोचता व करता है। अफ्रीका के अति उष्ण प्रदेशों में रोमहीन गैंडा और दीर्घरोमा रीछ दोनों रहते हैं। हम अपने ही प्रदेश में गाय भेंस आदि पशुओं को देखते हैं। भेंस का चर्म पतला चिकना और लघुरोमा होता है; वहीं पर रहने वाली गाय का चर्म कठोर तथा रोमबहुल होता है। इससे यह निश्चित है, कि इन प्राणी-जातियों की रचना नैसर्गिकरूप में आदिकाल से

ही ऐसी हुई है। कोई असाधारण परिवर्त्तन शीत आतप तथा अन्य वातावरण से इनमें होता रहा हो, ऐसा नहीं है।

**सींग**—विकासवाद के अनुसार कहाजाता है, कि रक्षा की भावना प्राणी में सींग नख आदि के उद्भव का प्रयोजक रही। पर हम देखते हैं, हरिण, चित्तल, महा, नीलगाय आदि अनेक प्रकार के जंगली पशुओं में नर के सींग होते हैं, मादा के नहीं; जबकि विकाससिद्धान्त के अनुसार उनकी अपनी रक्षा की आवश्यकता सींगों की उत्पत्ति में कारण है। क्या वह आवश्यकता नर में ही होती है, मादा में नहीं ? फिर जिन पशुओं के सम्बन्ध में इतिहास के द्वारा हम जानते हैं, कि सहस्रों सदियों से वे मनुष्य के संपर्क में हैं, प्रत्येक प्रकार की विपत्ति से मनुष्य उनकी रक्षा करता है, उन पशुओं को अपनी रक्षा, आहार या निवास आदि की कभी चिन्ता नहीं रहती, न आवश्यकता; उन गाय, भैंस, बकरी आदि जानवरों के आज भी सींग उसी तरह हैं, जैसे अब से सहस्रों लाखों वर्ष पूर्व थे। आश्चर्य यह, कि इनमें नर और मादा दोनों के सींग होते हैं। इसप्रकार के सैकड़ों उदाहरण उपस्थित किये जासकते हैं, जो विकासवादप्रतिपादित सिद्धान्तों के व्यतिक्रम को स्पष्ट करते हैं। फलतः यह स्वीकार किया जाना चाहिये, कि जो योनियां जिसप्रकार की हैं, उनमें किसीतरह का परिवर्त्तन, आवश्यकता, तन्मूलक इच्छा, अभ्यास, एवं वातावरण के कारण नहीं होता। अत्यन्त प्रतिकूल प्राकृतिक स्थितियों में अनेक जातियां नष्ट भले ही होजायें, पर उनमें किसीप्रकार का असाधारण परिवर्त्तन नहीं आता, जो उनकी नैसर्गिक जाति को बदल डाले।

विकासवाद और प्राणि-जगत् के उद्भवविषयक भारतीय परम्परा में मानेगये सिद्धान्त का मूलभूत भेद आत्मसम्बन्धी मान्यता हैं। चेतना अथवा आत्मतत्त्व का उद्भव प्राकृततत्त्वों से होजाता है, इस आधिभौतिक विचारधारा का विवेचन इस ग्रन्थ के प्रथम द्वितीय अध्यायों में प्रसंगवश विस्तारपूर्वक किया है। सांख्य का यह परमसिद्धान्त है, कि आत्मतत्त्व अथवा चेतना प्राकृतपरिणाम नहीं है। उन आधारों पर यह निश्चय किया गया है, कि समस्त विश्व का नियन्त्रण करनेवाला एक चेतनतत्त्व है, सृष्टि-प्रक्रिया के प्रत्येक पहलू पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के परिणामस्वरूप उस सर्वनियन्ता चेतन-तत्त्व की उपेक्षा किया जाना अशक्य है। यह स्थिति मानने पर एक तर्क सन्मुख आता है, कि आज मानवपर्यन्त विविध प्राणि-जगत् की उपस्थिति में एक कोश का प्राणी अमीबा भी विद्यमान है, तो आदिसृष्टि में एककोशयुक्त प्राणी की उपस्थिति के समान अनेक कोशयुक्त प्राणी नहीं था, इसमें क्या प्रमाण है ? अभिप्राय यह है, कि जैसी आज सृष्टि की स्थिति है, ऐसी ही आदिकाल से नहीं थी, इसमें कोई प्रमाण होना चाहिये। मानव ने अपनी प्रतिभामूलक रचना द्वारा जो कुछ बनाया या बिगाड़ा है, उसकी तुलना ईश्वरीय रचना से करना, अथवा उसके आधार पर उसीके अनुरूप ऐश्वरी सृष्टि की कल्पना करना संगत नहीं होगा। अब भी माता के गर्भ में प्राणी-देह की रचना ऐश्वरी-सृष्टि का

अद्भुत चमत्कार है।

आज इतना उन्नत भी विज्ञान–जो मानवप्रतिभा का महत्त्वपूर्ण चमत्कार है–एक साधारण वृक्ष के पत्ते का निर्माण नहीं करसकता। मानवप्रतिभा का सम्पूर्ण चमत्कार भूत-भौतिक [मैटीरिअल्] तत्त्व पर आधारित है, पर यह भारी अचम्भे की बात है, कि मानव अपनी अतिसाधारण खिलौना जैसी रचना की चकाचौंध में समस्त भूत-भौतिक के पीछे बैठे उस महान शिल्पी की ओर दृष्टिपात नहीं कर पाता, जिसकी साधारण रचना समस्त मानवरचना का एकमात्र आधार है। विज्ञान कहता है, कि सर्वप्रथम एककोश का प्राणी हुआ, पर इस समस्या का समाधान विज्ञान आज भी नहीं कर पाया है, कि वह एककोश का प्राणी भी कैसे होगया ? अमीबा नामक प्राणी का जो एक कोश का देह है, ठीक वही देह अनेकानेक संख्या में मिलकर अन्य अनेक कोशयुक्त प्राणी-देह की रचना करते हैं, ऐसा नियम विज्ञान के लिये भी सिद्ध करना कठिन है। समस्त विभिन्न प्रकार के कोशों की रचना स्वतन्त्ररूप में होती रहती है, यह नेचर [स्वभाव] का कार्य है। जैसे एक कोश के देह की पूर्ण रचना पर यहां चेतना के चिन्ह प्रकट होजाते है, इसीप्रकार अनेक कोशयुक्त देह की रचना पूर्ण होने पर होता है। नेचर [स्वभाव] के नियन्त्रण में जैसे एककोश के देह की रचना होती है, वैसे ही अनेककोशयुक्त देहों की रचना भी हो रही होती है। इसप्रकार जैसे ही एककोश के देह की रचना पूर्ण होती है, अनेक कोश-युक्त देह की भी वैसे ही होती है; और चेतना के चिन्ह वहां समानरूप से प्रकट होजाते हैं।

इस विषय में यह कहा जासकता है, कि अनेककोशयुक्त देह पहले एक कोश की रचना हुए विना सम्भव नहीं। इसलिये पहले एक कोश की रचना होना आवश्यक है। यह ठीक है, पर सोचना चाहिये, आदिसृष्टि में नेचर [स्वभाव] द्वारा अनेकानेक कोशों की रचना होरही होती है। एक कोश की रचना भी अतिसमस्यापूर्ण है। अमीबा नामक प्राणी के देह को अतिलघु जानकर हमने उसे ईकाई मान लिया है, उतनी रचना को हम 'एक कोश' कहते हैं, परन्तु देह की वह स्थिति रचनाक्रम के अनेक जटिल स्तरों को पार कर यहां तक पहुंची है। रचना के उस स्तर पर एक विशिष्ट देह पूरा होजाता है, और वहां चेतना उभर आती है। इसीप्रकार अनेककोशयुक्त देहों की रचना भी चालू है, और अन्य कोई विशिष्ट देह जैसे ही रचना की दृष्टि से पूरा होता है, चेतना वहां उभर आती है। अमीबा के एक कोश के देह से इस अनेककोशयुक्त देह की रचना का कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं है, जिससे इनका परस्पर कार्यकारणभाव स्थापित किया जासके। विशिष्ट देहों की रचना अपनी नियत इकाइयों अर्थात् अपने उपादान कारणों [मैटीरियल काज़्–Material Cause] से स्वतन्त्ररूप में होती रहती हैं। प्राकृतिक नियमों व व्यवस्थाओं के अनुसार जैसे ही आत्मा के निवासयोग्य देह रचा जाकर पूरा होता है–चाहे वह देह एक कोश का है अथवा अनेक कोशों का–वहां आत्म-

चेतन के बैठे होने के चिह्न प्रकट होजाते हैं। ऐसी सब प्राणी-सृष्टि 'अमैथुनी' कही जाती है, जो आदि सर्गकाल में संभव है। चालू सर्गकाल के नर-मादा के प्रत्यक्ष सम्पर्क से होने वाला प्रजनन मैथुनी सृष्टि है। एककोशदेह के प्राणी से भी जब आगे वंश चलता है, तो वह सजातीयप्रजनन के मैथुनमूलक नियमों के अनुसार चलता है, पर सबसे पहले अमीबा का प्रादुर्भाव अमैथुनी सृष्टि है। ऐसे ही अनेककोशयुक्त देहों के प्राणियों की सर्वप्रथम सृष्टि अमैथुनी होती है, उसके आगे सजातीयप्रजनन का नियम चालू होता है। प्राणीप्रजनन के लिये चालू सर्गकाल में जो कार्य नर-मादा के सम्पर्क से होता है, वह आदि सर्गकाल में प्राकृतिक नियमों व व्यवस्थाओं के अधीन होता है। इसी कारण यह रचना अमैथुनी कहीजाती है।

पुराने से पुराने प्रागैतिहासिक काल से लगाकर आज तक जो कंकाल और आकृतियां प्राप्त होती रही हैं, उनके आधार पर विकासवाद का वर्णन करने वाले विद्वान् यह मानते हैं, कि अनेक सहस्रों सदियों पूर्व जो प्राणी जिस रूप में थे, उनमें से भले ही कुछ जातियां नष्ट होगई हों, पर जो उपलब्ध हैं, उसी रूप में चली आरही हैं। इससे प्राणियों में साजात्यप्रजनन की एक व्यवस्था स्पष्ट होती है। इतने लम्बे काल में हम इस सर्वप्रमाणसिद्ध साजात्यप्रजनन में किसीप्रकार के व्यतिक्रम का कोई उदाहरण नहीं पाते। विकास का सिद्धान्त जब हमारे सन्मुख एकमात्र मूल से अनेकानेक विभिन्न प्राणी शाखाओं के उद्भव को प्रस्तुत करता है, तो यह साजात्यप्रजनन सिद्धान्त के विपरीत जाता है। परस्पर साम्मुख्य में इन दोनों वादों की रक्षा होना कठिन प्रतीत होता है। इस विचार का विवेचन पूर्व किया जाचुका है, कि कोई प्राणी अपनी इच्छा या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये लाखों वर्षों में किसप्रकार अपनी जाति या स्वाभाविक वंश का व्यतिक्रम नहीं करसकता। ऐसी स्थिति में या तो विकाससिद्धान्त को निराधार मानना होगा, या फिर साजात्यप्रजनन से मुख मोड़ना होगा; पर यह सम्भव नहीं है, क्योंकि साजात्यप्रजनन की स्थिति को हम प्रत्यक्ष से अनुभव करते हैं। फलतः इस दृष्टि से विकासवाद की दुर्बलता स्पष्ट होजाती है।

**सांख्य तत्त्व का विकास नहीं, परिणाम मानता है**—विकास सिद्धान्तों के प्रस्तुत करने और उनके साजने संवारने में जिन पाश्चात्य विद्वानों ने सक्रिय योग प्रदान किया है, उनमें लेमार्क, डार्विन, वर्गसां तथा लॉयड मार्गन आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों के विचारों में परस्पर थोड़ा-बहुत मतभेद है, पर विकास की आधारभूत मान्यताओं में कोई असाधारण उलटफेर नहीं है। परस्पर एक वर्ग में सिमटती हुई उन सब मान्यताओं को लक्ष्यकर, पाश्चात्य रीति पर शिक्षित आधुनिक कतिपय भारतीय विद्वानों ने सांख्य की सर्गप्रक्रिया को 'विकासवाद' नाम देने का प्रयास किया है। वस्तुतः ऐसा प्रयास सांख्यसिद्धान्तविषयक भ्रान्तधारणाओं पर आधारित समझा जासकता है। सांख्य तत्त्वों के 'परिणाम' का विवरण देता है। परिणाम और विकास में अन्तर है।

ऐसा परिवर्तन, जिसको हम पहली स्थिति से अच्छा या उन्नत कहें, वह 'विकास' है। पर सांख्य वस्तुतत्त्व के परिवर्तन या उत्क्रान्ति का विवरण प्रस्तुत करते समय किसी ऐसी विशेपता को अपने सामने नहीं रखता, जिसके कारण परिवर्तित स्थिति को अच्छा उन्नत अथवा बुरा या अनुन्नत कहा जासके। परिवर्तन केवल एक विलक्षणता को लाता है, उसे अच्छा, बुरा आदि अन्य बाह्य परिस्थितियोंवश कहा जासकता है, परिवर्तन स्वयं अपनेरूप में कभी अच्छा-बुरा या उन्नत-अनुन्नत नहीं है; वह केवल परिवर्तन है, परिणाममात्र। ऐसे ही 'परिणाम' का विवरण सांख्य देना है, उसके लिये 'विकास' पद का प्रयोग संगत नहीं माना जाना चाहिये। इससे वास्तविक अर्थज्ञान के प्रति भ्रान्ति की सम्भावना बनी रहती है।

जगत्सर्ग की सांख्यीय प्रक्रिया के अनुसार प्राणि-सर्ग का विवरण देते हुए पिछले पृष्ठों में आधुनिक विकासवाद का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, इसमें उक्तवाद की उन सभी शाखाओं की आधारभूत मान्यताओं का समावेश होगया है, जिनको विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों ने परस्पर साधारण आलोचनाओं के साथ अपने मन्तव्यों के रूप में प्रस्तुत किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से विकासवाद के आधार को देखते हुए वे पारस्परिक आलोचना सर्वथा नगण्य हैं। उन सभी दृष्टियों में प्राणी अथवा चेतना के उद्भव की समस्या समान है। अब हमें समझना है, कि इस दिशा में सांख्य की भावना क्या है, और प्राणी के उद्भव का आदिस्वरूप क्या अथवा कैसा सम्भव होसकता है।

**प्राणी के उद्भव में सांख्यदृष्टि**—महर्षि कपिल ने एक सूत्रद्वारा संकेत किया है, कि प्राणीसृष्टि दैव आदि के रूप में तीन प्रकार की है। सूत्र है—'दैवादिप्रभेदा' [ ३, ४६ ], दैव आदि भेद से सृष्टि अनेक प्रकार की होती है। यह केवल प्राणी-जगत् का वर्णन है। इसको संक्षेप से चौदह विभागों में सगृहीत किया है, जो अति संक्षेप से तीन वर्गों में समाविष्ट है। तीन वर्ग हैं—दैव, तैर्यक, मानुष्य। सूत्र के 'आदि' पद से अन्तिम दोनों का ग्रहण होजाता है। दैव आठ प्रकार का, तैर्यक पांच प्रकार का तथा मानुष्य एक प्रकार का है। ये सब मिलाकर प्राणी जगत् के चौदह विभाग हैं, जिनके अवान्तर भेदों में लाखों योनियां हैं। पुराणों में इसप्रकार की चौरासी लाख योनियों का उल्लेख आता है। सांख्य के व्याख्याग्रन्थों में तीन वर्गो के अवान्तर विभाग इसप्रकार हैं—

**दैव**—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच।

**तैर्यक**—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, स्थावर।

**मानुष्य**—भूमण्डलमात्र का समस्त मानव एक प्रकार का सर्ग।

गत सर्गकाल में अनुष्ठित अपने धर्माधर्मरूप कर्मों के अनुसार प्रत्येक आत्मा आदि सर्गकाल में विभिन्न शरीरादि साधनों के साथ सम्बद्ध होकर नये संसार में प्रवेश करता है। जीवात्मा का यह प्रत्येक सर्ग का आदिकालिक प्रादुर्भाव है। जिन शरीरादि विभिन्न साधनों से आत्मा का सर्वप्रथम सम्बन्ध होता है, उन्हीं को अनन्तर काल में

विविध योनियां कहा जाता है। इसप्रकार भूमण्डल पर उपलब्ध समस्त प्राणि-जातियों का प्रादुर्भाव आदिसर्ग से प्रारम्भ होजाता है। प्रत्येक प्राणि-योनि सन्ततिक्रमानुक्रम से बराबर आदिकाल से ही आजतक चलती आ रही हैं, और आगे भी इसीप्रकार अगला प्रलय आने तक चलती रहेंगी। यह संभव है, किन्हीं प्राकृतिक कारणों से इस लम्बे यात्रा-काल में कोई जाति नष्ट होगई हों, अथवा किन्हीं विशिष्ट निमित्तों से कभी किन्हीं अन्य जातियों का उद्भव हो, पर जो उपलब्ध हैं, उनका क्रम निर्बाध है, और प्रत्येक जाति का अपना स्वतन्त्र अनुक्रम है। किसी एकमात्र मूलजाति से विभिन्न एवं विजातीय शाखा फूटती रही हों, ऐसा नहीं है। स्वतन्त्र चेतनतत्त्व और कर्मव्यवस्था के न मानने की स्थिति में प्राणि-सर्ग को समझने के लिये 'क्रमिकविकास' जैसे सिद्धान्त की कल्पना की गई है। किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने या समझने के अनेक मार्ग हो सकते हैं, पर उनके गुण-दोषों एवं बाधा सुविधाओं की परख करलेना अच्छा ही है।

**प्राणी उद्भव का आदिस्वरूप**—लघुकाय कृमि-कीट से लगाकर बृहत्काय पशु, मानव आदि का उद्भव आदि सर्गकाल से ही माना जाता है, तो किसी भी विचारक के सामने यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या आती है, कि इतने बड़े मानव आदि का अचानक प्रादुर्भाव कैसे हुआ होगा ? यह समस्या इसलिये आती है, कि चालू संसार में प्रजनन की जिस व्यवस्था को देखा जाता है, उद्भव के सर्वप्रथम अवसर पर उसका होना संभव नहीं। कारण यह है, कि मानव-शिशु दस महीने माता के गर्भ में पोषित एवं संवर्धित होकर जन्म लेने पर भी इतना असहाय होता है, कि वह अपने जीवन की रक्षा एवं पोषण में सर्वथा अक्षम रहता है। हमारी कालगणना से कई वर्ष उसके इस योग्य बनने में व्यतीत होजाते हैं, जब वह स्वतः रक्षा एवं पोषण आदि के लिए समर्थ होपाता है।

यदि गंभीरता से विचार कर देखा जाय, तो जो समस्या मानव-शिशु के विषय में प्रस्तुत की जाती है, वह लघुकाय प्राणियों के लिये भी समान है, और ठीक वही समस्या आदिसर्गकाल में एक कोश के प्राणी के लिये भी संभव है। यह कौन कह सकता है, कि एक कोशयुक्त प्राणी प्रथमक्षण से ही अपने उपयुक्त सर्वसामर्थ्ययुक्त होता है। यदि होता है, तो वह प्रबन्ध किसका है, यह एक विचारणीय समस्या है। जिस प्रबन्ध से वह प्राणी आगे जीवन के लिये कदम बढ़ाता है, वही प्रबन्ध मानवशिशु के लिये क्यों संभव नहीं ? पर इसके भी पहले एक समस्या है, कि उद्भव के समय मानवदेह की कैसी स्थिति रहती है। यदि शिशुदेह के समान उसकी स्थिति है, तो हमारी दृष्टि से उसकी रक्षा एवं पोषण के प्रबन्ध का होना अशक्य है। पर एक सैल के प्राणी अमीबा की आद्यस्थिति कैसी होती है, यह भी संभवतः अभी स्पष्ट नहीं। कहा जाता है, कि अमीबा नाम का कोई प्राणी जगत् में कभी उपलब्ध नहीं है, वह केवल कल्पनाप्रसूत प्राणी है, और उसी कल्पना के आधार पर यह शास्त्र का विशाल भवन खड़ा कर दिया गया है, तब मानवदेहविषयक कल्पना को अन्यथा क्यों माना जाय ?

क्रान्तदर्शी विचारकों ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है, कि आद्य मानवदेह कैशोर अवस्था के देह के समान होसकता है। आज हमारी दृष्टि से किशोर अवस्था की सीमा १२-१६ वर्ष समझी जाती है। यह देह की ऐसी स्थिति है, जिसे परपोषण की अपेक्षा नहीं। वह स्वतः इस कार्य में समर्थ रहती है। यदि इस सुझाव को मानलिया जाता है, तो दूसरी बड़ी समस्या यह है, कि इतना बड़ा देह अचानक कैसे उठ खड़ा होता है? इसकी रचना कहां हो रही होती है? इसस्थिति में इसका उभरना अनायास बुद्धिगम्य नहीं है।

इसको समझने के लिये हमें चालू सर्गकाल के प्रजनन की स्थिति पर ध्यान देना चाहिये; संभव है, वहाँ की कोई पकड़ इसे कुछ स्पष्ट कर सके, और इस समस्या के समझने में कुछ सहायक हो। साधारणरूप से प्रजनन की विधाओं को चार वर्गों में बांटा गया है, जिनमें प्राणिमात्र का समावेश होजाता है। वे चार वर्ग हैं–जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज अथवा ऊष्मज। अन्तिम वर्ग में सूक्ष्म कृमि-कीट आदि की गणना की जाती है। इनके देह अपने उपादान कारणों में एक विशेष सीमित ऊष्मा की प्राप्ति पर विशिष्ट आकृतियों के रूप में उभर आते हैं। ये देह अतिसूक्ष्म स्थिति से लगाकर चक्षुद्वारा दृश्य सूक्ष्म तथा कुछ स्थूल अवस्था तक रहते हैं। संभवतः इनमें अनेक देह इतने सूक्ष्म हों, जिनको हम शक्तिशाली बाह्य यन्त्रों की सहायता से भी चक्षुद्वारा न देखसकते हों, ऐसे सभी दृश्यादृश्य देहों की रचना ऊष्मा के उपयुक्त स्तर पर पहुंचने से उनके उपादानतत्त्वों द्वारा पूर्ण होजाती है। संभवतः ये देह थोड़े काल भी किसी बाह्य खोल से आवृत्त नहीं रहते; कारण यह है, कि ये इतने सूक्ष्म होते हैं, कि इन्हें बाह्य आपात से बचाने या सुरक्षा के लिये खोल [कोश में रक्खा जाना] अनपेक्षित है। पर हम देखते हैं, कि जब कुछ बड़े देहो की रचना प्रारम्भ होती है, तो ऊष्मज देहों के वर्ग की सीमा समाप्त होजाती है। उन देहों की रचना में एक नियत काल तक भ्रूण की सुरक्षा के लिए प्राकृतिक व्यवस्थाओं के अनुसार खोल अथवा कोश का प्रबन्ध रहता है।

प्रथम उद्भिज्ज वर्ग पर विचार कीजिये। कुछ ऐसे सर्वमान्य सिद्धान्त होते हैं, जिनको कोई भी विवेचन करने के पूर्व निःशंकरूप में स्वीकार कर लिया जाता है, जैसे प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है। ऐसे ही सिद्धान्तों में एक है–कारण पूर्व होता है कार्य पीछे। इसी को हम ऐसे कह सकते हैं, कि वीज पहले होता है और वृक्ष बाद में। साधारण लोगों में कभी यह बहस छिड़ी सुनी जाती है, कि वीज पहले या वृक्ष पहले। कारण यह कि हम अपने सामने पड़ से वीज और वीज से पेड़ होते देखते हैं, तब इनमें से पहले किसको कहें और पीछे किसको। तत्त्वदर्शी विद्वानों ने बताया, वीज पहले होता है कार्य अनन्तर। अब सोचिये–सर्ग के आदिकाल में सबसे पहले एक पीपल के वृक्ष ने भूमि से ऊपर अपना सिर निकाला। वह बढ़ा और कालान्तर में उस पर फल लगे। ये आगे उगने वाले पीपल वृक्षों के वीज हैं। यह चालूसर्गकाल में समानप्रजनन की प्रक्रिया है। हमें

ध्यान इस बात पर देना है, कि प्राकृतिक प्रबन्धों के अनुसार अगले पीपल वृक्ष का उगाने वाले बीज को एक विशेष प्रकार के खोल में सुरक्षित रक्खा गया है। जब वह प्रजनन की अनुकूल स्थिति में होगा, तब उसमें से सजातीय अंकुर फूट निकलेगा।

अब हमें लौटकर सबसे पहले उगनेवाले पीपलवृक्ष की स्थिति पर विचार करना चाहिये। यह निश्चित है, कि यह इस सर्ग के आदिकाल का सबसे पहला पीपल है। इससे पहले अभी कोई पीपल का वृक्ष नहीं था, जिसने बीज को भूमि में छोड़कर इसे उगाया हो। तब क्या यह वृक्ष बिना बीज के उग आया है? तत्त्वदर्शी विद्वानों का कहना है, कि यह असम्भव है। बिना बीज के कोई अंकुर नहीं उग सकता। तब समस्या सामने आती है, कि सबसे पहले उगनेवाले पीपलवृक्ष का बीज कैसे बना? किसने बनाया और कहां सुरक्षित था? समस्या बड़ी सच्ची और पक्की है। आइये सोचें, विद्वानों ने इस विषय में क्या विचार दिये हैं।

पीपलवृक्ष ने जो बीज अगले सन्तितप्रजनन के लिये दिये हैं, उनमें अंकुर को उत्पन्न करने वाले सब तत्त्व प्रकृति से आये हैं। प्रकृति से इस रूप में उन्हें प्राप्त करने की यह चालू सर्गकालिक प्रक्रिया है। वे तत्त्व प्रकृति में सदा विद्यमान हैं। जब तक चालू सर्गकाल की प्रक्रिया का आरम्भ नहीं होता, उस समय प्रकृति के नियम व व्यवस्था उस प्रक्रिया को स्वतः पूरा करते हैं। इससे हम समझ सकते हैं, कि सबसे पहले उगने-वाले पीपलवृक्ष के बीज का निर्माण प्रकृति के गर्भ में स्वतः उन नियम व व्यवस्थाओं के अनुसार होता है, जो इस विश्व ब्रह्माण्ड के संचालक हैं। बीज के अन्दर अंकुरजनन शक्ति जिन भौतिक अथवा प्राकृत तत्त्वों में आहित है, संभवतः विज्ञान के आधार पर हम उन तत्त्वों का विश्लेषण कर उनके पहचानने और बीजनिर्माण में उनके प्रतिशत भाग को जान लेने में समर्थ होसकते हैं, पर यह निश्चित है, उन तत्त्वों का उसी मात्रा में संकलन कर हम अंकुरोत्पादनशक्तिसंपन्न बीज का निर्माण करने में अक्षम रहते हैं। वस्तुतः प्रकृति-सम्पादित कार्य को जान लेने मात्र में मानव की प्रवीणता है, उसका निर्माण प्रकृति का ही कार्य है।

इस विचारप्रसंग में हम यह समझने में समर्थ होसके हैं, कि सबसे प्रथम उगने वाले पीपलवृक्ष के बीज का निर्माण प्रकृति के गर्भ में उसके नियम व व्यवस्थाओं के अनुसार स्वतः हुआ। स्वतः का अभिप्राय है, वह बीज चालू सर्गक्रम के अनुसार पेड़ से उत्पन्न नहीं हुआ। अब हम कल्पना करते हैं, वे अंकुरजनक भौतिक तत्त्व प्रकृतिगर्भ में जब संकलित हुए, तब एक खोल में संपिण्डित जैसे रहे होंगे। अंकुरजनन की अनुकूल अवस्था आने तक प्रकृतिद्वारा उनका पोषण होता रहा, जब वह अवस्था अपनी पूर्णता तक पहुंच गई, तब खोल फटा और अंकुर ने धीरे-धीरे अपना सिर भूमि के ऊपर निकाला होगा। संभव है, उस बीज की बनावट कुछ ऐसी ही रही हो, जैसा बीज हम वृक्ष से पाते हैं। वृक्ष पर भी यह बीज प्रारम्भ से अन्त तक कैसे बनता चला आता है, इसे भी

हम आज पूर्णरूप में कहां समझते हैं ? यह प्रकृति के अपने नियम व व्यवस्थाओं का चमत्कार है। मानव का इसमें दखल नहीं। फलतः उद्भिज्ज वर्ग में सबसे पहले उगने वाले वृक्ष के बीज का निर्माण कैसे हुआ होगा, यह समझने का हमने यत्न किया है। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि बीजरूप में संकलित वे तत्त्व अंकुरोत्पत्ति से पहली अवस्थाओं में अवश्य किसी एक कोश [खोल] में सुरक्षित रहे होंगे, जिस स्थिति को हम आज सर्ग की चालू प्रक्रिया में स्पष्टरूप से देखते समझते हैं।

उद्भिज्ज वर्ग के विषय में एक आशंका की जासकती है, कि यह रचना अंकुरोत्पत्ति से प्रारम्भ रही होगी, या इसमें एक साथ वड़ी आकृति के पेड़ उग खड़े हुए होंगे। विचार यह समाधान देता है, कि इस वर्ग में प्रारम्भ से ही बड़े पेड़ उग खड़े होने की अपेक्षा नहीं है। कारण यह है, कि ऐसी कल्पना उगने वाले की सुरक्षा की भावना से होसकती है। पर आदिकाल में जब उद्भिज्ज वर्ग ने अंकुर के रूप में भूमि से ऊपर सिर उठाया, उस समय इस वर्ग को हानि पहुंचाने वाली किसी स्थिति की संभावना प्रतीत नहीं होती। इस वर्ग के अनुकूल परिपोषण के लिये हवा पानी और धूप आदि की अपेक्षा होती है, जो प्राकृत व्यवस्थाओं के अनुसार प्रचुरमात्रा में इनको सदा उपलब्ध है, उस समय भी उपलब्ध थी। आज इनकी विरोधी स्थितियां—जो इनका विनाश करने में सदा तत्पर रहती हैं—अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं; फिर भी इस वर्ग का विनाश सर्वथा असंभव है। प्रकृति ने इनके साजात्यप्रजनन की जो व्यवस्था रक्खी है, उसमें बीज शक्ति की इतनी अधिक प्रचुरता है, कि कितनी भी मात्रा तक उसका प्रतिरोध होने पर विनाश सभव नहीं। प्रतिरोध भी संभव की सीमा को लांघ नहीं सकता। यह भी कारण है, कि आगे आने वाले अण्डज़ जरायुज प्राणि-जगत् का यह खाद्य है, जीवन-निर्वाह का एकमात्र साधन। इसकी असुरक्षा अथवा विनाश की संभावना करना जगत् के विनाश की संभावना करना है। फलतः आदिकाल में उद्भिज्ज वर्ग के अंकुरस्थिति से प्रारम्भ होने में असुरक्षा आदि की कोई समस्या नहीं रहती, इसलिये प्रारम्भ में ही एक साथ बडे पेड़ों का उत्पन्न होना अविचार्य है।

उद्भिज्ज वर्ग के अनन्तर अण्डज वर्ग आता है। इस वर्ग में पक्षी और सरीसृप जाति के प्राणियों का समावेश है। सरीसृप जातियाँ जल-स्थल दोनों में पाई जाती हैं। इस वर्ग में यह देखा जाता है, कि भ्रूण एक विशेष-प्रकार के खोल से सुरक्षित रहता है, मातृगर्भ में उपयुक्त पोषण प्राप्त कर गर्भ से बाहर भी नियत काल तक कोशयुक्त रहता हुआ पोषण प्राप्त करता है। भ्रूण का यथायथ परिपाक होने पर खोल फटता है, और बच्चा निकल आता है, यह प्रकृति का एक चमत्कार है। इस वर्ग में उत्पत्तिकाल की दृष्टि से कुछ अधिक बड़े देहवाले प्राणियों का समावेश है, तथा यह एक विचारणीय बात है, कि भ्रूण का गर्भ से बाहर भी परिपोषण होता है। संभवतः इसीलिये प्रकृति ने इस वर्ग के भ्रूण के खोल को अपेक्षाकृत सुदृढ़ बनाया है, जिससे अनायास प्राप्त बाह्य

बाधाओं एवं असुविधाओं का भ्रूण पर प्रतिकूल प्रभाव न होसके।

चालू सर्गकालिक इस वर्ग में होने वाली मातृगर्भ से बाहर भ्रूण की इस परिपोषण प्रक्रिया से अनुमान होता है, कि सर्वप्रथम आदिकाल में मानव आदि बड़े देहों की रचना प्रकृतिपोषित सुरक्षित उपयुक्त कोशों द्वारा हुई होगी। चालू सर्गकाल में देहों के अनुसार कोशों [अण्डों] के आकार में विभिन्नता देखी जाती है। प्रकृति के गर्भ में इस-प्रकार के कोशों का बनना संभव है, जिनमें मानव आदि देहों की रचना सर्वप्रथम प्राकृत नियमों के अनुसार हुई हो, और उनका यथावसर परिपाक होने पर उनमें से किशोर अवस्था के मानव का प्रादुर्भाव हुआ हो।

अण्डज वर्ग के आगे बड़ी देहवाला प्राणीवर्ग जरायुज है, जिसमें मानव एवं समस्त पशु मृग आदि का समावेश है। कोश में भ्रूण के परिपोषण की प्राकृत व्यवस्था इस वर्ग में भी समान है। मातृगर्भ में भ्रूण पूर्णाङ्ग होने तक जरायु में परिवेष्टित रहता है। स्निग्ध सुदृढ़ चमड़े जैसे पदार्थ की थैली का नाम जरायु है, पूर्णाङ्ग होने पर बालक इसको भेदकर ही मातृगर्भ से बाहर आता है। विभिन्न प्राणिवर्गों में भ्रूण के परिपोषण और पूर्णाङ्ग होने तक के लिए व्यवस्थाप्रबन्धों में थोड़ा बहुत अन्तर देखा जाता है, पर भ्रूण की सुरक्षा व उपयुक्त पुष्टि एवं वृद्धि तक के लिए उसका एक विशिष्ट कोश में परिवेष्टित होना सर्वत्र समान है। यह एक ऐसी नियत व्यवस्था है, जो प्राणी के प्रादुर्भाव की आद्यस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। चालू सर्गकाल अथवा मैथुनी सृष्टि में नर-मादा का संयोग प्राणी के साजात्यप्रजनन की जिस स्थिति को प्रस्तुत करता है, वह स्थिति अमैथुनी सृष्टि में प्राकृत नियमों व व्यवस्थाओं के अनुसार प्रकृतिगर्भ में प्रस्तुत होजाती है। प्रकृतिनिर्मित उपयुक्त कोशों में सुरक्षित एवं परि-पोषित मानव आदि सजीव देह यथावसर प्रादुर्भूत होजाते हैं।

आज भी मानव आदि देहरचना की प्रक्रिया प्रकृति का महान एवं अद्वितीय चमत्कार है। अतिप्रतिभाशाली भी मानव इस दिशा में सर्वथा अपनी इच्छा के अनु-सार चलने में असमर्थ है। चमत्कारिणी प्रकृति नटी के पीछे बैठा मायावी सूत्रधार सर्वात्मना इसका संचालन कर रहा है। मानव चाहेजितना प्रतिभाशाली व क्रान्तदर्शी हो, इस नटी के अभिनय को बहुत थोड़ा जानपाता है। उस अचिन्त्यशक्ति नियन्ता के नियम व व्यवस्थाप्रबन्ध अतिगम्भीर हैं। अनादिकाल से मानव ने उनको समझने की दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किया है, और किसी सीमा तक समझा है। पर इस सबके पीछे उस प्रभु का अनुकम्पापूर्ण वरदहस्त तप्तप्राणी पर बराबर छाया कर रहा है। जैसे ही प्राणी का आद्यप्रादुर्भाव होता है. उसी शक्ति की दयापूर्ण प्रेरणा से मस्तिष्क में उपयुक्त ज्ञान प्रतिभात हो जाता है, जिससे प्राणी अपने आहार-विहार आदि के लिये सचेत होता है। इन्द्रियां अपने कार्यों में तत्पर होजाती हैं। समस्त प्राणियों में एकमात्र मानव ज्ञान-श्रेष्ठ है।

आदि सर्गकाल में इन्द्रियों के बाहर की ओर खुलते ही मानव ने विविध ऐश्वर्यों से भरी अद्भुत छटापरिपूरित अंगड़ाईयां लेती मदमाती प्रकृति को अपने चारों ओर देखा। वह आश्चर्यचकित था, सोते से जागे हुए के समान मानो वह मानव पहचानने का प्रयत्न कर रहा था, कि यह सब देखा-भाला, परखा-जोखा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि ऐसे अनेक प्राणियों का प्रादुर्भाव आदिसर्ग में हुआ, तथा उस दिव्यशक्ति की प्रेरणा से प्राणी को अनन्त प्राकृत अन्य ऐश्वर्यों के समान ज्ञान एवं वाक् का प्रसाद प्राप्त हुआ। मानव में वाक् अपने पूर्णरूप से प्रकट हुई। यह एक लम्बी कहानी है, जो पर्याप्त पर्यालोलन की अपेक्षा रखती है, कि आदि सर्गकाल में मानव जीवन का कार्यक्रम किसप्रकार चालू किया गया होगा, और वह कैसा रहा होगा; चाहे मानव की स्थिति का कोई स्तर माना जाय। कल्पना की जाती है, उस अवस्था में मानव के प्रादुर्भूत होने पर अवश्य कुछ काल के अनन्तर उसे भूख-प्यास ने सताया होगा। उसकी इस अनुभूति ने उसके प्राक्तन संस्कारों को जगाने में वन्दी का काम किया। उसके चारों ओर फलों से लदे वृक्ष थे, निर्मल मुक्ताभ जलधाराओं के कलकल करते स्रोत थे। वायु के प्रकम्पन से स्खलित फल भूमि पर फैले थे, उद्बुद्ध संस्कारों से आकृष्ट मानव ने फलों को उठाया, और क्षुधा को निवृत्त किया, एवं जल से तृषा को। जीवन चलने लगा।

अन्य धार्मिक ग्रन्थों में निषिद्ध फल को मानवद्वारा खाये जाने का वर्णन आदिसर्ग की इसी स्थिति की ओर संकेत करता है। प्राणिदेह में आये विना फलोपभोग की अयोग्यता ही उसके निषिद्ध होने का स्वरूप है। प्रलयकाल में जीवात्मा की ऐसी स्थिति सम्भव नहीं। आदिसर्ग में यह अवस्था आने पर जीवात्मा का प्रादुर्भाव और फलोपभोग अनिवार्य है। यही आत्मा का संसार में आजाना है, जिसको उन ग्रन्थों में ईश्वर के आक्रोश के रूप में वर्णन किया गया है। इन्द्रियों के विषय शैतान का रूप हैं, जो आत्मा को इधर आकृष्ट कर लेते हैं। इनमें आसक्त होकर आत्मा भगवान् से विमुख होता है, यही शैतानद्वारा भगवान् की आज्ञा को न मानना, अथवा उसका तिरस्कार करना है। आदिकालिक मानवजीवन के प्रारम्भ के विषय में यह कल्पना कोई निराधार नहीं है। सद्योजात वत्स की आहारादि की ओर प्रवृत्ति के द्वारा कोई भी विचारशील व्यक्ति इसका स्पष्ट अनुभव कर सकता है।

इस कल्पना में आदि-मानव के प्रारम्भिक जीवन की प्रक्रिया का सच्चा बीज निहित है। भले ही आज हम इसे केवल कल्पना कहसकते हैं, और ऐसा ही कहना चाहिये, पर आज तक इतनी निर्दोष कल्पना इस विषय में अन्य कोई सामने नहीं आई। इसमें आधारभूत सार इतना है, कि यहां चेतन तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर आगे पग बढ़ाया गया है, अन्य कल्पनाओं में ऐसा नहीं, इसलिये उनमें अनेक न्यूनता एवं बाधाओं की अधिक सम्भावना है। इसके अतिरिक्त विकासवाद की मान्यता में सजातीयप्रजनन की सर्वप्रमाणसिद्ध व्यवस्था का व्यतिक्रम विशेष बाधक है। विजातीय-

प्रजनन के लिये जो हेतु विकासवाद में प्रस्तुत किये जाते हैं, वस्तुतः वे हेत्वाभास हैं, उनकी हेतुरूप में अयथार्थता का निरूपण पिछली पंक्तियों में कर दिया गया है। विभिन्न योनियों तथा जातियों की देहरचना में दीखनेवाला साधारण सादृश्य उनके एक ही मूल से विविध प्रसार में आने का हेतु नहीं माना जासकता, क्योंकि विभिन्न स्थानों में भिन्न उपादानों तथा भिन्न साधनों द्वारा उद्भूत पदार्थों में अनुक्रमपूर्ण समानता देखी जाती है। उनका किसी एकमात्र मूल से विभिन्नप्रसार होना प्रमाणसिद्ध नहीं होता।

इसके लिये एक साधारण उदाहरण 'वस्त्र' का लीजिये। वस्त्र की सैंकड़ों विधा हैं। स्थूल से स्थूल स्थिति से लेकर सूक्ष्म, स्निग्ध, दृढ़ता और कोमलता आदि गुणों अथवा विशेषताओं से युक्त वस्त्र का निर्माण देखा जाता है। निर्माण के स्थान भिन्न, उपादान तत्त्व भिन्न तथा अन्य साधन आदि भिन्न रहते हैं। वस्त्रों की विधा एक-दूसरे से इतनी भिन्न हैं, कि उन्हें किसी आधार पर एक नहीं कहा जासकता; परन्तु उन सबमें आतान-वितान और स्थूल से सूक्ष्म तक अथवा सूक्ष्म से स्थूल तक एक अनुक्रमपूर्ण अद्भुत समानता है, उसी आधार पर इन सबको वस्त्र कहाजाता है; परन्तु इस समानता या सादृश्य को किसी भी रूप में इस बात के लिये हेतु या आधाररूप से प्रस्तुत नहीं किया जासकता, कि वस्त्र की इन समस्त विविध विधाओं का प्रसार किसी एकमात्र मूल से अनुक्रमपूर्वक हुआ है। वस्तुतः इन सबकी अपनी पृथक् श्रेणी हैं, एवं उसी श्रेणी के अपने उपादानतत्त्वों व साधनों से अपने विशिष्टरूप में इनका प्रसार रहता है। देहरचना में साधारण समानता रहने पर भी विभिन्न योनियों के अपने प्रसार में यही स्थिति है। आदिकाल में जो श्रेणी जिस रूप में चली, सजातीयप्रजनन के अनुसार आज भी वह वैसी ही चल रही है, और समस्त सर्गकाल तक चलती रहेगी; यह एक नियत व्यवस्था है, उस व्यवस्थापक की, जो सबका संचालन व नियन्त्रण करता है।

**सांख्यनिर्दिष्ट चौदह विधाओं का सामञ्जस्य**—इस प्रसंग के प्रारम्भ में प्राणिजगत् की संक्षिप्त तीन विधाओं को सांख्यदृष्टि से चौदह वर्गों में विभाजित कर दिखाया गया है। इन वर्गों की यथार्थता और इनके आधार का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। संक्षिप्त तीन वर्गों में मानुष्य और तैर्यक मूलभूत विभाग हैं। वस्तुतः आदिसर्गकालिक समस्त प्राणिजगत् का इन्हीं दो में समावेश होजाता है। तैर्यक वर्ग का प्रारम्भ आदि काल में जैसा होता है, वह समस्त चालू सर्गकाल में वैसा ही चलता रहता है। मानुष्य वर्ग आदिसर्गकाल में यद्यपि एकसमान प्रादुर्भूत होता है, पर साधारण आकृतिसाम्य रहने पर भी मानवीय बौद्धिकवृत्तियों के वैविध्य के कारण सामाजिक स्थिति में विभिन्नता आजाती है। उसी मानवसर्ग को वृत्तिभेद के आधार पर आठ भागों में विभक्त किया है, जिसको 'दैवसर्ग' नाम दिया गया है। बौद्धिकवृत्तियों को 'देव' मानकर उनके आधार पर वर्गीकरण होने से उक्त सर्ग को यह नाम दिया गया प्रतीत होता है। प्राणिजगत् में मानव श्रेष्ठ है, संसार के ऐसे अस्तित्त्व की मूलधुरा एकप्रकार से मानवसमाज है।

बुद्धिवृत्तियों के उत्तम अधम आदि भेदों के आधार पर मानवसमाज के संघटन की दृष्टि से प्राणिजगत् की रचना के प्रसंग में दैवसर्ग का इसप्रकार वर्णन कियाजाना संभव है।

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के आगमग्रन्थों में 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' नामक एक संमान्य ग्रन्थ है। इसमें कपिल और कापिलशास्त्र का विस्तृत वर्णन है। इसके एकादश अध्याय [श्लोक ५१–५४] में अन्य कतिपय लोककर्त्ता महापुरुषों के साथ कपिल का भी उल्लेख है। वहां प्रसग है, त्रेता युग के आदि में जब सत्त्वगुण का संकोच और रजोगुण का विस्तार हुआ, तो समाज में सच्चे ज्ञान की ओर से अरुचि होने लगी, आचरणीय शास्त्रों का प्रचार मन्द पड़ गया, और समाज विश्रृ खलित सा हो गया। उस समय के सामाजिक नेताओं ने सम्मिलित होकर विचार किया और घोर परिश्रम तथा अथक प्रयत्नो द्वारा समाज को पुनः संघटित किया, एवं उसके सुचारुरूप में संचालित रखने के लिये विविध शास्त्रों का उद्धार व निर्माण किया। इस कार्य में कपिल का पूर्ण सहयोग था। लोककर्त्ता महापुरुषों में कपिल की गणना किये जाने का यह एक मुख्यहेतु है। उसने वस्तुस्थिति को तलपर्यन्त परखकर जिस शास्त्र का प्रणयन किया, वहां समस्त तत्त्वों एवं भावों का त्रिगुण के आधार पर विवेचन है, जो सामाजिक स्थिति एवं संघटन के विशालभवन की आधारशिला है। इसी महान सामाजिक अनुष्ठान में कपिल के लोक-कर्त्तृत्व की भावना निहित है।

समाज का अनवरत निर्बाध संचालन विवाह संस्था पर आधारित है। विवाह क्या है? साजात्यप्रजनन की स्वाभाविक अभिलाषा व प्रवृत्ति का उपयुक्त समाधान। यह प्रवृत्ति प्राणिमात्र में स्वाभाविक है। इसके समाधान का रूप है, नर-मादा का यथावसर सपर्क। मानव के अतिरिक्त अन्य समस्त प्राणिजगत् में इस अवसर की अवहेलना नहीं देखी जाती। यदि कहीं अनवसर पर किसी पक्ष की ओर से सम्पर्क के लिए प्रवृत्ति उभरे, तो अन्य पक्ष की ओर से उसका प्रबल प्रतिरोध किया जाता है, और स्वभावतः वह प्रवृत्ति असफल रहती है। मानव में ऐसा नहीं देखा जाता, वह अपने बुद्धिमद में अवसर की अवहेलना कर जाता है, अपनी बुद्धि के कलंक को मिटाने के लिये यद्यपि उसने ऐसी प्रवृत्ति को 'पशुवृत्ति' कहा है, पर कहें, तो यह वस्तुस्थिति का शीर्षासन है। मानव में सपर्क की भावना केवल साजात्यप्रजनन के लिये हो ऐसा नहीं देखा जाता, वैषयिक वासनाओं के उफान को शान्त करने के लिये भी वह होता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने इन प्रवृत्तियों को खुलासा करने का अच्छा प्रयास किया है। निस्संदेह मानव विशिष्टबुद्धि एवं प्रतिभायुक्त प्राणी है। ऐसे लोकनेता महापुरुषों ने इन प्रवृत्तियों के हानि-लाभ को गहराई तक परखा, और राष्ट्ररक्षा की भावना से उनके लिये एक व्यवस्था की, उसी का नाम 'विवाह सस्था' है। मानव ने अपनी दुर्बलता से जिस स्वाभाविक व्यवस्था की अवहेलना की; उसे इस रूप में नियमित व सीमित कर दिया गया।

संपर्क किन्हीं भी प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर हो, उसका परिणाम तो साजात्य-प्रजनन ही है, इसलिये समस्त ऐसे संपर्कों को विवाह संस्था में सम्मिलित कर लिया गया। कापिल दृष्टि से सामाजिक संघटन को देखते हुए, उन प्रवृत्तियों के तीन ही रूप होसकते हैं—सात्त्विक, राजस, तामस। इसी आधार पर मानवसमाज में विवाह संस्था आठ भागों में विभाजित समझी गई। भारतीय समाजशास्त्र में उसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता हैं। वे आठ विधा हैं–ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस, पैशाच[1]।

सांख्य के व्याख्याग्रन्थों में वर्णित दैवसर्ग के आठ भेदों का इनसे सन्तुलन कीजिये। वे आठ भेद हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच[2]। यहां तीसरे चौथे और छठे नाम में अन्तर प्रतीत होता है। विवाह नामों में जिसे 'दैव' कहा है, वह यहां 'ऐन्द्र' पद से वर्णित है। संभवतः सांख्य में इस समस्त सर्ग का 'दैव' नाम होने से विवाहसंस्था के 'दैव' भेद को 'ऐन्द्र' पद से कहा गया है, जो किसी अर्थ-भेद का द्योतक नहीं है। विवाहसंस्था का 'आर्ष' भेद सांख्य के दैवसर्ग में 'पैत्र' अथवा 'पितृ' पद से वर्णित है। ऋषि तथा पितृ पद सोम्यभाव के द्योतक हैं। इससे इनकी समानता अभिलक्षित होती है। विवाह के 'आसुर' भेद की भावना से सांख्य के दैवसर्ग में 'यक्ष' एवं 'नाग' का संकेत है। जयमंगला व्याख्या में 'आसुर' पाठ ही है। वैसे असुर 'पूर्वदेव'[3] हैं, इस वर्ग का किसी निमित्त से असुर नाम होने के पूर्व ये देव थे, अतः इस वर्ग का यक्ष पद से संकेत करना असामञ्जस्यपूर्ण नहीं माना जाना चाहिये।

उक्त सन्तुलन के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि सांख्य में वर्णित दैवसर्ग, सात्त्विक आदि आन्तरवृत्तियों की प्रबलता व उग्रता पर विभाजित मानवसर्ग का ही विश्लेषणमात्र है। यह विश्लेषण मानवसमाज के गुणानुसारी संघटन की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। इस रूप में समाज के संघटन का मूल आधार

---

१—मनु० ३।२७-३४॥ याज्ञ० १।५८-६१॥ कौट० अर्थ० ३।२।२-६॥

२—सांख्यकारिका ५३ पर माठरवृत्ति, गौडपादभाष्य, युक्तिदीपिका, जय-मंगला। सांख्यसूत्र, ३।४६ पर विज्ञानभाष्य, महादेववृत्ति। गौडपादभाष्य में 'पैत्र' के स्थान पर 'सौम्य' पाठ है, पर अर्थ में कोई अन्तर नहीं। 'पितरः सोम्यासः' आदि के आधार पर इनकी एकता ज्ञात होती है। 'याक्ष' की जगह युक्तिदीपिका में 'नाग' पाठ है।

सांख्यवर्णित दैवसर्ग का उल्लेख स्कन्दपुराण में इसप्रकार है—

अष्टभेदान् सुरान् कृत्वा तिर्यग्योनिञ्च पञ्चधा।
मनुष्यानेकभेदांश्च सृष्टिमेवं ससर्ज ह॥

आवन्त्यखण्ड [अवन्तीक्षेत्रमाहात्म्य] अ० २। श्लो० ३१॥

३—अमरकोष, १।१२॥

विवाह संस्था है, उसी के अनुसार यह विभाजन समझना चाहिये। इसमें प्रथम चार विवाह जिन भावनाओं से प्रेरित अथवा अभिभूत होकर किये जाते हैं, वे सत्त्वगुणप्रधान भावना होती हैं। अगले दो विवाह रजोगुणप्रधान तथा अन्तिम दोनों तमःप्रधान भावनाओं से अभिभूत समझने चाहियें। इनकी पारस्परिक न्यूनाधिकता ही इनके एका-धिक विभाग की प्रयोजक है।

सत्त्व आदि गुणों के आधार पर दैवसर्ग के ब्राह्म आदि विभाग होने का संकेत सांख्यकारिका की जयमंगला व्याख्या में उपलब्ध होता है। वहां का लेख है—

'ब्राह्मादिभेदोऽपि सत्त्वरजस्तमसां विकल्पात् कालव्यवहारनिमित्तम्।

ब्राह्म आदि भेद भी सत्त्व रजस् तमस् गुणों की अन्योन्यमिथुनता के वैविध्य के कारण होते हैं, अन्यथा वे सब एकमात्र मनुष्य समाज के अन्तर्गत हैं। सत्त्व आदि गुणों की न्यूनाधिकता के कारण किसी काल में उन-उन वर्गों के लिये उस नाम का व्यवहार होने लगा, वैसे यह व्यवहार सदा होता रहता है, उसप्रकार के भेद का यही कारण है।

इसप्रकार कपिल ने प्राणिसर्ग को तैर्यक और मानुष्य दो विभागों में पूर्णतया वर्णित कर 'मानुष्य' का पुनः सामाजिक संघटन की भावना से दैवसर्ग में वर्णन किया है। कारण यह है, कि प्राणिमात्र को सामान्यबुद्धि स्वभावतः प्राप्त होती है। उस दृष्टि से समस्त प्राणी समान हैं, वह समानता आहार, विहार [साजात्यप्रजनन] पर आधारित है। इसके अतिरिक्त मानव ने बुद्धिगत विशेषता को प्राप्त किया है, जो मानवरूप से समान होने पर भी इसमें सामाजिकरूप से व्यावहारिक विभिन्नता को उत्पन्न कर देती है। इसीकारण प्राणिसर्ग की प्रक्रिया में कपिल ने सामाजिक भावना से इसका वर्णन करना अपेक्षित समझा। संभवतः अनन्तरकालिक भारतीय साहित्य में यक्ष[1] राक्षस गन्धर्व पिशाच आदि को पूर्वतन लौकिक व्यवहार के आधार पर देवयोनि-रूप में वर्णन किया गया है।

भारतीय साहित्य में इसी के समान सत्त्व आदि गुणों के आधार पर मानव-समाज का दैव-आसुररूप में वर्गीकरण किया गया है। महाभारत के अन्तर्गत गीता में इसका विस्तृत वर्णन है। सोलहवें अध्याय का श्लोक है—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु ॥६॥

हे अर्जुन! लोक में दो प्रकार का भूतसर्ग [प्राणिसर्ग] देखाजाता है—दैव और आसुर। दैव का विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है, आसुरसर्ग का वर्णन मुझसे सुन लो। आगे लगभग पन्द्रह पद्यों में उन मानसिक वृत्तियों एवं शारीर प्रवृत्तियों का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिससे आसुरी भावनाओं का स्पष्टीकरण होता है। ये भावना राजस और

१—अमरकोष, १।११॥

तामस गुणों के उद्रेक से उभरती हैं, यहां सात्त्विक गुणों का प्रायः अभाव रहता है। दैव-आसुर विभागों के विषय में गीता के आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत किया जासकता है, कि सत्त्वगुण के उद्रेक से अध्यात्म की ओर प्रवृत्तियों का होना दैवी संपत् तथा रजोगुण तमोगुण की प्रधानता में अधिभूत की ओर सर्वात्मना प्रवृत्त होकर विषयों में डूबे रहना आसुरी स्थिति का द्योतक है[1]। गीता के उन प्रसंगों को दुहराकर ग्रन्थ की अनावश्यक कलेवरवृद्धि अनपेक्षित है। पुराणों में भी देव-असुररूप से मानव समाज के विभागों का विस्तृत वर्णन सर्वविदित है।

विकारप्रसंग में अधिभूतसर्ग के वर्णन के साथ यथासंभव आद्विकालिक प्राणिसर्ग, मानवसर्ग एवं मानवसमाज के विषय में कापिल सांख्य के अनुसार अतिसंक्षेप से ये विचार प्रस्तुत किये हैं। यह विषय अतिगंभीर, उलझनभरा एवं विचारणीय है। अतीत अदृश्य के सम्बन्ध में अधिक कहना साहसमात्र होगा।

१—देखें, भगवद्गीता, ७।१५॥६।१२-१३॥१६।१-२०॥१७।४-६॥

## चतुर्थ अध्याय

# सांख्यसिद्धान्त वेदमूलक

**सांख्यविषयक अवैदिकताप्रवाद**—सांख्यदर्शन के विषय में यह प्रवाद है, कि इसकी गणना आस्तिकदर्शनों अथवा वैदिकदर्शनों में होते हुए भी इसे आस्तिक अथवा वैदिकदर्शन नहीं माना जाना चाहिये। कारण यह है, कि इसने सृष्टिप्रक्रिया में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया, जबकि वेद और समस्त वैदिक साहित्य में इसको सर्वोपरि सत्ता माना गया है। वैदिक साहित्य के रहस्यभूत उपनिषद् तो इस अर्थ का आरभटी के साथ प्रतिपादन करते हैं। वेद अथवा वैदिक साहित्य की इस सर्वोपरि मान्यता की इस दर्शन ने उपेक्षा की है, इसलिये इसे वैदिकदर्शन मानना उपयुक्त न होगा। आचार्यशंकर ने तो ब्रह्मसूत्रों [१।४।२८।। २।१।१।] के भाष्य में स्पष्टरूप से कापिलतन्त्र को वेदविरुद्ध माने जाने का उल्लेख[1] किया है। विचार करना चाहिये, कि सांख्यविषयक यह प्रवाद अथवा सांख्य पर यह आरोप कहां तक साधार होसकता है।

**सांख्य-अवैदिकता पर शांकरविचार**—आचार्य शंकर ने उक्त सूत्र [२।१।१] के भाष्य में कापिलतन्त्र को वेदविरुद्ध माने जाने का कारण बताया है, कि वह आत्मा को नाना और स्वतन्त्र प्रकृति को जगत् का कारण मानता है। इनमें से जहां तक पहली बात का सम्बन्ध है, यह कहना दुस्साहसमात्र है, कि वेद अथवा वैदिक साहित्य में आत्मा को नाना नहीं माना गया। आचार्यशंकर से पहले, उनके समय में तथा अनन्तरकाल में आज तक मूर्द्धन्य वैदिक विद्वानों का बहुत बड़ा समाज वेद के आधार पर आत्मा के नानात्त्व को बराबर मानता चला आ रहा है। ये सब मन्दमति थे, ऐसा कहना आचार्य शंकर को ही शोभा देसकता है, पर ऐसे कथन से वस्तुतत्त्व की यथार्थता का प्रतिपादन नहीं होता। आचार्य ने स्वयं जिस सृष्टिप्रक्रिया को प्रस्तुत किया है, उसका सामञ्जस्य ही आत्मा को नाना माने विना संभव नहीं होसकता। विना किसी कारण के जगत् की रचना को लीला-मात्र कह देना विलासी भावना का उद्गार कहा जासकता है। कतिपय उपनिषद्वाक्यों के आधार पर एकमात्र आत्मा के अस्तित्त्व को प्रतिपादन करने का प्रयास किया जाता है, तथा आत्मनानात्त्व के प्रतिपादक वाक्यों को औपचारिक या गौण कह दिया जाता है; अन्य आचार्य पहले वाक्यों के लिये यही बात कहते हैं। ऐसे अनेक प्रसंगों का साम-

---

१—अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धं वेदानुसारि-मनुवचनविरुद्धञ्च।

न्जस्य शंकरविचारों की विवेचना के साथ हमने अनेकत्र इसी ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

**सांख्य की अवैदिकता पर शांकरमत की असारता**—ब्रह्मसूत्र [२।१।१] के उक्तस्थल में आचार्य ने मनु के प्रसंग का जो उल्लेख किया है, वह जोड़-तोड़ सर्वथा निराधार है[1]। फिर मनु ने स्वयं अन्यत्र[2] आत्मनानात्व के आधार को प्रकट किया है। वस्तुतः ऐसे कथन विभिन्न भावनाओं के आधार पर कर दिये जाते हैं, इनसे वस्तुतत्त्व का निर्णय किया जाना कठिन है।

कापिल दर्शन को अवैदिक माने जाने के लिये दूसरी बात आचार्यशंकर ने लिखी है, स्वतन्त्र प्रकृति को जगत् का कारण बताना। प्रकृति के स्वातंत्र्य का अभिप्राय यह माना जाता है, कि अचेतन भी प्रकृति जगत् की रचना में किसी चेतन की अपेक्षा नहीं रखती, केवलमात्र जड़ प्रकृति जगत् के निर्माण में समर्थ रहती है। कापिलसांख्य के विषय में आचार्यशंकर का यह कथन सर्वथा निराधार है। कपिल के अनन्तर होने वाले अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों में से केवल आचार्य वार्षगण्य का तथा उसके अनुयायी रुद्रिल विन्ध्यवासी आदि आचार्यों का ऐसा मत है। वार्षगण्य के इस विचार का उपयुक्त उल्लेख इस ग्रन्थ में पूर्व [पृष्ठ ६१] कर दिया गया है। उसी प्रसंग में विस्तारपूर्वक यह सिद्ध किया गया है, कि पुरुष [ईश्वर] से अधिष्ठित-प्रेरित-नियन्त्रित ही प्रकृति जगन्निर्माण में समर्थ होपाती है। इसलिये आचार्य शंकर का सांख्य को अवैदिक बताने में यह हेतु भी सर्वथा निराधार है। इन आचार्यों की संभवतः यह भावना रही है, कि जो दर्शन ईश्वर [ब्रह्म-चेतनतत्त्व] को जगत् का उपादानकारण नहीं मानता, वह अवैदिक है। सांख्य के प्रत्याख्यान में घोषणापूर्वक आचार्यशंकर ने इसीकारण बल लगाया है, कि इस दर्शन में चेतनतत्त्व के अतिरिक्त जड़प्रकृति को प्रमाणपूर्वक जगत् का उपादानकारण माना है। उसके अधिष्ठाता व नियन्ता चेतनतत्त्व [ईश्वर] को वह स्वीकार करता है। पर वेदान्त की नवीन विचारधारा के विद्वानों ने अतिरिक्त जड़-उपादान तत्त्व के प्रत्याख्यान की भावना से अभिभूत होकर कपिल के इस वास्तविक मन्तव्य की उपेक्षा की, और उसे अवैदिक बताने का दुस्साहस किया। वस्तुस्थिति से देखा जाय, तो कापिलदर्शन की विचारधारा को ही यथार्थ वैदिक माना जाना चाहिये।

उपनिषदों में स्पष्टरूप से जहां चेतनतत्त्व को जगत् का उपादान न मानकर अचेतनतत्त्व का उपादानरूप में वर्णन हुआ है, उन स्थलों का इस प्रसंग में कोई उल्लेख नहीं किया गया। जहां आपाततः चेतन की उपादानता का संकेत उपनिषद् में प्रतीत होता है, ऐसे अनेक स्थलों का स्पष्टीकरण इस ग्रन्थ में प्रसंगानुसार किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में केवल ऋग्वेद तथा कतिपय सन्दर्भ अन्य वेदों के प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें जड़ प्रकृति के बुद्धिगम्य संकेत उपलब्ध होते हैं। मननशील विद्वान् उनकी यथार्थता पर

---

१—देखें—सांख्यदर्शन का इतिहास, पृष्ठ १६-१९।

२—मनुस्मृति, ८।९१॥ तथा कुल्लूकभट्ट की टीका।

विचार करेंगे।

**सांख्यसिद्धान्त का मूल आधार वेद**—सम्भवतः परमर्षि कपिल ने सर्वप्रथम वेद के जिन विचारों का आधार पा अपनी समाधिजन्य मेधा और प्रतिभा के द्वारा विश्वब्रह्माण्ड की पहेली को भलीभांति समझकर दर्शनशास्त्र का परिष्कृतरूप प्रस्तुत किया, उनमें कुछ वैदिक विचारों को निम्नलिखितरूप में उपस्थित किया जासकता है—

ऋग्वेद [१०।६४।५] की एक ऋचा है—

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्त होता विषुरूपेषु जन्मसु॥

[अदिते] हे अदिति! [दक्षस्य जन्मनि व्रते] पुरुष के व्यवस्थानुकूल जन्म में, [राजाना] दीप्तियुक्त [मित्रावरुणा] मित्र और वरुण की [विवाससि] तुम परिचर्या करती हो। [अतूर्तपन्थाः] व्यवस्थित मार्गवाला, [पुरुरथः] अनेक भोगों से युक्त, [अर्यमा] विरोधों को सहन करने वाला, वह पुरुष होता है। [विषुरूपेषु] इन विविध-रूप [जन्मसु] जन्मों में [सप्त होता] सात होताओं से युक्त, वह है।

जब आदिसृष्टि में सर्वप्रथम पुरुष जन्म लेता अर्थात् जीव-चेतन, स्थूलशरीर के साथ सम्बद्ध होकर प्रकाश में आता है, उस समय उसके जन्म के लिये अदिति, तेजोरूप शक्तिशाली मित्र और वरुण की सेवा करती है। वह पुरुष अपनी नियमित गति से चलने वाला, विविध भोगों को भोगने वाला, तथा अपने विरोधों को सहन करने वाला होता है। इन वैषम्य अवस्था के विविध जन्मों में सात होता सदा उसके साथ रहते हैं।

**अदिति-प्रकृति तथा दक्ष-पुरुष**—यहां पुरुष-दक्ष और प्रकृति-अदिति कही गई है। पुरुष-चेतनसत्ता सदा रहने वाली नित्य वस्तु है। उसके विषय में उत्पत्ति का निर्देश औपचारिक है। लोकव्यवहार में ऐसा प्रयोग होता है। वस्तुतः शरीरतत्त्वों का उत्पत्ति से सम्बन्ध है, चेतन-सत्ता का नहीं। पर व्यवहार में ऐसा बोला जाता है। जन्म लेकर पुरुष व्यवस्थाओं के अनुसार नियमित गति से अपनी जीवनयात्रा संपन्न करता है। अनेक भोगों को भोगता तथा सांसारिक संघर्षों का सामना करता है। इस यात्रा में 'सात होता' सात प्रकृति-विकृतितत्त्व सदा उसके साथ रहते हैं। प्रकृति की साम्यावस्था में, जो संसार की प्रलयावस्था है, यह सब कुछ नहीं होता, विषमावस्था में सृष्टि आरम्भ होकर पूर्व सर्गों के समान यह चक्र चल पड़ता है।

यह वर्णन सन्धिकाल का है। मध्यकाल के व्याख्याकारों [यास्क आदि, निरुक्त ११।२३] ने रात्रि और दिन के सन्धिकाल [प्रातःकाल] को इसका विषय समझा है। परन्तु ऋचा के प्रत्येक पद पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया जाय, तो प्रलय के अन्त और सर्ग के प्रारम्भ में वर्तमान सन्धिकाल का यह स्पष्ट वर्णन प्रतीत होता है। इस दिशा को सन्मुख रख, जब ऋचा के एक-एक पद पर ध्यान दिया जाता है, तो बहुत रहस्यपूर्ण अर्थों की झलक हमारे सामने आती है। इसलिये प्रत्येक पद के सम्बन्ध में थोड़ा निर्देश

करना उपयुक्त होगा।

'दक्ष' पद पुरुष अर्थात् चेतनतत्त्व का द्योतक है। ऐतरेय ब्राह्मण [१।१३] में ऋतुं दक्षं वरुण संशिशाधि' [ऋ० ८।४२।३] मन्त्र की प्रतीक देकर लिखा है—'इति वीर्यं प्रज्ञानं वरुण संशिशाधीति'। इससे स्पष्ट होता है, उक्त ब्राह्मण में 'दक्ष' पदका 'प्रज्ञान' अर्थ किया गया है। 'प्रज्ञान' और 'चेतन' एक अर्थ को कहने वाले दो पद हैं। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता [२।५।२।४] और जैमिनीय ब्राह्मण [१।१५१] में 'प्राण' को 'दक्ष' कहा है। 'प्राण' चैतन्य की प्रतीक हैं, यह सदा अनुभव किया जाता है। चेतना के विना शरीर में प्राण की स्थिति संभव नहीं। इससे उक्त प्रसंग में 'दक्ष' पद द्वारा चेतनतत्त्व पुरुष का निर्देश किया जाना प्रमाणित होता है।

**अदिति सर्वजगद्रूपा है**—मन्त्र में 'अदिति' पद 'प्रकृति' का बोधक है। निघण्टु [४।१] की व्याख्या में देवराजयज्वा लिखता है–अदितिः···आत्मपक्षे प्रकृतिः।' निरुक्त [४।२२,२३] की व्याख्या करते हुए स्कन्दस्वामी ने लिखा है–अदितिः··· अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः।' तथा 'अध्यात्ममपि अदितिः प्रकृतिः कारणं ब्रह्म'। इन स्थलों में 'अदिति' पद का अर्थ–मूल उपादानकारण–प्रकृति किया गया है। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद[1] [१।८९।१०] के एक मन्त्र में वर्णन आता है–द्युलोक, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, सम्पूर्ण देव [दिव्य शक्तियों से युक्त पदार्थ], सम्पूर्ण प्रजा, और जो कुछ उत्पन्न होचुका है, तथा आगे उत्पन्न होने को है, वह सब 'अदिति' है, अथवा उसका रूप है। यह अदितिसम्बन्धी दृश्यादृश्यजगद्रूपता का वर्णन उसके 'प्रकृति' होने को स्पष्ट सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण[2] [१।४१।७] का सन्दर्भ इस विषय में द्रष्टव्य है।

वहां स्पष्ट वर्णन है, कि ये सम्पूर्ण देव और प्राणियों के समुदाय, अदिति हैं। आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत् अथवा अन्तरिक्ष में [अन्तः–सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से जो व्याप्त हो रहा है, सब स्थलों में] यह एक चेतन सत्ता है, और जो उसका शरीर है, वह यह अदिति है। तात्पर्य यह है, कि विश्व ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त, तथा सबका नियन्त्रण करने वाली एक चेतन सत्ता [परमात्मा] है। दूसरी, जिस पर नियन्त्रण किया जाता है, तथा सम्पूर्ण संसार जिसका विकार है, वह अदिति अर्थात् प्रकृति है। इस-प्रकार अनादिकाल से मूलरूप में दो प्रकार की सत्ताओं [चेतन-अचेतन] का अस्तित्व वेद के आधार पर स्पष्ट होता है।

---

१—अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

२—'विश्वे देवा अदितिः पञ्चजनाः' [ऋ० १।८९।१०] इति ये देवा असुरेभ्यः पूर्वं पञ्चजना आसन्, य एवासावादित्ये पुरुषो यश्चन्द्रमसि यो विद्युति योऽप्सु योऽयमन्तरिक्षन्नन्तरेष एव ते। तदेषा [अदितिः] एव।

यजुर्वेद [२९।६०] में 'अदित्यै विष्णुपत्न्यै' पद आते हैं। यहां अदिति को विष्णु अर्थात् परमात्मा की[1] पत्नी के रूप में उल्लेख किया गया है, जो अदिति के प्रकृति होने को सिद्ध करता है। अदिति को सर्वरूप बताना भी उस के 'प्रकृति' होने का साधक है। ऐतरेय आरण्यक [३।१।६] में लिखा है—'अदितिर्हीदं सर्वं यदिदं किञ्च'। यह सब, जो कुछ व्यक्त [दृश्य-अदृश्य] जगत् है, सब अदिति है। अर्थात् यह सब उसीका विकार है।

सांख्यशास्त्र में प्रकृति को 'अव्यक्त' कहा है। अदिति का भी इस रूप में उल्लेख किया गया है। मैत्रायणीसंहिता [३।१३।१०] में लिखा है—'अविज्ञाता अदित्यै'। अदिति के लिये 'अविज्ञात' रूप का निर्देश किये जाने से उसके अव्यक्त और जड़रूप होने पर प्रकाश पड़ता है। इससे प्रतीत होता है, कि 'अदिति' पद का प्रयोग, वैदिक साहित्य में उस मूलतत्त्व के लिये किया गया है, जिसका, सांख्य में 'प्रकृति' पद से उल्लेख हुआ है।

इस अदिति नामक प्रकृति से आदिसर्ग में जब जगत् का उत्पादन होने लगता है; तब यह, राजा मित्र और वरुण की परिचर्या करती है, 'राजाना मित्रावरुणा विवाससि'। इन शब्दों के द्वारा एक रहस्यपूर्ण अर्थ का निर्देश हुआ है, तथा बहुत रोचक भाषा में। वह शक्तिशाली मित्र और वरुण, वस्तुतः प्रकृति की अनादि मूलस्थिति है। इस अखिल ब्रह्माण्ड के वे अन्तिम मूलकण-मित्र और वरुण—हैं। समष्टिरूप प्रकृति के उन मूलकणों से यह जगत् बना है। उनको आधुनिक वैज्ञानिक 'इलैक्ट्रॉन्' 'प्रोटोन्' अथवा 'पॉज़िटिव्' तथा 'नेगेटिव्' विद्युत्कण या विद्युत्तरंग कहते हैं। वेद में इनको मित्र-वरुण, अग्नि-सोम, अथवा 'अश्विनौ' आदि पदों से कहा गया है[2]। इन मूलकणों में परमात्मा की नैसर्गिक प्रेरणा से सर्गोन्मुखता की ओर जो प्रवृत्ति होती है, उसीका समष्टि प्रकृति के द्वारा, मित्रवरुण की परिचर्या के रूप में उल्लेख किया गया है; क्योंकि इस स्थिति के विना, जगद्रचना होना असंभव है। इसप्रकार ऋचा के द्वितीय चरण में विश्व पहेली के एक मूलभूत रहस्य का बड़ी सरलता से उद्घाटन हुआ है।

---

१—पुरुष [परमात्मा] और प्रकृति का, नर-नारी रूप में वर्णन, अनेक स्थलों में आता है [ब्रह्मपुराण, १।५२।। मनु० १।३२ ।। बृहदा० १।४।३]। यह औपचारिक समझना चाहिये। वस्तुतः अर्थ के वर्णन करने का यह एक प्रकारमात्र है। क्योंकि केवल चेतन अथवा केवल अचेतन से जगत्सर्ग-क्रम चल नहीं सकता। अतः दोनों के सहयोग में पूर्णता की भावना से उनमें एकता की कल्पना कर ली गई है। इसलिये मूलरूप से वह एक, फिर आधा-आधा होजाता है, ऐसा नहीं। प्रत्युत मूलरूप से दोनों भिन्न सत्ताएं, पारस्परिक अनुप्रेक्षणीय सहयोग के कारण पूर्णता के एक रूप में कल्पना करली जाती हैं। उक्त वर्णन इसी प्रकार के हैं।

२—मूलतत्त्वविषयक विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के प्रकृति तथा विकार नामक प्रकरणों में किया गया है।

**जगत्सर्ग में जीवात्मा का स्थान**—अदिति के द्वारा जब जगत्सर्ग होजाता है, तब एक चेतन [जीव-पुरुष] इसमें आ बैठता है। एक चेतन से हमारा अभिप्राय किसी एक व्यक्तिविशेष चेतन से नहीं है, और न ऐसा अभिप्राय शास्त्रकारों का है। यह एक चेतन-वर्ग है, जिसके लिये वस्तुतः यह जगत्सर्ग होता है; और जब जगत्सर्ग होता है, तब अवश्य वह उसमें आयेगा, क्योंकि उसी के लिये यह है। इसमें 'क्यों' का प्रश्न किया जाना संगत नहीं। कारण, कि यह क्रम अनादि है। इसका किसी विशेषकाल में प्रारम्भ होना संभव नहीं कहा जासकता[१]। इसप्रकार जगत्सर्ग होने पर वह चेतन इसमें प्रविष्ट होता, और इसका उपयोग करने लगता है, इसी में जगत्सर्ग की सफलता समझी जासकती है। एक चेतन इस जगत् की रचना करता है, और अन्य चेतन-वर्ग उसका उपयोग अथवा उपभोग करता है। इस क्रम का न कहीं आदि है, न अन्त। यह अपनी स्थिर-गति से इसी मार्ग पर चलता चला जाता है [–अतूर्तपन्थाः]। अनेक सुख दुःखों को भोगता है [पुरुरथः]। अनेक संघर्षों का सहन करता है [–अर्यमा]। जीव-चेतन की इन्हीं तीन प्रकार की स्थितियों को ऋचा के तृतीय चरण में तीन पदों के द्वारा प्रकट किया गया है।

जीव-चेतन की यह स्थिति सर्गकाल में संभव हो सकती है, असर्गकाल [प्रलय-काल] में नहीं। प्रकृति की वह अवस्था 'साम्यावस्था' कही जाती है। वह उसकी मूल स्थिति है। उस काल में जीव-चेतन प्रसुप्तवत् रहते हैं। इसलिये प्रलय की अवस्था को छोड़कर, जीव-चेतन की सर्गकालिक स्थिति का यहां मुख्यतया वर्णन किया गया है। इसप्रकार प्रकृति की विषम अवस्था में जीव-चेतन, शरीरों के साथ सम्बद्ध होकर, जन्म-मरण आदि के अनिश आवर्त्तमान चक्र पर आरूढ़ होता है। उस अवस्था में चेतन के कार्य-सम्पादनार्थ 'सात होता' सदा उसके साथ रहते हैं। ये 'सप्त होता' सांख्य में, सात प्रकृति-विकृति के रूप में वर्णन किये गये हैं। ये हैं—बुद्धि, अहकार और पांच तन्मात्र। यद्यपि सांख्यसिद्धान्त के अनुसार इन सात के साथ ग्यारह इन्द्रियां [पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, तथा मन] सम्मिलित रहती हैं। इसप्रकार अठारह तत्त्वों के सूक्ष्मशरीर में रहता हुआ जीव-चेतन संसार में संचरण करता है, पर संभवतः ग्यारह इन्द्रियों के, अहंकार का कार्यमात्र होने के कारण उनका पृथक् निर्देश न होकर, मुख्य सात का हुआ है। ये 'सात होता' ऋचा के तृतीय चरण में बताई गई जीव-चेतन की स्थिति के लिये साधन-भूत तथा उत्तरदायी हैं। इसी अर्थ को ऋचा के चतुर्थ चरण में स्पष्ट किया है। प्रतीत होता है, उक्त ऋचा के आधार पर, सांख्य के मूल सिद्धान्तों को उभार लिया गया है।

**ऋग्वेद का एक सूक्त**—इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल का ७२वां सूक्त इस सम्बन्ध में अत्यन्त विचारणीय है। उसका साधारण पदार्थ इसप्रकार है—

१. जगत्सर्ग के क्रम की अनादि अनन्तता का विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के 'पुरुष' नामक प्रकरण में किया गया है।

(१)—[विपन्यया] स्पष्टवाणी के द्वारा, [देवानां] देवों के [जाना] जन्म का [वयं नु प्रवोचाम] हमारे द्वारा कथन किया जाता है। [यः] जो देव समुदाय, [उक्थेषु शस्यमानेषु] वर्णन किये जानेपर, [उत्तरे युगे] उत्तरोत्तर काल में अर्थात् सदा उसी तरह [पश्यात्] दीखता है।

(२)—[देवानां] देवों के [पूर्व्ये युगे] आदिसर्गकाल में, [ब्रह्मणस्पतिः] परमात्मा ने [एता] इनकी उसीप्रकार [समधमत्] रचना की, [कर्मार इव] जिस प्रकार कोई शिल्पी वस्तुओं को बनाता है। उस समय सब जगत् [असतः] अव्यक्त अवस्था से [सत्] व्यक्त अवस्था में [अजायत] आजाता है।

(३)—[देवानां युगे प्रथमे] जब देवों के आदिसर्गकाल में सम्पूर्ण जगत्, [असतः] अव्यक्त अवस्था अर्थात् प्रकृति की साम्यावस्था से [सत्] व्यक्त अवस्था अर्थात् कार्यरूप विषम अवस्था में [अजायत] आजाता है, [तदा] तब [आशा] दिशाएं [अन्वजायन्त] चारों ओर स्पष्ट प्रतीत होने लगती हैं। [तत् परि] और उसके अनन्तर संसार में [उत्तानपदः] वानस्पत्य प्राणी का प्रादुर्भाव होता है।

(४)—[भूः] पृथ्वी [उत्तानपदः] वनस्पतियों को [जज्ञे] प्रकट करती है, [भुवः] पृथ्वी से [आशाः] दिशाऐं [अजायन्त] सब ओर को स्पष्ट प्रतीत होने लगती हैं। [उ परि] इसप्रकार [अदितेः] अचेतन प्रकृति से [दक्षः] चेतन अन्य देहधारी प्राणी तथा [दक्षात्] चेतन से [अदितिः] अचेतन [अजायत] प्रकाश में आते हैं।

(५)—[दक्ष] हे चेतन ! [हि या] जब वह [तव] तेरी अथवा तेरे लिये [दुहिता] दुही जाने वाली, [अदितिः] अदिति [अजनिष्ट] उत्पन्न होती है, [तां अनु] तब उस के अनन्तर [भद्रा] कल्याणकारी [अमृतबन्धवः] अमृतबन्धु [देवाः] देव प्राणी-वर्ग [अजायन्त] प्रकाश में आते हैं।

(६)—[यत्] जब [देवाः] देव, [अदः सलिले] उस अनन्त परिणामशील मूलकारण में [सुसंरब्धाः] पूर्णरूप से सर्गोन्मुख होकर [अतिष्ठत] स्थित होते हैं। तब [नृत्यतामिव] मानो नृत्य करते हुए से [वः] उनका [तीव्रः] अति वेगपूर्ण [रेणुः] एक एक कण [अत्र] यहां अखिल ब्रह्माण्ड में [अपायत] दूर दूर तक फैल जाता है।

(७)—[यतयः] अन्य शक्ति ये संयमित-नियन्त्रित [यद्देवाः] (अदिति से उत्पन्न) जो उन देवों ने [यथा] जैसे [भुवनानि] सम्पूर्ण भुवनों को [अपिन्वत] भर दिया। [अत्र समुद्रे] यहां अनन्त आकाश में [आ गूढम्] अलक्षित सूक्ष्मकण से लगाकर [आ सूर्यम्] सूर्यादि पर्यन्त महान लोक-लोकान्तर, [अजभर्तन] उन्हींके प्रतीकरूप भरे हैं।

(८)—[अदितेः] अदिति के [तन्वस्परि] अपने शरीर से [ये] जो [अष्टौ] आठ [पुत्रासः] पुत्र [जाताः] उत्पन्न हुए। उनमें से [सप्तभिः] सात पुत्रों के द्वारा वह [देवान्] दिव्य चेनन सत्ताओं को [उपप्रैत्] प्राप्त होती है ; अर्थात् दिव्य चेतन

सत्ताओं के साथ सम्बद्ध होती है, और [मार्ताण्डम्] शेष अष्टम पुत्ररूप–सम्पूर्ण महान तथा अनन्त नाशवान गोलों–को [परा आस्यत्] दूर तक फेंककर फैला देती है।

(९)—[पूर्व्यं युगम्] आदि सर्गकाल में [अदितिः] अदिति, [सप्तभिः पुत्रैः] सात पुत्रों के साथ [उपप्रैत्] आती है। [प्रजायै मृत्यवे] प्राणियों के जन्म और मरण के लिये। [त्वत् पुनः] और तब शेष [मार्ताण्डम्] सम्पूर्ण महान लोक लोकान्तरों को [आभरत्] वह भर देती है।

ऋग्वेद दशम मण्डल के ७२वें सूक्त की नौ ऋचाओं का शब्दार्थ ऊपर लिखा गया है। प्रथम ऋचा में, स्पष्ट शब्दों द्वारा देवसर्ग के वर्णन करने की भूमिका के अनन्तर बताया गया है, कि वे देव, आदिसर्ग में जिसप्रकार प्रकाश में आये, आज भी हम उनको उसी तरह देखसकते हैं। अर्थात् वेद में सृष्टिकाल की सार्वदिक स्थिति का यह वर्णन है। इस अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिये अदिति के पुत्रभूत उन आठ देवों के सम्बन्ध में जानलेना आवश्यक है, जिनका वर्णन इस सूक्त में किया गया है।

**अदिति के आठ पुत्र**—प्रकृतिरूप अदिति से सूक्त में जिन पुत्रों की उत्पत्ति का निर्देश है, उनकी संख्या आठ बताई है। इसका सामञ्जस्य सांख्यसिद्धान्तों के अनुसार अधिक स्पष्ट होता है। इससे अनुमान होता है, कि महर्षि कपिल ने ऐसे वैदिकवर्णनों के आधार पर अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की नींव रक्खी हो। आईये, इसपर विचार करें।

सांख्यसिद्धान्त के अनुसार प्रकृति से उत्पन्न होने वाले कुछ ऐसे तत्त्व बताये गये हैं, जो स्वयं प्रकृति का कार्य होते हुए तत्त्वान्तर का कारण होते हैं, ऐसे तत्त्वों की संख्या सात है। इनको वहां 'प्रकृति-विकृति' कहा गया है, क्योंकि इन सातों में, प्रकृतिगत प्रकृतित्वरूप विशेषता रहती है, इसलिये इनका पृथक् प्रकृति के सात पुत्रों के रूप में वर्णन किया गया है। इन सात के अतिरिक्त शेष जितना विश्व ब्रह्माण्ड है, वह सब विकारमात्र है, इसलिये उस सबका एक पुत्र के रूप में उल्लेख है। उसका नाम इसी सूक्त में 'मार्ताण्ड' बताया है। इस नाम से इस बात पर कुछ प्रकाश पड़ता है, कि अदिति का यह पुत्र, महान भौतिक अण्ड [-गोल] रूपों में विद्यमान है। इसमें पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा अनन्त तारागण आदि सभी आजाते हैं। इसप्रकार इन आठ पुत्रों के दो वर्ग होजाते हैं। एक वह, जो प्रकृति के समान, तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करता है; और दूसरा वह, जो तत्त्वान्तर को उत्पन्न नहीं करता। पहले में सात तत्त्वों [बुद्धि, अहंकार, पांच तन्मात्र] का समावेश है, और दूसरे में आठवें पुत्र के नाम पर सम्पूर्ण विकारमात्र का समावेश हो जाता है। इसके 'मार्ताण्ड' नाम से यह अर्थ ध्वनित होता है, कि ये सब गोल, मृत्यु के लिये रचना किये गये हैं। तात्पर्य यह है, कि ये अपनी स्थिति से किसी तत्त्वान्तर को उत्पन्न नहीं करते; जब कभी इनमें इसप्रकार का परिणाम होगा, वह इनकी मृत्यु होगी, अर्थात् वे इनके प्रलयकालीन परिणाम होंगे, जहां ये अपने वर्तमानरूप को छोड़कर तत्त्वान्तर की स्थिति में कहे जायेंगे। सर्गकाल में इनका कोई

ऐसा परिणाम नहीं, जिससे ये तत्त्वान्तर के उत्पादक हो सकें। यद्यपि अवान्तर परिणामों में तद्रूप कार्यान्तरों के निरन्तर होते रहने पर भी उक्त मन्तव्य में कोई बाधा नहीं आती।

**अदिति पुत्रों के दो वर्ग**—अदिति के इन आठ पुत्रों के उक्तरूप में वर्गीकरण का एक और कारण, सूक्त में निर्दिष्ट किया गया है। ८, ९ ऋचाओं में उसका स्पष्ट उल्लेख है। वहां लिखा है–अदिति प्रथम सात पुत्रों के द्वारा दिव्य चेतन-सत्ता [जीव-चेतन] के समीप पहुंचती है, और आठवें पुत्र को दूर अति दूर तक फेंक देती है। इस वर्णन के अनुसार हम देखते हैं, कि अदिति के प्रथम सात पुत्र सूक्ष्म एवं अदृश्य अवस्था में रहते हुए, जीव-चेतन के साथ सदा सम्बद्ध रहते हैं। इन तत्त्वों के द्वारा बने सूक्ष्मशरीर में जीवात्मा का निवास है, और उसी स्थिति में वह जन्म मरण आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता, तथा सर्वत्र संचरण करता है। इसको आध्यात्मिक सृष्टि कह दिया जाय, तो असंगत न होगा। कारण यह कि ये सातों पुत्र अपने सर्ग से लय तक सदा आत्मा के साथ साक्षात् सम्पर्क में रहते हैं। इसी बात को सूक्त में इन शब्दों के द्वारा प्रकट किया गया है, कि अदिति सात पुत्रों के द्वारा देवों [चेतन जीवात्माओं] के समीप पहुंचती है। इसप्रकार इन सात पुत्रों का एक ऐसा वर्ग मानलियागया है, जो जीव-चेतनों के अधिक समीप सम्पर्क में रहता है। इनके अतिरिक्त आठवां पुत्र अदिति का ऐसा है, जिसको उसने दूर-दूर तक फेंका या छिटकाया हुआ है, यह दूसरा वर्ग है, जो पहले वर्ग में नहीं आ-सकता। इसको हम आधिभौतिक सृष्टि कह सकते हैं। इसमें सम्पूर्ण दृश्यादृश्य जगत् का समावेश हो जाता है। इसप्रकार अदिति के आठ पुत्रों की स्थिति, दो वर्गों में स्पष्ट की जासकती है–अध्यात्म और अधिभूत।

तैत्तिरीय आरण्यक [प्रपा० १, अनु० ७] में आठ सूर्य अथवा आदित्यों का उल्लेख किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्टरूप से आदित्यों का सूर्यरूप में वर्णन प्राप्त होता है। बारह महीनों का एक संवत्सर प्रजापति, और वही सूर्य अथवा आदित्य है, इसप्रकार के वर्णन ब्राह्मण[1] ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ तथा अन्य वैदिक साहित्य[2] में, आठ आदित्यों का उल्लेख भी पर्याप्त है। उनका बारह महीनों से अथवा संवत्सर या उसके किसी भाग से स्पष्ट सम्बन्ध, प्रतीत नहीं होता। मूलवेदों में आठ आदित्यों का वर्णन, संवत्सर अथवा संवत्सर के किसी भाग से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता। परन्तु अनन्तर काल में उसको बारह आदित्यों का रूप दे दिया गया, जो

१—ऐतरेय ब्राह्मण, १।१।। ताण्ड्यमहाब्राह्मण, १०।१।७।। शतपथ ब्राह्मण १।३।५।१० ।।२।२।३।२७।। ५।४।५।२३ ।।८।४।१।२४ ।।१०।२।४।३।। १४।१।१।२७।। ११।६।३।८।।

२—शतपथ ब्राह्मण. ३।१।३।३।। ताण्ड्यमहाब्राह्मण, २४।१२।४-६।। तैत्तिरीय आरण्यक १।७।।

संवत्सर के बारह महीनों का रूप समझे जाते हैं[1]। तैत्तिरीय आरण्यक के प्रस्तुत प्रकरण में आदित्यों के जो आठ नाम दिये गये हैं, वे इस सम्बन्ध में, ब्राह्मण ग्रन्थों में दिये गये नामों से भिन्न हैं।[2] प्रथम सात आदित्यों के स्वरूप का निर्देश करते समय आरण्यक में अनेक आचार्यों के मतभेद का उल्लेख किया गया है। वहां का लेख है—

'प्राणो जीवानीन्द्रियजीवानि सप्त शीर्षण्याः प्राणाः सूर्या इत्याचार्याः'

इसका अन्वय सायणने इसप्रकार किया है–'प्राणाः सप्त सूर्याः' इत्याचार्याः। 'जीवानि सप्त सूर्याः' इत्याचार्याः। 'इन्द्रियजीवानि सप्त सूर्याः' इत्याचार्याः। 'शीर्षण्याः प्राणाः सप्त सूर्या इत्याचार्याः। सायण के विचार से यहां, सात आदित्यों के स्वरूप का निर्देश करने के लिये, अनेक आचार्यों के अनेक मतों का उल्लेख किया गया है। यहां दूसरे क्रम पर दिये हुए मत का सायणाचार्य ने इसप्रकार विवरण किया है—

> " 'जीवानि' जीवननिमित्तभूतानि, महदहङ्कारपञ्चतन्मात्ररूपाणि तत्त्वानि 'सप्त सूर्याः' 'इति' एवं, अन्ये 'आचार्याः' प्रचक्षते ।"

इससे स्पष्ट होता है, कि प्राचीन आचार्य, सांख्यमतानुसार सात प्रकृतिविकृतियों को अदिति [प्रकृति] से उत्पन्न होने के कारण 'सात आदित्य' समझते रहे हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक के प्रस्तुत प्रकरण में आठवें आदित्य का नाम 'कश्यप' लिखा है। अन्यत्र सम्पूर्ण व्यक्त जगत् को 'काश्यप' कहा गया है। 'काश्यप्य इमाः सर्वाः प्रजाः। इसमें सम्पूर्ण कार्यमात्र जगत् को 'कश्यप' कहे जाने की अन्तर्निहित भावना प्रतीत होती है, जिसको अन्यत्र 'मार्ताण्ड' पद से स्पष्ट किया गया है।

इन अदितिपुत्रों की स्थिति स्पष्ट होजाने पर, अब हम सूक्त-प्रतिपादित जगत्सर्ग को अधिक स्पष्टरूप में समझ सकेंगे। इसके लिये सूक्त की प्रत्येक ऋचा में कहे हुए अर्थों पर विचार करना चाहिये।

प्रथम ऋचा[3] में यह प्रतिज्ञा कीगई है, कि देव-सर्ग का स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया जाता है। आगे बताया है, कि आदिसर्गकाल में उत्पत्ति के अनन्तर देवों की जो स्थिति होती है, वह आगे के सम्पूर्ण सृष्टिकाल में वैसी बनी रहती है। अभिप्राय यह है, कि जब तक अगला प्रलयकाल न आवे, तब तक वर्तमान सम्पूर्ण सृष्टिकाल में वे देव वैसे ही बने रहते हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि न समझना चाहिये, कि उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन या परिणाम नहीं होता। वस्तुतः उनमें अनेक प्रकार के अवान्तर

---

१—तैत्तिरीय-ब्राह्मण, १।१।६।१।३॥ ताण्ड्यमहाब्राह्मण, २४।१२।४॥ विष्णु पुराण, २।१०।१-१८॥

२—आदित्यों के नामों अथवा उनके सम्बन्ध का विस्तारपूर्वक विवेचन, 'द्वादश आदित्य' नामक एक पृथक् ग्रन्थ में करने का हमारा विचार है।

३—देवानां नु वयं जाना प्रवोचाम विपन्यया ।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे॥

परिणाम होते रहते हैं, परन्तु उनकी [देवों की] अपनी मूलभूत स्थिति में उनका कोई उल्लेख्य प्रभाव नहीं होता, देवों का अपना सर्गकालीन स्थायीरूप बराबर बना रहता है। इसीलिए ऋचा के उत्तरार्द्ध में कहा गया है, कि उत्तर युगों में वे वैसे ही देखे जाते हैं, और उनके वर्णन भी उसी तरह के किये जाते हैं।

द्वितीय ऋचा[1] में आदिसर्ग का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। सम्पूर्ण महान दिव्यादिव्य लोकों के स्वामी-परमात्मा ने इन देवों की रचना की। परमात्मा ने देवों की उसी तरह रचना की, जिसप्रकार एक शिल्पी, किन्हीं वस्तुओं की रचना करता है। यह उपमा एक अर्थ को अत्यन्त स्पष्टरूप में उपस्थित करती है, और वह यह है, कि कोई शिल्पी, अन्य उपादानकारण से किसी वस्तु की रचना करता है; इसीप्रकार परमात्मा अन्य उपादानकारण से उन देवों की रचना करता है। सांख्यदृष्टि से इसी अर्थ को इसप्रकार कहा जासकता है, कि स्वयं चेतनसत्ता अचेतन जगद्रूप में परिणत नहीं होती; प्रत्युत वह, अन्य अचेतन उपादानकारण को प्रेरित कर उससे देवों की उत्पत्ति करती है। उसी अचेतन मूल-सत्ता को सूक्त में आगे 'अदिति' पद से बताया गया है। आगे सातवीं ऋचा में यह स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है, कि वे आठ पुत्र अदिति के शरीर से उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार यहां चेतन [परमात्म-चेतन] अधिष्ठाता और अचेतन उपादान का स्पष्ट ही भिन्नरूप में वर्णन है। द्वितीय ऋचा के पूर्वार्द्ध में इतने अर्थ का निर्देश कर उत्तरार्द्ध में बताया गया है, कि देवों के पूर्व्य युग में अर्थात् देवों के आदिसर्गकाल में 'असत् से सत्' होता है। अभिप्राय यह है, कि जब अधिष्ठाता परमात्मा की प्रेरणा से प्रकृति में विक्षोभ होकर वह साम्यावस्था से विषम अवस्था में आजाती है, उस समय वह अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में होजाती है, इसी अर्थ को ऋचा में 'असत् से सत् होजाना' कहा गया है। प्रकृति का स्वरूप अव्यक्त बताया गया है, उसका कार्यरूप परिणाम व्यक्त होता है।

तृतीय ऋचा[2] में जगद्रचना की पूर्णता का निर्देश है। जगत् में प्राणी के अवतीर्ण होजाने पर जगत् की रचना पूर्ण समझी जानी चाहिये। प्रस्तुत ऋचा में इसी अर्थ का स्पष्ट उल्लेख है। वहां लिखा है, जब देवों के आदिसर्गकाल में, असत् से सत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त कार्यरूप जगत् उत्पन्न होजाता है; तब सम्पूर्ण दिशाएं प्रकाश में आती हैं; और इस जगत् में प्राणी-सृष्टि का अवतार होता है। अभिप्राय यह है, कि सर्गकाल से पूर्व प्रलयावस्था में सब कुछ तमोमय अर्थात् प्रकृतिरूप में अवस्थित रहता है। उस स्थिति का वर्णन हम इसी रूप में कर सकते हैं, कि उस समय

---

१—ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत॥

२—देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥

न पृथ्वी है न सूर्य, न दिशाएं न लोक-लोकान्तर; सब कुछ अन्धकार से पूर्ण रहता है। परन्तु सर्गकाल के अनन्तर वह स्थिति नहीं रहती। परमात्मा की प्रेरणा से मूल उपादान प्रकृति में क्षोभ होकर उससे पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा आदि अखिल लोक लोकान्तरों की रचना होजाती है। तब प्रत्येक पदार्थ अपनी स्थिति में पृथक् प्रतीत होने लगता है; और सब दिशाएं स्पष्ट तथा व्यवहार्य होजाती हैं। उसके अनन्तर पृथ्वी पर प्राणी-जगत् की रचना होती है। सर्वप्रथम वनस्पति-प्राणी का प्रादुर्भाव होता है [ऋ० १०।९७]। यह सब पृथिव्यादि भौतिकरचना के अनन्तर होपाता है। इसी अर्थ को ऋचा के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट किया है।

इन तीन ऋचाओं में संक्षेप से उद्देश्यरूप में जगत् सर्ग का निर्देश है। सूक्त की शेष ऋचाओं में इसी अर्थ का स्पष्टीकरण है। उन विवरणों के साथ इन अर्थों का सन्तुलन करने पर ये अधिक स्पष्टरूप में समझे जासकते हैं।

इसीके अनुसार चतुर्थ ऋचा[1] में अन्य प्राणी-जगत् की रचना का संकेत करते हुए, चेतन और अचेतन के सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। वहां बताया है, कि जब पृथिवी पर प्राणियों की सृष्टि होजाती है, और पृथिव्यादि लोकों के आधार पर सब दिशाएं प्रकट होजाती हैं; तब हम इस बात को अच्छी तरह समझ पाते हैं, कि किसप्रकार चेतन से अचेतन और अचेतन से चेतन प्रकाश में आते हैं।

चेतन और अचेतन दोनों प्रकार की सत्ता सदा स्वतन्त्ररूप में विद्यमान रहती हैं, परन्तु प्रलयावस्था में किसीप्रकार का व्यवहार न होने के कारण इनके सम्बन्ध में यह कहा जासकता है, कि उस समय ये अप्रकाशित या अव्यवहार्य अवस्था में हैं। वस्तुस्थिति यह है, कि अचेतन अर्थात् जड़ प्रकृति, कार्य जगत् के उपादानकारणरूप से प्रयोग में आती है। चेतनवर्ग में से सर्वशक्तिमान् परमात्म-चेतन, जगत् के सृष्टि स्थिति प्रलय आदि करने में उपयोगी है। चेतनवर्ग में से जीव-चेतन एक ऐसा वर्ग है, जो प्रकृति में डूबता उतराता, सदा इसको भोगता है। यह सब व्यवहार सर्गकाल में संभव है, भले ही चेतन अपनी सत्ता के कारण सदा प्रकाशमय हो। इसलिये जीव-चेतन अपना प्रत्येक कार्य, प्रकृति के साथ सम्पर्क में आने पर कर सकता है। इसी स्थिति में यह परमात्म-चेतन को समझता तथा प्राप्त करता है। ऐसी दशा में यह कथन सर्वथा सामञ्जस्यपूर्ण है, कि अचेतन के द्वारा चेतन प्रकाश में आता है। इसीप्रकार अचेतन प्रकृति स्वयं अपनी सत्ता से कुछ कर नहीं सकती। चेतन की प्रेरणा के विना उसमें कोई क्रिया या क्षोभ असम्भव है, तथा चेतन-भोक्ता के विना उसका अस्तित्व और सर्ग सब कुछ व्यर्थ है। इसलिये यह कहना भी सर्वथा सामञ्जस्य-पूर्ण है, कि चेतन के द्वारा अचेतन प्रकाश में आता है। चेतन और अचेतन की यह अनादि अनिवार्य स्थिति,

---

१—भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥

तथा पारस्परिक सम्बन्ध सदा अटूट हैं। परमात्म-चेतन सदा सृष्टि स्थिति प्रलय का कर्त्ता है, जीव-चेतन सदा प्रकृति को भोगता है, और मूल उपादान प्रकृति, कार्यरूप में परिणत हो जीवात्मा के भोगापवर्ग का साधन बनती है। संसार का यह अनादि अनन्त क्रम है। इसप्रकार चेतन से अचेतन और अचेतन से चेतन के प्रकाश में आने का कथन सर्वथा स्वाभाविक है। इसी अर्थ को चतुर्थ ऋचा में इन शब्दों के द्वारा स्पष्ट किया कि अदिति से दक्ष, और दक्ष से अदिति प्रकाश में आते हैं।

दक्ष-चेतन, तथा अदिति-अचेतन प्रकृति है, इसका निर्देश प्रथम किया जाचुका है। प्रतीत होता है, प्रकृति के 'अदिति' नामकरण में एक यह भावना भी है, कि वह भोगी जाती है 'अद्यते इति अदितिः।' भक्षणार्थक 'अद्' धातु से इस पद का निर्वचन किया जासकता है। वस्तुतः प्रकृति का यह मुख्य स्वरूप है, जो उसके 'अदिति' नाम का आधार है। नित्य रहते हुए असीम ऐश्वर्यों को प्रस्तुत करने की भावना इसमें अन्तर्निहित है।

दक्ष [चेतन] और अदिति [अचेतन] के इसी पारस्परिक सम्बन्ध की भावना के आधार पर पांचवीं ऋचा[1] में बताया, कि अदिति दक्ष की दुहिता है, अदिति [अचेतन प्रकृति] दक्ष [चेतन-परमात्म-चेतन] की प्रेरणा के विना कुछ करने में असमर्थ होती है; इसलिये अदिति को दक्ष की दुहिता कहा है। परमात्म-चेतन की प्रेरणा से अदिति [प्रकृति] में होने वाले प्रभाव [विक्षोभ आदि] को अदिति-जन्म का नाम दिया गया। वस्तुतः अदिति अजन्मा है। जीवात्म-चेतन के लिये यह अपने शरीर से समस्त ऐश्वर्य व भोगों को दुहती अर्थात् प्रदान करती है, इस भावना से भी यह दक्ष की दुहिता समझनी चाहिये। इसप्रकार दक्ष की दुहिता उस अदिति ने देवों को पैदा किया, जो भद्र और अमृतबन्धु हैं।

इन दो विशेषणों से देवों के स्वरूप को स्पष्ट किया, ये भद्र, कल्याणकारी हैं। अदिति के पुत्र [बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्र] जीव-चेतन के लिये प्रत्येक भोग को उपस्थित कर, सदा उसका कल्याण करते हैं। इसीलिये ये 'अमृतबन्धु' हैं। अमृत अर्थात् अविनाशी जीव-चेतन के ये बन्धु हैं। इनको बन्धु, दोनों भावनाओं के आधार पर कहना उपयुक्त है, बांधने के कारण तथा सहयोगी होने के कारण।

जीव-चेतन की संसारी-स्थिति बन्धन की अवस्था समझी जाती है। बुद्धि आदि के साथ सम्बन्ध इस बन्धन का कारण है [सांख्यसूत्र १।१९]। इसलिये इनको अमृत का बन्धु कहना सर्वथा उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त ये अमृत [जीव-चेतन] के अद्वितीय सहयोगी हैं। आदिसर्गकाल से जीव-चेतन के साथ बुद्धि आदि का सम्बन्ध होजाता है। यह सिद्ध है, जीव-चेतन सूक्ष्मशरीर से सम्बद्ध हुआ जन्ममरणादिरूप में संसरण करता है, यह

---

१—अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः॥

क्रम लगातार उस समय तक चलता रहता है, जब तक जीव-चेतन की मुक्तिअवस्था न आजाय; अथवा अगला महाप्रलयकाल उपस्थित न होजाय। सर्गादिकाल से जीव-चेतन जिन बुद्धि आदि तत्त्वों [अदिति पुत्रों] के साथ सम्बद्ध होता है, वे उक्त अवस्थाओं तक बराबर उसके साथ रहते हैं, इतना अच्छा सहयोगी जीव-चेतन का और कौन मिल सकेगा। इसलिये इन देवों को 'अमृतबन्धु' बहुत उपयुक्त विशेषण दिया गया है।

छठी ऋचा[1] में आदि सर्गकाल की उस स्थिति का स्पष्ट वर्णन है, जब परमात्म-चेतन की प्रेरणा से प्रकृति [अदिति] का प्रत्येक कण विक्षुब्ध होकर सर्गोन्मुखता के लिये तत्पर रहता है। वहां लिखा है—जब देव, उस दूर तक विस्तृत आकाश में पूर्णरूप से सर्गोन्मुख होकर अवस्थित होते हैं, तब मानों नृत्य करता हुआ सा उनका अतिवेगयुक्त प्रत्येक कण, दूर-दूर तक फैल जाता है।

प्रकृति जब कारण अवस्था में रहती है, उसको प्रलय कहाजाता है। यद्यपि प्रकृति का प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण उस समय भी परिणत होता रहता है, परन्तु वह परिणाम सम होने के कारण कोई विशेषता नहीं रखता। जब सर्ग का प्रारम्भ होने लगता है, उस समय चेतन की प्रेरणा से विक्षुब्ध प्रकृति-कण, विषमता की ओर परिणत होने के लिये उन्मुख होजाते हैं। अभी प्रकृति की वह अवस्था कारणरूप है। मूलकारण की उसी अवस्था का इस ऋचा में निर्देश है। सांख्य के व्याख्या[2] ग्रन्थों में, प्रकृति से महत्तत्त्व [बुद्धि] की उत्पत्ति के पूर्व, जो एक अनिर्देश्यस्वरूप स्थिति का उल्लेख आता है, वह प्रकृति की इसी अवस्था का द्योतक है। अभी यह कारणात्मक अवस्था रहती है, प्रकृति का प्रथम कार्य महत्तत्त्व है। वेद की इस ऋचा में अदिति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण के लिये 'रेणु' पद का प्रयोग हुआ है; जो उस मूलकारण की स्थिति को प्रकट करता है।

मूलतत्त्वों की स्थिति को कपिल ने सत्त्व रजस् तमस् पदों द्वारा प्रकट किया है, जो अनन्त अव्यक्त शक्तिकणों अथवा तरंगों के रूप में समझे गये हैं। इन तत्त्वों की सर्गोन्मुखप्रवृत्ति की अवस्था को प्रकट करने के लिये ऋचा में 'नृत्य' पद का प्रयोग है, जो तत्त्वों की तात्कालिक अन्योन्यमिथुनवृत्तिता की ओर संकेत करता है, जब एक वर्त्तुलाकार परिधि में रजस् तत्त्व सत्त्व के चारों ओर तीव्रगति से परिक्रमा करता हुआ अतिसूक्ष्म अणु के रूप में परिस्फुटित होता है। उस स्थिति को तत्त्वों द्वारा नृत्य करते हुए जैसा बताना वास्तविकता पर पूर्ण प्रकाश डालता है। आधुनिक विज्ञान ने परीक्षणों द्वारा सर्गोन्मुखकालिक तत्त्वस्थिति को इसी रूप में पहचानने की सफल प्रगति की है।

---

१—यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत॥

२—'केचिदाहुः—प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते ततो महानिति'। युक्तिदीपिका [सांख्यकारिका व्याख्या], पृ० १०८, पं० २–३॥ कलकत्ता संस्करण [२२ कारिका की अवतरणिका में]

वेद एवं अन्य वैदिक साहित्य में सत्त्व रजस् आदि मूलतत्त्वों का वर्णन अग्नि-सोम, मित्र-वरुण तथा 'अश्विनौ' आदि के रूप में पाया जाता है। इसप्रकार के वैदिक वर्णन बड़े रहस्यपूर्ण हैं, उनको यथार्थरूप में समझने का गम्भीर प्रयत्न अपेक्षित है।

सातवीं ऋचा[1] अदिति के परिणामरूप कार्यों का स्पष्ट निर्देश करती है—तब देवों ने सम्पूर्ण भुवनों को भर दिया। वे देव यति हैं; उनका नियन्त्रण किसी महान शक्तिसम्पन्न सत्ता के द्वारा किया जाता है। उनका सब कार्य किसी एक व्यवस्था के अनुसार है, अनन्त आकाश में सूर्यादि लोक-लोकान्तर उन्हींके प्रतीकस्वरूप हैं। ऋचा में 'सूर्य' पद सभी गोलों का उपलक्षण है। सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण आदि जितने लोक-लोकान्तर अनन्त आकाश में यथाकथञ्चित् हम दृष्टिगोचर करसकते हैं; ये सब अभी तक छिपे हुए थे, गूढ़ थे, अपने कारण में लीन थे, उनकी यह अतिसूक्ष्म अवस्था थी। अब उन मूलकारणों से पुनः ये कार्यरूप में परिणत होकर पृथ्वी, सूर्य चन्द्रादि-रूप में दृष्टिगोचर होने लगे हैं, अव्यक्त से व्यक्त अवस्था में आ गये हैं।

आठवीं ऋचा[2] के द्वारा, व्यक्त अवस्था को प्राप्त उन देवों की गणना कर दी गई है; तथा उनकी भिन्न भिन्न स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। ऋचा बताती है—इस प्रकार अपने शरीर से अदिति ने आठ पुत्रों को उत्पन्न किया। उनमें से सात के द्वारा वह दिव्य चेतनों के समीप पहुँची, तथा आठवें मार्ताण्ड को दूर तक फेंक दिया, छिटका दिया। स्पष्ट है, 'मार्ताण्ड' में सम्पूर्ण विकार जगत् का समावेश है। महर्षि कपिल ने अपनी शास्त्र-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिये विकारजगत् का अध्यात्म-अधिभूत के रूप में विश्लेषण किया है। यहां समस्त करणों का आध्यात्मिक सृष्टि में समावेश है, तथा भूत-भौतिक सम्पूर्ण जगत्, आधिभौतिक सृष्टि है। इस भौतिक जगत् का समावेश 'मार्ताण्ड' में होता है। इसप्रकार महर्षि कपिल के द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण तत्त्वों का आधार, इस सूक्त का प्रतिपाद्य विषय, कहा जासकता है।

सूक्त की अन्तिम नवम ऋचा[3] में, सम्पूर्ण सूक्त के प्रतिपाद्य अर्थ का निगमन है। वहां बताया—आदिसर्गकाल में अदिति अपने सात पुत्रों के साथ [जीव-चेतनों के] जन्म और मरण के लिये प्राप्त होती है। सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों की रचना कर सबका पोषण करती है। यह वर्णन सांख्यसिद्धान्त के अनुसार सर्वथा स्पष्ट है, कि जीव-चेतन के जन्म-मरण तथा भोग आदि में अदिति के सात पुत्र आधारभूत तत्त्व हैं। संभव है,

१—यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूढमासूर्यमजभर्तन ॥

२—अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि।
देवाँ उपप्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् ॥

३—सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत् पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥

कपिल ने ऐसे ही वैदिक वर्णनों के आधार पर उन विचारों को दर्शन का रूप दिया।

इसप्रकार उक्त सूक्त में प्रतिपादित जगत्सर्ग के वर्णन से यह स्पष्ट होता है, कि वेद के इन प्रसंगों में 'अदिति' पद का प्रयोग प्रकृति के लिये तथा 'दक्ष' पद का चेतन के लिये हुआ है। यहां चेतन और प्रकृति दोनों का सर्वथा पृथक् निर्देश है, तथा जगत्स्रष्टा एवं भोक्ता के रूप में चेतन की भिन्न स्थिति स्पष्ट है। सूक्त के इस प्रसंग से ऋग्वेद [१।१६४।२०] की उस ऋचा[1] का स्मरण होआता है, जहां आलंकारिकरूप में इसी अर्थ को बड़े स्पष्ट शब्दों में बताया है, कि एक ही वृक्ष पर दो पक्षी सुशोभित हैं, जिनमें से एक उसको भोगता, और दूसरा न भोगता हुआ रहता, तथा उस पर अपना नियन्त्रण रखता है।

**वेद में 'स्वधा' पद प्रकृति का वाचक**—जगत् के मूल कारण प्रकृतितत्त्व के अर्थ में 'अदिति' पद के समान, वेद में एक और पद 'स्वधा' का प्रयोग देखा जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं, कि सांख्य के 'प्रकृति' पद को देखकर, उसके स्थान में वेद 'अदिति' या 'स्वधा' पद का प्रयोग करता है; प्रत्युत वेद में जगत् के मूल उपादानरूप जिस तत्त्व को 'अदिति' अथवा 'स्वधा' आदि पदों से वर्णन किया है; सांख्य में उसी तत्त्व का नाम 'प्रकृति' अथवा 'प्रधान' है। फलतः सांख्य की इस स्थापना को वेदमूलक कहा जासकता है। 'अदिति' सम्बन्धी कुछ निर्देश किये जाचुके हैं। वेद के जिन प्रसंगों में 'स्वधा' पद के द्वारा मूलकारण का निर्देश किया गया है, उनमें नासदीयसूक्त [ऋ०-१०।१२९] मुख्य है। उसका निर्देश करना उपयुक्त होगा।

**नासदीय सूक्त की व्याख्या**—प्रथम तीन ऋचाओं में प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन है। वहां लिखा है—[तदानीं] सगकाल से पूर्व, प्रलय अवस्था में सब कुछ [असत् आसीत्] 'असत्' था, [न] यह बात नहीं है! [सत्] उस समय 'सत्' [नो] नहीं [आसीत्] था, क्योंकि [रजः] ये दृश्यमान लोक-लोकान्तर, और [यत्] जो उनसे [परो व्योमा] परे व्यवहार्य आकाश [नो] न था। [किम् आवरीवः] कहीं कोई आवरण करने वाला नहीं था [कुह कस्य शर्मन्] यह सब कहां किसके भोग के लिये किया जाय? जब उस समय कोई भोक्ता नहीं था। जब लोक लोकान्तर, भोक्ता, भोक्ता के आवरक तत्त्व, और पृथिव्यादि भूत न थे, तब [गहनं] गहरा [गभीरं] गंभीर [अम्भः] समुद्र [किम्] कैसे [आसीत्] होसकता था?

यह पहली ऋचा[2] का शब्दार्थ है। प्रलय अवस्था में सब कुछ शश-शृंग के समान अत्यन्त अभावरूप होजाता है, यह बात नहीं है। उसकी कुछ सत्ता अवश्य रहती है।

---

१—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

२—नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥

परन्तु वह ऐसी सत्ता नहीं रहती, जैसी सर्गकाल में सदा देखी जाती है। इसलिये सर्ग-काल-सदृश सत्ता का, उस समय में न होना, स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है। जब ऋचा में यह कहा है, कि उस समय 'सत्' नहीं था; तब वह कैसा 'सत्' नहीं था ? इसी का विवरण आगे के पदों से किया गया है। अर्थात् सर्गकाल के लोक-लोकान्तर, दूर तक फैला हुआ व्यवहार्य आकाश, भोक्ता आत्मा, उसके आवरक बुद्धि देह आदि, गंभीर समुद्र और पृथिव्यादि सब कुछ उस समय में न थे; यह सब 'नो सत् आसीत्' का व्याख्यान है। अर्थात् प्रलयकाल में पदार्थों की, सर्गकाल जैसी सत्ता न थी। अभिप्राय यह है कि ऋचा में 'सत्' पद, व्यक्त जगत् के लिये प्रयुक्त हुआ है। चौथी ऋचा में 'सत्' पद का प्रयोग 'व्यक्त' के लिये किया गया है। इसलिये जो व्याख्याकार, यहां 'असत्' और 'सत्' का निषेध किये जाने से आपाततः सदसद्विलक्षण तत्त्व की खोज करना चाहते हैं, वह व्यर्थ है। क्योंकि ऐसी व्याख्या, स्वतः ऋचाओं के पूर्वापर प्रसंग से विरुद्ध है।

द्वितीय ऋचा[1] में इसी प्रसंग को प्रवृत्त रखते हुए, अन्त में बताया गया है, कि उस समय किस प्रकार की सत्ता थी। वहां लिखा है—[तर्हि] उस समय [मृत्युः] मृत्यु [नासीत्] नहीं थी, [अमृतं] अमृत [न] नहीं था, [रात्र्याः] रात्रि और [अह्नः] दिन का [प्रकेतः] चिह्न कोई [न आसीत्] न था। [एकं स्वधया] केवल स्वधा के साथ एक [अवातं] निर्दोष चेतनसत्ता [आनीत्] अवस्थित थी [तस्मात्] उससे [परः] उत्कृष्ट [अन्यत् ह] और [न किञ्चन] कोई नहीं [आस] है, अर्थात् वह सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता है।

यह दूसरी ऋचा का शब्दार्थ है। इसको स्पष्ट करने के लिये जीव-चेतन की तात्कालिक स्थिति को स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा। प्रथम ऋचा की व्याख्या में कहा गया है, कि प्रलयकाल में 'भोक्ता आत्मा' न था। इससे आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं किया है, क्योंकि आत्मा अर्थात् जीव-चेतन नित्य अविनाशी तत्त्व है। उसके अस्ति-त्व का निषेध नहीं किया जासकता। इसलिये प्रलयकाल में केवल उसकी भोक्तृत्व अवस्था का निषेध किया गया है। उस समय जीव-चेतन का अस्तित्व निर्बाध होते हुए भी, वह भोक्ता नहीं होता। उसकी ऐसी स्थिति को द्वितीय ऋचा में स्पष्ट किया है, कि प्रलयकाल में 'अमृत' अर्थात् जीव-चेतन भोक्तारूप में न था। जब 'अमृत' भोक्ता न था, तब मृत्यु कैसे होगी ? क्योंकि जन्म मरण आदि, भोक्ता जीव-चेतन के साथ होते हैं। ऋचा में 'मृत्यु' पद जन्म आदि का उपलक्षण है। नित्य आत्मा का देह के साथ संयोग-वियोग ही जन्म-मरण कहा जाता है।

आगे बताया, कि उस समय रात्रि और दिन का चिन्ह कोई न था। देखना चाहिये, दिन और रात का चिन्ह क्या होता है ? स्पष्ट है, दिन और रात के चिन्ह, सूर्य चन्द्र नक्षत्र

---

१—न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥

आदि हैं। इसलिये ऋचा के उक्त पदों का केवल इतना अर्थ नहीं है, कि प्रलयकाल में दिन रात न थे, प्रत्युत यह अर्थ होता है, कि सर्गकाल के जिन पदार्थों के कारण, काल के दिन रात आदि विभाग सिद्ध किये जाते हैं, वे पदार्थ–सूर्य चन्द्र नक्षत्रादि–प्रलयकाल में न थे। दिन और रात के 'प्रकेत' वे ही हैं। उन्हींके कारण, दिन और रात अस्तित्व में आते हैं। जब दिन रात के कारण न थे, तब दिन रात के होने की संभावना ही नहीं होसकती। इसप्रकार सर्गकाल के विपरीत दशा का ही उस समय में वर्णन किया गया है।

प्रलयकाल की अवस्था का आभास सर्गकालीन प्रत्येक वस्तु का अभाव वर्णन करके ही दिया जासकता है। तब क्या प्रलयकाल में किसी का अस्तित्व नहीं था ? ऋचा उत्तर देती है, ऐसा नहीं। इसीलिये इस सूक्त के सबसे पहले पद हैं,–'न असत् आसीत्' प्रलयकाल में सब असत् ही न था। तब वहां किसका अस्तित्व था ? ऋचा में बताया–स्वधा के साथ एक निर्दोष चेतनतत्त्व अवस्थित था, जो सबसे उत्कृष्ट है, सबसे महान है। उससे उत्कृष्ट अथवा महान और कोई तत्त्व नहीं।

इस प्रसंग में 'स्वधा' पद से प्रकृति का ग्रहण किया जासकता है। जिसका अस्तित्व, उस सर्वोत्कृष्ट और महान चेतनसत्ता से सर्वथा पृथक् है। ऋचा के पदों का सन्निवेश इसी भाव को स्पष्ट करता हैं। 'स्वधा' पद के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग, इस बात का साधक है, कि उस महान चेतन के साथ 'स्वधा' अपना पृथक् अस्तित्व रखती है, और उसके साम्मुख्य में नाम 'प्रधान' होते हुए भी अप्रधान अर्थात् निम्न कोटि की है। इसप्रकार एक क्रिया के साथ दो पदार्थों का समान सम्बन्ध होने पर अप्रधान (पदार्थ) में तृतीया विभक्ति का वैदिक लौकिक व्यवहार के अनुसार आचार्य पाणिनि ने निर्देश किया है [पाणि० २।३।१९]। इससे उन पदार्थों का 'दो होना' निश्चित होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है, कि उन दोनों पदार्थों में से एक मुख्य अथवा उत्कृष्ट है; और दूसरा–जिसके साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है–अमुख्य अथवा अपकृष्ट है। यह स्पष्ट है, कि इन दोनों तत्त्वों में चेतन उत्कृष्ट तथा स्वधा अचेतन प्रकृति अपकृष्ट है। इसका कारण यही है, कि चेतन, अचेतन प्रकृति पर नियन्त्रण करता है, और अचेतन प्रकृति उससे नियन्त्रित होती है। इस ऋचा के चतुर्थ चरण में चेतन की सर्वोत्कृष्टता को बताकर इसी भाव का स्पष्टीकरण किया है। सांख्य में मूल उपादान को जिस आशय से 'प्रधान' नाम दिया गया है, वही आशय 'स्वधा' पद में निहित है। इन पदों का निर्वचन एक ही धातु के आधार पर होता है।

सायण तथा उसके अनुयायी आधुनिक व्याख्याकारों ने 'स्वधा' पद का–माया, अविद्या, अथवा चेतन की शक्ति या सामर्थ्य, अर्थ किया है। माया या अविद्या का जो स्वरूप, शांकरमतानुयायी वेदान्तियों ने प्रदर्शित किया है; सायण 'स्वधा' पद का अर्थ, वही माया समझता है। इस समय हमारा यह विवेच्य विषय नहीं; फिर भी इतना कह देना आवश्यक होगा, कि उक्त विद्वानों ने माया का जो स्वरूप स्वीकार किया है, वह उस

उत्कृष्ट चेतन सत्ता का स्वरूप नहीं कहा जासकता, क्योंकि स्वयं उन विद्वानों ने उत्कृष्ट चेतनसत्ता को सत्-चित्-आनन्दरूप माना है, परन्तु माया को वे ऐसा नहीं मानते। ऐसी स्थिति में उसके सम्बन्ध में निष्फल वाग्विजृम्भण भले ही किया जाता रहे, उससे वस्तु-स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये 'माया' आदि पदों को ऐसे प्रसंगों में 'प्रकृति' का पर्याय समझना चाहिये। उसी सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृति का 'स्वधा' पद से यहां निर्देश किया गया है, जो समस्त भूतभौतिक जगत् का मूल उपादान है।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने गीतारहस्य के 'अध्यात्म' प्रकरण में 'स्वधा' पद का 'शक्ति' अर्थ किया है। यदि वह शक्ति, चेतन का स्वरूप है, और तिलक महोदय को यही अभिमत है; तो अगली ऋचाओं में प्रतिपादित अर्थ के साथ इसका सामञ्जस्य नहीं होपाता। पांचवीं ऋचा में 'स्वधा' पद का प्रयोग है—'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्'। वहां स्पष्ट ही 'स्वधा' को अवर-अपकृष्ट; और उसके नियन्ता चेतन [प्रयतिः] को पर-उत्कृष्ट [परस्तात्] बताया गया है। ऐसी स्थिति में मायारूप शक्ति को, ब्रह्म का अपना रूप नहीं कहा जासकता, क्योंकि एक ही वस्तु, स्वयं अपनी अपेक्षा से उत्कृष्ट अपकृष्ट नहीं होसकती। यह भावना, भिन्न वस्तुओं की तुलना में संभव हो सकती है। ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया का वर्णन, वस्तुतः जगत् की रचना के लिये उसके उपादानभूत साधन का निर्देश करना है। ब्रह्म मायातत्त्व से जगत् का निर्माण करता है, इस अर्थ को—ब्रह्म अपनी शक्ति से जगत् बनाता है—इस रूप में निर्देश कर दिया जाता है। इससे माया को ब्रह्म का स्वरूप नहीं माना जा सकता।

यदि शक्ति चेतन का स्वरूप नहीं है, तथा उससे भिन्न सत्ता है, तो हम उसी स्थान पर आजाते हैं, जहां यह कहाजाता है, कि 'प्रकृति' को ही उस चेतनसत्ता की शक्ति या सामर्थ्य एवं जगत् के उपादानभूत साधन के रूप में वर्णन किया जाता है। अन्य आचार्यों ने जहां इसप्रकार के वर्णन किये हैं, उनको इसी भावना में अन्तर्निहित समझना चाहिये। एक सम्राट् की शक्ति अथवा सामर्थ्य, उसकी भूमि, उसकी सेना, उसका कोष और उसके जनपद सब ही, कहे जासकते हैं। वह उनपर नियन्त्रण करता है, उनसे कार्य लेता है, वे उससे नियन्त्रित होते हैं। निःसन्देह वे सब, उसकी शक्ति हैं। परन्तु यह सर्वथा निश्चित है, कि वह सब सम्राट् का स्वरूप नहीं हैं। उनकी सत्ता, अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, और सम्राट् से भिन्न है। एक से दूसरे का नियन्त्रण होने के कारण, उनमें उत्कर्ष और अपकर्ष का भाव है। ठीक इसीप्रकार मूलभूत चेतन और अचेतन सत्ता के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

लोकमान्य तिलक ने इस ऋचा में 'परः' पदका अर्थ 'इसके परे' किया है। अर्थात् चेतन के परे और कुछ भी न था। वस्तुतः चेतन के साथ 'परः' पद का यह अर्थ ठीक नहीं जंचता। क्योंकि वह चेतन सर्वत्र एकसमान व्याप्त है। कोई देश, उसका भेदक या व्यवच्छेदक नहीं कहा जासकता। तब उसमें उरे-परे का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये

'परः' पद का अर्थ यहां 'उत्कृष्ट' होना चाहिये। यदि तिलक महोदय का अभिप्राय यही हो, तो कोई आपत्ति नहीं।

प्रस्तुत ऋचा के इस विवेचन से यह परिणाम निकलता है, कि प्रलयकाल में दो सत्ता थीं, एक सर्वोत्कृष्ट चेतनसत्ता, और दूसरी स्वधा अर्थात् अचेतनसत्ता प्रकृति। जीव-चेतन की सत्ता का प्रलयकाल में उल्लेख नहीं किया गया। उस अवस्था में, जहां सर्गकाल की प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का निषेध किया है, वहां जीव-चेतन के भोक्तृत्व का भी निषेध किया गया है। परन्तु अविनाशी तत्त्वों की प्रलयकालिक सत्ता के उल्लेख में जीव-चेतन की उपेक्षा कीगई है, इसका कोई कारण होना चाहिये। संभवतः इसका कारण इन तत्त्वों की अपनी स्थिति रही हो।

जब हम इन तत्त्वों की स्थिति पर विचार करते हैं, तो एक विशेष बात हमारे सन्मुख आती है। हम देखते हैं, कि सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता का, जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के लिये सदा ही उपयोग हो रहा है। अर्थात् कोई भी ऐसी अवस्था नहीं कही जासकती, जिसमें वह चेतनसत्ता अपने किसी कार्य में लगी हुई न हो। इसी प्रकार अचेतनसत्ता भी सर्गकाल में अपने शरीर से जगत् को उत्पन्न करती, और प्रलय-काल में उसे अपने शरीर में लीन किये रहती है। इसप्रकार अचेतनसत्ता भी सदा अपने किसी न किसी कार्य में तत्पर रहती है। परन्तु जीव-चेतनों के सम्बन्ध में हम यह बात नहीं देखते। जीव चेतनों की कार्योपयुक्तता केवल सर्गकाल में देखी जाती है। प्रलयकाल में ये सब प्रसुप्त के समान रहते हैं, यह हम पूर्व भी लिख चुके हैं। प्रतीत होता है, इसी विशेषता के कारण प्रलयकाल में सर्वोत्कृष्ट चेतनसत्ता और अचेतनसत्ता [स्वधा-प्रकृति] के अस्तित्व के साथ, जीव-चेतनों के अस्तित्व का उल्लेख नहीं किया गया। यद्यपि वह तत्त्व भी अविनाशी व नित्य है।

द्वितीय ऋचा के उत्तरार्ध में प्रतिपादित अर्थ को तृतीया ऋचा[1] में और अधिक स्फुट करके प्रलयकाल की अवस्था को स्पष्ट किया है, तथा अन्त में प्रलयकाल के अनन्तर होने वाले सर्ग की ओर निर्देश किया गया है। वहां लिखा है–[इदं सर्वं] यह सब दृश्यमान जगत्, [अग्रे] सृष्टि के पूर्वकाल में [अप्रकेतं] प्रत्येक चिन्ह से रहित [सलिलं] कारण के साथ अविभागापन्न [आः] था। [तमः] वह मूलकारण भी, [तमसा] अन्धकार से [गूढं] आवृत [आसीत्] था। दूसरे शब्दों में [यत्] जो [तुच्छ्येन] कारण ने [आभु] कार्य को [अपिहितं] अपने अन्दर छिपाया हुआ [आसीत्] था। [तत्एकम्] कारण के साथ एकीभूत वह जगत् [महिना] सर्गकाल में तेजोमय चेतना की महिमा से [अजायत] उत्पन्न होजाता है।

तृतीय ऋचा का यह शब्दार्थ है। इस ऋचा में प्रथम 'तमस्' पद जगत् के मूल

---

१—**तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।**
**तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥**

उपादानकारण के लिए प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि प्रचलित सांख्यप्रक्रिया में प्रकृति के सत्त्व रजस् तमस् गुणों में से अन्तिम गुण इस पद से व्यवहृत होता है, परन्तु गुणत्रय की साम्यावस्था को भी 'तमस्' पद से कहा जाता है, यह बात सांख्यग्रन्थों[1] से प्रकट होती है। जिसका मूल आधार, वेद का यह प्रयोग, तथा इसके समान अन्य प्रयोग[2] कहे जासकते हैं। इसप्रकार ऋचा के पूर्व अर्ध में इस अर्थ को स्पष्ट किया है, कि यह आज सर्गकाल में हमारे सम्मुख दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होरहा है। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि लोक लोकान्तरों को हम उनके अपने एक विशेषरूप मे बराबर देखते हैं। परन्तु ये सब विशेषता [—प्रकेत], प्रलयकाल में नहीं रहतीं। तब यह दृश्यमान जगत् इन सम्पूर्ण विशेषताओं से रहित होकर, कारण के साथ संगत [—सलिल] होकर रहता है। उस कारणरूप स्थिति को 'तमस्' पद से कहा गया है। पूर्व ऋचा में उसी मूल उपादानतत्त्व के लिये 'स्वधा' पद का प्रयोग हुआ है, वह तमस् [स्वधा] प्रलयकाल में अन्धकार से आवृत था। कारण, कि तब भौतिक प्रकाश का कोई साधन न था। सर्गकाल के सूर्य अग्नि आदि प्रकाशसाधन सब अपने मूल-कारणों में लीन थे। ऋचा में

---

१—(क) तम एव खल्विदमग्र आसीत्, तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञोऽभिवर्त्तते प्रथमम्। तमः इति उच्यते प्रकृतिः। पुरुषः क्षेत्रज्ञः।'[माठरवृत्ति, ७१ आर्या की अवतरणिका] यह सब जगत्, सर्ग से पूर्व, 'तमस् ही था, उस तमस् में क्षेत्रज्ञ प्रथम वर्तमान रहता है। तमस् प्रकृति, को कहते हैं, और क्षेत्रज्ञ पुरुष को।

(ख)—'तथा प्रकृतिपर्यायाः—अव्यक्तं प्रधानं ब्रह्म अक्षरं क्षेत्रं तमः माया ब्राह्मी विद्या अविद्या प्रकृतिः शक्तिः अजा इत्यादयः।' [सांख्यसंग्रह के अन्तर्गत. तत्वयाथार्थ्यदीपन, तत्त्वसमाससूत्र की भावागणेशकृत व्याख्या, पृ० ५२, पं० ४] यहां पर प्रकृति के अनेक पर्यायों में 'तमस्' का उल्लेख है।

(ग)—'सांख्यास्तु—तमः शब्देन प्रधानं साम्यापन्नं गुणत्रयमुच्यमानमिच्छन्ति। ते हि पारमर्षं सूत्रमधीयते—"तम एव खल्विदमग्र आसीत्। तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्त्तत" इति।' [निरुक्त, दुर्गवृत्ति, ७।३] यहां पर दुर्ग ने 'तमस्' पद का अर्थ सांख्यानुसार साम्यावस्थापन्न गुणत्रयरूप प्रधान' बताया है। अगले पारमर्ष सूत्र की, उपर्युक्त माठरवृत्ति से तुलना कीजिए।

(घ)—तमश्चास्मिन् पक्षे प्रकृत्यव्यक्तादिपर्यायं प्रधानमुच्यते।
[निरुक्त पर स्कन्दस्वामी की व्याख्या ७।३]

२—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' [यजु० ३१।१८] इस मन्त्र में 'तमस्' से परे तेजोमय पुरुष [पर ब्रह्म] का वर्णन किया गया है। यहां भी 'तमस्' पद का प्रयोग, प्रकृति के अर्थ में हुआ है, जो उसके अचेतन स्वरूप के आधार पर कहा जा सकता है।

द्वितीय 'तमस्' पद का अर्थ अन्धकार है। जगत् के कार्यकारणभाव को ध्यान में रखकर इस बात का निर्देश किया गया है, कि प्रलयकाल में यह सम्पूर्ण दृश्यमान कार्य जगत्, कारणरूप में विद्यमान[1] रहता है।

इस ऋचा में 'सलिल' पद का अर्थ विचारणीय है। ऋचा का उक्त अर्थ, इसी पद पर आधारित है। यह पद गत्यर्थक 'सल्' [भौवादिक] धातु से औणादिक [१।५४] इलच् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। जिसका अर्थ होता है—कारण के साथ संगत होना, अर्थात् कारण के रूप में पहुंच जाना। यह पद प्रस्तुत ऋचा में सर्वं इदम्' का विशेषण अथवा विधेय है। 'इदम् सर्वम्' से उपलक्षित इस सम्पूर्ण दृश्यादृश्य कार्यजगत् को मन्त्र उस अवस्था [प्रलयकाल] में, 'अप्रकेतं सलिलम्' बताता है। दृश्यमान जगत् की वह अवस्था, जहां सर्गकाल का कोई चिन्ह अवशिष्ट नहीं रहता। यह वही अवस्था है, जहां कार्यजगत् अपने कारण में लीन होजाता है। कार्य का कारण में लीन होजाना या कारणरूप में पहुंच जाना ही 'सलिल' पद का अर्थ है। सायण से अतिप्राचीन आचार्य दुर्ग ने, निरुक्त [७।३] की वृत्ति में इस ऋचा की व्याख्या करते हुए, 'सलिलं' पद का अर्थ, 'सद्भावे लीनं' अर्थात् सद्रूप कारण में लीन किया है।

निरुक्त के एक अन्य प्राचीन व्याख्याकार स्कन्दस्वामी ने भी इस पद का ऐसा ही अर्थ किया है। वह लिखता है—

'सलिलं, सति—सत्तालक्षणे कारणात्मनि शक्त्यात्मना लीनम्'

इसीप्रकार सांख्यसप्तति की व्याख्या युक्तिदीपिका [५०वीं आर्या की व्याख्या] में 'सलिल' पद का यही अर्थ किया है। वहां लिखा है—'कथं पुनरेतत् सलिलम् ? सत्युपादाने विकारो लीयत इति।' अपने इस अर्थ की पुष्टि के लिये व्याख्याकार ने प्राचीन 'शास्त्र' का एक प्रमाण इसप्रकार उदधृत किया है। "तथा च कृत्वा शास्त्रमाह— 'सलिलं सलिलमिति वैकारिकोपनिपातमेवाधिकुरुते, सति तस्मिन् लीयते जगत्' इति।" यह प्रमाणवाक्य पञ्चशिख का है, इसको हमने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रंथ के अन्तिम प्रकरण के पञ्चशिखप्रसंग में स्पष्ट कर दिया है। ये सब लेख हमारे विचार को पुष्ट करते हैं।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने गीतारहस्य के 'अध्यात्म' प्रकरण में इस पद का अर्थ 'जल' किया है। यद्यपि अन्यत्र 'सलिल' पद का अर्थ 'जल' है, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में 'जल' अर्थ करना सर्वथा असंगत है। क्योंकि प्रलयकाल में जल के अस्तित्व का पहली ऋचा से निषेध किया है, यहां उसके अस्तित्व का कथन करना संगत नहीं होगा।

इसप्रकार की आपत्ति का समाधान करने के विचार से लोकमान्य तिलक ने, इस ऋचा की व्याख्या पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"मूलारम्भ में पानी वग़ैरह

१—'सर्व आ इदम्' में 'आः' क्रियापद है। 'अस्' धातु का लङ् लकार में प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है। इसका अर्थ है—'आसीत्'।

पदार्थ थे, ऐसा कहने वालों को उत्तर देने के लिये इस सूक्त में यह ऋचा आई है; और इसमें ऋषि का उद्देश्य यह बतलाने का है, कि तुम्हारे कथनानुसार मूल में तम, पानी इत्यादि पदार्थ न थे, किन्तु एक ब्रह्म का ही आगे यह विस्तार हुआ है।"

इस अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिये, इन ऋचाओं का संपिण्डित अभिप्राय बतलाते समय लोकमान्य तिलक ने लिखा है–"परन्तु प्रश्न यह है कि जब सृष्टि के मूलारम्भ में निर्गुण ब्रह्म के सिवा और कुछ भी न था, तो फिर वेदों में जो ऐसे वर्णन पाये जाते हैं कि 'आरम्भ में पानी, अन्धकार या आभु और तुच्छ की जोड़ी थी, उनकी क्या व्यवस्था होगी ? अतएव तीसरी ऋचा में कवि ने कहा है, कि इसप्रकार के जितने वर्णन हैं, जैसे कि सृष्टि के आरम्भ में अन्धकार था, या अन्धकार से आच्छादित पानी था, या आभु [ब्रह्म] और उसको आच्छादित करने वाली माया [तुच्छ] ये दोनों पहले से थे इत्यादि, वे सब उस समय के हैं कि जब अकेले एक मूल परब्रह्म के तप-माहात्म्य से उसका विविध रूप से फैलाव होगया था–ये वर्णन मूलारम्भ की स्थिति के नहीं हैं।"

लोकमान्य तिलक के ये उल्लेख, युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते। क्योंकि पहली बात तो यह है, कि वेद में ऐसे वर्णन कहीं पाये नहीं जाते, जहां यह लिखा हो, कि आरम्भ में पानी, अन्धकार या आभु और तुच्छ की जोड़ी थी; जिसके समाधान के लिये तिलक ने इस ऋचा का निर्देश किया जाना बताया हैं। यदि तिलक के कथनानुसार इस बात को मान लिया जाय, कि ऐसे वर्णन, उस समय के हैं, जबकि एक ब्रह्म का विविधरूप से फैलाव होगया था; तो यह मानना पड़ेगा, कि वे वर्णन सर्गकाल के अनन्तर के हैं। ऐसी स्थिति में उक्त ऋचा का 'अप्रकेतं' पद सर्वथा निरर्थक होता है, जो 'सलिलं' का विशेषण है। सृष्टिकाल में जल को 'अप्रकेत' अर्थात् चिन्हरहित या अदृश्य अथवा भेदाभेदरहित कहाजाना, सर्वथा अयुक्त है। जबकि वह स्पष्ट भेदाभेदरूप में दृष्टिगोचर होता है। तथा प्रलयकाल में उसके अस्तित्व का निषेध, प्रथम ऋचा के द्वारा किया गया है। वस्तुस्थिति यह है, कि लोकमान्य तिलक ने इस पद का प्रासंगिक अभिप्राय समझने में भूल की है। प्रसंग का ध्यान न कर उन्होंने साधारण लोकभाषा के आधार पर उक्त अर्थ कर दिया है; तथा उस भूल को सुधारने में और अनेक भूल हो गई हैं। इसीप्रकार 'तुच्छ्य' और 'आभु' पदों के अर्थ में श्री तिलक के विचार चिन्त्य हैं, जो आगे स्पष्ट होगा।

इसप्रकार प्रस्तुत ऋचा के पूर्वार्ध में स्पष्ट किया गया, कि प्रलयकाल में कार्य जगत् अपने कारणरूप में विद्यमान रहता है। इसी बात को प्रस्तुत ऋचा के तृतीय चरण में, कार्यकारणभाव का ध्यान रखते हुए कहा गया है, 'तुच्छ्येन आभु अपिहितं यदासीत्'। यहां 'तुच्छ्य' पद कारण और 'आभु' पद कार्य के लिए प्रयुक्त हैं। 'तुच्छ्य' पद के अर्थप्रसंग में ऋग्वेद के प्राचीन भाष्यकार वेंकटमाधव ने लिखा है–'तुचिः क्षुदिना समानकर्मा' 'तुच्छ्य' पद की 'तुच्' धातु 'क्षुद्' के अर्थ मे प्रयुक्त है। 'क्षुद्' का अर्थ है–संपेषण, जिसका भाव है–निरन्तर गतिकरना। इसप्रकार 'तुच्छ्य' पद का अर्थ होता है–

'निरन्तर गतिशील'। जगत् का मूल उपादानकारण ऐसा तत्त्व है, जिसमें यह संभव है। इसका निर्देश 'अदिति' के प्रसंग में किया है। मूलप्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण, निरन्तर गतिशील हैं, इसका विस्तृत विवेचन 'प्रकृति' नामक प्रकरण में किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में इतना जानना अपेक्षित है, कि 'तुच्छ्य' पद का अर्थ 'निरन्तर गतिशील' है; फलतः यहां उसका प्रयोग जगत् के मूलकारण के लिये है।

दूसरा पद 'आभु' है, जो 'कार्य' अर्थ में प्रयुक्त है। इस पद में 'आ' उपसर्ग, और 'भू' धातु है, जिसका अर्थ होता है–होना अथवा उत्पन्न होना। इसका मिलित अर्थ होता है–आ समन्तात् भवति उत्पद्यत इति आभु। जो वस्तु उत्पन्न होने वाली हो; जिसकी उत्पत्ति में किसीप्रकार का सन्देह न किया जासके। इसप्रकार निश्चितरूप से 'आभु' पद का अर्थ–'कार्य' किया जासकता है। 'उत्पन्न होना' अर्थ में, आङ् उपसर्गपूर्वक 'भू' धातु का प्रयोग, इसी सूक्त की छठी और सातवीं ऋचा में हुआ है। इसलिये ऋचा के तृतीय चरण का अर्थ स्पष्ट होता है–जब [प्रलयकाल में] कारण से कार्य ढका हुआ था, अथवा कारण में कार्य छिपा जो था।

सायण ने 'तुच्छ्य' पद का अर्थ–सदसद्विलक्षण भावरूप अज्ञान–किया है। तथा 'आभु' पद का यहां कोई अर्थ नहीं किया, केवल निर्वचन करके छोड़ दिया है। परंतु ऋग्वेद [१०।२ ।१,४] की व्याख्या में क्रमशः 'व्याप्नुवन्तं' तथा 'महान्तं' अर्थ, इसी पद का किया है। पर दोनों स्थलों पर इस पद को शत्रु के विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ माना है, अर्थात् कोई 'फैलता हुआ' या 'बड़ा' शत्रु। इससे यह अभिप्राय निकलता है, कि सायण 'आभु' पद में, 'सर्वव्यापकता' रूप अर्थ की भावना को स्वीकार नहीं करता, और प्रस्तुत ऋचा में उक्त अर्थ का कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता। इसलिये उसके विचार से इन दोनों पदों का कोई मिलित अर्थ स्पष्ट नहीं होता। सदसद्विलक्षण भावरूप अज्ञान ने जिस 'आभु' को प्रलयकाल में ढका हुआ था, वह 'आभु' कौन है? इसका स्पष्टीकरण, सायण के विचार से नहीं होपाता। यदि साधारणरूप से 'आभु' पद का अर्थ 'व्यापक' अथवा 'महान' समझा जाय; और यहां उसका प्रयोग 'ब्रह्म के लिये माना जाय, तो अर्थ होगा –प्रलयकाल में भावरूप अज्ञान ने ब्रह्म को ढका हुआ था।

लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य के अध्यात्म प्रकरण में 'तुच्छ्य' पद का अर्थ 'झूंठी माया' और 'आभु' पद का अर्थ 'सर्वव्यापी ब्रह्म' किया है। इसके अनुसार पदों का मिलित अर्थ यह होता है, कि प्रलयकाल में झूटी माया सर्वव्यापी ब्रह्म को ढकलेती है। इस अर्थ पर ध्यान देने से प्रतीत होता है, शांकरमतानुसारी वेदान्तविचारों से प्रभावित होकर लोकमान्य तिलक ने ऐसा लिखा है। पर विचारणीय यह है कि क्या झूंठी माया केवल प्रयलकाल में सर्वव्यापी ब्रह्म को ढंकती है? क्या सर्गकाल में उन विचारों के अनुसार ऐसा नहीं माना जाता? अभिप्राय यह है, कि जिस किसी भावना को लेकर भी यह कहा जाता है, कि झूंठी माया ने सर्वव्यापी ब्रह्म को ढंका हुआ है, वस्तुतः यह अवस्था

तो ब्रह्म की, उन विचारों के अनुसार सदा बनी रहती है । कोई ऐसा काल नहीं कहा जा-सकता, जब माया ने ब्रह्म को ढंका हुआ न हो । छह पदार्थ[1] अनादि मानकर उन विद्वानों ने इस विचार को स्पष्ट किया है । तब प्रलयकाल में उसके वर्णन की कुछ विशेषता नहीं रहजाती । इसके अतिरिक्त सर्वव्यापी ब्रह्म को जो वस्तु ढंक सकती है, उसे झूंठी कैसे कहा जासकता है ? यहां हम इसके विशेष विवेचन में नहीं जाना चाहते, इसका विस्तृत विवेचन यथास्थान 'पुरुष' और 'प्रकृति' नामक प्रकरणों में किया गया है । वस्तु-स्थिति यह है, कि ब्रह्म कभी किसी से ढंका नहीं जाता । प्रत्युत वह माया अथवा प्रकृति पर नियन्त्रण करता है, स्वयं कभी प्रकृति के अधीन अथवा उससे आवृत नहीं । जो चेतन, प्रकृति का भोक्ता है, प्रकृति के साथ विशेष सम्पर्क में आता है, उस जीव-चेतन की सत्ता, परमात्मचेतन अथवा ब्रह्मचेतन से सर्वथा भिन्न है । ऐसी स्थिति में प्रस्तुत ऋचा के उक्त पदों का लोकमान्य तिलक द्वारा किया व्याख्यान अप्रामाणिक तथा अवैज्ञानिक है ।

यास्कीय निरुक्त के व्याख्याकार आचार्य दुर्ग ने इस ऋचा की व्याख्या करते हुए दुर्गवृत्ति [७।३] में 'तुच्छ्य' पद का अर्थ लिखा है—'तुच्छ्येन तुच्छेन सूक्ष्मीभूतेन ······ कर्मणा' । तथा 'आभु' पद का अर्थ 'जगत्' किया है, और उसके आगे विशेषणरूप में लिखा है—'सर्गकालापेक्षि', । अभिप्राय यह है, सूक्ष्म गतिशील कारण से जगत् ढका हुआ था, और वह सर्गकाल की प्रतीक्षा कर रहा था । यह स्पष्ट प्रलयकाल का वर्णन है। आचार्य दुर्ग इसप्रकार ऋचा के तृतीय चरण का अर्थ—प्रलयकाल में सूक्ष्म कारणद्वारा कार्य जगत् ढका हुआ था—बताता है ।

निरुक्त के एक अन्य प्राचीन व्याख्याकार स्कन्दस्वामी ने इन पदों का ऐसा ही अर्थ माना है । वह लिखता है—'तुच्छेन स्वल्पेन सूक्ष्मेण । आभुरित्येतदपठितमपि पदान्तर-सम्बन्धसामर्थ्यान्महन्नाम । महत् स्थूलं सर्वमेव विकारजातम् । आपिहित-अपिहितं स्थगितं यत् तदानीमासीत्' [निरुक्त ७।३ पर] । वह कहता है, यद्यपि 'आभु' पद का पाठ निघण्टु [३।३] में 'महत्' के पर्यायवाची पदों में नहीं है, तथापि दूसरे वैसे पद के साथ सम्बन्ध होने से 'आभु' पद का अर्थ 'महत्' करना चाहिये । 'महत्' नामों में 'अभ्वः' पद का पाठ देखा जाता है । 'आभु' पद उसी के समान महदर्थक समझना चाहिये । इसप्रकार 'आभु' का अर्थ हुआ—यह सम्पूर्ण स्थूल विकारसमूह । यह प्रलयकाल में तुच्छ अर्थात् सूक्ष्मकारण के द्वारा भलीभांति पिहित—स्थगित था । अपने कार्यरूप को छोड़ कारण में लीन था। इसप्रकार इन सब प्राचीन व्याख्याओं के आधार पर यह कहा जासकता है, कि सायण

**१—जीवेशौ च विशुद्धा चिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः । अविद्यात च्चितोर्योगः षडस्माक-नादयः ।। इन छह अनादि पदार्थों में छठा अविद्या [माया] और चेतन [ब्रह्म] का योग बताया है । जिसको इस रूप में कहा जाता है, कि झूंठी माया ने ब्रह्म को ढंका हुआ है । उन विद्वानों के विचार के अनुसार यह स्थिति अनादि काल से चली आरही है, फिर प्रलय में ही ऐसा क्यों ?**

का शिथिल आश्रय लेकर तिलक महोदय ने उक्त पदों के जो अर्थ किये हैं, वे इतने युक्त नहीं। प्रकृत के साथ उनका सामञ्जस्य नहीं बैठ पाता।

तृतीय ऋचा के अन्तिम चरण में, प्रयलकाल के अनन्तर आनेवाले सर्ग का आभास दिया गया है–'तपसस्तन्महिना जायतैकम्' इन पदों का अन्वय इसप्रकार होता है–'एकं तत् तपसः महिना अजायत'। प्रलय अवस्था में मूल उपादान कारण के साथ एकीभूत हुआ वह कार्य [भावि जगत्], तेजोमय ब्रह्म की महिमा, अर्थात् संकल्पमय प्रेरणा के द्वारा [उस मूलकारण से पुनः] उत्पन्न होजाता है। तात्पर्य यह है, कि प्रलय-काल में, जिस दृश्यमान कार्य जगत् को, सतत गतिशील मूल उपादान कारण ने अपने अन्दर छिपाया हुआ था; अथवा उस समय, जो कार्यजगत् अपने मूलकारण में प्राप्त उसके साथ एकीभूत था, वह पुनः सर्गकाल में, तेजोमय परमात्मा की प्रेरणा के द्वारा, अपने कारणरूप से कार्यरूप में परिणत होजाता है। इसप्रकार नासदीय सूक्त की प्रथम तीन ऋचाओं के द्वारा, प्रलयकाल की अवस्था का स्पष्ट वर्णन करने के अनन्तर अंतिम पदों से आदिसर्ग का आभास दिया गया है।

चतुर्थ ऋचा[1] में प्रथम संकेतित आदिसर्ग का अधिक स्पष्ट वर्णन है। वहां बताया–आदिसर्गकाल में [जगत् की रचना के लिये], परमात्मा में जो संकल्प होता है, वही [जगत् का] पहला कारण है। क्रान्तदर्शी ऋषि अपने अन्तःकरण में विचार कर, बुद्धि से इस बात को जानजाते हैं, कि अव्यक्त में व्यक्त का सम्बन्ध है।

ऋचा के प्रत्येक पद के साथ, अर्थ को निम्न रीति पर समझना चाहिये–[अग्रे] आदिसर्गकाल में, [अधि] परमात्मा में, [यत्] जो, [कामः] संकल्प [समवर्त्तत] होता है, [तत्] वही, [मनसः] जगत् का, [प्रथमं] पहला, [रेतः] कारण [आसीत्] है। [कवयः] क्रान्तदर्शी ऋषि, [हृदि] अपने अन्तःकरण में, [प्रतीष्या] विचार कर अथवा विचारपूर्ण [मनीषा] बुद्धि के द्वारा, [असति] अव्यक्त में, [सतः] व्यक्त के, [बन्धुम्] सम्बन्ध को, [निरविन्दन्] जानजाते हैं।

यह चतुर्थ ऋचा का शब्दार्थ है। पूर्व ऋचाओं में प्रलयकाल का वर्णन करते हुए, यह स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है, कि उस समय यह दृश्यादृश्य व्यक्त कार्यजगत्, अपने कारण अव्यक्तरूप में अवस्थित रहता है। उस अव्यक्त को व्यक्तरूप में आने के लिये, परमात्मसंकल्प प्रथम कारण है। अभिप्राय यह है, कि अव्यक्त मूल उपादान अचेतन होने के कारण स्वतः सर्गोन्मुख प्रवृत्ति के लिये सर्वथा असमर्थ है। यद्यपि मूल उपादान ही परिणत होकर व्यक्त कार्यजगत्रूप में उपस्थित होता है; परन्तु वह परिणाम उस समय तक असंभव है, जब तक नियन्ता चेतन उस प्रवृत्ति के लिये उसे प्रेरित न करे। इसीलिये प्रस्तुत ऋचा में चेतन के संकल्प अथवा प्रेरणा को जगत्सर्ग का प्रथम

१—कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

अर्थात मुख्यकारण[1] कहा गया है। 'उस अव्यक्त मूल उपादान कारण से किसप्रकार व्यक्त जगत् बन जाता है, इस रहस्य को क्रान्तदर्शी विद्वान् जान पाते हैं' ऋचा का यह निर्देश पूर्वोक्त अर्थ की पुष्टि करता है। अर्थात् अव्यक्त मूल उपादान कारण से, व्यक्त जगत् उत्पन्न होजाने में, परमात्म-संकल्प [चेतन-प्रेरणा] मुख्यकारण है, इस रहस्य को गम्भीर विचारकों ने समझ पाया है। अभिप्राय यह है, कि जगद्रचना में चेतन तथा अचेतन दोनों सत्ताओं की अपेक्षा होती है। केवल चेतन अथवा केवल अचेतन से जगद्रचना संभव नहीं। अचेतन व्यक्त कार्य जगत् के लिये, जितनी अपेक्षा अचेतन अव्यक्त मूल उपादन की है; उसकी प्रेरणा के लिये उससे कहीं अधिक अपेक्षा, चेतन-संकल्प की है। इसलिये जगतसर्ग में नियन्ता चेतन, और अव्यक्त अचेतन दोनों अपेक्षित हैं; इसी अर्थ को ऋचा के द्वारा स्पष्ट कर, आदि सृष्टि-रचना के रहस्य पर प्रकाश डाला गया है।

इसप्रकार प्रस्तुत ऋचा के आधार पर सांख्य का मूलसिद्धान्त—चेतन और अचेतन की भिन्न सत्ता का स्वीकार कियाजाना—पुष्ट होता है। चेतन से अचेतन अथवा अचेतन से चेतन की सृष्टि होना, न वेद को अभिमत है, न सांख्य को। यह क्रम वैज्ञानिक नहीं कहा जासकता। इसलिये जिन व्याख्याकारों ने इस ऋचा के आधार पर यह समझाने का यत्न किया है, कि परब्रह्म [परमात्मा] स्वयं परिणत होकर कार्यरूप जगत् बन जाता है, वे वस्तुस्थिति से बहुत दूर जापड़े हैं।

पञ्चम ऋचा[2] के द्वारा आदिसर्ग के सम्बन्ध में और अधिक प्रकाश डाला गया है। वहां लिखा हैं—

[एषाम्] इनका [रश्मिः] जाल, [विततः] सहसा विस्तृत [तिरश्चीनः] मध्यमें [आसीत्] होजाता है [अधःस्वित्] अथवा नीचे [उपरिस्वित्] अथवा ऊपर; [रेतोधाः] प्रेरणा के आधारभूत मूलतत्त्व [आसन्] होते हैं, और [महिमानः] ये महान लोकलोकोन्तर [आसन्]होजाते हैं। [स्वधा] मूलतत्त्वरूप प्रकृति [अवस्तात्] अपकृष्ट, और [प्रयतिः] नियन्ता [परस्तात्] उत्कृष्ट।

प्रस्तुत ऋचा का यह शब्दार्थ है। आदिकाल में जब सर्ग होने लगता है, तब उसमें कितना समय लग जाता है? अथवा उसका क्या क्रम होता है? इस अर्थ की ओर ऋचा संकेत करती है। सर्वोत्कृष्ट चेतन की प्रेरणा के अनन्तर सम्पूर्ण लोक-लोका-

---

१—इसी आधार पर, ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के दश नियमों में प्रथम नियम का स्वरूप बताते हुए लिखा है,—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है। यहां परमेश्वर को उक्त आधार पर सब दृश्य अदृश्य पदार्थों और ज्ञानों का आदिमूल कहा गया है।

२—तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्॥
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥

न्तर अपनी स्थिति में आजाते हैं। पहले मध्यलोक बने, अथवा अधोलोक, अथवा ऊर्ध्व-लोक; इस बात को नहीं कहा जासकता, यह एक तुच्छ सीमित कल्पना है। वह अज्ञेय काल है, उसमें—कौन से लोक पहले बने, और कौन से पीछे—यह वर्णन अनपेक्षित है। प्रकृति [स्वधा] के अनन्तानन्त मूलतत्त्वों में, चेतन की प्रेरणा से सर्गोन्मुख प्रवृत्ति होने पर अखिल लोक-लोकान्तर प्रकाश में आजाते हैं, इतना ही जानलेना अपेक्षित है। वस्तुस्थिति यही है, कि या तो वे मूलकारण होते हैं, या बस ये महान लोक लोकान्तर। इनका अन्तराल-वर्त्ती पूर्ण क्रमिक विकास अशक्य-कथन है, क्योंकि उसका अस्तित्व कल्पनातीत है। जो घटनाएँ अनियतकाल अथवा अल्पाधिक काल में घटित होजाती हैं, उनको इन्हीं शब्दों द्वारा प्रकट किया जासकता है। इसी बात को ऋचा के मूल पदों से कहा 'रेतोधा आसन् महिमान आसन्'।

यहां 'रेतः' पदका वही अर्थ है, जो चतुर्थ ऋचा में है, अर्थात् परमात्म-चेतन का [जगद्रचनार्थ] संकल्परूप प्रथमकारण। इस कारण का प्रभाव मूलतत्त्वों पर होता है; जिससे उनकी सर्गोन्मुख प्रवृत्ति होती है। इसीलिये ऋचा में प्रकृतिरूप उन मूल-तत्त्वों को 'रेतोधा' पद से कहा है, क्योंकि चेतन के उस संकल्प को वे धारण करते हैं, उस संकल्प से प्रभावित होते हैं। ऋचा में 'महिमानः' पद कार्यरूप इस दृश्यादृश्य समस्त महान लोक लोकान्तरों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसप्रकार आदिसर्ग के रचनाकाल को बताने के लिये यह उपयुक्त वर्णन है—या तो चेतनप्रेरणा के आधारभूत सूक्ष्म मूलतत्त्व थे, या बस ये महान लोक लोकान्तर होगये।

ऋचा के अन्तिम चरण में, सर्गकाल के उपसंहाररूप से, चेतन और अचेतन की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर दिया गया है, 'स्वधा' अचेतन प्रकृति अपकृष्ट है, नीची हैं; तथा उसका नियन्ता चेतन उत्कृष्ट है, ऊंचा है। चेतन की प्रेरणा के विना अचेतन प्रकृति कुछ कर नहीं सकती, इसीलिये चेतन को उत्कृष्ट कहा गया है। यह ऊंच-नीच भाव, चेतन-अचेतन अथवा नियन्ता और नियम्यभाव पर अवलम्बित है, अन्य किसी भावना से नहीं। यद्यपि प्रकृति जगत् का मूल उपादान होने से इसका मुख्य साधन है; फिर भी चेतन की इस उत्कृष्टता के कारण चतुर्थ ऋचा में चेतन-संकल्प को जगत् का मुख्यकारण कहा गया है, और इसी आधार पर अनेक स्थलों पर औपचारिकरूप से चेतन को जगत् का मूलकारण बता दिया गया है। ऐसे वर्णनों में इस मौलिक आधार का ध्यान रखना अत्यावश्यक है, अन्यथा अनायास अर्थ का अनर्थ होजाता है।

द्वितीय ऋचा में तथा यहां लोकमान्य तिलक ने 'स्वधा' पद का अर्थ 'शक्ति' किया है। यदि वह शक्ति, ब्रह्म का अपना स्वरूप है, तब ब्रह्म को उत्कृष्ट और शक्ति को अपकृष्ट बताना सर्वथा असंगत है, क्योंकि वह एक ही वस्तु के दो नाम हैं। वही वस्तु स्वयं अपनी अपेक्षा से उत्कृष्ट-अपकृष्ट नहीं कहीं जासकती। इसलिये स्पष्ट होता है, कि 'स्वधा' पद का प्रयोग, अचेतन—मूल उपादानकारण [प्रकृति] के लिये हुआ है।

इसप्रकार प्रस्तुत सूक्त की पांच ऋचाओं के द्वारा प्रलय और आदिसर्ग के सम्बन्ध में कतिपय निर्देश किये गये हैं, जिनसे इस रहस्यमयी विश्व पहेली पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, फिर भी इसकी रहस्यमय स्थिति को अधिक स्पष्ट करने के लिये छठी ऋचा[1] के द्वारा उसी अर्थ को प्रथम प्रश्नरूप में उपस्थित किया गया है। वहां लिखा है—

[इयम्] यह [विसृष्टिः] विविध सृष्टि, [कुतःकुतः] कहां-कहां से [आजाता] उत्पन्न होती है ? [को अद्धा] कौन इसको [वेद] वास्तविक रूप में जानता है ? और [कः] कौन [इह] इस विषय में [प्रवोचत्] कथन करता है ? [देवाः] इस विषय में गंभीर विचार करने वाले विद्वान्, [अस्य विसर्जनेन अर्वाक्] इस सर्गकाल के अनन्तर होते हैं। [अथ] इसलिये यह [यतः] जहां से [आबभूव] उत्पन्न होती है, इसको [कः] कौन [वेद] जानता है ?

प्रस्तुत ऋचा का यह शब्दार्थ है। चतुर्थ ऋचा में कहा गया है, कि क्रान्तदर्शी ऋषियों ने इस व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्ध को समझा। परन्तु ऋषियों के अल्पज्ञ होने के कारण, यह अधिक संभव है, कि उनका ज्ञान भ्रम प्रमादादि से अभिभूत हो। फिर उस अवस्था [प्रलय] में तो उनका ऐसा अस्तित्व ही न था, जिससे वे तात्कालिक स्थितियों को साक्षात् जान पाते। इसप्रकार यह विश्व पहेली का रहस्य, रहस्य ही बना रह जाता है, और इसकी आश्चर्यपूर्ण स्थितियों को सन्मुख पाकर. सहसा यह प्रश्न उठ खड़ा होता है,—क्या कोई इसके वास्तविक रहस्य को समझने वाला है ? इस प्रश्न का उत्तर अन्तिम ऋचा द्वारा दिया गया है।

सूक्त की अन्तिम सातवीं ऋचा[2] में लिखा है—

[इयम्] यह [विसृष्टिः] विविधि सृष्टि [यतः] जहां से [आबभूव] उत्पन्न होती है, [यदि वा] और जिसके द्वारा [दधे] धारण की जाती है, [यदि वा न] और अन्त में जब यह नहीं रहती, अर्थात् अपने कारण में लीन होजाती है। [अस्य] इस सबका [यः] जो [अध्यक्षः] अध्यक्ष—नियन्ता [परमे व्योमन्] सर्वव्यापक परमात्मा है, [सो अंग] वह इसकी वास्तविकता को [वेद] जानता है, [यदि वा न] और जब यह जगत् नहीं रहता, अर्थात् कारण में लीन होकर प्रलय अवस्था में रहता है, उसको भी [वेद] जानता है।

सर्वव्यापक परमात्म-चेतन इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तथा उसकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि अवस्थाओं का अध्यक्ष अर्थात् नियन्ता है। प्रकृति-अचेतन, इस जगत् का मूल उपादानकारण, उस चेतन के द्वारा नियन्त्रित होती है। अचेतन तत्त्व की दो मुख्य अवस्था हैं—सर्ग और प्रलय। इन दोनों के आरम्भ को यथाक्रम दृश्यमान व्यक्त जगत् का

१—को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥
२—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न॥
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

उत्पाद या विनाश भी कहा जासकता है। प्रस्तुत ऋचा के पूर्वार्ध में अचेतन की इन सब अवस्थाओं का उल्लेख है। ऋचा के तृतीय चरण में इस सबका अध्यक्ष, सर्वव्यापक परमात्मा बताया है, जो अचेतन की उक्त सब अवस्थाओं का नियामक है; इसलिये यह स्पष्ट है, कि जो उन स्थितियों का नियामक है, वह अवश्य उन स्थितियों को जान सकता है। वास्तविकता यह है, कि जान ही वह सकता है, जो उनका नियन्ता है, अन्य किसी में उन अवस्थाओं के जानने की संभावना नहीं होसकती। इसी बात को ऋचा के अन्तिम पदों में स्पष्ट किया है, कि केवल वह नियन्ता जगत् के सर्ग और प्रलय दोनों को जानता है।

इस ऋचा के 'यदि वा' पदों का अर्थ, अन्य व्याख्याकारों के समान–सन्देह शर्त या विकल्प–हमने नहीं किया। इसका प्रथम कारण तो यह है, कि छठी ऋचा के अन्तिम चरण में जो मुख्य समस्या प्रश्नरूप में उपस्थित की गई है, अगली ऋचा में उसका समाधान होना चाहिये। पहली ऋचा में 'अथ को वेद यत आबभूव' इन पदों के द्वारा प्रश्न को सामने रक्खा गया है। अगली ऋचा में इन्हीं पदों को दुहराकर उत्तरार्ध में इसका समाधान है। उत्पत्तिबोधक पदों [यत आबभूव] के साथ कोई सन्देह या विकल्प का वाचक पद नहीं है। अन्तिम ऋचा के पूर्वार्ध में उत्पत्ति के साथ और दो बातों का उल्लेख कर दिया गया है, ये सब सृष्टि की भिन्न अवस्था हैं। इन तीनों अवस्थाओं के निर्देश के लिये ऋचा में तीन पृथक् वाक्य इसप्रकार हैं–यत आबभूव, यदि वा दधे, यदि वा न। यद्यपि छठी ऋचा में प्रश्न के अवसर पर केवल उत्पत्ति का निर्देश किया गया है; परन्तु समाधान के समय सर्ग की शेष अवस्थाओं का उल्लेख करके, उन सबका अध्यक्ष, सर्वव्यापक परमात्मा को बताया है। ऐसी स्थिति में जब उत्पत्ति के साथ किसी प्रकार के सन्देह या विकल्प का निर्देश नहीं है, तब अन्य अवस्थाओं के सम्बन्ध में ऐसा क्यों? इसलिये 'यतः' पद के अर्थसामञ्जस्य से 'यदि' पद का 'यत्र' अथवा 'यदा' और 'वा' का समुच्चय अर्थ हमने इस प्रसंग में समझा है।

इसके अतिरिक्त सातवीं ऋचा के द्वितीय चरण 'यदि वा दधे यदि वा न' का अर्थ यही किया जासकता है, कि यदि वह [सृष्टि] धारण की जाती है, अथवा नहीं की जाती। यहां अन्तिम वाक्य में सन्देह की भावना नहीं है, प्रत्युत उसकी एक अन्य अवस्था का निर्देश है। अर्थात् एक अवस्था वह है, जहां यह सृष्टि धारण की जाती है, दूसरी अवस्था वह है, जहां यह धारण नहीं की जाती। यह अवस्था वही है, जहां यह सृष्टि कार्यरूप में नहीं रह जाती। उसी अवस्था को प्रलय कहा जाता है। ठीक ये ही पद 'यदि वा न' सातवीं ऋचा के अन्तिम चरण में हैं, वहां भी इनका अर्थ, यही होना चाहिये। अर्थात् इनके द्वारा प्रलय अवस्था का निर्देश किया जाना यहां स्वीकार्य होना चाहिये। उसके आगे 'वेद' क्रियापद है। इसलिये प्रलय अवस्था का, अध्यक्ष के द्वारा जानना, इन पदों का अर्थ है। सन्देहपरक अर्थ के लिये यहां अवकाश नहीं।

कतिपय व्याख्याकारों[1] ने प्रस्तुत ऋचा के द्वितीय चतुर्थ चरणों का सन्देहपरक अर्थ किया है। वे लिखते हैं—'यह विसर्ग अर्थात् फैलाव जहां से हुआ अथवा निर्मित[2] किया गया या नहीं किया गया—उसे परम आकाश में रहने वाला इस सृष्टि का जो अध्यक्ष है, वही जानता होगा, या न भी जानता हो ?'

वस्तुतः ऐसा अर्थ करके उन व्याख्याकारों ने, सृष्टि के अध्यक्ष की स्थिति को सन्देहपूर्ण बना दिया है। क्या परमात्मा या ब्रह्म की स्थिति को उन विद्वानों ने ऐसा समझा है, कि वह इस सर्ग-प्रलय के रहस्य को निश्चितरूप से नहीं जानता ? यह बात अलग है, कि ब्रह्म की सत्ता से नकार कर दिया जाय, परन्तु उसके सर्वोत्कृष्ट अस्तित्व को स्वीकार करने वाले ऋषियों अथवा विद्वानों ने, उसकी ऐसी सन्देहपूर्ण स्थिति को कभी नहीं माना। फिर वेद में ऐसी भावना को अवकाश देना तो, वेद की वास्तविकता के साथ उपहास करना है। वेद में कहीं भी, परमात्मा या ब्रह्म का ऐसा सन्देहपूर्ण वर्णन उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः वेद ने इस विश्वपहेली को बीच में ही अन-बूझा नहीं छोड़ा, जैसा कि साधरणतया व्याख्याकार इस वर्णन के ढंग से समझ जाते हैं। प्रत्युत यहां प्रत्येक कही गई बात को, निश्चित तथा बहुत परिमार्जितरूप में स्पष्ट किया है।

नासदीय सूक्त के व्याख्यान से यह स्पष्ट होता है, कि वेद के इस प्रसंग में, मूल रूप से दो तत्त्वों को स्वीकार किया गया है, चेतन और अचेतन। अचेतन का यहां 'स्वधा' अथवा 'तमस्' पद से निर्देश किया है, तथा उसको अव्यक्त बताया गया है, इसी को जगत् का मूल उपादान कहा है। चेतनसत्ता को इसका अध्यक्ष अर्थात् नियन्ता निर्देश किया गया है। जहां तक जगत् के सर्ग और प्रलय का सम्बन्ध है, इन्हीं दो सत्ताओं की मुख्य-स्थिति है। सर्गकाल में जीव-चेतन इस जगत का भोक्ता होता है। यही जगत् का अनादि क्रम है। प्रतीत होता है, महर्षि कपिल ने ऐसे वैदिक वर्णनों के आधार पर अपने दर्शन की आधारशिला रक्खी हो।

वेद के व्याख्याकारों ने इस सूक्त के व्याख्यान में प्रायः मूलतत्त्वों की अज्ञेयता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। उनके विचार से वह मूलतत्त्व अज्ञेय समझना चाहिये, जिससे इस जगत् का प्रादुर्भाव हुआ है। कुछ व्याख्यानों में उसके स्वरूप को संशयास्पद प्रकट किया गया है। उनका विचार है कि मूलतत्त्व के विषय में निश्चया-

---

१—लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, गीतारहस्य का 'अध्यात्म' प्रकरण।

२—'दधे' क्रियापद का 'निर्मित किया गया' अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता। इस का अर्थ-धारण या पोषण करना—होना चाहिये। 'दधे' क्रियापद का उक्त अर्थ करने पर 'आबभूव' और 'दधे' क्रियापदों के अर्थ में कोई विशेषता नहीं रह जाती। फिर उसी अर्थ को 'आबभूव' क्रियापद से निश्चितरूप में कहकर, उसी अर्थ में 'दधे' क्रियापद के द्वारा सन्देह उपस्थित करना, परस्पर विरुद्ध भी होजाता है।

त्मकरूप से कुछ नहीं कहा जासकता। इस जगत् का जो नियन्ता व अध्यक्ष है, न मालूम वह भी इसके रहस्य को जानता है, या नहीं।

मनुष्यमात्र की दृष्टि से ये विचार ठीक कहे जासकते हैं। यह बात सन्देह से परे है, कि मानव की शक्ति बहुत अल्प है, पूर्णरूप से वह मूलतत्त्वों के रहस्यों को जान पायेगा, ऐसा समझना ही उसकी अल्पज्ञता का द्योतक है। इसलिये मानव की दृष्टि से जगत् के मूलतत्त्वों को अज्ञेय कहें, अथवा उनके विषय में संदेह की स्थिति प्रस्तुत करें, कुछ अनुचित नहीं है। परन्तु प्रकृत सूक्त इस भावना से प्रस्तुत हुआ है, ऐसा स्पष्ट नहीं है। यहां तो इसके अध्यक्ष जगन्नियन्ता की दृष्टि से अर्थ को प्रस्तुत किया गया है। इस सूक्त का ऋषि 'परमेष्ठी प्रजापति' है। वेद के ऋषि 'कविनिबद्ध वक्ता' हैं। कवि चाहे जो कोई हो, पर उसने जिस ऋचा व सूक्त को जिसके मुख से कहलवाया, वह ऋषि है। उसके अनुकूल उन ऋचा व सूक्तों का अर्थ किया जाना चाहिये। यहां जगन्नियन्ता वक्ता के रूप में उपस्थित है, इसलिये प्रकृत सूक्त के विचार उसी की दृष्टि से प्रस्तुत किये गये कहे जासकते हैं। वह तो पूर्ण व सर्वज्ञ है, तब उसे मूलतत्त्वों के विषय में अज्ञानी व संदिहान कहना संगत न होगा। इसलिये इस सूक्त में अज्ञेयतावाद अथवा अनैकान्तिकवाद आदि का उद्भावन करना या समझना निराधार होगा। कदाचित् इसी भावना से सायण ने इस बात का संकेत किया है, कि यहां असंदिग्ध अर्थ को ही संदेह के रूप में केवल उसकी दृढ़ता को प्रकट करने के लिये प्रस्तुत किया गया है।

फलतः सूक्त के आधार पर यह स्पष्ट परिणाम निकलता है, कि अखिल ब्रह्माण्ड के मूल में दो तत्त्व हैं। एक वह, जिससे परिणत होकर यह जगत् इस रूप में दृष्टिगोचर होता है, वह जगत् के समान अचेतनरूप है, तथा दूसरा वह चेतनतत्त्व है, जो इस सबका नियन्त्रण करता है। पहले तत्त्व को इस सूक्त में 'स्वधा' कहा है, तथा दूसरे को 'अध्यक्ष'। सांख्य में इन्हीं को यथासंख्य 'प्रकृति' और 'पुरुष' कहा है।

**स्वधा प्रकृति है**—'स्वधा' पद प्रकृति का निर्देशक है, इसके लिये ऋग्वेद का एक और मन्त्र उपस्थित कर देना उपयुक्त होगा। ऋग्वेद प्रथम मण्डल [सू० १६४, मं० ३८] की उस ऋचा[1] का अर्थ इसप्रकार है—

[अमर्त्यः] वह अमर्त्य–जीवचेतन, [स्वधया] स्वधा–प्रकृति से [गृभीतः] गृहीत, [मर्त्येना] विनाशी तत्त्वों (बुद्धि, अहंकार, पञ्च तन्मात्र, एकादश इन्द्रिय घटित सूक्ष्म-शरीर) के [सयोनिः] साथ, [अपाङ् प्राङ्] ऊंच नीच लोकों में [एति] जाता है। [ता] वे दोनों (जीव-चेतन तथा स्वधा), [शश्वन्ता] निरन्तर रहने वाले हैं, [विषूचीना] एक दूसरे से सम्बद्ध, [वियन्त] अनन्तकाल तक इसीप्रकार चले जाने वाले। [अन्यम्] इनमें से एक को (दृश्यमान कार्यजगत्रूप में स्वधा को) [निचिक्युः] अच्छी

**१—अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।**
**ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्त न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥**

तरह देखा जाता है ; [अन्यम्] अन्य (चेतन आत्मा) को [न] नहीं [निचिक्युः] देखा जाता ।

प्रस्तुत ऋचा के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये हमने कोष्ठकों में अपेक्षित पदों को रख दिया है । यह प्रथम कहा जाचुका है, कि जीव-चेतन अपने भोगों के लिये प्रकृति में प्रविष्ट होता है, इसप्रकार वह स्वधा अर्थात् प्रकृति से गृहीत है, प्रकृति से सम्बद्ध है । इस सम्बन्ध की पुष्टि के लिये कुछ विनाशी तत्त्व, सर्गकाल में सदा जीवचेतन के साथ रहते हैं । वह अठारह तत्त्वों से घटित सूक्ष्मशरीर है । इसी के साथ सम्बद्ध जीवचेतन ऊंच नीच योनियों में आता जाता है । स्वधा और अमर्त्य दोनों अनादि अनन्त हैं, इसलिये दोनों का सम्बन्ध अनादि अनन्त है । ऐसे सम्बन्ध का यह अभिप्राय नहीं, कि ये सदा ऐसी ही स्थिति में रहते हैं । इस अनिश आवर्त्तमान चक्र में कभी ये परस्पर असम्बद्ध रहते हैं, परन्तु कालान्तर में फिर उसी स्थिति में आजाते हैं । इनका सदा सम्बन्ध, इसीलिये कहा गया है, कि इनके इस क्रम का कभी अन्त नहीं होता । ये निरन्तर इसी क्रम में चलते चले जाते हैं [वियन्तौ] । कोई स्थिति इनके इस सम्बन्ध को सदा के लिये तोड़ नहीं सकती । यह संभव है कि इस लम्बे मार्ग के बीच में, ऐसे अवकाश आवें जब जीवचेतन प्रकृति के सम्पर्क में आकर भोगों को न भोगे । यह अवकाश पर्याप्त लम्बा भी होसकता है ; परन्तु इस अनादि अनन्त यात्रा की दृष्टि से यह नगण्य सा रहता है, तथा कालान्तर में फिर उनको अपनी उसी स्थिति में आना होता है, इसीलिये इस प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध को अनादि अनन्त कहा गया है ।

इन दोनों तत्त्वों में से हम प्रकृति की इस दृश्यमान विभूति को अच्छी तरह देखते हैं, भोगते हैं, जानते हैं । परन्तु अपने आप को अर्थात् चेतनतत्त्व को इतनी स्पष्टता से नहीं जान पाते । हमारे जो ज्ञान के बाह्यसाधन हैं, वे वस्तुतः प्रकृति कार्यों के जानने में पर्यवसित होजाते हैं, और साधारणतया संसार इसी के अनुसार चलता रहता है । विरले ही, धीर पुरुष[1] ऐसे पाये जाते हैं, जो प्रत्यगात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करें । इसीलिये श्रुति में कहा गया है, कि इनमें से एक सरलता से जाना जाता है, दूसरा नहीं ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि, सर्गकाल की यह साधारण सांसारिक स्थिति बतलाई है, क्योंकि प्रकृति के रूप में वास्तविक कारण को जानना उतना ही कठिन है, जितना आत्मा को । प्रकृति के ये कार्य हमारे सन्मुख हैं, प्राकृतिक साधनों के आधार पर हम उन्हीं को देखते जानते तथा उन्हीं में रमे रहते हैं । स्वयं अपने आप [आत्म-तत्त्व] की ओर हम नहीं मुड़पाते । इसी भावना को ऋचा के चतुर्थ चरण में स्पष्ट किया गया है ।

इस वर्णन के आधार पर यह स्पष्ट होजाता है, कि प्रस्तुत ऋचा में 'स्वधा' पद का प्रयोग मूलतत्त्व के लिये हुआ है, जिसका यह सब जगत् विकार है, तथा जिससे बद्ध होकर पुरुष विविध योनियों में सचरण करता है । उसी मूल उपादानतत्त्व को सांख्य

१—कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् । [कठ ०।२।१।१]

में प्रकृति कहा गया है। इसप्रकार वेद के अदिति और स्वधापदबोध्य अर्थ को सांख्य की 'प्रकृति' कहना सर्वथा सामञ्जस्यपूर्ण है। इससे सांख्यसिद्धान्तों की वेदमूलकता स्पष्ट होती है।

**वेद में मूलतत्त्व के लिये 'गुण' पद का प्रयोग**—इस प्रसंग में अथर्ववेद के एक मन्त्र का उल्लेख कर देना अनावश्यक न होगा। मन्त्र है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ [१०।८।४३]

[नवद्वारं] यह नवद्वार [पुण्डरीकं] शरीर, [त्रिभि.] तीन [गुणेभिः] गुणों से [आवृतम्] आवृत है। [तस्मिन्] उस में [आत्मन्वत्] आत्मा के समान [यत्] जो [यक्षम्] यक्ष है, [तत्] उसको [ब्रह्मविदः] ब्रह्मज्ञानी [वै] ही [विदुः] जान पाते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में 'पुण्डरीक' पद, से मानव-देह का ग्रहण किया गया है। लोक एवं साहित्य भाषा में 'पुण्डरीक' पद का अर्थ कमल या साधारणतया प्रत्येक पुष्प प्रसिद्ध है। पुष्प की मनोहरता, कोमलता, सुन्दरता आदि गुणों की मानव-देह में समानता की भावना से यह प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। इस प्रयोग में एक और भावना अन्तर्निहित है, जो इस मानव-देह की नश्वरता की ओर संकेत करती है। हम देखते हैं, जैसे प्रत्येक पुष्प अपनी कली की प्रारम्भिक अवस्था से खिलकर, क्षण के लिये संसार को अपनी ओर आकर्षित कर, अन्त में मुरझाकर गिरजाता है; उसकी वह विभूति, मन्द पवन के संग वह अनूठा इठलाना, हमारे देखते ही देखते काल के गाल में विलीन होजाता है, ठीक उसीप्रकार इस देह की अवस्था है। यह बाल्य से किशोर, किशोर से यौवन, यौवन से जराजीर्ण होकर क्षीण होजाता है। साधारण संसारी पुरुष अपनी दृष्टि को इस ओर कम ही मोड़पाता है। बाल्यकाल की क्रीडा, किशोर अवस्था की किलोल, यौवन के मदभरे उल्लास, वार्द्धक्य की तृष्णा, पुरुष को उस ओर जाने नहीं देतीं। ऐसे देह के लिये, वेद में 'पुण्डरीक' पद का प्रयोग, इस ओर संकेत कर रहा है, कि ऐ पुरुष! देह की आकर्षकता में अपने-आप को भूल मत। इसकी नश्वरता को समझने के लिये, पुष्प की अवस्था को सदा अपने सन्मुख रख। भ्रमर के समान इसके रस को भोग, पर अपने अस्तित्व को विसार कर इसमें लीन मत हो। इन सब भावनाओं के साथ, प्रस्तुत मन्त्र में 'पुण्डरीक' पद को हमने 'देह' के अर्थ में प्रयुक्त समझा है।

इस देह की विशेषता को बतलाने के लिये आगे पद है—'नवद्वारं'। इस देह में नौ द्वार हैं। देह के वर्णन में अन्यत्र[1] भी ऐसा उल्लेख पाया जाता है। ये नौ द्वार हैं—दो आंख, दो कान, दो नासाच्छिद्र, एक मुख तथा दो अधोद्वार—गुद और उपस्थ। मन्त्र के

१—अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। [अथर्व० १०।२।३१]
नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। [श्वेता० ३।१८]

द्वितीय चरण में इस देह को तीन गुणों से आवृत बताया गया है। ये तीन गुण हैं—सत्त्व, रजस्, तमस्। देह इनसे व्याप्त है। देह में इसका अधिष्ठाता—चेतन आत्मा-निवास करता है। इस आत्मा [जीव-चेतन] के समान एक और 'यक्ष' इस देह में व्याप्त होरहा है, उसको ब्रह्म-ज्ञानी ही जानपाते हैं।

यह यक्ष, परमात्म-चेतन कहा जासकता[२] है, क्योंकि वह सर्वोत्कृष्ट चेतन, सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान से महान वस्तु में व्याप्त है। उपनिषदों में इस अर्थ को अधिक स्पष्ट किया है, और बताया है, कि उस सर्वोत्कृष्ट परमात्म-चेतन का साक्षात्कार, प्रत्येक यत्न-शील व्यक्ति अपने हृदय में करपाता है। साधारण व्यक्ति इस बात को नहीं समझ पाता, कि हमारे इस दृश्यमान देह के अतिरिक्त और कोई ऐसी चेतन-सत्ता यहां विद्य-मान है, जो परिमित काल तक यहां निवास करती, और अनेक अनुकूल प्रतिकूल भोगों को भोगती है। परन्तु दूसरे व्यक्ति, जिनकी शास्त्र-बुद्धि प्राप्त हो चुकी है, और अध्यात्म-दिशा में प्रयत्नशील हुए हैं, वे इस बात को समझपाते हैं, कि देह के साथ एक अन्य चेतन-तत्त्व विद्यमान रहता है, जो इसका अधिष्ठाता व भोक्ता है; क्योंकि अचेतन देह स्वयं प्रवृत्ति करने में असमर्थ है। जब तक उस चेतन का देह से सम्बन्ध है, तब तक वहां अनु-कूल प्रतिकूल प्रवृत्तियां होती रहती हैं, अथवा जब तक ये प्रवृत्तियां होती हैं तब तक देह के साथ चेतन का सम्बन्ध समझा जाता है।

देह की इस स्थिति से जिस चेतन का सम्बन्ध हम देह के साथ समझते हैं, वह जीव-चेतन है। इसप्रकार देह की आन्तर या बाह्य प्रवृत्तियों के आधार पर हम देह में जीव-चेतन के अस्तित्व को समझपाते हैं। इनके आधार पर हमें, देह में सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता के अस्तित्त्व का आभास नहीं होपाता। जीव-चेतन का देह से सम्बन्ध न रहने पर भी—देह की मृत अवस्थामें—यहां परमात्म—चेतन का सम्बन्ध बराबर बना रहता है। संभवतः इसीलिये मन्त्र में कहा गया है—देह में 'यक्ष' के अस्तित्त्व को ब्रह्म-ज्ञानी ही जानपाते हैं। वे ब्रह्म-ज्ञानी भी उस ज्ञान को जिन साधनाओं के आधार पर कर पाते हैं, उनका हृदयदेश से विशेष सम्बन्ध है; इसलिये आत्मा [जीव-चेतन] के समान यक्ष [परमात्म-चेतन] का अस्तित्व भी देह में बताया गया है।

विस्तृत दृष्टि से विचारने पर यह प्रतीत होता है, कि प्रस्तुत मन्त्र में देहपर्याय 'पुण्डरीक' पद, प्रत्येक कार्य का उपलक्षण है। अभिप्राय यह है, कि यह कार्यमात्र व्यक्त विश्वब्रह्माण्ड तीन गुणों से व्याप्त है, इस बात का कथन करने के लिये, देह को एक प्रतीक मान लिया है। इसलिये देह के सम्बन्ध का यह कथन, अखिल विश्व पर लागू होता है, तथा इस बात को स्पष्ट करता है, कि कार्यमात्र, सत्त्व रजस् तमस् इन तीन गुणों से व्याप्त है। इस प्रतीक-देह में आत्मा [जीव-चेतन] के समान, अखिल ब्रह्माण्ड में वह यक्ष [परमात्म—चेतन] व्याप्त है। जिसके अस्तित्त्व को ब्रह्म-ज्ञानी अर्थात् तत्त्ववित्

---

२—देखें, अथर्ववेद [१०।८।२५]

जानते हैं। इसप्रकार प्रस्तुत मन्त्र के द्वारा अखिल विश्व के मूल उपादान सत्त्व, रजस्, तमस् रूप में विद्यमान प्रकृति के, भोक्ता आत्मा के और सबके नियन्ता परमात्मा के अस्तित्व का स्पष्टीकरण होता है, जो सांख्य के प्रकृति-पुरुषविषयक मूलभूत सिद्धान्त का आधार कहा जासकता है।

## वेद का 'त्रिधातु' सांख्य का सत्त्व-रजस्-तमस्।

अभीतक इस बात को स्पष्ट करने का यत्न किया गया, कि वेद में अदिति स्वधा तथा तमस् आदि पद जिस मूल उपादानकारण का निर्देश करने के लिये प्रयुक्त हुए हैं, सांख्य में उसी को 'प्रकृति' पद से कहा गया है। अथर्ववेद में उसके लिये 'त्रिगुण' पद के प्रयोग का भी उल्लेख किया गया। इनके अतिरिक्त वेद में 'त्रिधातु' पद का निर्देश उपलब्ध होता है। यह पद वेद में किस अर्थ का प्रतिपादक है, इसपर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

यह पद 'त्रि' और 'धातु' इन दो पदों के योग से बना है। 'त्रि' पद, निश्चितरूप में 'तीन' संख्या का वाचक है, 'धातु' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में देखा जाता है। जैसे सुवर्ण रजत आदि खनिज तत्त्व; पृथिवी आदि महाभूत; आयुर्वेद में वात-पित्त-श्लेष्म तथा अस्थि मज्जा शुक्र आदि; व्याकरण में 'भू' आदि। इन सब अर्थों में तथा अन्य संभावित अर्थों में भी एक ऐसी समान भावना देखी जाती है, जिससे इस पद के मूलभूत अर्थ का अधिक स्पष्टीकरण होजाता है। वह समान भावना यह है, कि जो अर्थ धातु पद से कहे जाते हैं, वे स्वयं मूल अथवा आधारभूत तत्त्व हैं, अर्थात् अनेक प्रकार के आगे होने वाले विकारों का आधार या मूल होना, उन तत्त्वों में पाया जाता है। सुवर्ण रजत आदि, अनेक विकारों के मूल हैं। वात पित्त आदि शरीर के आधार और अनेक शारीरिक विकारों के मूल हैं। पृथिवी आदि भूत सब प्राणियों तथा अन्य प्रत्येक प्रकार के व्यवहार के आधार हैं। व्याकरण में 'भू' आदि शब्दरचना के मूल आधार माने जाते हैं। इसका अभिप्राय है, कि 'धातु' पद का वास्तविक वाच्य वह तत्त्व है, जो मूल अथवा आधार हो। स्वयं 'धातु' पद के धात्वर्थ[1] के आधार पर इसी अर्थ का स्पष्टीकरण होता है।

इस पद के साथ 'त्रि' पद का योग होने पर, इसका अर्थ होजाता है–तीन धातु, अर्थात् तीन मूल या तीन आधारभूत तत्त्वों का समाहार-मेल। हम देखते हैं, इस अर्थ की स्पष्ट व्याख्या सामञ्जस्यपूर्ण रीति पर सांख्य के अनुसार होसकती है। अखिल ब्रह्माण्ड के आधारभूत तत्त्वों–मूल उपादानकारण–को सांख्य में 'सत्त्व-रजस्-तमस्' इन तीन रूपों में वर्णन किया गया है। वे अपनी साम्य अवस्था में 'प्रकृति' पद से कहे

१—धारणार्थक 'धा' धातु से तुन [उणा० १।६९] प्रत्यय होकर यह पद सिद्ध होता है। जिसका अर्थ होता है–धारण करने वाला, अर्थात् आधारभूत तत्त्व।

गये हैं। इससे यह परिणाम निकलता है, कि वेद में 'त्रिधातु' पद का प्रयोग, जिस मूल उपादान के लिये किया गया है; सांख्य में उसी को 'सत्त्व-रजस्-तमस्' की साम्य अवस्था-प्रकृति कहा है।

ऋग्वेद में इस पद का प्रयोग लगभग पच्चीस वार हुआ है। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी इसका प्रयोग है। सब स्थलों में व्याख्याकारों ने, जैसा जिसको सूझा है, इसका अर्थ किया है। यह संभव है, वेद के बहुत से स्थलों में 'त्रिधातु' पद का 'सत्त्व-रजस्-तमस्' के अतिरिक्त अन्य कुछ अर्थ हो, परन्तु अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनमें इस अर्थ का संकेत अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसे कुछ स्थलों का यहां निर्देश कर देना अनावश्यक न होगा। एक मन्त्र[1] ऋग्वेद [१।१५४।४] का है। वहां लिखा है—

[यस्य] जिसके [त्री] तीन [मधुना] मधु से [पूर्णा] पूर्ण अर्थात् मधुर [अक्षीयमाणा [पदानि] पद, [स्वधया] स्वधा के द्वारा [मदन्ति] प्रसन्न रहते हैं। [य उ एकः] और जिस अकेले ने ही, [त्रिधातु] त्रिधातु से रचित [पृथिवीम्] पृथिवी को [द्याम्] द्युलोक को [उत] तथा [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] भुवनों—लोकों को [दाधार] धारण किया हुआ है।

यह प्रस्तुत ऋचा का शब्दार्थ है। इस सूक्त का देवता विष्णु है। अर्थात् सूक्त में विष्णु का वर्णन है। 'वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगदिति विष्णुः' इस निर्वचन के अनुसार यहां विष्णु, परमात्मा का नाम होसकता है, जिसने सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किया हुआ है, जो प्रत्येक छोटे से छोटे कण में वर्तमान है, ऐसी सत्ता वैदिक परम्परा में परमात्मा की कही जाती है। परमात्मा के तीन पद, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय हैं। सर्वव्यापक अकाय परमात्मा के, हमारी तरह के पद नहीं कहे जासकते। आलंकारिकरूप में प्रकृति को परमात्मा का 'काय' कहा जासकता है। एकमात्र प्रकृति उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय इन तीन अवस्थाओं में परिणत होती रहती है। प्रकृति के ये परिणाम, परमात्मा की प्रेरणा के विना संभव नहीं। इसलिये प्रकृति की इन तीन अवस्थाओं को परमात्मा के मधुपूर्ण पद के रूप में वर्णन किया गया है। इनको मधुर इसीलिये कहा गया प्रतीत होता है, कि ये पद, भोक्ताओं के लिये अनुकूल भोगों और अनुपम सुखों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। प्रलयकाल में कोई भोग न होने पर भी, उस समय प्रकृति की भोग्य-क्षमता को विश्राम के द्वारा पुनः सम्पादन किया जाता है, इसलिये इसकी प्रत्येक अवस्था, भोक्ताओं के अनुकूल भोगों के लिये उपयोगी कही जाती है। ऐसी स्थिति में इन 'पदों' का 'मधुपूर्ण' विशेषण बहुत उपयुक्त है। ये पद मधु से पूर्ण हैं, और वैसे अपने रूप में भी पूर्ण हैं।

परमात्मा के केवल ये 'तीन पद' हैं, अन्य किसी पद की वहां संभावना नहीं की

१—यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भवनानि विश्वा॥

जासकती। जगत् की इन तीन अवस्थाओं [उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय] में परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता और कर्तव्यतत्परता का पूर्ण वर्णन होजाता है। यही सब कुछ है, जिसके लिये परमात्मा के अस्तित्व को बलात् स्वीकार करना पड़ता है। इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये ऋचा में 'पूर्ण' पद दिया गया है। परमात्मा के उक्त तीन पद पूर्ण हैं, अर्थात् ये केवल तीन पद हैं, न न्यून, न अधिक। यह परमात्मा की शक्ति है, उसी का कार्य है, और यह इतना ही कार्य है—जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय। इनसे अतिरिक्त परमात्मा का और कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। इसीलिये इस रूप में वर्णित, उसके इन पदों को ऋचा में 'पूर्ण' कहा गया है।

ये 'पद' स्वधा के द्वारा सदा प्रसन्न रहते हैं। यथासमय अथवा यथाक्रम अपनी स्थिति में वर्तमान रहना 'प्रसन्न रहना' है। यहां स्वधा के द्वारा उन पदों की स्थिति या प्रसन्नता का वर्णन है। हम इस बात का निर्देश कर आये हैं, कि वेद में 'स्वधा' पद का प्रयोग, जगत् के उस मूल उपादान के लिये हुआ है, जिसको सांख्य में प्रकृति कहा है। वे सब परिणाम, जिनके लिये उत्पत्ति-स्थिति-प्रयल का निर्देश किया जाता है, केवल प्रकृति अथवा स्वधा में होते हैं। इसलिये विष्णु अर्थात् परमात्मा के उन पदों की स्थिति या प्रसन्नता, स्वधा के द्वारा बताई गई है। स्वधा एवं उसके पदों को ऋचा में 'अक्षीयमाणा' कहा है। जगत् का मूल उपादान, कार्यरूप में परिणत होजाने पर भी स्वरूप से क्षीण नहीं होता। उसका सत्त्व-रजस्तमोमयरूप, तथा यह क्रम सदा बना रहता है। वह कारण और कार्यरूप में सदा त्रिगुणात्मक है। स्वधा के 'पदों' के साथ 'अक्षीयमाणा विशेषण से यह स्पष्ट होजाता है, कि वेद, चेतन से अतिरिक्त 'प्रकृति' की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है, और उसको तथा उसके क्रम को सदा रहने वाला बताता है।

परमात्मा के तीनपदों का, प्रस्तुत ऋचा के पूर्वार्ध में साधारणतया वर्णन है; उत्तरार्ध में उसके एक पद [स्थिति] का विशेषरूप से उल्लेख है। ऋचा बतलाती है, पृथिवी, द्युलोक तथा सम्पूर्ण अनन्तानन्त लोक-लोकान्तरों को अकेला परमात्मा धारण करता है। पृथिव्यादि सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों को ऋचा में 'त्रिधातु' बताया है। फलतः यह अखिल दृश्यमान व्यक्त जगत् 'त्रिधातु' है, तीन धातुओं से बना हुआ है। यह वर्णन स्पष्ट करता है, कि वेद के इस प्रसंग में 'त्रिधातु' पद तीन मूल उपादानतत्त्वों के लिये प्रयुक्त हुआ है। संभवतः वेद के ऐसे वर्णनों के आधार पर महर्षि कपिल ने इस विश्व-पहेली की मूलतत्त्वसम्बन्धी वास्तविकताओं को अपनी अनुपम प्रतिभा से समझ, मूलतत्त्व को सत्त्वरजस्तमोरूप में वर्णन किया। सांख्य का यह परम सिद्धान्त है, कि यह सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक है; जिसको वेद में 'त्रिधातु' पद से कहा गया है।[1]

---

१—आचार्य सायण ने 'त्रिधातु' पद का अर्थ पृथिवी-रूप्-तेज किया है, और 'दाधार' क्रिया का विशेषण माना है। सायण का यह अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'पृथिवी' का निर्देश ऋचा में पृथक् किया हुआ है, फिर 'त्रिधातु' पद से पृथिवी

वैदिक साहित्य में अनेकत्र ऐसे प्रसंग आते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है, कि सम्पूर्ण व्यक्त जगत् 'त्रिधातु' का परिणाम है। मैत्रायणीसंहिता [२।४।३] में एक वाक्य है–'यद्वा इदं किञ्च तत् त्रैधातव्या' जो कुछ यह है, वह 'त्रिधातु' का विकार या परिणाम है। 'त्रिधातु' पद का अर्थ 'सत्त्व-रजस्-तमस्' समझकर इन पदों की यथार्थ व्याख्या की जासकती है। इससे प्रतीत होता है, वेद के 'त्रिधातु' पद का अर्थ, अनन्तर काल के वैदिक साहित्य में, जगत् के त्रिगुणात्मक मूल उपादन को समझा जाता रहा है।

यास्कीय निरुक्त [१४।४] में ऋग्वेद [३।२६।७] के मन्त्र की भावरूप व्याख्या की गई है। इस मन्त्र में 'त्रिधातु' पद का प्रयोग है। यास्क के विचार से प्रस्तुत ऋचा के द्वारा अग्निरूप में महत्तत्त्व का वर्णन किया गया है। यास्क ने इस प्रसंग में 'त्रिधातु' पद का अर्थ, सत्त्व-रजस्-तमस किया है[1]।

इसके अतिरिक्त जाबाल उपनिषद् [४] में 'त्रिधातु' पद का अर्थ, सत्त्व-रजस्-तमस्, लिखा है। वहां का लेख है–'त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति'। तीन धातु [त्रिधातु] सत्त्व-रजस्-तमस् हैं। इससे स्पष्ट होजाता है, कि सांख्यप्रतिपादित 'त्रिगुण' के लिये 'त्रिधातु' पद का प्रयोग बराबर होता रहा है। वेद के 'त्रिधातु' पद-प्रयोग के आधार पर जगत् के मूल उपादान की, सत्त्व-रजस्-तमस त्रिगुणरूप में उद्भावना की गई, जिसका प्रथम उद्भावक परमर्षि कपिल था।

## बौद्ध साहित्य में 'त्रिधातु' पद।

बौद्ध साहित्य में 'त्रिधातु' पद का प्रयोग आता है। यशोमित्रकृत 'स्फुटार्थाभिधर्मकोशव्याख्या' में प्रथम कोषस्थान के ५८ पृष्ठ पर एक सूत्र, इसप्रकार उद्धृत है–

"आयुष्मानानन्दो भगवन्तमेवमवोचत। कियता भदन्त पण्डितो धातुकुशलो भवति। भगवानाह पण्डित आनन्द......त्रीनपि धातून् जानाति पश्यति यथाभूतम्-कामधातुं रूपधातुमारूप्यधातुमिति......।"

आयुष्मान् आनन्द ने भगवान् [बुद्ध] से पूछा, भगवन्! पण्डित कितने से धातुकुशल होजाता है? भगवान् ने कहा, आनन्द! पण्डित तीनों धातुओं को जानता है, जैसी हैं वैसी देखता है। वे धातु हैं–कामधातु, रूपधातु, और आरूप्यधातु।

---

का निर्देश करने की क्या आवश्यकता? तथा पृथिव्यादि तीन को क्यों कहा? वायु आदि को क्यों छोड़ दिया? इसको क्रियाविशेषण कहना भी संगत नहीं, क्योंकि परमात्मा के द्वारा लोक लोकान्तरों के धारण किये जाने में इससे किसी विशेषता का निर्देश नहीं होता।

१—सायण ने इस ऋचा के अर्थ में 'त्रिधातु' पद का अर्थ–'प्राण-अपान-व्यान' किया है। यह अर्थ, यास्क के अर्थ से विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त इसमें यह असामञ्जस्य है, कि जब प्राण पांच कहे जाते हैं, तब यहां केवल तीन का ग्रहण क्यों किया गया, और दो को क्यों छोड़ा गया?

बौद्धदर्शन में पदार्थों का विवेचन अनेक प्रकार से किया गया है। वसुबन्धुप्रणीत अभिधर्मकोष[1] में प्रथम अठारह धातुओं[2] का उल्लेख है। उनकी गणना इसप्रकार की है—

मनसहित चक्षु आदि इन्द्रिय—६

उन छह इन्द्रियों के विज्ञान—६

उनके रूप आदि विषय—६

ये अठारह 'धातु' कहे जाते हैं। इनका प्रकारान्तर से तीन भागों में विभक्त कर दिया जाता है। आगे इसी ग्रन्थ में लिखा है, कि वे सम्पूर्ण अष्टादश धातु, 'कामधातु' में संगृहीत हो जाते हैं[3]। अर्थात् इन अठारहों के लिये एक 'कामधान' पद का प्रयोग किया जाता है। उक्त अठारह में से गन्ध, रस, घ्राणविज्ञान तथा जिह्वाविज्ञान, इन चार धातुओं को निकाल दिया जाय, तो शेष चौदह रूपधातु' कही जाती हैं। मन, मनोविज्ञान और मन का विषय धर्म, इन तीन को–मनोधातु; मनोविज्ञानधातु और धर्मधातु को–'आरूप्यधातु' कहा जाता है। शेष पन्द्रह का इसमें ग्रहण नहीं होता। इसप्रकार बौद्धदर्शन में–षड़िन्द्रिय,षडिन्द्रिय-विज्ञान,षडिन्द्रिय-विषय–ये पदार्थ,'कामधातु' 'रूपधातु' 'आरूप्य-धातु' पदों से कहेजाते हैं। इनके ये विभाग किन आधारों पर हैं? इन विवेचन में जाना यहां अप्रासंगिक होगा, परन्तु इतना स्पष्ट है, कि सब भूत-भौतिक तथा आन्तर विज्ञानात्मक तत्त्वों का इन तीन धातुओं में संग्रह किया गया है, जो सब वाह्य जगत् और आन्तर भावनाओं के आधारभूत हैं। इस विवेचन में आधारभूत तत्त्वों के लिये ही 'धातु' या 'तीन धातु' पदों के प्रयोग की भावना स्पष्ट होती है। संभवतः बौद्धदर्शन में इन पदों का प्रयोग प्राचीन आर्यसाहित्य के अनुसार आधारभूत तत्त्व के लिए हुआ है।

इसके अतिरिक्त अभिधर्मकोश के आठ प्रकरणों में सब प्रकार के तत्त्वों व भावों का बौद्धधारणा के अनुसार विस्तृत वर्णन किया गया है। उनका निर्देश निम्न-लिखित आठ शीर्षकों में आजाता है—

धातु, इन्द्रिय, लोक, कर्म, अनुशय, आर्यमार्ग [आर्य पुद्गल], ज्ञान, ध्यान।

इनमें से प्रत्येक के अनेक अवान्तर विभागों का सूक्ष्म विवेचन दिखाकर उन सबका समावेश–कामधातु, रूपधातु तथा आरूप्यधातु में किया गया है।

१—धातु–धातुसम्बन्धी विवेचन, तथा 'त्रिधातु' में इनका समावेश, अभी पिछली पंक्तियों में निर्देश कर दिया गया है।

२—इन्द्रिय–इन्द्रिय तथा उनके भावों के कुशल-अकुशल-अव्याकृत,तथा सविपाक-अविपाक, सौमनस्य दौर्मनस्य आदि आधारों पर, अनेक भेद बताकर, उन सबका समा-वेश, 'त्रिधातु' में प्रदर्शित किया गया है।

---

१—श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित, सं० १६८८, वाराणसी संस्करण।

२—'धातवोऽष्टावश स्मृताः' प्रथमकोशस्थान, धातुनिर्देश, कारिका १७।

३—'कामधात्वाप्ताः सर्वे' प्रथमकोशस्थान, धातुनिर्देश, कारिका ३०।

कामधातु में—१९
रूपधातु में—१५
[1]आरुप्यधातु में—८

३—लोक—

कामधातु में—दशलोक
रूपधातु में—ऊर्ध्व सत्रह स्थान
आरूप्यधातु में—अन्तिम लोक[2] [स्थानभेदरहित]

४—कर्म=यावत्कर्मों का समावेश तीन धातुओं में दिखाया गया है।[3]

५—अनुशय=जन्म का मूल 'अनुशय' बताया गया है। इसके अनेक अवान्तर भेदों का उल्लेख कर, उन सबका 'त्रिधातु' में निम्न रीति पर समावेश बताया है—

कामधातु में—३६
रूपधातु में—३१
आरूप्यधातु में[4]—३१

६—आर्यमार्ग=इसका विस्तृत विवेचन उक्त तीन धातुओं में समाविष्ट है। इसके लिये कोशस्थान ६ के, ७,१२,२१,३८,४१, ५५, ७३ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

७—ज्ञान=इसका विस्तृत विवेचन कर, तीन धातुओं में समावेश दिखाया है[5]।

८—ध्यान=इसके विस्तृत विवेचन, तथा सम्पूर्ण अवान्तर भेदों के तीन धातुओं में समावेश के लिये, अष्टम कोशस्थान के २,१९,२१,३०,३७,३८ श्लोक द्रष्टव्य हैं।

इसप्रकार सब भूत-भौतिक तत्त्वों व भावों का 'त्रिधातु' में समावेश के वर्णन से यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि बौद्धदर्शन में वर्णित 'तीन धातुओं' को हर तरह से सब जगत् का मूल अथवा आधारभूत तत्त्व माना गया है। इस 'त्रिधातु' के वास्तविक रहस्य को समझने वाला व्यक्ति पण्डित, सिद्ध या ज्ञानी कहा गया है। बौद्ध-दर्शनों में प्रदर्शित 'त्रिधातु' विषयक वर्णनों को सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर स्पष्टरूप से हम इस परिणाम पर पहुंच-जाते हैं, कि 'त्रिधातु' का समन्वय अथवा सामञ्जस्य सत्त्व-रजस्-तमस् के साथ कितना युक्त है। इसको निम्नक्रम में दिखाया जा सकता है—

---

१—इनका विस्तृत विवेचन, अभिधर्मकोश, इन्द्रियनिर्देश प्रकरण में देखिये, उपर्युक्त विभाग, १२वें श्लोक में दिखाया गया है।

२—उक्त ग्रन्थ का 'लोकधातुनिर्देश' प्रकरण, श्लोक १–३।।

३—उक्त ग्रन्थ का 'कर्मनिर्देश' प्रकरण, श्लोक ७,४०,४४,८३,८४,१०५।।

४—इनका विशद विवेचन, उक्त ग्रन्थ के पञ्चम कोशस्थान में देखें। यह उपर्युक्त विभाग व समावेश, ५वें श्लोक में दिखाया गया है।

५—कोशस्थान ७, के १४, १५,१८ श्लोक इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं। यह विषय हमने यहां अतिसंक्षेप में उपस्थित किया है।

सत्व—आरूप्यधातु
रजस्—रूपधातु
तमस्—कामधातु

इन वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है, कि महर्षि कपिल ने वैदिक निर्देशों के आधार पर जिस सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त जगत् को त्रिगुणात्मक कहा है, बौद्धदर्शन में उसीको 'त्रिधातु' रूप में वर्णन किया गया है, जिसका आधार प्राचीन आर्यसाहित्य तथा मुख्यरूप से सांख्य-सिद्धान्त हैं। परन्तु उक्त प्रकार से तीन धातुओं का उल्लेख बौद्ध सम्प्रदाय की परिभाषा कही जासकती है। मध्यकाल में इसप्रकार के अनेक अर्थों की उद्भावना का संभव है। आयुर्वेद आदि में वात्त-पित्त-श्लेष्म के लिये 'त्रिधातु' पद का प्रयोग किया गया है। इतने प्रकरण से संक्षेप में हमने यह दिखाने का यत्न किया है, कि वेद में 'अदिति' 'स्वधा' आदि पदों के अतिरिक्त 'त्रिधातु' पद का प्रयोग सत्त्वरजस्तमोरूप प्रकृति का निर्देशक है।

**त्रिधातु से जगत् की उत्पत्ति**—इसकी अधिक पुष्टि के लिये अन्य कतिपय ऋचाओं का उल्लेख कर इस प्रसंग को समाप्त किया जायगा। ऋग्वेद [४।४२।४] का मन्त्र है—

अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद्वि भूम ॥

इस ऋचा का देवता 'आत्मा' है। यहां उत्तम और प्रथमपुरुष दोनों रूपों में आत्मा [परमात्म-चेतन] का वर्णन है। पूर्वार्ध में उत्तमपुरुष तथा उत्तरार्ध में प्रथम-पुरुषरूप में वर्णन किया गया है।

[अहम्] मैं [उक्षमाणाः] सब जगत् को सींचने वाले [अपः] जलों को [अपिन्वम्] उत्पन्न करता हूं, अथवा सर्वत्र स्थापित करता हूं। जलों को यह रूप, मेरी शक्ति अथवा प्रेरणा से प्राप्त हुआ है। [ऋतस्य सदने] अपने सामर्थ्य की सीमा में, [दिवम्] द्युलोक—इन अनन्तानन्त प्रकाशमान लोक लोकान्तरों को [धारयम्] धारण किये हुए हूँ। अभि-प्राय यह, कि इन सब लोकलोकान्तरों की स्थिति मेरे सामर्थ्य से बाहर नहीं है। [ऋतावा—ऋतवान्] शक्तिशाली [अदितेः पुत्रः] अदिति के पुत्र[1] अर्थात् अदिति के द्वारा प्रकाश में आने वाले परमात्म-चेतन ने [उत] ही, अपने [ऋतेन] सामर्थ्य के द्वारा [त्रिधातु] सत्त्वरजस्तमोरूप मूल उपादान को [भूम] बहुत प्रकार से [वि-प्रथयत्] सर्वत्र विस्तारित किया हुआ है।

प्रस्तुत ऋचा में परमात्मा के सामर्थ्य और उसके कार्य का साधारण वर्णन है। सायणने इस प्रसंग में 'त्रिधातु' पद का 'क्षित्यादिलोकत्रयं' [पृथिवी आदि तीन लोक] अर्थ किया है, और लिखा है, कि परमात्मा ने इनकी रचना की [अकार्षीत् परमेश्वरः]।

---

१—देखिये, अदिति सूक्त की चतुर्थ ऋचा, इसका व्याख्यान, इसी अध्याय में पूर्व किया जाचुका है।

दार्शनिकरूप में सायण, शांकरमत का अनुयायी है। ऐसी स्थिति में, किसी पद का ऐसा अर्थ करने से वह भयभीत सा प्रतीत होता है, जिससे शांकरमत का विरोध होने की संभावना हो। पृथिवी आदि तीन लोक में; पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक लिये जासकते हैं। पृथिवी, साक्षात् हमारे सन्मुख है। पृथिवी के चारों ओर बहुत दूर तक फैला हुआ एक वातावरण [अवकाश] है; इतनी दूर तक फैला हुआ, जहां तक दूसरे लोकलोकान्तर [चन्द्र, बुध, मंगल आदि ग्रह नक्षत्र तथा तारागण] प्रारम्भ नहीं होते। इसप्रकार पृथिवी और पृथिवी के अधिकतम समीपवर्त्ती लोकों के बीच का जो अवकाश है, उसे 'अन्तरिक्ष' कहा जाता है। उसके अनन्तर जिस अवकाश में चन्द्र सूर्य तारा आदि अनकानेक लोक-लोकान्तर विद्यमान हैं, उसका नाम 'द्युलोक' है। सायणने 'त्रिधातु' पद का अर्थ करते हुए लिखा है, कि परमेश्वर ने तीन प्रकार से जगत् की रचना की, उक्त तीन लोकों को उसने 'रचना के तीन प्रकार' बताया है।

वस्तुतः देखा जाय, तो उक्तरूप में तीन लोकों की स्थिति जगद्रचना के भेद पर कोई प्रकाश नहीं डालती। विश्वब्रह्माण्ड की रचना का तो कोई एक प्रकार है। सब रचना उसी रूप में होती है, चाहे वह पृथिवी की हो अथवा द्युलोक की। ये भेद तो केवल व्यवहार के लिये किये गये हैं, क्योंकि रचना के विचार से, जो तत्त्व पृथिवी पर दृष्टिगोचर होते, अथवा किसी तरह जाने जाते हैं, अन्तरिक्ष अथवा द्युलोक में भी उन्हींका अस्तित्व है। इसलिये लोकों का यह व्यावहारिक भेद, इनके रचनाभेद का नियामक नहीं कहा जा-सकता। ऐसी स्थिति में यद्यपि सायण ने 'त्रिधातु' पद का स्पष्ट सत्त्व-रजस्-तमस् अर्थ नहीं लिखा; परन्तु व्यक्त जगत् की त्रिरूपता का उल्लेखकर, यह प्रकट कर दिया है, कि उक्त अर्थ के विना, उसका सामञ्जस्य हो नहीं सकता।

**त्रिधातु का ज्ञाता परमात्मा**—इस प्रसंग में ऋग्वेद [ ६।४८।२३ ] का निम्न मन्त्र विचारणीय है—

> अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः।
> अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूढम्॥

इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता इन्द्र होने से, इस ऋचा का देवता इन्द्र है। वेद में 'इन्द्र' पद, अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु यहां सृष्टि के प्रसंग में, इन्द्र का अर्थ परमात्मा संभव होसकता है। अभिप्राय यह है, कि प्रस्तुत ऋचा में ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा का वर्णन है। उसके ऐश्वर्य और महत्त्व का वर्णन ही, उसका वर्णन है। श्रुति कहती है—

[अयम्] यह ऐश्वर्यशाली परमात्मा [सुपत्नीः] सुन्दर रूप में प्राणियों की रक्षा करने वाली [उषसः] उषाओं को [अकृणोत्] बनाता है।

अन्धकार पाप का रूप है। चोर दस्यु आदि का स्वभावतः अन्धकार में अधिक भय रहता है। उषा, प्रकाश की प्रतीक है। उषःकाल के उदय होते ही अन्धकार दूर भागता है, और साथ ही प्राणियों का भय भी। तब सब प्राणी अपने कार्य में निर्भीक

होकर संलग्न होजाते हैं। इसीलिये यहां उषाओं को 'सुपत्नीः' अर्थात् प्राणियों का सुन्दर रक्षक कहा गया है।

प्रश्न होता है, उषा को परमात्मा ने कैसे बनाया ? ये उषा आदि, काल-भेद तो सब सूर्य के कारण बनते हैं। अगले चरण में श्रुति स्वयं इसका उत्तर देती है—

[अयम्] यह परमात्मा [सूर्ये अन्तः] सूर्य के अन्दर [ज्योतिः] प्रकाश को [अदधात्] स्थापित करता है।

यह सत्य है, कि उषःकाल, सूर्य-प्रकाश से प्रकट होपाता है। परन्तु सूर्यरूप में प्रकाश को उस परमात्मा ने उत्पन्न किया है। इसलिये सम्पूर्ण प्रकाश का उसीको कारण कहना संगत है।

इतना ही नहीं, कि वह केवल सूर्य में प्रकाश उत्पन्न करता है, प्रत्युत अनन्त द्युलोक में जितने प्रकाशमान लोकलोकान्तर हैं, वह उन सबको प्रकाश देता है। वह किस प्रकार इन सब लोकों को प्रकाश से प्रकाशित करता है ? इसी अर्थ का दिग्दर्शन प्रस्तुत ऋचा के उत्तरार्ध से कराया गया है—

[अयम्] यह परमात्मा [दिवि] द्युलोक मे वर्तमान [रोचनेषु] प्रकाशमान [त्रितेषु] तीन से बने हुए लोकों में [निगूढं] छिपे हुए, अर्थात् कारणरूप से विद्यमान [अमृतम्] कभी नष्ट न होने वाले [त्रिधातु] तीन मूलतत्त्वों–सत्त्व, रजस्, तमस् को [विन्दत्] समझता, जानता अथवा स्थापित करता है।

ये सम्पूर्ण प्रकाशमान लोकलोकान्तर, त्रिरूप मूलतत्व अर्थात् त्रिगुणात्मक मूल-तत्त्व से बने हुए हैं, इस रहस्य की वास्तविकता को परमात्मा जानता है, क्योंकि वही इन मूलतत्त्वों के द्वारा इस प्रकाशमान व्यक्त जगत् को बनाता है। कोई शिल्पी, कार्यकारण की वास्तविकता को जाने विना, कार्य को बना नहीं सकता। यह 'त्रित' [तीन–त्रिरूप मूलतत्त्व–से बना हुआ]–व्यक्त जगत्, जिन तीन मूलतत्त्वों से बना है, परमात्मा उन सबका ज्ञाता है। परन्तु हम केवल उस व्यक्त, प्रकाशमान कार्य जगत् को देखते हैं। अव्यक्त कारण हमारी दृष्टि से ओझल है। वह व्यक्त कार्य के पीछे छिपा हुआ है, क्योंकि कार्य का आधार वही है। अन्यथा कारण के विना उसका अस्तित्व ही सन्देह में पड़ जायगा। इसलिये ऋचा में स्पष्ट कहा, कि प्रकाशमान व्यक्त जगत् में कारणरूप से छिपे हुए उस 'त्रिधातु' त्रिरूप मूल उपादान को वह परमात्मा जानता है, क्योंकि यह व्यक्त 'त्रित' है, त्रिरूप मूल उपादान से बना हुआ है। इस वर्णन से उक्त अर्थ पर भी प्रकाश पड़ता है कि सूर्य आदि प्रकाशमान लोकलोकान्तरों में कहां से परमात्मा ने प्रकाश को स्थापित किया है। वस्तुतः त्रिगुणात्मक मूल उपादान, इस प्रकाश का अक्षय भण्डार है, और उसका नियन्ता है–सर्वशक्तिमान् चेतन परमात्मा। इसप्रकार प्रस्तुत ऋचा में 'त्रिधातु' पद उसी मूल उपादान के लिये प्रयुक्त हुआ निश्चित होता है, जिसको सांख्य में 'त्रिगुणात्मक प्रकृति' कहा गया है।

**'त्रिधातु' सायण की दृष्टि में**—यह प्रथम कह दिया गया है, कि इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता 'इन्द्र' है। परन्तु सायण ने २३वीं ऋचा का प्रथम 'सोम' परक व्याख्यान किया है, अर्थात् सायणव्याख्या के अनुसार इस ऋचा का देवता 'सोम' होना चाहिये। परन्तु इस व्याख्यान में ऋचा के पूर्वार्ध का अर्थसामञ्जस्य नहीं होता। सायण ने 'सोम' को लतारूप में वर्णन किया है। उस लतारूप सोम में, उषाओं का उत्पन्न करना तथा सूर्य में ज्योति का स्थापन करना, सर्वथा असम्भव है। इसके अतिरिक्त इन्द्रदेवताक ऋचा का सोमपरक अर्थ करना, अनुक्रमणी आदि के विपरीत है।

अन्ततः 'यद्वा' कहकर, सायण ने इस ऋचा का इन्द्रपरक अर्थ किया है। परन्तु वह इन्द्र को एक व्यक्तिविशेष, तथा देवों का राजा मानकर व्याख्यान करता है। यदि हमारे समान शरीरधारी, कुछ अधिक शक्ति रखने वाले, व्यक्तिविशेष को यहां 'इन्द्र' समझा जाय; तो उसके सम्बन्ध में सूर्यादि लोकों के रचने की सम्भावना, दूर की बात होगी। सायण ने इन दोनों व्याख्यानों में, 'त्रिधातु' पद का अर्थ—तीन सवनों में होने-वाला तीन प्रकार का सोम—किया है, और ऋचा के उत्तरार्धगत पदों का अर्थ करते हुए बताया है, कि वह सोम, द्युलोक में रोचमान देवों के बीच में छिपा था। इन्द्र ने उसे प्राप्त कर लिया। परन्तु इस व्याख्यान में यह नहीं समझा जासका, कि वह लतारूप सोम, द्युलोक में कैसे जा छिपा ? फिर इन्द्र से छिपकर उसका देवों में जाने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि इन्द्र स्वयं उन्हीं देवों का राजा है। उससे सोम का छिपना, और देवों में जाना, सर्वथा विपरीत एवं असंगत सा प्रतीत होता है। प्रस्तुत प्रसंग में सायण के अर्थ किसी निगूढ़ भाव को संकेत करते हों, तो अन्य बात है; परन्तु कथित अर्थ का सामञ्जस्य बैठाना आवश्यक होना चाहिये। जिन भावनाओं को लेकर सायण ने वेदार्थ किया है, वेद की वस्तुस्थिति से वह दूर हैं। इसलिये प्रस्तुत प्रसंग के समान, अनेक स्थलों पर ऐसे व्याख्यान विचारणीय हैं।

**'त्रिधातु' मूल उपादानतत्त्व, वेद में**—वेद में 'त्रिधातु' पद, जगत् के मूल उपादान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इसके लिए वेद के कुछ स्थलों का निर्देश कर उनका व्याख्यान कर दिया गया। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थलों में 'त्रिधातु' पद, उक्त अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। हम उनमें से कुछ स्थलों का यहां निर्देश-मात्र कर देना उपयुक्त समझते हैं। विद्वान् पाठक उनका गम्भीरतापूर्वक विचार कर सकते हैं।

| | |
|---|---|
| ऋग्वेद ३।२६।६॥ | ऋग्वेद ८।४७।१०॥ |
| ऋग्वेद ५।४७।४॥ | ऋग्वेद ८।५१।४॥ |
| ऋग्वेद ७।५।४॥ | ऋग्वेद ८।७२।६॥ |
| ऋग्वेद ८।३६।६॥ | यजुर्वेद १८।६६॥ |
| ऋग्वेद ८।४०।१२॥ | अथर्ववेद २०।८३।१॥ |

सांख्य में जगत् का मूल उपादान, त्रिगुणात्मक प्रकृति को माना गया है। तब

चेतन और अचेतन, इन दो तत्त्वों को मूलतः स्वतन्त्ररूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकरण में हमने अतिसंक्षेप से यह प्रदर्शित करने का यत्न किया है, कि सांख्य के उन सिद्धान्तों के आधार, वेद के वे वर्णन कहे जासकते हैं, जहां जगत् के मूल उपादान तथा उसके चेतन नियन्ता का उल्लेख है। वेद की भावना, चेतन और अचेतन को मूल में एक मानने की नहीं है, इसपर यथास्थान विवेचन प्रस्तुत किया गया है। कुछ विद्वानों का ऐसा विचार पाया जाता है, कि सांख्यदर्शन, एक अवैदिक दर्शन है। जिन सिद्धान्तों का उसमें प्रतिपादन किया है, उनका आधार वेद में उपलब्ध नहीं होता। इसी दृष्टि से, सांख्य के उन मूल सिद्धान्तों के आधार, अतिसंक्षेप में हमने वेद से दिखाने का यत्न किया है, जिन सिद्धान्तों पर इस दर्शन की आधारशिला रक्खी गई है।

**वेद के पुरुषसूक्त**—इनके अतिरिक्त वेदों में अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें सृष्टिविद्या विषयक वर्णन उपलब्ध होते हैं। इनमें वेदों के पुरुषसूक्त[1] और 'अस्यवामीय'[2] सूक्त अत्यन्त विचारणीय हैं। पुरुषसूक्तों के वर्णन के अनुसार जगत्सर्ग एक 'देवयजन' है, देव के द्वारा प्रारम्भ किया गया एक महायज्ञ। यह देव सर्वातिशायी चेतनशक्ति है, जिसे दर्शनशास्त्र में ब्रह्म, ईश्वर अथवा पुरुषरूप से वर्णन किया गया है। यह सब जगत् का नियन्ता स्रष्टा कर्त्ता धर्त्ता संहर्त्ता है। वह दिव्य चेतनतत्त्व अनन्तशक्तिसम्पन्न है, उसकी समस्त शक्तियां देवरूप में इस महायजन का संचालन करती हैं। वे देव इस महायज्ञ का विस्तार करते हैं। जीव-पुरुष इस यज्ञ में हविरूप है, समस्त ऋतु आदि इसके साधन हैं। पहले ही विद्यमान जीव-पुरुष को संस्कृत कर यहां प्रस्तुत किया जाता है। इस यज्ञ की प्रारम्भिक सम्पन्नता होने पर समस्त प्राकृत जगत् भूत-भौतिक तथा प्राणी-जगत् का प्रादुर्भाव होजाता है, तभी चारों वेद प्रकट होते हैं, समस्त चन्द्र सूर्य आदि लोकलोकान्तर प्रकाश में आजाते हैं, समाज-व्यवस्था बनती हैं, संसार के सब कार्य चालू होजाते हैं। देवों द्वारा संचालित विस्तारित इस यज्ञ में जीव-पुरुषरूपी पशु को बांध दिया गया है। यह सत्य सनातन यज्ञ अनादिकाल से अनवरत प्रसृत है, यह एक श्रेष्ठ नियत व्यवस्था हैं, जिसके दृढ़ तटों से घिरा जगत्-नद का अजस्र धाराप्रवाह निर्बाध बहा करता है।

वेद के इन वर्णनों में अत्यन्त रुचिकर एवं आकर्षक रीति पर जगत्सर्ग का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहां अतिस्थूलरूप से उसकी रूपरेखा प्रस्तुत की है, इसके प्रतिपद व्याख्यान में वर्णन के गाम्भीर्य एवं वैशद्य का आभास सम्भव है। अपने में यह एक ऐसा अतिरिक्त विषय है, जिसके समझने एवं विवेचन करने की सदा अपेक्षा है। अथर्ववेद के पदों में [पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः, १०।८।१४] बाह्य इन्द्रियों से इसे सब देखते अवश्य हैं, पर आन्तर भावना से वस्तुस्थिति में इसे सब जान नहीं पाते। सृष्टि-विद्याविषयक वैदिक वर्णन वस्तुतः अगाध समुद्र के समान है। इनमें गहरा गोता लगाने

१—पुरुषसूक्त, ऋ० १०।९०।। यजु० ३१ ।। अथर्व १९।६।।
२—अस्यवामीयसूक्त, ऋ० १।१६४।। अथर्व० ९।९।।

पर सच्चे रत्नों का लाभ होसकता है।

**वेद के अस्यवामीय सूक्त**—वेद के 'अस्यवाभीय' सूक्त भी इस विषय में गम्भीरता-पूर्वक विचारणीय हैं। ये जगत्सर्गविषयक पुष्कल सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इस सूक्त की प्रथम[1] ऋचा में तीन अनादि तत्त्वों का वर्णन है। वह परमात्मा सर्वातिशायी अनादि तत्त्व है. जो सबका सेवनीय है, एवं समस्त जगत् का स्रष्टा है। उसका साथी एक और समान वर्ग है, जो इस जगत् का भोक्ता है, वह मध्यम है, कारण यह है, कि उसकी स्थिति परमात्मा और प्रकृति इन दोनों के मध्यगत है। यह जीवात्मवर्ग है। जगत्सर्ग में परमात्मा सर्वातिशायी निमित्त है, जीवात्मा अपने कर्मों द्वारा सर्ग में निमित्त रहते हैं। परमात्मा केवल निमित्त है, पर जीवात्मा जगत् के भोक्ता भी हैं, इसी कारण परमात्मा का साथी जीवात्मवर्ग 'मध्यम' है। अनादि चेतन तथा कर्मों द्वारा विशिष्ट जगद्रचना में निमित्त होने से यह परमात्मा का भ्राता अर्थात् साथी है। इसकी यह मध्यगत स्थिति दैव-आसुर सर्ग की प्रयोजक है। कर्त्ता भोक्ता के रूप में अभ्यागत यह आत्मा जब अपनी प्रवृत्तियों को परमात्मा की ओर झुका लेता है, तब इसमें दिव्य भावनाओं का उद्रेक रहता है, ऐसा समाज देवों का समाज अथवा दैवी सर्ग कहा जाता है; पर भोगलिप्सा से जब इसका झुकाव प्रकृति एवं विषयों की ओर होजाता है,आत्मा की इन प्रवृत्तियों को आसुरी बताया गया है। ऐसा केवल प्रकृति का उपासक समाज तत्त्वदर्शियों ने आसुर-सर्ग कहा है। यह वास्तविकता जीवात्मवर्ग की मध्यमस्थिति का प्रयोजक है।

उस परमात्मा का तीसरा साथी 'घृतपृष्ठ' है। यह पद तीसरे अनादितत्त्व का बोधक है। वह तत्त्व है—जगत् का मूल उपादान जड़ प्रकृति। 'घृत' पद वेद में उदक का वाचक माना जाता है, यह अपने कार्य शरीर का उपलक्षण है, रयि एवं प्राण अथवा तरल रज-वीर्य के रूप में यह शरीर का कारण होता है। 'पृष्ठ' पद 'स्पृश्' धातु से बना है [निरु० ३।४], उसका अर्थ होता है—स्पर्श करना, छूना अथवा भोग करना, आत्मा स्थूलशरीरादि के द्वारा ही प्रकृति के संपर्क में आता है, अर्थात् प्रकृति का भोग करता है, इसप्रकार 'घृतपृष्ठ' पद आत्मा की भोग्यभूत प्रकृति का वाचक है। ऋचा में प्रथम परमात्मा के द्वितीय भ्राता जीवात्मवर्ग को भोक्ता [अश्नः] बताया है, उसके भोग्य तत्त्व को स्पष्ट करने के लिये यह पद है, जो अपने विवरण से इस यथार्थता का प्रतिपादन करता है।

ऋचा के चतुर्थ चरण में इस तीसरे साथी के स्वरूप का वर्णन है। तत्त्वदर्शी व्यक्ति उसके स्वरूप को देखता है। वह 'विश्पति' है, 'सप्तपुत्र' है। 'विश्' प्रजाओं का नाम है, समस्त प्राणिजगत्। प्राणीमात्र का रक्षण पोषण इस तीसरे साथी के द्वारा होता है। आत्मा भोक्ता का भोक्तृत्व वस्तुतः भोग्य पर अवलम्बित है, इसी रूप से भोग्य तत्त्व

---

१—अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

संसारस्थिति में भोक्ता का पालक पोषक है, फलतः यह तृतीय भ्राता घृतपृष्ठ 'विश्पति' है। यह 'सप्तपुत्र' है, सातों लोक इसी के पुत्र हैं, सातों लोकों में विश्व ब्रह्माण्ड का समावेश है। यह सब प्रकृति का विकार है। ब्रह्माण्ड की पिण्ड में कल्पना करने पर सात पुत्र, सांख्य में प्रतिपादित सात 'प्रकृति-विकृति' कल्पना किये जासकते हैं। जगत् की सर्गप्रक्रियागत वस्तुस्थिति का यह सांख्यीय वर्णन वेदानुसारी है। वेद में अन्यत्र अदिति [प्रकृति] के सात पुत्रों का संकेत उपलब्ध होता है। पिछले पृष्ठों में अदितिसूक्त [ऋ० १०।७२] का उल्लेख किया गया है।

'अस्यवामीय' सूक्त की प्रसिद्ध 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि बीसवीं ऋचा में भी स्पष्ट रूप से तीन अनादि तत्त्वों का वर्णन है। वहा चेतनतत्त्व को भोक्ता और अभोक्ता दो रूपों में वर्णन किया है, परमात्मा अभोक्ता को वहां 'अनश्न' कहा है, इसी आधार पर प्रथम ऋचा में 'अश्न' पद की व्याख्या भोक्ता की गई है। जगत् के मूल उपादान प्रकृति का वर्णन 'वृक्ष' पद से किया गया है। फलतः चेतन और जड़ [अचेतन] रूप में दो प्रकार के स्वतन्त्र अनादितत्त्व हैं। चेतनतत्त्व मे एकमात्र परमात्मा अभोक्ता और जीवात्मवर्ग भोक्ता के रूप में वर्णित हैं, इनकी स्थिति अपनेरूप में सर्वथा पृथक् है, इनसे अतिरिक्त है- जड़तत्त्व; जगत् का मूल उपादान तथा जीवात्मवर्ग का भोग्य।

इसप्रकरण में प्रदर्शित वेद के स्थलों के अतिरिक्त अन्य अनेक वैदिक वर्णन ऐसे हैं, जो उक्त सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। परन्तु यहां 'स्थालीपुलाकन्याय' का अनुसरण करते हुए तथा ग्रन्थ के कलेवर का ध्यान रख, अपेक्षित एवं विवादास्पद वर्णनों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। जो विद्वान् सांख्यप्रतिपादित सिद्धान्तों को अवैदिक जान, इस दर्शन को अवैदिकदर्शन कहते व समझते हैं, उन्हें इस पर ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए।

पञ्चम अध्याय

# प्राचीन साहित्य पर सांख्य का प्रभाव

## [ संहिता–आरण्यक–ब्राह्मण ]

(क)

अतिप्राचीनकाल में महर्षि कपिल ने विश्व-पहेली को सुलझाने और इसकी गम्भीर समस्याओं के विवेचन के लिए सर्वप्रथम जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की नींव डाली, उसका मूल आधार, वेदों के उन वर्णनों से लिया गया है, जिनमें सृष्टि-समस्याओं का उल्लेख है। इसका वर्णन गत अध्याय में कर दिया गया है, कि सृष्टिसम्बन्धी उन विवरणों को दार्शनिकरूप देने वाला सर्वप्रथम व्यक्ति कपिल है। कपिल के दार्शनिक विचारों ने धीरे धीरे समाज और साहित्य पर अपना प्रभाव बढ़ाया। वेदों के अनन्तर जितना अन्य वैदिक तथा दूसरा साहित्य उपलब्ध होता है, उसमें कपिल के सिद्धान्तों की छाप निश्चितरूप से दीख पड़ती है। यदि हम कापिलविचारों के सर्वतोमुखी प्रसार पर दृष्टि डालें, तो यह कहना अत्युक्ति न होगा, कि भारत के सम्पूर्ण प्राचीन तथा मध्यकालीन साहित्य में सांख्यविचार छाये हुए हैं। यह भी अधिक संभव है, कि परम्परा के द्वारा इन विचारों की आभा, विचारान्तरों में छनकर विदेशों तक पहुंची हो; परन्तु उस ओर दृष्टि देने के लिये अभी उपयुक्त अवसर नहीं है। प्रस्तुत प्रकरण में केवल इतने अंश पर प्रकाश डालने का यत्न किया जायगा, कि भारतीय साहित्य पर सांख्य-विचारों तथा सांख्य-परिभाषाओं का प्रभाव कहां तक है। वैदिक संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, महाभारत धर्मशास्त्र, पुराण, बौद्धदर्शन तथा अन्य साहित्य आदि सब पर एक विहंगम दृष्टि डालने का यत्न किया गया है।

### काठकसंहिता में 'पञ्चविंश' नाम से पुरुष का उल्लेख

काठकसंहिता [ ३३।८ ] में एक सन्दर्भ इसप्रकार है—

"ते पंचविंशं स्तोममुपयन्ति पुरुषस्तोमं, दश हस्त्या अङ्गलयो
दश पद्या द्वौ बाहू द्वे सक्थ्या आत्मा पञ्चविंशः ।"

उन्होंने (ऋत्विजों ने) पंचविंश स्तोम का अनुष्ठान किया, जो पुरुषस्तोम है। यहां पर 'पंचविंशस्तोम' को 'पुरुषस्तोम' कहने से यह स्पष्ट होता है, कि संहिताकार 'पंचविंश' पद को 'पुरुष' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ समझता है। वस्तुतः संहिताकार के इस कथन का सामञ्जस्य सांख्यसिद्धान्त के आधार पर किया जासकता है। वहां प्रकृति और

प्राकृत तत्त्वों की संख्या चौबीस बताकर पुरुष को पच्चीसवां (पञ्चविंश) कहा गया है, जो अप्रकृति तथा अप्राकृत तत्त्व है। प्रतीत होता है, संहिताकार से पूर्व, सांख्यसिद्धान्त के अनुसार पुरुष का 'पञ्चविंश' कहा जाना व्यवस्थित होचुका था। परन्तु उन प्राकृत विभागों का–जिनके आधार पर सांख्यमतानुसार पुरुष को 'पञ्चविंश' कहा गया है–संहिता के प्रस्तुत प्रसंग में आपाततः कोई उपयोग न दीखने के कारण, संहिताकार ने पुरुष के 'पञ्चविंश' नाम को व्यवस्थित रखते हुए, उसके अन्य आधार का उद्भावन किया है।

संहिताकार ने लिखा है—'दस हाथ की अंगुलियां, दस पैर की, दो भुजा और दो टांग ये चौबीस हैं। पच्चीसवां आत्मा है।' संहिता में शरीर के ये चौबीस अंग गिनाकर जो आत्मा को पच्चीसवां बताया है, इसमें यह विचारना आवश्यक है, कि शरीर के इन्हीं चौबीस अंगों के उल्लेख किये जाने का क्या विशेष आधार होसकता है? शरीर का मुख्य अंग–सिर–इसमें नहीं गिना गया। केवल शाखाओं की गणना की गई है। शरीर के मध्यभाग का उल्लेख भी यहां नहीं है। इससे एक बात ध्वनित होती है, कि पुरुष की व्यवस्थित 'पञ्चविंश' संज्ञा को प्रकृत में किसी तरह निभाने के लिये पूर्वोक्त रीति पर इन अंगों की गणना कर दी गई है। इसके अतिरिक्त संहिता के प्रस्तुत प्रसंग में इन अंगों की गणना का क्या उपयोग है, यह भी विचारणीय है।

**पुरुष के 'पञ्चविंश' कहे जाने का प्रकृत में सामञ्जस्य**—इसको अधिक स्पष्ट समझने के लिये संहिता के प्रसंग का संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक होगा।

शास्त्र में अनेक यज्ञादि कर्मों का विधान है। उनमें कुछ मुख्य कर्म होते हैं, दूसरे उनके अंग। मुख्य कर्म को प्रकृति और अंग को विकृति कहा जाता है। इसप्रकार बड़े यागों के अवान्तर कर्मों को उनका अंग अथवा विकृति समझना चाहिये। ऐसे ही एक 'महाव्रत' नामक कर्म का वैदिक ग्रन्थों में वर्णन है। यह 'विश्वजित्' 'चतुर्विंश' आदि प्रकृतियागों का शेषभूत अर्थात् विकृति है। प्रकृति में जिन शस्त्रों (स्तुतियों) का प्रयोग होता है, उनके अंगों में भी उसप्रकार की कुछ स्तुतियों का प्रयोग किया जाता है। 'विश्वजित्' प्रकृति में 'आज्यशस्त्र' और 'प्रउगशस्त्र' का प्रयोग होता है, उन दोनों का अतिदेश उसकी विकृति 'महाव्रत' नामक कर्म में भी किया जाता है। इन दोनों शस्त्रों का प्रयोग 'महाव्रत' के प्रातःसवन में होता है।

इसका अभिप्राय यह है, कि 'महाव्रत' कर्म के प्रातःसवन में प्रथम 'आज्यशस्त्र' तथा उसके अनन्तर 'प्रउगशस्त्र' का प्रयोग होना चाहिये। 'आज्यशस्त्र' का स्वरूप यह है, कि ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के प्रथम सूक्त की ऋचाओं द्वारा अग्नि देवता के उद्देश्य से आज्य की पच्चीस आहुतियां दी जावें। इस सूक्त की ऋचाओं की संख्या पच्चीस है। इसका अधिकारी वही यजमान होता है, जो 'अन्नाद्यकाम' हो, अर्थात् जिसकी मुख्य कामना अन्न के लिये हो, इसमें प्रजनन, प्राणप्रतिष्ठा तथा अन्नप्रतिष्ठा आदि कामना अन्तर्निहित हैं। ये सब प्रसंग आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक लिखे गये हैं।

आज्यशस्त्र में उपयुक्त होने वाले सूक्त [ऋ० ७।१] की ऋचाओं की पच्चीस संख्या का 'पञ्चविंश' पुरुष के साथ सुन्दर सामञ्जस्य कल्पना किया गया है। इसी प्रसंग के ऐत-रेय आरण्यक में उल्लेख आता है—

"ताः परागवचनेन पञ्चविंशतिर्भवन्ति पञ्चविंशोऽयं पुरुषो दशहस्त्या अंगुलयो दश पाद्या द्वा ऊरू द्वौ बाहू आत्मैव पञ्चविंशः, तमिममात्मानं पञ्चविंशं संस्कुरुते, अथो पञ्चविंशं वा एतदहः पञ्चविंश एतस्यान्हः स्तोमस्तत्समेन समं प्रतिपद्यते तस्माद् द्वे एव पञ्चविंशतिर्भवन्ति।"

वे ऋचा [ऋ० ७।१।१-२५] आवृत्ति के विना पच्चीस हैं। यह पुरुष 'पञ्चविंश' है। दश हाथ की अंगुलियां दश पैर की, दो टांग दो भुजा, आत्मा ही पच्चीसवां है। इस अनुष्ठान के द्वारा पञ्चविंश आत्मा का संस्कार किया जाता है। यह महाव्रत नामक कर्म [अहः] भी पच्चीसवां है, और उसका स्तोम [सामगों द्वारा ऋचाओं के गानरूप में किया स्तवन] भी। सम के साथ सम मिल जाता है। ये दोनों पच्चीस-पच्चीस हैं।

**ऋक्संख्या पुरुष के 'पञ्चविंश' कहे जाने का आधार क्यों नहीं**—इस बात को पहले लिखा जाचुका है, कि उक्त संहिता आरण्यक तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के रचनाकाल से पूर्व सांख्यसिद्धान्तों के आधार पर पुरुष को 'पंचविंश' कहा जाना व्यव-स्थित होचुका था। परन्तु इसके विपरीत यह आशंका की जासकती है, कि आज्यशस्त्रसूक्त [ऋ० ७।१] की ऋचाओं की संख्या ठीक पच्चीस होने के कारण, पच्चीस संख्या का सम्बन्ध पुरुष के साथ जोड़ा गया है। सांख्य के 'पञ्चविंश' पुरुष की यहां कोई भावना नहीं है। पुरुष को 'पञ्चविंश' कहे जाने का आधार, सूक्तगत ऋचाओं की पच्चीस संख्या को कहा जासकता है। इसी आरण्यक में दूसरे स्थल [१।२।२] पर आत्मा को 'एकशततम' कहा है, और उसका आधार, उस कर्म में प्रयुक्त ऋचाओं की सख्या है। इसलिये महाव्रत कर्मगत प्रातःसवन के आज्यशस्त्र में भी पुरुष को 'पञ्चविंश' कहना ऋक् संख्या के आधार पर युक्त कहा जासकता है।

इन प्रकरणों का गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर उक्त आशंका का आधार दुर्बल दिखाई देने लगता है। आज्यशस्त्र-सूक्त [ऋ० ७।१] में पच्चीस ऋचा हैं, यह स्पष्ट है। ऐतरेय आरण्यक का जो सन्दर्भ हमने ऊपर उद्धृत किया है, उसकी अवतरणिका में आचार्य सायण ने लिखा है, अगली पंक्तियों में सूक्तगत ऋचाओं की पच्चीस संख्या की प्रशंसा की जाती है।[1] इसके उपसंहार से यह निश्चय होजाता है, कि सूक्तगत पच्चीस संख्या की प्रशंसा यही है, कि उसका 'पञ्चविंश' पुरुष के साथ सामञ्जस्य होजाता है। इससे यह ध्वनित होता है, कि सूक्त-गत ऋचाओं की पच्चीस संख्या के समान पुरुष का 'पञ्चविंश' होना पहले से व्यवस्थित होना चाहिये। उसी अवस्था में ऋचाओं की पच्चीस

---

**१—इदानीं सर्वास्वृक्षु अवस्थितां पञ्चविंशतिसंख्यां प्रशंसति।**
**......प्रकारान्तरेण तां संख्यां प्रशंसति।**

संख्या की प्रशंसा साधार कही जासकती है, और तभी 'समेन समं प्रतिपद्यते' इस वाक्य के कथन का सामंजस्य संभव होसकता है।

प्रतीत होता है, संहिता आदि की रचना के समय पुरुष का 'पञ्चविंश' होना व्यवस्थित था। पुरुष के किसी संस्कार के लिये कर्मविशेष में वेद के जिस सूक्त का उपयोग किया, उसकी ऋचाओं की संख्या पच्चीस थी। ऋषि इस समानता के ऊपर ध्यान जाने पर उछल पड़ा और उसकी कल्पना दौड़ने लगी। पुरुष के व्यवस्थित 'पञ्चविंश' नाम की यथार्थता को निभाने के लिये उसने कल्पना के आधार पर देह के कुछ अंगों की गणना कर दी और 'पञ्चविंश' पुरुष का, सूक्त की ऋक्संख्या के साथ सामञ्जस्य पूरा कर दिया। वस्तुतः इसप्रकार के कथन प्रकृत अनुष्ठानों के अधिक व्याख्यान ही कहे जासकते हैं, मूल अनुष्ठानों पर इनका कोई प्रभाव नहीं। क्योंकि इस संख्यागत सामञ्जस्य को न जानकर भी कोई पुरुष यदि उक्त अनुष्ठान का प्रयोग करता है, तो उसके आत्मा का संस्कार होगा ही। आत्मा के संस्कृत होने के साथ केवल विशुद्ध अनुष्ठान का सम्बन्ध कहा जासकता है। इसलिये प्रकृत में संख्या की प्रशंसा कीजाने की भावना उसी समय साधार कही जासकती है, जब आत्मा का 'पञ्चविंश' होना पहले से व्यवस्थित हो।

पुरुष के 'पञ्चविंश' कहे जाने का मुख्य आधार एक है—यह ठीक है, कि सांख्य में जिस आधार पर पुरुष को 'पंचविंश' कहा गया है, अथवा जिस दार्शनिक प्रक्रिया का वहां उद्भावन किया गया है, उसका उपयोग अथवा उन्हीं आधारों पर प्रकृत अनुष्ठानों में पुरुष का 'पञ्चविंश' होना नहीं बताया जासकता, इसलिये संहिताकार आदि ने देहांगों की गणना के आधार पर पुरुष के 'पञ्चविंश' होने का निर्वाह किया है; क्योंकि सशरीर पुरुष ही यज्ञानुष्ठान आदि में समर्थ होसकता है। वास्तविकरूप में देहांगों के आधार पर पुरुष को 'पञ्चविंश कहना इतना अधिक प्रामाणिक नहीं। सांख्यप्रदर्शित प्रक्रिया एक वैज्ञानिक आधार है, उस आधार पर पुरुष को 'पञ्चविंश' कहा जाना अधिक प्रामाणिक है। संहिता आदि में केवल सूक्तगत ऋक्संख्या की पुरुष के साथ सामञ्जस्यरूप–प्रशंसा के लिये ऐसी कल्पना कीगई है। वस्तुतः ऐसे वर्णन एक तुक मिलाना कहे जासकते हैं। पुरुष की 'पञ्चविंश' संज्ञा का मुख्य आधार सांख्यप्रक्रिया कही जासकती है।

'महाव्रत' कर्म के प्रातःसवन में 'आज्यशस्त्र' का अनुष्ठान होने के अनन्तर 'प्रउगशस्त्र' का प्रयोग किया जाता है। यह एक गान है, जिसको 'आज्यशस्त्र' के अनुष्ठान के अनन्तर सामगों द्वारा गाया जाता है। इस गान में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के द्वितीय और तृतीय सूक्त की ऋचाओं का उपयोग होता है। इन दोनों सूक्तों की ऋचाओं को सामरीति पर गाया जाता है, इसी का नाम 'स्तोम' है। संहिता और आरण्यक में इसीको 'पञ्चविंशस्तोम' कहा है। परन्तु इन दोनो सूक्तों की ऋक्संख्या इक्कीस है।

द्वितीय सूक्त में नौ ऋचा हैं और तृतीय में बारह ।

इसप्रकार प्रातःसवन के इन दोनों शस्त्रों [आज्यशस्त्र, प्रउगशस्त्र] में परस्पर वैषम्य होजाता है। क्योंकि 'आज्यशस्त्र'के सूक्त [ऋ० ७।१]में पूरी पच्चीस ऋचा हैं, जिनका सामञ्जस्य 'पञ्चविंश' पुरुष के साथ ठीक बैठता है, परन्तु 'प्रउगशस्त्र' के सूक्तों में इक्कीस ऋचा हैं, उनका सामञ्जस्य कैसे हो ?

आरण्यककार लिखता है, कि "प्रउगशस्त्र[1] अथवा स्तोम की ऋचाओं का आवृत्ति-रहित पाठ करने पर उनकी संख्या इक्कीस रहजाती हैं, तब पुरुष को 'एकविंश' कहा जायगा। दस अंगुलियां हाथ की दस पैर की बीस और इक्कीसवां पुरुष हुआ।" परन्तु पुरुष 'पञ्चविंश' है। 'आज्यशस्त्र' की ऋक्संख्या से उसका ठीक सामंजस्य होजाता है। 'प्रउगशस्त्र' की ऋक्संख्या का सामञ्जस्य कैसे हो ? इस विषमता को हटाने के लिये आरण्यककार ने कहा—"उन[2] इक्कीस ऋचाओं की प्रथम और अन्तिम ऋचा का तीन-तीन वार गान किया जाय" इसप्रकार इक्कीस ऋचाओं के पच्चीस गान होजायेंगे, तब 'पञ्चविंश' पुरुष के साथ 'स्तोम' का सामंजस्य होजायगा। इसलिये आरण्यककार ने उपसंहार में 'समेन समं प्रतिपद्यते' लिखा है। इसप्रकार 'पञ्चविंश' पुरुष के संस्कार के लिये पच्चीस ऋचाओं से 'आज्यशस्त्र' तथा पच्चीस ही ऋचाओं से 'प्रउगशस्त्र' प्रस्तुत किया गया है। फलतः ऋचाओं की पच्चीस-पच्चीस संख्या की प्रशंसा हमें इस परिणाम पर लेजाती है, कि पुरुष का 'पञ्चविंश' होना पहले से व्यवस्थित था। ऋक्संख्या का उसके साथ सामंजस्य प्रदर्शन कर ऋक्संख्या की प्रशंसा की गई है। इसप्रकार सांख्यप्रक्रिया के आधारपर निर्धारित पुरुष की 'पञ्चविंश' संज्ञा का उपयोग करने के कारण संहिताकार आदि सांख्यपरिभाषाओं से प्रभावित कहे जासकते हैं।

**पुरुष के 'एकशततम' कहे जाने का आधार**—प्रथम आशंका के प्रसंग में यह निर्देश किया गया है, कि ऐतरेय आरण्यक के एक अन्य स्थान (१।२।२) में पुरुष को 'एकशततम' कहा गया है, जो प्रकृत कर्म की ऋक्संख्या के आधार पर है। इस प्रसंग को यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा।

यह पहले कहा गया है, कि 'महाव्रत' कर्म के प्रातःसवन में 'आज्यशस्त्र' और 'प्रउगशस्त्र' का प्रयोग होता है। इसके अनन्तर 'महाव्रत' कर्म के माध्यन्दिनसवन में 'मरुत्वतीयशस्त्र' का प्रयोग किया जाता है। इसमें ऋग्वेद की सत्तानवें (९७) ऋचाओं का उपयोग होता है, जो भिन्न-भिन्न स्थलों से चुनकर संग्रह की गई हैं। उनका संग्रह

१—ताः [ऋचः] पराग्वचनेनैकविंशतिर्भवन्त्येकविंशोऽयं पुरुषो दशहस्त्या अंगुलयो दश पाद्या आत्मैकविंशः। [ऐत० आर० १।१।४]

२—तास्त्रिः प्रथमया त्रिरुत्तमया पञ्चविंशतिर्भवन्ति पञ्चविंश आत्मा पञ्चविंशः प्रजापतिः।......पञ्चविंश एतस्य.. स्तोमः। तत्समेन समं प्रतिपद्यते। द्वे एव पञ्चविंशतिर्भवन्ति। [ऐत० आर० १।१।४]

इसप्रकार है—

६ ऋचा—तीन स्तोत्रिय और तीन अनुरूप की,
१८ ,, —छह प्रगाथों की (प्रत्येक प्रगाथ में तीन ऋचा),
३ ,, —धाय्या ऋचा
२४ ,, —ऋग्वेद, मं० १०, सूक्त २७,
१५ ,, — ,, ६, ,, १७,
१५ ,, — ,, १ ,, १६५,
५ ,, — ,, ३ ,, ४७,
११ ,, — ,, १० ,, ७३।

---

९७ —सम्पूर्ण योग

स्तोत्रसम्बन्धी ऋक्समूह को 'स्तोत्रिय' कहते हैं। तीन ऋचाओं का समूह 'तृच' कहा जाता है। एक तृच में एक साम पूरा किया जाता है। सामगान करने वाले ऋत्विजों के द्वारा मरुत्वतीयशस्त्र में सर्वप्रथम इसी तृच [ऋ०२।२२।१-३] का स्तुतिरूप में गान किये जाने के कारण इसको 'स्तोत्रिय' तृच कहा गया है। इसके ठीक अनन्तर पढ़े जाने के कारण दूसरा तृच [ऋ० १।१३०।१॥ १।१३१।१॥ १०।१३३।१] 'अनुरूप' तृच कहा जाता है। ये दोनों तृच 'महाव्रत' कर्मान्तर्गत मरुत्वतीयशस्त्र के प्रारम्भ में पढ़े जाते हैं।

इसके अनन्तर अठारह ऋचा, छह प्रगाथों की आती हैं। उनमें प्रथम प्रगाथ का नाम 'प्रतिपत्' और दूसरे का 'अनुचर' है। प्रगाथों में इस प्रगाथ का सर्वप्रथम प्रयोग होने के कारण इसका नाम 'प्रतिपत्' है। इसमें ऋग्वेद [८।६८।१–३] की तीन ऋचाओं का उपयोग होता है। इसके अनन्तर पढ़े जाने के कारण दूसरे प्रगाथ का नाम 'अनुचर' है। इसमें ऋग्वेद के [८।२।१–३] एक तृच का उपयोग किया जाता है। इसके अनन्तर तृतीय प्रगाथ का तृच ऋग्वेद [८।५३।५–७] की तीन ऋचाओं से निष्पन्न होता है। चतुर्थ प्रगाथ का तृच ऋग्वेद [१।४०।३–४] की दो ऋचा तथा ऋग्वेद [८।८९।३] की एक ऋचा–इन तीन ऋचाओं से पूरा होता है। पञ्चम प्रगाथ में दो ऋचा ऋग्वेद [१।४।१–२] की हैं, तथा एक ऋचा ऋग्वेद [८।८९।१] की है। षष्ठ प्रगाथ में दो ऋचा ऋग्वेद [१।४०।५–६] की हैं और एक ऋचा है ऋग्वेद [७।३२।१०] की। इसप्रकार छह प्रगाथों में इन अठारह ऋचाओं का प्रयोग किया जाता है।

अब तीन धाय्या[1] ऋचाओं का उल्लेख है, जो इसप्रकार हैं–ऋग्वेद ३।२०।४॥

१—धाय्या उन ऋचाओं का नाम होता है जिनका उच्चारण कर प्रज्वलित अग्नि में 'समित्' छोड़ी जावे। 'धीयतेऽनया समिदिति धाय्या ऋक्' [पाणिनि ३।१।१२९ पर भट्टोजि दीक्षित]

१।६१।२ तथा १।६४।६।। हमने यहां छह प्रगाथों के अनन्तर धाय्या ऋचाओं का उल्लेख किया है। परन्तु मरुत्वतीयशस्त्र के अनुष्ठानकाल में इनमें थोड़ा विपर्यय होजाता है। तीन प्रगाथों के पाठ के अनन्तर चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ प्रगाथों की केवल दो-दो ऋचाओं का पाठ किया जाता है। इसके अनन्तर तीन धाय्या ऋचाओं का, फिर चतुर्थ, पञ्चम,षष्ठ प्रगाथों की शेष तीन ऋचाओं का। इसप्रकार तीन ऋचा 'स्तोत्रिय' तृच की, तीन 'अनुरूप' की, अठारह ऋचा छह प्रगाथों की और तीन धाय्या ऋचा; इन सत्ताईस ऋचाओं का स्पष्टीकरण पूरा हुआ, जिनका उपयोग 'महाव्रत' कर्म के माध्यन्दिन सवन में मरुत्वतीयशस्त्र में किया जाता है। इस शस्त्र की शेष सत्तर ऋचा ऋग्वेद के जिन स्थलों से संगृहीत की गई हैं, उनका स्पष्ट निर्देश पहले कर दिया गया है।

मरुत्वतीयशस्त्र में उक्तरूप से ऋग्वेद की सत्तानवें ऋचा प्रयुक्त कीजाती हैं। इस शस्त्र का मुख्य फल आयुष्य[1] बतलाया गया है। इन्द्रिय, बल, तेज आदि फल भी इसीमें समाविष्ट हैं, इसीलिये आयुष्य के साथ उनका कथन होना चाहिये। जो यजमान इस कर्म का अनुष्ठान करता है, वह आयुष्य आदि फलों से समृद्ध होता है। यजमान पुरुष का प्रतीक है, शस्त्र में पुरुष की ऐहलौकिक आयु सौ वर्ष की कल्पना की गई है। इस औसत आयु के लिये वेद में अनेक प्रार्थना[2] हैं और अनेक स्थलों पर इसप्रकार के उल्लेख आते हैं। मरुत्वतीयशस्त्र के अनुष्ठान का, क्योंकि यह मुख्य फल बताया गया है,[1] इसलिये मरुत्वतीयशस्त्र में प्रयुक्त होने वाली ऋचाओं की संख्या का, इस आयुष्य के साथ सामञ्जस्य होना चाहिये। परन्तु आयुष्य का मान शत वर्ष माना गया है, और इस शस्त्र की ऋचाओं की संख्या सत्तानवें है, तब इसका सामञ्जस्य कैसे हो?

**शत संख्या-पूर्त्ति के लिए अंग-गणना**—ऐसी स्थिति में आरण्यककार ने सत्तानवें ऋचाओं में से आद्य और अन्त्य दो ऋचाओं की तीन-तीन वार आवृत्ति[3] करके एकसौ एक (१०१) संख्या को पूरा किया है, इसप्रकार आयुष्य के सौ वर्ष पूरे कर उसके आगे पुरुष को 'एकशततम' कहा है। जो सौ वर्ष की आयु में प्रतिष्ठित[4] होता है। पुरुष की इस एकसौ एकवीं संख्या के निर्वाह के लिये यहां भी शरीरांगों का आश्रय लिया गया है। प्रथम शरीर के चार विभागों की कल्पना करके प्रत्येक विभाग में पच्चीस-पच्चीस अवयवों की कल्पना की गई है, जो इसप्रकार है—शरीर की चार मुख्य शाखा–दो भुजा दो टांग–चार

१—यच्छतं तदायुरिन्द्रियं वीर्यं तेजः [ऐत० आर० १।२।२]

२—ऋ० ७।६६।१६।। यजु० ३६।२४।। शतायुर्वै पुरुषः, कौषी० ब्रा० ११।७।। १८।१०।।२५।७।। तै० ब्रा० ३।८।१५।३।।३।८।१६।२।। ताण्ड्य० ५।६।१३।। ऐ० ब्रा० २।१७।। ४।१६।।६।२।। श० ब्रा० ४।३।४।३।।५।४।१।१३।।१।६।३।१६।।

३—तास्त्रिः प्रथमया त्रिरुत्तयैकशतं भवन्ति [ऐत० आर० १।२।२]।

४—आत्मैकशततमः····यजमान एकशततमः, आयुषीन्द्रिये वीर्ये तेजसि प्रतिष्ठितः [ऐत० आर० १।२।२]।

भाग मान लिये गये हैं, इनमें प्रत्येक के पच्चीस-पच्चीस अवयव कल्पना किये हैं। ऊपर की एक शाखा के पच्चीस अंग इसप्रकार गिनाये गये हैं—

एक अंगुली के चार पर्व (पोरुए), इसप्रकार एक भाग (दक्षिणभाग) की पांच अंगुलियों के बीस पर्व हुए। दो कक्ष; 'कक्ष' पद का अर्थ कांख या बगल होता है। परन्तु शरीर के एक पार्श्व में एक ही बगल होती है, इसलिये सायण ने इसका अर्थ–बगल के दोनों ओर के भाग–किया है। इससे एक ही बगल के दो कोनों या भागों को गिनकर 'दो कक्ष' हुए। एक भुजा एक आंख और एक अंसफलक अर्थात् कन्धा। इसप्रकार शरीर के उत्तरभाग के दक्षिणपार्श्व में पच्चीस अंगों की गिनती पूरी की गई है। इसीप्रकार पच्चीस अंग वामपार्श्व के हुए। ये सब मिलकर पचास होगये। इनका उल्लेख मूल आरण्यक[1] ग्रन्थ में किया गया है। परन्तु अधोभाग के पचास अंगों की गणना का उल्लेख मूल में उपलब्ध नहीं होता। इस प्रसंग की व्याख्या में सायण ने उनको इसप्रकार गिनाया है—

दक्षिणपार्श्व के पैर की पांच अंगुलियों के बीस पर्व, ऊरु और जंघा दो, टांग की तीन सन्धियां–टखने पर घोंटू पर और नितम्ब पर अथवा कटि (कूल्हे) में। ये सब मिलकर पच्चीस हुए, इसीप्रकार वामपार्श्व के पच्चीस। शरीर के उत्तर-अधर भाग के इन अंगों की संख्या सौ हो जाती है। इनसे अतिरिक्त 'एकशततम' आत्मा है, जो शरीर के मध्य में रहता है।

**उक्त अंग-गणना में असामञ्जस्य**—पुरुष के 'एकशततम' कहे जाने के सम्बन्ध में कुछ विवेचन करने से पूर्व, इस अंग-गणना के विषय में विवेचन कर देना आवश्यक होगा। आरण्यक में शरीर के उत्तरभाग के एक पार्श्व में 'दो कक्ष' गिनाये गये हैं। परन्तु 'कक्ष' वस्तुतः एक पार्श्व में एक होता है। सायण ने इसकी संगति–कक्ष के दोनों कोनों को अलग-अलग गिनकर–लगाने का प्रयत्न किया है। हमारे विचार से एक पार्श्व में एक 'कक्ष' कंधे के नीचे बगल समझना चाहिये, जो वास्तविक 'कक्ष' है, और दूसरा कोहनी के अन्दर का 'चषकसम' भाग कक्ष गिनना चाहिये। एक 'कक्ष' के दो कोनों को अलग-अलग मानकर एक भाग में दो कक्ष की कल्पना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। अधोभाग के एक पार्श्व में भी टांग की तीन सन्धियों में 'मध्यसन्धि' की गणना की गई है। उसके समान उत्तरभाग के एक पार्श्व में भुजा की मध्यसन्धि पर दूसरे कक्ष की कल्पना असामञ्जस्यपूर्ण नहीं कही जासकती। वास्तविक कक्ष के समान, कोहनी के अन्दर का भाग कोहनी के मोड़ने पर बिल्कुल बन्द होजाता है, और इन दोनों की बनावट प्रायः समान है। यह केवल हमने सायण के 'कक्ष' पद का अर्थ करने में असामञ्जस्य दिखाया है।

---

१—पञ्चाङ्गुलयश्चतुष्पर्वा द्वे कक्षसी दोश्चाक्षश्चांसफलकं च सा पञ्चविंशतिः पञ्चविंशानीतराणि ह्यङ्गानि [ऐत० आर० १।२।२]।

अब मूल में पच्चीस संख्या की पूर्ति के लिये इन अंगों की गणना की ओर ध्यान दीजिये। उत्तरभाग के एक पार्श्व में 'एक भुजा और दो कक्ष' की गणना से तीन अंग की कल्पना कीगई है, परन्तु अधोभाग के इसीप्रकार की अंगगणना में सायण ने टांग की तीन संधियों की कल्पना की है। वहां पर उत्तरभाग के 'एक भुजा और दो कक्ष' के समान 'एक टांग और दो वंक्षण' की कल्पना क्यों नहीं की जासकती? 'वंक्षण' रान को कहते हैं। दूसरा वंक्षण घोंटू के अन्दर का 'चषकसम' भाग समझा जायगा, फिर शरीर के उत्तरभाग के एक पार्श्व में 'अंसफलक' गिना गया है। उसीके समान अधोभाग के एक पार्श्व में 'नितम्बफलक' की गणना होनी चाहिये।

मूल आरण्यक में उत्तरभाग के एक पार्श्व में 'एक आंख' गिनी गई है। फिर 'एक भुजा' को गिनकर 'दो कक्ष' की गणना की गई है। वस्तुतः 'कक्ष' भुजा का ही मूल स्थान है, और उसीका ऊपरी भाग 'अंसफलक' है। ऐसी स्थिति में 'एक भुजा' की गणना करके 'कक्ष' और 'अंसफलक' की पृथक् गणना करना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। फिर 'कक्ष' को दो गिनना और अधिक असमञ्जस है। इसलिये यदि 'एक भुजा' की गणना करके 'दो कक्ष' और एक 'अंसफलक' की गणना के बजाय, एक कक्ष, एक चक्षु, एक घ्राण और एक श्रोत्र की गणना कर दी जाती, तो अधिक युक्त था। 'अक्ष' पद सभी इन्द्रियों का ग्रहण करता है।

मूल में 'अक्ष' पद से चक्षु इन्द्रिय का ग्रहण न समझना चाहिये, प्रत्युत 'अक्ष' पद चक्षु-प्रदेश के लिये प्रयुक्त हुआ समझा जाना चाहिये, क्योंकि यहां ग्रन्थ-स्वारस्य से शरीर के बाह्य अंगों की गणना का उल्लेख प्रतीत होरहा है। इसीप्रकार 'घ्राण' और 'श्रोत्र' पदों से इन्द्रियों के ग्रहण के बजाय घ्राण-प्रदेश और श्रोत्र-प्रदेश का ग्रहण समझना चाहिये, जो स्थूलशरीर के अंग हैं। इसका अभिप्राय यह होगा, कि अंगुलियों के बीस पर्व, एक भुजा, एक कक्ष, एक चक्षु-प्रदेश [अर्थात् चक्षुगोलक और उसके आस-पास का भाग], एक घ्राण-प्रदेश तथा एक श्रोत्र-प्रदेश। इसप्रकार पच्चीस अंगों में शरीर के उत्तरभाग के एक पार्श्व का अधिक से अधिक भाग समाविष्ट हो जाता है, और किसी अङ्ग का उल्लेख होना शेष नहीं रहता। यह बात मूल आरण्यक के बतलाये विभाग में नहीं आपाती। फिर मूल आरण्यक में पांचों अंगुलियों [चार अंगुलियों और एक अंगूठा] को 'चतुष्पर्वा' अर्थात् चार-चार पोरुओं [पर्वों-विभागों] वाली लिखा है। परन्तु अंगूठे में तीन पर्व होते हैं। इसलिये यह विभागकथन भी सामञ्जस्यपूर्ण नहीं कहा जा-सकता।

**अंगों की शतसंख्या, शतवार्षिक आयुष्य के साथ सामञ्जस्य के लिए**—इतना सब लिखने से हमारा अभिप्राय यही है, कि पुरुषायुष्य के शत वर्ष का ऋक्संख्या के साथ सामञ्जस्य दिखाने के लिए यह कल्पना कीगई है। शतवर्ष के साथ ऋक्संख्या को पूरा निभाने के लिये प्रथम और अन्तिम ऋचाओं की तीन वार आवृत्ति की कल्पना है। फलतः

अंगों की इसप्रकार की गणना केवल एक कल्पना पर आधारित है, इसका कोई प्रामाणिक अथवा वैज्ञानिक आधार नहीं कहा जासकता। उसमें अनेक प्रकार की और भी कल्पना की जासकती हैं, जिनका दिग्दर्शन हमने ऊपर की पंक्तियों में कराया है।

मरुत्वतीयशस्त्र की आवृत्तिरहित ऋक्संख्या के सम्बन्ध में प्रकारान्तर से विचार करने पर एक और महत्त्वपूर्ण बात सम्मुख आती है। इन ऋचाओं की वास्तविक संख्या सत्तानवें है। यदि इसमें से अन्तिम संख्याको पुरुष का प्रतीक मान लिया जाय, तो शेष संख्या 'च्छ्यानवे' रहजाती है। प्रस्तुत आरण्यक प्रकरण में शरीरांगों की शत संख्या पूरी करने के लिये शरीर के चार विभाग कल्पना किये गये हैं, प्रत्येक विभाग में पच्चीस अंगों की कल्पना की गई है। अब यदि हम ऋचाओंकी वास्तविक संख्या में से अन्तिम संख्या को पुरुष का प्रतीक मानकर पृथक् कर दें, और अवशिष्ट संख्या के चार विभाग कर दें, तब एक विभाग की संख्या चौबीस होती है। इसी के सामञ्जस्य का ध्यान रखते हुए शरीर के चौबीस स्थूल विभाग बताये गये हैं। उसके आगे अथवा उनसे अतिरिक्त पच्चीसवां पुरुष है। शरीर के उन स्थूल-विभागों का अवान्तर विभाग करके शत संख्या को पूरा किया गया है, और पुरुष को वहां भी उससे अतिरिक्त रक्खा गया है। इसमें भी पुरुष के 'पञ्चविंश' भाव की उपेक्षा नहीं होती। वह अपनेरूप में उसी तरह बना रहता है। इससे हम इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं, कि पुरुष को जो 'एक-शततम' कहा गया है, वह पुरुष के व्यवस्थित 'पञ्चविंश' भाव पर आधारित है। मरुत्व-तीयशस्त्र में आयुष्काम यजमान अधिकारी समझा जाता है, और पुरुष का आयुष्य शतवर्ष शास्त्र में वर्णित है। केवल इतनी बात का सामञ्जस्य बिठाने के लिये 'पञ्चविंश' पुरुष को शतवार्षिक आयुष्य के ऊपर प्रतिष्ठित करने की भावना से 'एकशततम' संख्या पर पहुंचाया गया प्रतीत होता है।

**चेतन, अचेतन पृथक् तत्त्व हैं**—इन प्रकरणों में एक बात और ध्वनित होती है। देह के चौबीस अंगों को गिनाकर उनसे अतिरिक्त 'पंचविंश' पुरुष का उल्लेख किया गया है। इसीप्रकार जहां उन अंगों के और अवान्तर विभाग करके उनकी संख्या सौ तक पहुँचा दी गई है, वहां भी उनसे अतिरिक्त, पुरुष को 'एकशततम' एक सौ एकवां तत्त्व बताया है। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है, कि शरीर जिन तत्त्वों का संघात है, पुरुष अथवा आत्मा उन सबसे एक पृथक् तथा स्वतन्त्र तत्त्व है। यह प्रामाणिकरूप से हम देखते और जानते हैं, कि शरीर प्राकृत भूत भौतिक तत्त्वों का समुदायमात्र है, और आत्मा की स्थिति इन सब से सर्वथा पृथक् है। इन वर्णनों के आधार पर मौलिकरूप में परस्पर सर्वथा विभिन्न दो प्रकार के तत्त्वों की स्थिति निश्चित होती है—एक चेतन दूसरा अचेतन। मूल तत्त्वों के सम्बन्ध मे सांख्य का यह परम सिद्धान्त है। इसलिये मूलरूप में एक ही—चेतन या अचेतन—तत्त्व को मानने का सिद्धान्त, संहिता आरण्यक और ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अनुकूल नहीं कहा जासकता।

इस प्रसंग में एक और बात विचारणीय है। संहिता आरण्यक आदि ग्रन्थों के आधार पर पुरुष के 'पञ्चविंश' होने का उल्लेख किया गया है। परन्तु इन्हीं ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनमें स्तोम[1] अहः गर्भ अन्न आदि को भी 'पञ्चविंश' कहा गया है। तब इन ग्रन्थों के आधार पर केवल पुरुष का 'पञ्चविंश' होना निर्धारित नहीं होपाता, तथा स्तोम आदि को 'पञ्चविंश' बतायेजाने का आधार सांख्य नहीं कहा जासकता। इसीप्रकार इन ग्रन्थों में वर्णित आत्मा के 'पञ्चविंश' होने का आधार भी सांख्य नहीं माना जाना चाहिये।

**'स्तोम' आदि के 'पञ्चविंश' कहे जाने का आधार**—'स्तोम' तथा 'अहः' को सर्वत्र 'महाव्रत' प्रकरण में 'पञ्चविंश' कहा गया है। यह निर्देश किया जा चुका है, कि 'महाव्रत' कर्मगत प्रातःसवन के आज्यशस्त्र में पच्चीस ऋचाओं का उपयोग होता है। 'पञ्चविंश' आत्मा के साथ इस संख्या की समानता दिखाकर इसकी [संख्या की] प्रशंसा की गई है। 'महाव्रत' कर्म का अपर नाम 'अहः' आता है, इसीलिये उसके साथ पच्चीस संख्या का निर्देश है। प्रातःसवन के दूसरे 'प्रउगशस्त्र' का 'स्तोम' अपर नाम कहा जाता है। यद्यपि उसमें इक्कीस ऋचाओं का प्रयोग है, परन्तु प्रथम और अन्तिम की तीन आवृत्ति करके उसका सामञ्जस्य पच्चीस संख्या के साथ जोड़ा गया है। इस सबका मूल आधार आत्मा का 'पञ्चविंश' होना है। इस समता के आपादनसे ऋक्संख्या की प्रशंसा प्रस्तुत कीगई है, जिसके सम्बन्ध में आरण्यक [तै. आ. १।१।४] 'समेन समं प्रतिपद्यते' लिखता है। इसलिये आत्मा का 'पञ्चविंश' होना ही 'स्तोम' और 'अहः' के 'पञ्चविंश' कहे जाने का आधार है।

इसीप्रकार 'गर्भ' और 'अन्न' आदि को आत्मा के 'पञ्चविंश' होने के आधार पर 'पञ्चविंश' कहा गया है। आत्मा गर्भों में कर्मानुसार संचरण करता है, इसलिये आत्मा के 'पञ्चविंश' होने से गर्भों को 'पंचविंश' कह देने में कोई असामंजस्य प्रतीत नहीं होता। गर्भ अन्न का[2] कार्य होते हैं, इसलिये अन्न को 'पञ्चविंश कहे जाने में कोई अयुक्तता नहीं है। तात्पर्य यह है, कि 'स्तोम' आदि को 'पञ्चविंश' कहे जाने का आधार, आत्मा का 'पञ्चविंश' होना है, और आत्मा को पंचविंश कहा जाना सांख्यनिर्धारित क्रम पर

१—पञ्चविंश एतस्य······स्तोमः [ऐ०आ० १।१।२,४]
पञ्चविंशं वा एतदहः [ऐ०आ० १।१।२,४]
पञ्चविंशो ह्येतस्य स्तोमः [श० ब्रा० १२।२।३।३]
गर्भाः पञ्चविंश इति······अन्नं वै गर्भा अन्नं पञ्चविंशः
[तै०सं० ५।३।३।४]
गर्भाः पञ्चविंशः [श०ब्रा० ८।४।१।१९।।८।४।२।८]।

२—'गर्भाः स्पृताः पञ्चविंशः स्तोमः' [तै० सं० ४।३।९] की व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है—'गर्भाणामन्नकार्यत्वादन्नत्वम्'।

व्यवस्थित होता है। इसलिये यह मन्तव्य सन्देहरहित होकर स्वीकार किया जाना चाहिये, कि उक्त वैदिक ग्रन्थों में सांख्य परिभाषाओं का आश्रय लिया गया है।

इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं है, कि 'पञ्चविंश' पद का प्रयोग अन्य किसी वस्तु के साथ हो नहीं सकता। यह सब प्रसंगगत वर्णन तथा अर्थ पर आधारित[1] है। हमने केवल उन प्रसंगों का उल्लेख किया है, जहां 'पञ्चविंश' पद का आत्मा के साथ सम्बन्ध है, तथा इस सम्बन्ध का प्रामाणिक और वैज्ञानिक आधार सांख्यप्रतिपादित क्रम संभव होसकता है। इस सम्बन्ध के और कुछ प्रमाण हम यहां उपस्थित कर देना चाहते हैं।

अन्यत्र भी पुरुष को 'पञ्चविंश' कहा गया है—शांखायन ब्राह्मण में पाठ [१७।१] है—'आत्मा वै पञ्चविंशः'।

ब्राह्मण के इस प्रसग में पहले चौबीस की कोई गणना नहीं दी गई, स्वतन्त्ररूप से आत्मा को 'पञ्चविंश' बताया है। ब्राह्मण की अपनी किसी रीति, व्यवस्था या कल्पना पर आत्मा का 'पञ्चविंश' होना यहां निर्दिष्ट नहीं ; इस ब्राह्मण में अन्यत्र भी कहीं ऐसा लेख नहीं है। आत्मा को 'पञ्चविंश' बताया जाना विना आधार के नहीं होसकता। इससे अनुमान होता है, कि ब्राह्मण को रचना से पूर्व किन्हीं आधारों पर पुरुष का 'पञ्चविंश' होना सिद्ध है। उसका सामंजस्य सांख्यप्रक्रिया के अनुसार होसकता है।

शांखायन आरण्यक [२।१] में आता है—

'स एष आत्मा पंचविंशस्तन्नदेनोपसृष्टं शंसत्यात्मा वै पञ्चविंशः।'

यह आत्मा 'पञ्चविंश' है। उच्चारण [भाषण] से युक्त इसकी [आत्मा की] प्रशंसा करता है—आत्मा 'पञ्चविंश' है। आरण्यक के उक्त सन्दर्भ में 'नद' पद का प्रयोग है। इसका अर्थ अधिक स्पष्ट करने के लिये ऐतरेय आरण्यक [१।३।४] के निम्न सदंर्भ से तुलना करनी चाहिये। वहां लिखा है—

---

१—प्रजापति सूर्य या संवत्सर के लिये भी 'पञ्चविंश' आदि पदों का प्रयोग वैदिक साहित्य में देखा जाता है। 'आदि' हमने इसलिये कहा, कि आदित्य को 'एकविंश' तथा इसीतरह के अन्य पदों से वर्णन किया गया है। शांखायन आरण्यक[१।१] में संवत्सर के अर्द्धमासों [पक्षों] की चौबीस संख्या गिनकर प्रजापति संवत्सर को पच्चीसवां बताया गया है। इसीप्रकार काठकसंहिता [३३।८] में आदित्य को इक्कीसवां लिखा है—'असा आदित्य एकविंशः'। संवत्सर के बारह महीने छः ऋतु और दो अयन [उत्तरायण, दक्षिणायन] ये सब मिलकर बीस हुए, क्योंकि काल के ये सब विभाग आदित्य के कारण होते हैं, इसलिये इन सब के ऊपर आदित्य 'इक्कीसवां' कहा जाता है। इसीप्रकार अन्य अनेक वस्तु अपने प्रकरणों के अनुसार 'पञ्चविंश' आदि पदों से कही जासकती हैं। शतपथ ब्राह्मण[६।१।१।२६] में आदित्य को 'एकविंश' बताया है। वहां बारह मास, पांच ऋतु और तीन लोक गिनकर बीस संख्या पूरी की गई है। इक्कीसवां आदित्य है। इसप्रकार किसी एक संख्या का आधार सर्वत्र समान भी नहीं हैं।

'ता नदेन विहरति पुरुषो वै नदः, तस्मात् पुरुषो वदनसर्वः सन्नदतीव ।'

इस पर व्याख्या करते हुए सायण लिखता है—

'ताः'''ऋचः, नदेन नदनलिङ्गकेन मन्त्रेण विहरति व्यतिषजति मिश्रयेदित्यर्थः । नदः ध्वन्यतिशयः, स च पुरुषस्वरूप एव । यस्मादेतत् तस्मात् लोके सर्वः पुरुषः भाषमाणः सम्यग्ध्वनिं करोति 'इव' दृश्यते । गम्भीरो हि पुरुषस्य ध्वनिः ।'

उन ऋचाओं का नदतलिङ्गक मन्त्र से सम्बन्ध स्थापित करे। पुरुष ही 'नद' है। क्योंकि नद (अथवा नाद) अतिशय ध्वनि को कहते हैं, और वह पुरुष का स्वरूप है। व्यक्त होना ध्वनि का अतिशय है, और इसप्रकार की व्यक्तवाणी केवल पुरुष में संभव है, इसलिये पुरुष को 'नद' पद से कहा गया है। हम देखते हैं, कि लोक में प्रत्येक पुरुष भाषण के समय अनुकूल ध्वनि को करता हुआ देखा जाता है। इस आधार पर शांखायन आरण्यक के उपर्युक्त उद्धृत वाक्य में व्यक्तवाणी से संयुक्त आत्मा की प्रशंसा का उल्लेख किया गया है। वह आत्मा शरीर से युक्त होने पर भोक्ता और कर्त्ता कहा जाता है। शरीररहित केवल आत्मा का लौकिक व्यवहार में कोई उपयोग नहीं है। आत्मा का व्यक्तवाणी से युक्त होना, शरीर-सम्बन्ध का प्रतीक है। उक्त वाक्य में उसी आत्मा को 'पञ्चविंश' कहा गया है। यहां पर प्रथम चौबीस की कोई गणना नहीं दी गई। इसलिये आत्मा के 'पञ्चविंश' कहे जाने का आधार कहीं अन्यत्र अन्वेषण करना होगा।

इसीप्रकार शतपथ ब्राह्मण के कुछ उल्लेख हैं—

'यान्यमूनि पञ्चविंशतिर्यजूंषि''''''स पञ्चविंश आत्मा' [६।१।१।४४[

'अथ यानि पञ्चविंशतिः (यजूंषि) स पञ्चविंश आत्मा' [६।३।३।१६]

'तयोर्वा एतयोः पञ्चदशसप्तदशयोर्द्वात्रिंशत्स्तोत्रियास्ततो याः पञ्चविंशतिः स पञ्चविंश आत्मा, अथ याः सप्तातियन्ति ताः परिमादः पशवो हैताः पशवः परिमादः ।' [१०।१।२।८]

'अथ यानि पञ्चचत्वारिंशत्ततो यानि पञ्चविंशतिः स पञ्चविंश आत्मा''''''' अथ यानि विंशतिस्तदावपनम् ।' [१०।१।२।९]

इनमें प्रथम वाक्य शतरुद्रिय याग के प्रकरण का है। उस याग में अनेक यजुओं का उपयोग होता है। परन्तु आत्मा को 'पञ्चविंश' मानकर उसके साथ पच्चीस यजुओं का सामञ्जस्य किया गया है।

दूसरा वाक्य महदुक्थ प्रकरण का है। उसमें अनेक यजुओं का उपयोग बताया है, परन्तु आत्मा के साथ पच्चीस यजुओं का सम्बन्ध कहा है। इससे प्रतीत होता है, कि इन प्रसंगों में अनेक यजुओं का प्रयोग होने पर भी आत्मा के साथ जो पच्चीस का सम्बन्ध कहा है, वह आत्मा के 'पञ्चविंश' होने को पहले से व्यवस्थित बतलाता है। था अनेक यजुओं में से पच्चीस का ही सम्बन्ध आत्मा के साथ क्यों कहा गया?

इसीप्रकार अगले दो वाक्य इस अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हैं। बत्तीस स्तोत्रिय ऋचाओं में से पच्चीस का सम्बन्ध आत्मा से बताया गया, क्योंकि आत्मा 'पञ्चविंश' है, जो अतिरिक्त संख्या है वह अन्य वस्तुओं की ग्राहक रहो। अन्तिम वाक्य में पैंतालीस संख्या में से पच्चीस संख्या का सम्बन्ध आत्मा के साथ बताया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि पच्चीस संख्या के साथ आत्मा का सम्बन्ध ब्राह्मण रचना-काल से पूर्व व्यवस्थित है, और उस व्यवस्था का कारण सांख्य-प्रतिपादितक्रम कहा जासकता है।

**पुरुष का 'एकादश-त्रयोदश' आदि पदों से कथन**—प्रसंगवश यहां यह लिख देना आवश्यक होगा, कि इन्हीं वैदिक ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर आत्मा को 'एकादश-त्रयोदश' आदि पदों से निर्दिष्ट किया गया है। ऐसे स्थलों में पच्चीस से नीचे और ऊपर दोनों ओर की संख्याओं का निर्देश पाया जाता है।[1] तब आत्मा 'पञ्चविंश' है, इसका सामंजस्य कैसे होसकता है ?

वस्तुस्थिति यह है, कि इसप्रकार के सब स्थलों में देहांगों अथवा देह से सम्बन्ध रखने वाले प्राण आदि के आधार पर आत्मा की स्थिति का निर्देश किया गया है। इसलिये उन अंगों को ऋगादि के संख्यासाम्य के लिये कहीं न्यून कर दिया है, कहीं अधिक, अर्थात् उन्हीं अंगों में से कहीं कम गिने गये हैं, कहीं अधिक। कहीं प्राणों को दस गिनकर आत्मा को 'एकादश' बता दिया गया है। यह बात पुरुष के व्यवस्थित 'पञ्चविंश' नाम के—ब्राह्मण आदि में कल्पित आधार की न्यूनाधिकता के—कारण वर्णन कर दी गई है। अभिप्राय यह है, कि ब्राह्मण आरण्यक आदि में पुरुष के 'पञ्चविंश' नाम का आधार, देहांगों को कल्पना किया है। इस आधार पर भी पुरुष का मुख्य स्थान या नाम 'पञ्चविंश' माना गया है, परन्तु प्रकरणवश उस आधार में न्यूनाधिक गणना के कारण एकादश आदि संख्याओं के द्वारा भी पुरुष का निर्देश कर दिया गया है, फिर भी उन सबमें पुरुष के मुख्य 'पञ्चविंश' भाव का अपलाप नहीं किया गया, और उन उल्लेखों में यह भावना बराबर अन्तर्निहित है, कि वह पुरुष उन सब तत्त्वों से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता है, भले ही उसे कहीं ग्यारहवां, सत्रहवां या तेतीसवां कहा गया हो। उन सब तत्त्वों से आत्मा के पृथक् अस्तित्व का निर्देश उन उल्लेखों का स्वारस्य है। इसलिये आत्मा के 'पञ्चविंश' माने जाने में वैदिक साहित्य का कोई असामंजस्य नहीं।

## तैत्तिरीय आरण्यक में सांख्य-सिद्धान्त

तैत्तिरीय आरण्यक के एक स्थल [१०।१०।५] में सांख्य के मूल मन्तव्य का बहुत स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया गया है। वहां का सन्दर्भ इसप्रकार है—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥'

१—मैत्रायणी संहिता ३।१०।३॥ श० ब्रा० ८।४।३।८–१६॥

लोहित-शुक्ल-कृष्णरूप अर्थात् रजस्–सत्व–तमस् एक प्रकृति है, जो स्वयं कभी उत्पन्न नहीं होती। परन्तु उससे उसके समान अर्थात् त्रिगुणात्मक अनेक प्रजाओं को उत्पन्न किया जाता है। एक अज [संसारी जीव] भोगों को भोगता हुआ उसमें फंसा रहता है, परन्तु दूसरा अज–प्रकृति पुरुष के विवेक को जाननेवाला जीव–इसको छोड़ देता है, मुक्त हो जाता है। आरण्यक के इस सन्दर्भ में पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध को ठीक उसी तरह वर्णन किया गया है, जैसा इस सम्बन्ध में महर्षि कपिल ने अपना मत प्रकट किया है। इस वाक्य में अर्थान्तर की कल्पना नहीं की जासकती।

आचार्य सायण ने इसका अर्थ इसप्रकार किया है—

'न जायत इत्यजा–मूलप्रकृतिरूपा माया······सा च माया एका,······ यदासौ तेजोऽबन्नानि त्रीणि भूतानि उत्पाद्य तद्रूपावतिष्ठते, तदानीं लोहित-शुक्लकृष्णवर्णैरुपेता भवति।'

कभी उत्पन्न न होनेवाली मूलप्रकृतिरूप माया ही अजा है। वह माया एक है। वह जब तेज, अप् पृथिवी (–अन्न) इन तीन भूतों को उत्पन्न करके उन्हीं के रूप में अवस्थित होती है, उस समय लोहित शुक्ल और कृष्ण वर्णों से युक्त हो-जाती है।

**आरण्यक पदों की सायण व्याख्या में दोष**—आचार्य सायण के इस अर्थ में कई दोष हैं। सायण ने 'अजा' पद का अर्थ 'माया' किया है, जो इस सम्पूर्ण जगत् का मूल उपादान है। अब विचारणीय यह है, कि क्या सायण ने शांकरमतानुमोदित 'माया' को यहां 'अजा' पद का अर्थ समझा है ? यदि हां, तब उसके अर्थ में ये दोष हैं—

१—शांकरमत में माया को अनिर्वचनीय माना गया है। अनिवर्चनीय का अर्थ है–उस तत्त्व का किसी रूप में स्पष्टतया कथन व वर्णन न किया जासकना। परन्तु सायण ने अपने अर्थ में उसका स्पष्टरूप 'मूलप्रकृति' [मूलप्रकृतिरूपा माया] लिखा है। अभिप्राय यह है, कि माया के रूप का हम स्पष्ट निर्देश करसकते हैं, वह है–मूलप्रकृति, अर्थात् जगत् का मूल उपादान कारण। सायण का यह कथन शांकरमत के अनुकूल नहीं रहता।

२—दूसरा दोष सायण के अर्थ में यह है, कि उसने 'माया' को लोहित शुक्ल कृष्णरूप उस समय माना है, जब वह [माया] तेज, अप्, अन्न [पृथिवी] को उत्पन्न करके उनके [तेज आदि के] रूप में अवस्थित होती है। इससे स्पष्ट अभिप्राय यह निकलता है, कि माया मूल में अपनेरूप से लोहित शुक्ल कृष्ण नहीं है। अथवा यह कहिये कि तेज आदि की उत्पत्ति से पूर्व वह लोहितादिरूप नहीं है। सायण के इस अर्थ का आरण्यक के मूल पदों के साथ विरोध होजाता है। वहां लिखा है–'सरूपां प्रजां जनयन्तीं' अर्थात् उस माया से अपने समानरूप प्रजा उत्पन्न होती है। सायण के अनुसार माया मूल में लोहितादिरूप नहीं है, तब उससे लोहितादिरूप प्रजा की उत्पत्ति 'सरूपा'

नहीं कही जासकती। यह तो स्पष्ट विरूपा प्रजा है। फिर मूल सन्दर्भ में साक्षात् 'अजा' को लोहितादिरूप लिखा है, और उसी रूप से 'सरूपा प्रजा' की उत्पत्ति का उल्लेख किया है।

संभवतः इन्हीं दोषों के विचार से सायण ने अन्त में लिखा है—

'रजःसत्त्वतमोगुणा वा लोहितादिशब्दैरुपलक्ष्यन्ते। गुणत्रयात्मिका मायेत्युक्तं भवति।'

अथवा लोहितादि शब्दों से यथाक्रम रजस्-सत्त्व-तमस् गुणों का निर्देश समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यह होता है, कि माया 'गुणत्रयात्मिका' है। माया को त्रिगुणात्मिका मानकर फिर यह आशंका होती है, कि क्या यह माया शांकरमतानुमोदित होसकती है? इसको स्वीकार करने पर पहले के समान दोष हैं, क्योंकि 'त्रिगुणात्मिका' मानकर उसका अनिर्वचनीय स्वरूप नष्ट होजाता है, और हम 'त्रिगुणात्मक' रूप में उसका निर्वचन कर सकते हैं।

ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट होता है, कि यदि सायण ने शांकरमत से प्रभावित होकर यहां 'माया' पद का प्रयोग किया है, तो वह असंगत है। वस्तुतः 'अजा' या 'माया' सांख्याभिमत प्रकृति के अपर नाम हैं। इसलिये उसके सत्त्व-रजस्-तमस्रूप होने से उसे 'त्रिगुणात्मिका' कहा जाता है। प्रकृति का 'माया' नाम प्राचीन साहित्य में[1] उपलब्ध होता है। संभवतः प्रकृति के अनेक नामों में से विभिन्न आचार्यों ने अपनी रुचि के अनुसार किसी एक नाम को चुन लिया है, और उसी नाम से उस मूल-तत्त्व का वर्णन किया है। उनकी अपनी परम्पराओं में वे नाम परिपक्व होगये हैं, तथा उन नामों के साथ एक विशेष अर्थ बंध सा गया है। इसी अभिप्राय को दूसरे शब्दों में इसप्रकार कह सकते हैं, कि उसी मूल-तत्त्व अथवा मूल उपादान को विभिन्न आचार्यों ने विविध शैली पर वर्णन किया है, और उसी के अनुसार उस तत्त्व के लिये साहित्य से एक नाम चुन लिया है, जिस विशेष नाम के आधार पर उनकी अपनी वर्णन-शैली की विशेषता या परम्परा प्रतिभासित होती है। इसलिये यह कहना अयुक्त नहीं है, कि वस्तुतः उस एक मूलतत्त्व के अजा, माया, प्रकृति आदि अनेक नाम हैं। इसीप्रकार के अन्य कई नामों [अदिति, स्वधा आदि] का उल्लेख हमने अन्यत्र प्रकरण में किया है। सांख्याभिमत 'प्रकृति' के स्वरूप का विवेचन इस ग्रन्थ के 'प्रकृति' नामक प्रकरण में किया गया है। इस आशय से यदि सायण ने 'अजा' को 'माया' कहा है, तो कोई आपत्ति नहीं। इसप्रकार आरण्यक का उक्त सन्दर्भ सांख्य-विचारों के अनुसार स्पष्ट किया जासकता है, और यह इस बात का निश्चायक है, कि उक्त आरण्यककार सांख्यविचारों से प्रभावित रहा है।

१—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् [श्वेता० ४।१०]
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते [ऋग्वेद ६।४७।१८]

**तैत्तिरीय आरण्यक में सांख्य-सम्बन्धी अन्य विचार**—इस सम्बन्ध में इसी आरण्यक का एक और सन्दर्भ उल्लेखयोग्य है। वह है—

'यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः॥ [१०।१०।२४]

जो स्वर वेद के आदि में कहा गया है, और वेद के अन्त में प्रतिष्ठित है, उसके प्रकृतिलीन हो जाने पर उससे जो परे है, वह महेश्वर है।

उक्त सन्दर्भ का यह शब्दार्थमात्र है, वह स्वर जो वेद के आदि में कहा जाता है, और वेद के अन्त में प्रतिष्ठित है–'ओम्' है। वेदाभ्यास का यह नियम है, कि मन्त्रोच्चारण के प्रारम्भ और अन्त में 'ओम्' का उच्चारण अवश्य होना चाहिये। यह परमात्मा का मुख्य नाम है। इसी आधार पर उपनिषदों में इस स्वर की विशद व्याख्या कीगई है। अभ्यासकाल में प्रत्येक मन्त्र के आदि और अन्त में इस स्वर के उच्चारण का अभिप्राय यही होता है, कि उच्चारयिता इस रूप में परमात्मा का स्मरण करे। सम्पूर्ण संसार को हम शब्द और अर्थ के रूप में पाते हैं। एक वस्तु है, और उसके व्यवहार के लिये एक शब्द है। अथवा यह कहिये, कि एक शब्द है, और उससे व्यवहृत होने वाला एक अर्थ है। इसप्रकार यह सारा जगत् शब्द और अर्थमय है। चेतन तत्त्व को छोड़कर शेष सम्पूर्ण शब्द और अर्थ प्रकृति के कार्य हैं, उसी से उत्पन्न होते और उसी में लीन होजाते हैं। जब प्रकृति में लीन होने का इनका समय आता है, तब सब शब्द और अर्थ उसमें लीन होजाते हैं। चेतन के व्यवहार के लिये जिन शब्दों की कल्पना की जाती है, वे भी अपने मूलकारण में लीन होजाते हैं। उस समय चेतन की अतिरिक्त सत्ता रहने पर भी वह अव्यवहार्य होता है। सबसे श्रेष्ठ व महान सत्ता परमात्मा की है, उसका मुख्य नाम 'ओम्' भी शब्दरूप होने के कारण प्रकृति में लीन होजाता है। परमात्मा के मुख्य नाम का 'प्रकृति' में लीन होने का कथन करना इस बात को स्पष्ट करता है, कि और सब कुछ अभी तक प्रकृति में लीन होचुका है। परन्तु इन सबके परे परमात्मा की सत्ता उसी तरह बनी है और बनी रहती है। यह इस सन्दर्भ का स्पष्ट अभिप्राय है।

इस प्रसंग में 'प्रकृति' पद का प्रयोग जगत् के मूल उपादानकारण के लिये किया गया है। वह मूल उपादान, सांख्याभिमत त्रिगुणात्मक प्रकृति के अतिरिक्त और कोई दूसरा तत्त्व यहां नहीं समझा जासकता। शाङ्करमत में चेतन ब्रह्म जगत् का मूल उपादान बताया गया है, परन्तु उक्त सन्दर्भ में 'प्रकृति' पद से उसका ग्रहण किया जाना अयुक्त होगा, क्योंकि यहां उससे भी परे महेश्वर की स्थिति बताई है। सायण ने यहां 'प्रकृति' पद का अर्थ 'अव्याकृत जगत्कारण' किया है। उससे परे महेश्वर अर्थात् उससे अतिरिक्त परमात्मा का अस्तित्व बताना, इस विचार को पुष्ट करता है, कि यहां 'प्रकृति' पद का 'चेतन ब्रह्म' अर्थ नहीं है। इससे यह परिणाम निकल आता है, कि आरण्यक-

कार ने 'प्रकृति' पद का प्रयोग यहां सांख्यविचारों से प्रभावित होकर किया है।

## शांखायन आरण्यक में सांख्यसिद्धान्त

**चेतन तत्त्व**—शांखायन आरण्यक के पञ्चम अध्याय में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का उल्लेख पाया जाता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में वर्णन आता है, कि 'दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन इन्द्र के समीप पहुंचा। पूछने पर इन्द्र ने कहा, कि मैं तुम्हें वर देता हूं, तुम मुझे जानने का यत्न करो, मैं ही 'प्राण प्रज्ञात्मा' हूं।' यह इतना वर्णन आलंकारिक कहा जासकता है। 'इन्द्र' आत्मा है। वह स्वयं कहता है, कि मैं 'प्राण प्रज्ञात्मा हूं। प्रतर्दन प्रत्येक आत्मजिज्ञासु का प्रतीक है। आरण्यककार ऋषि ने इस अर्थ को आकर्षक शैली में प्रकट करने का यत्न किया है। 'प्राण प्रज्ञात्मा' पद चेतन-तत्त्व अथवा आत्म-तत्त्व के लिये प्रयुक्त हुए माने जासकते हैं। यदि इसका अभिप्राय 'चेतनोपलक्षित बुद्धि' माना जाय, तो भी असांगत्य नहीं होगा, परन्तु इस अभिप्राय में वर्णनीय या जिज्ञास्य अर्थ केवल चेतनांश को समझना चाहिये, क्योंकि बुद्धि में सर्वार्थ की प्रतीति चेतन के सान्निध्य से संभव होसकती है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है, कि 'प्राण प्रज्ञात्मा' पद प्रकरणानुसार हरतरह से केवल चेतनतत्त्व के द्योतक माने जासकते हैं। यह हम सदा अनुभव करते हैं, शरीर की कोई क्रिया, चेतन की सत्ता के विना संभव नहीं हो सकती, शरीर में चेतन का अस्तित्व इसकी सब क्रियाओं का प्रेरक है। यह 'प्राण प्रज्ञात्मा' ही शरीर का परिग्रहण करके इसे उठाता[1] है।

**देह से चेतन का उत्क्रमण**—इसी प्रसंग में आगे [५।५] इन्द्रियों का वर्णन किया गया है, और इन्द्रियों की क्रियाशक्ति तथा अशक्ति के द्वारा चेतनतत्त्व की प्रशंसा एवं महत्ता प्रतिपादित की है। शरीर में चेतनतत्त्व के रहते इन्द्रियां अपने कार्य में समर्थ होती हैं अन्यथा नहीं। जिस समय[2] पुरुष दुःखी क्षीणशक्ति मरणासन्न होकर मृत्यु को प्राप्त होजाता है, उस अवस्था को कहा जाता है, कि–'वह उत्क्रमण कर गया।' यह एक आश्चर्य है, उस समय उसका सुनना देखना बोलना ध्यान करना सब समाप्त होजाता है। जब वह इस शरीर से 'उत्क्रमण' करता है, तब वह सब इन्द्रियों के साथ उत्क्रमण करता है।[3]

शरीर से इन्द्रियों के साथ आत्मा का उत्क्रमण, सांख्यशास्त्र में प्रतिपादित 'सूक्ष्मशरीर' की ओर हमारे ध्यान को आकृष्ट करता है। सांख्य में सूक्ष्मशरीर के घटक

१—स एष प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति [शां० आ० ५।३]

२—यत्रैतत्पुरुष आर्तो मरिष्यन्नाबल्यमेत्य संमोहमेति तमाहुरुदक्रमीच्चित्रं न शृणोति न पश्यति न वाचा वदति न ध्यायति···स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति [शां० आ० ५।३]

३—इसकी तुलना करें–[कौषी० ३।३] 'स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति।

अठारह तत्त्व माने गये हैं। उन अठारह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहा जाता है। उनमें ग्यारह इन्द्रियां [पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, एक मन], अहंकार, बुद्धि, और पांच सूक्ष्मभूत गिने गये हैं। भूतों के अतिरिक्त शेष तेरह को 'करण' कहा जाता है। ये 'करण' आधेय और पांच सूक्ष्मभूत उनके आधार समझे जाते हैं। अभिप्राय यह है, कि ये पांच सूक्ष्मभूत, सूक्ष्मशरीर के आधारभूत तत्त्व हैं, उसमें शेष तेरह करण रहते हैं। इस-प्रकार अठारह तत्त्वों का यह समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहाता है, जिससे उपलक्षित आत्मा स्थूलशरीर से उत्क्रमण करता है। आरण्यक का यह वर्णन इस बात को स्पष्ट करता है, कि आरण्यककार आत्मा के उत्क्रमणसम्बन्धी सांख्यसिद्धान्त से प्रभावित था।

आरण्यक के इस प्रकरण में अहङ्कार और बुद्धि का पृथक् उल्लेख नहीं है। 'प्रज्ञा' पद बुद्धि का निर्देश करता है, जिसमें अहंकार का समावेश मान लिया जाता है। सूक्ष्मशरीर के अठारह के समुदाय में बुद्धि की प्रधानता होती है, क्योंकि वही चेतन से साक्षात् प्रेरित होकर शरीर का संवहन करती है। अहंकार आदि सब बुद्धि के कार्य हैं, इसलिये बुद्धि से उन सबका ग्रहण होजाता है। इसी दृष्टि से आरण्यक में बताया गया है, कि चेतनतत्त्व और बुद्धि दोनों, शरीर में एक साथ बसते और एक साथ उत्क्रमण करते हैं[४]। वस्तुतः सब इन्द्रियों के साथ शरीर से आत्मा के उत्क्रमण का वर्णन मुख्यरूप में किया गया है।

**इन्द्रियां और उनके विषय**—आगे आरण्यक[५] [५।५] में प्रसंगवश दस इन्द्रियों का उल्लेख किया गया है। वे दस इन्द्रियां और उनके विषय इसप्रकार गिनाये गये हैं

| इन्द्रिय | विषय | इन्द्रिय | विषय |
|---|---|---|---|
| घ्राण | गन्ध | वाक् | नाम [पदोच्चारण] |
| चक्षु | रूप | हस्त | कर्म |

४— सह ह्येतावस्मिञ्छरीरे वसतः सहोत्क्रामतः [शा० आ० ५।४]।

५—वागेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यै नाम परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा,
घ्राण एवस्या ......तस्य गन्धा............
चक्षुरेवास्या.........तस्य रूपं............
श्रोत्रमेवास्या ......तस्य शब्दः............
जिह्वं वास्या.........तस्या अन्नरसः............
हस्तावेवास्या ......तयोः कर्म............
शरीरमेवास्या ......तस्य सुखदुःखे............
उपस्थ एवास्या......तस्यानन्दो रतिः प्रजातिः.........
पादा एवास्या ......तयोरित्या............
मन एवास्या.........तस्य धीः कामाः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा।

| | | | |
|---|---|---|---|
| श्रोत्र | शब्द | पाद | इत्या [गति] |
| जिह्वा | रस | उपस्थ | आनन्द, रति, प्रजाति |
| शरीर [त्वक्] | सुख-दुख, | | |
| | [अनुकूल प्रतिकूल स्पर्श] | मन | धी, काम |

मूल आरण्यक में इन्द्रियों के वर्णन का क्रम वह है, जो हमने टिप्पणी में दिया है। परन्तु उसको अधिक स्पष्ट कर देने के विचार से हमने यहां उस क्रम को कुछ परिवर्तित करके लिखा है। ज्ञानेन्द्रियों को पृथक् करके एक साथ लिख दिया है, और कर्मेन्द्रियों को अलग। सबके अन्त में अन्तरिन्द्रिय मन का निर्देश किया है, जैसा कि मूल आरण्यक में है। यहां कर्मेन्द्रियों में चार की गणना है। 'पायु' इन्द्रिय का उल्लेख नहीं है। प्रतीत यह होता है, कि आरण्यककार ने 'मलोत्सर्ग' विषय के उल्लेख की उपेक्षा की है। मूत्र और पुरीष दोनों मल हैं। जहां तक पुरुष यानी नर का सम्बन्ध है, मूत्रोत्सर्ग और आनन्द, रति आदि के विषय के लिये एक ही अंग है। परन्तु जब इसको इन्द्रियरूप में गणना किया जाता है, वहां इसका विषय केवल आनन्द रति आदि बताया गया है, 'मूत्रोत्सर्ग' नहीं। परन्तु नारी अर्थात् मादा में इसके लिये अलग मार्ग[1] होते

---

१—शरीर रचना के अनुसार नर और नारी में स्वभावतः इतने अंश में भेद है। यद्यपि कुछ अन्य अंगों की रचना में भी भेद हैं, परन्तु इस समय उनका वर्णन हमारा लक्ष्य नहीं। नर में वृक्क स्थानों से छनकर मूत्र, मूत्रप्रणाली के द्वारा मूत्राशय में आकर जमा होता है। यहां तक नारी देह की रचना भी समान है। नरदेह में मूत्राशय के आगे मूत्र को बाहर निकालने के लिये जो नाली है, वह वीर्य-ग्रन्थि [प्रौस्टेड् ग्लैण्ड] के बीच में होकर गुजरती है। उस ग्रन्थि में से मूत्रप्रणाली की ओर एक द्वार रहता है, जो सदा बन्द रहता है, वह केवल उसी समय खुलता है, जब नर-नारी का सम्बन्ध होने पर अथवा अन्य किसी कारण से वीर्य ग्रन्थि से वीर्य बनकर उस नाली के द्वारा बाहर जाने लगता है। उस समय मूत्राशय की ओर का मार्ग रुद्ध होजाता है। परन्तु नारी देह में यह बात नहीं है। वहां मूत्राशय से आगे भी मूत्र, मूत्रप्रणाली द्वारा बाहर होजाता है और गर्भाशय तथा उसके मार्ग को बचा जाता है। इससे इतना अभिप्राय स्पष्ट होजाता है, कि नर देह में 'उपस्थ' का इन्द्रियभाव उतने ही अंश में होना चाहिये, जितने में नारीदेह में। क्योंकि नारी देह में उपस्थ [उपस्थस्थानीय योनि] का विषप उत्सर्ग [मूत्रत्याग] नहीं, प्रत्युत आनन्द आदि हैं, इसीलिये नर देह में भी 'उपस्थ' का यही विषय मानना चाहिये। यद्यपि नरदेह में 'वीर्य' का भी उत्सर्ग होता है, और कुछ दूर तक वीर्य तथा मूत्र का मार्ग समान रहता है, तथा 'पायु' का विषय ही शास्त्र में उत्सर्ग [मलोत्सर्ग] बताया गया है। उपस्थ और पायु को इतनी समानता के आधार पर किसी अंश में 'उपस्थ' से 'पायु' का संग्रह कर लिये जाने पर कोई असामञ्जस्य नहीं।

है। इन्द्रिय वही है, जिसका विषय आनन्द, रति व प्रजाति बताया गया है। 'प्रजाति' विषय केवल नारी की स्थिति के अनुसार है। सांख्यशास्त्र में 'उपस्थ' इन्द्रिय का विषय 'आनन्द' बताया है, मूत्रोत्सर्ग नहीं। क्योंकि 'पायु' इन्द्रिय का विषय केवल मलोत्सर्ग है, इसलिये प्रकृत में आरण्यककार ने उसकी उपेक्षा कर दी है। वैसे 'उत्सर्ग' की समानता के आधार पर 'उपस्थ' इन्द्रिय, 'पायु' का उपलक्षण माना जासकता है।

आरण्यक के प्रस्तुत प्रकरण में त्वक् इन्द्रिय के लिये 'शरीर' पद का प्रयोग किया गया है। प्रतीत होता है, त्वगिन्द्रिय के सर्वशरीरवर्त्ती [सब शरीर में व्यापक] होने से यह प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रयोग अन्यत्र भी देखे जाते हैं। शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह की, कमलशील रचित 'पञ्जिका' नामक व्याख्या के ११७ पृष्ठ पर[1] किसी प्राचीन बौद्ध आचार्य का एक निम्नलिखित सन्दर्भ उद्धृत मिलता है—

'चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यते तच्चक्षुर्विज्ञानम्। यावत्कायं प्रतीत्य स्प्रष्टव्यानि चोत्पद्यते कायविज्ञानम्।'

यहां स्पर्शज्ञान के लिये 'काय' नामक इन्द्रिय का उल्लेख किया है। 'काय' शरीर का पर्याय-पद है, यहां त्वगिन्द्रिय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

आरण्यक के पाठ में 'भूतमात्रा' पद का प्रयोग संभवतः इन्द्रिय-विषयों के लिये हुआ है। ज्ञान या. कर्म का साधन होने से दस इन्द्रियां, दस 'प्रज्ञामात्रा' कही गई हैं, और उनके दस विषय, दस 'भूतमात्रा' कहे गये हैं। इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है। एक के न होने पर दूसरे की स्थिति व्यर्थ है[2]। यदि इन्द्रिय नहीं हैं, तो विषयों का होना बेकार है, क्योंकि उस स्थिति में उनका कोई उपयोग नहीं होसकता। यदि विषय नहीं हैं, तो इन्द्रियां किसलिये? ऐसी स्थिति में इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है, जिसका हम सदा अनुभव करते हैं।

**कर्त्ता भोक्ता पुरुष**—विषय और इन्द्रियों का परस्पर इतना गहरा सम्बन्ध होने पर भी विषय स्थूल और इन्द्रियां सूक्ष्म हैं, यह एक निर्बाध सत्य है। परन्तु इन सबसे बुद्धि और सूक्ष्म है। इसलिये इन सबका उसमें समावेश होजाता है। बुद्धि चेतनतत्त्व से अनुप्राणित होती है, अतएव वह सबसे मूर्द्धन्य है। चेतन तत्त्व अजर अमर है, वह अनन्त अर्थात् असंख्यात है, उसकी गणना नहीं की जासकती। वही कर्त्ता भोक्ता होने से शुभाशुभ योनियों में जाता आता है। ऊर्ध्वलोक अधोलोकों की प्राप्ति उसीको होती है। परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप में इनसे कोई अन्तर नहीं आता। सब लोकों में अर्थात् जन्म-जन्मान्तरों, बाल वृद्धादि अवस्थाओं में विचरण करने के कारण उसीको लोकपाल

---

१—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ बड़ोदा, १९२६ ईसवी सन् का संस्करण।

२—ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं, दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतं, यद्धि भूतमात्रा न स्युः न प्रज्ञामात्राः स्युः, यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः न ह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिद्ध्येत् [शां० आ० ५।८]

आदि कहा जाता है। वही यह आत्मा है, जो इन शरीरों में जाना जाता है[1]।

संभव है, कोई व्याख्याता इस प्रकरण के अन्तिम उपसंहारात्मक संदर्भ का अर्थ परमात्म-परक करें, परन्तु परमात्मा साधु या असाधु कर्मों को करनेवाला नहीं कहा जा-सकता। पर यहां जिसका वर्णन है, उसे शुभाशुभ कर्म का कर्त्ता बताया गया है। 'न साधुना कर्मणा भूयान् भवति नो एवासाधुना कनीयान्'। शुभाशुभ कर्म करने पर भी उसके वास्तविक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। अन्त में फिर उसको शरीरवर्त्ती आत्मा बताया है। इसलिये शरीर के बन्धन में आनेवाले जीव-चैतन्य का यहां वर्णन माना जाना चाहिये।

**आरण्यक के वर्णन का निष्कर्ष**—आरण्यक के इस प्रकरण से निम्नलिखित सिद्धा-न्त प्रकट होते हैं–पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं तथा पांच कर्मेन्द्रिय, उनसे अतिरिक्त एक अन्तरि-न्द्रिय मन है। इन सबके भिन्न-भिन्न विषय हैं, जिनको ये इन्द्रियां ग्रहण करती हैं, इन सबके ऊपर एक प्रज्ञा अथवा बुद्धि है। जो इन्द्रियसाध्य ज्ञान और क्रिया की निश्चायक है। यह बुद्धि, चेतन [प्राण] से अनुप्राणित होती है। मृत्युकाल में चेतन इन सबके साथ शरीर से उत्क्रमण करता है। इस प्रकरण में 'प्राण' पद का प्रयोग 'चेतन' तत्त्व के लिये हुआ है[2]। उसके सब सांसारिक व्यवहार 'बुद्धि' के आधार पर होसकते हैं, इसलिये प्रस्तुत प्रसंग में उसके लिये 'प्राण प्रज्ञात्मा' पदों का प्रयोग किया गया है। क्योंकि प्राण[3] [चेतनतत्त्व] की सांसारिक स्थिति बुद्धि के विना असंभव है और बुद्धि संसार में प्राण के सहयोग के विना कुछ कर नहीं सकती। इसीलिये इनके इस घनिष्ठ संपर्क अथवा सहयोग को स्पष्ट करने के लिये 'प्राण' को 'प्रज्ञात्मा' कह दिया गया है।

---

१—एता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽनन्तो ऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान् भवति नो एवासाधुना कनीयान् एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एषउ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषत एष लोकपाल'''स म आत्मेति विद्यात् [शां०आ० ५।८]

२—पञ्चधा विभक्त वायुरूप स्थूल प्राण ही शरीर में चेतन तत्त्व के मुख्य उपलक्षक हैं। इनके अस्तित्व से शरीर में चेतन की सत्ता प्रतिभासित होती है। इसलिये 'प्राण' पद से यहां चेतन तत्त्व का निर्देश कर दिया गया है। इस अर्थ का और स्पष्टी-करण प्रश्नोपनिषत् के द्वितीय प्रश्न में देखें।

३—'प्राण' पद का प्रयोग 'जीव' अथवा चेतन तत्त्व के लिये अन्यत्र भी हुआ है। मैत्र्युपनिषद् ६।१९ में आता है–'प्राणसंज्ञको जीवः।' वस्तुतः 'प्राण' को चेतन कहने के स्वारस्य का आधार यही है, कि स्थूलरूप से लोक में प्राण के अस्तित्व से चेतन के अस्तित्व को जाना जाता है, और लोक में चेतन अथवा जीवन के लिये इसी पद का व्यवहार होता है। इसलिये आपाततः शास्त्रीय व्यवहार में भी 'प्राण' पद का इस रूप में प्रयोग किया जाना स्वाभाविक है।

इन सब सिद्धान्तों का सामञ्जस्य सांख्य के अनुसार होसकता है। विशेषरूप से सब करणों [एकादश इन्द्रिय और बुद्धि] के साथ शरीर से जीवचेतन के उत्क्रमण का वर्णन अन्य किसी दर्शन में नहीं पाया जाता। केवल सांख्य में ऐसे लिंगशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर का वर्णन किया गया है, जिसमें उन तत्त्वों का समावेश है, तथा जिसको साथ लेकर स्थूलशरीर से जीव का उत्क्रमण बताया गया है[1]। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि उक्त आरण्यक के ये उल्लेख सांख्यसिद्धान्तों से प्रभावित होकर लिखे गये हैं।

शांखायन आरण्यक के आधार पर जिस विषय का ऊपर वर्णन किया गया है, उसकी तुलना 'कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् [अध्याय १ तथा ३] के साथ करनी चाहिये। उपनिषद् का यह आरण्यक भाग है। इसमें उक्त विषय का पूर्ववर्णितरूप में उल्लेख किया गया है।

---

१—सप्तदशैकं लिङ्गम्। [सांख्य-दर्शन ३।९]
सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्त्तन्ते॥
पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥ [सांख्यकारिका ३९,४०]

इन सन्दर्भों में सूक्ष्मशरीर के १८ तत्त्व कहे हैं, तेरह करण और उनके आधारभूत पांच तन्मात्र [सूक्ष्मभूत]। सर्गादिकाल में प्रत्येक आत्मा के साथ एक सूक्ष्मशरीर सम्बद्ध होजाता है, और वह प्रलय अथवा तत्त्वज्ञानपर्यन्त अवस्थित रहता है। उत्क्रमण आदि में तेरह करणों का आत्मा के साथ विशेष सम्बन्ध है। उनमें भी बुद्धि प्रधान है, अर्थात् इन्द्रियादि को साथ लेकर बुद्धि, आत्मा के साथ साक्षात् सम्पर्क में आती है। पञ्चतन्मात्र इन तेरह करणों के आधारमात्र हैं। क्योंकि विना आश्रय के इनकी स्थिति असंभव है। 'न स्वातन्त्र्यादृते छायावच्चित्रवच्च' [सांख्यदर्शन ३।१२]।

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया।

तद्वद्विनाऽविशेषैर्न तिष्ठति न निराश्रयं लिङ्गम्॥ [सांख्यकारिका ४१] जिस प्रकार चित्र अथवा छाया की स्थिति आश्रय के विना असंभव है, इसीप्रकार लिंग [बुद्धि आदि] भी आश्रय के विना रह नहीं सकते। अविशेष अर्थात् पांच तन्मात्र उनके [बुद्धि आदि के] आश्रय हैं। इस प्रसंग के अनुसार, क्योंकि बुद्धि आदि करणों का आत्मा से विशेष सम्बन्ध रहता है, इसलिये आरण्यक के उक्त प्रसंग में आत्मा के उत्क्रमण आदि के अवसर पर उसके साथ रहनेवाले तत्त्वों में विशेषरूप से बुद्धि आदि करणों का उल्लेख किया गया है।

# उपनिषदों में सांख्य-सिद्धान्त

(ख)

काठक, तैत्तिरीय आदि संहिता, आरण्यक तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर यह प्रमाणित किया गया कि उक्त वैदिक साहित्य में अनेक वर्णन इसप्रकार के हैं, जो सांख्य-सिद्धान्तों से प्रभावित होकर लिखे गये प्रतीत होते हैं। अब उपनिषदों के उन वर्णनों का उल्लेख किया जायगा, जो सांख्यसिद्धान्तों तथा उनकी परिभाषाओं से प्रभावित होकर लिखे गये प्रतीत होते हैं।

## मैत्र्युपनिषद्

सब से प्रथम 'मैत्र्युपनिषद्' के आधार पर कुछ उल्लेख उपस्थित किये जाते हैं।

**भोग्य प्रकृति तथा भोक्ता पुरुष**—इस उपनिषद् के छठे प्रपाठक की दसवीं कण्डिका में भोक्ता और भोज्य का वर्णन किया गया है। वहां लिखा है—

'पुरुषश्चेता प्रधानान्तःस्थः स एव भोक्ता प्राकृतमन्नं भुङ्क्ता इति। ··· तस्मात् त्रिगुणं भोज्यं भोक्ता पुरुषोऽन्तःस्थः।'

प्रधान के सम्पर्क में आया चेतन पुरुष भोक्ता है, और प्रकृति तथा प्रकृति के विकारों का—जो उसके अन्न हैं—भोग करता है। इसलिये त्रिगुणात्मक प्रकृति भोज्य है, और अन्तःस्थ[1] पुरुष भोक्ता। प्रकृति को भोगना जीवचेतन का 'बन्ध' है। इसी ग्रन्थ के एक प्रकरण में 'प्रकृति' का एक वैदिक नाम 'अदिति' बताया गया है। इस पद में प्रकृति के भोज्य अथवा भोग-साधन होने की भावना अन्तर्निहित है। 'अद्यत इति अदितिः' भक्षणार्थक 'अद्' धातु से इस पद के निर्वचन में प्रकृति की भोज्यता स्पष्ट होती है। किसी भी वस्तु के अनेक नामों के प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। जगत् के मूलकारण का 'प्रकृति' नाम इसलिये है, कि उससे इस सम्पूर्ण जगत् की रचना होती है। उसका 'प्रधान' नाम इसलिये है, कि प्रलय काल में यह सब दृश्यमान जगत् उसमें धरा जाता है, अर्थात् लीन होजाता है। उसी वस्तु का 'अदिति' नाम इसलिये है, कि वह जीव-चेतन के द्वारा खाई जाती अर्थात् भोगी जाती है। वह इस चेतन का भोज्य अन्न है। अभिप्राय यह है, कि उपनिषद् के इस प्रसंग में प्रकृति को पुरुष [जीव-चेतन] का भोज्य, तथा पुरुष को इसका भोक्ता कहा गया है। यह वर्णन सांख्यसिद्धान्त के अनुसार समञ्जस कहा जासकता है।

---

१—यह जीव-चेतन शरीर में अवस्थित रहकर सांसारिक भोगों को भोग सकता है। यह शरीर में तभी आता हैं, जब इसका प्रकृति से संपर्क रहता हैं। जीव-चेतन की यह स्थिति 'बन्ध' कहा जाता है। जब यह, चेतनाचेतन का साक्षात्कार होजाने पर प्रकृति-सम्पर्क से रहित होजाता हैं, वह इसकी 'मुक्त' अवस्था है।

इसके अनन्तर उपनिषत्कार ने इसी प्रकरण में प्रक्रान्त विषय का उपसंहार करते हुए प्रकृति के कार्यों का निर्देश कर उनकी भोज्यता का उल्लेख किया है। वहां का पाठ इसप्रकार है—

'तस्माद् भोक्ता पुरुषो भोज्या प्रकृतिस्तत्स्थो भुङ्क्ता इति। प्राकृतमन्नं त्रिगुण-भेदपरिणामत्वान्महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्।'

इसलिये भोक्ता पुरुष और भोग्य प्रकृति है। प्रकृति में स्थित हुआ पुरुष प्रकृति का भोग करता है। प्रकृति के विकार पुरुष के अन्न हैं। त्रिगुण [सत्त्व-रजस्-तमस्] के विविधरूप में परिणत होने से, महत् से विशेषपर्यन्त सब पदार्थ पुरुष के भोज्य हैं। इनका यह भोज्य-स्वरूप किसी चेतन भोक्ता का अनुमान कराता है, इसलिये इनको 'लिङ्ग' कहा है। तथा इन महदादि विशेषपर्यन्त तत्त्वों के त्रिगुणात्मक एवं भोज्यरूप होने से इनके समान ही इनसे मूल अव्यक्त कारण का अनुमान होता है, अर्थात् इनका मूल कारण भी त्रिगुण और भोज्यरूप होसकता है, इसलिये भी इनको 'लिङ्ग' कहना उपयुक्त है। 'लिङ्ग' पद का अर्थ है–जो छिपे हुए तत्त्व का बोध करा दे, 'लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्'।

**उपनिषद् के 'महदाद्यं विशेषान्तं' पद**—इस प्रसंग में 'महदाद्यं विशेषान्तं' पद ध्यान देने योग्य है। 'महत्' जिनके आदि में और 'विशेष' जिनके अन्त में'। यह उल्लेख इस बात को स्पष्ट करता है, कि यह एक निर्धारित क्रम का वर्णन किया जारहा है। जब तक हम एक ऐसे निर्धारित क्रम के अस्तित्व को स्वीकार न करलें, जिसमें 'महत्' का प्रथम निर्देश हो और 'विशेष' का अन्त में, तब तक हम ऐसा उल्लेख नहीं कर सकते। इससे निश्चित होता है, कि उपनिषत्कार से पूर्व, प्रकृति से सर्ग-क्रम की ऐसी व्यवस्था निर्धारित है, जिसके आधार पर उपनिषत्कार ने यह उल्लेख किया है। सर्ग-क्रम की यह व्यवस्था सांख्य में निर्धारित की गई है। इससे स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि उक्त उपनिषत्कार सांख्य की परिभाषाओं तथा सिद्धान्तों से पूर्णरूप में परिचित एवं प्रभावित है।

यहां यह भी एक विशेष ध्यान देने की बात है, कि उपनिषद् में जो 'विशेष' पद का प्रयोग किया गया है, वह सांख्य का पारिभाषिक पद है। सांख्य में पञ्चतन्मात्र अर्थात् पांच सूक्ष्मभूतों को 'अविशेष' तथा पांच स्थूलभूतों को 'विशेष' पद से व्यवहृत किया जाता है[1]। ऐसी स्थिति में उपनिषद् पर सांख्य का प्रभाव और भी स्पष्ट होजाता है। इसप्रकार 'महत्' से स्थूलभूतपर्यन्त प्रकृति के कार्यों का उपनिषद् में उल्लेख किया गया है, जो सांख्यसूत्र [१।२६][2] पर आधारित है।

---

**१—सांख्यदर्शन ३।१ में 'विशेष' और 'अविशेष' दोनों पदों का प्रयोग उक्त अर्थ में हुआ है। सूत्र है–अविशेषाद् विशेषारम्भः। इसीप्रकार ३।४ सूत्र में 'अविशेष' पद का प्रयोग 'तन्मात्र' के लिये है। तुलना करें–योगदर्शन २।१९, सांख्यकारिका ३४।**

**२—यह सूत्रसंख्या हमारे सम्पादित व व्याख्यात सांख्य में उपलब्ध है। अन्यत्र देखना हो, तो सूत्रसंख्या में ३५ जोड़कर देखिये।**

महत् आदि विशेषपर्यन्त कार्य त्रिगुण के परिणाम हैं। उपनिषत्कार ने इस अर्थ को जिन पदों के द्वारा उपस्थापित किया है, वह विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उपनिषद् में पद हैं–'त्रिगुणभेदपरिणामत्वान्महदाद्यम्' अर्थात् त्रिगुण के भिन्न-भिन्न परिणाम होने से महदादि नाना पदार्थ व्यक्त अवस्था में आते हैं। इसी अर्थ को सांख्यशास्त्र में निम्न पदों के द्वारा कहा है—

गुणपरिणामभेदान्नानात्वम्। [२।२७]

इन दोनों की तुलना से हम यह स्पष्टरूप में समझ पाते हैं, कि कदाचित् उपनिषत्कार ने इन सूत्र पदों को लेकर उक्त पंक्ति लिखी हो। सांख्यसप्तति में सूत्र के 'भेद' पद के स्थान पर 'विशेष' [का० २७] पद का प्रयोग किया है। जो कदाचित् छन्द के विचार से बदलना पड़ा है। परन्तु उपनिषत्कार ने सूत्र-पद को उपनिषद् में[1] रक्खा है। इससे हमारे विचार की और अधिक पुष्टि होती है।

**इस विषय में तिलक और डायसेन के विचार**—मैत्र्युपनिषद् के उद्धृत सन्दर्भ में 'महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्' पाठ है। लोकमान्य तिलक ने 'लिङ्गम्' पद का अर्थ लिङ्गशरीर अर्थात् सूक्ष्मशरीर[2] समझा है, और इसी आधार पर उपनिषद् के इन पदों को लिङ्गशरीर के घटक अवयवों का निर्देशक बताया है। परन्तु सांख्यमत के अनुसार 'महत्' से लगाकर 'पञ्चतन्मात्र' पर्यन्त अठारह तत्त्व लिङ्गशरीर के घटक अवयव कहे गये हैं, तथा उपनिषद् वाक्य में 'विशेषान्तं' पाठ है, 'विशेष' स्थूलभूतों का नाम है। इस-प्रकार 'महत्' से लेकर 'विशेष' पर्यन्त तत्त्वों को यदि लिङ्गशरीर के घटक अवयव माना जाय, तो लिङ्गशरीर में स्थूलभूतों का समावेश होजाता है, जो सर्वथा असंगत है; क्योंकि स्थूलभूतों से तो यह स्थूलशरीर घटित होता है, लिङ्गशरीर नहीं। इस आपत्ति को ध्यान में रखकर तिलक महोदय ने उपनिषद् के मूलपाठ में एक पाठान्तर की कल्पना की है। जिसका आधार डा० डॉयसेन का कथन माना है। उक्त प्राध्यापक महोदय के कथनानुसार लोकमान्य तिलक ने 'महदाद्य' पद के अन्तिम अनुसार को निकालकर 'महदाद्यविशेषान्तम्' [महदादि+अविशेषान्तम्] पाठ स्वीकार किया है। सांख्यपरिभाषा के अनुसार 'अविशेष' नाम 'पञ्चतन्मात्र' अर्थात् सूक्ष्मभूतों का है। ऐसा पाठ स्वीकार करलेने पर कोई आपत्ति नहीं रहती। 'महत्' से लगाकर 'सूक्ष्मभूत' पर्यन्त अठारह तत्त्वों

---

**१—इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मैत्र्युपनिषद् की रचना से पूर्व इन सांख्य-सूत्रों की रचना होचुकी थी। उपनिषद्-रचना का काल ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति की रचना से पूर्व है। उपनिषद् में सूत्र का अनुकरण है, सप्तति का नहीं। इस विषय को हमने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट किया है।**

**२—देखें—गीतारहस्य, 'विश्व की रचना और संहार, नामक आठवां प्रकरण, पृ० १६०; सन् १९२८ ई० का षष्ठ हिन्दी संस्करण। तथा गीता [१५।७] श्लोक की व्याख्या।**

का लिंगशरीर में समावेश होपाता है, जो सर्वथा युक्त है।

**तिलक और डॉयसेन के विचार भ्रमपूर्ण है**—वस्तुतः उपनिषद् के इस प्रसंग में लोकमान्य तिलक और उनके पथप्रदर्शक प्रा० डॉयसेन महोदय ने जो 'लिङ्ग' पद का अर्थ लिङ्गशरीर समझा है, वही भ्रान्तिपूर्ण है। उपनिषद् के इस सन्दर्भ में सम्पूर्ण प्रकृति-विकार को आत्मा का भोज्य अन्न बताया है। सन्दर्भ का प्रारम्भिक पद इसका निश्चायक है। वहां लिखा है—

'प्राकृतमन्नं त्रिगुणभेदपरिणामत्वान्महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्[1]।'

सन्दर्भ का प्रत्येक पद अत्यन्त स्पष्ट है। (प्राकृतं) प्रकृति का सम्पूर्ण विकार जो (महदाद्यं विशेषान्तं) 'महत्' से लेकर 'विशेष' पर्यन्त है, और जो (त्रिगुणभेदपरिणामत्वात्) तीन गुणों के विभिन्न परिणामों के होने से व्यक्तरूप में आता है, तथा जो (लिङ्गम्) अपने मूलकारण प्रकृति का एवं भोक्ता आत्मा का अनुमापक या बोधक है, वह आत्मा का (अन्नम्) भोज्य अन्न है। यदि इस सन्दर्भ में स्थूलभूतों का निर्देश न माना जाय, तो वे आत्मा के भोज्य अन्न की कोटि से बाहर होजायेंगे। तब सन्दर्भ के प्रारम्भ में 'प्राकृतं' पद का प्रयोग भी निरर्थक होगा। स्थूलभूतों को आत्मा की भोज्यता से निकालना सर्वथा असंगत एवं प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। वस्तुतः प्रा० डॉयसेन और अनुगामी तिलक ने उपनिषद् के पूर्वापर प्रकरण या प्रसंग पर ध्यान नहीं दिया, और 'लिङ्ग' पद को देखकर 'लिङ्गशरीर' पर जा दौड़े, तथा उसके घटक अवयवों की गिनती में फंस गये, जिसका यहां कोई प्रसंग नहीं है। उन्होंने सन्दर्भ के प्रथम भाग की सर्वथा उपेक्षा कर दी। यह उन महानुभावों का ऐसा प्रयत्न है, जैसे कोई 'मकान' पद में से 'कान' और 'तिलक' पद में से 'तिल' अलग निकाल कर उसका मनमाना अर्थ करदे।

इस प्रसंग में 'लिङ्ग' पद व्यक्त कार्यमात्र के लिये प्रयुक्त हुआ है, और प्रकृति के सम्पूर्ण तेईस व्यक्त कार्यों का—आदि अन्त का नाम लेकर—समावेश किया गया है। आदि में 'महत्' और अन्त में 'विशेष' अर्थात् पांच स्थूलभूत हैं। इनके सहित इनके मध्यवर्त्ती सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थों का इसमें संग्रह होजाता है। यह 'लिङ्ग' पद यहां व्यक्त कार्यमात्र के विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है। व्यक्त कार्यमात्र को 'लिङ्ग' कहे जाने का आधार, प्रथम स्पष्ट कर दिया गया है कि वह व्यक्त अपने समान त्रिगुणात्मक मूलकारण अव्यक्त का अनुमापक होता है, और स्वयं भोज्य होने से अपने विपरीत एक 'भोक्ता' का बोधक भी होता है। इसीलिये सांख्य[2] में इसको 'लिङ्ग' कहा जाता है। फलतः उपनिषद् के प्रस्तुत

---

१—ऐसे प्रसंग का पुराणपाठ इस पाठ की पुष्टि करता है। वहां श्लोक है—
अव्यक्तं कारणं यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम्।
महदादि विशेषान्तं सृजतीति विनिश्चयः॥ [वायु पु०, सृष्टिखण्ड २।७-८]
प्रधानादि विशेषान्तं चेतनाचेतनात्मकम्। [विष्णु पु०, ६।७।५८]
२—देखें—सांख्यदर्शन, १।८६॥ तथा सांख्यकारिका १०।

प्रसंग में 'लिंग' पद 'लिंगशरीर' के लिये प्रयुक्त नहीं किया गया। इसलिये मूलपाठ में किसी पाठान्तर की कल्पना सर्वथा असंगत व निराधार है, और एक नये अनर्थ की आपादक।

उपनिषद् के इसी प्रकरण में आगे इस सिद्धान्त को और स्पष्ट कर दिया गया है, कि सम्पूर्ण व्यक्त तथा अव्यक्त, आत्मा का अन्न है। अर्थात् चेतन आत्मा इस प्रकृति एवं प्राकृत जगत् को भोगने वाला है। उपनिषद् में लिखा है—

'एवं व्यक्तमन्नमव्यक्तमन्नमस्य निर्गुणो[1] भोक्ता भोक्तृत्वाच्चैतन्यं प्रसिद्धं तस्य।'

इसप्रकार अचेतन प्रकृति को भोग्य और चेतन आत्मा को उसका भोक्ता बताकर उपनिषद् ने सांख्याभिमत सिद्धान्त का अभिलापन किया है। उपनिषद् के इसी प्रसंग में एक और पंक्ति इसप्रकार है—

'एवं प्रधानस्य व्यक्ततां गतस्योपलब्धिर्भवति, तत्र बुद्ध्यादीनि स्वादुनि भवन्ति।'

अव्यक्त प्रधान जब परिणत होकर व्यक्त अवस्था में आजाता है, तब हम उसको ग्रहण कर सकते हैं। उस अवस्था में उसके कार्य–बुद्धि आदि अपने ग्राह्य विषयों के ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। यहां पर अव्यक्त प्रकृति और उससे उत्पन्न बुद्धि आदि व्यक्त जगत् का कथन, सांख्यानुसार संगत होता है। उपनिषद् के छठे प्रपाठक की सम्पूर्ण दसवीं कण्डिका में भी सांख्यानुकूल वर्णन किया गया है।

**प्रकृति का प्रेरक परमात्मा**—मैत्र्युपनिषद्[2] में कर्मफलों से अनभिभूत, शुद्ध, स्थिर, अचल, निःस्पृह परमात्मा का निर्देश किया है, जो अकेला सर्वत्र संसार में व्याप्त हो रहा है, यह कभी शरीर के बन्धन में न आने के कारण कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों से रहित है, परन्तु जगद्रचना के प्रति यह कर्त्ता माना जाता है। सत्त्व आदि गुण चेतन की प्रेरणा के विना[3] स्वयं प्रवृत्त नहीं होसकते, हमारे स्थूल-सूक्ष्मशरीरों में शारीर आत्मा

---

१—निर्गुणः-गुणात्मिकायाः प्रकृतेर्भिन्नः। निर्विकारश्चेतन आत्मा इत्यर्थः। आत्मा के लिये 'निर्गुण' पद का प्रयोग इसी आधार पर किया जाता है कि वह, अचेतन गुणरूप प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। 'निर्गुण' पद में गुण पद से गृहीत=सत्त्व-रजस्-तमस् का निषेध अभिप्रेत है, आत्मा के अपने–स्वरूप-धर्मों का नहीं।

२—मैत्र्युपनिषद् २।७॥

३—तानि ह वा एतानि गुणानि पुरुषेणेरितानि चक्रमिव मृत्यवेनेति। [मैत्र्युपनिषद् ३।३]। ये सत्त्व-रजस्-तमस् गुण, पुरुष के द्वारा इसीप्रकार प्रेरित किये जाते हैं, जैसे कुम्भार चाक को चला देता है। सांख्य ने प्रकृति के प्रति नियमितरूप से पुरुष के अधिष्ठातृत्व को स्वीकार किया है। पुरुष चेतन है और प्रकृति अचेतन। अचेतन प्रकृति में चेतन की प्रेरणा के विना कोई प्रवृत्ति नहीं होसकती। सांख्य के अनुसार पुरुष के अधिष्ठातृत्व अथवा साक्षित्व का यही स्वरूप है। देखें–'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' [सांख्यदर्शन १,९६।] 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते' [पञ्चशिख सूत्र,३]

[जीव-चेतन] इनका प्रेरयिता होता है और समष्टिरूप में अखिल ब्रह्माण्ड का प्रेरयिता अन्तर्यामी परमात्मा है।

इससे अतिरिक्त जीवात्मा का वर्णन[1] किया गया है, इसका दूसरा नाम 'भूतात्मा' बताया गया है, क्योंकि वह भूतसमुदाय–शरीर में आकर शुभ-अशुभ कर्मों को करता और सुख दुःख आदि का भोग करता है। इस जीव-पुरुष को नानारूप अर्थात् अनेक बताया गया है। इस प्रकरण के अनुसार परमात्मा और जीवात्मा का विभेद निम्नलिखितरूप में स्पष्ट होता है—

| परमात्मा | जीवात्मा |
|---|---|
| एक | अनेक |
| शरीरबन्धन से रहित | शरीरबन्धन में आने वाला |
| शुभ-अशुभ कर्मों का अकर्त्ता अभोक्ता | शुभ-अशुभ का कर्त्ता भोक्ता |
| व्यापक, अचल | संचरणशील, [अतः परिच्छिन्न] |

परमात्मा और जीवात्मा का यह स्वरूप सांख्य के अनुसार किसप्रकार समंजस तथा युक्तियुक्त कहा जासकता है, इसका विवेचन इसी ग्रन्थ के 'पुरुष' नामक प्रकरण में विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में इतना ही कहना है, कि उपनिषद् का यह वर्णन सांख्य के आधार पर है, अन्य किसी दर्शन के अनुसार इसका सामञ्जस्य नहीं बैठता।

**पञ्चतन्मात्र और पञ्चमहाभूत तथा पाञ्चभौतिक देह**—उपनिषत्कार ने इसी प्रसंग में 'पञ्चतन्मात्र' और पांच स्थूलभूतों को 'भूत' शब्द से कहा है—

'पञ्चतन्मात्रा भूतशब्देनोच्यन्ते अथ पञ्चमहाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्ते।' [३।१]

सूक्ष्मभूतों के लिये 'तन्मात्र' पद का प्रयोग सांख्य का पारिभाषिक है, जो अन्यत्र नहीं। इसी के आगे शरीर को पांच भूतों का समुदाय लिखा है। स्थूलशरीर स्थूलभूतों का समुदाय है और सूक्ष्मशरीर पांच 'तन्मात्र' का अर्थात् सूक्ष्मभूतों का, यह सांख्य का विवेचनापूर्ण सिद्धान्त है[2]। इसप्रकार स्थूल अथवा सूक्ष्मशरीर की रचना अन्य दर्शनों में नहीं मानी जाती। न्याय-वैशेषिक में शरीर को 'पार्थिव' माना गया[3] है, और सूक्ष्म-

---

इस सिद्धान्त का विस्तृत विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ के 'पुरुष' तथा 'प्रकृति' नामक प्रकरणों में किया गया है।

१—मैत्र्युपनिषद् ३।१–२॥

२—'पाञ्चभौतिको देहः' सांख्यदर्शन ३।१७॥

३—न्यायदर्शन ३।१।२८–२९॥ पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः। श्रुतिप्रामाण्याच्च॥ न्याय का सिद्धान्त है कि शरीर की रचना में पार्थिव अवयव उपादान हैं, शेष जल आदि सहायकमात्र हैं।

शरीर वहां माना नहीं जाता। वेदान्त में बताया गया है कि सूक्ष्मशरीर के घटक अवयवों में 'तन्मात्र' अर्थात् पांच सूक्ष्मभूतों का कोई आवश्यक स्थान' नहीं है, इसलिये उपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण का वर्णन सांख्य के आधार पर लिखा गया माना जासकता है, क्योंकि यहां स्पष्ट पांच 'तन्मात्र' का उल्लेख है।

दोनों प्रकार के भूतों का उल्लेख करने के अनन्तर कहा है-'तेषां यत् समुदयं तत् शरीरम्', उपनिषद् के इस वाक्य का सम्बन्ध पूर्वोक्त दोनों प्रकार के भूतों के साथ है। इसप्रकार इसका यह अर्थ होजाता है, कि पांच तन्मात्र का समुदाय सूक्ष्मशरीर है, तथा पांच स्थूलभूतों का समुदाय स्थूलशरीर है। यह बात पहले कही गई है, कि सांख्य-सिद्धांत के अनुसार सूक्ष्मशरीर के घटक अवयव अठारह हैं। परन्तु उसके साथ यह विवेचन कर दिया गया है, कि इनमें से तेरह करण [बुद्धि, अहंकार, एकादश इन्द्रिय] विना

१—वेदान्त सूत्र ३।१।१–७।। में इस विषय पर विचार किया गया है। शङ्कराचार्य ने इस अधिकरण के आधार पर मुख्यरूप में केवल जल से परिवेष्टित आत्मा का मृत्युकाल में शरीर से उत्क्रमण माना है। अधिकरण के द्वितीय सूत्र के आधार पर जल के अतिरिक्त पृथिवी-तेज का भी संग्रह किया है और देह को 'त्र्यात्मक' अर्थात् तीन भूतों [पृथिवी-जल-तेज] से बना हुआ बताया है, परन्तु पांचों भूतों का उल्लेख शंकराचार्य ने नहीं किया, साधारण 'भूत' पद के प्रयोग में उन्हीं तीन भूतों का ग्रहण समझा जाना चाहिये, जिनका आचार्य शंकर ने नाम लिया है। इसप्रकार उपनिषद् या वेदान्त की शांकरव्याख्या के अनुसार आत्मा के उत्क्रमणकाल में उसके साथ तीन भूतों का सहयोग स्पष्ट होपाता है। स्वयं शंकराचार्य ने तो स्वलिखित पंक्तियों में इनका भी नाम नहीं लिया। इस प्रकरण के प्रारम्भ में उसने लिखा है-'जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः समनस्कोऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यत इति।' एक देह को छोड़कर दूसरे देह में जाते समय जीव के साथ, मुख्यप्राण-इन्द्रियां-मन-अविद्या-कर्म [धर्म-अधर्म], पूर्वप्रज्ञा [जन्मान्तर संस्कार] जाते हैं।

यद्यपि उपनिषदों [बृह० ४।४।५] में आत्मा के उत्क्रमण के साथ पांचों भूतों के जाने का उल्लेख है। तथा पञ्चाग्निविद्या [छा० ५।३-९] के प्रकरण से भी यह स्पष्ट नहीं होता, कि उत्क्रमण काल में आत्मा जल से ही परिवेष्टित होकर जाता है। वहां केवल वैराग्योत्पादन के लिये जन्म-मरण, आदि प्रसंगों में अतिकष्ट का दिखाना प्रस्तुत प्रकरण का लक्ष्य है। प्रश्न भी वहां यही है, कि पञ्चम आहुति में जलों की पुरुष संज्ञा कैसे होजाती है? आगे इसीको स्पष्ट किया गया है। इससे यह परिणाम कदापि नहीं निकाला जासकता, कि आत्मा उत्क्रमण के समय केवल जल से परिवेष्टित रहता है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है, कि एक देह को छोड़ने के अनन्तर दूसरे देह की प्राप्ति तक आत्मा की क्या स्थिति होती है और वहां तक वह कैसे पहुंचता है। इसका विस्तृत उल्लेख इसीका प्रकरण में आगे किया गया है।

आधार के रह नहीं सकते। इसलिये मुख्य आधारभूत शरीर पांच 'तन्मात्र' का समुदाय है। तेरह करण उसी के आश्रय पर रहते हैं। इन सबको मिलाकर 'सूक्ष्मशरीर' अठारह अवयवों से घटित कहा जाता है। वस्तुतः मुख्यआधारभूत शरीर पांच तन्मात्र का समुदाय है।

उपनिषद् के इसी प्रकरण में आगे जीव-पुरुष के सम्बन्ध में लिखा है, कि यह[1] प्राकृत गुणों [सत्त्व, रजस्, तमस्] से अभिभूत होता रहता है। यह इन बन्धनों में इतना अज्ञानी रहता है, कि अपने में स्थित परमात्मा को भी देख या समझ नहीं पाता, जिसने इस समस्त संसार को रचा है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि जीव-पुरुष से परमात्मा भिन्न है। चेतनस्वरूप का साक्षात् होने पर, उस अन्तर्यामी [आत्मस्थ] आत्मा का भी भान होजाता है। उसके जानने के लिये किसी अन्य अधिक यत्न की आवश्यकता नहीं रह-जाती। इसीलिये ऐसे उल्लेख पाये जाते हैं, कि निज चेतनस्वरूप का साक्षात्कार हो-जाना, परमात्मा का साक्षात्कार है। इसप्रकार के वर्णनों से उन भिन्न चेतनों की एक सत्ता निश्चित नहीं की जासकती।

**जगत् सर्ग का वर्णन**—जहां तक प्रस्तुत उपनिषद् पर सांख्य का प्रभाव कहा जासकता है, हम एक प्रसंग का उल्लेख और कर देना चाहते हैं। वहां लिखा है—सृष्टि[2] के पूर्व यह एक 'तम' था, उसके परे था 'वह' अर्थात् चेतन परमात्मपुरुष। उस चेतन की प्रेरणा से वह 'तम' विषम अवस्था को प्राप्त होगया। इसीप्रकार का 'रजस्' था, वह भी 'पर' (चेतन) की प्रेरणा से विषम अवस्था को प्राप्त होगया। इसीप्रकार का 'सत्त्व' था, वह भी चेतन की प्रेरणा से विषम अवस्था में आगया। अब ऐसी स्थिति होगई, जहां चेतन की भावना स्पष्ट होने लगी।

प्रलयकाल में प्रकृति साम्यअवस्था में रहती है। सत्त्व, रजस्, तमस् रूप ही प्रकृति है। 'तमस्' पद का प्रयोग साधारण प्रकृति के लिये भी होता है। उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में तमस्, रजस् और सत्त्व इन तीनों का उल्लेख है। चेतन की प्रेरणा से ये मूलतत्त्व, प्रलयकालीन साम्यअवस्था से परिणत होकर विषम अवस्था में आजाते हैं। इसी का नाम है—सर्ग का आरम्भ। अव्यक्त मूलतत्त्व चेतन प्रेरणा से व्यक्त अवस्था में परिणत होते हैं, और यह अखिल ब्रह्माण्ड प्रकाश में आजाता है। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण और सब लोकलोकान्तर अपनी दृश्यमान स्थिति में व्यवस्थित होजाते हैं, पर

---

१—स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरिति। अथोऽभिभूतत्वात् सम्मूढत्वं प्रयातः सम्मूढत्वादात्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नापश्यद्गुणौघैरुह्यमानः [मैत्र्यु० ३।२]

२—तमो वा इदमग्र आसीदेकं तत्परे स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्रूपं वै रजस्तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं रसः सम्प्रास्रवत् सोंऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायाभिमान-लिङ्गः। [मैत्र्यु० ५।१॥]

उसके बहुत समय बाद तक, हमारी गणना के अनुसार न मालूम कितने सहस्रों लक्षों वर्ष तक यह सृष्टि निर्जीव रहती है। इसपर किसी प्राणी की स्थिति संभव नहीं होपाती। अनुकूल समय पाकर जब भी प्राणीवर्ग पृथिव्यादि लोकलोकान्तरों में उपस्थित होते हैं, वही वास्तविक सृष्टि का प्रारम्भ समझना चाहिये।

प्राकृतिक बुद्धि आदि तत्त्वों के, आदि सर्गकाल में उत्पन्न होजाने पर भी स्थूल-शरीरों के अभाव में चेतन के अस्तित्व का आभास तब तक इस दृश्यमान जगत् में नहीं होपाता, जबतक उसके निवासयोग्य वातावरण उपस्थित नहीं होजाता। ऐसे अनुकूल समय में प्रत्येक जीव-पुरुष के साथ बुद्धि आदि तत्त्वों का सम्पर्क अथवा सहयोग होकर स्थूलशरीरों के द्वारा चेतन का आभास इस जगत् में होता है, जिस चेतन जीव-पुरुष के भोगादि के लिये इस संसार की रचना हुई है। यह बुद्धि-तत्त्व अपने अन्य सहयोगियों को साथ लेकर जीव-चेतन के भोगादि का प्रधान[1] साधन होता है। इसी के द्वारा चेतन-पुरुष कालान्तर में अपने और प्रकृति के वास्तविक भेद का साक्षात्कार कर पाता है। इस आधार पर बुद्धि को 'क्षेत्रज्ञ' कह दिया जाता है। इसप्रकार जब तक जगत् का स्थिति-काल समाप्त होकर दुबारा प्रलयकाल न आवे, अथवा प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार ज्ञान न हो जावे, तब तक जीव-चेतन के साथ बुद्धि आदि का सहयोग बराबर बना रहता है।

सांख्य में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, कि सर्गादिकाल में प्रत्येक पुरुष के साथ बुद्धि[2] आदि का सम्बन्ध होजाता है, और वह प्रलय अथवा विवेकज्ञान-पर्यन्त अवस्थित रहता है। इसके अतिरिक्त सत्त्व-रजस् तमस् की साम्यावस्था से विषम अवस्था में परिणत होकर सर्गारम्भ का कथन भी सांख्य के आधार पर किया गया माना जासकता है।

**सत्त्व, रजस्, तमस्—विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र हैं**—मैत्र्युपनिषद् के इसी प्रसंग [ ५।१ ] में[3] सत्त्व रजस् तमस् की तुलना विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र के साथ की गई है। पौराणिक विचारों के अनुसार यह बात अतिस्पष्टरूप में अवगत है, कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के साथ ब्रह्मा विष्णु और रुद्र का कितना सम्पर्क है। वस्तुतः जगत् की उत्पत्ति

---

**१—सांख्यदर्शन २।४७।। सांख्यकारिका ३७।।**

**२—बुद्धि आदि से अभिप्राय-त्रयोदश करण और उनके आधारभूत 'पञ्च-तन्मात्र' से है। इसी का नाम सूक्ष्मशरीर है। इसीसे परिवेष्टित जीव-चेतन संसार में आता और जाता है। तुलना करें—सांख्यदर्शन ३।४।। सांख्यकारिका ३९, तथा इस-पर माठर व्याख्या।**

**३—अथ यो ह खलु वावास्य तामसोऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणः ! योऽयं रुद्रः, अथ यो ह खलु वावास्य राजसोऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं ब्रह्मा, अथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं विष्णुः। [ मैत्र्यु० ५।१ ]**

स्थिति प्रलय के मुख्य आधार सत्त्व-रजस्-तमस् हैं, जो प्रकृति का रूप हैं। पौराणिक विचारों के अनुसार ब्रह्मा को जगत् की उत्पत्ति का, विष्णु को स्थिति का और रुद्र को प्रलय का देवता माना जाता है। उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्मा की रजस् से, विष्णु की सत्त्वसे तथा रुद्र की तमस् से तुलना कीगई है। ब्रह्मा उत्पत्ति का देवता है, और रजस् क्रियात्मक होने से सम्पूर्ण उत्पादन अथवा वैषम्य का आधार है। 'उपष्टम्भकं चलञ्च रजः'[1] रजस् स्वयं क्रियात्मक है और अपने साथी अन्य गुणों को विकृति की ओर गति देता है। इसीलिये शास्त्र में गुणमात्र को 'चल'[2] बताया गया है। रजस् के क्रियात्मक होने की विशेषता सर्गादिकाल में प्रकट होपाती है, क्योंकि किन्हीं आचार्यों की दृष्टि से–गुणों के सतत परिणामिशील होने के कारण-यद्यपि प्रलयकाल में भी उनका परिणाम होता रहता है, परन्तु उसके समपरिणाम होने के कारण वहां किसी विशेषता का प्रादुर्भाव नहीं होपाता। उसका आभास प्रलयकाल की समाप्ति और सर्ग के आरम्भ में होता है, और उस प्रलयस्थिति से सर्गारम्भ की विशेषता का मुख्य आवाहक 'रजस्' होता है। इसलिये संभवतः 'रजस्' की इस विशेषता को ध्यान में रखकर उत्पत्ति के देवता ब्रह्मा की तुलना 'रजस्' के साथ की गई है।

इसीप्रकार सत्त्व को सांख्य में प्रकाशक तथा इष्ट[3] अर्थात् अभिलषित का साधन बताया गया है। उत्पत्ति के अनन्तर सम्पूर्ण जगत् अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आकर अपने इस दृश्यमानरूप में प्रकाशित रहता है। यह स्थिति हमारे इष्ट अथवा अभिलषित की साधन है। जगत् की रचना पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये होती है, जो पुरुष का इष्ट है। इसीको शास्त्र में 'पुरुषार्थ' कहा गया है। इससे स्पष्ट है, कि जगत् की इस स्थिति में 'सत्त्व' का रूप प्रतिभासित होता है, क्योंकि विष्णु को स्थिति का देवता माना जाता है, संभवतः इसीलिये प्रस्तुत उपनिषद् में विष्णु की तुलना 'सत्त्व' गुण से की गई है।

तमस् को सांख्य में आवरण करनेवाला[4] बताया गया है। प्रलयकाल में यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् अपने कारण में लीन होजाता है, अर्थात् जगत् की यह व्यक्त-अवस्था न रहकर कारण-अव्यक्त-अवस्था रहती है। उस समय मानो यह सम्पूर्ण जगत् एक आवरण में ढका रहता है, अपने मूल कारण में अन्तर्हित रहता है। एक प्रकार से यह अवस्था तमोरूप है। इस अवस्था में कोई क्रिया नहीं होती, अथवा किसी तरह की क्रिया का आभास नहीं होता। इसीतरह की प्रलयस्थिति का देवता रुद्र को माना

१—सांख्यकारिका १३।

२—'चलञ्चगुणवृत्तम्' योगदर्शन, व्यासभाष्य, साधनपाद, सूत्र १५ तथा ३।१३॥ तत्त्ववैशारदी ३।१५॥

३—सांख्यकारिका १३।

४—सांख्यकारिका १३।

गया है। संभवतः इसीलिये तमस् के साथ रुद्र की तुलना कीगई है। कारण और कार्य अवस्था को स्पष्ट करने के लिये उन दोनों के मध्य में एक 'उत्पत्ति' नामक अवस्था का वर्णन किया जाता है। वस्तुतः जब कारण, कार्यरूप में परिणत होने लगता है, उतनी अवस्था का नाम उत्पत्ति है। उसके बाद लम्बे समय तक अर्थात् दूसरे प्रलयकाल के आने तक जगत् की 'स्थिति' नामक अवस्था कही जाती है। इसप्रकार प्रलयकाल का एक 'ओर' जगत् की स्थिति से, तथा दूसरा 'छोर' जगत् की उत्पत्ति से सटा होता है। यह क्रम एक चक्र के रूप में अनिश आवर्त्तमान रहता है। उत्पत्ति से स्थिति और स्थिति से प्रलय। प्रलय के बाद फिर उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय। शास्त्रों में उत्पत्ति का वर्णन करते समय उससे पहली प्रलय अवस्था का वर्णन अवश्य किया जाता है। इसप्रकार यह क्रम—प्रलय-उत्पत्ति-स्थितिरूप में चलता है। मैत्र्युपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण में इस क्रम का आश्रय लिया गया है। पहले तमस् [प्रलय का प्रतीक], फिर रजस् [उत्पत्ति का प्रतीक] फिर सत्त्व [स्थिति का प्रतीक]।

**सत्त्व-रजस् तमस्रूप विष्णु-ब्रह्मा-रुद्र, जगत् की स्थिति-उत्पत्ति-प्रलय के आधार हैं**—उपनिषद् के उक्त वर्णन को यदि इस रूप में समझा जासके, कि जगत् के ये सब उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, सत्त्व-रजस्-तमस् पर आधारित हैं, इनकी अन्योन्यमिथुन-वृत्तिता समस्त उत्पत्ति आदि का नियमन करती है। कोई कार्य शुद्ध सत्त्व, शुद्ध रजस् या शुद्ध तमस् के आधार पर नहीं होसकता, तो हमारे सम्मुख एक बड़े रहस्य का स्पष्टीकरण होजाता है। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के साथ सम्बन्ध रखने वाले ब्रह्मा विष्णु और रुद्र के वास्तविक रूप क्या हैं? इसे कुछ अधिक स्पष्टरूप में समझा जा-सकता है। पौराणिक विचारों के अनुसार यह जाना जाता है, कि ये कोई विशेष शरीर-धारी देवता, अथवा जगत् की उत्पत्ति आदि के अधिष्ठातृ-देवता हैं। ऐतिहासिकों की दृष्टि में कदाचित् ये कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हों। हमारा इससे कोई विरोध नहीं है, कि इस नाम के कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हों। ये नाम परमात्मा के नामों में भी गणना किये जाते हैं। यदि इन नामों से परमात्मा का निर्देश माना जाय, तो किसी अंश तक अधिष्ठातृ-देवतासम्बन्धी वर्णनों का सामञ्जस्य किया जासकता है। यद्यपि शरीर धारण की बात इस रूप में नहीं बन पाती। परन्तु जगत् की प्रत्येक अवस्था का अधिष्ठातृत्व परमात्मा में संभावना किया जासकता है, और यह माना जासकता है, कि एक परमात्मा को जगत् की भिन्न अवस्थाओं का अधिष्ठाता होने के कारण, अवस्थाओं के आधार पर 'ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र' ये भिन्न नाम दे दिये गये हैं। फिर भी सत्त्व-रजस्-तमस् के साथ उनकी तुलना का कोई सामंजस्य नहीं बैठता। इसलिये जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के साथ जिन ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का सम्बन्ध वर्णन किया जाता है, वस्तुतः वह रजस् सत्त्व और तमस् का ही प्रकारान्तर से वर्णन है, तथा इसीलिये उपनिषद् में ब्रह्मा आदि की रजस् आदि के साथ तुलना की गई है। इसप्रकार सत्त्व-रजस्-तमस् के आधार पर विष्णु

ब्रह्मा और रुद्र की रहस्यमयी कल्पना को यदि हम समझ सकें, तो जगद्रचनासम्बन्धी पुराणवर्णित अनेक गूढ रहस्यों का उद्घाटन हमारे सम्मुख होसकता है, और बहुत से तत्सम्बन्धी विरुद्ध प्रतीत होने वाले वर्णनों का समाधान किया जासकता है। इसप्रकार मैत्र्युपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण में जगद्रचनासम्बन्धी जिन रहस्यों का उल्लेख किया गया है, उनका सामंजस्य सांख्यप्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर अधिक सम्भव है।

**एक त्रिगुणात्मक प्रकृति का सब विकार**—पिछली पंक्तियों में स्पष्ट किया है, कि जगत् की रचना आदि के सम्बन्ध में जिन ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का उल्लेख किया गया है, वे रजस्-सत्त्व और तमस् हैं। हम इनको आज तीन नामों से पृथक्-पृथक् पुकारते हैं, परन्तु मूलरूप में इनकी स्थिति एक[1] है। इसी को मूल उपादान या प्रकृति कहा जाता है। इस मूलस्थिति के आधार पर आगे अनेक विकार होते चले जाते हैं। इस अर्थ का वर्णन मैत्र्युपनिषद् में निम्न वाक्यों के द्वारा किया गया है—

'स वा एष एकस्त्रिधाभूतोऽष्टधैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधा वोद्भूत उद्भूतत्वाद्भूतम्, भूतेषु चरति प्रविष्टः स भूतानामधिपतिर्बभूवा इत्यसा आत्मान्तर्बहिश्च।'

वह मूलकारण एकरूप है। वही सत्त्व-रजस्-तमस् रूप में तीन प्रकार का होजाता है। वही फिर आठ प्रकार का होजाता है। एक स्वयं मूलप्रकृति और सात प्रकृति-विकृति मिलाकर प्रकृति को ही आठ प्रकार[2] में प्रदर्शित किया गया है। उसीके एकादश इन्द्रियरूप में एकादश प्रकार हैं। उसके साथ बुद्धि को जोड़कर द्वादशरूप में वर्णन किया है। आगे उसका ही विकार यह अखिल ब्रह्माण्ड है, जिसको 'अपरिमितधा' कहकर स्पष्ट किया है। इसप्रकार यह अनन्त जगत् एक ही प्रकृति का विकार है। वह मूल-

---

१—सांख्य के व्याख्याग्रन्थों में प्रकृति को एकरूप में कहा गया है। वस्तुतः मूल उपादान तत्त्व अनन्त हैं। परन्तु उपादानता के आधार पर उन अनन्त मूलतत्त्वों का एकरूप में वर्णन हुआ है। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन 'प्रकृति' नामक प्रकरण में किया गया है।

१—अनेक सांख्याचार्यों ने प्रकृति और बुद्धि-तत्त्व के बीच में एक और तत्त्व की स्थिति मानी है। वस्तुतः इसको अतिरिक्त तत्त्व न समझना चाहिये। यह प्रकृति की एक विशेष अवस्था है, जबतक प्रकृति में क्षोभ होजाने पर भी 'महत्' नामक आद्यकार्य का प्रादुर्भाव नहीं होपाता। उसको कहीं 'अनिर्देश्यतत्त्वान्तर [युक्ति-दीपिका, पृ० १०८, तत्त्वान्तरत्वेन अनिर्देश्यमिति भावः], कहीं 'प्रतिभा' [निरुक्त १४।४], कहीं 'विद्युत्' [यजुर्वेद, दयानन्द भाष्य २३।५६], और कहीं 'आपस्' [मनु० १।८] के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इस सम्बन्ध में भगवद्गीता [७।४] भी द्रष्टव्य है। चाहे इन वर्णनों में परस्पर थोड़ा बहुत अन्तर हो, पर इन सबका मूल आधार सांख्य का तत्त्वविवेचन है।

उपादान अव्यक्त है, परन्तु उसका यह विकार व्यक्त अर्थात् उद्भूत है, इसीलिये इस स्थूल दृश्य विकारमात्र को 'भूत' कहा जाता है। 'उद्भूत' होने से इसका नाम 'भूत' है। जो इन भूतों में प्रविष्ट हुआ सर्वत्र व्याप्त होरहा है, वह इन सब भूतों का अधिपति है। वह आत्मा [परमात्मा] इन भूतों के अन्दर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है। जिसका वास्तविक स्वरूप इन भूतों से सर्वथा भिन्न है। इसप्रकार मैत्र्युपनिषद् के अनेक प्रसंगों में जिन सिद्धान्तों को प्रकट किया गया है, उनकी पुष्टि सांख्य विचारधारा के आधार पर की जासकती है। इससे प्रस्तुत उपनिषद् पर सांख्यसिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट होता है।

## मण्डलब्राह्मणोपनिषद्

प्रस्तुत उपनिषद् में निम्नलिखित पाठ उपलब्ध होता है—

'जीवः पंचविंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य षड्विंशः परमात्माहमिति निश्चयाज्जीवन्मुक्तो भवति।' [१।४]

यहां प्रकृति और उसके तेईस विकारों की गणना कर, चौबीस संख्या के आगे पच्चीसवां जीवात्मा बताया गया है। प्रकृति और उसके तेईस विकारों [सात प्रकृति-विकृति तथा सोलह विकार] की कल्पना सांख्य के आधार पर मानी जासकती है। जीवात्मा को पच्चीसवां तथा इसके आगे परमात्मा को छब्बीसवां बताकर उनकी पृथक् स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। इसप्रकार इस उपनिषद् पर सांख्य का प्रभाव स्पष्ट होता है।

## श्वेताश्वतर उपनिषद्

इस उपनिषद् के सम्बन्ध में प्रायः सब विद्वानों की यह धारणा पाई जाती है, कि यह उपनिषद् द्वैत तत्त्वों का प्रतिपादक है, इसलिये सांख्य के साथ इसका विशेष सामंजस्य है। इस उपनिषद् में केवल इतना नहीं, कि कपिल[1] ऋषि की प्रशंसा की गई हो, प्रत्युत कपिल के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी हुआ है। चेतन और अचेतन दो मूलभूत तत्त्वों का सर्वथा पृथक् रूप से इस उपनिषद् में बहुत स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रथम अध्याय की नवम कण्डिका[2] में सर्वज्ञ अनादि परमात्मा, अल्पज्ञ भोक्ता जीव तथा भोक्ता जीव के भोगों के लिये अर्थों को प्रस्तुत करने वाली अनादि प्रकृति, इन तीनों तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख है। भोक्ता आत्मा को अनन्त अर्थात् अनेक या असंख्यात तथा जगत् में नाना देहादि धारण करने से विश्वरूप और जगत् का अकर्त्ता बताया गया है। ये तीनों शक्ति अनादि हैं, वैसे इनका समावेश दो वर्गों में होजाता है—एक चेतन [परमात्मा तथा जीवात्मा] और दूसरा अचेतन [प्रकृति]।

---

१—ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानञ्च पश्येत् [५।२]।

२—ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥

इसीप्रकार आगे १२वीं कण्डिका[1] में बताया गया है, कि उस परमात्मा को जानने का बराबर यत्न करना चाहिये, जो सदा आत्मा में स्थिर रहता है। उससे उत्कृष्ट ज्ञेय और कोई नहीं है। संसार में तीन प्रकार के तत्त्व बताये गये हैं—भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता। भोक्ता जीवात्मा है, भोग्य प्रकृति तथा प्रेरिता परमात्मा। उपनिषद् के इस कथन से स्पष्ट होजाता है, कि भोग्य जड़ प्रकृति, परमात्मा की प्रेरणा के विना कुछ नहीं कर सकती। इसलिये प्रेरिता के अस्तित्व की उपेक्षा किया जाना अशक्य है। आगे तृतीयाध्याय की १२वीं कण्डिका[2] में परमात्मा को पुनः सत्त्वादि गुणों का प्रवर्त्तक बताया गया है।

चतुर्थाध्याय की प्रथम दो कण्डिकाओं में परमात्मा का, उससे अगली तीसरी चौथी कण्डिकाओं में जीवात्मा का, तथा उससे आगे पांच से सात कण्डिका तक प्रकृति का पृथक्‌रूप में निरूपण किया गया है। अन्तिम तीन कण्डिकाओं में जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर भेद का स्पष्ट उल्लेख[3] है। प्रकृति को अनादि तथा उसका स्वरूप लोहित-शुक्ल-कृष्ण बताया गया है, जो यथाक्रम रजस्-सत्त्व और तमस् का बोधक है। प्रकृति से सत्त्व-रजस्-तमोरूप ही विकार परिणत होता है। जीवात्मा शरीर में कर्मों को करता और उनके अनुसार फलों को भोगता है। परमात्मा अखिल ब्रह्माण्ड का स्रष्टा तथा प्रेरिता बताया गया है। भोक्ता जीव उसकी महिमा को जानकर संसार दुःख से पार होपाता है। जीवात्मा और परमात्मा का भेद नवमी कण्डिका से भी स्पष्ट हो-जाता है। वहां लिखा है—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः।

परमात्मा इस सम्पूर्ण संसार की रचना करता है, परन्तु उससे भिन्न दूसरा जीवात्मा, प्रकृति के द्वारा इस संसार में बांधा जाता है। अनेक विद्वानों का ऐसा विचार है, कि साहित्य में 'माया' पद का किसी एक ऐसे विलक्षण अर्थ में प्रयोग होता है, जिसके स्वरूप को हम कह नहीं सकते। परन्तु यहां उपनिषद् में इसको स्पष्ट किया है, कि माया प्रकृति का नाम है और वह सत्त्व-रजस्-तमस्‌रूप है। उसके ऊपर नियन्त्रण करनेवाला

---

१—एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्त्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥

२—महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः।

३—अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

अधिष्ठाता परमात्मा[1] है। क्योंकि परमात्मा सबका अधिष्ठाता है, इसलिये प्रकृति के प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण पर-जगत् के उपादानकारणभूत प्रत्येक परमाणु पर उसीका नियन्त्रण रहता है। उसी शक्ति के आधार पर जगत् के सर्ग और प्रलय निरन्तर हुआ करते हैं। उस ऐश्वर्यशाली कल्याणकारी वन्दनीय देव को जानकर शान्ति-लाभ होसकता है[2]। यही आशय पञ्चमाध्याय की द्वितीय कण्डिका के पूर्वार्द्ध में पुनः स्पष्ट किया है।

पञ्चमाध्याय की प्रथम छह कण्डिकाओं में परमात्मा का वर्णन है। वहां पुनः इस भाव को स्पष्ट किया गया है, कि वही परमात्मा इन सब प्राकृतिक भोग्य विकारों का परिणत करता है। वह अकेला सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठाता है, वही सब गुणों का विनियोजक[3] है। इसके आगे सातवीं से बारहवीं कण्डिका तक जीवात्मा का वर्णन किया गया है। उसको सत्त्वादि गुणों के साथ सम्बद्ध होकर कर्मों को करने वाला तथा तदनुसार फलों को भोगनेवाला बताया गया है। वह अनेक देहादि को धारण करता, तीनों गुणों के साथ सम्बद्ध रहता तथा अपने कर्मों के अनुसार जन्म-मरण के मार्ग पर संचरण करता रहता है[4]। उसका परिमाण परिच्छिन्न बताया गया है।

छठे अध्याय में पुनः परमात्मा को 'गुणी'[5] तथा 'गुणेशः' कहा गया है। इससे और बढ़कर 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः' कहा है। इसका अभिप्राय है, कि वह सत्त्व-रजस्-तमस् गुण अथवा प्रधान [मूलप्रकृति] और क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्माओं पर नियन्त्रण रखनेवाला है। परन्तु वह स्वयं 'गुण' नहीं है। वह सत्त्व-रजस्-तमस् से सर्वथा भिन्न है। स्वयं उसको 'निर्गुण'[6] कहा गया है। उपनिषद् में इसप्रकार के परमात्मा को जानने का साधन सांख्य-योग बताया[7] है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रारम्भ में जो वर्णन किये गये हैं, वे गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं। ब्रह्मवादी विचार करते हैं—इस जगत् का कारण कौन है? हम कहां

---

१—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

२—यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥

३—यश्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः॥
तथा तुलना कीजिये—६।४॥

४—गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥

५—श्वेता० ६।१६॥

६—श्वेता० ६।११॥

७—नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ [६।१३]

से उत्पन्न हुए ? किस कारण से जीवित कहे जाते हैं ? प्रलयकाल में हमारी स्थिति कहां और कैसी रहती है ? सुख और दुःखों के भोग में हमारा कौन अधिष्ठाता या नियन्ता रहता है ? किसकी प्रेरणा से हम एक व्यवस्था में चलते आरहे[1] हैं ?

प्रस्तुत उपनिषद् में इन्हीं समस्याओं का विस्तारपूर्वक समाधान किया गया है। ब्रह्मवादी व्यक्तियों ने इन समस्याओं को समझने का यत्न किया। उन्होंने योगसमाधि द्वारा इस तत्त्व को समझपाया। एक दिव्य चेतनशक्ति का साक्षात्कार किया, जो अपने गुणों के सहित विद्यमान रहती है। ये गुण-सत्त्व-रजस्-तमस् सम्पूर्ण जगत् के मूल उपादान हैं। इन सब कारणों की और आत्माओं [जीवात्माओं] की अधिष्ठाता वही एक शक्ति है। वही दिव्य चेतन परमात्मा, प्रकृति और पुरुष सबका नियन्त्रण करता है।[2]

चौथी और पांचवी कण्डिकाओं में संसार को एक चक्र तथा नदी के रूप में वर्णन किया गया है। इस चक्र को चलानेवाला एक परमात्मा है। इसलिये इसको ब्रह्मचक्र भी कहा जाता है। यह ब्रह्म का चक्र है, अर्थात् इस संसारचक्र का स्वामी या अधिष्ठाता ब्रह्म है। इस चक्र के घटक जो तत्त्व उपनिषद् में बताये गये हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं।

इस चक्र में नेमि–बीच की नाभ—आधारभूत काष्ठ–एक प्रकृति है। शास्त्र में अनेक नामों से प्रकृति का उल्लेख हुआ है। शक्ति अविद्या माया तमस् छाया अज्ञान अचेतन अव्यक्त आदि नाम प्रकृति का निर्देश करते हैं। जिसप्रकार चक्र [पहिये] में बीच की नाभ, चक्र के शेष सम्पूर्ण अवयवों का आधार होती है, इसीप्रकार प्रकृति इस अखिल ब्रह्माण्डरूप चक्र का आधार है। इस चक्र की वह नेमि–आधारभूत प्रकृति–त्रिवृत है, तीन से व्याप्त है। ये तीन सत्त्व रजस् तमस् हैं। प्रकृति नाम से कहे जाने वाले, जगत् के मूल उपादान तत्त्वों का यह पूर्ण रूप है।

इस चक्र का जो अन्तिम बाहरी घेरा है, उसके सोलह अवयव हैं। पहिये के बाहरी घेरे को कई टुकड़ों से जोड़कर गोलरूप में बनाया गया है। उसके एक टुकड़े को 'पुठ' कहते हैं। इस संसार चक्र के बाहरी घेरे में सोलह पुठ हैं। जब जगत् का आधारभूत प्रकृति परिणत होने लगती है, तथा अपना स्थूल विस्तार करती है, तब उसके अन्तिम परिणाम कहे जानेवाले सोलह तत्त्व हैं, जो सांख्य में सोलह विकार [ग्यारह इन्द्रिय और पांच स्थूलभूत] कहे जाते हैं।

चक्र के बीच की नाभ और बाहरी घेरे को अनेक अरों से जोड़ा जाना है। प्रस्तुत

---

१—ब्रह्मवादिनो वदन्ति–किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम [१।१]

२—ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ [१।३]

चक्र में उपनिषत्कार ने पचास अरों का निर्देश किया है। ये पचास अरे सांख्य के पचास प्रत्ययसर्ग हैं। सांख्य के 'षष्टितन्त्र' नाम के आधार साठ पदार्थों में से दस मौलिक या मूलिक अर्थ हैं और पचास हैं ये प्रत्ययसर्ग या बुद्धिसर्ग। इन पचास की गणना इसप्रकार की जाती है—

पांच—विपर्यय  अट्ठाईस—अशक्ति
नौ—तुष्टि  आठ—सिद्धि[1]

ये पचास अरे, मध्यनेमि और बाह्य घेरे को परस्पर जोड़ते हैं। इनके साथ बीच में कुछ छोटे अरा होते हैं, जिनको प्रत्यरा कहना चाहिये। उपनिषद् में बीस प्रत्यराओं का उल्लेख किया गया है। ये–दस बाह्य इन्द्रिय और दस उनके विषय हैं। सांख्य में पचास प्रत्ययसर्गों का विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया है। अध्यात्ममार्ग में जानेवाले उपासक को इन अवस्थाओं से निकलते हुए पार होना होता है। ये सब अवस्थाएं दस इन्द्रियां और उनके विषयों पर आधारित हैं। अभ्यासी को इन्द्रिय तथा इन्द्रिय-विषयों से प्रभावित होकर उन अवस्थाओं में से गुज़रना होता है। इसप्रकार संसारचक्र की पचास अराओं के साथ इन बीस प्रत्यराओं के वर्णन में एक रहस्य अन्तर्निहित है, जिसका विघटन सांख्य विचारधारा के आधार पर किया जासकता है।

इस चक्र में छह अष्टक हैं। आठ का एक समूह अष्टक, इसप्रकार के छह अष्टक इस चक्र में रहते हैं। चक्र में ठुकी हुई कीलों की तरह ये अष्टक अपना कार्य पूरा करते हैं। इन छह अष्टकों को इसप्रकार निर्दिष्ट किया गया है—

१—प्रकृत्यष्टक[2]—पांच तन्मात्र मनस्[3] बुद्धि अहंकार।
२—धात्वष्टक—लोम त्वक् रुधिर मांस स्नायु अस्थि मज्जा शुक्र।
—ऐश्वर्याष्टक—अणिमा महिमा लघिमा प्राप्ति ईशित्व वशित्व प्राकाम्य यत्रकामावसायित्व।
४—भावाष्टक—धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य।

---

१—सांख्य में अध्यात्मदृष्टि से साठ पदार्थ वर्णन किये गये हैं। उनमें पचास ये प्रत्ययसर्ग हैं। इनका विस्तारपूर्वक विवेचन इसी ग्रन्थ के 'विकार' नामक प्रकरण में किया गया है।

२—(१)—सांख्यसूत्र १।२६॥ सां० का० ३॥(२)—सां० का० ३६ पर माठर तथा युक्तिदीपिका व्याख्या। (३)—सां० का० २२ पर माठरवृत्ति। (४)—सां० का० २३ तथा ४३ माठरवृत्ति और युक्तिदीपिका।

३—यहां 'मनस्' पद से प्रकृति की सर्गोन्मुख अवस्था को कहा गया है। देखिये 'मनुस्मृति में सांख्यसिद्धान्त' नामक प्रकरण, 'अप एव ससर्जादौ' की टिप्पणी।

५—देवाष्टक—ब्रह्म प्रजापति देव गन्धर्व यक्ष[1] राक्षस पितृ पिशाच।

६—गुणाष्टक—दया क्षमा अनसूया शौच अनायास मङ्गल अकार्पण्य अस्पृहा।

इन छह अष्टकों का विश्लेषण सांख्यप्रक्रिया के आधार पर किया जासकता है। इसीप्रकार संसाररूपी चक्र का एक पाश [—जाल=संसार में फंसानेवाला अथवा उसकी ओर सब प्राणियों को आकृष्ट करनेवाला] है, जो नानारूपों में आकर सन्मुख उपस्थित होता है, वह 'काम' है। इसीको इच्छा, अभिलाषा, तृष्णा आदि नामों से कहा गया है।

इस चक्र के तीन मार्ग हैं—धर्म अधर्म और ज्ञान[2]। सब प्रकार के पुण्य और पाप अथवा धर्म और अधर्म का एक निमित्त है—मोह। इसीका दूसरा नाम अविवेक है। अविवेक पुरुष के बन्ध का कारण[3] है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् की चतुर्थ[4] कण्डिका का संक्षप में यह व्याख्यान है। इसमें सांख्यप्रतिपादित तत्त्वों एवं विचारों का विविधरूप से निर्देश किया गया है। शङ्कराचार्य आदि व्याख्याकार इन पदों के व्याख्यान्तर नहीं कर सके। इससे श्वेताश्वतर उपनिषद् में सांख्यतत्त्वों का किस प्रकार स्पष्ट उल्लेख किया गया है, यह निश्चित होजाता है।

इसीप्रकार पञ्चम[5] कण्डिका में नदीरूप से इसका वर्णन किया गया है। यहां पर पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रियों के विषय, गर्भ जन्म जरा व्याधि तथा मरणरूप पांच[6] दुःख, पचास प्रत्ययसर्ग और पांच प्रकार के क्लेशों[7] का उल्लेख है। यह वर्णन भी सांख्यविचारधारा के अनुसार अधिक स्पष्ट होपाता है।

---

१—'अष्टविकल्पो दैवः' सां० का० ५३। इस पर देखें—माठरवृत्ति और युक्तिदीपिका व्याख्या। युक्तिपीपिका में 'देव' की जगह 'इन्द्र' तथा 'यक्ष' की जगह 'नाग' पाठ है।

२—देखें—सांख्यकारिका ४४।

३—देखें सांख्यसूत्र १।२० तथा ३।२४॥ सां० का० ४४॥

४—तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥

५—पंचस्रोतोम्बुं पंचयोन्युग्रवक्रां पंचप्राणोर्मिं पंचबुद्ध्यादिमूलाम्॥
पंचावर्त्तां पंचदुःखौघवेगां पंचाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥

६—सांख्य के प्रथमसूत्र में दुःख तीन प्रकार का बताया गया है,। उससे इसके विरोध की कल्पना करना असंगत होगा। क्योंकि यहां केवल दुःखों के पांच स्थानों का उल्लेख है।

७—अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश, ये पांच क्लेश कहे जाते हैं। देखें —सांख्यसूत्र ३।३७॥ योगसूत्र २।३॥

## कठ उपनिषद्

कठ में सांख्यप्रक्रिया के अनुसार तत्त्वों का निर्देश उपलब्ध होता है। रथ रथी के रूपक की कल्पना करके [१।३।३,४ में] आत्मा, स्थूलशरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय तथा आत्मा के भोक्ता रूप का स्पष्ट उल्लेख किया गया है ।

इसीप्रकार [१।३।१०,११ में] इन्द्रिय, सूक्ष्मभूत अथवा तन्मात्र, मन, अहंकार, महत्तत्व, अव्यक्त अर्थात् प्रकृति और पुरुष का उल्लेख है। उपनिषद् में इनके उल्लेख का क्रम, इनके पारस्परिक कार्यकारणभाव अथवा उत्पत्ति की पौर्वापर्य स्थिति पर प्रकाश डालता है, जिसका वर्णन सांख्य का अपना प्रतिपाद्य विषय है ।

इसके आगे [२।३।७,८ में] सांख्यप्रतिपादित क्रम के अनुसार इन्द्रिय, मन, अहंकार, महत्तत्व, अव्यक्त अर्थात् प्रकृति और पुरुष का पुनः उल्लेख किया गया है।

इसके अतिरिक्त सांख्य ने जीवपुरुष और परमात्मपुरुष को एक नहीं माना है। वह जीवपुरुषों को नाना और उनसे भिन्न परमात्मपुरुष को एक तथा प्रकृति को प्रेरित करने वाला मानता है[1]। कठ उपनिषद् के अनेक प्रसंग सांख्य के उक्त विचार पर प्रकाश डालते हैं। एक, सबका नियन्त्रण करने वाले सर्वान्तर्यामी जगत्कर्त्ता परमात्मा को आत्मा [जीवात्मा] में स्थित रहने वाला कहा गया है, और उसके ज्ञान को मुक्ति का साधन बताया है [२।२।१२,१३] ।

## प्रश्न उपनिषद्

इसमें पृथिव्यादि स्थूलभूत, तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूत और तेरह करणों [ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय-दश बाह्यकरण तथा मन बुद्धि अहंकार तीन अन्तःकरण] का निर्देश करके कर्त्ता भोक्ता विज्ञानात्मा जीवपुरुष तथा उससे परे अर्थात् उत्कृष्ट अक्षर परमात्मा का उल्लेख किया गया है। यह वर्णन सांख्यसिद्धान्तों के अनुरूप है।

## छान्दोग्य उपनिषद्

छान्दोग्य के षष्ठ प्रपाठक के प्रारम्भ में तेजस्, अप् और अन्न का निरूपण किया गया है। ये तीनों यथाक्रम रजस् सत्त्व तथा तमस् के प्रतीक हैं। उपनिषद् का यह प्रकरण स्पष्टरूप से निर्देश करता है, कि रजस् सत्त्व और तमस् का संघात तेज आदि के रूप में परिणत होजाता है। छान्दोग्य [६।३।३,४] में उल्लेख है, कि सर्गादिकाल में सत्त्व आदि प्रत्येक को 'त्रिवृत्' कर दिया जाता है। 'त्रिवृत्' पद का अर्थ—सत्त्व रजस् तमस् की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता—है। जैसे बटकर भानी हुई रस्सी में तीन लड़ होती हैं, प्रत्येक लड़ एक दूसरी के साथ गुथी हुई सटी हुई एक से रूप में बनी हुई रहती हैं, इसीप्रकार ये सत्त्व आदि तीनों एक दूसरे में घुल-मिलकर इस जगत् को प्रकाश में ला पाते हैं। व्यक्तिरूप में परस्पर विरोधी होते हुए भी कार्य के समय प्रदीप के समान एक दूसरे के साथ पूर्ण

१—इसका विस्तारपूर्वक विवेचन 'पुरुष' नामक प्रकरण में किया गया है।

सहयोग करते हैं। जिसप्रकार प्रदीप में तेल बत्ती तथा मृत्पात्र परस्पर सहयोग से प्रकाश-रूप कार्य का सम्पादन करते हैं। सत्त्व आदि गुणों के इस अन्योन्यमिथुन को उपनिषद् में 'त्रिवृत्' पद से कहा गया है। अगले चतुर्थ खण्ड में उपनिषत्कार ने इसी विचार को स्पष्टरूप में प्रकट किया है।

वहां लिखा है–अग्नि का रोहित रूप, तेज अर्थात् रजस् का रूप है, परन्तु रजस् इस स्थिति में अपने विशुद्धरूप को छोड़ देता है। उस समय जिसको हम तेज कहते हैं, वहां रजस् सत्त्व और तमस् तीनों रूप विद्यमान हैं, यही बात सत्य है[1]। इसीप्रकार आदित्य का जो रोहित रूप है, यद्यपि वह तेज अर्थात् रजस् का है, परन्तु इस अवस्था में वह अपने विशुद्ध रूप को छोड़ देता है, और हम उस समय जिस आदित्य को देखते हैं, उसमें तीनों रूप हैं, अर्थात् रजस् सत्त्व तमस् ये तीनों वहां विद्यमान हैं, यही सत्य है। यही अर्थ आगे चन्द्रमा और विद्युत् के उदाहरणों को देकर प्रकट किया गया है। ये दृष्टान्त इस सम्पूर्ण दृश्य अदृश्यरूप व्यक्त ब्रह्माण्ड के उपलक्षण हैं। इसीलिये इस प्रकरण के उपसंहार में उपनिषत्कार लिखता है—

'यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति······इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति।' [छा० ६।४।७]

जिसको हम जानपाते हैं, वह सब इन ही देवताओं का समास अर्थात् संघात है। ये तीन देवता हैं, पुरुष के संसर्ग से इनमें से प्रत्येक का यह 'त्रिवृत्' अर्थात् अन्योन्यमिथुन होजाता है। उसी का परिणाम यह सब संसार है।

इस प्रकरण के 'त्रिवृत्' पद के आधार पर शंकराचार्य ने पांच स्थूलभूतों के परस्पर संमिश्रण की कल्पना की है। उन्होंने 'त्रि' पद को पांच का उपलक्षण मानकर इन पांचों पृथिव्यादि स्थूलभूतों की रचना में एक दूसरे का संमिश्रण स्वीकार किया है। उनके अनुयायी अन्य विद्वानों ने इसका विवरण दिया है। इसको पंचीकरण के नाम से कहा जाता है। परन्तु यह विचार उपनिषद् के उक्त प्रकरण के आधार पर न इतना स्पष्ट है, और न इसको उतना वैज्ञानिकरूप दिया जासकता है[2]। श्वेताश्वतर उपनिषद् [१।४]

१—यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद-ग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।'··· । छा० ६।७।

२—शंकरानुयायी वेदान्तग्रन्थों में पञ्चीकरण का विवरण इसप्रकार दिया गया है–पांचों भूत पांचों में मिले हुए हैं। इसका प्रकार यह है–प्रथम प्रत्येक भूत के दो भाग किये गये, उन दो भागों में से एक भाग के पुनः चार भाग किये गये। उन चार भागों में से एक-एक भाग, अपने से भिन्न चारों भूतों में मिल जाता है। इसप्रकार प्रत्येक भूत में आधा भाग अपना और आधे भाग में शेष चारों भूतों का समावेश होता है। इसी को वेदान्त में 'पञ्चीकरण' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह निकलता है, कि यदि प्रत्येक भूत के आठ समभाग किये जायें, तो उन में से चार भाग उस भूत के

में भी 'त्रिवृत्' पद का प्रयोग किया गया है। वहां शंकराचार्य ने भी इसका अर्थ सत्त्व रजस् तमस् किया है। इसप्रकार छान्दोग्य के उक्त प्रकरण में सर्गोत्पाद के वर्णन के लिये सांख्य का आश्रय लिया गया प्रतीत होता है। ऐसा समझना चाहिये।

## मुण्डक उपनिषद्

मुण्डक में आत्मा और परमात्मा को सर्वथा भिन्नरूप में वर्णन किया गया है, तथा इन चेतनसत्ताओं से सर्वथा भिन्न अचेतन प्रकृति का निर्देश है। इसको वहां एक अलं-

---

और शेष चार भाग अन्य भूतों के होंगे। इसतरह एक पृथिवी में चार भाग पृथिवी के और शेष चार भाग जलादि के होंगे। इसीप्रकार जल में चार भाग जल के और शेष चार भाग पृथिवी, अग्नि, वायु, और आकाश के होंगे। इसीतरह अन्य सब भूतों में समझना चाहिये। पञ्चीकरण के इस मन्तव्य में निम्न बातें विचारणीय हैं—

(क)—वेदान्त में 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि तैत्तिरीय उपनिषद् [ २।१ ] के आधार पर सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति मानी गई है। जब आकाश उत्पन्न हुआ उस समय वायु आदि भूतों की सत्ता न थी। तब उनके भाग, आकाश की उत्पत्ति के समय आकाश में किसप्रकार मिल सके? इसीप्रकार अनन्तर उत्पन्न होने वाले सब भूतों के भाग, पूर्व उत्पन्न भूतों में किस प्रकार मिल सकेंगे? अभिप्राय यह है कि आकाश की रचना के समय पृथिव्यादि का अस्तित्व पहले से होना चाहिये। अन्यथा उसमें पञ्चीकरण का कथन असंगत होगा। यह कहना तो सर्वथा निराधार और अप्रा-माणिक होगा, कि प्रथम सब भूत एक-एक विशुद्ध तत्त्व के बनते हैं अथवा अपञ्चीकृत रहते हैं, फिर उनकी तोड़फोड़ करके पञ्चीकरण किया जाता है। क्योंकि स्थूलभूतों की वह कारण अवस्था है। सांख्य में उसको तन्मात्र कहा जाता है। इस पद से कहे जाने वाले केवल वे कारण हैं, जो स्थूलभूतों के उपादान हैं। उनके साथ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विशेषण पद, उनसे उत्पन्न होने वाले कार्य के आधार पर व्यवहार के लिये लगाये जाते हैं। इसका विस्तृत विवेचन 'विकार' प्रकरण में किया गया है। इसप्रकार पञ्चीकरण का उक्तरूप वैज्ञानिक नहीं ठहरता।

(ख)—आकाश भूत के आठ भाग करने पर उनमें से चार आकाश तत्त्व के तथा चार में से एक-एक पृथिव्यादि तत्त्वों का भाग है, ऐसा माने जाने पर आकाश के आठ भागों में से तीन भाग रूपवाले तथा चार भाग स्पर्श गुण वाले होते हैं। रूप और स्पर्श वाले तत्त्वों के आधार पर आकाश में रूप तथा स्पर्श का अनुभव होना चाहिये, तथा चक्षु आदि से उसका प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसीप्रकार वायु में गन्ध रूप व रस; अग्नि में गन्ध और रस तथा जल में सबप्रकार के गन्ध और रसों का अनुभव होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये पञ्चीकरण का सिद्धान्त समञ्जस नहीं कहा जासकता।

छान्दोग्य उपनिषद् के इस प्रकरण में पठित तेजस् अप् अन्न पदों के वास्तविक अर्थों की ओर ध्यान न जाने से श्री शंकराचार्य को उक्त भ्रम हुआ है और उसके अनुसार तीन के असांगत्य को देखकर उसने पांच की कल्पना कर डाली है।

काररूपमें वर्णन किया गया है—एक वृक्ष पर एक जैसे दो पक्षी बैठे हैं, उनमें से एक उस वृक्ष के फलों को भोगता है और दूसरा न भोगता हुआ प्रकाशित रहता है [३।१।१]। यहां जीवात्मा और परमात्मा को दो पक्षी और प्रकृति को वृक्ष कहा गया है। जीवात्मा तथा परमात्मा की समानता (सयुजौ सखायौ) उनकी चेतनस्वरूपता के आधार पर बताई गई है। जीवात्मा प्रकृति का भोग करता है, इसलिये उसका प्रकृति के साथ भोग्य-भोक्तृत्वसम्बन्ध है। परमात्मा प्रकृति को प्रेरणा करके उसके द्वारा इस जगत् को उत्पन्न करता, और यथावसर उसमें प्रलीन करता है, इसलिये उसका प्रकृति के साथ प्रेर्य-प्रेरकत्व सम्बन्ध है। वृक्ष पर दोनों पक्षी बैठे हैं, परन्तु उनका कार्य अपना अलग-अलग है। इसप्रकार मुण्डक उपनिषद् की इस कण्डिका में ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीनों के पृथक् अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख है।

द्वितीय मुण्डक के दूसरे खण्ड की चौथी कण्डिका में जीवात्मा को परमात्मा तक पहुंचाने के लिये एक सुन्दर रूपक के द्वारा कहा है—प्रणव (ओंकार) रूपी धनुष पर आत्मारूपी बाण को रखकर ब्रह्मरूपी लक्ष्य की ओर प्रमादरहित होकर छोड़ दो, आत्मा ब्रह्म के समीप पहुंच जायगा।[1] यहां जीवात्मा उपासक ब्रह्म उपास्य तथा प्रणव को उपासना का साधन बताया गया है। इसके आगे छठी और सातवीं कण्डिका में प्रथम जीवात्मा का स्वरूप वर्णन करके ओंकार-उपासना के द्वारा उसका साक्षात्कार किये जाने का निर्देश है, उसका साक्षात्कार होजाने पर आनन्दस्वरूप परमात्मा के दर्शन का उल्लेख किया गया है।[2] इन वर्णनों से जीवात्मा और परमात्मा के पृथक् अस्तित्व का स्पष्टीकरण होता है।

इसके अतिरिक्त जगत्सर्ग के प्रसंग में उपनिषत्कार ने उदाहरणों के द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है, कि किसप्रकार अथवा किन साधनों से परमात्मा इस जगत् को बनाता है। वहां लिखा है—

---

१—प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

२—अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः,
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं,
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥
यः सर्वज्ञःसर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम् ॥

मुण्डक की इस कण्डिका के आधार पर अनेक विद्वानों ने यह प्रकट करने का यत्न किया है, कि जगत् ब्रह्म का परिणाम है। परन्तु इन वाक्यों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से कुछ दूसरा ही भाव स्पष्ट होता है। अक्षर ब्रह्म, जगत् को उत्पन्न करता है, इस अर्थ को युक्तिपूर्वक स्पष्ट करने के लिये कण्डिका में तीन उदाहरण दिये गये हैं—(१) मकड़ी का जाला बुनना और उसका उपसंहार करना। (२)—पृथिवी में ओषधियों का उत्पन्न होना। (३) विद्यमान पुरुष से केश लोम आदि का उत्पन्न होना। इन सब उत्पत्तिस्थलों में जिसप्रकार उत्पन्न कार्यों से चेतनतत्त्व का सम्बन्ध प्रकट होता है, उसीप्रकार जगदुत्पत्ति में अक्षरब्रह्म का सम्बन्ध समझना चाहिये। इसके और अधिक स्पष्ट करने के लिये पहले हम प्रथम तथा तृतीय उदाहरण पर विचार करना चाहते हैं।

प्रथम उदाहरण के आधार पर यही स्पष्ट होता है, कि जिसप्रकार मकड़ी जाले को बुनती या बनाती और यथावसर उसका उपसंहार करलेती है, इसीप्रकार अक्षर ब्रह्म इस जगत् को बनाता और प्रलय करता है। अब देखना चाहिये, कि मकड़ी किसप्रकार जाले को बनाती और बिगाड़ती है ? यह बात स्पष्ट है, कि मकड़ी एक कीड़ा है, जहां एक छोटा सा भौतिकशरीर और जीवचेतन की सत्ता है, जो उस शरीर का अधिष्ठाता है। जाला बनाने के लिये भौतिक शरीर के लाला-तन्तुओं का उपयोग होता है, और इस उपयोग को करने वाली वह चेतन सत्ता है, जो वहां अधिष्ठातारूप में बैठी हुई है। यदि वह चेतन-स्फुरण वहां न हो, तो केवल शरीर जाला बनाने में असमर्थ होगा। यदि शरीर न हो, तो केवल चेतन उस जाले की रचना नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट होता है, कि चेतन सत्ता की प्रेरणा से भौतिक लालातन्तु जाले के रूप में परिणत होते रहते हैं। इसलिये वह आले उन भौतिक तत्त्वों का परिणाम कहा जासकता है, चेतन सत्ता का नहीं। अर्थात् चेतनसत्ता स्वयं जाले के रूप में परिणत नहीं होती। इसीप्रकार अक्षरब्रह्म से इस जगत् की उत्पत्ति समझनी चाहिये। अक्षरब्रह्म स्वयं जगत्रूप में परिणत नहीं होता, प्रत्युत उसका शरीररूप प्रकृति, उसकी प्रेरणा से इस विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में परिणत होती रहती है। शरीर और आत्मा, प्रकृति और परमात्मा अथवा अचेतन और चेतन ये दोनों पृथक् स्वतन्त्र सत्ता हैं। अचेतन शरीर तथा चेतन आत्मा है।

प्रकृति और परमात्मा के इस सम्बन्ध को पुराणों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। महादेव और पार्वती की कल्पना का यही मुख्य आधार है। पुराणों में अर्द्धनारीश्वर महादेव की कल्पना से इस अर्थ को स्पष्ट किया गया है, कि इन दोनों में से

कोई एक, दूसरे की सर्वथा उपेक्षा करके विश्वकार्य का संचालन नहीं कर सकता। इन दोनों के मिलकर रहने में कार्य की पूर्णता संभव है। इस स्थिति को देखते हुए अनेक विद्वानों को इनकी सर्वथा एकता की भ्रान्ति होगई है; जबकि संसार के उत्पादन प्रलय आदि में इनका परस्पर अपेक्षित सहयोग होने पर भी ये स्वरूप से सर्वथा भिन्न रहते हैं। इस रहस्य को हमें समझने के लिये हमारे जैसी कल्पना का किया जाना अधिक रुचिकर और उपयुक्त होसकता है। इसलिये वेद तथा वैदिक साहित्य में विराट पुरुष का वर्णन हमारे समान किया गया है, इसीप्रकार उसके अंगों की कल्पना है। वेदों के पुरुषसूक्त इस अर्थ को स्पष्ट करते हैं। ये सब वर्णन इस बात में प्रमाण हैं, कि विश्वब्रह्माण्ड जो प्रकृति का परिणतरूप है, परमात्मा का कल्पित शरीर है, उसका आत्मा अथवा स्वरूप नहीं। वह अपने उस शरीर में अन्तर्यामीरूप से अधिष्ठित हुआ उसको प्रेरित व संचालित करता रहता है। ठीक उसीतरह जैसे एक जीवचेतन मकड़ी कहे जाने वाले शरीर में अधिष्ठित हुआ उसे प्रेरित संचालित व परिणत करता है।

इस उदाहरण के द्वारा चेतन और अचेतन दो स्वतन्त्र सत्ताओं का निर्देश किया गया है, जो सांख्यप्रतिपादित विचारों पर अवलम्बित है। इसके अतिरिक्त प्रथम उदाहरण में सर्ग और प्रलय दोनों का संकेत है। अभिप्राय यह है, कि इस उदाहरण के आधार पर सर्ग और प्रलय का स्वरूप समझने में हमें सरलता होसकती है। उपनिषत्कार स्पष्ट करता है, कि जिसप्रकार मकड़ी के शरीर से परिणत होकर जाला-कार्य बन जाता है, और संहार के समय उसी में लीन होजाता है। अर्थात् अपने कारणरूप में फिर चला जाता है, ठीक इसीप्रकार मूलप्रकृति से परिणत हुआ यह जगत् प्रलयकाल में उसी रूप को पुनः प्राप्त होजाता है, इससे चेतन की स्थिति अथवा स्वरूप में कोई अन्तर या विकार नहीं आता। इससे प्रकृति परिणामिनी और चेतन अपरिणामी स्पष्ट होता है। ये भाव कण्डिका के प्रथम उदाहरण के द्वारा प्रकट किये गये हैं।

अब तृतीय उदाहरण को लीजिये—'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि'। जिस प्रकार सद्रूप पुरुष से केश और लोम पैदा होते हैं। हमें देखना चाहिये—सद्रूप पुरुष से केश और लोम किसप्रकार पैदा होते हैं? प्रथम उदाहरण के समान यहां भी शरीरसहित चेतन का नाम पुरुष कहा गया है। केश और लोमों की उत्पत्ति शरीर में, शरीर के अवयवरूप भौतिक तत्त्वों से होती है। आत्मा स्वयं केश और लोमों के रूप में परिणत नहीं होता। जब तक शरीर में आत्मा बैठा हुआ है, तभी तक वहां केश और लोमों की उत्पत्ति हो सकती है, तथा वह शरीरावयवों से होसकती है, केवल आत्मा से नहीं। केश और लोम परिणाम, शरीरावयवों का है, तथा आत्मा प्रेरक नियन्ता व अधिष्ठाता है। केश तथा लोम, आत्मा अथवा चेतन पुरुष का परिणाम नहीं। इसप्रकार जैसे चेतन के अधिष्ठातृत्वरूप सद्भाव में अपने मूल उपादानों से केश लोम आदि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षर ब्रह्म के अधिष्ठातृत्व में मूल उपादान प्रकृति से यह विश्व उत्पन्न

होता है; यही अभिप्राय इस उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

इन दोनों उदाहरणों में हम लौकिक कार्य, उनके मूल उपादान और नियन्ता अधिष्ठाता का संकेत पाते हैं। अभिप्राय यह है, कि इन उदाहरणों में हमारे सामने तीनों भाव स्पष्ट हैं-कार्य,उस का मूल उपादान और नियन्ता अधिष्ठाता; परन्तु तृतीय उदाहरण में जो उपनिषत्कार ने दूसरे नम्बर पर दिया है-केवल दो भावों का संकेत है-कार्य और उसके मूल उपादान-'यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति' ओषधि वनस्पति आदि पृथिवी से उत्पन्न होते हैं। यहां ओषधि आदि कार्य तथा उनके मूल उपादान पृथिव्यादि का निर्देश है, उनके नियन्ता अथवा अधिष्ठाता का नहीं। प्रथम दो उदाहरणों में उपनिषत्कार तीनों भावों की स्थिति को समझाकर तीसरे उदाहरण में केवल दो का निर्देश करके उनके अन्तर्यामी अधिष्ठाता के अस्तित्व की ओर संकेत करना चाहता है। इस उदाहरण में हम कार्य और उसके उपादानों को समझकर उनके नियन्ता के अवश्यम्भावी अस्तित्व की संभावना करते हैं।

हमारा मुख्य लक्ष्य जगत् की उत्पत्ति, उसके मूल उपादान और उनके नियन्ता को समझना है। 'तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्' इस 'तथा' को स्पष्ट करने के लिये ही ऊपर की पंक्तियां हैं। जगत् की उत्पत्ति, उसके मूल उपादान और उनके नियन्ता इन तीनों भावों को हम इस लोक-स्थिति में नहीं देख पाते। ये तीनों हमारे लिये रहस्य हैं। उसीतरह की जो वस्तु हम यहां देख पाते हैं, उसको प्रथम दो उदाहरणों में स्पष्ट किया है, जहां हम तीनों भावों को भलीभांति जान सकते हैं। तीसरे उदाहरण में दो दृश्य भावों को दिखाकर तीसरे अदृश्य की आवश्यक संभावना पर प्रकाश डाला गया है। अन्तिम उपसंहार वाक्य में 'तथा' पद के द्वारा इन्हीं भावों का अदृश्य स्थलों में अतिदेश किया गया है। इसप्रकार लौकिक स्थिति से अलौकिक स्थिति को समझने में कितनी सरलता होगई है। फलतः उक्त कण्डिका के आधार पर अचेतन और चेतन अर्थात् इस जगत् के मूल उपादान और उनके नियन्ता इन दो तत्त्वों की स्वतन्त्र स्थिति का स्पष्टीकरण होता है। जिसका आधार वैदिक सांख्यसिद्धान्त कहा जासकता है।

## बृहदारण्यक उपनिषद्

द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की ग्यारहवीं कण्डिका में बारह करण[1] और उनके विषयों का प्रसंगवश उल्लेख किया गया है। इस ब्राह्मण में आत्मा और परमात्मा का पृथक्-पृथक् निरूपण है। अन्त में कहा हुआ-'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' वाक्य विचारणीय है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है, कि इन सब भूतों से पृथक्

१—सांख्य में करण तेरह माने जाते हैं—पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय मन अहंकार और बुद्धि। परन्तु अहंकार को बुद्धि से पृथक् न मानकर बारह करणों का भी उल्लेख किया जाता है। सांख्याचार्यों में पतञ्जलि और वार्षगण्य बारह करण ही स्वीकार करते हैं।

रहता हुआ भी वह परमात्मा इन्हीं में छिपा है, क्योंकि वह अन्तर्यामी और नियन्ता है। इसप्रकार यहां नियन्ता और नियम्य का भेद प्रकट है। आगे लिखा है—'न प्रेत्य संज्ञास्ति' जब जीवात्मा आत्मज्ञानी होकर इस शरीर को छोड़ता है, तब उसे और कुछ जानना शेष नहीं रहजाता। आत्मज्ञान होजाने पर परमात्म-ज्ञान सुतरां होजाता है। 'यदात्म-तत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्' [श्वेता० २।१५]। दोनों का एक जैसा स्वरूप अर्थात् चैतन्यस्वरूप होने से एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान होना अवश्यम्भावी है। इसीलिये कहा जाता है, आत्म-ज्ञान के अनन्तर देह-भेद होने पर कुछ जानना शेष नहीं रहजाता। अतएव अनन्तर तत्काल ही देह-ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती। इस-प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में जिज्ञासु आत्मा, नियन्ता परमात्मा और नियम्य प्रकृति अर्थात् चेतन और अचेतन तत्त्वों का स्पष्ट पृथक् अस्तित्व प्रतिपादित किया गया है।

तृतीयाध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में कौषीतकि का पुत्र कहोल, ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न करता है—वह सर्वान्तर्यामी आत्मा कौन है? याज्ञवल्क्य उत्तर देता है—जो भूख प्यास शोक मोह बुढ़ापा और मौत से परे है, वही सर्वान्तर्यामी ब्रह्म है। उसीको ब्रह्म समझकर ब्राह्मण सब एषणाओं [पुत्र, धन तथा मान की इच्छाओं] को छोड़ उसी की आराधना में लग जाते हैं। उसीका साक्षात्कार करने से वे ब्राह्मण कहे जाते हैं, उसके अतिरिक्त और दुःख ही है।

इस प्रसंग में उपास्य ब्रह्म द्वन्द्वातीत, उपासक जीवात्मा शोक मोह आदि से आवृत, सर्वथा पृथक्रूप में वर्णन किये गये हैं। ये चेतनस्वरूप हैं, इनसे अतिरिक्त तत्त्व को 'आर्त्त' दुःखरूप बताया गया है, जो जगत् का मूल उपादान प्रकृति अथवा प्रधान नाम से कहा जाता है।

आगे तृतीयाध्याय के सप्तम ब्राह्मण में उद्दालक आरुणि, ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न करता है—सूत्र और अन्तर्यामी का परस्पर क्या भेद है? और उनका स्वरूप क्या है? याज्ञवल्क्य उत्तर देता है—सूत्र वायु तथा अन्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा हैं, जिस अमृत को हम अपने आत्मा में साक्षात् करसकते हैं।

इस प्रसंग में सूत्र को वायु बताया गया है। यहां 'वायु' पद से यह स्थूल वायु नहीं समझना चाहिये। उपनिषद् में इसके स्वरूप का वर्णन किया है, कि यह दृश्य और अदृश्य सब लोकों तथा सम्पूर्ण भूतों को जकड़े हुए रखता है। जब कोई पुरुष मर जाता है, और उसके अंग बिखर जाते हैं, तब यह वायु उनको अपने अन्दर समावेश करके रखता है। इस वर्णन से स्पष्ट है, कि यहां अनुभूत स्थूल वायु का 'वायु' पद से ग्रहण नहीं है। उपनिषदों[1] और अन्य वैदिक साहित्य में यह प्रसंग आता है, कि पुरुष के मरने पर शरीर

१—'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतात्'''पृथिवीं ते शरीरम्'। तथा 'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि '''पृथिवीं ते शरीरम्' [न्यायसूत्र, ३।१।२९ के वात्स्यायनभाष्य के आधार पर]

यज्ञिय पशुहोम के प्रसंग में ऐतरेय ब्राह्मण का पाठ है—'उदीचीनां अस्य पदो

के अंग अपने-अपने कारणों में लीन होजाते हैं। उन सब उपादानों को एक 'वायु' पद से ग्रहण करके उपनिषत्कार ने यहां जगत् के मूल उपादान की ओर संकेत किया है। वही मूल उपादान सब दृश्य अदृश्य लोक लोकान्तर तथा सम्पूर्ण भूतों को अपने अन्दर जकड़ के अथवा समाविष्ट करके रखता है। इसप्रकार याज्ञवल्क्य ने यहां 'सूत्र' पद से मूल प्रकृति का ग्रहण किया है, तथा उसका नियन्त्रण करनेवाला अन्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा को पृथक्रूप में वर्णन किया है। याज्ञवल्क्य कहता है–'एष ते आत्मान्तर्याम्य-मृतः' वह अमृत अन्तर्यामी तेरे इस आत्मा में स्थित है, और यहीं उसका साक्षात्कार किया जासकता है। उपनिषद् में यहां 'आत्मा' पद सप्तम्यर्थ का द्योतक है। उस परब्रह्म परमात्मा से उत्कृष्ट और कोई द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता नहीं है– 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा...श्रोता....'इत्यादि। इस प्रकरण से यह अभिप्राय नहीं निकाला जासकता, कि उसके अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं है।

इसी अध्याय के अष्टम ब्राह्मण की आठवीं कण्डिका में ब्रह्म के स्वरूप का सुन्दर वर्णन है। इस कण्डिका के अन्तिम उपसंहार पद प्रस्तुत अर्थ को अति स्पष्ट कर देते हैं–'न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन' न वह कुछ खाता या भोगता है, न उसे कोई खाता या भोगता है। यहां प्रथमवाक्य के द्वारा जीवात्मा से तथा दूसरे वाक्य के द्वारा प्रकृति से परमात्मा को भिन्न किया गया है, क्योंकि जीवात्मा भोगता है और प्रकृति भोगी जाती है; परमात्मा इन दोनों रूपों से भिन्न है।

इसप्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के इन प्रसंगों में अचेतन तथा चेतन की सत्ता को एक दूसरे से पृथक् और स्वतन्त्ररूप में वर्णन किया गया है। आत्मा भोक्ता और परमात्मा जगन्नियन्ता के अस्तित्व को परस्पर पृथक् स्वीकार किया है। ये सब सिद्धान्त सांख्य के आधार पर पुष्ट किये जासकते हैं, इसलिये उपनिषदों पर सांख्य का प्रभाव स्पष्ट होता है।

## मनुस्मृति में सांख्यसिद्धान्त

### (ग)

जगत्सर्ग का वर्णन करते हुए मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में जिस प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है, वह स्पष्ट ही सांख्यविचारों से प्रभावित है। सर्ग से पूर्व प्रलय अवस्था का वर्णन करते हुए वहां लिखा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ।। [१।५]

---

घत्तात् सूर्यं चक्षुर्गमयताद् वातं प्राणमन्ववसृजतादन्तरिक्षमसुं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीर-मिति।' [अ० ६, ख० ६; अथवा पञ्चिका २, ख० ६]

[इदम्] यह सर्गकालीन दृश्यमान जगत् पहले [तमोभूतम्] प्रकृतिरूप[1] अर्थात् मूल उपादानरूप [आसीत्] था, [अप्रज्ञातम्] न जाना हुआ [अलक्षणम्] किसी भी प्रकार के चिन्हों से रहित, [अप्रतर्क्यम्] कल्पना के अयोग्य, [अविज्ञेयम्] न जानने योग्य अर्थात् न आन्तर इन्द्रियों और न बाह्य इन्द्रियों से जानने योग्य था, [प्रसुप्तमिव सर्वतः] सब ओर से निद्रा की सी अवस्था में था ;

मनु का यह प्रलयकालीन वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त की प्रारम्भिक ऋचाओं के अनुसार किया गया है। इसका दिग्दर्शन इसी ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में किया गयाहै। मनु में आगे लिखा है—

प्रलयकाल के अनन्तर अव्यक्त स्वयंभू भगवान् ने इसको व्यक्त करने की इच्छा की। वह महाभूत आदि सम्पूर्ण जगत् की रचना करने का सामर्थ्य रखता है। उसने प्रकृति को प्रेरित किया और इस रूप में [जगद्रचना में शक्त तथा प्रकृति-प्रेरकरूप में] वह प्रकट हुआ[2]।

प्रथम श्लोक के 'तमोभूतं' और इस श्लोक के 'तमोनुदः' पदों में 'तमस्' पद का अर्थ मूलप्रकृति है, यह पद इसके अचेतनरूप का संकेत करता है। सर्ग के प्रारम्भ में चेतन परमात्मा जबतक अचेतन प्रकृति को प्रेरित नहीं करता, तबतक जड़ प्रकृति स्वयं किसीतरह की क्रिया करने में सर्वथा असमर्थ रहती है। परन्तु उस चेतन को प्रेरणा देने वाला और कोई तत्त्व उससे उत्कृष्ट हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि वह स्वतः चेतन तत्त्व है, उसे अन्य किसी से प्रेरित किये जाने की आवश्यकता नहीं। इसी भाव को मनु के अगले श्लोक में इसप्रकार दर्शाया गया है—

वह स्वयंभू भगवान् इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जासकता, वह सूक्ष्म अव्यक्त तथा

---

१—'तमस्' पद का अर्थ यहां मूलप्रकृति है। यद्यपि प्रकृति का स्वरूप सत्त्व-रजस्-तमस् है, तथापि केवल 'तमस्' पद का प्रयोग मूलप्रकृति के लिये अनेकत्र साहित्य में आता है। [देखिये—सांख्यसप्तति की माठरवृत्ति ७१वीं कारिका की अवतरणिका ॥ सांख्यसंग्रह, पृ० ५२, पं०४॥ निरुक्त—दुर्गवृति ७।३ पर 'पारमर्ष सूत्र' नाम से उद्धृत सांख्य का एक सन्दर्भ।

जिन व्याख्याकारों ने 'तमस्' का अर्थ यहां 'अन्धकार' किया है, वह संगत प्रतीत नहीं होता। प्रलयकाल में प्रकाश के साधनों का अभाव होने से हम यह कल्पना अवश्य कर सकते हैं, कि उस समय अन्धकार रहता होगा, पर इस बात से नकार नहीं किया जासकता, कि सर्गकाल में यह सब दृश्यमान जगत्, प्रलय अवस्था आनेपर अपने कारण में लीन हुआ रहता है, अर्थात् केवल मूलकारण का अस्तित्व उस समय रहता है, इसी बात को 'इदं तमोभूतं आसीत्' इन पदों से स्पष्ट किया गया है।

२—ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तोजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ [१।६]

सदा रहनेवाला है। सब प्राणी तथा भूतमात्र में वह अन्तर्निविष्ट है, अचिन्त्य है। वह विना किसीकी प्रेरणा के स्वयमेव इस जगत्सर्ग के लिये प्रस्तुत होता है[1]।

जड़ होने के कारण प्रकृति में स्वयं प्रेरणा असंभव है। परन्तु वही बात चेतन-स्वरूप परमात्मा के लिये सर्वथा संभव है। इसप्रकार चेतन और अचेतन ये दोनों तत्त्व, मूल में पृथक्रूप से अवस्थित रहते हैं, यह बात मनु के विचार से स्पष्ट होती है। हम देखते हैं, हमारे [जीव-आत्मा के] लिये कार्यसम्पादनार्थ एक देह है। इस देह में प्रविष्ट हुआ जीवात्मा अपने सब दैहिक कार्यों का निर्वाह करता है। इसीप्रकार विश्व-ब्रह्माण्ड तथा उसके मूलभूत उपादानकारण प्रकृति को परमात्मा का एक देह कल्पना कर लिया गया है। वह उस प्रकृति में अन्तर्निविष्ट हुआ उसके द्वारा विविध संसार को उत्पन्न करता है, संचालन करता है, तथा अन्त में उसी मूलकारण में लीन कर देता है। आदिसर्ग के इस भाव को मनु ने अगले श्लोक में इसप्रकार प्रकट किया है—

उस स्वयंभू भगवान् ने अपने संकल्प के अनन्तर अपने शरीर से विविध प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा की। सबसे पहले 'आपस्' को ही तयार किया, उनमें बीज या वीर्य अथवा अपनी शक्ति को छोड़ दिया[2]।

जगत् का मूल उपादानकारण प्रकृति भगवान् का शरीर है। जब उस मूल प्रकृति से विविध जगत् के निर्माण का भगवान् ने संकल्प किया या इच्छा की, उस समय सबसे प्रथम उसने प्रकृति को तयार किया। प्रकृति को तयार करने का अभिप्राय क्या है? प्रकृति अभी तक प्रसुप्त जैसी अवस्था में थी। सर्ग की इच्छा से सर्वप्रथम परमात्मा ने उसको प्रेरित किया। उसमें बीज छोड़ा, वीर्य अथवा शक्ति को उसमें संचारित किया। प्रकृति जो अभीतक सोई सी पड़ी थी, उसमें क्रिया पैदा हुई। प्रकृति का प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण चञ्चल हो उठा। अपने संकल्प अथवा प्रेरणा के द्वारा प्रकृति में क्रिया अथवा क्षोभ उत्पन्न करके परमात्मा ने उसको सर्गोन्मुख अवस्था में कर दिया। यही है–प्रकृति को तयार करना–'अप[3] एव ससर्जादौ'। उस प्रकृति को तयार किया

---

१—योसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥ [१।७]

२—सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥ [१।८]

३—इस श्लोक में 'आपस्' पद का प्रयोग प्रकृति की उस अवस्था के लिये किया गया है, जब उसमे शक्ति का संचार होगया है, जिस प्रकार एक महान् जलाशय वायु के तीव्र आघात से या अन्य किसी आघात से सहसा चञ्चल हो उठता है, इसीप्रकार सर्वत्र व्याप्त अनन्त प्रकृतिकण, भगवान् की प्रेरणा से क्रियाशील हो उठे। 'आपस्' पद का प्रयोग स्त्रीलिंग और बहुवचन में ही होता है। ग्रन्थकार इस पद का प्रयोग करके यहां अनन्त प्रकृति की ओर निर्देश कर रहा है। 'आपस्' पद की रचना

भी इस भाव की ओर संकेत करती है। इसका मूल धातु 'आप्लृ' है, जिसका अर्थ है-व्याप्ति। सर्ग से पूर्व प्रकृति के अनन्त कण सर्वत्र व्याप्त थे, स्वयंभू भगवान् ने उनको उसी अवस्था में प्रेरणा प्रदान की। इसके अतिरिक्त दृश्य जगत् की सम्पूर्ण वस्तु अपने रूप को इसीसे प्राप्त करती हैं और अन्त में प्रलय अवस्था आने पर अपने उन सब रूपों को लेकर अखिल जगत् इसी को प्राप्त होता है, इसलिये भी यह 'आपस्' है। ये सब भाव यहां इस पद के प्रयोग से ध्वनित होते हैं। जब तक प्रकृति सोई हुई थी, वह 'तमस्' थी। छठे श्लोक में स्वयंभू भगवान् के विशेषणों में एक विशेषण 'तमोनुदः' आया है। 'तमस्' को स्वयंभू ने प्रेरित किया, तब वही 'तमस्' 'आपस् होगया। परमात्मा का शरीर वही है। जबतक उसमें प्ररणा का संचार नहीं हुआ, वह 'तमस्' नाम से कहा गया, प्रेरणा का संचार होने पर उसी को 'आपस् पद से प्रकट किया है। इसप्रकार प्रस्तुत प्रसंग में 'आपस्' पद का अर्थ सर्गोन्मुख प्रकृति किया जाना चाहिये। व्याख्याकारों ने यहां 'आपस्' पद का अर्थ 'साधारण जल' किया है, वह अवैज्ञानिक समझना चाहिये।

वेद और वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी इस पद का प्रयोग उक्त अर्थ में आता है। ऋग्वेद १०।१२१।७ में ऋचा है—

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन्
गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्त्ततासुरेकः
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

इसीप्रकार शतपथ ब्राह्मण [११।१।६।१] में आया है—

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास।

इस वाक्य में 'सलिल' पद का अर्थ भी जल नहीं है, इस पद का अर्थ है—कारण में संगत अथवा लीन, अर्थात् कारण अवस्था में प्राप्त, जब कोई वस्तु अपने मूलकारण में लीन अथवा प्राप्त होती है। गत्यर्थक 'सल्' धातु से औणादिक [१।५४] 'इलच्' प्रत्यय होकर यह पद बनता है। इसप्रकार प्रस्तुत ब्राह्मण वाक्य का अर्थ होता है—ये 'आपस्' पहले सलिल ही था। अर्थात् जो प्रकृतिकण स्वयंभू भगवान् की प्रेरणा से क्रियाशील हो उठे हैं, ये पहले सलिल—अपने मूल कारणरूप में अवस्थित थे।

इसीप्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण [१।१।३।५] में आता है—

आपो वा इदमग्र सलिलमासीत्।

प्रकृति की यह 'आपस्' नामक अवस्था ऐसी है, जहां प्रकृति में क्षोभ तो उत्पन्न होचुका है, परन्तु अभी तत्त्वान्तर की उत्पत्ति नहीं हुई। 'महत्' प्रकृति का आद्य कार्य है। प्रकृति जब प्रसुप्त सी अवस्था में पड़ी थी, और उससे जब महत्तत्व का प्रादुर्भाव हुआ, इसके मध्य की अवस्था 'आपस्' कही जासकती है। अनेक आचार्यों ने इस अवस्था

कैसे ? अर्थात् उसको सर्गोन्मुख किसप्रकार बनाया ?–'तासु बीजमवासृजत् ।' उसमे शक्ति का संचार किया । जो प्रकृति अभी तक सोई थी, जागी, प्रत्येक कण नाच उठा । अब जगत् को उत्पन्न करने के लिये प्रकृति तयार थी ।

स्वयंभू भगवान् की प्रेरणा से प्रकृति का प्रत्येक कण क्रियाशील हो उठा । उस की गति अतितीव्र थी । जो प्रकृतिकण अभी तक सोये हुए से पड़े थे, वे अब अपनी तीव्रगति के कारण चमक उठे, उनमें अपरिमित शक्ति का संचार होने लगा । वह अनन्तशक्ति स्वयंभू भगवान् कहीं दूर बैठकर उनको नहीं फूंकता, वह प्रत्येक कण में अन्तर्निविष्ट है और इसप्रकार अपनी शक्ति के द्वारा वह स्वयं प्रकाशित होरहा है। इसी भाव को मनु के अगले श्लोक में इसप्रकार प्रकट किया है—

जब स्वयंभू भगवान् की प्रेरणा से प्रकृति के प्रत्येक कण में शक्ति का संचार होगया, उस समय वह सूर्य के समान चमक उठा, मानो वह सुवर्ण का कण था । सब लोकों को उत्पन्न करने वाला परमात्मा प्रत्येक कण में स्वयं प्रकाशित होरहा था[1] ।

वेद तथा उपनिषदों में परमात्मा को अन्तर्यामी कहा है । संसार में कोई ऐसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण नहीं है, जहां परमात्मा अन्तर्निविष्ट न हो । उसीके प्रकाश से प्रत्येक प्रकृति-कण प्रकाशित होरहा है–'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' । उसीका चैतन्य प्रकृति के प्रत्येक कण को क्रियाशील बना रहा है । जब अचेतन प्रकृति को हम क्रियाशील देखते हैं, तब स्पष्ट समझते हैं, कि यह अन्तर्यामी परमात्मा की प्रेरणा का परिणाम है । इसी भाव को श्लोक में कहा गया है, कि परमात्मा स्वयं उस प्रकृति-कण में प्रकट हुआ– 'तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा' । उसके प्रकट होने का यही प्रकार है । अन्य प्राकृत वस्तुओं के समान उसका प्रकट होना या दृष्टिगोचर होना, युक्तियुक्त नहीं कहा जासकता ।

---

को विभिन्न नामों से स्मरण किया ह । कहीं 'अनिर्देश्यतत्त्वान्तर' [तत्त्वान्तरत्वेन अनिर्देश्यमिति भावः ] (युक्तिदीपिका, पृ० १०८), कहीं 'प्रतिभा' (निरुक्त १४।४), कहीं 'विद्युत्' (यजुर्वेद, दयानन्द भाष्य २३।५४) आदि । भगवद्गीता [७।४] में इसी अवस्था का निर्देश 'मनस्' पद के द्वारा किया गया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

इन प्रकृतियों को मूलप्रकृतिरूप में न रहने के कारण 'भिन्ना प्रकृति' कहा है। मूल प्रकृति में कोई भेद नहीं होता, वह केवल अव्यक्तरूप है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् [ १।२ ] में भी प्रकृति की इस अवस्था को 'आपोऽजायन्त' 'आपो वा अर्कः' 'स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितः' इत्यादि वाक्यों के द्वारा 'आपस्' पद से ही प्रकट किया है ।

१—तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ [ १।९ ]

प्रकृति की वह अवस्था–जब उसमें परमात्मा की प्रेरणा से सर्गोन्मुख क्रिया उत्पन्न होचुकी है–उसी की उत्पन्न की हुई है। उस अवस्था में प्रकृति को 'आपस्' कहा गया है। इसलिये 'आपस्', 'नारा:' हैं, क्योंकि वे नर अर्थात् परमात्म-पुरुष के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं, पुरुष के पुत्र के समान हैं। जबकि वह परमात्म-पुरुष प्रकृति के प्रत्येक कण में अन्तर्निविष्ट हुआ उनको प्रेरित करता है, अत: वे उसका 'अयन' अर्थात् स्थान हैं। इसीलिये परमात्म-पुरुष को 'नारायण' कहा जाता है। इस भाव को मनुस्मृति के अगले श्लोक में इसप्रकार कहा है—

'आपस्' 'नारा' कहे गये हैं, क्योंकि वे नर-सूनु हैं,नर से उत्पन्न होते हैं। वे इसका प्रथम स्थान हैं, इसीलिये परमात्मा को 'नारायण कहा गया है'[१]।

प्रकृति में सर्वप्रथम क्रिया परमात्मा के द्वारा उत्पन्न कीजाती है, इसलिये प्रकृति की उस अवस्था को परमात्मा का सूनु अर्थात् उससे उत्पन्न हुआ बताया गया है। परमात्मा की पहचान का सबसे प्रथम यही साधन है, इसीलिये इसको परमात्मा का पहला स्थान कहा गया है। परमात्मा का प्रथम प्रकाश प्रकृति की उस क्रिया से प्रकट होता है। वस्तुत: परमात्मा का वह सदातन स्थान है, वही मुख्य स्थान है। इसलिये परमात्मा का 'नारायण' नाम बहुत सार्थक है।

इतने श्लोकों में प्रलय के अनन्तर सर्गारम्भ का साधारण वर्णन किया गया है। इन उल्लेखों से यह परिणाम नहीं निकाला जासकता, कि वह स्वयंभू भगवान् इस जगत् के रूप में स्वयं परिणत होजाता है। प्रत्युत यहां स्वयंभू भगवान् और जगत् के मूल उपादान में भेद का स्पष्ट प्रतिपादन है। एक प्रेरयिता दूसरा प्रेर्य्य, एक प्रकाशक दूसरा प्रकाश्य, एक चेतन दूसरा जड़, एक अन्तर्यामी नियन्ता दूसरा नियम्य। इन्हीं भावों को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने अगले श्लोक में जगत् के अव्यक्त उपादान और पुरुष का भेद इसप्रकार स्पष्ट किया है—

वह जो मूल उपादान है, अव्यक्त है, नित्य है और सद्रूप तथा असद्रूप है। उससे अतिरिक्त, परित्यक्त, सर्वथा विभिन्न वह पुरुष है, जो लोक में ब्रह्म अथवा ब्रह्मा कहा जाता है।[२]

यहां मूल उपादान को सद्रूप तथा असद्रूप कहा है। वह जब केवल कारणरूप में अवस्थित रहता है, तब सद्रूप कहाता है, वह रूप उसका सदा रहता है, वह त्रिगुणात्मक है। जब वही कार्यरूप में परिणत होजाता है, तब असद्रूप कहाता है। कारणरूप त्रिगुणात्मक है, जो सदा रहता है। कार्यरूप बुद्धयाद्यात्मक है, जो सदा नहीं रहता, इसी-

---

१—आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ [१।१०]

२—यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥ [१।११]

लिये उसको असद्रूप कहा गया है। कारण की त्रिगुणात्मकता–कारण के कार्यरूप में परिणत होजाने पर भी–नष्ट नहीं होती। परन्तु बुद्धि आदि कार्यरूपता सदा नहीं रहती। इसीलिये मूलकारण को सदसद्रूप कहा गया है। इसका विस्तारपूर्वक विवेचन 'प्रकृति' नामक प्रकरण में किया है। मूल उपादान का इसप्रकार का वर्णन सांख्य के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

इतने वर्णन से यह स्पष्ट होजाता है, कि जगत् के मूल उपादान, जो प्रलय में 'प्रसुप्तमिव' पड़े थे, सर्गादिकाल में परमात्मा की प्रेरणा से गतिशील होकर सर्गोन्मुख हुए। परमात्मा उनमें अन्तर्निविष्ट होकर यह सब कर रहा था। उनकी यह क्रियाशीलता जब परिपक्व अवस्था में पहुंच गई, अर्थात् जब वे इस अवस्था में आगये, कि उनसे व्यक्त सृष्टि की उत्पत्ति होनी चाहिये, तब स्वयमेव स्वयंभू भगवान् ने अपने संकल्पमात्र से उन मूल उपादानरूप प्रकृति-कणों से दो प्रकार की सृष्टि रचना की। उस सृष्टि में एक ज्योतिर्मय लोक थे, दूसरे ज्योतिरहित। उन लोकलोकान्तरों के मध्य में अन्य पदार्थों को भी अवकाश प्राप्त हुआ। इन भावों को मनुस्मृति के अगले दो श्लोकों में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है—

प्रकृति के उस प्रत्येक कण [अण्ड] में नियत समय तक निवास करके स्वयं अपने संकल्पमात्र से भगवान् ने उसको दो प्रकारों में विभक्त कर दिया। भगवान् ने विभक्त किये उन दो टुकड़ों से द्यु और पृथिवी को बनाया, मध्य में आकाश दिशा और सदा रहने वाले जलों के स्थान को[1]।

सर्गादिकाल में जैसे ही परमात्मा की प्रेरणा से प्रकृति-कणों में गति या क्रिया उत्पन्न होती है, वैसे हीं तत्काल सम्पूर्ण सृष्टि की रचना नहीं होजाती। उनसे लोक-लोकान्तरों की रचना किये जाने की अवस्था तक पहुंचने में पर्याप्त समय लग जाता है। अभिप्राय यह है, कि सर्गादिकाल में परमात्मा की प्रेरणा से क्रियाशील हुए मूल उपादान उतने समय में पूर्णरूप से लोकलोकान्तरों के रूप में परिणत होजाते हैं, और ओषधि वनस्पति आदि का उनमें यथास्थान पूर्ण विकास होजाता है।

वह समय कितना होता है, इसका कुछ अनुमान किया जासकता है। मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानी गई है। मनुष्य का गर्भ साधारण औसतरूप से दस मास में परिपक्व होजाता है। यदि दस मास पर सौ वर्ष को विभक्त करदें, तो मनुष्य की सम्पूर्ण आयु का १२० वां भाग गर्भ-परिपाक में लगता है। सृष्टि की आयु का अनुमान शास्त्रों में चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष किया गया है। इसका १२० वां भाग सृष्टि के गर्भ-परिपाक का

---

१—तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥ [१।१२-१३]

काल अनुमान किया जासकता है, जो तीन करोड़ साठ लाख वर्ष होता है। इसका अभिप्राय यह है, कि प्रकृति में आदि क्षोभ के अनन्तर लगभग तीन करोड़ वर्ष लोक-लोकान्तरों के पूर्ण निर्माण में लग गये। इतने समय का नाम परिवत्सर होना चाहिये, जिसका उल्लेख मूल श्लोकों में है। इतने समय तक अण्ड [मूल उपादान] में भगवान् के निवासकथन का अभिप्राय यही है, कि इतना समय लोकलोकान्तरों की पूर्ण रचना में लग जाता है, जिसके अनन्तर मनुष्य प्राणी का प्रादुर्भाव होता है। जगद्रचना में ओषधि वनस्पति आदि का पूर्ण विकास होजाने पर मनुष्य का प्रादुर्भाव होता है। मनुष्यप्रादुर्भाव के पूर्व केवल भगवान् का इसमें वास रहता है। ओषधि आदि का प्रादुर्भाव मानवसृष्टि से पूर्व होजाता है, इसका संकेत वेद [ऋ० १०।९७।१] में मिलता है।

इसप्रकार जितने लोकलोकान्तरों की रचना होती है, उनको दो भागों में विभक्त किया जासकता है, एक ज्योतिर्मय दूसरे ज्योतिरहित। मूल श्लोक में 'दिव्' पद ज्योतिर्मय लोकों का और 'भूमि' पद ज्योतिरहित लोकों का उपलक्षक है। ज्योतिर्मय वे लोक हैं जो स्वयंप्रकाश हैं, जैसे सूर्य। ज्योतिरहित वे लोक हैं, जो दूसरे ज्योतिर्मय लोकों से प्रकाश लेते हैं, जैसे पृथिवी चन्द्र आदि। इन दो विभागों के अतिरिक्त लोकलोकान्तरों का कोई तीसरा विभाग नहीं है। इसी अभिप्राय से अण्ड के द्विधाकरण का निर्देश किया गया है।

यहांतक साधारणतया अव्यवस्थितरूप में सृष्टि का कथन है, तत्त्वों की उत्पत्ति के क्रम का निर्देश नहीं किया। उक्त वर्णन से संक्षेप में यही विवक्षित है कि प्रलयकाल के अनन्तर सर्ग के आदि में परमात्मा की प्रेरणा से मूल उपादानों में गति उत्पन्न होकर कुछ काल के बाद ज्योतिर्मय और ज्योतिरहित सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों की उत्पत्ति हुई। आगे के श्लोकों में क्रमपूर्वक तत्त्वोत्पत्ति का उल्लेख किया गया है।

आत्मा [जीवरूप आत्मा] से सम्बन्ध रखने वाले सदसद्रूप मन को प्रकट किया, मन के कारणभूत [मनसः ईश्वरम्] तथा अभिमानवृत्ति वाले अहंकार को, अहंकार के कारणभूत महान् आत्मा [महत्तत्त्व-बुद्धि] को तथा महान् के कारणभूत सब त्रिगुणों को प्रकट किया। तत्पश्चात् विषयों को ग्रहण करने वाली पांच इन्द्रियां [ज्ञानेन्द्रियां] प्रकाश में आईं।[1]

प्रथम डेढ़ श्लोक में आध्यात्मिक सृष्टि अथवा अन्तःकरणों के प्रकाश में आने का प्रतिलोम[2] क्रम से उल्लेख किया गया है। श्लोक के 'सदसदात्मकम्' पद का मन अहंकार

---

१—उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥
महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ [१।१४-१५]

२—कार्य का कारण में लीन होने अथवा कार्य से कारण के अनुमान किये जाने का क्रम प्रतिलोमक्रम, तथा कारण से कार्य के प्रकट होने का क्रम अनुलोमक्रम कहाता है।

महत् और त्रिगुण इन सबके साथ सम्बन्ध है। 'मनसः ईश्वरम्' इन पदों से यह स्पष्ट किया गया है कि अहंकार मन का कारण है। इसी क्रम से 'ईश्वर' पद का सम्बन्ध अगले तत्त्वों के साथ भी जुड़ता चला जायगा–'अहंकारस्य ईश्वरं महान्तमात्मानम्' तथा 'महत ईश्वरं सर्वाणि त्रिगुणानि'। इस कथन से ग्रन्थकार ने इन तत्त्वों के पारस्परिक कार्यकारण भाव को स्पष्ट किया है। इससे तत्त्वों का निम्नलिखित उत्पत्तिक्रम प्रदर्शित होता है—

परमात्मा ने सम्पूर्ण त्रिगुणात्मक प्रकृति को अपने संकल्प से प्रेरित किया, प्रकृति से महत्तत्त्व, महत् से अहंकार तथा अहंकार से मन का प्रादुर्भाव हुआ। यह आन्तर या आध्यात्मिक सृष्टि कही जाती है। इसके अनन्तर विषयों को ग्रहण करने वाली पांच इन्द्रियां प्रकाश में आईं। यहां पांच ज्ञानेन्द्रियों का ग्रन्थकार ने स्वतः कथन किया है, कर्मेन्द्रियों का उल्लेख नहीं किया। परन्तु पांच ज्ञानेन्द्रियों को कर्मेन्द्रियों का भी उपलक्षण समझना चाहिये, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के कथन से उनकी साथी कर्मेन्द्रियों का भी कथन समझ लिया जाता है। अथवा श्लोक में अन्तिम 'च' के निर्देश से यहां कर्मेन्द्रियों का ग्रहण समझना[1] चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है वैसे ही कर्मेन्द्रियों की भी।

इनके साथ ही तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति होती है। अगले श्लोकों [१६, १७] में सूक्ष्मशरीर का उल्लेख किया गया है। सूक्ष्मशरीर में पांच तन्मात्र

१—कर्मेन्द्रियों का यहां स्पष्ट कथन न होने से यह न समझना चाहिये, कि ग्रन्थकार कर्मेन्द्रियों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर दोनों प्रकार की इन्द्रियों का उल्लेख आता है। देखिये—

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः।
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥

[मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक ८९–९१]

किन्तु यहां केवल ज्ञानसाधन इन्द्रियों का उल्लेख कर दिया है, अगले [१६वें] श्लोक से इस विशेषता का कारण ध्वनित होता है। वहां तीन अन्तःकरणों में से एक मुख्य अन्तःकरण की गणना की है और उसी में शेष दो को अन्तर्निहित मान लिया है अथवा उन सबका प्रतिनिधि एक महत् को समझ लिया है। इसीप्रकार दश इन्द्रियों में ज्ञानसाधन पांच इन्द्रियों की गणना करके, शेष पांच का उन्हीं को प्रतिनिधि मान, अगले श्लोक में छह अमितौजसों का उल्लेख किया गया है, जिनमें एक महत्तत्त्व अर्थात बुद्धि और पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं।

अर्थात् पांच सूक्ष्मभूत आश्रयरूप तत्त्व होते हैं। १६वें श्लोक में 'आत्ममात्र' पद से उन्हीं तन्मात्रों का कथन है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियों के साथ पांच तन्मात्रों की उत्पत्ति मनु को अभिप्रेत है। अन्यथा सूक्ष्मशरीर में उनकी गणना किया जाना असंगत होगा। सांख्य में अहकार से इन्द्रियों तथा तन्मात्रों की उत्पत्ति कही है। सत्त्वप्रधान अहंकार से इन्द्रियां तथा तमःप्रधान अहंकार से पांच तन्मात्रों की उत्पत्ति बताई हैं। पन्द्रहवें श्लोक में 'शनैः' पद के उच्चारण से ग्रन्थकार का यह मनोभाव ध्वनित होता है कि ये इन्द्रियादि तत्त्व अपने क्रम पर उत्पन्न होते व प्रकाश में आते हैं। अथवा प्राणिजीवन भौतिक रचना के पर्याप्त अनन्तर काल में प्रकट होता है। इन पंक्तियों में उसी क्रम तथा भाव को हमने स्पष्ट किया है। २७वें श्लोक में मनु ने पांच तन्मात्रों का पुनः स्पष्ट उल्लेख किया है, और आगे सम्पूर्ण भौतिक जगत् का उनको कारण बताया[1] हैं। अगले श्लोकों में सूक्ष्मशरीर का वर्णन मनु ने इसप्रकार किया है—

उन छह अमितौजसों के सूक्ष्म अवयवों को आत्ममात्राओं [तन्मात्रों] में सम्मिलित करके सब भूतों के आश्रयरूप सूक्ष्मशरीरों को बनाया। जिस मूर्ति [सूक्ष्मशरीर] के अवयव सूक्ष्म हैं, ये छह उसका आश्रय लेते हैं। इसीलिये मननशील विद्वानों ने सूक्ष्मभूतों की उस रचना को 'शरीर' कहा है[2]।

छह अमितौजस पाँच इन्द्रियाँ और एक अन्तःकरण हैं। वह अन्तःकरण बुद्धि है। यह अध्यात्मसृष्टि में प्रकृति का आद्यकार्य है। इसके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर ये छह होजाते हैं, ये अमितौजस हैं। इनकी शक्ति अपरिमित हैं। संसार के सम्पूर्ण भोगों के ये साधन हैं, और अन्त में मोक्ष इन्हीं के द्वारा सिद्ध होता है। इसलिये 'अमितौजस' इनको उपयुक्त विशेषण दिया गया है। इन छहों में से बुद्धि शेष दोनों अन्तःकरणों [अहंकार और मन] का उपलक्षण है, तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां शेष पांच कर्मेन्द्रियों की। इसप्रकार ये सब मिलकर तेरह तत्त्व होते हैं। इनको दार्शनिक परिभाषा में तेरह करण कहा जाता है। पांच तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूत इन तेरह करणों के आश्रय होते हैं, तेरह करण इनके आश्रित रहते हैं। इन सबके समूह को 'सूक्ष्मशरीर'

---

**१ —अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानां तु याः स्मृताः।**
**ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ [१।२७]**

**दश की आधी अर्थात् पांच जो सूक्ष्म विनाशिनी तन्मात्रा बताई गई हैं, उन्हीं की सहायता से यह सम्पूर्ण जगत् क्रमपूर्वक उत्पन्न होता है, क्रम से भूतोत्पत्ति का वर्णन १६-२० श्लोकों में किया है।**

**२—तेषां त्ववयवान् सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम्।**
**सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥**
**यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।**
**तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्त्ति मनीषिणः ॥ [१।१६-१७]**

कहा जाता है । मूलश्लोक में 'सर्वभूत' पद 'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्' इस नियम के अनुसार सब प्राणियों के आश्रयभूत सूक्ष्मशरीरों के लिये प्रयुक्त हुआ है । इसप्रकार उक्त तत्त्वों में सूक्ष्मशरीर की रचना का वर्णन सोलहवें श्लोक में किया गया है ।

अगले श्लोक में उसी का और अधिक वर्णन है । पांच सूक्ष्मभूतों से बने हुए शरीर को यहां 'मूर्त्ति' कहा गया है। उसके सूक्ष्म अवयव पांच तन्मात्र हैं । पांच तन्मात्रों के इस मिलित समूह का ये छह आश्रय लेते हैं । इसलिये विद्वानों ने पांच तन्मात्रों के मिलित समूह की मूर्त्ति को 'शरीर' कहा है । वस्तुतः तेरह करणों का आश्रयभूत शरीर पांच तन्मात्रों का समुदाय है, और ये सब मिलकर, प्राणियों का आश्रय होने से सूक्ष्मशरीर कहा जाता है । उक्त छह अमितौजस तेरह करणों के उपलक्षण हैं, यह अभी लिख चुके हैं ।

इसप्रकार अठारह तत्त्वों का यह सूक्ष्मशरीर सब प्राणियों का आश्रयभूत है । प्रत्येक जीवपुरुष का एक सूक्ष्मशरीर के साथ सम्बन्ध सर्गकाल से प्रलयकाल पर्यन्त अथवा तत्त्वज्ञानपर्यन्त बराबर बना रहता है । सर्ग के आदिकाल में सूक्ष्मशरीरों की रचना होजाने पर प्रत्येक आत्मा [जीव पुरुष] एक शरीर में प्रविष्ट होजाता है । उस आत्मा का उस शरीर [सूक्ष्मशरीर] के साथ सम्बन्ध तब तक बना रहता है, जबतक प्रलयकाल उपस्थित न हो जाये । यदि किसी आत्मा को उस जगत् के स्थितिकाल में तत्त्वज्ञान हो जावे, तो उस तत्त्वज्ञान काल तक ही उस आत्मा का सम्बन्ध शरीर के साथ रहता है । सर्गादिकाल में सूक्ष्मशरीरों की रचना होजाने पर आत्मा उनमें प्रवेश करते हैं, इस अर्थ को मनु इसप्रकार वर्णन करता है—

वे अनन्त प्राणी अपने कर्मों के साथ उन शरीरों में प्रवेश करते हैं । सब प्राणियों के भोगादि का सम्पादन करने वाला अव्यय मन भी अपने सूक्ष्म अवयवों के साथ उस शरीर में प्रवेश करता है[1] ।

सर्गादिकाल में प्रथम आत्मा सूक्ष्मशरीर में प्रवेश करता है। जिस आत्मा के साथ जिस सूक्ष्मशरीर का उस समय सम्बन्ध होजाता है, वह आने वाले प्रलयकाल तक अथवा तत्त्वज्ञानपर्यन्त उसी तरह बना रहता है । जन्म और मरणकाल में स्थूलदेह के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने तथा छोड़ने पर सूक्ष्मशरीर के साथ उसका सम्बन्ध बराबर रहता है । स्थूलदेह शीघ्र ही बनते और बिगड़ते रहते हैं, परन्तु सूक्ष्मदेह सर्गादिकाल में बनकर प्रलयकाल तक अथवा तत्त्वज्ञानपर्यन्त उसी तरह बना रहता है । मूल श्लोक में 'मनस्' पद प्रकृति के आद्यकार्य महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि के लिये प्रयुक्त हुआ है । सांख्य में बुद्धि का दूसरा नाम 'मनस्' बताया गया है[2] । यद्यपि

१—तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ [१।१८]

२—महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः । [सांख्यसूत्र, १।३६]

सूक्ष्मशरीर में बुद्धि का समावेश है, फिर भी उसका पृथक् कथन 'ब्राह्मणा आयाताः वशिष्ठोऽप्यायातः' इस न्याय के अनुसार उसकी प्रधानता अथवा श्रेष्ठता बतलाने के लिए किया गया है।

अठारह तत्त्वों के सूक्ष्मशरीर में पांच तन्मात्र, आश्रयभूत तत्त्व बताये गये हैं। इन्हीं तन्मात्रों से स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है। तब सब प्रकार की स्थूल सृष्टि होती रहती है। मनु ने अगले श्लोकों में इस अर्थ को निम्नलिखितरूप में प्रकट किया है—उन महौजस सात पुरुषों में से, सूक्ष्म मूर्तिमात्राओं में से यह स्थूलजगत् उत्पन्न होता है। इसप्रकार अव्यय से व्यय की उत्पत्ति होजाती है। अविनाशीरूप से विनाशीरूप अर्थात् कारण कार्यरूप में परिणत होजाता है[1]।

यह पहले लिखा जाचुका है कि सूक्ष्मशरीर के अठारह तत्त्वों में से तेरह करण आश्रित तथा पांच तन्मात्र आश्रयभूत तत्त्व होते हैं। सांख्य में तेरह करणों को दो भागों में विभक्त किया गया है, एक अन्तःकरण [-बुद्धि, अहंकार, मन], दूसरा बाह्यकरण [-पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय]। जगत् में इनकी स्थिति ही ऐसी है। इन दो के साथ पांच तन्मात्रों को मिलाकर प्रस्तुत श्लोक में सात पुरुषों का उल्लेख किया गया है इनको पुरुष इसलिये कहा गया है, कि सम्पूर्ण जगत् में इन्हीं का निवास है। इन सात में से[2] सूक्ष्म तन्मात्र स्थूलभूतों के उत्पादक होते हैं। यद्यपि सूक्ष्मभूत भी विनाशी हैं, परन्तु उनको श्लोक में अव्यय अर्थात् अविनाशी, अति चिरस्थायी होने के कारण कहा है। अथवा स्थूलभूतों की अपेक्षा अत्यधिक काल तक स्थायी होने के कारण ऐसा कहा जासकता है। जगत् के स्थितिकाल में स्थूलभूतों में बराबर परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु तन्मात्रों की स्थिति सर्गादिकाल से प्रलयकालपर्यन्त वैसी ही बनी रहती है। इसी दृष्टि से इनको यहाँ अव्यय कह दिया गया है[3]।

स्थूलभूतों की उत्पत्ति का सांख्य में एक विशेष क्रम बतलाया गया है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। इसीक्रम से स्थूलभूतो की उत्पत्ति होती है। शब्द तन्मात्र से आकाश, तत्सहित स्पर्शतन्मात्र से वायु, तदुभयसहित रूपतन्मात्र से अग्नि। इसीतरह आगे समझना चाहिये। अपने से पहलों का गुण अगले भूतों में आता है, इसप्रकार क्रमानुसार जो भूत जिस संख्या पर हैं, उसमें उतने गुण आजाते हैं। इस अर्थ को मनु ने बताया—

---

१—तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद् व्ययम्॥ [१।१९]

२—प्रस्तुत श्लोक के पूर्वार्द्ध में षष्ठी विभक्ति निर्धारण अर्थ को बताती है। जहाँ बहुत सी वस्तुओं में से कुछ को छांटकर पृथक् बताया जाय, वह निर्धारण कहाता है।

३—तन्मात्रों की स्थिति और उनके स्वरूप के सम्बन्ध में, इसी ग्रन्थ के 'विकार' नामक प्रकरण में स्पष्ट तथा विशद विवेचन किया गया है।

इन स्थूलभूतों में पहले के गुण को अगला अगला प्राप्त करता चला जाता है। जो-जो स्थूलभूत उत्पत्तिक्रम से जिस संख्या पर आता है, वह उतने ही गुणों वाला कहा गया है[1]।

यद्यपि मनुस्मृतिकार ने स्वयं यहां पर भूतों के किसी उत्पत्तिक्रम का निर्देश नहीं किया, परन्तु अन्यत्र इसी ग्रन्थ में मनु ने अपना यह अभिप्राय प्रगट किया है। इसके लिये मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के ७५ से ७८ तक श्लोक द्रष्टव्य हैं। इसप्रकार प्रस्तुत प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि मनु ने अथवा मनु की स्मृति में जगत्सर्ग की जिस प्रक्रिया का अवलम्बन किया है, वह सब कापिलसांख्यप्रतिपादित प्रक्रिया है।

## सांख्यसिद्धान्त और महाभारत

महाभारत के अनेक प्रकरणों में सांख्यसिद्धान्तों का प्रसंगवश वर्णन किया गया है। शान्तिपर्व में अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों के संवादों का उल्लेख है। उन संवादों में जो दार्शनिक विचार प्रकट किये गये हैं, उनसे स्पष्ट होता है, कि वे किन्हीं सांख्यग्रन्थों अथवा सांख्यपरम्पराओं के आधार पर वर्णन किये गये हैं।

(१) उन संवादों में एक कपिल-आसुरि का संवाद[2] है। वहां जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, उनको संक्षेप में इसप्रकार लिखा जासकता है—

सत्त्व रजस् तमस् प्रधान अथवा प्रकृति हैं।
प्रधान से महत् की उत्पत्ति होती है।
महत् से अहंकार उत्पन्न होता है।
अहंकार से एकादश इन्द्रिय और भूत उत्पन्न होते हैं।
प्रकृति का 'आद्य' पद से उल्लेख किया है।
बुद्धि आदि तेईस तत्त्वों को 'मध्यम' कहा है।
इन चौबीस के ज्ञान से प्रकृति में स्थिति बताई है।
इनके अतिरिक्त पच्चीसवें पुरुष का उल्लेख है।
पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान अर्थात् प्रकृति-पुरुष के विवेक ज्ञान से अपवर्ग का होना लिखा है।

(२) महाभारत में अनेक स्थलों पर पचशिख का उल्लेख है। शान्तिपर्व के २२० अध्याय में आसुरि के शिष्यरूप से पंचशिख का उल्लेख किया गया है। इसी पर्व के २२०—२२२ तथा २२४ अध्याय[3] में पंचशिख और जनक के संवाद का वर्णन आया

---

१—आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः॥ [१।२०]

२—महाभारत शान्तिपर्व, ३२६—३२८ अध्याय, कुम्भघोण संस्करण, निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित।

३—निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित कुम्भघोण सस्करण।

है। इन संवादों में जिन सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है, उनको संक्षेप से निम्नलिखित रूप में प्रकट किया जासकता है—

सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीन गुण हैं।

प्रत्येक वस्तु में इन तीनों की स्थिति पाई जाती है।

सत्त्व के धर्म हैं–प्रीति प्रहर्ष आनन्द शान्ति।

रजस् के धर्म हैं–अप्रीति अतुष्टि परिताप शोक लोभ अक्षमा।

तमस् के धर्म हैं–विषाद अविवेक मोह प्रमाद स्वप्न तन्द्रा।

बुद्धि अहंकार और एकादश इन्द्रिय ये तेरह करण हैं।

मन का दोनो प्रकार की इन्द्रियों [ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय] के साथ सम्बन्ध होता है।

पांच भूत हैं

शरीर की उत्पत्ति पांचों भूतों से होती है।

ज्ञान से मुक्ति का होना बताया गया है।

(३) इसके अतिरिक्त महाभारत शान्तिपर्व [३०८–३१४ तक] के सात अध्यायों में वशिष्ठ और जनक के संवाद का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इस संवाद में जिन सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है, उनको संक्षेप में इसप्रकार प्रकट किया जासकता है—

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है।

अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है।

महत् से अहंकार और अहंकार से पंचभूत।

ये आठ प्रकृति और सोलह विकार हैं।

जिनमें पांच महाभूत और सम्पूर्ण इन्द्रियां हैं।

प्रकृति का अधिष्ठाता एक चेतन पुरुष है।

प्रलयकाल में अव्यक्त प्रकृति एकरूप रहती है।

सर्गकाल में उसका बहुरूप परिणाम होजाता है।

पुरुष और प्रकृति भिन्न-भिन्न हैं।

यह पुरुष जब इस भेद को जान लेता है, प्रकृति से छूट जाता है।

(४) इसीप्रकार महाभारत शान्तिपर्व के [३१५–३२३ तक] नौ अध्यायों में याज्ञवल्क्य और दैवराति जनक के संवाद का उल्लेख है। इस संवाद में जिन सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, उनको संक्षेप में इसप्रकार प्रस्तुत किया जासकता है—

अव्यक्त महान् अहंकार और पांच सूक्ष्मभूत ये आठ प्रकृति हैं, इनमें महत् आदि सात व्यक्त हैं।

एकादश इन्द्रिय और पांच महाभूत ये सब सोलह विकार हैं।

अव्यक्त से महान् की उत्पत्ति होती है।

महान् से अहंकार उत्पन्न होता है।
अहंकार से मन इन्द्रियां और भूत उत्पन्न होते हैं।
त्रिगुणात्मक जगत् प्रकृति का परिणाम है।
सत्त्व रजस् तमस् इनके आनन्द दुःख अप्रकाश आदि स्वरूप हैं,
प्रकृति त्रिगुणात्मक है।
पुरुष नाना हैं।

साधारणरूप से ये इतने स्पष्ट सांख्य-सिद्धान्त हैं, जिनके विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जासकता। महाभारत के प्रस्तुत वर्णनों से यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है, कि इन सिद्धान्तों का उक्तरूप में वर्णन किन्हीं सांख्यग्रन्थों अथवा सांख्य परम्पराओं के आधार पर किया जासकता है। महाभारत में अन्य भी अनेक स्थलों पर इसप्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं, जिनसे महाभारत पर सांख्यविचारों का प्रभाव अतिस्पष्ट है।

**सांख्यदृष्टि से षड्विंश परमात्मा**—महाभारत के पूना संस्करण के अनुसार शान्ति-पर्व के ३०६ अध्याय में राजा विश्वावसु और ब्राह्मण याज्ञवल्क्य के संवाद का उल्लेख है। विश्वावसु याज्ञवल्क्य से प्रश्न करता है, पञ्चविंश के विषय में मैंने आपसे सुना, तथा कपिल आसुरि पञ्चशिख पराशर वार्षगण्य गौतम गर्ग आदि के विस्तृत साहित्य को देखा है, पञ्चविंशविषयक कथन कहां तक युक्त है, यह मैं आपके मुख से सुनना चाहता हूं, आप शास्त्रों के प्रगल्भ ज्ञाता हैं और अतिबुद्धिमान् हैं। आपने सांख्यज्ञान को पूर्णरूप में प्राप्त किया है, आप निःसंशय महाज्ञानी हैं, चराचर को आपने जान लिया है, सांख्यज्ञान के विषय में आपसे मैं सुनना चाहता हूं।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, गन्धर्वराज विश्वावसु ! तुम योग्य अधिकारी हो, जो जिज्ञासा तुमने प्रस्तुत की है, उसके विषय में जैसा मैं जानता हूं, वह कह रहा हूं, सुनो—सांख्यशास्त्र में प्रकृति को जड़ कहा गया है, और पञ्चविंश अर्थात् पुरुष को चेतन। चेतन पुरुष जड़तत्त्व को जान लेता है, पर जड़तत्त्व चेतन को नहीं जान पाता, ज्ञान चेतन का स्वरूप है। प्रकृति का 'प्रधान' नाम इसीकारण है, कि वह इस समस्त भूत-भौतिक ब्रह्माण्ड का आधार है, प्रलयकाल में कार्यजड़ कारणजड़ में लीन होजाता है, इसी आधार पर प्रकृति को प्रधान कहते हैं। सांख्यशास्त्र के तत्त्व को समझने वाले विद्वानों ने ऐसा ही कहा है।

यह पञ्चविंश-चेतन जीवपुरुष कुछ देखता है, कुछ नहीं देखता। साधारण सांसारिक दशा में यह केवल अपने देह गेह आदि को तथा अन्य भूत-भौतिक सुखसाधन सामग्री को देखता है; पर स्वयं अपने को एवं अपने से परे 'षड्विंश' तत्त्व को अर्थात् परमात्मा को नहीं देखपाता। वह परमात्म-चेतन विश्व का नियन्ता व सर्वज्ञ है, वह समस्त जीवात्माओं तथा प्रकृति एवं सकल भूतभौतिक को बराबर देखता है [षड्विंशः पञ्चविंशं च चतुर्विंशं

च पश्यति]। परन्तु चेतन भी यह जीवात्मा संसारी अवस्था में उसको नहीं देखपाता, जो इसको प्रतिक्षण देखरहा है। मानव देह को प्राप्त कर यह जीवात्मा अभिमान करता है, मुझ से श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है। प्रकृति एवं प्राकृत जड़ साधनों में डूबा हुआ यह अपने चेतनस्वरूप को भूला रहता है। परन्तु जब वह जड़तत्त्व से अतिरिक्त अपने चेतनस्वरूप का साक्षात् करता है, उस समय समाधिलाभ से कैवल्य अवस्था को प्राप्त हुआ यह परमात्मा का दर्शन कर पाता है[1]। वह मूल उपादान जड़तत्त्व अन्य है, जीवचेतन-(पञ्चविंश) अन्य है। जीवचेतन में स्थित होने से वह आत्मा एकमात्र परमात्मा को जान लेता है। जन्म और मृत्यु के कष्ट से भीत सांख्यवित् पवित्रान्तःकरण होकर विधिपूर्वक समाधिलाभ द्वारा परमात्मा [षड्विंश] का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करते हैं[2]।

जो विद्वान् कापिलसांख्य को निरीश्वरवादी समझते हैं, उन्हें महाभारत के ऐसे प्रसंगों पर ध्यान देना चाहिये। वस्तुतः महाभारत में जहां भी कापिलसांख्य का वर्णन हुआ है, वहां कहीं भी सांख्यगत निरीश्वरवाद की छाया दृष्टिगोचर नहीं होती। बौद्ध तथा शांकरमतानुयायी आचार्यों ने सांख्य पर बलात् निरीश्वरवाद को आरोपित किया है। वर्तमान सांख्यषडध्यायी सूत्रों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, महाभारत में उन्हीं सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है। सांख्यषडध्यायी का कोई सूत्र निरीश्वरवाद का प्रतिपादन नहीं करता, किसी विचारशील व्यक्ति को किन्हीं सूत्रों के विषय में सन्देह हो, तो वे सांख्यदर्शन के विद्योदयभाष्य को देखने का कष्ट करें।

## भगवद्गीता में सांख्यसिद्धान्त

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का एक भाग है, परन्तु अपनेरूप में उसकी एक विशेष स्थिति और महत्त्व है। संस्कृत साहित्य के उन गिनेचुने ग्रन्थों में भगवद्गीता मूर्द्धन्य है, जिनपर प्रत्येक सम्प्रदाय तथा भिन्न विचार रखने वाले व्यक्तियों ने अपने विचारों के अनुसार व्याख्यान किये हैं, और उन व्याख्याओं में गीता से अपने विचारों को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। गीता पर विभिन्न भाषाओं में लिखे गये व्याख्या-ग्रन्थों की संख्या लगभग पौने दो सौ तक हमारी दृष्टि में आई है। इनमें उन ग्रन्थों की गणना नहीं है, जो एक भाषा से दूसरी में केवल अनुवाद किये गये हैं। ऐसी स्थिति में निरपेक्ष विचारक के लिये यह निर्णय करना कठिन होजाता है, कि गीता में वस्तुतः

—यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ॥७४॥

२—अन्यश्च राजन्नवरस्तथान्यः पञ्चविंशकः।
तत्स्थत्वादनुपश्यन्ति एक एवेति साधवः ॥७५॥
जन्ममृत्युभयाद्भीता योगाः सांख्याश्च काश्यप।
षड्विंशमनुपश्यन्ति शुचयस्तत्परायणाः ॥७६॥

किस मूलधर्म का वर्णन है, अथवा महाभारत के जिस प्रसंग में गीता का उपदेश है, उस अवसर पर अर्जुन के सन्मुख आत्मा की नित्यता तथा अक्षुण्णता को और देह अथवा भौतिक जगत् की नश्वरता एवं अस्थिरता को स्पष्ट करने के लिये कृष्ण ने किन दार्शनिक सिद्धान्तों का आश्रय लिया है।

इस विवादास्पद विषय का विवेचन करना हमारे वर्तमान लेख का प्रयोजन नहीं। मुख्यरूप से जिन वादों को गीता के प्रतिपाद्य विषय के रूप में उपस्थित किया जाता है, वे निम्नलिखित रूप में कहे जा सकते हैं–अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, भक्तियोगवाद, कर्मयोगवाद, अनासक्तियोगवाद, ज्ञानयोगवाद, व्यावहारिक दर्शनवाद आदि। इनकी भी अनेक शाखायें हैं। यद्यपि गीतासम्बन्धी विवेचन में ये सब विषय सन्मुख आते हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हम केवल यह स्पष्ट करना चाहते हैं, कि गीता के प्रतिपाद्य विषय पर सांख्य का क्या प्रभाव है।

'सांख्य' पद का गीता में अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। व्याख्याकारों का विचार है, कि वह एक पारिभाषिक पद है और विशेष प्रकार के ज्ञान को कहता है, 'सांख्य' नाम से प्रसिद्ध कपिल-प्रोक्त सिद्धान्तों को नहीं। फिर भी सम्पूर्ण गीता में इस विचार को पूर्णरूप से निभाया नहीं गया। गीता में कपिल-प्रोक्त सांख्य के लिये 'सांख्य' पद का प्रयोग [१८।१३] व्याख्याकारों ने माना है। इससे इतना तो स्पष्ट होजाता है, कि गीता-प्रवचन से पूर्व कपिल-प्रोक्त सांख्य का अस्तित्व था, और गीता में उसका उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त कृष्ण ने विभूति-वर्णन के अवसर पर 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' कहकर कपिल तथा उसके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपनी उत्तम भावना का परिचय दिया है।

अब हम उन विचारों का उल्लेख करना चाहते हैं, जिनका वर्णन गीता में केवल सांख्य के आधार पर माना जासकता है। उनमें सर्वप्रथम त्रिगुण [सत्त्व-रजस्-तमस्] का वर्णन है।

(१) **त्रैगुण्य**—गीता में अनेक सिद्धान्तों का विवेचन त्रिगुण के आधार पर किया गया है। गीतारचना में त्रिगुण का स्थान, शरीर में आत्मा के समान है। गीता कलेवर में से यदि त्रिगुण को निकाल दिया जाय, तो उसका विवेचन निर्जीव सा निराधार सा रहजाता है। यह सर्वथा स्पष्ट है, कि गीता में त्रिगुण पद से सत्त्व रजस् तमस् इन तीन का बोध होता है। इस पद के अन्य किसी अर्थ की कल्पना नहीं की जासकती। गीता में इनके जिस प्रकार के स्वरूप का उल्लेख हुआ है, वह सांख्य के अतिरिक्त और कहीं उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः सांख्य का यह अपना मूलभूत प्रतिपाद्य विषय है। इसलिये गीता में इनके वर्णन का मूल आधार सांख्य को कहा जासकता है। चतुर्दश अध्याय [५-२०] में इसीप्रकार के सत्त्व-रजस्-तमस् का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन है।

इस प्रसंग में वर्णित अनेक सिद्धान्तों की तुलना[1] सांख्यसूत्रों के साथ की जासकती है। त्रिगुणात्मक प्रकृति में बद्ध आत्मा का मोक्ष, इनके विवेकज्ञान के आधार पर गीता में बताया गया है[2]।

**(२) जगत् का मूलकारण त्रिगुणात्मक प्रकृति**—इसी त्रिगुणात्मक प्रकृति को गीता में जगत् का मूल उपादानकारण बताया है। गीता-तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये, कि कृष्ण ने अपने-आपको परमात्मा का प्रतिनिधि अथवा तत्स्थानीय समझकर गीता के अनेक स्थलों में उसी रूप से अर्थों का वर्णन किया है। उनके उपसंहार स्थलों में प्राय: सर्वत्र श्रीकृष्ण ने अपने मुख से यह स्पष्ट कर दिया है, कि परमात्मा मुझसे सर्वथा भिन्न है। इन प्रसंगों का उल्लेख यथास्थान आगया है। यह एक साधारण व्यावहारिक बात है, कि हम जब किसी द्विविधा में फंस जाते हैं, तो अपने किसी ऐसे स्नेही हितैषी व्यक्ति के पास जाते हैं, जो कार्याकार्य की वास्तविकता को अच्छी तरह समझता हो। वह हमारी स्थिति को भली-भांति जांच कर कहता है—तुम यह सब मेरे ऊपर छोड़ दो, हानि लाभ सुख दुःख का विचार न करो, जैसा कहूं करते जाओ। हम उस समय उसको अपना सब कुछ समझ-वैसा ही करते हैं। गीता में यही स्थिति अर्जुन के सन्मुख कृष्ण की है। अर्जुन की द्विविधा में कृष्ण ने बुराई-भलाई अपने ऊपर लेकर उसे यथार्थ मार्ग का प्रदर्शन किया है। व्यास ने उसी को वर्तमान गीता के रूप में उपनिबद्ध कर दिया है। गीता में भाव कृष्ण के और भाव के विस्तार के साथ शब्दविन्यास व्यास के हैं। इसमें अनेक स्थलों पर कृष्ण को ईश्वर का रूप इसी आधार पर कह दिया गया है। इसप्रकार कृष्ण की भावना से गीता में परमात्मा जगत् का प्रभव है, अर्थात् जगत् का उत्पादन एवं विनाश करने वाला[3]। वह स्वयं जगत् के रूप में परिणत नहीं होता। इस दृश्यमान जगत् के रूप में जो मूलतत्त्व परिणत होता है, वह प्रकृति है, जो सत्त्वरजस्तमोरूप है। उसका कार्य-जगत् भी त्रिगुणात्मक है[4]।

**१—गीता, अ० १४ श्लो० ६-९ की तुलना करें, सांख्यषडध्यायी १।६२, तथा पञ्चशिखसूत्र ५-७ [यह संख्या 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में संगृहीत पञ्चशिखवाक्यों की क्रमसंख्या के आधार पर है] गीता १४।१०-१३ की तुलना करें, सांख्यषडध्यायी १।६२-६३। गीता १४।१८ की तुलना करें, सांख्यषडध्यायी ३।४८-५०॥**

**२—गीता १४।२२-२६। इसकी तुलना करें, सांख्यषडध्यायी ३।६५॥ इसी अर्थ को गीता १६।३४ में भी देखें।**

**३—गीता, ७।६, तुलना करें—सांख्यषडध्यायी ३।५६-५७॥**

**४—न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।**
**सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥१८।४०॥**

**पृथिवी, द्युलोक तथा देवों में भी कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो प्रकृति के तीन गुणों [सत्त्व-रजस्-तमस्] से छुटा हुआ हो।**

सांख्यतत्त्वसमास का सूत्र है–'अष्टौ प्रकृतयः।' इन आठ प्रकृतियों में एक मूल-प्रकृति और सात [बुद्धि, अहंकार तथा पांच सूक्ष्मभूत] प्रकृति-विकृति हैं। गीता [७।४] में आठ प्रकृतियों का उल्लेख है। पांच [सूक्ष्म] भूत, अहंकार बुद्धि और मन। इस प्रकरण में 'मनस्' पद का प्रयोग मूलप्रकृति के लिये हुआ है। महाभारत [शान्ति० ३१०।१०-१५] में भी प्रकृति को अष्टधा कहा है। वहां सात प्रकृति-विकृतियों के साथ आठवीं मूलप्रकृति का उल्लेख किया है। स्कन्दपुराण [प्रभासखण्ड, अ० १८, श्लो० १३] में इसीप्रकार प्रकृति को अष्टधा कहा गया है। गीता के उक्त वर्णन में इन्हीं तत्त्वों का संकेत है, जो सांख्य के आधार पर प्रकट किये गये कहे जासकते हैं।

इस प्रसंग में जीव को 'परा प्रकृति' कहा है। सांख्य में मूलरूप से दो तत्त्व माने गये हैं–जड़ और चेतन। सत्त्वरजस्तमोरूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति जड़ है। इससे अतिरिक्त तत्त्व है–चेतन। चेतनतत्त्व जीव और परमात्मा के रूप में दो प्रकार से अवस्थित रहता है। इनमें जीव असंख्यात और परमात्मा एक है। दृश्यमान जगत् में हम मूलतत्त्वों के दोनों रूपों का अनुभव करते हैं। इसमें मूल जड़तत्त्व परिणत होकर जीवचेतन के भोगों को प्रस्तुत करने के लिये दृश्यमान जगत् के रूप में उपस्थित होता है, परन्तु जीवचेतन परिणत नहीं होता, वह इस जगत् में अपने मूलरूप से उपस्थित रहता है। इसी विशेषता के आधार पर जड़ प्रकृति को अपरा अर्थात् निम्नश्रेणी की प्रकृति और जीव को परा अर्थात् उत्तम श्रेणी की प्रकृति कहा है। यदि जीव इस जगत् में न आवे, तो जगत् की रचना होना या न होना बराबर है, क्योंकि उस अवस्था में जगत्सर्ग का कोई भी प्रयोजन नहीं बताया जा-सकता। परमात्मा इस दृश्य जगत् में किसी रूप में उपस्थित नहीं होता। वह केवल इसके उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का नियन्त्रण करता है [७।६]। इसप्रकार जड़ अपने मूलरूप से परिणत होकर इस कार्यजगत्रूप में उपस्थित होता है, और जीव चेतन अपरिणत हुआ ही इसको भोगने के लिये अपने नित्यचेतनरूप में साक्षात् इससे सम्बद्ध हुआ उपस्थित होता है, और यह क्रम सब सांसारिक परिस्थिति का आधार है। इसी कारण गीता के इस प्रसंग में जड़ को अपरा और जीवचेतन को परा प्रकृति कहा गया है। यहां जड़ के लिये प्रकृति पद का प्रयोग मुख्य तथा जीवचेतन के लिये औपचारिक है।

यद्यपि इस प्रसंग [७।१०] में कृष्ण ने अपने-आपको सब भूतों का 'बीज' बताया है, और आगे [१०।३९ में] भी ऐसा वर्णन है। लोक में 'बीज' शब्द का प्रयोग मूल उपादान के लिये होता है, जो कार्यरूप में परिणत हुआ करता है। परन्तु गीता के इस प्रसंग के पूर्वापर का पर्यालोचन करने से यह स्पष्ट होजाता है, कि यहां 'बीज' पद का ऐसा प्रयोग है, जैसे एक उद्यान अथवा पुष्पवाटिका के सुन्दर वैभव को देखकर हम कह उठते हैं, कि इसका मूलकारण वह चतुर माली है, जिसने इनको इस स्थिति तक पहुंचाया है। क्योंकि आगे [७।१३-१४ में] स्पष्ट कहा है, कि 'यह सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक भावनाओं से अभिभूत होकर, त्रिगुण से अतिरिक्त–अपरिणामी मुझको नहीं

पहचानपाता। यह दिव्य गुणात्मक प्रकृति मेरी है, यह अत्यन्त दुरूह है। जो मुझे जान लेते हैं, वे इसके पार जापाते हैं'। यहां त्रिगुणात्मिका प्रकृति से परमात्मा को सर्वथा भिन्न बताया गया है, परमात्मा उसका नियन्ता है, स्वरूप नहीं।

इसीप्रकार का आशय आगे [८।१८-२०] भी स्पष्ट किया है। 'सर्गादिकाल में अव्यक्त से सम्पूर्ण व्यक्तजगत् प्रादुर्भूत होता है, प्रलयकाल आने पर उसी अव्यक्त में लीन होजाता है। इस जगत् का यही क्रम बराबर चलता रहता है। उस मूल उपादान अव्यक्त से उत्कृष्ट सनातन अव्यक्त एक अन्य सत्ता है, जो सब भूतों के विनष्ट होजाने पर भी अविनाशी बनी रहती है।' अगले श्लोक [८।२१] में उसी अव्यक्त को अक्षर अर्थात् अपरिणामी और परमगति बताया गया है।

चतुर्दश अध्याय के प्रारम्भ [श्लोक ३,४] में यह वर्णन है, कि इस सम्पूर्ण जगत् का मूल उपादान प्रकृति है, उसका प्रेरक अथवा नियन्ता परमात्मा है। यहां मूल-प्रकृति के लिये 'ब्रह्म' पद का निर्देश किया गया है और उसमें शक्ति अथवा प्रेरणा देने वाले परमात्मा का पृथक् उल्लेख है। सांख्यग्रन्थों में प्रकृति के पर्याय पदों में 'ब्रह्म' पद की गणना[1] की गई है। गीता के इस प्रसंग में आगे ब्रह्मापरपर्याय महद्योनि—मूल उपादान-कारण प्रकृति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। यहां महद्योनि का स्वरूप त्रिगुणात्मक बताया है। सत्त्व रजस् तमस् ही मूलप्रकृति हैं, जो अविनाशी आत्मा को शरीर बन्धन में डालते हैं। इसके आगे गीता में सत्त्व रजस् तमस् के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसके अनन्तर सत्रहवें और अठारहवें अध्यायों में पुनः विस्तारपूर्वक त्रैगुण्य का वर्णन किया गया है, जहां श्रद्धा आहार यज्ञ तप दान त्याग ज्ञान कर्म कर्त्ता बुद्धि धृति सुख आदि सब भावों को त्रिगुणात्मक बताया है। अन्त में उस प्रकरण का उपसंहार करते हुए गीता में लिखा है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥१८।४०॥

तीनों लोकों में कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, जो सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन प्रकृतिगुणों से छुटा हुआ हो। अभिप्राय यह है, कि अखिल ब्रह्माण्ड त्रिगुणात्मक है। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि गीता सम्पूर्ण जगत् को त्रिगुणात्मक प्रकृति का परिणाम मानती है। गीता के ये विचार, सांख्य के आधार पर समञ्जस कहे जासकते हैं।

**(३)—प्रकृति और उसके विकार—**

इतना ही नहीं, कि गीता में त्रिगुणात्मक प्रकृति को जगत् का मूल उपादान बताकर इस विषय की इतिश्री करदी हो, प्रत्युत प्रकृति के विकारों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। गीता के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार है। वहां प्रथम श्लोक में इन

१—तत्त्वसमाससूत्र व्याख्या—तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, सूत्र, १। 'सांख्यसंग्रह' नाम से चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस में मुद्रित। माठरवृत्ति, कारिका २२।

पदों का अर्थ बताया गया है—यह शरीर क्षेत्र है, और इसके जाननेवाला चेतनतत्त्व क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। प्रत्येक शरीर में एक ज्ञाता चेतनतत्त्व वर्तमान रहता है। एवं सम्पूर्ण शरीरों अर्थात् अखिल ब्रह्माण्डरूप शरीर में जो एक चेतनतत्त्व परमात्मा है, वह भी क्षेत्रज्ञ है। अभिप्राय यह है, कि इस पिण्ड के समान अखिल ब्रह्माण्ड को परमात्मा का शरीर कल्पना किया गया है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान अर्थात् जड़ और चेतन के वास्तविक भेद अथवा स्वरूप का साक्षात् ज्ञान ही आत्मा या परमात्मा का ज्ञान कहा जाता है। इसी अर्थ को गीता के इन प्रारम्भिक श्लोकों में स्पष्ट किया है। आगे तृतीय श्लोक में कहा है—वह क्षेत्र जो है, जिसप्रकार का है, उसके जो विकार हैं, तथा जो जहां से होता है, और वह जो कुछ है तथा उसका जो प्रभाव है, वह मुझ से संक्षेप से सुनो, अर्जुन के प्रति कृष्ण कह रहा है। ऋषियों ने उस क्षेत्र का विविध छन्दों के द्वारा पृथक् पृथक् वर्णन किया है, और हेतुयुक्त विनिश्चत ब्रह्मसूत्रपदों के द्वारा भी उसको [क्षेत्र को] कहा गया है।

उस क्षेत्र का स्वरूप है—महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, एकादश इन्द्रिय और पांच विषय [ तन्मात्र—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्दात्मक ]। यहां क्षेत्ररूप से प्रतिपादित तत्त्वों का निर्देश किसी विशेष क्रम के आधार पर नहीं किया गया है, प्रत्युत केवल श्लोक की रचना का ध्यान रखते हुए उन उन पदों का यथास्थान समावेश कर दिया गया है। यदि इन तत्त्वों का इनके उत्पति-क्रम के अनुसार निर्देश किया जाय, तो इसप्रकार होगा— अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार, एकादश इन्द्रिय तथा तन्मात्र और महाभूत। सत्त्वरजस्तमोमय मूलप्रकृति अव्यक्त पद से कही गई है। उसका विकार बुद्धि है, जिसका अपर नाम महत् है। उसके अनन्तर अहंकार, उससे ग्यारह इन्द्रियां और तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूत एवं तन्मात्रों से महाभूतों की उत्पति होती है। इच्छा द्वेष, सुख, दुःख, संघात [ अंगसमुदाय—शरीर ], वृत्त्यात्मक ज्ञान और धृति आदि सब भाव इन्हीं के विकार हैं। यह विकारसहित क्षेत्र का स्वरूप बताया गया [५,६]।

सांख्य में एकादश इन्द्रिय, अहंकार तथा बुद्धि को पारिभाषिक नाम 'करण' दिया गया है। इच्छा, द्वेष सुख, दुःख, ज्ञान, धृति आदि सम्पूर्ण भावात्मक विकार करणों के होते हैं। यहां अतिसंक्षेप में दो चार का नाम लिया गया है, अन्य जितने भावनात्मक विकार संभव होसकते हैं, सबका इसी में समावेश होजाता है। इसीप्रकार संघात अर्थात् अङ्गसमुदायभूत हमारा शरीर महाभूतों का विकार है। इसे अखिल ब्रह्माण्ड का उपलक्षण समझना चाहिये। इसका तात्पर्य यही है, कि सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् इन्हीं महाभूतों का विकार होने से इन्हीं में उन सबका समावेश होजाता है। इसप्रकार पूर्ण विकारों के सहित क्षेत्र का यह संक्षेप में निर्देश कर दिया गया है। क्षेत्र का यह वर्णन सांख्य के आधार पर सर्वथा समञ्जस कहा जासकता है।

इसके आगे त्रयोदश अध्याय के [७-११] श्लोकों में क्षेत्रज्ञ [परमात्मा] के

ज्ञान के साधनों का निरूपण है। इसके द्वारा भक्त जीव, परमात्म-ज्ञान के मार्ग पर अग्रसर होता है। १२-१७ श्लोकों में क्षेत्रज्ञ-परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है। वह अनादि परब्रह्म न दृश्यमान जगत् के समान सत् है और न इसकारण उसे असत् ही कहा जासकता है। अर्थात् परमात्मा का अस्तित्व जगत् के सदृश इन्द्रियगोचर नहीं है, और केवल इसप्रकार का अस्तित्व न होने के कारण हम उसे असत् नहीं कह सकते। तात्पर्य यह है, कि इन्द्रियगोचर न होने पर भी उसका अस्तित्व अवश्य है। जीवपुरुष के समान हम उसके एक विराट्स्वरूप की कल्पना करते हैं, उसमें हाथ पैर आंख सिर मुख आदि अवयवों का सर्वथा अभाव होने पर भी इन अंगों से युक्त उसके एक विशाल शरीर को खड़ा करते हैं, क्योंकि हम अपनी बाह्यदृष्टि से इसीप्रकार के पुरुष की कल्पना कर सकते हैं। वस्तुस्थिति यह है, कि वह इस क्षेत्र में असक्त रहता हुआ भी इसका भरण पोषण एवं धारण करता है, इसीलिये इसका भोक्ता भी उसे कह दिया जाता है, पर इन सब स्थितियों का उसपर कोई प्रभाव नहीं है। वह अन्दर बाहर चर अचर में सर्वत्र व्याप्त है। अतिसमीप होता हुआ भी वह हमसे दूर है, क्योंकि हम उसके स्वरूप को साधारणतया अपने बाह्य साधनों से पहचान नहीं पाते। इसप्रकार वह भूतमात्र का भर्त्ता व नियन्ता होने पर भी सबसे पृथक् है। वह चेतनों में सर्वश्रेष्ठ चेतन तथा प्रकृति से परे है। इसप्रकार परमात्म-क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का वर्णन करके १८वें श्लोक में प्रस्तुत प्रसंग का उपसंहार कर दिया गया है।

अनन्तर १९वें श्लोक में दो अनादि तत्त्वों का उल्लेख है, एक प्रकृति दूसरा पुरुष। गीता के इस श्लोक में सांसारिक सम्पूर्ण विकारों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ बताया है। पुरुष उससे सर्वथा भिन्न है। गीता में इस मन्तव्य को अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर स्पष्ट किया है। इसका विस्तृत वर्णन 'अव्यक्त प्रकृति से अव्यक्त परमात्मा भिन्न है' शीर्षक के नीचे किया गया है। इसलिये जिन विद्वानों का यह विचार है, कि गीता में परमात्मा को जगत् का मूल उपादान बताया गया है, वह युक्त नहीं कहा जासकता। वस्तुतः गीता इस विषय में सर्वथा सांख्य का अनुसरण करती है।

इसके आगे [ २०,२१ ] श्लोकों में जीव-क्षेत्रज्ञ का कथन किया गया है। यह जीव-पुरुष सुख दुःख आदि का भोक्ता है, सदसद् योनियों में इसका जन्म होते रहने का कारण सत्त्व रजस् तमस् गुणों के साथ इसकी आसक्ति का होना है। वह जिस देह के साथ प्रादुर्भूत होता है, उसमें द्रष्टा मन्ता भर्त्ता भोक्ता वही है। परन्तु और भी एक 'पर पुरुष' इस देह में है, जो परमात्मा कहा जाता है। वह केवल यहां इसीलिये है, क्योंकि वह सर्वत्र विद्यमान है। वह सब भूतों में समानरूप से स्थित रहता है। न वह सुख दुःख का भोक्ता है, न शुभ-अशुभ का कर्त्ता। वह प्रत्येक क्षण और प्रत्येक कण में परिपूर्ण है, इन तत्त्वों के स्थानान्तरित एवं रूपान्तरित होने पर भी वह समभाव में अवस्थित रहता है। परमात्मा को इस रूप में जानना ही वास्तविक जानना है। आकाश के समान सर्वत्र

व्याप्त परमात्मा है, जो सबका आधार है। सूर्य के समान एक जगह अवस्थित जीवात्मा है। जिसप्रकार सूर्य एक स्थान पर रहता हुआ अपने सम्पूर्ण मण्डल को प्रकाशित करता है, इसीप्रकार जीवात्मा देह में किसी एक स्थान पर अवस्थित हुआ सम्पूर्ण देह को चैतन्य युक्त बनाता है। फलतः क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विचार में प्रवृत्त गीता, प्रकृति और उसके विकारों को क्षेत्र, तथा जीवात्मा एवं परमात्मा को पृथक् कहती हुई क्षेत्रज्ञ बताती है। इसको और स्पष्ट करें, तो जड़ क्षेत्र तथा चेतन क्षेत्रज्ञ हैं, यह स्थिर होता है। इसप्रकार चेतन और अचेतनरूप दो तत्त्वों को पृथक् एवं स्वतन्त्र मानकर गीता ने स्पष्ट ही सांख्य का अनुसरण किया है।

**(४)—अव्यक्त प्रकृति से अव्यक्त परमात्मा भिन्न है—**

कहा जाता है, कि गीता में परमात्मा को जगत् का मूलकारण माना है। अभिप्राय यह है—सत्त्वरजस्तमोमय जड़ प्रकृति, परमात्मा से अतिरिक्त अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं रखती। ब्रह्म अथवा परमात्मा अपनी प्रेरणा या संकल्पमात्र से किसी अन्य मूल उपादान की अपेक्षा न रखते हुए इस जगत् को उत्पन्न कर देता है। इसप्रकार वह स्वयं इस जगत् का मूल उपादान है, और प्रेरक अर्थात् निमित्त भी। परन्तु गीता में इसप्रकार के सिद्धान्त का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है, प्रत्युत इसके सर्वथा विपरीत, परमात्मा से भिन्न प्रकृति के अस्तित्व को स्पष्ट स्वीकार किया गया है। इसप्रकार के कुछ स्थलों का निर्देश करना यहां उपयुक्त होगा।

सातवें अध्याय [ १२-१४ श्लोक ] में कृष्ण अर्जुन से कहता है—'जो भी सात्त्विक राजस और तामस भाव हैं, उनको मुझ [परमात्मा] से ही प्रवृत्त हुआ जानो, मैं उनके आश्रित नहीं, प्रत्युत वे मेरे आश्रित हैं। इन तीनों गुणों से मोहित हुआ यह सम्पूर्ण जगत् मुझ अविनाशी को इनसे पर अर्थात् भिन्न नहीं जानता। इस दिव्य गुणमयी प्रकृति का मैं नियन्त्रण करता हूं, इसके जाल से निकलना अतिकठिन है, जो मुझ [परमात्मा] को जान लेते हैं, वे इस जाल से पार पाजाते हैं।' इससे स्पष्ट है, गीता जगत् के मूल उपादान प्रकृति को परिणामी एवं त्रिगुणात्मक कहकर उससे भिन्न परमात्मा को अविनाशी तथा गुणातीत बतलाती है। जो त्रिगुणात्मक जगत् और परमात्मा को एक जानते हैं, उनको मूढ अर्थात् अज्ञानी कहा गया है।

आठवें अध्याय [श्लोक १८-२२] में इस अर्थ को पुनः स्पष्ट किया है। वहां लिखा है—'सर्गादिकाल में यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् अपने अव्यक्त मूलकारण से उत्पन्न होता है, और प्रलयकाल आनेपर उसी अव्यक्त नामक मूलकारण में लीन होजाता है। इसप्रकार यह सम्पूर्ण भूतसमूह पुनः पुनः उत्पन्न होकर अवश हुआ प्रलयकाल उपस्थित होने पर अपने कारण में लीन होजाता है, और सर्गकाल में प्रादुर्भूत होजाता है। परन्तु इस अव्यक्त से [ जिसमें यह भूतग्राम लीन होता, और जिससे उत्पन्न होता है] भिन्न एक और अपरिणामी उत्कृष्ट अव्यक्त है, जो सब भूतों के परिणत होते रहने पर भी

स्वयं अविनाशी बना रहता है। इसीलिये उस अव्यक्त को 'अक्षर' कहा गया है, वह परम-गति अर्थात् अन्तिम लक्ष्य है। उसको प्राप्त होकर पुरुष को कोई दुःख द्वन्द्व नहीं सताते, वही परमात्मा का स्थान है। वह परमात्मा [परः पुरुषः] अनन्यभक्ति से ही प्राप्त किया जासकता है। जिसमें ये सम्पूर्ण भूत आश्रित हैं, और जिसने इन सबको व्याप्त किया हुआ है।'

इस प्रसंग में सम्पूर्ण जगत् के मूलकारण अव्यक्त से उस अव्यक्त को सर्वथा भिन्न बतलाया गया है, जो इसका नियन्त्रण करता है। जगत् का मूलकारण अव्यक्त परिणामी है, परन्तु यह अपरिणामी एवं अविनाशी है। इसीलिये गीता में इसको 'अक्षर' कहा है, परन्तु दूसरा अव्यक्त जो जगत् का उपादान है 'क्षर' कहा गया है। अविनाशी अव्यक्त को गीता ने हमारे लिये 'परम गति' अर्थात् अन्तिम लक्ष्य बताया है, इसलिये जगत् के उपादान अव्यक्त को जानने के लिये हमें यत्न तो अवश्य करना चाहिये और उसके वास्तविक स्वरूप को जानना चाहिये, क्योंकि वह 'अक्षर' अव्यक्त को जानने के लिये एक सीढ़ी है, परन्तु वह हमारा अन्तिम लक्ष्य नहीं है। गीता के अनुसार यह इन दोनों में परस्पर अत्यन्त भेद है।

इसके अनन्तर तेरहवें अध्याय [श्लोक १९] में इन दोनों के भेद को औरभी स्पष्टरूप में बताया गया है। कृष्ण अर्जुन से कहता है—'प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही अनादि समझो, संसार में जितने त्रिगुणात्मक विकार हैं, वे सब प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानो।' इस श्लोक में 'पुरुष' पद चेतनसत्ता का संकेत करता है, और 'प्रकृति' अचेतन का। इन दोनों के अस्तित्व को गीता ने सर्वथा भिन्न बताया है, तथा यह स्पष्ट निर्देश किया है, कि यह त्रिगुणात्मक अखिल विश्व अचेतन प्रकृति का विकार है, चेतन पुरुष का नहीं।

इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए अध्याय [१३] के अन्त में लिखा है—'इस प्रकार ज्ञानचक्षु से जो व्यक्ति क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को जान लेते हैं, तथा जो जगत् के मूल उपादान प्रकृति और उससे छूटने के उपायों को जान पाते हैं, वे ही परमपद को प्राप्त होते हैं।' इस श्लोक में भी 'क्षेत्र'—अचेतन मूलप्रकृति, तथा क्षेत्रज्ञ—आत्मा [परमात्मा एवं जीवात्मा] के भेद का स्पष्ट उल्लेख किया है। गीता में और भी अनेक स्थलों पर ये भाव प्रकट किये गये हैं, यहां दिग्दर्शनमात्र कराया है। इसप्रकार जगद् के मूल उपादान अचेतन और उसके प्रेरक व नियन्ता चेतन, इन दो मूलभूत तत्त्वों को स्वीकार कर गीता में द्वैत की स्थापना स्पष्टरूप से की गई है। ये विचार दार्शनिक दृष्टि से सांख्य के आधार पर स्थिर किये जासकते हैं।

**(५)—परमात्मा और प्रकृति का सम्बन्ध—**

गीता के अनुसार परमात्मा जगत् का नियन्ता और प्रकृति जगत् का मूल उपादान है, इसका स्पष्टीकरण किया गया। इसी प्रसंग में यह स्पष्ट करना आवश्यक है, कि गीता

में परमात्मा और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध को किस रूप में स्वीकार किया गया है। इसपर प्रकाश डालने के लिये गीता के कुछ स्थलों का निर्देश करने से पूर्व यह लिख देना उपयुक्त होगा, कि कृष्ण ने अपनेआपको परमात्मा का प्रतिनिधि मानकर अनेक वचन गीता में कहे हैं। वहां कुछ उक्तियों में इतना एकभाव या मिश्रण होगया है, कि उनमें कृष्ण के वास्तविक जीवभाव और प्रातिनिधिक परमात्मभाव का विवेचन कठिन प्रतीत होता है। फिर भी विवेचक अपने ध्यान को वास्तविकता की ओर से न हटाये, तो इसके समझने में अधिक कष्ट न होगा। ऐसा एक प्रसंग चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में आता है। अर्जुन सन्देहपूर्ण भाषा में कृष्ण से प्रश्न करता है–'आपका जन्म तो अभी हुआ है और विवस्वान् बहुत पहले होचुका है; तब मैं यह कैसे समझूं, कि विवस्वान् को आपने इस कर्मयोग का उपदेश दिया था ?' कृष्ण उत्तर देता है–मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म होचुके हैं, मैं उन सबको जानता हूं, पर तुम नहीं जानते।'

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में कृष्ण ने अर्जुन के समान अपने-आपको भी जीवभाव का लक्ष्य करके ऐसा कहा है। उत्तरार्ध में अपने योगीभाव को स्पष्ट किया है। अर्जुन योगी न होने के कारण अपने पूर्वजन्मों के सम्बन्ध में साक्षात् कुछ नहीं जानता था, परन्तु महायोगी कृष्ण को उनका ज्ञान था।

इससे अगले छठे श्लोक में प्रातिनिधिक परमात्मभाव से कृष्ण कहता है–'मैं कभी उत्पन्न नहीं होता, मेरा स्वरूप अव्यय है, इसके नाश या क्षय होने का भी कोई अवकाश नहीं। मैं सब भूतों का विश्वब्रह्माण्ड का नियन्ता हूं। अपनी प्रकृति का अधिष्ठाता होकर अपनी प्रेरणाशक्ति द्वारा प्रकट होता हूं।' इस श्लोक की भावना में थोड़ा गहराई से पैठकर देखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है, कि कृष्ण यहां जीवात्मभाव से ऊपर उठकर कुछ कह गया है। वैसे तो जीवात्मा भी अजन्मा और अविनाशी है, परन्तु वह विश्व का अधीश्वर या नियन्ता नहीं है। उसके साथ 'उत्पत्ति' पद का प्रयोग उसके अधिष्ठान देह के कारण होता है। परमात्मा प्रकृति का अधिष्ठाता है, और इसीलिये उसके सम्पूर्ण विकार–अखिल ब्रह्माण्ड का भी। वह आत्ममाया [अपनी प्रेरणाशक्ति] के द्वारा प्रकट होता है। अभिप्राय यह है, कि उसका नियन्ता व प्रेरक और कोई नहीं है, वही सबका नियन्ता व प्रेरक है। जड़ प्रकृति में प्रेरणा द्वारा क्षोभ उत्पन्न कर वह इस जगत् की रचना करता है, इसी से वह प्रकाश में आता है, वह अनादि अनन्तकाल तक इसपर नियन्त्रण करता है, इसी रूप में हम उसे जान पाते हैं। यही उसका प्रकट होना है, वैसे वह जगत् के समान कभी व्यक्तरूप में नहीं आता। परन्तु जीवात्मा में यह बात नहीं है। वह आत्ममाया [अपनी प्रेरणा] से देहरूप अधिष्ठान में अधिष्ठित होता हो, ऐसी बात नहीं है। वह स्वकृतकर्म तथा अविवेक आदि के वशीभूत होकर देहादि सम्पर्क में आता है। गीता की इस उक्ति के आधार पर परमात्मा प्रकृति का अधिष्ठाता है, यह विचार स्थिर होता है। सांख्य का यह परमसिद्धान्त है, कि चेतन अधिठाता के

विना प्रकृति में किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं होती[1]। प्रकृति से जगत् का सृजन और उसमें लय चेतन की प्रेरणा व नियमन से संभव होसकता है। इसप्रकार गीता इस दिशा में सांख्यविचारों का पूर्ण अनुसरण करती है।

सातवें अध्याय के प्रारम्भ में पुनः इसी अर्थ का संकेत गीता में उपलब्ध होता है। अपरा और परा प्रकृति का उल्लेख करके [श्लोक ६ में] कहा है—'सम्पूर्ण भूतों के योनि-उपादान-मूलकारण ये हैं, यह निश्चित जानो। मैं [परमात्मा] सम्पूर्ण जगत् का उत्पादन और प्रलय करने वाला हूं।' इस प्रसंग में अपरा प्रकृति से मूलप्रकृति और उसके विकार सात प्रकृति-विकृति की गणना की गई है। परा प्रकृति में जीव का ग्रहण किया गया है। जीव को परा प्रकृति किस आधार पर कहा गया है, इसका कुछ स्पष्टीकरण हम सख्या दो पर कर आये हैं। उसके साथ एक और विशेषता यह है, कि प्रकृति के आधिभौतिक विकारों के अतिरिक्त भावात्मक विकार भी देखे जाते हैं। इन भावरूप विकारों में इच्छा-औदासीन्य, राग-द्वेष, सुख-दु.ख, धृति, ज्ञान आदि का समावेश होता है। इन विकारों का उत्पादन जीवात्मा की विशेष स्थिति अथवा सम्पर्क के विना असम्भव है, इसलिये भी जगत्सर्ग के मूल उपादान अपरा प्रकृति के साथ जीवात्मा का परा प्रकृति के रूप में उल्लेख किया गया है। इसमें संदेह नहीं किया जासकता, कि जीवात्मा को यहां औपचारिक रूप में 'योनि' कहा है। परमात्मा जगत् का उत्पादक और प्रलयकर्त्ता है। वह स्वयं जगत्-रूप में कभी परिणत नहीं होता, जगत् के उत्पादन और प्रलय आदि का नियन्तामात्र है। गीता के ऐसे प्रसंगों में प्रकृति को 'मे प्रकृतिः' अथवा 'मम प्रकृतिः' अर्थात् मेरी प्रकृति बताया गया है। इस कथन से प्रकृति और परमात्मा का स्वस्वामिभावसम्बन्ध स्पष्ट होता है। फलतः प्रकृति नियम्य और परमात्मा उसका नियन्ता है।

दसवें अध्याय के आठवें श्लोक में पुनः यह कहा है, कि 'मैं सब का उत्पादक और प्रेरक हूं। विद्वान् समाधियुक्त होकर मेरे इसी स्वरूप की उपासना करते हैं।' यही परमात्मा का वास्तविक और उपास्यरूप है। आगे गीता बताती है, कि इसी रूप की उपासना से परमात्मा प्रकाशित होजाता है, और हमारे अज्ञानजन्य अन्धकार का नाश होजाता है। इन सब वर्णनों से स्पष्ट होता है, कि गीता के अनुसार परमात्मा प्रकृति का स्वामी है, प्रेरक है, नियन्ता है, वह स्वयं प्रकृतिरूप नहीं है। परमात्मा और प्रकृति का परस्पर यही सम्बन्ध कहा जासकता है। सांख्य में परमात्मा की इसी स्थिति को स्वीकार किया गया है[2]।

---

१—देखें—सांख्यसूत्र, १।६१ [यह सूत्रसंख्या हमारे सम्पादित ग्रन्थ की है। अन्य संस्करणों में ३५ जोड़कर देखें], तथा ३।५६—५७॥

२—तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् सां० सू० १।९६॥ सां० सप्तति १७ आर्या पर माठर एवं गौडपाद ने लिखा है—अपि चोक्तं षष्टितन्त्रे—'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते इति। यह पंचशिखसंदर्भ है। एक संदर्भ—महदादिविशेषान्त''' ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नः।' देखें—सांख्यदर्शन का इतिहास, पृष्ठ ४८०।

(६)—परमात्मा का स्वयं व्यक्तरूप में न आना—

इस विचार को प्रसंगवश पहले प्रकट किया जाचुका हैं, कि अव्यक्त परमात्मा व्यक्तरूप में नहीं आता। परन्तु गीता में इसका साक्षात् निर्देश भी उपलब्ध होता है। कभी-कभी ऐसा विचार उपस्थित किया जाता है, कि परमात्मा या ब्रह्म स्वयं जगत् के रूप में या व्यक्ति के रूप में प्रकट होता है। सांख्यसिद्धान्तों के अनुसार यह विचार सर्वथा असंगत है, और गीता में भी ऐसे विचारों का विरोध किया गया है। इसका कारण यही है, कि गीता में परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को जैसा उपस्थित किया है—वह सब जगत् का अधिष्ठाता है, स्वामी है, नियन्ता है, गति है, भर्त्ता है, प्रभु है, साक्षी है, आश्रय है, सुहृद् है—इत्यादि, यह सब परमात्मा के स्वयं जगत्‌रूप में या व्यक्ति के रूप में प्रकट या व्यक्त होने पर संगत न होगा। ऐसी स्थिति में गीता अकारण दो विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली होगी, और तब इसकी दशा एक प्रलापमात्र कही जायगी। इसलिये गीता में अव्यक्त परमात्मा के व्यक्तरूप में न आने का साक्षात् प्रतिपादन किया गया है।

सातवें अध्याय के २४वें श्लोक में कहा है—'बुद्धिहीन पुरुष अव्यक्त मुझको व्यक्त अवस्था में आया हुआ समझते हैं। ऐसे व्यक्ति मेरे अतिश्रेष्ठ उत्कृष्ट अव्ययस्वरूप को नहीं जानते।' गीता में कृष्ण की यह उक्ति परमात्मा के प्रतिनिधिरूप में कही गई है। अभिप्राय यह है, कि परमात्मा के अव्यक्त अव्ययरूप को व्यक्तरूप में आया हुआ समझना बुद्धिपूर्ण नहीं कहा जासकता। यहां यह शंका होसकती है, कि जीवात्मा भी अव्यय है, तथा इन्द्रियगोचर न होने से अव्यक्त कहा जासकता है। स्वरूप से वह अव्यक्त ही है, क्योंकि वह अपनी एक अवस्था को छोड़कर किसी ऐसी दूसरी स्थिति में नहीं आता, जहां उसे व्यक्त कहा जासके। यदि देह में आनेमात्र से जीवात्मा को व्यक्त कहा जाये, तो परमात्मा भी व्यक्त क्यों नहीं? क्योंकि विश्व ब्रह्माण्ड को उसकी देह कल्पना करके उसका भी पिण्ड के समान वर्णन किया जाता है। ऐसी स्थिति में गीता के परमात्मा सम्बन्धी उक्त वर्णन में कोई विशेषता नहीं रहजाती, और उसके व्यक्त अवस्था में न आने का वर्णन कोई महत्त्व नहीं रखता।

यदि हम परमात्मा और जीवात्मा के देहसम्बन्धी वर्णनों को ध्यान से देखें, और उनके देहसम्बन्ध का विवेचन करें, तो इनके महान भेद को स्पष्ट समझ सकते हैं। जीवात्मा के देहसम्बन्ध में उसके कृतकर्म कारण होते हैं। वह अविवेक से देह में अहंभावना रखता है। फिर देह के साथ रहकर वह सुख दुःख आदि भोगों को भोगता है। ये सब बातें प्रकृतिरूप देह के सम्बन्ध से परमात्मा में संभव नहीं। वस्तुतः शास्त्रकारों ने एक अर्थ को अपनी अनुभूयमान रीति पर समझाने के लिये परमात्मा के उक्तरूप देह की कल्पना की है, उसमें अंगों और इन्द्रियों की इसीतरह कल्पना कर ली गई है। इसप्रकार विशेषरूप में देह के साथ प्रकट होने के कारण जीवात्मा को व्यक्त कहे जाने में

कोई असामंजस्य नहीं है। गीता का यही अभिप्राय है, कि इस कोटि में परमात्मा को नहीं रखा जासकता।

इसी आशय को अगले श्लोक में पुनः स्पष्ट किया है। परमात्मा के अव्यक्त अव्यय स्वरूप को लोग क्यों नहीं जान पाते, इसका कारण सातवें अध्याय के २५वें श्लोक में बतलाया है। वहां लिखा है–मैं किसी से नहीं जाना जाता, क्योंकि मेरे तथा जिज्ञासुओं के बीच में योगमाया का व्यवधान है। इसीलिये मूढ पुरुष मेरे अज अव्यय स्वरूप को नहीं जान पाते।' यहां 'योगमाया' शब्द कार्यरूप में परिणत प्रकृति के लिये प्रयुक्त किया गया है। गीता में केवल 'माया' पद कारणरूप मूलप्रकृति के लिये अनेक स्थलों में प्रयुक्त हुआ है। वह सत्त्व रजस् तमस् की साम्यावस्था है, जिसमें ये तीनों गुण अपने विशुद्धरूप में अवस्थित रहते हैं। जब प्रकृति कार्यरूप में परिणत होने लगती है, तब इन गुणों का परस्पर विषम अवस्था में सम्पर्क होता है। ऐसा सम्पर्क अथवा योग प्रकृति की कार्यरूप अवस्था को प्रकट करता है। इसप्रकार 'योगमाया' प्रकृति का परिणाम यह चराचर विश्व है। जीवपुरुष के लिये परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानने में यह एक व्यवधान है। यद्यपि परमात्मा के साक्षात्कार के लिये साधन भी यही है, क्योंकि जीव के लिये जगत् की यह स्थिति भोग और अपवर्ग दोनों को सिद्ध करनेवाली है। परन्तु अपवर्ग की सिद्धि उसी समय होती है, जब जीवपुरुष इसके लिये विशेषरूप से प्रयत्नशील होता है। अन्यथा वह प्रकृति के इस विचित्र संमोहनरूप में आसक्त होकर परमात्मपथ की ओर से उपेक्षा ही रखता है। क्योंकि इन कार्यों के सम्पादनार्थ उसके पास जो साधन [इन्द्रियादि] हैं, वे सब इसको प्रकृति की ओर आकृष्ट करते हैं। प्राकृतिक होने के कारण उनका ऐसा स्वभाव है। परमात्म-मार्ग पर जाने के लिये उनको विशेषरूप से सधाना पड़ता है। इसीलिये साधारण अवस्था में 'योगमाया' को परमात्म-ज्ञान के लिये व्यवधान माना गया है। गीता कहती है, योगमाया से मोहित जन परमात्मा को अपने जैसा समझ लेते हैं, वे उसके अज और अव्यय स्वरूप को नहीं जानपाते। वह [परमात्मा] माया अर्थात् प्रकृति के बन्धन में कभी नहीं आता।

यही अभिप्राय नवम अध्याय के ११वें श्लोक में प्रकारान्तर से स्पष्ट किया गया है। वहां लिखा है–'जो मूढ़ पुरुष ऐसा समझते हैं, कि परमात्मा मनुष्यशरीर को प्राप्त करता है, वे उसका एक प्रकार से तिरस्कार करते हैं, उसकी सर्वोत्कृष्ट सत्ता और उसके चराचर विश्व के नियन्तारूप को नहीं जानते।' इसप्रकार गीता में परमात्मा के वास्तविक अव्यक्तस्वरूप का अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट होता है, कि गीता के विचार से परमात्मा स्वयं जगद्रूप में कभी परिणत नहीं होता, वह तो प्रकृति का अध्यक्ष व प्रेरक रहता हुआ इस विश्व का उत्पादक है।

**(७)—आत्मा-परमात्मा का भेद—**

यह एक विचार है, कि आत्मा [जीव-पुरुष] का आस्तत्व परमात्मा से प्रति-

रिक्त कुछ नहीं। साक्षात् परमात्मा स्वयं आत्मरूप में उपलब्ध होता है। यद्यपि पिछली पंक्तियों से–जहां यह प्रकट किया गया है, कि आत्मा कर्मबन्धन में आता तथा देहादि धारण कर सांसारिक भोगों को भोगता है, और परमात्मा इन सब स्थितियों से परे है–यह ध्वनित होजाता है, कि इन दोनों का परस्पर भेद आवश्यक है; तथापि गीता इस विषय का स्पष्ट शब्दों में भी प्रतिपादन करती है। एक भावना आदि से अन्त तक गीता में समानरूप से उपलब्ध होती है, कि अविवेकी आत्मा विभिन्न उपायों द्वारा ज्ञानस्वरूप त्रिगुणातीत ब्रह्म [परमात्मा] की स्थिति को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील है। इसमें पहले का प्रतीक अर्जुन और दूसरे का कृष्ण निर्दिष्ट किया गया है। इस आधार पर जितने गीता में वर्णन हैं, सब आत्मा और परमात्मा के स्पष्ट भेद का निर्देश करते हैं।

गीता के द्वितीय अध्याय का वर्णन जीवात्मा की विवेक और अविवेकरूप दोनों अवस्थाओं को स्पष्ट करता है। अध्याय के अन्त में लिखा है, कि संसारी जीवों की साधारण अवस्था से बाहर निकलकर विवेक के द्वारा जो पुरुष अध्यात्म जगत् में जागरणशील होता है, स्पृहारहित हो सब कामनाओं को एवं अहंकार ममता को छोड़ देता है, वही स्थितप्रज्ञ होकर शान्ति को प्राप्त करता है। यह शान्त अवस्था ऐसी है, जिसकी ब्रह्मसम्बन्धी स्थिति से तुलना की जासकती है। इस अवस्था को प्राप्त होकर जीव पुरुष अविवेकी नहीं रहता, प्रकृति-बन्धन से छूट जाता है, और ब्रह्म के समान निश्चल शान्त स्थिति को प्राप्त होजाता है।

तीसरे अध्याय में जीव के लिये पुनः फलाशारहित होकर कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करते रहने का उपदेश दिया गया है। यह सब जीव के लिये है, जो इसका परमात्मा से भिन्न होना स्पष्ट करता है। उसकी स्थिति को प्राप्त करना जीव का परमलक्ष्य बताया गया है। फिर यह स्पष्ट लिखा है, जो पुरुष जिस प्रकार के कर्म करता हुआ मेरे सन्मुख उपस्थित होता है, मैं उसके अनुसार ही उसके साथ बर्ताव करता हूं। कर्मानुष्ठान के द्वारा पुरुष संसार में सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इसीलिये चातुर्वर्ण्य की रचना कीगई है। प्रत्येक व्यक्ति देह को प्राप्त होकर अपने कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करता है, और उसके अनुसार फलों को भोगता है। यद्यपि परमात्मा सर्वान्तर्यामी होकर उन सब देहों में व्याप्त रहता है, पर उन कार्यों का उसपर कोई प्रभाव नहीं होता, न कर्मफलों में उसे आकर्षण, यह परमात्मा का वास्तविकस्वरूप है। जो इसको जानकर वैसा आचरण करता है, वह भी इसीप्रकार की कर्मबन्धनरहित अवस्था को प्राप्त होजाता है। ये वर्णन जीवात्मा परमात्मा के भेद को स्पष्ट करते हैं। आगे फिर [३१] यज्ञानुष्ठान के द्वारा नित्य ब्रह्म की प्राप्ति का निर्देश किया गया है। पुनः [३४-३९] आत्मज्ञान के द्वारा पुरुष को परम शान्ति के लाभ का उल्लेख है।

पञ्चम अध्याय [१७-२०] में उल्लेख है–'जिनकी बुद्धि ब्रह्म में हैं, जो उसी-प्रकार के शान्तस्वरूप को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हैं, जिनकी परमात्मा में पूर्ण

आस्था है, और जो उसी के ध्यान में लगे रहते हैं, ऐसे पुरुष आत्म-साक्षात् होजाने पर सांसारिक दोषों से दूर होकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं। जिनका मन साम्य में स्थित होचुका है, उन्होंने इसी जन्म में संसार को जीत लिया, क्योंकि सब दोषों से रहित ब्रह्म 'सम' है, इसलिये यही समझना चाहिये, कि जो पुरुष साम्य में स्थित है, वह ब्रह्म में स्थित है। जो प्रिय अप्रिय आदि द्वन्द्वों के प्रभाव से ऊपर उठ चुका है, स्थिरबुद्धि और विवेकी है, उसने ब्रह्म को जान लिया है, उसे ब्रह्म में स्थित समझना चाहिये।' अध्याय की समाप्ति तक इसीप्रकार वे और भी वर्णन हैं। जितेन्द्रिय आत्मज्ञानी ऋषि दोषों से रहित होकर सब प्राणियों के कल्याण में लगे हुए अन्त समय ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं [२५]। इन वर्णनों से जीवपुरुष और परमात्मा की भिन्न स्थिति का स्पष्ट निर्देश होजाता है।

सप्तम अध्याय में फिर इन्हीं भावनाओं को स्पष्ट किया गया है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहता है—'अब मैं तुम्हें विज्ञानसहित ज्ञान का सम्पूर्ण कथन करूंगा, जिसको जानकर यहां तुम्हें और कुछ ज्ञातव्य शेष न रह जायगा। सहस्रों मनुष्यों में कोई बिरला सिद्धि के लिये यत्न करता है, यत्न करनेवाले सिद्धों में भी कोई-कोई यथार्थरूप से परमात्मा को जान पाता है।' इसके अनन्तर गीता [४-७] में प्रकृति, पुरुष [जीव पुरुष] और परमात्मा का स्पष्टरूप से पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। वहां लिखा है—प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पांच सूक्ष्मभूत [पञ्चतन्मात्र] ये आठ प्रकार की प्रकृति हैं।' सांख्यविचारों के अनुसार इनमें एक मूलप्रकृति और शेष सात प्रकृति-विकृति हैं। इन सबका यहां केवल प्रकृति पद से निर्देश कर दिया गया है, क्योंकि मूलप्रकृति के इन विकारों में तत्त्वोत्पादकतारूप विशेषता बनी रहती है। अभिप्राय यह है, कि मूलरूप से तत्त्वों का उत्पादन प्रकृति से होता है, परन्तु प्रकृति के कुछ विकार आगे भी तत्त्वान्तर के उत्पादन का सामर्थ्य रखते हैं, और यह स्थिति इन सातों में समाप्त होजाती है, इसलिये विकार होते हुए इनको प्रकृति पद से भी कहा जाता है। आठ प्रकार की प्रकृति का कथन करने के अनन्तर गीता में जीवपुरुष के पृथक् अस्तित्व का निर्देश किया गया है, जो अपने व्यवहार और क्रिया से इस जगत् का आधार कहा जाना चाहिये। प्रकृति का यह [बुद्धि आदि] साक्षात् परिणाम है तथा जीव के भोग एवं मोक्षादिप्राप्ति के लिये यह सर्ग है। इसलिये गीता में इन दोनों को जगद्रचना का मूल कहा गया है। पर यह निश्चय समझे रहना चाहिये, कि प्रकृति ही जगत् का वास्तविक मूल है, फिर भी जीव के विना यह अव्यवहार्य होने के कारण उसका इस रूप में वर्णन औपचारिक ही हुआ है। इन दोनों से अतिरिक्त परमात्मा है, जो जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय का कर्त्ता है। उससे पर उत्कृष्ट और कोई तत्त्व नहीं है। वह सबमें अन्तर्यामी होकर व्याप्त हो रहा है।

अष्टम अध्याय में क्षर अक्षर का विचार किया गया है। इनमें सम्पूर्ण जड़ जगत् क्षर है और चेतन तत्त्व को अक्षर बताया है। यह अक्षर-चेतन दो प्रकार का कहा

है–एक उपास्य और दूसरा उपासक। उपासक जीव-पुरुष है, और उपास्य परमात्मा। गीता के इस प्रसग में पुरुष को अधिदैवत और परमात्मा को अधियज्ञ कहा गया हैं। यह संपूर्ण जगत् पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिये होता है। इसलिये पुरुष यहां देवता के समान अवस्थित है, और इसका परम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति रहता है, इसलिये उसको अधियज्ञ कहा गया है, क्योंकि पुरुष इसी की उपासना या पूजा करता है, और अन्त में उससे जाकर मिल जाता है। इस अध्याय में विस्तारपूर्वक आगे उन उपासनाओं का प्रकार बतलाया है, जिनके सतत अभ्यास के द्वारा पुरुष अपने परमलक्ष्य को प्राप्त करता है। यही वर्णन नवम दशम अध्यायों में बराबर किया गया है। इससे जीवात्मा और परमात्मा का पृथक् अस्तित्त्व स्पष्ट होजाता है।

पन्द्रहवें अध्याय में इनके भेद का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। वहां [१६–१८ श्लोक में] लिखा है–'इस संसार में क्षर और अक्षर अर्थात् नाशवान्–परिणामी तथा अविनाशी–अविकारी दो प्रकार के पुरुष हैं। सम्पूर्ण भूत अर्थात् अखिल प्राकृतिक जगत् क्षर और अविकारी जीवात्मा अक्षर कहाता है। उत्तम पुरुष अन्य है, जिसको परमात्मा कहते हैं। वह तीनों लोकों [भूत भविष्यत् वर्तमान] में प्रविष्ट होकर सबका पालन पोषण करता है, वह अविनाशी ईश्वर है। वह क्षर [प्रकृति एवं प्राकृतिक जगत्] और अक्षर [जीवात्मा] दोनों से उत्तम है। इसलिये लोक तथा वेद में सर्वत्र उसको पुरुषोत्तम कहा जाता हैं।' इसप्रकार गीता में स्पष्टरूप से जीवात्मा और परमात्मा के अस्तित्व को पृथक्-पृथक् माना गया है।

गीता का उपसंहार करते हुए अठारहवें अध्याय [श्लोक ६१–६२] में पुनः इस अर्थ को स्पष्ट किया है। कृष्ण अर्जुन से कहता है–'हे अर्जुन ! सब प्राणियों के हृदयदेश में ईश्वर निवास करता है। वही अपनी प्रेरणा-शक्ति से इस अखिल चराचर जगत् का संचालन करता है। सर्वात्मना उसी की शरण में जाओ, उसी की कृपा से तुम परम शान्ति का निरन्तर लाभ करोगे।' यहां कृष्ण स्वयं अपने से भिन्न एक सर्वान्तर्यामी ईश्वर के अस्तित्त्व का स्पष्ट निर्देश कर रहा है।

इस प्रसंग में यह कहा जासकता है, कि सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता, तब आत्मा से उसके भेद का वर्णन सांख्यानुसारी बताना निरर्थक होगा। यद्यपि इसका विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के 'पुरुष' नामक प्रकरण में किया गया है, परन्तु यहां इतना संकेत कर देना आवश्यक है, कि सांख्य का मूल प्रवर्त्तक कपिल पूर्ण ईश्वरवादी था। कपिलमतानुयायी आचार्यों में एक वार्षगण्य ऐसा प्रथम आचार्य है, जिसने इस प्रक्रिया में से ईश्वर को धक्का दे दिया है। अन्य जिन सांख्याचार्यों के जो थोड़े बहुत सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, उनमें सांख्य विचारधारा के अनुसार ईश्वर के अस्तित्त्व का संकेत स्पष्टरूप में मिलता है। कपिल के प्रशिष्य पञ्चशिख के सन्दर्भों में यह स्वीकार किया गया है, कि चेतन अधिष्ठाता के बिना प्रकृति में कोई प्रवृत्ति नहीं हो

सकती[1]। गीता के दशम अध्याय के [१२-१३] श्लोकों से स्पष्ट होता है, असित देवल आचार्य ने परब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है। देवल प्रसिद्ध सांख्याचार्य हो चुका है, उसके उपलब्ध सन्दर्भों में इसका निर्देश मिलता है, कि वह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा का अस्तित्व मानता था। उसने यतिधर्मों का प्रतिपादन करते हुए यति को 'ब्रह्मवादी' होना माना[2] है। इसप्रकार कपिल तथा उसकी शिष्यपरम्परा के प्रवचनों में ईश्वर के पृथक् अस्तित्व का निर्देश बराबर मिलता है। सांख्य में आपाततः ईश्वर निषेधपरक प्रतीयमान संकेत जगत के उपादानभूत ईश्वर का निषेध करते हैं, साक्षी अथवा अधिष्ठाता ईश्वर का नहीं।

**(८)—आत्मा के बन्धन का कारण-गुणयोग—**

सांख्य में आत्मा का स्वरूप नित्यशुद्ध, नित्यचेतन तथा नित्यमुक्त माना गया है। इसका अभिप्राय यही है, कि आत्मा किसी भी अवस्था में अपने वास्तविक स्वरूप से परिवर्तित नहीं होता। वह देह के साथ सम्बद्ध है अथवा नहीं; फिर किसी भी योनि के देह से सम्बन्ध हो, चाहे वह दुःख का अनुभव करता हो या सुख का, विद्वान् की स्थिति में हो या मूढ़ की, आत्मा का जो अपना वास्तविकरूप है, उसमें तिलमात्र भी अन्तर नहीं आता, वह एक सर्वथा अपरिवर्तनशील चेतनतत्त्व है। बाह्य जगत् में उसके साथ जितनी विविधता दृष्टिगोचर होती है, वह उसके बाह्य आवरण तथा साधनों के कारण है। यह नित्यचेतन और अपरिवर्तनशील आत्मतत्त्व इस विविधता के अनिश आवर्त्तमान चक्र में किस तरह आफंसता है, इसका गंभीर व स्पष्ट विवेचन सांख्य में किया गया है। वहां निश्चय किया है, कि प्रकृति के साथ इसका संयोग इसको इस चक्र में ला फंसाता है[3]। इन दोनों के संयोग के कारणों का भी सांख्य में विवेचन किया है, परन्तु यहां केवल आत्मा के बन्ध के कारण–प्रकृतियोग का विचार करना है। अभिप्राय यह है, कि आत्मा के बन्ध का कारण 'प्रकृतियोग' है, यह सांख्य का मत है। गीता में इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। वहां से कुछ निर्देश उपस्थित किये जाते हैं।

त्रयोदश अध्याय के २१वें श्लोक में लिखा है–'प्रकृति के साथ संपर्क में आया हुआ पुरुष, प्रकृतिजन्य गुणों का उपभोग करता है। शुभ अशुभ योनियों में इसके जन्म लेने का कारण 'गुणसङ्ग' है।' गुणों के साथ संग अर्थात् सम्पर्क या योग होना, गीता में पुरुष के बन्ध का कारण बताया गया है। सत्त्व रजस् तमस् तीन गुण हैं, जो प्रकृति का रूप हैं। जिस अर्थ को सांख्य में 'प्रकृतियोग' पद से कहा गया है, उसी अर्थ को प्रकट करने के लिये गीता में यहां 'गुणसंग' पद का प्रयोग किया है। अन्यत्र गीता में इसी

१—देखें–'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ ४७६ पर पञ्चशिख के उद्धृत सन्दर्भों में संख्या ३ तथा १४ के सन्दर्भ।

२—देखें–'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृ० ५०२।

३—देखें–सांख्यषडध्यायीसूत्र, १।१६॥

अर्थ को 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोग' पद से भी प्रकट किया है। इस अध्याय के २६वें श्लोक में कहा है–'जो कुछ स्थावर और जंगम पदार्थ उत्पन्न होता है, वह सब क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के संयोग से समझना चाहिये।' क्षेत्र-जड़ प्रकृति तथा क्षेत्रज्ञ चेतन पुरुष है, यह स्पष्ट है। इन दोनों का संयोग स्थावर जंगम जीवसृष्टि का कारण है। इसप्रकार संसार में चेतन पुरुष के इस रूप में आने का कारण 'प्रकृति-योग' गीता को अभिमत है।

इसके अतिरिक्त गीता के १४वें अध्याय के पांचवें श्लोक में कहा है–'हे महाबाहो। सत्त्व रजस् और तमस् ये प्रकृतिरूप गुण, अपरिणामी आत्मा को देह में बांधते हैं।' आगे के श्लोकों में इसी अर्थ का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है। इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए २०वें श्लोक में बताया है–'देहरूप में प्रकट इन तीन गुणों को अतिक्रमणकर आत्मा, जन्म मरण बुढ़ापा आदि दुःखों से छूट जाता है और मोक्ष को प्राप्त करता है।' इससे स्पष्ट होता है, गुणरूप प्रकृति के संपर्क में न रहना मोक्ष और संपर्क में रहना आत्मा का बन्धन है। १५वें अध्याय के १० वें श्लोक में पुनः कहा–'एक देह को छोड़कर देहान्तर में जाते हुए अथवा उसी देह में रहते हुए और भोगों को भोगते हुए आत्मा को सत्त्व रजस् तमस् गुणों से अन्वित ही समझना चाहिये। पर अज्ञानी इस स्थिति को नहीं पहचानते ज्ञानी जानते हैं।' इससे आत्मा के बन्धन का कारण–गुणों के साथ संपर्क अर्थात् प्रकृतियोग–स्पष्ट होता है। गीता का यह अभिमत सर्वथा सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार है।

**(६)—आत्मा के कर्त्तृत्व का स्वरूप—**

वर्तमान तथाकथित सांख्यविचारों के अनुसार यह वर्णन किया जाता है, कि पुरुष [जीवपुरुष] कर्त्ता नहीं, वह अकर्त्ता है। इस विचार की पुष्टि के लिये गीता के प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं। वहां लिखा है–'प्रकृति के गुणों से सब कर्म किये जाते रहते हैं, अहंकार से मोहित हुआ पुरुष–मैं कर्त्ता हूं–ऐसा मान बैठता है' [३।२७]। इससे स्पष्ट होता है, कि प्रकृति सब क्रियाओं की करनेवाली है, पुरुष तो शुद्ध निर्लेप है, वह प्राकृतिक प्रभावों के कारण अपनेआपको कर्त्ता मान लेता है। परन्तु गीता के अनेक स्थलों में आत्मा [चेतनतत्त्व] को कर्त्ता बताया गया है। इसप्रकार के वर्णनों की परस्पर तुलना करने पर जो परिणाम सन्मुख आता है, उसके अनुसार गीता आत्मा के कर्त्तृत्व का कैसा स्वरूप उपस्थित करती है, यह स्पष्ट करना इस लेख का विशेष प्रयोजन है।

साधारणरूप से कर्त्ता उसी को समझा जाता है, जो क्रिया का करने वाला हो। परन्तु इतना कहने से अर्थ पूरा स्पष्ट नहीं होपाता। लेखनी हाथ में है, और यह कागज पर विशेष आकृतियां बनाती जा रही है। लेखनी को हाथ ने या हाथ की अंगुलियों ने पकड़ा हुआ है, परन्तु हम कहते यही हैं–देवदत्त ने लेखनी पकड़ी है। कागजपर विशेष आकृतियां लेखनी बनाती है, परन्तु बोला जाता है–देवदत्त लिख रहा है। यह

देवदत्त क्या बला है ? क्या हाथ पैर सिर आदि अंगों या चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों अथवा सम्पूर्ण देह का नाम देवदत्त है ? नहीं। एक अवस्था [मूर्च्छा आदि की] ऐसी होती है, जिसमें देहादि के रहते भी देवदत्त कुछ कर नहीं सकता। तब माना गया, कि इसमें एक चेतनतत्त्व और रहता है, जब उसका इन्द्रियादि के साथ सम्पर्क स्थापित होता है, तभी सब क्रिया होपाती हैं। तो क्या उस चेतनतत्त्व का नाम देवदत्त है ? नहीं। केवल चेतनतत्त्व स्थूल देहादि की अनुपस्थिति में कुछ भी सांसारिक व्यापार कर नही सकता। परिणाम यह निकला, कि क्रिया तो देहादि में होती है, पर वह हो उसी समय सकती है, जब उसके साथ चेतनतत्त्व का व्यवस्थित सम्पर्क हो। इसलिये अब, जब हम यह कहते हैं, कि 'देवदत्त लिख रहा है' इस लेखनक्रिया के घेरे में चेतनतत्त्व से लगाकर अंगुलियों तक सबका समावेश होजाता है। लेखनक्रिया इन सबकी उपस्थिति में जन्म लेती है, तब क्या इन सबको कर्त्ता कहना चाहिये ? शास्त्रकारों ने इसका विवेचन किया है, चेतनतत्त्व में यह भावना उत्पन्न होती है, कि 'मैं कुछ लिखूं।' इस भावना की उत्पत्ति में बुद्धि और अहंकार उसको सहयोग देते हैं, उसके साथ ही मन दौड़ पड़ता है, इस संकल्प के साथ, कि इस क्रिया को करना है, तत्काल आंख लेखनी-आधान में रक्खी हुई लेखनी को उसके साथ मसीपात्र को और सामने बिछे हुए स्वच्छ कागज़ को देखती है, तत्काल हाथ ऊपर उठता है, अंगुलियों में लेखनी को दबा लिया जाता है, उसका सिर मसीपात्र में डुबाकर कागज़ पर नई आकृतियां उभरने लगती हैं। इस सब के पीछे एक मूल वस्तु है–लिखने की भावना। वह जहां उभरती है, उसी को वस्तुतः कर्त्ता कहना चाहिये। शेष सब सामग्रीसमुदाय उसका साधनमात्र है, कुछ बाह्य और कुछ अन्तरंग। फिर भी यह निश्चित है, कि इन साधनों की अनुपस्थिति में आत्मा व्यावहारिक नहीं रहता। कदाचित् इसीलिये ऋषियों ने लिख दिया है—

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः [कठ० १।३।४]

इन्द्रिय अन्तःकरण आदि के सहित आत्मा को मननशील विद्वानों ने 'भोक्ता' कहा है। यही स्थिति 'कर्त्ता' कहे जाने की है।

परिणाम यह निकला, कि किसी क्रिया के लिये मूलभावना का जहां उद्भव हो, वह तत्त्व 'कर्त्ता' है। ऐसा वह चेतनतत्त्व है, जिसे हम आत्मा या पुरुष अथवा जीव कहते हैं। वस्तुतः वही कर्त्ता और भोक्ता है। गीता में जहां यह कहा गया है, कि–अहंकार से मोहित हुआ पुरुष 'मैं कर्त्ता हूं' ऐसा मान बैठता है–वहां ऐसे कर्त्तृत्व का निषेध किया गया है, जो केवल साधन-समुदाय अथवा सामग्री-समुदाय को कर्त्ता मानकर वर्णन किया गया हो; क्योंकि चेतनतत्त्व, साधन अथवा सामग्री-समुदाय से सर्वथा अतिरिक्त वस्तु हैं। साधन-सामग्री से अभिभूत होकर जो आत्मा अपनेआपको उनका ही स्वरूप मान बैठता है, उसी के सम्बन्ध में उपर्युक्त लेख है। इसके विपरीत जिनको यह विवेक रहता है, कि साधन-सामग्री गुणों [सत्त्व-रजस्-तमस्] का रूप है, अपने अनुष्ठान व भोगों

के लिये मैं उसका नियन्ता हूं, वह कभी इन प्रवृत्तियों में आसक्त नहीं होता। [गीता ३।२८] वह जानता है–ये प्रवृत्तियां गुणों की हैं. उन्हीं में रहा करें, मैं तो उनसे अतिरिक्त चेतनतत्त्व हूं, मैं गुणों का स्वरूप नहीं होसकता, अतः वह साधनसामग्रीजनित प्रवृत्तियों से कभी अभिभूत नहीं होपाता। फलतः गीता की दृष्टि में कर्त्तृत्व का स्वरूप है–किसी भी क्रिया की मूलभावना के उद्भव का आश्रय। इसके लिये भी व्यवस्था यह है, कि वह क्रिया आसक्ति की ओर आकर्षण करने वाली न हो। इसप्रकार आत्मा का कर्त्ता होना तो वास्तविक है, परन्तु वह जब क्रियाओं के अथवा उनके फलों के प्रति आसक्ति से रहित होता है, तब उसे अकर्त्ता कह दिया जाता है। प्रकृति को जहां कहीं कर्त्ता कहा गया है, उसका आधार यही है, कि वह अपने स्वरूप से पुरुषों के भोग आदि के लिये सम्पूर्ण साधन-सामग्री को जुटाती है।

आत्मा के कर्त्तृत्व का यह स्वरूप समझने में गीता के अन्य अनेक स्थलों से पर्याप्त प्रेरणा मिलती है। चतुर्थाध्याय के १३वें श्लोक में कहा है–'ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों की सृष्टि, विभिन्न गुण और कर्मों के अनुसार मैंने की है, यद्यपि मैं इसका कर्त्ता हूं, फिर भी मुझे अकर्त्ता ही समझ'। यहां पर साक्षात् कर्त्ता को भी अकर्त्ता क्यों कहा गया है, इसका स्पष्टीकरण अगले श्लोक से होजाता है। वहां लिखा है–'ये कर्म मेरे बन्धन के कारण नहीं होते, क्योंकि इनके फलों में मेरी कोई स्पृहा [अभिलाषा] नहीं रहती। मेरे इस स्वरूप को जो जान लेता है, (और उसपर आचरण करता है) उसके लिये भी कर्म, बन्धन के कारण नहीं होपाते'। कर्म करता हुआ भी वह पुरुष बन्धन में नहीं फंसता। ऐसी स्थिति में कर्त्ता होते हुए भी उसे अकर्त्ता कह दिया जाय, तो कुछ अनुपयुक्त नहीं।

इसी आशय को २०वें श्लोक में पुनः स्पष्ट किया गया है। वहां लिखा है–'कर्मफलों में आसक्ति को छोड़कर सदा तृप्त हुए के समान बर्त्ताव रखता हुआ, तथा कर्म और उनके फलों को अपना सब कुछ सहारा न समझता हुआ, जो पुरुष कर्मों में अच्छी तरह प्रवृत्त भी रहता है, फिर भी उसे–'यह कुछ नहीं करता'–ऐसा ही समझना चाहिये।' इससे स्पष्ट है, कि गीता आत्मा को कर्त्ता मानती हुई भी जो उसे कहीं अकर्त्ता बताती है, वह उसकी एक विशेष अवस्था का वर्णन करने के अभिप्राय से है, वस्तुतः आत्मा के अकर्त्तृत्व का प्रतिपादन करने की भावना से नहीं। ऐसाही प्रसंग नवम अध्याय के सातवें श्लोक से लगाकर दसवें श्लोक तक में पुनः स्पष्ट किया गया है।

कृष्ण कहता है–'हे अर्जुन! कल्प के अन्त में [प्रलयकाल में] समस्त भूत मुझसे नियन्त्रित प्रकृति में जा मिलते हैं, फिर कल्प के आरम्भ [सर्गकाल] में उनका पुनः मैं सर्जन करता हूं। स्वनियन्त्रित प्रकृति का सहारा लेकर इस समूचे भूतसमुदाय को प्रकृति के अधीन उनके कर्मानुसार बारम्बार उत्पन्न करता हूं। परन्तु हे अर्जुन! मुझे ये कर्म बन्धन में नहीं डालते, क्योंकि मैं उदासीन के समान रहता हुआ, उन कर्मों

में आसक्त नहीं हूं।' इससे स्पष्ट है, कि कर्त्ता रहता हुआ भी चेतनतत्त्व अनासक्त अवस्था में अकर्त्ता समझा जाता है।

इसका यह अभिप्राय कदापि न समझना चाहिये, कि जीवात्मा, साधन-सामग्री से रहित हुआ भी अपने कर्त्तृत्व को पूर्णरूप में निभा सकता है। वस्तुत: जीवात्मा के कर्त्तृत्व का स्पष्ट प्रकटरूप साधन-सामग्री की उपस्थिति में ही प्रतिफलित होता है। सब कार्यों की सिद्धि के लिये सांख्यशास्त्र के अनुसार गीता [१८।१३-१५] में जो पांच कारण बताये हैं, वहां जीवात्मा को स्वतन्त्ररूप से यद्यपि कर्त्ता बताया गया है, परन्तु केवल आत्मा अन्य साधन-सामग्री के अभाव में अपने कर्त्तृत्व को क्रियान्वित नहीं कर सकता। इसलिये केवल आत्मा में कर्त्तृत्व के पूर्ण विकास का स्वीकार किया जाना भी भ्रान्तिपूर्ण ही समझना चाहिये। कम से कम गीता का ऐसा ही अभिप्राय स्पष्ट होता है। इससे सांख्यसिद्धान्त की इस उलझन को सुलझाने में अच्छी सहायता मिलजाती है, कि आत्मा को कर्त्ता अथवा भोक्ता किस रूप में माना जाना चाहिये।

**(१०)—लिङ्गशरीर के साथ आत्मा का उत्क्रमण—**

सांख्य का यह एक परम सिद्धान्त है, कि संसार में जीवपुरुष के साथ लिङ्गशरीर का सदा सम्पर्क बना रहता है। प्रत्येक पुरुष के साथ आदिसर्ग से जिस लिङ्गशरीर का सम्बन्ध होजाता है, वही प्रलयकाल आने तक अथवा आत्मसाक्षात्कार होने तक उस पुरुष के साथ बना रहता है। इन दोनों में से कोई अवस्था आने पर उसका नाश [लय] होजाता है। इस बीच में अर्थात् आदिसर्ग से लगाकर प्रलयकाल आने तक अथवा आत्म-साक्षात्कार होने तक जीवपुरुष को जब-जब एक स्थूलशरीर को छोड़कर दूसरे का कर्मानुसार ग्रहण करना पड़ता है, यह लिङ्गशरीर उसके साथ बराबर बना रहता है। इसीको सूक्ष्मशरीर भी कहते हैं। जीवपुरुष इसको लेकर ही स्थूलशरीर में जाता अथवा प्रवेश करता है, और इसे लेकर ही स्थूलशरीर से उत्क्रमण करता है, अर्थात् उससे निकलकर चला जाता है। इनमें पहली स्थिति को जन्म और दूसरी को मृत्यु कहा जाता है। सांख्य-ग्रन्थों में इस शरीर का नाम आतिवाहिक भी लिखा है। यह आत्मा का अतिकाल-पर्यन्त वहन करता रहता है, इसीकारण कदाचित् इसको यह नाम दिया गया है। इस कार्य के लिये लिङ्गशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर को स्वीकार करना सांख्य का एक विशेष सिद्धान्त है।

इसी अर्थ को गीता के एक स्थल में बहुत स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है। उसका निर्देश किये जाने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है, कि सांख्य के अनुसार लिङ्ग-शरीर का स्वरूप क्या है। तेरह करण और पांच तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूतों के समूह को लिंगशरीर बताया गया है[1]। इनमें पांच सूक्ष्मभूत आश्रय होते हैं, और तेरह करण उसमें

१—'सप्तदशैकं लिङ्गम्' सांख्यसूत्र ३।६॥ इसका अर्थ व्याख्याकारों ने किया है—सत्रह और एक अर्थात् अठारह तत्त्वों के समूह को लिङ्गशरीर कहते हैं। अठारह में

आश्रित रहते हैं। सांख्य के अनुसार करणों में स्वतन्त्र या निराश्रय रहने का सामर्थ्य नहीं है[1]। इसप्रकार लिंगशरीर के घटक अवयवों में पांच सूक्ष्मभूत आश्रय और शेष तेरह करण आश्रित रहते हैं। स्थूल देह से आत्मा का उत्क्रमण इसी लिंगशरीर के आधार पर होता है। सर्गकाल में आत्मा इस शरीर से असम्पृक्त नहीं रह पाता। गीता में यह अर्थ इसप्रकार वर्णन किया है—

श्रीकृष्ण अपने आपको परमात्मा का प्रतिनिधि मानकर कहता है–'इस संसार में जीवात्मा मेरे समान चेतन तत्त्व है, वह सनातन अर्थात् अनादि है। अपने आश्रय में स्थित [प्रकृतिस्थानि] मन एवं इन्द्रियों को वह खींच लेता है [१५।७]। (इस शरीर पर) नियन्त्रण रखने वाला [ईश्वरः] वह जीवात्मा जब स्थूल देह में आता है, और जब यहां से उत्क्रमण करता है, छलांग मारकर जाने लगता है, तब इन सबको साथ लेकर ही आता जाता है।' गीता के वर्णन में इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये पद आये

तेरह करण और पांच तन्मात्र हैं। किन्हीं व्याख्याकारों ने सत्रह तत्त्वों के समूह को एक लिङ्गशरीर माना है। वे तीन अन्तःकरणों में से बुद्धि और अहंकार की पृथक् गणना न करके सत्रह संख्या का सामञ्जस्य बैठा लेते हैं। सांख्यसप्तति की चालीसवीं आर्या में भी लिङ्गशरीर के अठारह तत्त्वों का स्पष्ट वर्णन है—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥

लिङ्गशरीर सृष्टि के आदि में उत्पन्न होता है, प्रत्येक प्राणी के साथ उसका संपर्क रहता है। वह सर्गादिकाल से प्रत्येक आत्मा के साथ नियत रहता है। आत्म-साक्षात्कार होने अथवा आने वाले महाप्रलय तक उसका सम्बन्ध उसी एक आत्मा के साथ बराबर बना रहता है। उसमें 'महत्' [ बुद्धि ] से लगाकर सूक्ष्म [ सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्र] पर्यन्त तत्त्व रहते हैं। बुद्धि, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और पांच सूक्ष्मभूत, इसप्रकार यह अठारह तत्त्वों का समुदाय लिङ्गशरीर कहाता है। इनमें पहले तीन अन्तःकरण अगले दस बाह्यकरण और अन्तिम पांच इनके आधार समझे जाते हैं। पहले तेरह करण का अन्त के पांच आश्रय हैं।

१—न स्वातन्त्र्यादृते छायावच्चित्रवच्च। सांख्यसूत्र ३।१२॥ सांख्यसप्तति में स्पष्ट कहा है—

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया।
तद्वद्विना ऽविशेषैस्तिष्ठति न निराश्रयं लिङ्गम्॥ ४१॥

जैसे आधार के विना चित्र नहीं बन सकता, किसी स्थाणु अर्थात् मूर्त्तद्रव्य के विना छाया नहीं होसकती, इसीप्रकार लिङ्गशरीर भी अविशेष अर्थात् सूक्ष्मभूतों के विना निराश्रय नहीं रहसकता। अभिप्राय यह है, कि लिङ्गशरीर के घटक अवयवों में पांच सूक्ष्मभूत आश्रय होते हैं और शेष तेरह आश्रित।

हैं–'प्रकृतिस्थानि मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि' यहां 'प्रकृतिस्थ' पद का अर्थ व्याख्याकारों ने स्पष्ट नहीं किया। यहां इस पद का अर्थ 'अपने आश्रय में स्थित' होना चाहिये। यद्यपि 'प्रकृति' पद किसी कार्य के मूल उपादानकारण को कहता है, और वह कारण सदा उस कार्य का आश्रय होता है। यहां मूलकारण के अभिप्राय से इस पद का प्रयोग नहीं है, केवल आश्रय की भावना से इसका प्रयोग हुआ है। इसप्रकार इन पदों का मिलित अर्थ होगा–'अपने आश्रय में स्थित इन्द्रियों को'। अभी हम स्पष्ट कर आये हैं, कि सांख्य के अनुसार लिंगशरीर में सूक्ष्मभूत करणों के आश्रय माने गये हैं। फलतः 'प्रकृति पद से यहां करणों के आधारभूत पांच तन्मात्रों [सूक्ष्मभूतों] का ग्रहण होना चाहिये।

यद्यपि यहां 'मन्' के साथ 'षष्ठ' पद का निर्देश किया गया है, जिसका अभिप्राय निकलता है, कि यहां केवल पांच इन्द्रियों का समावेश होना चाहिये, तभी 'मन' को छठा कहा जासकता है। परन्तु यहां पांच ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा से मन को छठा कहा है। इस प्रसंग में 'मन' और 'इन्द्रिय' ये दोनों पद अपने शेष सहधर्मियों के उपलक्षण समझने चाहियें। मन अन्तःकरण का और इन्द्रिय बाह्यकरण का संग्राहक है, और प्रकृति पद इन तेरह करणों [तीन अन्तःकरण दस बाह्यकरण] के आश्रयभूत पांच तन्मात्रों का बोधक है। इसप्रकार अठारह तत्त्वों के लिङ्गशरीर का तथा उसीके आधार पर जीवात्मा का स्थूलशरीर में आने एवं स्थूलशरीर से जाने का–गीता के इस प्रसंग में स्पष्ट वर्णन किया गया है।

वेदान्तसूत्रों में इसप्रकार के आतिवाहिक सूक्ष्मशरीर का वर्णन कहीं उपलब्ध नहीं होता। तृतीयाध्याय के प्रारम्भ में जीवात्मा के उत्क्रमण का प्रतिपादन है, भगवान् शङ्कराचार्य की व्याख्या के अनुसार वहां सूक्ष्मशरीर में मुख्य प्राण का भी समावेश किया गया है। परन्तु सांख्य विचारों के अनसार प्राण, करणों के वृत्तिमात्र हैं[1], इसलिये करणों की विद्यमानता में इनका पृथक् निर्देश करना अनावश्यक है। गीता में भी प्राणों के निर्देश का कोई संकेत नहीं मिलता। इसलिये गीता का प्रतिपादन सांख्य के आधार पर कहा जासकता है। वेदान्तसूत्र [२।४।६] के भाष्य में आचार्यशंकर ने स्वयं इस विषय का उल्लेख किया है।

**(११)—गीता में, कर्मसिद्धि के लिये सांख्योक्त पांच कारणों का निर्देश—**

अठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहता है–'हे अर्जुन! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिये सांख्यशास्त्र में पांच कारण बताये गये हैं, इनको मुझसे सुनो'[2]। अगले श्लोक में वे पांच कारण इसप्रकार गिनाये गये हैं–'[अधिष्ठानं] शरीर, [तथा कर्त्ता]

१—सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च। सांख्यसूत्र २।३१॥ तुलना करें–सांख्यसप्तति, २९ आर्या के साथ।

२—पञ्चैतानि महाबाहो! कारणानि निबोध मे। सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्। गीता, १८।१३॥

और आत्मा, [करणञ्च पृथग्विधम्] इसीप्रकार नानाविध करण अर्थात् विविध बाह्य तथा अन्तः-करण, [विविधाश्च पृथक् चेष्टाः] और उन सब करणों की विविध चेष्टा, [दैवं चैवात्र पञ्चमम्] तथा पांचवां है इस प्रसंग में दैव"[1]।

यहां अधिष्ठान अर्थात् शरीर से स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का ग्रहण होजाता है। स्थूल में यह पाञ्चभौतिक दृश्यमान शरीर है। सूक्ष्मशरीर में यहां केवल पांच सूक्ष्म-भूत अर्थात् पंच तन्मात्रों का ग्रहण अपेक्षित है। सूक्ष्मशरीर के घटक जो अवयव माने गये हैं, उनमें ये पंच तन्मात्र शेष अवयवों के अधिष्ठान अर्थात् आधारभूत हैं[2]। इसीलिये गीता के इस श्लोक में 'अधिष्ठान' पद से सूक्ष्मशरीर के घटक शेष अवयव—तेरह करणों का समावेश न कर उनका पृथक् निर्देश किया गया है। आत्मा को यहां स्पष्ट ही सांख्य-विचार के अनुसार 'कर्त्ता' पद से निर्देश किया गया है। आजकल ही नहीं, प्रत्युत पर्याप्त काल से ऐसा समझा जाता रहा है, कि सांख्यविचारों के अनुसार आत्मा को कर्त्ता नहीं माना जाना चाहिये। परन्तु यहां गीता में 'कर्त्ता' पद से आत्मा का संकेत किया गया है, और उसे सांख्य के अनुसार बताया है। वस्तुतः सांख्य में आत्मा के कर्तृत्व का स्वरूप क्या है, इसका स्पष्टीकरण इसी प्रकरण में नौ संख्या पर किया गया है। कापिलसांख्य में आत्मा का ऐसा ही कर्तृत्व माना गया है, इस अर्थ का विस्तारपूर्वक वर्णन इसी ग्रन्थ के 'पुरुष' नामक प्रकरण में देखना चाहिये।

गीता के प्रस्तुत श्लोक में कर्मों की सिद्धि के लिये तीसरा कारण 'तेरह करण' बताये हैं। इनमें पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, इन दश बाह्यकरणों और बुद्धि, अहंकार, मन इन तीन अन्तःकरणों का समावेश है। सांख्य में तेरह करणों का इस रूप में वर्णन अतिस्पष्ट किया गया है[3]। किसी भी कार्य की सिद्धि के लिये अतिशय साधक होने से इन कारणों को 'करण' नाम दिया गया है[4]। दश बाह्यकरणों को 'बाह्य इन्द्रिय' कहा जाता है, परन्तु तीन अन्तःकरणों में से केवल एक मन 'आन्तर इन्द्रिय' माना गया है, बुद्धि और अहंकार की इन्द्रिय संज्ञा सांख्य में नहीं है।

कर्मों की सिद्धि के लिये चौथा कारण—करणों की विविध चेष्टा—बताया गया है। इसका अभिप्राय है, करणों की विभिन्न वृत्तियां। करणों की कुछ वृत्तियां असाधारण

१—अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ गीता, १८।१४॥

२—चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा च्छाया। तद्वद्विनाऽविशेषैस्तिष्ठति न निराश्रयं लिङ्गम् ॥ सां० का० ४१ ॥ न स्वातन्त्र्यादृते छायावच्चित्रवच्च, सां० सू० ३।१२॥

३—करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात्। सांख्यसूत्र, २।३८॥ तथा सांख्य-कारिका, ३२।

४—इन्द्रियेषु साधकतमत्त्वयोगात् कुठारवत्। सांख्यसूत्र, २।३६॥

हैं, और कुछ साधारण। जो वृत्ति किसी एक ही करण की है, वह उसकी असाधारण वृत्ति है, और जो समानरूप से सब करणों की वृत्ति है, वह सब की साधारण है[१]। जब कोई व्यक्ति रूप को देखना चाहता है, तब उसके लिये चक्षु इन्द्रिय का व्यापार होता है। यह व्यापार, क्रिया अथवा चेष्टा ही वृत्ति कही जाती है। चक्षुवृत्ति के अनन्तर ज्ञाता को रूप का ज्ञान होता है, रूपज्ञान के लिये चक्षु का ही व्यापार सम्भव है, क्योंकि रूपग्रहण के लिये चक्षु के अतिरिक्त और किसी इन्द्रिय का सामर्थ्य नहीं, इसलिये रूपग्रहण के लिये प्रवृत्ति, चक्षु की असाधारण वृत्ति है। इसीप्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का अपने विषय को ग्रहण करने के लिये जो व्यापार होता है, वह उसकी असाधारण वृत्ति है। सब करणों का समान रूप से जो व्यापार होता है, वह सब करणों की साधारण वृत्ति कही जाती है। सांख्य में प्राणों को साधारणवृत्ति माना गया है।[२] गीता के 'विविधाश्च पृथक्चेष्टाः' इन पदों से सम्पूर्ण करणों की साधारण और असाधारण दोनों प्रकार की वृत्तियों का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार कार्य-सिद्धि के लिये बताये गये पांच कारणों में चौथा स्थान करण-वृत्तियों का है। सांख्य में इन वृत्तियों का इसरूप में विशद वर्णन किया गया है[३]।

कार्यसिद्धि के लिये पांचवां कारण 'दैव' कहा है। अभीतक जितने कारण बताये, उनके लिये यह कहा जासकता है, कि हम उनके सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानकारी रखते हैं। बहुतवार ऐसा देखा जाता है, कि कार्यसिद्धि के लिये सतत प्रयत्न करने पर भी वह सिद्ध नहीं होपाता। उसमें कुछ ऐसे कारण अपेक्षित होते हैं, जो हमारे वश के नहीं हैं, अथवा जिनके सम्बन्ध में हम कुछ भी ज्ञान नहीं रखते। हमारे अनजाने में ही वे कारण बने रहते हैं। ऐसे ही कारणों का संकेत यहां 'दैव' पद से किया गया है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति के पूर्वकृत कर्मों–जिनको अदृष्ट अथवा आशय भी कहा जाता है, भौतिक जगत् की अज्ञात शक्तियों–तथा सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक अथवा नियन्ता होने के कारण परमात्मा–का समावेश होता है[४]। पूर्वकृत कर्मों की सहायता कार्यसिद्धि में प्रायः सब विद्वानों ने स्वीकार की है। सांख्य में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है[५]। दैहिक

१—देखें—सांख्यसूत्र, २।२८,३०,३१॥ तथा सांख्यकारिका, २८, २९॥

२—सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च। सांख्यसूत्र, २।३१॥

३—करणों की उभयविध वृत्तियों के लिये देखें—रूपादिरसमलान्त उभयोः। त्रयाणां स्वालक्षण्यम्। सांख्यसूत्र, २।२८,३०॥ सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च। सांख्यसूत्र, २।३१॥ तथा सांख्यकारिका, २८, २९॥

४—सांख्य में नियन्ता अथवा अधिष्ठातारूप ईश्वर को स्वीकार किया गया है। वह जगत के उपादानभूत ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। इसके लिये देखना चाहिये—सांख्यसूत्र, ३।५५–५७॥ तथा १।५७–६१॥ इस प्रसंग का विशद विवेचन इसी ग्रन्थ के 'पुरुष' नामक प्रकरण में देखना चाहिये।

५—सांख्यसूत्र, ३।६०, ६२, ६७॥

मानसिक रोग तथा आधिभौतिक जगत् के अनेक प्रकार के उत्पात कार्यसिद्धि में बाधक होते हैं, अतः इन स्थितियों की अनुकूलता भी कार्यसिद्धि में कारण समझनी चाहिये। परमात्मा तो अखिल जगत् का अधिष्ठाता होने से कार्यमात्र का कारण कहा जाता है। इन सबका पांचवें कारण में समावेश किया गया है। सांख्य में इन सब कारणों का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध होता है।

सांख्य के तत्त्वसमास सूत्रों में ग्यारहवां सूत्र है–'पञ्च कर्मयोनयः।' प्राचीन व्याख्याकारों ने इसकी जो व्याख्या की है, उसके अतिरिक्त इस सूत्र की व्याख्या गीता के उक्त वर्णनों के अनुसार बहुत ही स्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो इस सूत्र की व्याख्या के रूप में ही गीता का यह वर्णन हो। इसके पदों का स्पष्ट अर्थ यह है–कर्मों की योनि अर्थात् कारण पांच होते हैं। फलतः पांच ऐसे कारण सांख्य में बताये गये, हैं जिनसे कर्मों की सिद्धि होती है। इसप्रकार गीता का—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥

यह श्लोक उक्त 'तत्त्वसमास' सांख्यसूत्र की व्याख्या ही समझना चाहिये।

गीता के इसी प्रसंग में पुनः सांख्य का उल्लेख किया गया है। अठारहवें अध्याय का १९वां श्लोक है—

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥

'ज्ञान, कर्म और कर्त्ता इन तीनों को गुण [सत्त्व रजस् तमस् इन गुणों के] भेद के अनुसार कापिल सांख्यशास्त्र में [गुणसंख्याने] तीन-तीन भेदों में विभक्त करके वर्णन किया गया है, उनको भी उसी रूप में मुझसे सुनो।' कृष्ण अर्जुन से कह रहा है। इसप्रकार ज्ञान, कर्म और कर्त्ता इनमें से प्रत्येक सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का सांख्य में बताया गया है। सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है। किसी गुण की अधिकता से उस वस्तु को एक गुण के आधार पर निर्देश कर दिया जाता है। यहां ज्ञान और कर्म के विषय में तो यह कथन पूरा उतर सकता है, परन्तु कर्त्ता त्रिगुणात्मक नहीं कहा जासकता। क्योंकि सांख्य के अनुसार अचेतन अथवा प्राकृतिक वस्तु को त्रिगुणात्मक कहा जासकता है। यहां कर्त्ता तो आत्मा को माना गया है, तब उसमें त्रिगुणात्मकता का प्रतिपादन कैसे? आत्मा के कर्तृत्व-स्वरूप का वर्णन इसी प्रकरण की नवम संख्या पर किया गया है। बुद्धि आदि प्राकृतिक साधनों का आत्मा के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क न होने की अवस्था में वस्तुतः आत्मा का कर्तृत्व प्रतिफलित नहीं होपाता, इसलिये आत्मा के कर्तृत्व की परिधि में बुद्धि आदि का भी समावेश होने से उसीके आधार पर कर्त्ता का सात्त्विक राजस तामसरूप उपस्थित किया जाता है।

गीता के इन प्रसंगों में सांख्यशास्त्र और उसके कुछ विशेष मन्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक आदि आधुनिक गीता–व्याख्याकारों ने भी इस विचार को स्वीकार किया है। यद्यपि गीता में सांख्यविचारों का पर्याप्त उल्लेख हुआ है, जैसा कि अभीतक स्पष्ट किया गया, और इन स्थलों में सांख्यशास्त्र का नाम भी लिया गया है। परन्तु कतिपय विद्वानों की धारणा है, कि गीता के अन्य स्थलों में 'सांख्य' पद सांख्यशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, प्रत्युत उसका अभिप्राय दूसरा ही है। इसलिये गीता में 'सांख्य योग' का स्वरूप क्या है? इसका विचार करना उपयुक्त होगा।

**(१२)—गीता में 'सांख्य-योग' का स्वरूप—**

इन शब्दों का प्रयोग गीता में अनेक स्थलों पर हुआ है, इकट्ठा भी और अलग-अलग भी। 'सांख्य-योग' पदों का इकट्ठा प्रयोग गीता में लगभग चार पांच स्थलों में हुआ है[१]। केवल 'सांख्य' पद का प्रयोग एक स्थल पर हुआ है[२] और वह निश्चितरूप से कापिल सांख्यशास्त्र के लिये किया गया है। 'योग' पद का अलग प्रयोग लगभग बीसों स्थलों में हुआ है[३]। उनमें से अनेक स्थलों पर इस पद का प्रयोग पातंजल योगदर्शन के लिये हुआ है, ऐसा स्पष्ट होता है। परन्तु गीता में ऐसे स्थल हैं, जहां 'सांख्ययोग' पदों का प्रयोग कापिल सांख्यदर्शन अथवा पातंजल योगदर्शन के अर्थ में नहीं हुआ, ऐसा एक विचार प्रस्तुत किया जाता है। तब उन्हें गीता के निज पारिभाषिक पद ही समझना चाहिये। गीता में उनकी क्या परिभाषा की गई है, और उसका क्या आधार है, इसीका विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

द्वितीय अध्याय का उन्तालीसवां श्लोक है—

> एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
> बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

इस श्लोक में प्रयुक्त 'बुद्धि' पद के अनेक अर्थ किये जाते हैं–इच्छा, मार्ग, समझ अथवा ज्ञान, इस नाम का अन्तःकरण आदि। इनमें आदि और अन्त का अर्थ प्रस्तुत प्रसंग में उपयुक्त नहीं जंचता। बीच के दोनों अर्थ ठीक कहे जासकते हैं। इनमें पहला अर्थ अधिक ठीक बैठता है। तब श्लोक का अर्थ इसप्रकार होगा–'हे अर्जुन! यह सब सांख्य-विषयक मार्ग का कथन कर दिया गया, अब योगविषयक मार्ग के सम्बन्ध में भी सुनो, जिस मार्ग पर चलते हुए तुम कर्मबन्धनों के छोड़ने में समर्थ होसकोगे।' इसका अभिप्राय यह निकलता है, कि जीवन को सफल बनाने के लिये गीता में दो मार्गों का संकेत किया

१—गीता, २।३६।३।३॥५।४–५, आदि।

२—गीता, १८।१३॥

३—गीता, २।४८,५०,५३॥४।१–३॥६।१२,१६,१७,१९,२०,२३,२९,३६॥ ७।१॥१०।७, आदि।

गया है, एक सांख्यमार्ग और दूसरा योगमार्ग। श्रीकृष्ण के प्रवचनरूप में ११वें श्लोक से लगाकर ३८वें श्लोक तक जो वर्णन किया गया है, उसमें हमको सांख्यमार्ग का स्वरूप ढूंढना चाहिये। इसके आगे योगमार्ग का वर्णन है। इसी को 'कर्मयोग' कहा गया है। गीता के अनुसार प्रथम यहां योग का निरूपण कर फिर सांख्य का विवेचन किया जायगा।

योगबुद्धि अर्थात् योग या योगमार्ग अथवा कर्मयोग[1] के उपदेश की प्रतिज्ञा करके श्रीकृष्ण ने सबसे प्रथम दो शब्द इसकी प्रशंसा में कहकर आगे विस्तार के साथ काम्य कर्मों की निन्दा की है[2]। ४६वें श्लोक में कहा है, कि वेदों का अन्तिम प्रयोजन आत्मज्ञान है, यह ज्ञान होजाने पर वेदों का प्रयोजन पूरा होजाता है। परन्तु यह ज्ञान कैसे होगा, इसका उपाय ४७वें श्लोक में बताया है–'कर्मों में ही तुम्हारा अधिकार है, फलों में कभी नहीं। कर्म-फलों की प्राप्ति के, कारण कभी मत बनो, पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि फलाशा को छोड़ते-छोड़ते कर्मों को ही छोड़ बैठो, हे अर्जुन! कर्मफलों में आसक्ति को छोड़कर योग में स्थित हुए, अतएव कर्मों की सिद्धि अथवा असिद्धि में समान भावना रखते हुए–कर्मों का अनुष्ठान करो। कर्म करने पर फल की प्राप्ति हो अथवा न हो, दोनों अवस्थाओं में समान मनोवृत्ति का रहना ही 'योग' कहा जाता है।' इन श्लोकों के आधार पर यह स्पष्ट होजाता है, कि गीता में 'योग' का स्वरूप क्या माना गया है। फल की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति दोनों अवस्थाओं में मनोभावनाओं का समान रहना 'योग' है। गीता में प्रायः सर्वत्र 'सम' शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों में हुआ है[3]।

आगे ४९वें श्लोक में आपाततः ऐसा प्रतीत होता है, कि श्रीकृष्ण ने बुद्धि [ज्ञान-मार्ग] की अपेक्षा कर्म [योग] को अवर अर्थात् निकृष्ट कह दिया है। परन्तु विचारपूर्वक देखने से ज्ञात होजाता है, कि योग के उसी स्वरूप को यहां और स्पष्ट किया है[4]। इस श्लोक में 'कर्म' पद का अर्थ फलासक्तिपूर्वक कर्मानुष्ठान है। तथा सिद्धि असिद्धि में समतारूप मनोवृत्ति को इस श्लोक में 'बुद्धियोग' पद से कहा गया है। इसप्रकार यहां भी फलाशारहित कर्मानुष्ठान की अपेक्षा फलासक्तिपूर्वक कर्मानुष्ठान को ही अवर अर्थात् निकृष्ट बताया गया है। क्योंकि इसी श्लोक के चतुर्थ चरण में लिखा है–'कृपणाः फल-हेतवः' अभिप्राय यह है, कि जो कर्म, फलप्राप्ति की भावना को लेकर किये जाते हैं, वे अपेक्षाकृत अवर (नीच) कर्म हैं। फलतः 'जो व्यक्ति समताबुद्धि से युक्त होता है, वह

---

१—इस प्रसंग में इस मार्ग के लिये केवल 'योग' शब्द का निर्देश किया जायगा, क्योंकि गीता में प्रायः सर्वत्र इसी पद का प्रयोग किया गया है।

२—देखें–गीता, २।४१ से २।४६ तक।

३—इसके लिये देखें–गीता, ४।२२॥५।१९॥६।३२,३३॥१२।१८॥

४—श्लोक इस प्रकार है—दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय। बुद्धौ शरण-मन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

इस मार्ग पर चलते हुए, अच्छे या बुरे कर्मों के फलों से अलग रहता है। कर्मफलों का प्रलोभन उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं करसकता। इसलिये अर्जुन ! तुम भी इसप्रकार के योगानुष्ठान के लिये तयार होजाओ, 'कर्मों में कौशल' का नाम ही 'योग' है[1]। कर्म-विषयक 'कौशल' यही है, कि कर्मों का कर्त्तव्य बुद्धि से अनुष्ठान किया जाय, फलों के प्रति आसक्ति न रहनी चाहिये। इसप्रकार कर्मों में कौशल अथवा सिद्धि-असिद्धि में समता, ये दोनों वर्णन एक ही भावना को उपस्थित करते हैं। इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए द्वितीय अध्याय के अन्त में फिर यही अर्थ स्पष्ट किया गया है। वहां कहा है–'जो पुरुष सब कामनाओं को छोड़कर फलाशारहित हो कर्मों का आचरण करता है, और उनमें अहंकार अथवा ममता की भावना नहीं रखता, वह शान्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है [२।७१]।

अब प्रश्न यह है, कि वे कौन से कर्म हैं, जिनका अनुष्ठान फलों में आसक्ति न रखते हुए केवल कर्त्तव्य भावना से करना चाहिये। गीता के पर्यालोचन से इस सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकलता है, उससे ज्ञात होता है, कि वर्णाश्रमों के लिये जो कर्त्तव्य कर्म शास्त्रों में प्रतिपादित किये गये हैं, गीता उन्हीं कर्मों की ओर संकेत करती है। अठारहवें अध्याय के प्रारम्भ में यज्ञ, दान और तप को विशेषरूप से कर्त्तव्य कर्मों में गिनाया गया है। वस्तुत: इनको अन्य सब वर्णाश्रम कर्मों का उपलक्षण समझना चाहिये। इससे अध्ययन, प्रशासन तथा जीवननिर्वाह के अन्य सब साधनों का इसमें समावेश होजाता है। अन्यथा कोई भी व्यक्ति या समाज न तो केवल यज्ञ, दान और तप से अपनी ऐहलौकिक व्यवस्था निर्बाध रख सकता है, और न मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, गीता में इन तीन का विशेषरूप से उल्लेख इसीलिये किया गया है, कि अपनी स्थिति के अनुसार अन्य चाहें जो भी कर्म किये जाते रहें, पर प्रत्येक अवस्था में इनका अनुष्ठान तो किया ही जाना चाहिये।

फिर भी यह निश्चित है, कि केवल इसप्रकार के कर्मानुष्ठान से सीधा मोक्ष प्राप्त नहीं होसकता। मोक्षप्राप्ति की अन्तिम अवस्था 'आत्मज्ञान' है। इसका अभिप्राय है, आत्मा का–चेतनतत्त्व का–साक्षात्कार होना। गीता के अनुरूप कर्मानुष्ठान उस स्थिति तक पहुंचने के लिये मुख्य साधनों में गिना जासकता है। गीता में स्वयं इसप्रकार के कर्मानुष्ठान को आत्म-शुद्धि के लिये बताया गया है [५।११]।

गीता पर विचार करते समय उस स्थिति को कदापि न भूलना चाहिये, जिसमें कृष्ण के द्वारा अर्जुन को यह प्रवचन किया गया है। समरभूमि में अपने सन्मुख अपने सगे-सम्बन्धियों को खड़ा देखकर अर्जुन को मोह आ घेरता है, और वह अपने वर्णाश्रमोचित कर्म को पालन करने से विमुख होने के लिये तैयार होजाता है। उसे उस समय मोक्ष की

१—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

चिन्ता नहीं है, न वह आत्मज्ञान के लिये व्याकुल होरहा है। वह मोह में फंसकर उन्मार्ग पर जाते हुए भी अपने सगे-सम्बन्धियों को दण्ड देना नहीं चाहता, चाहे वे उसे मार ही डालें। इसके विपरीत राजधर्म यह है, कि उन्मार्ग पर जाने वाले को दण्ड दिया जाय, भले ही वह अपना पुत्र हो या अन्य सगा-सम्बन्धी।

अर्जुन का आत्मा मोह के कारण दूषित है, वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेचन नहीं करसकता, उसके अंग प्रत्यंग शिथिल होते जारहे हैं, मुंह सूख रहा है, समस्त शरीर पर रोमांच होआया है और वह थर-थर कांप रहा है। गांडीव उसके हाथ से छुटा जारहा है, खाल जलती-सी मालूम होरही है, वह खड़ा नहीं होसकता, मन भ्रान्त है और एक बेहोशी का-सा आलम छा रहा है। उसे विजय, राज्य, सुख कुछ नहीं चाहिये। वह समझता है, कि स्वजन को युद्ध में मारकर कल्याण नहीं। यह जानते हुए भी कि ये आततायी हैं, वह उन्हें कुछ नहीं कहना चाहता, भले ही वे उसे मार डालें। वह शत्रुओं के द्वारा अपने मारे जाने में ही कल्याण समझता है। इस व्यामोह में पड़े अर्जुन को भगवान् कृष्ण ने यही कहा है, कि तू अपने कर्त्तव्य का पालन कर। मोह के कारण तेरी बुद्धि ठिकाने नहीं रही, मरना जीना प्रत्येक व्यक्ति के साथ लगा है। न उससे तू बच सकता है, न दूसरे को बचा सकता है। तू अपने कर्त्तव्य को छोड़कर भिखारी बनना चाहता है, यह तेरे लिये सर्वथा अश्रेयस्कर है। तेरी इस अवस्था को जानकर दुनिया सदा तेरी निन्दा करेगी। फिर जीना मरना तो शरीर का बदलना ही है, आत्मा तो न जीता है न मरता है, वह अविनाशी तत्त्व है, उसे समझने का यत्न कर। उसे तू तभी समझ सकेगा, जब अपने कर्त्तव्य का पालन करेगा। उसके फलाफल से तेरा कुछ बनना नहीं, पर फलाफल की चिन्ता में यदि अपने कर्त्तव्य कर्म को ही छोड़ बैठा, तो तेरा कहीं ठिकाना न रहेगा।

इसप्रकार गीता कर्त्तव्य-मार्ग से भ्रष्ट होते हुए पुरुष को कर्त्तव्य-पथ पर लाने की पूर्ण प्रेरणा देती है। गीता का मुख्य लक्ष्य इतना ही है, अन्य वर्णन प्रसंगानुप्रसंगरूप में उपस्थित किये गये हैं। फलतः गीता के वर्णनों के आधार पर ज्ञान और कर्म की परस्पर तुलना करके एक की श्रेष्ठता और दूसरे की अश्रेष्टता का निर्णय नहीं किया जाना चाहिये। यदि दोचार स्थलों पर ज्ञान की अपेक्षा कर्म को श्रेष्ठ कहा है[1], तो दसों स्थानों पर कर्म की अपेक्षा ज्ञान की श्रेष्ठता घोषित की गई है[2]। ऐसे प्रसंगों का विवेचन इस रूप में युक्तियुक्त माना जाना चाहिए, कि ज्ञान की श्रेष्ठता मुख्यरूप में वर्णन की गई है, तथा कर्म की श्रेष्ठता का वर्णन अर्जुन की स्थिति के आधार पर है[3]।

१—गीता, ५।२॥

२—गीता, ४। ३३, ३६, ३८, ३९॥

३—द्वितीय तृतीय चतुर्थ अध्यायों में ज्ञान एवं कर्म अथवा संन्यास [सांख्य] व योग दोनों की प्रशंसा के परिणामस्वरूप, पंचम अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन कहता है— हे कृष्ण ! आप कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों की प्रशंसा कर रहे हैं, इनमें से जो

अर्जुन के समान प्रत्येक व्यक्ति के सन्मुख इसप्रकार मोह की स्थिति आसकती है, और आती है। इसलिये गीता प्रत्येक व्यक्ति को सच्चे पथ का प्रदर्शन करती है, तथा जब तक मनुष्य संसार में बना रहेगा, सदा उसके सामने यह स्थिति आयेगी। इसलिये तत्तत्कालिक धर्मशास्त्रों या नीतिशास्त्रों की अपेक्षा गीता की यह विशेषता है, कि वह एक सार्वभौम तथा सार्वकालिक कर्त्तव्य का प्रतिपादन करती है। कृष्ण और अर्जुन उसमें एक प्रतीकमात्र हैं। यह सब होने पर गीता के ही वर्णनों से यह स्पष्ट होता है[1], कि यह विचारधारा कृष्ण की उत्पत्ति से बहुत प्राचीन समय से चली आरही है, लगभग सृष्टि के आदिकाल से। इसका यह परिणाम निकलता है, कि गीता के वर्णन प्राचीन ऋषियों की विचारधारा के आधार पर किये गये हैं, जो धारा कृष्ण के समय में कुछ धुंधली और शिथिल पड़ गई थी[2]। इसप्रकार गीता में ज्ञान-कर्म अथवा सांख्य-योग के विवेचन का कोई प्राचीन आधार देखना होगा।

यद्यपि अनासक्तियोग—अथवा फलाशारहित होकर कर्त्तव्य बुद्धि से कर्मों का अनुष्ठान करने—की गीताप्रतिपादित सम्पूर्ण भावना का मूल आधार यह वेदमन्त्र कहा जा सकता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ [यजु० ४०।२]॥

और भी अनेक वाक्य इस अभिप्राय के प्राचीन साहित्य से संगृहीत किये जासकते हैं। परन्तु हमें देखना यह है, कि गीता के वर्णनों का आधार वह होना चाहिये, जहां 'सांख्य-योग' नामों पर इन अर्थों का प्रतिपादन किया गया हो। जब कृष्ण यह कहता है—

'एषा ते ऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।'
अथवा 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।'

तब वह गीता के वर्णनों के एक ऐसे आधार का उल्लेख करता है, जहां 'सांख्य' और 'योग' इन नामों से किसी विशेष पद्धति का प्रतिपादन किया गया है, तथा उसको अनेक अनुयायियों ने स्वीकार किया है। कृष्ण ने जिस प्रसंग[3] से योगविषयक प्रवचन प्रारम्भ किया है, उसमें ज्ञान अथवा सांख्य का भी पर्याप्त वर्णन हुआ है, और चतुर्थ अध्याय के अन्तिम भाग में तो ज्ञान की विपुल प्रशंसा की गई है।

---

कोई एक मेरे लिये श्रेयस्कर है, वह ठीक निश्चय के साथ बताइये। कृष्ण उत्तर देता है—हैं तो दोनों ही अतिकल्याणकारक, पर इस समय तुम्हारे लिये कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही ठीक है। इन आधारों पर गीता का यह कथन सब अवस्थाओं में लागू नहीं समझना चाहिये।

१—गीता, ४। १–३॥
२—गीता, ४। २॥
३—गीता, २। ३९ से प्रारम्भ करके।

पांचवें अध्याय के प्रारम्भ में इसी कारण अर्जुन को यह प्रश्न करना पड़ा है, कि इन दोनों में से मेरे लिये जो श्रेयस्कर है, वह एक निश्चयपूर्वक बताओ। तब कृष्ण, अर्जुन की उस स्थिति के अनुकूल कर्मयोग की विशेषता का उल्लेख करता है। परन्तु अगले ही कदम पर 'सांख्य-योग' की एकता का प्रतिपादन करता है। इनका पार्थक्य मानने वालों को मूर्ख बताया है[1]। यद्यपि तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में कहा है, कि ये दो निष्ठा प्राचीनकाल से बराबर चली आती हैं[2]। इससे आपाततः यह धारणा हो जाती है, कि ये दोनों मार्ग पृथक्-पृथक् होने चाहियें। परन्तु वस्तुस्थिति यह है, कि एक ही अर्थ को दो प्रकार से कह दिया गया है। उस अर्थ के दो रूपों में वर्णन के आधार पर वह दो बन गया है। यदि उनमें से किसी एक रूप का आश्रय लेलिया जाय, तो उसके फल में कोई अन्तर नहीं होगा। सांख्यपद्धति से आचरण करने पर जिस स्थिति की प्राप्ति हो जाती है, योगमार्ग का अवलम्बन करने पर भी उसी अवस्था का लाभ होता है। फलतः जो यह समझता है, कि 'सांख्य-योग' एक ही हैं, वही ठीक समझता है[3]।

सांख्य और योग के इस समन्वय का एक विशेष आधार है। गीता में संन्यास एवं त्याग को 'सांख्य' कहा गया है। अठारहवें अध्याय के प्रारम्भ में उल्लेख है—'विद्वानों ने काम्य कर्मों के परित्याग को संन्यास, तथा सब कर्मों के फलों के त्याग को 'त्याग' बताया है[4]।' शास्त्रों में दो प्रकार के कर्म कहे हैं, एक काम्य दूसरे नित्य अथवा नियत। ज्योतिष्टोम, राजसूय, वाजपेय आदि काम्य कर्म हैं। अग्निहोत्र, संध्या, यम नियम आदि का पालन नित्य अथवा नियत कर्म हैं। गीता के उक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है, काम्य कर्मों का त्याग देना संन्यास है, परन्तु 'त्याग' वह है, जिसमें सब प्रकार के कर्मों के फलों का त्याग कर दिया ज़ाय। चाहे काम्य कर्म हो अथवा नित्य, उनके फलों में आसक्ति न रखना 'त्याग' है, इसी स्थिति को 'सांख्य' कहा जाता है।

यह अर्थ अगले श्लोकों में और अधिक स्पष्ट किया गया है। त्याग के तामस राजस सात्त्विक तीन भेद बताते हुए भगवान् कृष्ण ने कहा—नित्य कर्मों—यज्ञ दान तप आदि—का अनुष्ठान करना ही चाहिये। यदि अज्ञान के कारण कोई व्यक्ति इनका त्याग कर देता है, तो वह त्याग 'तामस' है। यदि हम शरीर को कष्ट होने के डर से कर्म को दुःख समझकर छोड़ देते हैं, तो वह 'राजस' त्याग है। ऐसे त्याग से किसी कल्याणकारी स्थिति को प्राप्त करलेने की आशा दुराशामात्र है। कृष्ण कहता है—हे अर्जुन ! जो व्यक्ति अवश्य कर्त्तव्य समझकर कर्म का अनुष्ठान करता है, पर उसमें आसक्ति और फलाशा का त्याग करता

१—गीता, ५। ४, ५॥

२—गीता, ३। ३॥

३—गीता, ५। ४–५॥

४—काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ १८। २॥

है, वही सात्त्विक त्याग' है । जो दुःखदाई कर्मों में द्वेषबुद्धि नहीं रखता, और सुखदाई कर्मों में आसक्त नहीं रहता, वह संदेहरहित बुद्धिमान् सात्त्विक त्यागी समझना चाहिये । क्योंकि कोई व्यक्ति समस्त कर्मों को छोड़कर रह नहीं सकता, इसलिये कर्म छोड़ने की बात कहना ढोंग है। कर्म करते हुए भी उनके फलों का त्याग करनेवाला अर्थात् आसक्ति एवं फलाशारहित व्यक्ति ही वास्तविक त्यागी कहा जाता है, [ १८ । ७–११ ] यही 'सांख्य' स्थिति है ।

यदि हम काम्य कर्मों को ही सर्वथा छोड़ देते हैं, तो उनके फलों में आसक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, और यह 'तामस' त्याग है । इसके अतिरिक्त त्याग के स्वरूप में 'सर्वकर्मफलत्यागं' कहा है, 'काम्यकर्मफलत्यागं' अथवा 'नित्यकर्मफलत्यागं' नहीं कहा । इससे परिणाम निकलता है, कि फलों में आसक्ति न रहने पर भले ही हम काम्य कर्मों का अनुष्ठान करें, और वह अनुष्ठान होना ही चाहिये, अन्यथा फलों में अनासक्ति की भावना ही प्रस्फुटित कैसे होगी; तब भी वे कर्म बन्धन के कारण नहीं होते, प्रत्युत आत्म-शुद्धि में सहायक ही होते हैं ।[1]

इसप्रकार गीता का पर्यालोचन हमें इस परिणाम पर पहुंचाता है, कि 'सांख्य योग' किसी एक ही पद्धति के दो पार्श्वमात्र हैं । जब हम यह कहते हैं, कि 'फलाशा रहित होकर कर्मानुष्ठान–'योग' अथवा कर्मयोग है, तब उसमें संन्यास अथवा 'सांख्य' का समावेश हो जाता है । फलाशा से रहित होना अथवा फलों में अनासक्ति होना संन्यास त्याग या 'सांख्य' का स्वरूप है, और कर्मानुष्ठान 'योग' का । इन दोनों में से कोई एक अंश दूसरे के विना अपने अस्तित्व का लाभ नहीं करसकता । यदि हम कर्मों का अनुष्ठान तो करते हैं, पर फलों में आसक्ति का त्याग नहीं करते, तो वह कर्मानुष्ठान 'योग' नहीं कहा जाएगा । वह केवल काम्य कर्म का अनुष्ठान होगा और वह अनुष्ठान करने वाले को बन्धन में डालने वाला होगा। इसलिये 'योग' के पूर्ण स्वरूप के लिये कर्मानुष्ठान के साथ 'फलाशाराहित्य' आवश्यक है । फलतः संन्यास या सांख्य के विना योग चल नहीं सकता ।

इसीप्रकार फलों में अनासक्ति की भावना के प्रस्फुटित होने के लिये कर्मानुष्ठान आवश्यक है । यदि कर्म ही न करेंगे, तो फलों की आशा क्या कर सकते हैं । ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है, कि योग अर्थात् कर्मानुष्ठान के विना 'सांख्य' का स्वरूप अस्तित्व में नहीं आसकता । दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं, अथवा एक-दूसरे में समाविष्ट हैं। इसी आधार पर गीता में 'सांख्य-योग' को एक कहा गया है । छठे अध्याय के प्रारम्भ में स्पष्ट उल्लेख है–' [2]जो व्यक्ति कर्मफल का आश्रय न लेकर कर्त्तव्य कर्म का पालन

१—गीता, ५।११ ।।

२—अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।

करता है, वह संन्यासी है, और वही योगी है; न कि वह, जिसने अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ दिया है, और न वह, जो प्रत्येक कर्म को छोड़कर निठल्ला होकर बैठा है। ऋषियों ने जिसको संन्यास [सांख्य] कहा है, हे अर्जुन ! उसी को तुम योग समझो। क्योंकि संन्यास [सांख्य अथवा त्याग–अनासक्ति एवं फलाशाराहित्य] का संकल्प किये विना कोई व्यक्ति योगी नहीं हो पाता।'

जैसे संन्यास [फलत्याग] का संकल्प किये विना कर्मानुष्ठानमात्र से कोई योगी नहीं होसकता, वैसे ही कर्मानुष्ठान के विना कोई व्यक्ति संन्यासी [फलत्यागी] नहीं होसकता। गीता के पंचम अध्याय के प्रारम्भ में कहा है–'हे अर्जुन ! विना योग [कर्मानुष्ठान] के संन्यास अवस्था को प्राप्त करना शक्य नहीं, जो मुनि योगयुक्त है, वह शीघ्र ही संन्यास [सांख्य-ज्ञान] अवस्था को प्राप्त कर [अपने अन्तिम ध्येय] ब्रह्म को पा लेता है[1]।' जब इसप्रकार सांख्य और योग की एकता है, तभी यह कहा जा सकता है, कि 'इन दोनों में से किसी एक के अनुष्ठान से वही फल प्राप्त होता है, जो दूसरे के अनुष्ठान से प्राप्त होता[2]।' फलतः गीता के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि वह 'सांख्य-योग' को एक मार्ग के दो पहलू समझती है।

इस विचार को निम्नलिखित रीति पर अधिक स्पष्ट किया जासकता है। जब कोई व्यक्ति किसी स्थान से अपने एक विशेष लक्ष्यस्थान पर जाना चाहता है, तब उसे एक निश्चित मार्ग का आश्रय लेना पड़ता है। वह मार्ग अनेक प्रदेशों में बंटा होता है। यह भी माना ही जायेगा, कि एक प्रदेश दूसरे से कुछ विशेषता रखता है, और एक प्रदेश को लांघकर ही दूसरे में जाया जासकता है, फिर भी वह आदि से अन्त तक सम्पूर्ण मार्ग एक है, क्योंकि उसका लक्ष्य एक है। समझने की सुविधा के लिये उस मार्ग के दो भाग कर लेते हैं, एक प्रारम्भिक दूसरा अन्तिम। पहला 'क' और दूसरा 'ख' है। जो व्यक्ति मार्ग के 'क' भाग पर चल रहा है, वह उसी लक्ष्य स्थान पर पहुंचेगा, जिस पर मार्ग के 'ख' भाग पर चलने वाला व्यक्ति पहुंचेगा। यद्यपि माग के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं और चलने वाले व्यक्ति भी भिन्न हैं, परन्तु उनका लक्ष्य एक होने से वे दोनों एक ही मार्ग पर चल रहे हैं। मार्ग के प्रदेशों का इतना सन्निहित साहचर्य है, कि उनके भेद की कल्पना नहीं की जासकती।

मनुष्य-जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये जिस मार्ग का आश्रय लेना पड़ता है, उसका एक प्रदेश कर्म और दूसरा ज्ञान है। कर्म, क्रियारूप अथवा अनुष्ठानरूप है, परन्तु ज्ञान ऐसा नहीं, इसलिये वह शाब्दिक भी है और साक्षात् भी। जीवन का

---

**यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।**
**नह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।**

१—गीता, ५।६॥

२—गीता, ५।४-५॥

अन्तिम लक्ष्य साक्षात् ज्ञान है। जब किसी व्यक्ति को चेतन और अचेतन के भेद का साक्षात्कार हो जाता है, तो समझना चाहिये, कि उसने अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है। जड़ से अतिरिक्त चेतन आत्मा का साक्षात्कार होना ही तो व्यक्ति-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। ऐसे ही चेतन-ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान का नाम 'सांख्य' है। यह 'सांख्य' पदका मुख्य अर्थ है। इससे पहले किसीभी व्यक्ति को जो चेतन-अचेतन के भेद का ज्ञान होता है, वह शाब्दिक है। उसको गौणरूप से 'सांख्य' कहा जायेगा। यह ज्ञान भी आस्था पूर्वक और विवेचनापूर्वक होना चाहिये। कर्मानुष्ठानरूप 'योग' के साथ प्रथम यही 'सांख्य' रहता है।

जब तक हमें आस्थापूर्वक चेतन-अचेतन के भेद का शाब्दिक ज्ञान भी नहीं होता, तब तक हम कर्मानुष्ठान में फलों की आसक्ति को छोड़ नहीं पाते। पर चेतन-अचेतन का आस्थापूर्ण भेदज्ञान होने पर—चाहे वह शाब्दिक ही हो—फलासक्ति को छोड़ने के लिये अग्रसर हो सकते हैं। क्योंकि उस समय हमारा अन्तिम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार है, और कर्मों के फल—जिनकी आकांक्षा हम रख सकते हैं—सब जड़ अप्रकाश तथा अल्प-क्षणस्थायी हैं, परन्तु आत्म-साक्षात्कार ऐसा नहीं, वह प्रकाश चेतन तथा स्थायी है। इसलिये कर्मानुष्ठान के साथ जब हमें आत्म-अनात्म अथवा चेतन-अचेतन के भेद का आस्थापूर्ण ज्ञान होता है, तभी हममें फलों के प्रति अनासक्ति की भावना जागृत हो पाती है। इसप्रकार कर्म और ज्ञान अथवा योग एवं सांख्य एक-दूसरे के सहयोग पर चलते हैं। वस्तुतः समानान्तर चलने वाले ये दो विभिन्न मार्ग नहीं हैं, प्रत्युत एक ही मार्ग के परापर विभाग हैं, जो कभी परस्पर प्रतिकूल स्थिति में नहीं आते, एक दूसरे के पूरक होकर अवस्थित रहते हैं, यही इनकी एकता है।

यह स्पष्ट किया गया, कि कर्मानुष्ठान के साथ फलों में आसक्ति का न होना, चेतन-अचेतन के आस्थापूर्ण भेदज्ञान पर आधारित है, तथा 'योग' में जिन कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, वे वर्णाश्रमों के लिये शास्त्र-प्रतिपादित कर्म ही हैं। अब हमें यह देखना चाहिये, कि क्या इन 'सांख्य-योग' पदों का सम्बन्ध कापिल सांख्य और पातंजल योग से किंचित् भी नहीं है? कम से कम गीता का पर्यालोचन हमें इस परिणाम पर नहीं पहुंचाता, कि इन पदों का सम्बन्ध कापिल अथवा पातंजल दर्शन से नहीं है। प्रथम हम 'योग' पद के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत करते हैं।

(१)—पहली बात यह है, कि 'योग' में जिन कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, वे वर्णाश्रम कर्म हैं। परन्तु आत्मज्ञान के मार्ग पर चलने वाले के लिये जिन कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है, उनका पातंजल योग में विशेष वर्णन उपलब्ध होता है। इन में सर्वप्रथम स्थान यम-नियम का है। प्रत्येक आत्मज्ञान के अभिलाषी के लिये यम नियम का पालन अत्यावश्यक है। फिर भी आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्ति के लिये यह आवश्यक नहीं है, कि घर-बार छोड़कर तथा बाह्य चिन्ह के लिये वस्त्र आदि को विशेष

रंगों में रंगकर जंगल में ही जाया जावे। स्वस्थचित्त प्रत्येक व्यक्ति कहीं भी रहता हुआ, जीवन निर्वाहार्थ किसी भी कार्य में लगा हुआ, आत्मज्ञान की दिशा में प्रयत्नशील हो सकता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को यम नियमों के पालन करने का पूरा अधिकार है। पातंजल दर्शन में तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को विशेषरूप से 'क्रिया-योग' नाम दिया गया है [योग० २।१], यह नाम हमारा ध्यान गीता के 'कर्मयोग' की ओर आकृष्ट करता है। गीता [१८।५] में भी तप-दान और यज्ञ को आवश्यक कर्त्तव्य कर्मों में गिनाया है। इसप्रकार गीता के इन विचारों का समन्वय पातंजल दर्शन के साथ स्पष्ट है।

(२)—कृष्ण ने योग का प्रवचन गीता के द्वितीय अध्याय के ३९ वें श्लोक से प्रारम्भ किया है। इसका विशेष विस्तार छठे अध्याय के अन्त तक चला गया है। छठे अध्याय के प्रारम्भ में नवम श्लोक तक गीताभिमत तथाकथित 'योग' का स्वरूप स्पष्ट किया है—फलों में अनासक्तिपूर्वक कर्मों का अनुष्ठान, और उस पर आचरण करने वाले व्यक्ति को योगी कहा है। इसके आगे दसवें श्लोक से वही योग और योगी का वर्णन पातंजल दर्शन में प्रवेश कर जाता है। वहां पर योग अथवा योगी के आचरण व अभ्यास के सम्बन्ध में जो कुछ गीता का वर्णन है, वह सब सोलह आने पातंजल दर्शन है। अन्त में तो मनोवृत्तियों का निरोध ही 'योग' रह गया है, और उन वृत्तियों के निरोध के लिये कौन्तेय को साधनरूप में अभ्यास एवं वैराग्य का उपदेश दिया गया है, जो पातंजल दर्शन के प्रारम्भिक दूसरे तथा बारहवें सूत्र का अनुवादमात्र है। कृष्ण कहता है—'जिसने अपने अन्तःकरण को वश में नहीं कर लिया है, उसके लिये योग को प्राप्त करना कठिन है, ऐसा मेरा निश्चय है। हां! जिसने अपने अन्तःकरण को वश में कर लिया है, वह विधिपूर्वक यत्न करने पर 'योग अवस्था' को प्राप्त कर सकता है [६। ३६]।' इन सब उपायों का निर्देश पातंजल दर्शन में किया गया है। ऐसी स्थिति में यह कहना, कि गीता के इन प्रसंगों में 'योग' पद पातंजल योगदर्शन की ओर संकेत नहीं करता, कहां तक ठीक कहा जासकता है, इसका निर्णय विद्वान् ही करें।

अब इस प्रसंग में 'सांख्य' पद के प्रयोग की ओर हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। द्वितीय अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक में कहा गया है—'यहां तक सांख्यविषयक बुद्धि का प्रवचन किया गया।' यह प्रवचन द्वितीय अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से प्रारम्भ होता है, और अडतीस श्लोक तक आकर समाप्त हो जाता है। हमें विचारना है, कि इस प्रवचन में कहा क्या गया है, इसका निष्कर्ष क्या है? कृष्ण का यह प्रवचन कोई बहुत लम्बा चौड़ा नहीं है। कोई भी विचारशील विद्वान् देख सकता हैं, कि इसमें केवल दो तत्त्वों का विवेचन है, एक चेतन और दूसरा जड़। अर्जुन मोह से आकुल हुआ जब यह समझता है—मैं अपने सम्मुख खड़े सगे-सम्बन्धियों को कैसे मारूं? तब कृष्ण उसे यह स्पष्ट करना चाहता है, कि मरने जीने वाले ये शरीर सर्वथा नश्वर

हैं। तू इन्हें न मारकर भी सदा के लिये इनकी रक्षा नहीं कर सकता। जो जन्मता है वह मरेगा अवश्य, और यह जन्मना मरना भी परिणामी जड़ का कार्य है, चेतन आत्मा सर्वथा इससे रहित है, न वह जन्मता है न मरता। वह सदा एकरूप है। इस स्थिति में तू किसी तरह का अन्तर नहीं डाल सकता। इस वास्तविकता को समझकर अपने कर्तव्य का पालन कर।

कृष्ण के प्रवचन का यह संक्षेप कापिल-सांख्य सिद्धान्त का निर्देश है। कापिल-सांख्य में चेतन और जड़ इन दो तत्त्वों का ही तो विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आत्मा और अनात्मा के भेद को जान लेना 'सांख्य' है। कृष्ण ने इस प्रसंग में उसी को मोहाकुल अर्जुन के सन्मुख स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, तथा उसीके सम्बन्ध में यह कहा है–'सांख्य में जो ज्ञान बताया गया है, वह तेरे सन्मुख कथन कर दिया [२।३९]।' कापिल सांख्यसूत्रों में ऐसा विवेचन मिलता है, कि प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञान में काम्यकर्म ही बाधा डालते हैं,[1] अकाम्य कर्म नहीं। इसलिये सांख्य कर्मों को छोड़कर निठल्ले बैठ जाने का उपदेश कभी नहीं करता। प्रत्युत वह प्रत्येक वस्तु व व्यवहार में त्रैगुण्य का सामञ्जस्य करके अपनी सार्वदिक व्यावहारिकता का स्पष्टीकरण करता है, वह केवल उस त्रैगुण्य जड़ और त्रिगुणातीत चेतन आत्मा की सचाई को सामने रखना चाहता है, जो वास्तविक है। इसप्रकार गीता ने अपने विषयवर्णन में सांख्य का पर्याप्त आश्रय लिया है। 'सांख्य' और 'योग' पदों का गीता में क्या सामञ्जस्य है, तथा इसका क्या स्वरूप है, यह यथा-सम्भव स्पष्ट कर दिया गया है।

कापिल-सांख्य और पातञ्जल योग का पारस्परिक सामञ्जस्य एतद्विषयक विद्वानों से छिपा नहीं है। साख्य और योग समानशास्त्र हैं, तथा एक ही पद्धति का अनुसरण करते हैं। चेतन और अचेतन के भेद का साक्षात्कार ज्ञान 'सांख्य' है। सांख्य में इस अवस्था को प्राप्त करने के उपायरूप से समाधि का उल्लेख किया गया है, उसी अंश को पातञ्जलयोग पूरा करता है। किन क्रियाओं अथवा कर्मों के अनुष्ठान से समाधिलाभ किया जा सकता है, इसीका प्रतिपादन पातञ्जल योग करता है। इसप्रकार कापिल-सांख्य एवं पातञ्जल योग में कोई उल्लेखनीय भेद नहीं रह जाता, इसलिये उन दोनों का एक कहा जाना युक्त है। फलतः गीता में 'सांख्य-योग' पद ऐसे पारिभाषिक नहीं हैं, जिनका प्रयोग केवल गीता द्वारा उद्भावन किया गया हो। कापिल और पातञ्जल दर्शन में प्रतिपादित अर्थों का वर्णन करने की भावना से ही गीता में इन पदों का प्रयोग हुआ है।

## सांख्यसिद्धान्त और पुराण।

सब पुराणों में सृष्ट्युत्पत्ति-प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। जगत्सर्ग के सम्बन्ध में पुराणों की साधारण प्रवृत्ति इस बात को स्पष्ट करती है, कि इस दिशा में पुराणों पर सांख्य का अतिशय प्रभाव है। त्रिगुणात्मक प्रकृति, प्रकृति से महदादि कार्यों की उत्पत्ति

१—इसके लिये देखें–षडध्यायी सांख्यसूत्र, १।५०॥३।२५, ३२, ३५॥

और उनका क्रम, सब सांख्य के अनुसार वर्णन किया गया है। प्रकृति और पुरुष अर्थात् जड़ एवं चेतन की भिन्नता के स्पष्ट उल्लेख पुराणों में उपलब्ध होते हैं। पुरुष अर्थात् चेतन को दो रूपों में वर्णन किया गया है, एक भोक्ता तथा दूसरा सब जगत् का अधिष्ठाता एवं नियन्ता। अनेक पुराणों से ऐसे उल्लेखों का यहां दिग्दर्शन कराने का यत्न किया जायेगा, जिनमें इन सिद्धान्तों का वर्णन है।

**विष्णुपुराण**—के १।२।१९-२३ श्लोकों में प्रकृति-पुरुष [जीवात्मा] तथा परमात्मा का वर्णन है। प्रकृति के स्वरूप का उल्लेख वहां इन शब्दों में किया है—

अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः।
प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम्[1] ॥
×　　×　　×
शब्दस्पर्शविहीनं तद् रूपादिभिरसंहतम्।
त्रिगुणं तज्जगद्योनिः.........

उत्तम ऋषियों ने 'प्रधान' नामक जो जगत् का अव्यक्त कारण कहा है, वही सूक्ष्म प्रकृति है। वह नित्य तथा सद्रूप एवं असद्रूप है। उसका त्रिगुणात्मक अथवा कारण-रूप से सदा विद्यमान रहना 'सद्रूप' कहलाता है, और कार्यरूप से सदा न रहना 'असद्रूप' है। विष्णुपुराण के टीकाकार श्रीधरस्वामी ने इन पद्यों का अर्थ 'कार्यकारणशक्तियुक्तम्' किया है। प्रकृति, शब्द-स्पर्श आदि व्यक्तरूपों से रहित है, अर्थात् केवल कारण अवस्था में रहते हुए प्रकृति में शब्द स्पर्श आदि व्यक्तस्वरूपता नहीं रहती। उस समय वह केवल 'त्रिगुण' है। उसका वास्तविक स्वरूप त्रिगुणात्मक है। वही जगत् की उपादानकारण है। यहां पर पुराणकार ने जगत् का उपादान चेतन को नहीं बताया। २३वें श्लोक में जगत्सर्ग से पहले प्रलय का वर्णन इसप्रकार किया गया है—

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत् तमो ज्योतिरभून्न चान्यत्।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेवं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥

पुराण का यह वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के अनुसार है। इसका उल्लेख इसी ग्रन्थ के 'सांख्यसिद्धान्त वेदमूलक हैं' नामक अध्याय में विस्तारपूर्वक किया गया है[2]। प्रलयकाल में दिन-रात, द्यु, भूमि आदि कुछ भी न था। इसप्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियों से उपलब्ध न होनेवाला प्रधान ब्रह्म तथा पुरुष ही उस समय था। विष्णुपुराण के टीकाकार श्रीधर स्वामी ने प्रस्तुत श्लोक के अन्तिम चरण की व्याख्या करते हुए लिखा है— 'प्राधानिकं—प्रधानमेव प्राधानिकं ब्रह्म च पुमांश्चेति त्रयमेव तदा प्रलये आसीत्।' प्रलयकाल में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति इन तीन तत्त्वों का अस्तित्व था। प्रकृति का कार्यरूप यह जगत् उस समय न था।

---

**१— तुलना कीजिये—मनु० [१।३१] के साथ। विष्णुपुराण १।२।१९—२१ ॥**
**२—तुलना कीजिये—ऋग्वेद १०।१२९।१—२ ॥ नासदीय सूक्त के साथ।**

विष्णुपुराण के इन श्लोकों के आगे द्वितीय अध्याय की समाप्ति तक सांख्य-सिद्धान्तों के अनुसार प्रकृति से महत् आदि की उत्पत्ति का क्रमपूर्वक वर्णन किया गया है। उसमें कोई ऐसा अपवाद उपस्थित नहीं किया जा सकता, जिसमें सांख्यसिद्धान्तों की अनुकूलता न हो।

सम्पूर्ण कार्यजगत् के मूल आधार प्रकृति को विष्णुपुराण में अनन्त तथा असंख्यात रूप बताया गया है[1]। जगत् का स्थितिकाल समाप्त होने पर जब प्रलय आने को होता है, तब प्रतिलोमक्रम के अनुसार प्रत्येक कार्य अपने कारण में लीन होने लगता है, इस-प्रकार प्रकृति का प्रथम कार्य महत्तत्त्व भी सम्पूर्ण जगत् को अपने में लीन कर अन्त में स्वयं प्रकृति में लीन हो जाता है। स्थितिकाल में दृष्टिगोचर होनेवाले सहस्रों, लाखों, करोड़ों असंख्यात लोक-लोकान्तर उस समय मूलकारण प्रकृति में विलीन रहते हैं। वह कारणरूप प्रकृति अपने अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों अथवा विद्युत्तरंगों के रूप में अनन्त एव असंख्यात है। कोई ऐसा स्थान नहीं, जहां उसके सूक्ष्म परमाणु मूलतत्त्व विद्यमान न हों। इसी रूप में उसको व्यापी कहा गया है और इसीलिये वह एक है, क्योंकि किसी दूसरे से मिलकर वह जगत् का उपादान नहीं बनती, केवल वही उपादान है।

यहां पुनः विष्णुपुराण में तीन तत्त्वों की स्थिति का प्रलय में उल्लेख है। प्रधान, पुरुष [जीवात्मा] तथा सबमें अन्तर्यामीरूप से रहनेवाला परमात्मा। प्रस्तुत पुराण में उसको 'विष्णु' नाम से कहा गया है। प्रधान और पुरुष को परमात्मा के आश्रित बताया है। इनकी नित्य और स्वतन्त्र सत्ता होते हुए भी परमात्माकी प्रेरणा के विना ये अपने पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते। जीवपुरुष जगद्रचना हो जाने पर अपने भोग मोक्षादि के लिय प्रवृत्त हो पाता है, और जगत् की रचना में परमात्मा की प्रेरणा मुख्य कारण कही जाती है। अन्यथा जड़ प्रकृति स्वयं जगद्रचना में असमर्थ रहती है। इसीलिये पुरुष तथा प्रकृति को परमात्मा के आश्रित कहा गया है। सर्गकाल में विष्णु की शक्ति को

---

**१—इस सन्दर्भ में प्रतिपादित अर्थ को विष्णुपुराण में निम्नलिखित श्लोकों द्वारा प्रकट किया गया है—**

**महान्तञ्च समावृत्य प्रधानं समवस्थितम्।**
**अनन्तस्य न तस्यान्तः संख्यानं चापि विद्यते॥**
**तदनन्तमसंख्यातप्रमाणं व्यापि वै यतः।**
**हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सा परा मुने॥**
**अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।**
**ईदृशानां तथा तत्र कोटि-कोटिशतानि च॥**

**[२।७।२५-२७]**

**सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति अनन्तरूप है। वह व्यक्तिरूप से एक नहीं है, इसका विस्तृत विवेचन 'प्रकृति' नामक प्रकरण में किया गया है।**

प्रकृति के आद्य क्षोभ का कारण बताया गया है[1]। सांख्य का यह परम सिद्धान्त है, कि अचेतन प्रकृति चेतन अधिष्ठाता के विना प्रवृत्तिशील नहीं होपाती[2]।

**कूर्मपुराण**—पूर्वार्द्ध के प्रथम अध्याय [१।२७–३८] में समुद्रमन्थन से प्रादुर्भूत 'श्री' [विष्णुपत्नी] को 'सर्वजगत्सूतिः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः' कहा है।

पुराणों में समुद्र-मन्थन का अनेक स्थलों पर उल्लेख आता है। उन सबका किसी एक घटना में समन्वय करना इस समय हमारे लिये कोई विशेष उपयोग नहीं रखता। परन्तु कूर्मपुराण का उपर्युक्त लेख प्रस्तुत प्रसंग पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। परमात्मा की प्रेरणा से प्रकृति का प्रत्येक कण जब विक्षुब्ध हो उठता है, इसीका नाम समुद्र-मन्थन है। प्रकृति स्वयं एक महान समुद्र के समान समझी गई है, उसका प्रत्येक परमाणु जब आद्य-प्रेरणा से तीव्र गतिशील हो नाच उठता है, यही उसका मन्थन है। पुरुषों के शुभ और अशुभ कर्म ही वे देव और असुर हैं, जो इस मन्थान-रज्जु को खींचते हैं। कर्म भी जगद्रचना में कारण बताये गये हैं। उस मन्थन से रत्न और अमृत पैदा हुआ। संसार में भोग और मोक्ष दोनों के लिये पुरुष का प्रयत्न है। जो आसुरी मनोवृत्ति के पुरुष हैं, वे रत्नों पर पड़ते हैं, अर्थात् सांसारिक भोगों में लगे रहते हैं। जो दैवी मनोवृत्ति के हैं, वे अमृत पाते हैं, अर्थात् मोक्ष की ओर प्रवृत्त होते हैं। परमात्मा विष्णु है, और प्रकृति को उसकी पत्नी कहा गया है। इसीलिये वह सब जगत् का उपादान और त्रिगुणात्मिका बताई गई है। अव्यक्त, जगत्कारण, प्रधान अथवा प्रकृति को [पू०-४।६ में] 'सदसदात्मक' बताया गया है[3]।

परमेश्वर की प्रेरणा से प्रकृति में प्रवृत्ति होती है [४।१३]। चेतन अधिष्ठाता के विना ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति नहीं होती[4] [४।३५]। प्रकृति से महदादि समस्त सर्ग की उत्पत्ति [४।१६–३२ में], सांख्यमतानुसार वर्णन कीगई है। अगले श्लोकों में सत्त्व-रजस्

---

१—विष्णुपुराण में ये अर्थ निम्नश्लोकों द्वारा कहे गये हैं—

प्रधानं च पुमांश्चैव सर्वभूतात्मभूतया।
विष्णुशक्त्या महाबुद्धे ! वृतौ संश्रयधर्मिणौ॥
तयोः सैव पृथग्भावकारणं संश्रयस्य च।
क्षोभकारणभूता च सर्गकाले महामते॥ [वि०पु० २।७।२९–३०]

२—सांख्य के इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के 'प्रकृति' तथा 'पुरुष' नामक प्रकरणों में किया गया है।

३—तुलना कीजिये—विष्णुपुराण, १।२।१९॥ मनुस्मृति १।११॥

४—तुलना कीजिये—विष्णु पुराण, १।२।५०॥ तथा सांख्यदर्शन १।६१॥ पञ्चशिखसूत्र ३, देखें—'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ ४७९॥

तमस् की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता का स्पष्ट उल्लेख किया गया है[1]। पूर्वार्द्ध के सम्पूर्ण चतुर्थ अध्याय में प्राकृत सर्ग का विस्तृत निरूपण है।

कूर्मपुराण उत्तरार्द्ध के प्रारम्भिक कुछ अध्याय 'ईश्वरगीता' कहे जाते हैं। वहां [२।७-११ में] परमात्मा को प्रकृति और पुरुष से सर्वथा भिन्न कहा गया है। प्रपञ्च और परमात्मा का तमः-प्रकाश के समान सर्वथा भेद बताया गया है। प्रकृति और पुरुष [जीवात्मा] को छाया-आतप के समान परस्पर भिन्न कहा है। इस भेद का कारण, प्रकृति का जड़ [छाया-अन्धकार] और पुरुष का चेतन [आतप--प्रकाश] होना है।

ईश्वरगीता [कूर्म० उत्त०, ७।२६] में प्रकृति का स्वरूप निम्नलिखित शब्दों के द्वारा प्रकट किया गया है—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयमुदाहृतम्।
साम्यावस्थितिमेतेषामव्यक्तां प्रकृतिं विदुः॥

इससे 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' यह सांख्यसूत्र [१।२६] तत्काल स्मरण हो आता है। कदाचित् इस सूत्र को देखकर ही पुराणकार ने यह श्लोक लिखा हो।

**अग्निपुराण**— के ३६६वें अध्याय के प्रारम्भिक [१--५] श्लोकों में सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार पच्चीस तत्त्वों का निर्देश किया गया है। आगे [३७५। २० में] जीवात्मा का अणुपरिमाणरूप में उल्लेख है[2]। अगले अध्याय [३७६।१२-१३] में लिंगशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर का स्पष्ट उल्लेख आता है। उसके घटक तत्त्वों की संख्या भी वहां बताई गई है। वहांके श्लोक इसप्रकार हैं—

अपञ्चीकृतभूतानि तत्कार्यं लिङ्गमुच्यते॥
संयुक्तं सप्तदशभिर्हिरण्यगर्भसंज्ञितम्।
शरीरमात्मनः सूक्ष्मं लिङ्गमित्यभिधीयते॥

'अपंचीकृतभूत' सूक्ष्मभूतों को कहा गया है। इन्हीं को सांख्य में तन्मात्र तथा अविशेष कहा जाता है। इन्हीं सूक्ष्मभूतों का कार्य सूक्ष्मशरीर अथवा लिंगशरीर बताया

---

१—शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः।
परस्परानुप्रवेशाद्धारयन्ति परस्परम्॥
एते सप्त महात्मानो ह्यन्योन्यस्य समाश्रयात्।
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः॥
[कूर्म पु०, पू० ४।३३-३४]

२—सांख्य-सिद्धान्त में जीवात्मा [-जीव पुरुष] को 'अणु' माना गया है। इसका सप्रमाण विवेचन 'पुरुष' नामक प्रकरण में किया गया है।

गया है। यह सप्तदश[1] तत्त्वों से युक्त होता है। इसी को कहीं साहित्य में 'हिरण्यगर्भ' नाम दिया गया है[2]। जगत् के स्थितिकाल में आत्मा के साथ सतत सम्बन्ध रखने वाला यही सूक्ष्मशरीर अथवा लिङ्गशरीर कहा जाता है।

सर्ग के आदिकाल से प्रत्येक आत्मा का सम्बन्ध एक सूक्ष्मशरीर के साथ होजाता है, जो निरन्तर बना रहता है। स्थूलदेह का त्याग होने पर भी आत्मा उसी शरीर के कारण 'शरीरी' रहता है, और उसी के द्वारा स्थूल देहान्तरों में जाता आता है। इसी कारण सांख्य में इसको आतिवाहिक शरीर भी कहा गया है, क्योंकि यह आत्मा का सदा वहन करता है। आत्मा के साथ सदा रहने वाले सूक्ष्मशरीर की कल्पना, सांख्य का अपना सिद्धान्त है। यद्यपि वेदान्त में आत्मा के आतिवाहिक तत्त्वों की कल्पना है, परन्तु शांकरमत के अनुसार उन आतिवाहिक तत्त्वों में पांच सूक्ष्मभूतों की गणना नहीं है। उनके अतिरिक्त पांच प्राणों की गणना कीगई है, जो सांख्य के अनुसार करणों के वृत्ति-मात्र हैं, तथा उनकी अतिरिक्त गणना इसीलिये अनावश्यक है। प्रस्तुत पुराण के लेख में पांच सूक्ष्मभूतों का उल्लेख है, प्राणों का नहीं, इसलिये इसको सांख्यानुसारी कहा जा-सकता है।

अग्निपुराण [ ३८१।३–१० ] में कुछ सांख्याचार्यों के विशेष विचारों का उल्लेख किया गया है। उन आचार्यों में से ये उल्लेखनीय हैं–कपिल, पंचशिख, जनक, जैगीषव्य, देवल तथा सनक।

**ब्रह्मपुराण**—के प्रथम अध्याय में श्लोक है—

अव्यक्तं कारण यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम्।<br>
प्रधानं पुरुषस्तस्मान्निर्ममे विश्वमीश्वरः[3]॥

इस श्लोक से स्पष्ट है, कि ईश्वर सदसदात्मक नित्य उपादानकारण अव्यक्त प्रधान से जगत् की रचना करता है। अव्यक्त त्रिगुणात्मक उपादानकारण का 'सदसदात्मक'

१—**ब्रह्मपुराण** [ २३५।१६ ] में भी सप्तदश तत्त्वात्मक सूक्ष्मदेह का उल्लेख आता है। सांख्यग्रन्थों में सूक्ष्मशरीर के अठारह तत्त्व गिनाये जाते हैं–तेरह करण [–पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, तीन–बुद्धि अहंकार मन–अन्तःकरण] तथा पांच सूक्ष्मभूत। कहीं कहीं बुद्धि और अहंकार को एक मानकर सत्रह तत्त्व गिनाये गये हैं।

२—श्वेताश्वतर उपनिषद् [ ३।४ तथा ४।१२ ] में 'हिरण्यगर्भ' का उल्लेख आता है, वहां पर प्रकृति का आद्य कार्य 'महत्' उक्त नाम से कहा गया है, ऐसा प्रतीत होता है। सूक्ष्मशरीर का संचालक महत्तत्त्व अथवा बुद्धितत्त्व माना गया है, इसलिये सम्भव है, उसकी श्रेष्ठता या प्रधानता के कारण यहां पुराण में शरीर को ही वह नाम देदिया हो।

३—**ब्रह्मपुराण**, १।३३॥ इसकी तुलना कीजिये–मनु० १।११॥ विष्णुपुराण, १।२।१९–२०॥ कूर्मपुराण, पूर्वार्द्ध, ४।६॥

रूप सांख्य में प्रतिपादन किया गया है। उक्त श्लोक में 'पुरुष' पद के साथ 'ईश्वर' पद का निर्देश होने से यह स्पष्ट होजाता है, कि जगद्रचयिता ईश्वर-पुरुष के अतिरिक्त और भी पुरुष है, जो जगद्रचयिता नहीं। इससे पुराणकार के मत में ईश्वर से भिन्न जीव-पुरुष का अस्तित्व स्पष्ट होता है।

इससे यह भी स्पष्ट होता है, कि ईश्वर स्वयं जगद्रूप में परिणत नहीं होजाता, प्रत्युत वह मूल उपादान प्रधान अथवा प्रकृति से इस जगत् की रचना करता है। अनेक स्थलों में ईश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के निमित्तकारण और उपादानकारण की एकता का उल्लेख पाया जाता है। इसप्रकार के निर्देशों का मूल आधार यही प्रतीत होता है, कि इन दोनों शक्तियों को एक पूर्ण देह के रूप में कल्पना कर लिया जाता है। क्योंकि वस्तुस्थिति यही है, कि चेतन ईश्वर के विना प्रकृति स्वयं जड़ होने से कुछ भी कर नहीं सकती, और ईश्वर इस दृश्यमान जड़ जगत् की रचना मूल-उपादान प्रकृति के विना अपने रूप से नहीं कर सकता। इसलिये इन दोनों को एक पूर्णता के रूप में कल्पना कर लिया जाता है। इसी आधार पर उनकी एकता के वर्णन जहां तहां उपलब्ध होजाते हैं, जिन्हें औपचारिक ही समझा जासकता है। वस्तुतः ये दोनों तत्त्व परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। ये सब भाव ब्रह्मपुराण के निम्न श्लोक से ध्वनित होते हैं—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां तु सोऽसृजद् विविधाः प्रजाः[१]॥ [१।५२]

इस पुराण के २३८ और २३९वें अध्याय में कपिल और कापिल-सांख्य का बहुत प्रशंसापूर्ण शब्दों में उल्लेख किया गया है—

सांख्यं वै मोक्षदर्शनम् ।२३८।५॥
सांख्याः शास्त्रविनिश्चयाः ।२३८।७॥
मार्गज्ञाः कापिलाः सांख्याः ।२३९।५१॥
सांख्या विप्रा ! महाप्राज्ञाः ।२३९।५८, ९७॥
कापिलानां महात्मनाम् । २३९।८२॥
सांख्याश्चामितदर्शनाः । २३९।१०२॥

इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है, कि कपिल और कापिल सांख्य का पुराणरचयिता पर कितना प्रभाव था।

**गरुडपुराण**—के २२७-२२९ अध्यायों में सांख्य का विस्तृत वर्णन है। [२२७। १६ में] लिखा है—'साम्यावस्था गुणकृता प्रकृतिः' अर्थात् गुणों की साम्यावस्था प्रकृति कही जाती है। ये पद सांख्यदर्शन के १।२६ सूत्र को स्मरण कराते हैं। २२९ अध्याय के

---

**१—इसकी तुलना कीजिये—ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, प्रकृति खण्ड (२)—१।९॥**
**योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।**
**पुमांश्च दक्षिणार्द्धांगो वामांगः प्रकृतिः स्मृतः॥**

७–१० श्लोकों में सांख्य के सब पदार्थों का निर्देश किया गया है।

गरुडपुराण के पूर्वखण्ड [ १।१८ ] में एक श्लोक है—

पंचमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचाऽऽसुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥

विष्णु का पंचम अवतार कपिल उच्चकोटि का ज्ञानी था, उसने अपने शिष्य आसुरि के लिये सांख्य का प्रवचन किया। उस समय तक सांख्य अस्तित्व अथवा प्रादुर्भाव में नहीं आया था, सबसे प्रथम कपिल ने उसका प्रवचन किया। उस सांख्यशास्त्र में सम्पूर्ण तत्त्वों का विस्तारपूर्वक निर्णय किया गया है। समस्त आधिभौतिक आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण सांख्य में उपलब्ध होता है।

**ब्रह्मवैवर्त्तपुराण**—के ब्रह्मखण्ड [ ३।४, ५ ] में संसार के कारणरूप–तीन गुणों का उल्लेख किया गया है। उस त्रिगुणात्मक मूल कारण से महत्, अहंकार और पंचतन्मात्र आदि की सृष्टि का उल्लेख है। [ ३०।११–१३ में ] जगत् के मूल उपादान नित्य प्रकृति का पुनः वर्णन है। वहां बताया गया है, कि उस मूल प्रकृति के विना परमात्मा जगद्रचना में अशक्त रहता है। प्रकृतिखण्ड (२)–१।४–१२ में प्रकृति के स्वरूप का एक विशिष्ट रीति पर वर्णन किया गया है। प्रकृति पद के तीन अक्षरों [ प्र–कृ–ति ] को यथाक्रम तीनों गुणों का प्रतिनिधि बताकर यह स्पष्ट किया है, कि स्वयं 'प्रकृति' पद सत्त्व–रजस्–तमस् इन तीन गुणों का द्योतक है। यह सर्वशक्तिसम्पन्न त्रिगुणात्मक प्रकृति सृष्टिरचना में प्रधान साधन है, इसीलिये इसका यह [ प्रकृति ] नाम है।

**वायुपुराण**—के सृष्टिप्रकरण [ ४, ५ अध्यायों ] में सांख्यानुसार विस्तारपूर्वक सर्गोत्पत्ति का वर्णन है। इन अध्यायों में प्रकृति का अधिष्ठाता परमेश्वर को स्वीकार किया है। इस प्रसंग में चतुर्थ अध्याय के २३, २६, ७४, ६० तथा पंचम अध्याय के १२, १३, २१, २२ श्लोक विशेष द्रष्टव्य हैं। आगे १०३ अध्याय में सर्गोत्पत्ति का वर्णन सांख्यानुसार है।

**मत्स्यपुराण**—के तृतीय अध्याय [ १४–२६ श्लोकों ] में सांख्यानुसार सर्गोत्पत्ति का विस्तृत वर्णन है। इस प्रसंग में सांख्य के रचयिता कपिल का उल्लेख किया गया है। यहां पंचविंश पुरुष जीवात्मा तथा षड्विंश ईश्वर का निर्देश है। पुराणों में सांख्य का प्रतिपादन करते हुए प्रकृति के अधिष्ठातारूप में ईश्वर को अवश्य स्वीकार किया गया है। हमारा यह निश्चित मत है, कि कापिलसांख्य में ईश्वर को इसीप्रकार स्वीकार किया जाता था, जिसके अनुसार ये सब पुराणों के तत्सम्बन्धी वर्णन हैं। सांख्यों के इस सिद्धान्त में सर्वप्रथम बौद्धों ने उलटफेर की, और उसको शांकरसम्प्रदाय के पुराने व नये आचार्यों ने हवा दी। परिणामस्वरूप आज हम यह समझते हैं, कि कपिल निरीश्वरवादी था, परन्तु कपिल के सम्बन्ध में ये विचार बहुत अधूरे हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के 'पुरुष' और 'प्रकृति' नामक प्रकरणों में किया गया है।

**पद्मपुराण**—के आदिखण्ड [२।६-२५] में सांख्यानुसार सर्गोत्पत्ति का वर्णन है। वहां प्रधान का अधिष्ठाता पुरुष [ईश्वर] को लिखा है। सृष्टिखण्ड में एक श्लोक इसप्रकार आया है:—

अव्यक्तं कारणं यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम्[1]।
महदादिविशेषान्तं सृजतीति विनिश्चयः ॥ [२।७-८]

सदसदात्मक अव्यक्त उपादानकारण से परमात्मा 'महत्' से लगाकर 'विशेष' पर्यन्त सृष्टि की रचना करता है। सांख्य में 'विशेष' पद से स्थूलभूतों का ग्रहण किया जाता है। 'महत्' प्रकृति का प्रथम विकार है। पुराणकार के 'महदादि विशेषान्तं' लेख से यह स्पष्ट होजाता है, कि वह सर्गोत्पत्ति की सांख्यप्रक्रिया को आधार मानकर ऐसा लिख सकता है। सर्गोत्पत्ति का यह विवेचन सांख्य में उपलब्ध होता है, अन्य दर्शनों में नहीं।

**स्कन्दपुराण**—के माहेश्वर खण्डान्तर्गत कौमारिका खण्ड [३७।६-११] में प्रकृति तथा पुरुष का उल्लेख है। प्रकृति से सर्गोत्पत्ति का वर्णन सांख्यानुसार किया गया है। पुरुष और प्रकृति के पृथक् उल्लेख से पुराणकार इस बात को स्पष्ट करता है, कि चेतन और जड़ की सत्ता परस्पर सर्वथा पृथक् है। ऐसा नहीं है, कि चेतन पुरुष स्वयं परिणत होकर जगद्रूप में जड़ होजाता हो। मूलतः ये दोनों सत्ता पृथक् हैं। जगद्रचना में प्रकृति उपादान है, और परमात्मा उसका प्रेरक।

प्रभास खण्ड के १६७ अध्याय में लिखा है, कि पार्वती शंकर का विवाह होजाने के अनन्तर वे दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त क्रीड़ा करते रहे। तब पार्वती के रज से अनेक नारी और शंकर के वीर्य से पुरुष उत्पन्न हुए, इत्यादि।

पार्वती और शंकर कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे या नहीं? उनका कहां स्थान था और वे कब हुए? इत्यादि बातों का यहां विवेचन करना हमारा विषय नहीं। यदि वे ऐतिहासिक व्यक्ति प्रमाणित होजायें, तो हमें उसका कोई विरोध नहीं। परन्तु यहां पुराण में जिस रीति पर पार्वती-शंकर का वर्णन किया गया है, उससे यही प्रतीत होता है, कि यह अतिप्राचीन ऋषियों के कथनानुसार आदिसर्ग का आलंकारिक वर्णन है। पार्वती—प्रकृति और शंकर—परमात्मा है। उनका विवाह—परमात्मा की प्रेरणा से प्रकृति के द्वारा जगत् [सूर्य-चन्द्र तारा पृथिव्यादि] का निर्माण होना—है। भौतिक पदार्थों के बन जाने पर सहस्रों दिव्य वर्षों तक अर्थात् लाखों वर्षों तक पुरुष आदि प्राणी की उत्पत्ति नहीं हुई। यह—विवाह के अनन्तर दोनों का क्रीड़ा करते रहना—कहा गया। उसके पश्चात्—अर्थात् लोकों के प्राणिनिवासयोग्य होजाने पर—नारी और नर की उत्पत्ति हुई। प्रकृति से नारी और शंकर से नर की उत्पत्ति कहने का अभिप्राय यही है, कि नारी प्रकृति का रूप अर्थात् प्रतीक है और नर शंकर [पुरुष—परमात्मा] का। इनके परस्पर सम्बन्ध से

१—तुलना कीजिये—मनु० १।११॥ ब्रह्मपुराण १।३३॥ विष्णुपुराण १।२।१९॥

आगे सृष्टि चली, और सदा चलती है।

इसप्रकार के आलंकारिक वर्णन पुराणों में भरे पड़े हैं। ब्रह्मपुराण [१।५२] तथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के [ कृति खण्ड (२)-१।९] लेखों से इसकी तुलना कीजिये। ऐसे वर्णनों से यह स्पष्ट है, कि पुराणकार जगत् के उपादान तथा निमित्त कारणों को सर्वथा पृथक् मानते रहे हैं। मूल में एकमात्र तत्त्व को न मानकर उन्होंने दो तत्त्वों को माना है। परन्तु वे दोनों जगदुत्पत्ति के लिये परस्पर इतने अपेक्षित हैं, कि उन दोनों को मिलाकर एकरूप में कल्पना करली गई है। फिर भी उनको पति-पत्नी या पुरुष-नारी के रूप में रखा गया है। इससे उनकी वास्तविक विभिन्नता में कोई अन्तर नहीं आने पाया।

स्कन्दपुराण[1] में कपिल और बिल्व नामक राजा के एक संवाद का उल्लेख है। पुराणकार ने वहां कपिल के मुख से ब्रह्म और तप की श्रेष्ठता का वर्णन किया है-'ब्रह्मश्रेष्ठं तपः श्रेष्ठमित्युक्तं कपिलेन तु'। आगे कपिल के मुख से वेद की प्रशंसा का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है, कि पुराणकार के मत से कपिल ब्रह्मवादी तपस्वी था, तथा वेदों में आस्था रखता था[2]।

प्रभास[3] खण्ड में ईश्वर-राजा संवादरूप से सांख्यप्रतिपादित तत्त्वों का बहुत स्पष्ट वर्णन किया गया है। वहां लिखा है—

ईश्वर उवाच—

पञ्चविंशतितत्त्वानि यदा जानन्ति योगिनः।
मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः सप्तजन्मकृतैरपि॥

राजोवाच—

कानि तत्त्वानि को देही किं ज्ञेयं योगिनां वद।
उत्पन्नज्ञानसद्भावो योगयुक्तः कथं भवेत्॥

ईश्वर उवाच—

प्रकृतिश्च ततो बुद्धिरहंकारस्ततोऽभवत्।
तन्मात्रपञ्चकं तस्मादेषा प्रकृतिरष्टधा॥

---

१—स्कन्दपुराण, आवन्त्य खण्ड [अवन्ती चतुरशीतिलिंग माहात्म्य] अध्याय ८३, श्लोक १५-१७॥

२—सांख्यदर्शन के निम्नलिखित सूत्रों के आधार पर कपिल की यह भावना स्पष्ट होती है-१।५७, ६१॥ ३।५६, ५७॥ ५।४१, ४६, ५१॥ ५।७९ यह सूत्रसंख्या हमारे सम्पादित व व्याख्यात सांख्यदर्शन के अनुसार है।

३—स्कन्दपुराण, प्रभास खण्ड [वस्त्रापथ (गिरनार) क्षेत्र माहात्म्य] अध्याय १८, श्लोक ११-१६॥

बुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च।
एकादशं मनो विद्धि महाभूतानि पंच च॥
गणः षोडशकः सांख्ये विस्तरेण प्रकीत्तितः।
चतुर्विंशतितत्त्वानि पुरुषः पंचविंशकः॥
देहीति प्रोच्यते देहे स चात्मानं च पश्यति।
विंदन्ति परमात्मनं षष्ठं तं विंशतेः परम्॥

ईश्वर ने कहा—पच्चीस तत्त्वों को जब योगी जान लेते हैं, तब अनेक जन्मसंचित सब पापों से छूट जाते हैं।

राजा ने प्रश्न किया—वे तत्त्व कौन हैं ? देही किसे कहते हैं ? तथा योगियों के लिये कौन वस्तु ज्ञातव्य है ? यह बताओ। जब योगी आत्मा को जान लेता है, तब उसकी कैसी स्थिति होती है ?

ईश्वर ने उत्तर दिया—प्रकृति प्रथम है, उससे बुद्धि और बुद्धि से अहंकार हुआ, अहंकार से पञ्चतन्मात्र, ये आठ प्रकार की प्रकृति कही जाती है। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, ग्यारहवां मन और पांच महाभूत, ये सोलह विकार सांख्य में विस्तार-पूर्वक वर्णन किये गये हैं। सब मिलाकर चौबीस तत्त्व हैं। पुरुष [जीवात्मा] पच्चीसवां है, जब तक देह में रहता है, इसको देही कहा जाता है। जब अपने स्वरूप का यह साक्षात्कार कर लेता है, तब यह योगी अथवा ज्ञानी है। इसप्रकार के ज्ञानी छब्बीसवें पुरुष–परमात्मा को जान लेते हैं।

प्रकृति–पुरुष का अर्थात् जड़ और चेतन का भेदसाक्षात्कार सांख्य में तत्त्व-ज्ञान कहा जाता है। इसी को आत्मज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। जब कोई समाधिस्थ योगी आत्मा का साक्षात् दर्शन पालेता है, उसके सन्मुख चैतन्य का स्वरूप प्रतिभासित रहता है। आत्मा चेतनस्वरूप है, परमात्मा भी चेतनस्वरूप है। आत्म-चैतन्य का साक्षात्कार होने पर परमात्म-चैतन्य के साक्षात्कार में कोई बाधा नहीं रहतो। इसीलिये शास्त्रों में अनेक स्थलों पर कहा गया है, कि अपने आपको जान लेना परमात्मा को जान लेना है[1]। सांख्य के अनुसार पुराणकार ने यहां प्रकृति पुरुष और परमात्मा

---

**१—इसी आशय को श्वेताश्वतर उपनिषद् की एक कण्डिका में बहुत आकर्षक रीति पर बताया है—**

**यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। [२।१५]**

**इससे पहली चौदहवीं कण्डिका में देही [जीवात्मा] को आत्मज्ञान होजाने पर उसकी कृतार्थता का उल्लेख किया है। इस कण्डिका में ऋषि कह रहा है, कि आत्मज्ञान होजाने पर योगी आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को इसीप्रकार जान लेता है, जैसे एक दिये से दूसरा दिया जोड़ लिया जाता है। पहलीवार दिये को प्रज्वलित करने में कठिनता होती है, एक दिया प्रज्वलित होजाने पर उससे दूसरा दिया प्रज्वलित करना सुसाध्य है।**

का पृथक् स्वतन्त्ररूप से उल्लेख किया है।

पुराण के लक्षण[1] में सर्ग और प्रलय का वर्णन करना सर्वप्रथम है। इसलिये सब पुराणों में सर्ग तथा प्रलय का उल्लेख होना अत्यावश्यक है, और सबमें इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। यह एक आश्चर्यजनक बात है, कि पुराणों में जहां कहीं भी सर्गोत्पत्ति का वर्णन है, वह सब उसी प्रक्रिया का अवलम्बन करता है, जिसको कपिल ने सांख्य में प्रतिपादित किया है। पुराणों में प्रसंगवश कपिल तथा सांख्यसम्बन्धी अन्य अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, यहां कतिमय पुराणों के आधार पर केवल दिग्दर्शनमात्र हमने लिखा हैं।

**लिङ्गपुराण**—अन्य पुराणों के समान इस पुराण में भी सांख्यप्रक्रिया के अनुसार तत्त्वों का वर्णन एवं जगत्सर्ग का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रथम-भाग अध्याय २८ में चेतनतत्त्व के विषय में विशिष्ट विवेचन है। साधारणतया सांख्य के विषय में मध्यकालिक विद्वानों की ऐसी धारणा रही है, कि सांख्य चेतनतत्त्व के नाम पर केवल जीवात्मपुरुष को स्वीकार करता है, परमात्मा अथवा ईश्वर को नहीं; इसी कारण कापिलसांख्य को निरीश्वरवादी कहा जाता रहा है। सांख्य में जहां पच्चीस तत्त्वों का वर्णन है, वहां चौबीस तत्त्व जड़ हैं, जिनमें एक मूलप्रकृति और तेईस उसके विकार हैं, उसके आगे केवल पुरुष 'पञ्चविंश' गिनाया गया है। इससे साधारणरूप में केवल जीवात्मपुरुष को समझ लिया जाता है।

इस बात का अनेकत्र उल्लेख किया जाचुका है, कि सांख्य में 'पुरुष' पद पारिभाषिक है, चेतनमात्र तत्त्व के लिये प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः सांख्य में दो प्रकार के मूलभूत तत्त्व माने गये हैं–चेतन और जड़। मूलउपादान और विकाररूप में चौबीस जड़-तत्त्व बताकर पच्चीसवां चेतनतत्त्व बताया है। मुख्यरूप से दर्शन में प्रकृति और उसके विकारों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करना है, इसलिये जड़ के संक्षिप्त विकारतत्त्व गिनाकर पच्चीसवां पुरुष अर्थात् चेतनतत्त्व कह दिया गया है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं, कि 'पंचविंश पुरुष' एकमात्र चेतन तत्त्व है। वस्तुतः यह भी जड़वर्ग के समान चेतनवर्ग है, जो दो में विभाजित है–परमात्मपुरुष और जीवात्मपुरुष। प्रथम व्यक्तिरूप से एक है, और दूसरे अनन्त हैं। सीधा प्रकृतिसंपर्क में आने से जीवात्मवर्ग को व्याख्याग्रन्थों में 'पंचविंश' मानकर परमात्मा को 'षड्विंश' कहकर वर्णन किया

---

इसीप्रकार पहले आत्म-ज्ञान अति परिश्रम तथा अभ्यास साध्य है, पर जब आत्म-ज्ञान होगया, फिर परमात्मा के जानने में कोई बाधा नहीं रह जाती।

१—सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥ [कूर्म० १।१२]

पुराण का इसप्रकार का लक्षण तथा पुराण सम्बन्धी इसी आशय का वर्णन अन्य भी अनेक पुराणों में पाया जाता है।

गया है। महाभारत में इसका अनेकत्र उल्लेख है[1]। प्रस्तुत पुराण में भी इसका वर्णन है। प्रथम भाग २८वें अध्याय के ७-८ श्लोक द्रष्टव्य हैं। वहां चौबीस जड़तत्त्व निम्नलिखितरूप में गिनाये हैं-अव्यक्त [प्रकृति], महत्, अहंकार, पांच तन्मात्र, पांच बुद्धीन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच महाभूत। इसके अनन्तर पच्चीसवां तत्त्व ध्याता जीव बताया गया है, तथा छब्बीसवां तत्त्व ध्येय-शिव अथवा ईश्वर है।

'पंचविंशपदार्थेभ्यः शिवतत्त्वं परं विदुः। [भाग २, १६।२७]

यह सब वर्णन सांख्यशास्त्र के अनुसार हुआ है। इससे पुराणों पर सांख्य का प्रभाव तथा सांख्य में सेश्वरवाद सुपुष्ट होता है।

सांख्य के जिन सिद्धान्तों को पुराणों से यहां दिखाया गया है, उनको संक्षेप में निम्नलिखित रीति पर उपस्थित किया जासकता है—

१—जगत् का मूल उपादानकारण त्रिगुणात्मक प्रकृति है, जो नित्य अव्यक्त और सदसदात्मक है।

२—त्रिगुणात्मक प्रकृति जड़ है। उसको प्रेरणा देने वाला चेतनतत्त्व परमात्मा है, जो नित्य, जगत् का नियन्ता, अन्तर्यामी तथा सर्वशक्तिमान्, सबसे उत्कृष्ट आदिसत्ता है।

३—इन दोनों के अतिरिक्त एक और पुरुष-चेतन है, जो कर्मानुसार संसार में आता और इसे भोगता है।

४—प्रलय के अनन्तर जब सर्ग होता है, मूल प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पांच तन्मात्र तथा ग्यारह इन्द्रिय, पांच तन्मात्रों से पांच स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है।

५—तेरह करण और पांच तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूत इन सबको मिलाकर अठारह तत्त्वों का सूक्ष्मशरीर कहा जाता है, जो सर्गादिकाल से प्रत्येक आत्मा के साथ सम्बद्ध रहता है। इसी के आधार पर आत्मा 'देही' कहाता है।

६—सत्त्व-रजस्-तमस् अन्योन्यमिथुनवृत्ति होकर कार्य का सम्पादन करते हैं।

७—त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न समस्त जड़ जगत् त्रिगुणात्मक है, यह किसी चेतन का विकार नहीं है।

अङ्कसोमव्योमनेत्रमिते वैक्रमवत्सरे।
ज्येष्ठमासे सिताष्टम्यां ग्रन्थः पूर्तिमगादयम्॥

---

१—म० भा०, शान्तिपर्व, ३०६ अध्याय, पूना संस्करण। तथा स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड [वस्त्रापथ (गिरनार) क्षेत्रमाहात्म्य] अ० १८, श्लो० ११-१६॥

# परिशिष्ट-१

## विषय-निर्देशिका

छ

# परिशिष्ट-२

## ग्रन्थान्तर्गत विशिष्ट नाम-पद सूची

# परिशिष्ट-३

## उद्धृत सन्दर्भ-सूची

ह

# विरजानन्द वैदिक संस्थान

## के कतिपय प्रकाशन

**सांख्यदर्शन का इतिहास—**

सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में फैली भ्रान्तियों का युक्तियुक्त एवं प्रमाणसहित निराकरण। सांख्यदर्शन की प्राचीनता के प्रतिपादन के साथ-साथ अनेक दार्शनिक एवं ऐतिहासिक विवेचन तथा कपिल के अतिरिक्त अन्य अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों के संगृहीत सन्दर्भों सहित। लेखक महोदय श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री को इस ग्रन्थ पर निम्नलिखित पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं—

१२००) रु० मंगलाप्रसाद पुरस्कार, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१२००) रु० उत्तरप्रदेश सरकार
१०००) रु० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
१०००) रु० सेठ हरजीमल डालमिया ट्रस्ट, नई दिल्ली

यह ग्रन्थ २०×३०/८ आकार के लगभग ६०० पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। बढ़िया जिल्द, मूल्य ३०) रु०। पुस्तक विक्रेता तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिये उचित कमीशन दिया जाता है।

**सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य—**

भाष्यकार श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री, विद्यावाचस्पति।

इस भाष्य की विशेषता यह है, कि यह पूर्वोपलब्ध संस्कृत भाष्यों का उल्था-मात्र नहीं, अपितु यह स्वयं एक मौलिक ग्रन्थ है। विद्वान् भाष्यकार ने सारा जीवन लगाकर सांख्यविषय का ऊहापोहपूर्वक मन्थन और विवेचन किया है, उसीके परिणामस्वरूप जो यथार्थ विचाररूपी 'नवनीत' वह संगृहीत कर पाये हैं, उसे परम्परागत भाष्यशैली को अवहेलित न करते हुए साधु, सहृदय, विज्ञ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने के उद्देश्य से यह भाष्य लिखा गया है। वे प्रक्षिप्त सूत्र इस भाष्य में संगृहीत नहीं किये गये, जिनका सप्रमाण विस्तृत विवेचन ग्रन्थकार ने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ में किया है। उन सबकी व्याख्या और संगति 'परिशिष्ट २' में दे दी गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की प्रस्तुत भाष्य के विषय में सम्मति—

"सांख्यदर्शन का विद्योदयभाष्य देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। यह अत्यन्त स्पष्ट और विशद है। पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष की पृष्ठभूमि में सूत्रार्थ को समझाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है। इस भाष्य के द्वारा सांख्यशास्त्र को समझने के लिये नया उत्साह प्राप्त होता है। 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र [१।५७] के मूल में सांख्य-दर्शन को ईश्वर की असिद्धि अभीष्ट नहीं थी, बल्कि ईश्वर के तथाविध उपादान कारण का निराकरण अभिमत था, इस व्याख्या से संतोष हुआ।

परिशिष्ट २ में प्रथमाध्याय के ३५ सूत्रों को [१।२०-५४] और पञ्चमा-ध्याय के ४ सूत्रों को [५।५७-६०] सकारण प्रक्षिप्त दिखाकर…सचमुच इस दर्शन के सम्बन्ध में बहुत बड़ी उलझनों को दूर कर दिया है। इन सूत्रों में जिस षट्पदार्थवादी वैशेषिक मत का उल्लेख है, वह गुप्तयुग की कल्पना है।…… आशा है लेखक का दूसरा ग्रन्थ [सांख्यसिद्धान्त] भी गतिशील होगा।"

यह ग्रन्थ १८ × २२/८ आकार के लगभग पौने चारसौ पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। बढ़िया जिल्द, मूल्य ८) रु०।

**सत्यार्थप्रकाश स्थूलाक्षर (सटिप्पण)—**

'विरजानन्द वैदिक संस्थान' के संस्थापक महाविद्वान् स्वर्गीय श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी महाराज ने 'सत्यार्थप्रकाश' पर विद्वत्तापूर्ण अद्भुत टिप्पणी लिखी है, उसके सहित यह लगभग ७०० पृष्ठों का २० × २६/४ आकार पर २० पाइन्ट टाइप में फोटो आफ़-सैट पद्धति से दो रंगों में छपा हुआ, अत्युत्तम सुबद्ध, अशुद्धि-शून्य, अति सुन्दर संस्करण है।

अन्त में सत्यार्थप्रकाशगत समस्त प्रमाणों की सूची तथा विस्तृत विषयसूची, आधुनिक रीति पर अकारादि क्रम से तैयार कर जोड़ दी गई है। सत्यार्थप्रकाश के इस संस्करण को जनता ने बड़ी उत्कण्ठा के साथ पसन्द किया है।

मूल्य १५) रु०

**सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव—**

ऋषि दयानन्द ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में लिखा है—"सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्त जनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे, जिससे सब लोग सहज में धर्मकाममोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।"

'सत्यार्थप्रकाश' के लिखे जाने के अस्सी वर्ष पश्चात् महर्षि के अनन्य भक्त

श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी ने 'सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव' नामक प्रबन्ध लिखा। यह प्रबन्ध एक प्रतिवेदन है–इस बात का, कि गत अस्सी वर्ष में ऋषि दयानन्दानुमोदित ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त [जिन्हें प्रबन्ध लेखक ने 'विरजानन्द मुनि पर्यन्त' लिखा है] महाशय महर्षियों के मन्तव्य कहां तक सर्वत्र भूगोल में प्रवृत्त हो पाये हैं।

पाठक पुस्तक पढ़कर स्वयं जान लेंगे, कि सत्य किस प्रकार अपने विरोधियों को मूक बना देता है। सत्यार्थप्रकाश में की गई समीक्षा की सुखद छाया में किस प्रकार अन्य धार्मिक लेखकों ने उत्साहपूर्वक असत् को त्यागकर सत्य को खोजने का यत्न किया है, और इसप्रकार विभिन्न मत-मतान्तरों में बँटी हुई मानव जाति के विविध समुदायों को एक-दूसरे के समीप लाने का प्रयास किया है। पुस्तक महत्त्वपूर्ण खोजों से भरी है। सवा सौ से अधिक पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल १) रु०।

## संस्थान के प्रकाश्यमान ग्रन्थ




| | |
|---|---|
| वेदान्तदर्शन का भाष्य | स्वाध्यायसन्दोह |
| वेदप्रवेश | शंकराचार्य |

डाकव्यय ग्राहक को पृथक् देना होगा।



'विरजानन्द वैदिक संस्थान'
गाजियाबाद,
मेरठ [उ० प्र०]





न

पन्न

क

भ

जो सम्भ